सुश्रुतसंहिता

शारीरस्थानम्

'आयुर्वेदरहस्यदीपिकाख्यया' हिंदीव्याख्यया समुल्लसिता

संशोधित और परिवर्धित संस्करण

टीकाकार

आयुर्वेदाचार्य

डाक्टर भास्कर गोविंद घाणेकर

बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०

प्रकाशक

मेहरचंद्र लक्ष्मणदास

अध्यक्ष, संस्कृत - पुस्तकालय

२७३६ कूचा चेलां, दरियागंज

दिल्ली—६

(प्रेक्षणालय—१ अनसारी रोड, नया दरियागंज)

द्वितीयावृत्ति]

[मूल्य १०) रुपया

सूत्र-निदानस्थान सजिल्द एकत्र भी मिलेंगे। मूल्य १२ रुपया।

सूत्र-स्थानमात्र सजिल्द अलग भी मिलेगा। मूल्य ६ रुपया

प्रकाशक
मेहरचन्द लछमणदास
अध्यक्ष, संस्कृत-पुस्तकालय
प्रेक्षणालय–१ अनसारी रोड,
नया दरियागंज, दिल्ली–६

मुद्रक—
शिवनारायण उपाध्याय बी० ए० 'विशारद'
नया संसार प्रेस, भदैनी काशी।

निवेदन

शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठो न च नष्टः कथञ्चन। व्याख्याने तु परं कष्ट इति मे निश्चिता मतिः॥
टीकाकारयशःप्रार्थी ह्यतो यास्यामि हास्यताम्। प्रांशुलभ्यं फलं प्राप्तुमुद्बाहुरिव वामनः॥
तथापि कृतवाग्द्वारे कार्येऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः। मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥

श्रीविश्वनाथजी की असीम कृपा से आयुर्वेदरहस्यदीपिका के शारीरस्थान का दूसरा भाग पाठकों की सेवा में उपस्थित करने का परम सौभाग्य आज मुझे प्राप्त हुआ है। सूत्रनिदानस्थानात्मक प्रथम भाग प्रकाशित होने के पश्चात् अनेक आयुर्वेदप्रेमी डाक्टरों, वैद्यों तथा आयुर्वेदिक स्कूल, कालेज और पाठशालाओं के विद्यार्थियों ने मुझे प्रशंसात्मक अनेक चिट्ठियाँ लिखीं और इसको शीघ्र समाप्त करने का अनुरोध किया। कुछ लोगों ने समय समय पर इस अनुरोध का स्मरण दिलाने का भी कष्ट उठाया। इसके सम्बन्ध में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि ग्रंथ को शीघ्र समाप्त करने का संकल्प प्रारंभ से ही मैंने कर रक्खा था। परन्तु जिस ढंग से ग्रंथ लिखने का काम मैंने प्रस्तुत किया, वह ढंग तार पर चलने के काम के समान कठिन होने के कारण तथा कुछ अघटितघटनाजनित मानसिक औदासीन्य के कारण ग्रंथ को शीघ्र समाप्त करने का मेरा संकल्प दिन प्रतिदिन दूर होता जा रहा। तो भी शारीरस्थान, जो सुश्रुतसंहिता का सर्वश्रेष्ठ स्थान है, तथा जो अपनी दुर्बोधता के कारण विद्यार्थियों के सामने सदा के लिए एक मतिकुण्ठनस्थान या उलझन-सा बना रहा और प्रथम भाग प्रकाशित होने के समय से विद्यार्थी जिसको पाने के लिए बहुत ही उत्कंठित रहे, समाप्त करके मैंने अपना तथा विद्यार्थियों का बहुत कुछ काम समाप्त कर लिया है।

इस भाग में भी प्रथम भाग की भाँति मूल, अनुवाद और वक्तव्य का ढंग रक्खा गया है। परन्तु विषय अत्यंत गहन होने के कारण वक्तव्य अधिक विस्तृत और संस्कृत तथा अँग्रेजी ग्रंथों के उद्धरण अधिक संख्या में सविस्तर दिये गये हैं। इसके सिवा अनेक पाठकों से सूचना मिलने के कारण संस्कृत उद्धरणों के अध्यायादि का निर्देश किया गया है। इस टीका के लिए जिन अनेक ग्रंथों से सहायता मिली है, उनका निर्देश प्रथम भाग में करना मैं भूल गया था। इस भाग में उन ग्रंथों में से मुख्य मुख्य ग्रंथों के नाम कृतज्ञता-पूर्वक दिये गये हैं।

प्राचीन काल में सुश्रुतशारीर शारीरविषयक ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। इसका प्रमाण निम्न लोकोक्ति में मिलता है—निदाने माधवः श्रेष्ठः, सूत्रस्थाने तु वाग्भटः। शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः, चरकस्तु चिकित्सिते॥ आधुनिक काल में पाश्चात्य शारीरविषयक ग्रंथों के साथ तुलना होने के कारण सुश्रुतशारीर की सारी श्रेष्ठता जाती रही। इसका प्रमाण म० म० कविराज गणनाथ सेन जी के निम्न वचन में मिलता है—"एवञ्च योऽसौ 'शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः' इति प्राचीनप्रवादः, स वृद्धसुश्रुतमधिकृत्य प्रचलितो नेदानीन्तने सुश्रुते भग्नप्रक्षिप्तभूयिष्ठे प्रयोक्तव्य इति निशङ्कं ब्रूमः। इदानीन्तु हन्त 'शारीरे सुश्रुतो नष्टः' इत्येव युज्यते विलपितुम्॥" (प्रत्यक्षशारीर प्रस्तावना, चतुर्थपाद)। कविराज जी का यह मत प्रत्यक्षशारीर (Anatomy) लिखते समय प्रकट हुआ है, इस बात को न भूलना चाहिए। प्रत्यक्षशारीर सुश्रुतशारीर का एक अंश है। इसमें प्रत्यक्षशारीर के अतिरिक्त सांख्य, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, अनुवंशिकता (Heredity), सुप्रजाजनन (Eugenics), गर्भवृद्धिविज्ञान (Embrgology), शारीरकार्यविज्ञान (Physiology), मनोविज्ञान (Psychology, Psychogeny,)

स्त्रीरोग और प्रसूतितन्त्र (Gynecology and midwifery), कौमारभृत्य (Paediatrics) इत्यादि गहन विषय सूत्ररूप मे गागर मे सागर की भाँति भरे हुए हैं। इसलिए कविराज जी के उपर्युक्त मत की यथार्थता एक अंश के लिए ही सीमित हो जाती है, सम्पूर्ण शारीर के लिए नहीं। मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार पाश्चात्त्य वैज्ञानिक तुलनात्मक दृष्टि से सुश्रुतशारीरान्तर्गत सम्पूर्ण विषयों की जाँच पड़ताल करने पर भी उसकी नष्टता की अपेक्षा श्रेष्ठता का ही परिचय मिलता है। यह मेरा मत कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय पाठकगण स्वयं मेरे ग्रंथ को पढ़कर कर सकते हैं।

आयुर्वेदिक ग्रन्थों मे सुश्रुतसंहिता जैसा सर्वोत्तम है, वैसे ही बहुत सरल भी है। परन्तु इसके लिए शारीरस्थान अपवाद हैं। इसमें अनेक गहन विषय थोडे मे वर्णित होने के कारण बहुत कठिनता आ गई है। परन्तु इस कठिनता मे मुझे पत्थरकोयले के कालपन का नहीं, हीरे की दीप्ति का अनुभव मिला। इसको मैंने ग्रन्थ मे विद्यार्थियों के लिए सुलभ करने का भरसक प्रयत्न किया है। मैं जानता हूँ कि यह मेरा प्रयत्न टिड्डी के पैर उठाकर आकाश को स्पर्श करने के साहस के समान या फूस की नाव पर चढ़कर महासागर को पार करने वाले नाविक की हिम्मत के समान, या टिटहरी के चोंच मे भर भरकर नदी को सूखा बनाने की महत्त्वाकांक्षा के समान हास्यास्पद है। तो भी जैसा हो सका, यह काम करके पाठकों के सामने रक्खा गया है।

यह स्थान परम कठिन होने के कारण इसमे दोषों की कुछ अधिकता होना स्वाभाविक है तथा कई विषय विवादास्पद होने के कारण प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों के मत के साथ घोर विरोध प्रकट करना अनिवार्य हो गया है। ये दोष ग्रन्थकार के अज्ञान के और विरोध पक्षपातहीन वैज्ञानिक दृष्टि के परिणाम हैं। तो भी विरोध के लिए मैं उन आचार्यों से क्षमायाचना करता हूँ और विद्वान् चिकित्सकों और सहृदय पाठकों से नम्र निवेदन करता हूँ कि आप लोग हंस-क्षीरन्यायेन दोषों की ओर दृष्टि न देकर गुणों को ग्रहण करें और लेखक का साहस बढ़ावें—

सत-हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि-विकार।

काशी विश्वविद्यालय
विजयादशमी
संवत् १९९७

निवेदक—
भास्कर गोविन्द घाणेकर

॥ श्रीः ॥

शारीरस्थानस्य विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

आयुर्वेदरहस्यदीपिका के प्रमाण-ग्रंथ
List of Books consulted

संस्कृत

१ ऋग्वेद
२ अथर्ववेद
१ तैत्तिरीयसंहिता
४ मनुस्मृति
५ याज्ञवल्क्यस्मृति
६ दक्षस्मृति
७ पाराशरस्मृति
८ आपस्तम्भस्मृति
९ अत्रिस्मृति
१० मन्वर्थमुक्तावली कुल्लूक भट्टविरचित
११ मिताक्षरा विज्ञानेश्व-विरचित
१२ रामायण
१३ महाभारत
१४ भागवत
१५ देवीभागवत
१६ विष्णुपुराण
१७ कूर्मपुराण
१८ योगवासिष्ठ
१९ भगवद्गीता
२० गौतमसूत्र
२१ न्यायसूत्र
२२ वैशेषिकसूत्र
२३ सांख्यसूत्र
२४ सांख्यकारिका
२५ योगसूत्र
२६ वेदान्तसूत्र
२७ कामसूत्र-वात्स्यायनकृत
२८ सांख्यतत्त्वकौमुदी वाचस्पतिमिश्रकृत
२९ सांख्यप्रवचनभाष्य
३० सांख्यकारिकाभाष्य गौडपादाचार्यकृत
३१ वात्स्यायनभाष्य न्यायसूत्रस्य
३२ उद्योतकरवार्तिक न्यायसूत्रस्य
३३ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
३४ दशोपनिषद् शांकरभाष्य
३५ वैशेषिकसूत्रोपस्कार शंकरमिश्रकृत
३६ कणादसूत्रविवृति जयनारायण तर्कपंचाननकृत
३७ वैशेषिकभाष्य चन्द्रकान्त-भट्टाचार्यकृत
३८ सांख्यसूत्रभाष्य विज्ञान-भिक्षुकृत
३९ जयमंगला टीका (कामसूत्र) यशोधरकृत
४० श्वेताश्वतरोपनिषद् टीका शंकरानन्दकृत
४१ श्वेताश्वतरोपनिषद् टीका नारायणकृत
४२ कठोपनिषद्
४३ प्रश्नोपनिषद्
४४ छान्दोग्योपनिषद्
४५ बृहदारण्यकोपनिषद्
४६ ईशावास्योपनिषद्
४७ गर्भोपनिषद्
४८ श्वेताश्वतरोपनिषद्
४९ मुण्डकोपनिषद्
५० पञ्चदशी
५१ पञ्चीकरणवार्तिक
५२ वास्तुशास्त्र मयकृत
५३ अर्थशास्त्र कौटिल्यकृत
५४ शुक्रनीति
५५ रतिमंजरी
५६ सिद्धान्तशिरोमणि भास्कराचार्यकृत
५७ गीतगोविन्द
५८ चरकसंहिता
५९ अष्टांगहृदय
६० अष्टांगसंग्रह
६१ भेलसंहिता
६२ शार्ङ्गधरसंहिता
६३ योगरत्नाकर
६४ भावप्रकाश
६५ चक्रदत्त
६६ वंगसेन
६७ वृन्दमाधव
६८ माधवनिदान
६९ क्षेमकुतूहल
७० उमामहेश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्
७१ नाडीज्ञानतरंगिणी
७२ रसार्णव
७३ काश्यपसंहिता
७४ राजनिघण्टु
७५ मदनपालनिघण्टु
७६ धन्वन्तरिनिघण्टु
७७ प्रत्यक्षशारीर, प्रस्तावना-सहित
७८ सिद्धान्तनिदान
७९ संज्ञापंचकविमर्श
८० हारीतसंहिता
८१ आयुर्वेदसंदीपनीसुश्रुतटीका हाराणचन्द्रकृत
८२ आयुर्वेददीपिका चरकटीका चक्रपाणिकृत
८३ निबंधसंग्रह सुश्रुतटीका डल्हणकृत
८४ सर्वांगसुंदरा अष्टांगहृदय-टीका अरुणदत्तकृत
८५ शशिलेखा अष्टांगसंग्रह-टीका इन्दुकृत
८६ मधुकोष माधवनिदानटीका विजयरक्षितकृत
८७ आतंकदर्पण माधवनिदान टीका वाचस्पतिमिश्रकृत
८८ शार्ङ्गधरदीपिका आढमल्लकृत
८९ शार्ङ्गधर गूढार्थदीपिका काशीराम
९० रसयोगसागर, प्रस्तावना-सहित
९१ तर्कसंग्रह
९२ शाकुन्तल
९३ रघुवंश
९४ कुमारसंभव
९५ विक्रमोर्वशीय
९६ नीतिशतक वैराग्यशतक
९७ अमरकोष
९८ मेदिनीकोष
९९ हलायुधकोष
१०० सुभाषितरत्नभाण्डागार
१०१ मेघदूत
१०२ उत्तररामचरित

आयुर्वेदरहस्यदीपिका के प्रमाण-ग्रंथ

List of Books consulted

ENGLISH

1 Anatomy by Grey
2 Physiology by W. D Halliburton
3 " " Howell
4 Applied Physiology by Wrights
5 Physiology by Starlings
6 Materia Medica by Ghosh
7 Indian Materia Medica by Nadkarni
8 Text book of Medicine by F.W. Price
9 " " by Savili
10 " " by Osler
11 " " by Taylor
12 Preventive Medicine and hygiene by Rosenaw
13 Physiology in Health and disease by Wiggers
14 Manual of Pathology by Green
15 " " Hewlett
16 Tropical Medicine by Rogers and Magan
17 Differential dignosis by Herbert French
18 Symptom diagnosis by Barton and Yater
19 Lectures in diseases of children by Robert Hutchison
20 Surgery by Rose and Carless
21 Minor Surgery and Bandaging
22 Midwifery by Jellet
23 " , Ten Teachers
24 Diseases of Women by Bland-Sutton and Jiles
25 Sexual physiology by Chandra Chakrabarty
26 Introduction to sexual Physiology by Marshall
27 Riddle of Sex
28 Studies in the Pychology of Sex by Havelock Ellis
29 Psychology of Sex by Havelock Ellis
30 Ideal Birth by Von De Velda
31 Esoteric Anthropology by Dr. Nicholas
32 Manual of Embryology by Frazer
33 Surgical Instruments of the Hindus by Mukerji, G N
34 History of Hindu Medicine by Mukerji, G.N.
35 Interpretation of Ancient Hindu Medicine by Chakrabart
36 History of Hindu Chemistry by P. C. Ray
37 Studies in the Medicine of Ancient India by Dr. Hoernle
38 English Translation of Sushrut Samhita by Dutt
39 Problem of Rebirth by Hon Ralph Shirley
40 Book of Meditations by Allen James
41 From Unconscious to conscious by G. Geley
42 Reincarnation by Walker
43 Metaphysics of life and death by Tudor Jones
44 Idealistic view of life by Sir S. Radhakrishnan
45 Positive sciences of the Hindus by B. N Seal
46 History of Hindu Philosophy by Das Gupta
47 Medical Annual 1935
48 English translation of Sushrut by Kaviraj Kunjlal
49 Sushrutic Anatomy by Gangadhar Shastri Jos.
50 Manual of Bacteriology by Muir and Ritch

श्रीः ।

आयुर्वेदरहस्यदीपिकाख्यव्याख्यासमुल्लसिता

सुश्रुतसंहिता

शारीरस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातः सर्वभूतचिन्ताशारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब यहां से सर्वभूतचिन्ता (नामक) शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वक्तव्य— शारीरस्थान की प्रवृत्ति 'विज्ञानार्थं शरीरस्य' (प्रथमखण्ड पृष्ठ १६) है। शरीरविज्ञान में गर्भावक्रान्ति (Embryology), अंगप्रत्यंगविज्ञान (Anatomy), शरीरकार्यविज्ञान (Physiology) इत्यादि अनेक विषयों का समावेश होता है—शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसम्पदा। सर्वभावैर्यतस्तस्मात् शारीरं स्थानमुच्यते ॥ (चरक, शारीर ८)। इन अनेक विषयों का सम्य् परिचय तथा आकलन होने के लिए प्राचीन कल्पना के अनुसार सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का तथा तदन्तर्गत मनुष्यशरीर की स्थूल और सूक्ष्म रचना का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इसलिए इस अध्याय में सृष्ट्युत्पत्ति का संक्षिप्त विवरण मुख्यतया कपिलमहामुनिप्रणीत सांख्यदर्शनानुसार किया गया है। सर्वभूतचिन्ताशारीर—सर्वभूतचिन्ता नामक शारीर। स्थावरजंगमात्मक अखिल भूत याने सृष्ट पदार्थ, इनकी उत्पत्ति स्थिति और कार्य इनका चिन्तन याने विवरण या विचार जिसमें किया गया है, वह अध्याय। स्थावरजंगमात्मक समस्त सृष्टि पञ्चीकृत पचमहाभूतों से उत्पन्न हुई है और चिकित्सा में इन भूतों से अधिक परे विचार करने की आवश्यकता नहीं होती—भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥ (सुश्रुत, शारीर १)। इसलिए इस अध्याय में अव्यक्त से पंचमहाभूत किस प्रकार से उत्पन्न हुए हैं, इसका विचार किया है। शारीर—शरीरविज्ञान के विषयों का विवरण जिसमें होता है, उसे शारीर कहते हैं—शारीरिकभावमधिकृत्य कृतोऽध्यायः शारीरः। शारीरस्थान का प्रत्येक अध्याय इस कारण से शारीर कहलाता है—निर्दिष्टानि दशैतानि शारीराणि महर्षिणा। विज्ञानार्थं शरीरस्य भिषजां योगिनामपि ॥ शारीरिक भावों में दार्शनिक भावों का भी समावेश होता है क्योंकि वे शरीर के मूलतत्त्व हैं (९ वें अध्याय के ६३ वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो)। वेदान्तसूत्र इसी कारण से 'शारीरिक सूत्र' कहलाते हैं।

अब समस्त सृष्टि का आदि कारण जो प्रकृति, उसका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम । तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम् ॥ २ ॥

(अव्यक्तस्वरूप—) समस्त भूतों का (आदि) कारण (परंतु स्वयं) कारणरहित, सत्त्व रज और तम इन (तीनों) के लक्षणों से युक्त, अष्टविधरूप युक्त, और अखिल जगत् की उत्पत्ति का हेतु 'अव्यक्त' है। जैसे कि (एक) समुद्र (मत्स्य, पद्म, कच्छप इत्यादि अनेक) जलजीवों का अधिष्ठान होता है, वैसे ही वही एक अव्यक्त अनेक क्षेत्रज्ञों का अधिष्ठान होता है ॥ २ ॥

वक्तव्य—सर्वभूत— सांख्यपरिभाषा के अनुसार 'व्यक्त-तत्त्व' अर्थात् अव्यक्त को छोड़कर बाकी रहने वाले चौवीस तत्त्व। अकारण—जिसके लिए कोई कारण नहीं है अर्थात् जो किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है—न विद्यते कारणं यस्य तदकारणम् । इसलिए 'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' (सांख्यसूत्र १, ६७) और 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (सांख्यकारिका ३) इस प्रकार सांख्यदर्शन में अव्यक्त का वर्णन किया गया है। सत्त्वरजस्तमोलक्षणम्—स्थावरजंगमात्मक समस्त सृष्ट पदार्थों में सत्त्व, रज और तम इनका मिश्रण होता है। ये गुण कभी भी स्वतन्त्र और अकेले नहीं होते,

---

१ अनेकेषां.

तीनों मिलकर रहते हैं—अन्योन्याभिभवाश्चैते विरुध्यन्ति परस्परम्। तथाऽन्योन्याश्रयाः सर्वे न तिष्ठन्ति निराश्रयाः ॥ १३ ॥ सत्त्वं न केवलं क्वापि न रजो न तमस्तथा। मिलिताश्च सदा सर्वे तेनान्योन्याश्रयाः स्मृताः ॥ १४ ॥ अन्योन्यमिथुनाश्चैव ॥ १५ ॥ (देवीभागवत ३, ८)। इन गुणों की न्यूनाधिकता के कारण सृष्ट पदार्थों में सोना, लोहा, पानी, मिट्टी, प्राणियों का शरीर इत्यादि नानात्व उत्पन्न हुआ है। जिनको सात्त्विक, राजस, तामस कहते हैं उनमें भी तीनों गुण उपस्थित रहते हैं परन्तु 'व्यपदेशास्तु भूयसा' इस न्याय से उनमें सत्त्व, रज और तम का क्रम से प्राबल्य होता है—रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ (भगवद्गीता १४, १०)। सब सृष्ट पदार्थों का कारण जो अव्यक्त है, उसमें भी ये गुण होते हैं, क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार जो गुण कारण में नहीं होते, वे कार्य में स्वतन्त्ररूप से नहीं आ सकते—असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ (सांख्यकारिका ९)। भेद इतना ही होता है कि सृष्ट पदार्थों में गुण विषमावस्था में याने न्यूनाधिकभाव से और कार्यकर स्थिति में होते हैं, और अव्यक्त में साम्यावस्था में याने अन्यूनाधिकभाव से और अकार्यकर स्थिति में होते हैं—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥ (सांख्यसूत्र १-६१)। साम्यावस्था न्यूनाधिकभावेनासंहननम् अकार्यावस्थत्वमित्यर्थः। एवं च कार्यभिन्नं गुणत्रयं प्रकृतिरिति पर्यवसितोऽर्थः ॥ (अनिरुद्ध टीका)। अष्टरूपम्—अष्टौ रूपाणि यस्य तत्तथोक्तम् ॥ महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राणि ये प्रकृति के सात रूप हैं। ये सात रूप और स्वयं प्रकृति मिलकर अष्टरूप होते हैं। इसका कारण यह है कि सांख्यशास्त्रकार शिलापुत्रकन्यायेन अव्यक्त के लिए रूपित्व और रूपत्व दोनों ही मानते हैं। परन्तु सांख्य में अष्टविध प्रकृति के मूलप्रकृति और प्रकृतिविकृति करके दो भेद किये गये हैं—मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। (सांख्यकारिका ३)। वेदान्त में भी प्रकृति का यही अष्टविध रूप माना जाता है, परन्तु उसमें प्रकृति परब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण उस पर रूपत्व और रूपित्व दोनों आरोपित करने की आवश्यकता नहीं होती। जो शास्त्रकार इस तरह पुत्रों की गणना में पिता का समावेश करना पसंद नहीं करते तथापि रूप का अष्टविधत्व कायम रखना चाहते हैं, वे प्रकृति के स्थान में मन का समावेश करते हैं—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ (भगवद्गीता ७, ४)। अव्यक्त—प्रकृति या प्रधान। व्यक्त और अव्यक्त के भेद निम्न प्रकार से सांख्यकारिका में वर्णन किये हैं—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तम्, विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥ अर्थात् अव्यक्त अहेतुमत्, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, अनवयव और स्वतन्त्र होता है। सांख्यदर्शन के चौबीस तत्त्वों में केवल एक प्रकृति तत्त्व एवं गुणविशिष्ट होने के कारण वह अव्यक्त कहलाता है। क्षेत्र—क्षेत्र का वास्तविक अर्थ खेत या भूमि है। दर्शनशास्त्र में चतुर्विंशतितत्त्वसमुदाय को अर्थात् शरीर को क्षेत्र कहते हैं—इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। (भगवद्गीता १३, १)। खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च। समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥ इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम् ॥ (चरक, शा० १)। इस शरीर का जो ज्ञाता या साक्षी है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है—अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ॥ (चरक, शा० १)। क्षेत्रज्ञ के लिए ही ज्ञ, आत्मा, पुरुष (तृतीय अध्याय सूत्र ३ देखो) इत्यादि पर्याय प्रयुक्त होते हैं—आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः ॥ (महाभारत, शान्ति० १८७)। चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः ॥ (चरक, शा० १)। प्रायः भूमि (क्षेत्र) और बीज का अनुभव सामने रखकर दर्शनशास्त्र में शरीर को क्षेत्र कहने का रिवाज पड़ गया होगा। जैसे कि एक क्षेत्र अनेक बीजों का अधिष्ठान होकर अनेक प्रकार की ओषधियाँ उत्पन्न कर सकता है, वैसे ही शरीररूपी क्षेत्र अनेक पुरुषों का अधिष्ठान होकर अनेक प्रकार के जीवजन्तु उत्पन्न करता है। अधिष्ठान—आश्रय, शरीरोत्पादन का विषय। औदकानां भावानाम्—उदके भवा औदकाः मत्स्यपद्मादयो जलजन्तुविशेषाः। अव्यक्त एक, अचेतन और अधिष्ठान रूप होता है तथा क्षेत्रज्ञ अनेक, सचेतन और आश्रयी होता है। इस दृष्टि से यदि समुद्र के दृष्टान्त का विचार किया जाय तो 'उदकभवा औदका नदीनदसरस्तडागादयः' यह डल्हणकृत अर्थ अयुक्त मालूम होता है।

अव्यक्त अचेतन है। जब उसका संयोग चेतयिता पुरुष के साथ होता है, तब भूतों की उत्पत्ति होती है। उसका क्रम अब वर्णन करते हैं—

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव, तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति, तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति, तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः, भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति, तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः, एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥ ३ ॥

(अव्यक्त से सृष्ट्युत्पत्ति—) उस अव्यक्त से उसी स्वभाव (सत्त्वरजस्तमःस्वभाव) का महत् (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है, और उसी स्वभाव के (त्रिगुणात्मक) बुद्धितत्त्व से उसी स्वभाव का (त्रिगुणात्मक) अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार तीन प्रकार का है—(१) वैकारिक (सात्त्विक), (२) तैजस (राजस) और (३) भूतादि (तामस)। उसमें राजस अहङ्कार की सहायता द्वारा सात्त्विक अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाणी, हस्त, लिङ्ग, गुदा, पाद और मन। इनमें प्रथम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, दूसरी पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और मन कर्मेन्द्रिय तथा

ज्ञानेन्द्रिय हैं। राजस अहङ्कार की सहायता द्वारा तामस अहङ्कार से भी तत्तत्भाव की पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा। उन तन्मात्राओं के विशेष ये हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। उन (तन्मात्राओं) से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी (ये पाँच भूत उत्पन्न होते हैं)। इस प्रकार यह चौबीस तत्त्वों का समुदाय वर्णन किया है॥ ३॥

वक्तव्य—महान्—अव्यक्त और त्रिगुणसाम्यावस्था में स्थित प्रकृति पुरुष का संयोग होते ही स्वयं अव्यक्तावस्था और त्रिगुणसाम्यावस्था को छोड़कर व्यक्त और त्रिगुणवैषम्ययुक्त अनेक तत्त्वों को उत्पन्न करती है। इस तत्त्वपरंपरा का प्रारम्भ तभी होता है, जब प्रकृति पुरुषाधिष्ठित होती है। इसमें प्रथम तत्त्व महान् है। इसी को बुद्धितत्त्व भी कहते हैं—यदेतद्विस्तृतं बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्। महत्तत्त्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्त्वं तदुच्यते॥ सारासार विचार करके किसी विषय के संबंध में निश्चित करना, या कार्यकारण संबंध को देखकर निश्चय (एवमेव, नान्यथा) करना या अन्य प्रकार से कार्याकार्य निर्णय करना, यह बुद्धि का कार्य है। इस प्रकार के कार्य को 'व्यवसाय या अध्यवसाय' कहते हैं—व्यवसायात्मिका बुद्धिः॥ (महाभारत)। अध्यवसायो बुद्धिः॥ (सांख्यसूत्र २, १३; सांख्यकारिका २३)। यह बुद्धि गुणाधिक्य के अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस होती है और उसके कार्य में भी गुण के अनुसार फर्क होता है—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥ यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥ अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥ (भगवद्गीता १८)। धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं, तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥ (सांख्यकारिका २३)। बुद्धितत्त्व की व्यापकता और विशालता को देखकर उसको महत् संज्ञा दी गई है—बुद्धेर्महत्तत्त्वसंज्ञा च स्वेतरसकलकार्यव्यापकत्वान्महदैश्वर्याच्चान्वितार्था॥ तल्लिङ्ग एव—अव्यक्तस्य लिङ्गमिव लिङ्गं यस्य। अव्यक्त जिस प्रकार त्रिगुणात्मक होता है; वैसा ही जो त्रिगुणात्मक है। परंतु भेद यह होता है कि महान् में त्रिगुण की साम्यावस्था न होकर वैषम्यावस्था होती है और इसी कारण से उपर्युक्त सात्त्विकादि भेद होते हैं। अहङ्कार—अहं अहं करना, अभिमान या पृथक्त्व। प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होने पर भी उसका एकत्व नष्ट नहीं हुआ था, परंतु जब अहङ्कार उत्पन्न हुआ, तब उसमें अनेकत्व और पृथक्त्व आ गया और इसी अहङ्कार के कारण पानी, पत्थर, प्राणी, वनस्पति इत्यादि स्थावरजङ्गमात्मक अनेक वस्तुएँ तथा मनुष्यों में अभिमान उत्पन्न हुआ है। अहङ्कार बुद्धि का ही एक भेद होने से बुद्धि के पश्चात् उसकी उत्पत्ति होती है तथा बुद्धि के अनुसार उसके सात्त्विकादि तीन भेद होते हैं—अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥ (भगवद्गीता ३, ४७)। अभिमानोऽहङ्कारः (सांख्यकारिका २४)। इस पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—'यत् खल्वालोचितं मतं च तत्र अहमधिकृतः, शक्तः खल्वहमत्र, मदर्था एवाऽमी विषयाः, मत्तो नाऽन्योऽत्राऽधिकृतः कश्चिदस्ति, अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कारः। तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति कर्तव्यमेतन्मया' इति। अहङ्कार उत्पन्न होने के पश्चात् आगे की सृष्टि के मुख्य दो विभाग होते हैं—एक वनस्पति, प्राणी, मनुष्य इत्यादि इन्द्रिययुक्त अर्थात् सेन्द्रियसृष्टि का विभाग और दूसरा इन्द्रियविरहित अर्थात् निरिन्द्रिय सृष्टि का (जड़ सृष्टि का) विभाग—सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्॥ (चरक, सूत्र १)। यहाँ इन्द्रियशब्द से केवल 'इन्द्रिययुक्त प्राणियों की इन्द्रियों की शक्ति' इतना ही अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि सेन्द्रिय प्राणियों के जड़ शरीर का समावेश निरिन्द्रिय सृष्टि में और आत्मा का समावेश पुरुष में होता है। इसलिए सेन्द्रियसृष्टि का विचार करते समय सांख्यशास्त्र में केवल इन्द्रियों का विचार होता है। सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय के सिवा सृष्टि का तीसरा विभाग असम्भाव्य होने के कारण अहङ्कार के दो ही विभाग किये गये हैं—अभिमानोऽहङ्कारः, तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव॥ (सांख्यकारिका २४)। एवं द्विविध एव सर्गोऽहङ्कारात्, न त्वन्य इति 'एव'कारेणावधारयति॥ (वाचस्पति मिश्र)। इन्द्रियशक्ति श्रेष्ठ होने के कारण सेन्द्रियसृष्टि की उत्पत्ति सात्त्विक (सत्त्वगुणोत्कर्ष) अहङ्कार से और निरिन्द्रियसृष्टि तामस अहङ्कार से मानी गई है। परंतु पित्त और कफ के समान सत्त्व और तम पङ्गु और निष्क्रिय होते हैं। इसलिए दोनों प्रकार की सृष्टि में प्रवर्तक रज सहायक होता है—उपष्टम्भकं चलं च रजः॥ (सा० का० १३)। रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम्। (सुश्रुत, प्रथमखण्ड पृष्ठ १३०)। इसलिए लिखा है—सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्। भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥ (सा० का० २५)। इस कारिका पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—तैजसात्, राजसादुभयं गणद्वयं भवति। यद्यपि रजसो न कार्यान्तरमस्ति; तथाऽपि सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये असमर्थे न स्वस्वकार्यं कुरुतः, रजस्तु चलतया ते यदा चालयति तदा स्वकार्यं कुरुत इति, न द्वयस्मिन् कार्ये सत्त्वतमसोः क्रियोत्पादनद्वारेणास्ति रजसः कारणत्वमिति न व्यर्थं रजः॥ तद्वद्गणान्यैकादशेन्द्रियाणि—यद्यपि अहङ्कार त्रिगुणात्मक है तथापि इन्द्रियाँ सत्त्वप्रधान होती हैं। इनमें भी मन तथा बुद्धीन्द्रियों में कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा सत्त्वोत्कर्ष अधिक होता है। कुछ शास्त्रकार कर्मेन्द्रियों को रजःप्रधान मानते हैं। श्रोत्रत्वक् इति—शृणोत्यनेन श्रोत्रम्। त्वचयत्यनेनेति त्वक्। चष्टे रूपं रूपवन्तं च प्रकाशयतीति चक्षुः। जिघ्रत्यनेनेति घ्राणम्। रसयत्यास्वादयत्यनेनेति रसनं (जिह्वा)। पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि—श्रोत्र से वाक् तक। यद्यपि कान, नाक, आँख ये दो दो होते हैं तथापि इन्द्रियसंख्यागणना की दृष्टि से वे एक एक गिने जाते हैं—यद्यपि चाक्षिणी कर्णौ नासापुटे द्वे तथाऽप्येकेन्द्रियाधिष्ठानत्वेनैकमेवेति कृत्वा पञ्च इत्युक्तम्॥ (चक्रपाणिदत्त)। उभयात्मकं मनः—इसका अभिप्राय यह है कि मन इन्द्रिय है और दोनों प्रकार का है। अन्य इन्द्रियों के साथ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण मन इन्द्रिय कहलाता है—इन्द्रियं च साधर्म्यात्। (सा० का० २७)। इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाहङ्कारोपादानत्वं च साधर्म्यं, न त्विन्द्रलिङ्गत्वम्, महदहङ्कारयोर्व्यापमलिङ्गत्वेनेन्द्रियत्वप्रसङ्गात्; तस्माद् व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रलिङ्गत्वं न तु

प्रवृत्तिनिमित्तम् ॥ (वाचस्पतिमिश्र)। बुद्धीन्द्रिय कहने का कारण यह है कि बुद्धीन्द्रियाँ अर्थ ग्रहण करने में तब प्रवृत्त और समर्थ होती हैं, जब मन उनमें अधिष्ठित होता है—मन पुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। तद् (मन) अर्थात्मसम्पदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् ॥ (चरक, सू० ८)। चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा। मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १७ ॥ यथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते। न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति ॥ १८ ॥ (महाभारत, शान्ति ३११)। अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति ॥ (बृहदारण्यकोपनिषत् १. ५. ३)। बुद्धीन्द्रियों के साथ मन का संबंध इतना घनिष्ठ होने के कारण उसको छठा इन्द्रिय भी कहने का सम्प्रदाय पड़ गया है—षडिन्द्रियप्रसादनः (चरक, सूत्र० २९)। तत्र मधुरो रस षडिन्द्रियप्रसादन ॥ (सुश्रुत प्रथमखण्ड २३०)। मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ (भगवद्गीता १५, ७)। बुद्धीन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के संबंध में वकील की तरह अमुक ऐसा है (संकल्प), अमुक ऐसा नहीं है (विकल्प), इत्यादि सारासार विचार बुद्धि के सामने कार्याकार्यनिर्णय के लिए व्यवस्थित रूप से रखने का काम मन का है और बुद्धि के द्वारा निर्णय प्राप्त होने पर उसके अनुसार कर्मेन्द्रियों के द्वारा काम कराने का कार्य मन ही करता है। इस तरह विस्तार और व्यवस्था करने का कार्य व्याकरण कहलाता है—मनो व्याकरणात्मकम् (महाभारत)। इसलिए उसका समावेश कर्मेन्द्रियों में भी किया गया है—बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रिय च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्ते ॥ (वाचस्पतिमिश्र)। चरक में उपर्युक्त विचारपरम्परा संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन की गई है—इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते। कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥ जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका। व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ (चरक, शा० १)। तन्मात्र—शब्दस्पर्शादि का अमिश्रित पृथक् पृथक् सूक्ष्म मूलरूप या बीज। आपस में इनका पार्थक्य (जैसे—शब्दतन्मात्र से रूपतन्मात्र इत्यादि) बाह्येन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। इसलिए ये तन्मात्र अविशेष कहलाते हैं—तन्मात्राण्यविशेषाः, तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ (सा० का० ३८)। शब्दादितन्मात्राणि सूक्ष्माणि, न चैषां शान्तत्वादिरस्ति उपभोगयोग्यो विशेष इति मात्रशब्दार्थः। तन्मात्राणि त्वस्मदादिभिः परस्परव्यावृत्तानि नानुभूयन्ते इत्यविशेषाः सूक्ष्मा इति चोच्यन्ते ॥ (वाचस्पतिमिश्र)। तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता। न शान्ता नाऽपि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः ॥ (विष्णुपुराण)। विशेष—बाह्येन्द्रियग्राह्य व्यवच्छेदक गुण, जिनके द्वारा ये तन्मात्र आपस में विभिन्न किये जा सकते हैं। जैसे—शब्दतन्मात्र शब्दगुण द्वारा, स्पर्शतन्मात्र स्पर्शगुण द्वारा अन्य तन्मात्राओं से विभिन्न किया जाता है। भूत—पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत। ये भूत स्थूल बहिरिन्द्रियग्राह्य होते हैं—भूतत्वं नाम बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् ॥ (न्यायबोधिनी)। तेभ्यः—इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से एकोत्तरपरिवृद्ध्या आकाशादि स्थूल पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः इस कारिका (३८) पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—तेभ्यस्तन्मात्रेभ्यो यथासंख्यमेकद्वित्रिचतुष्पञ्चभ्यो भूतान्याकाशानिलानलसलिलावनिरूपाणि पञ्च पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्य ॥ जैसे—शब्दतन्मात्र से शब्दगुण आकाश, शब्दतन्मात्र सहित स्पर्शतन्मात्र से शब्दस्पर्शगुण वायु, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहित रूपतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपगुणयुक्त तेज, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहित रसतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपरसगुणयुक्त जल, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहित गन्धतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपरसगन्धयुक्त पृथिवी। चरक में भी लिखा है—महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा। शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे। पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ (शारीर १)। तत्त्वचतुर्विंशति—अव्यक्त, महान्, अहङ्कार, पंच बुद्धीन्द्रियाँ, मन, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्र और पंच महाभूत इन चौबीस तत्त्वों का समुदाय—प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ (सा० का० २२)। सुश्रुतोक्त समुदाय चौबीस तत्त्व सांख्यदर्शन के अनुसार हैं। चरकसंहिता में जो चौबीस तत्त्व दिये हैं, उनमें तन्मात्राओं का उल्लेख नहीं और उनके स्थान में पंचमहाभूतों का निर्देश किया है और पंचमहाभूतों के स्थान में पंचार्थों का निर्देश किया है। संक्षेप में, चरकोक्त चौबीस तत्त्वों की गणना में तन्मात्राएँ नहीं हैं, पंच इन्द्रियार्थ हैं। चरक बहुत पुराना ग्रन्थ है। उसके समय में सांख्यदर्शन का उदय हो रहा था परन्तु उसकी नींव पक्की नहीं हुई थी। इसलिए उपर्युक्त फर्क मिलता है (आगे भी ७ वें सूत्र की टिप्पणी देखो)। सुश्रुत के समय तथा चक्रपाणिदत्त (चरकटीकाकार) के समय सांख्यदर्शन की तत्त्वचतुर्विंशति निश्चित हुई थी। इसलिए चक्रपाणिदत्त अपनी टीका में 'खादीनि' से 'तन्मात्र' और 'पञ्चार्थ' से 'पञ्चमहाभूत' ऐसा अर्थ करके सांख्यदर्शन के साथ समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं—खादीनि सूक्ष्मभूतखादीनि तन्मात्रशब्दाभिधेयानि। पञ्चार्था इति स्थूला आकाशादयः शब्दादिरूपा, गुणगुणिनोर्हि परमार्थतो भेदो नास्त्येवास्मिन् दर्शने ॥ (शारीर अ० १. ६३–६४)। परन्तु यह दूरान्वय है, सरलान्वय नहीं है।

तत्र बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः; कर्मेन्द्रियाणां यथासङ्ख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि ॥ ४ ॥

(इन्द्रियों के विषय—) उन (इन्द्रियों) में बुद्धीन्द्रियों के शब्दादि विषय होते हैं। कर्मेन्द्रियों के क्रम से वचन, आदान, आनन्द, विसर्ग और विहरण (ये विषय) होते हैं ॥ ४ ॥

वक्तव्य—शब्दादयो विषयाः—श्रोत्र का विषय शब्द, त्वचा का स्पर्श, चक्षु का रूप, जिह्वा का रस और घ्राण का गन्ध। यथासंख्य—वाणी का वचन, हस्त का आदान, उपस्थ का आनन्द, गुदा का उत्सर्ग और पाद का विहरण। बुद्धीन्द्रियों के जैसे केवल एक एक विषय होते हैं, वैसे कर्मेन्द्रियों के नहीं हैं। कर्मेन्द्रियों के विषयों में अनेकता होती है। इसलिए यहाँ पर वचनादानादि जो विषय बताये गये हैं, वे केवल उपलक्षणात्मक समझने चाहिएँ। इसी

अर्थानेकता के कारण ग्रन्थान्तरों में कर्मेन्द्रियों के अर्थों के सम्बन्ध में कुछ भिन्नता दिखाई देती है । जैसे हस्त के विषय में चरक में लिखा है—हस्तौ ग्रहणधारणे (शारीर १) । आनन्द—यह उपस्थ का विषय है । उपस्थ से स्त्री और पुरुष दोनों का जननेन्द्रिय अभिप्रेत है—उपस्थं रतिसम्पाद्यसुखसाधनम् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३, ९२ की टीका में विज्ञानेश्वर) । अर्थात् आनन्द से मैथुनजन्य आनन्द यहाँ अभिप्रेत है । इसके सिवाय प्रजोत्पत्ति के आनन्द का भी इसी में समावेश करते हैं—उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्त्या । (गौडपादाचार्य) । मैथुन और प्रजोत्पत्ति के सिवाय मूत्र, शुक्र और आर्तव इनका उत्सर्ग करना यह भी उसका स्वाभाविक कार्य होता है । इसलिए चरक में उसका कार्य विसर्ग भी बताया है—पायूपस्थं विसर्गार्थम् । (शा० १) ।

मन के विषयों का यहां पर वर्णन नहीं दिया है । चरक में इसके विषय का वर्णन मिलता है—चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च । यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ (शारीर १) । मन के विषय का विवरण पीछे ३ सूत्र के 'उभयात्मकं मनः' इसकी टिप्पणी में किया गया है ।

अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः; शेषाः षोडश विकाराः ॥ ५ ॥

(प्रकृति और विकृति—) अव्यक्त, महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र यह आठ (तत्त्व) प्रकृति हैं; शेष सोलह (तत्त्व) विकार हैं ॥ ५ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में उपर्युक्त चौबीस तत्त्वों के दो विभाग किये हैं—प्रथम विभाग प्रकृति का और दूसरा विकृति का है । प्रकृति—प्रकरोतीति प्रकृतिः । तत्त्वान्तरोपादानत्वं प्रकृतित्वम् ॥ जो अन्य तत्त्वों को पैदा करती है, वह प्रकृति है । इस कारण मात्रवाचक साधारण अर्थ से यहाँ आगे के लिए प्रकृति शब्द प्रयोग किया गया है । 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' यह जो प्रकृति का लक्षण पीछे द्वितीय सूत्र के वक्तव्य में दिया गया है, उस लक्षण के अनुसार यहाँ पर प्रकृति शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, क्योंकि यह लक्षण केवल अव्यक्त पर लागू होता है, परन्तु 'प्रकरोति इति प्रकृतिः' यह लक्षण आठों पर भी लागू होता है । जैसे—अव्यक्त महान् को, महान् अहङ्कार को, अहङ्कार पञ्चतन्मात्र को और पञ्चतन्मात्र पञ्चमहाभूतों को पैदा करते हैं । सांख्यशास्त्र में प्रकृति के दो भेद किये गये हैं । (१) प्रथम भेद को मूलप्रकृति कहते हैं । यह प्रकृति दूसरे तत्त्व को उत्पन्न करती है, परन्तु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती अर्थात् यह किसी की विकृति नहीं होती है—मूलप्रकृतिरविकृतिः । (सा० का० ३) इस भेद में केवल अव्यक्त आता है । (२) दूसरे भेद को प्रकृतिविकृति कहते हैं । इस भेद के तत्त्व अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं, तथा स्वयं दूसरे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिए प्रकृतिविकृति कहलाते हैं—तत्त्वान्तरोपादानत्वे सति कार्यत्वं प्रकृतिविकृतित्वम् । इस विभाग में महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र इन सात तत्त्वों का समावेश होता है । जैसे—महान् अहङ्कार की प्रकृति और अव्यक्त की विकृति है, अहङ्कार पञ्चतन्मात्राओं की प्रकृति और महान् की विकृति है और पञ्चतन्मात्र पञ्चमहाभूतों की प्रकृति और अहङ्कार की विकृति होती है । इस कारण से ये सात तत्त्व प्रकृतिविकृति कहलाते हैं—महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ॥ (सा० का० ३) अष्टौ प्रकृतयः—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि सांख्यदर्शन में प्रकृति का अष्टविधत्व नहीं है । यह वर्गीकरण वेदान्त के प्रभाव से सांख्यदर्शन में प्रारम्भ हुआ और यही वर्गीकरण महाभारतान्तर्गत सांख्यशास्त्र में दिया गया है—अव्यक्तं च महान्तं च तथाऽहङ्कारमेव च । पृथिवीं वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् । एताः प्रकृतयश्चाष्टौ ॥ (शान्तिपर्व ३१०) । चरक में भी यही वर्गीकरण है—खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः । भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा ॥ (शा० १) । इस सूत्र में पञ्चमहाभूतों के स्थान में उनकी तन्मात्राएँ देकर प्रकृति का अष्टविधत्व माना गया है । वेदान्त की कल्पना सांख्य में ठीक बैठने के लिए यह फर्क किया गया है । विकार—जो किसी अन्य तत्त्व को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु स्वयं अन्य तत्त्व से उत्पन्न होता है, वह विकार है—तत्त्वान्तराजनकत्वे सति जन्यत्वं विकारत्वम् ॥ इस विभाग में ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत मिलाकर सोलह तत्त्व समाविष्ट होते हैं क्योंकि इनसे आगे कोई तत्त्व निर्माण नहीं होते । इस पर यहाँ शङ्का हो सकती है कि जब पञ्चमहाभूतों से समस्त सृष्टि के अनन्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं तब प्रकृति केवल सप्त या अष्ट और विकार केवल षोडश इस प्रकार इयत्ता करना अयुक्त है । इसका समाधान वाचस्पति मिश्र निम्न प्रकार से करते हैं—यद्यपि च पृथिव्यादीनां गोघटवृक्षादयो विकाराः एवं तद्विकारभेदानां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः, तथाऽपि गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम् । 'तत्त्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वम्' इहाभिप्रेतमिति न दोषः सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरम् ॥ इसका तात्पर्य यह है कि गोघटादि पृथिव्यादि के समान स्थूल, बाह्येन्द्रियग्राह्य और शान्तादिधर्मयुक्त होने के कारण स्थूल पञ्चमहाभूतों से भिन्न तत्त्व के नहीं हैं । इसलिए प्रकृति और विकारों की संख्या जो ऊपर निर्दिष्ट की गई है, वही सही है ।

स्वः स्वश्चैषां विषयोऽधिभूतं; स्वयमध्यात्मम्; अधिदैवतं[1] तु—बुद्धेर्ब्रह्मा, अहङ्कारस्येश्वरः मनसश्चन्द्रमाः दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः, रसनस्यापः पृथिवी घ्राणस्य, वाचोऽग्निः[2], हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोर्मित्रः, प्रजापतिरुपस्थस्येति ॥ ६ ॥

(तत्त्वों का अधिभूतादि त्रैविध्य—) इनका अपना अपना विषय अधिभूत होता है । स्वयं तत्त्व आध्यात्मिक है और अधिदैवत बुद्धि का ब्रह्मा, अहङ्कार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र की दिशाएँ, त्वचा का वायु, नेत्र का सूर्य, रसना का जल, घ्राण की पृथिवी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पादों का विष्णु, गुद का मित्र और जननेन्द्रिय का प्रजापति है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—अधि—इस उपसर्ग का अर्थ तद्विषयक, तदधिष्ठित या तदधिकृत्य ऐसा होता है । अधिभूतम्—भूतेषु विद्यमानं विषयभूतं शब्दादिकम् । अध्यात्मम्—आत्मनि कार्यकारणसंघाते शरीरे विद्यमानं श्रोत्रादि । अधिदैवतम्—देवतासु विद्यमानं दिगादिकम् ।

१ अधिदैवतमथ. २ वचसोऽग्निः.

महदादि सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति। कैवल्यार्थम्—केवलस्य भावः कैवल्यम्। अद्वितीयता, अकेलापन अर्थात् प्रकृति से वियोग। प्रकृति से संयुक्त होने के पश्चात् उससे वियुक्त होने की स्थिति को सांख्यदर्शनकार मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष या वियोग तब होता है, जब पुरुष को केवल ज्ञान प्राप्त होता—एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ (सां० का० ६४)। नास्मीत्यात्मनः कर्तृत्वनिषेधः। न मे इति सङ्गनिषेधः। नाहमिति तादात्म्यनिषेधः॥ (विज्ञानभिक्षु)। सचेतन पुरुष के साथ संयोग होने पर जड प्रकृति सृष्टि का कार्य प्रारंभ करती है और जिस प्रकार नर्तकी नाना प्रकार के नाच और हावभावों के द्वारा प्रेक्षकों का मनोरंजन करके उनका मन अपनी ओर आकर्षण करती है; वैसे ही प्रकृति भी पुरुष का नाना प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं द्वारा मनोरंजन करके उसको अपनी ओर आकर्षण करती है। इन विविध मनोरंजन के पदार्थों से जब तक पुरुष को आनंद होता है, उनके न मिलने से उसको दुःख होता है और वह अहङ्कार-विमूढ होकर सब सृष्टि का कर्तव्य अपने में मानता है, तब तक उसको मोक्ष नहीं मिलता। जब पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है कि वह स्वयं त्रिगुणातीत और अकर्ता है तथा प्रकृति त्रिगुणात्मक और कर्त्री है अर्थात् जब वह प्रकृति से अपना पृथक्त्व समझता है और प्रकृति उससे पृथक् हो जाती है तब उसको कैवल्य प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि सुख-दुःख भोग के बिना कैवल्य नहीं मिल सकता और सृष्ट पदार्थों के बिना सुख-दुःख भोग नहीं होता है। इसलिए पुरुष के उपभोगार्थ और पर्याय से कैवल्यार्थ उसका संयोग होते ही प्रकृति में महदादि सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है—संयोगो हि न महदादिसर्गमन्तरेण भोगाय कैवल्याय च पर्याप्त इति संयोग एव भोगापवर्गार्थं सर्गं करोति॥ कैवल्य सृष्ट्युत्पत्ति का यद्यपि अन्तिम और मुख्य उद्देश है तथापि सुख-दुःख भोग भी उसके साथ उद्देश होता है, परंतु वह गौण और साध्य का साधन होने के कारण यहाँ पर अनिर्दिष्ट है। 'विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य' इस सांख्य-सूत्र (२, १) पर विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—यद्यपि मोक्ष-वद्भोगोऽपि सृष्टेः प्रयोजनं तथापि मुख्यत्वान्मोक्ष एवोक्तः॥ सांख्यकारिका (२१) में दोनों का निर्देश किया है—पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ २१॥ क्षीरादि हेतु—प्रकृति सर्गोत्पत्ति में कैसे प्रवृत्त होती है, इसके संबंध में सांख्यदर्शनकार क्षीर के तथा अन्य दृष्टान्त देते हैं। (१) क्षीर का दृष्टान्त—जैसे दूध के स्वयं अज्ञ—अचेतन—होते हुए भी वत्स पैदा होते ही उसकी वृद्धि के लिए प्रवृत्ति याने उत्पत्ति होती है, वैसे ही प्रधान के स्वयं अचेतन होते हुए भी पुरुष का संयोग होते ही उसके मोक्ष के लिए सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है—वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य (सां० का० ५७)। यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति, पुष्टे च वत्से निवर्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम्, इति अज्ञस्य प्रवृत्तिः॥ (गौडपादाचार्य)। सांख्यसूत्र में भी क्षीर का यही दृष्टान्त (अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ३, ५९)। दिया हुआ है, परंतु विज्ञानभिक्षु उसका अर्थ 'दूध का दही में परिवर्तन' करते हैं—यथा क्षीरं पुरुषप्रयत्ननैरपेक्ष्येण स्वयमेव दधिरूपेण परिणमते, एवमचेतनत्वेऽपि परप्रयत्नं विनाऽपि महदादिरूपपरिणामः प्रधानस्य भवतीत्यर्थः॥ (२) दूसरा दृष्टान्त काल का दिया है। जैसे सृष्टिवृद्धि के लिए काल का वर्षा, शीत, ग्रीष्म इत्यादि ऋतुओं का चक्र स्वयं जारी रहता है, वैसे ही पुरुषमोक्ष के लिए प्रकृति का सृष्टिचक्र जारी रहता है—कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः॥ (सां० सूत्र ३, ६०)। अर्थको गच्छति ऋतुरितरश्च प्रवर्तत इत्यादिरूपं कालादिकर्म स्वत एव भवत्येवं प्रधानस्यापि चेष्टा स्यात्॥ (विज्ञानभिक्षु)। (३) तीसरा दृष्टान्त मनुष्यों के व्यवहार का दिया है। जैसे, ईप्सितार्थ प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेक कार्यों में प्रवृत्त होता है, वैसे ही पुरुषमोक्ष के लिए प्रकृति अनेक प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करने में प्रवृत्त होती है—औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः। पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥ (सां० का० ५८)। (४) चौथा दृष्टान्त नर्तकी का है। जैसे कि, प्रेक्षकों के मनोरञ्जनार्थ नर्तकी गीत वाद्य नृत्य हावभाव इत्यादि में प्रवृत्त होती हैं, वैसे ही प्रकृति प्रवृत्त होती है। पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति स्वभाव से या संस्कार से होती है—स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत्॥ (सांख्यसूत्र ३, ६१)। ये दृष्टान्त प्रकृति की प्रवृत्ति के लिए जैसे सूचक हैं, वैसे उसकी निवृत्ति के लिए भी सूचक होते हैं। जैसे वत्स पुष्ट होने पर तृणोदक क्षीरोत्पत्ति से निवृत्त होता है, पानी का काम समाप्त होने पर वर्षाऋतु आप से आप निवृत्त होती है, भोजन बनने पर मनुष्य (रसोइया) भोजनव्यापार से निवृत्त होता है [विविक्तबोधात् सृष्टि-निवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके॥ (सांख्यसूत्र ३, ६३)। परवैराग्येण पुरुषार्थसमाप्तौ प्रधानस्य सृष्टिर्निवर्तते, यथा पाके निष्पन्ने पाचकस्य व्यापारो निवर्तत इत्यर्थः॥ (सांख्यप्रवचन-भाष्य)], और प्रेक्षकों का मनोरञ्जन होने पर नर्तकी रंगभूमि से निवृत्त होती है [रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्। पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः॥ (सां० का० ५९)। यथा परिषद्भ्यो नृत्यदर्शनार्थं प्रवृत्ताया नर्तक्यास्तत्सिद्धौ निवृत्तिरित्यर्थः॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य)], वैसे ही पुरुष को कैवल्य प्राप्त होने पर प्रकृति उससे याने पर्याय से सर्गोत्पत्ति से निवृत्त होती है।

अत ऊर्ध्वं प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्ये व्याख्यास्यामः। तद्यथा—उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यनपरौ[1], उभौ च सर्वगताविति; एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति, बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति॥ ८॥

(प्रकृतिपुरुषसाधर्म्यवैधर्म्ये—) अब इसके पश्चात् प्रकृति और पुरुष के साम्य और वैषम्य का व्याख्यान करते हैं। वह (साम्य और वैषम्य) इस प्रकार का है—दोनों ही अनादि, दोनों ही अनन्त, दोनों ही अलिङ्ग, दोनों ही नित्य, दोनों

१ उभावप्यपरौ.

ही अपर और दोनों ही सर्वव्यापी होते हैं। परन्तु प्रकृति एक, अचेतन, त्रिगुणात्मक, बीजधर्मा, प्रसवधर्मा, और अमध्यस्थधर्मा है। पुरुष अनेक, सचेतन, निर्गुण, बीजधर्म रहित, प्रसवधर्मरहित और मध्यस्थधर्मा होते हैं ॥ ८ ॥

वक्तव्य—उभावप्यनादी—दोनों में बहुत समता होने के कारण चरकसंहिता में प्रकृति और पुरुष दोनों का समावेश अव्यक्त में किया गया है। साधर्म्यवैधर्म्य—समानो धर्मः साधर्म्यम्। विरुद्धो विसदृशो वा धर्मो वैधर्म्यम्॥ समता और विषमता। अनादि—नास्ति आदिः कारणं पूर्वकालो वा यस्य सः। चरक में प्रकृति और पुरुष के अनादित्व के सम्बन्ध में लिखा है कि आत्मा अनादि है, इसमें सन्देह नहीं है और क्षेत्रपरम्परा भी अनादि है, अतः दोनों ही अनादि होने के कारण इनके अनादित्व में तरतम भेद नहीं किया जा सकता है—आदिर्नास्त्यात्मनः, क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्। अतस्तयो रनादित्वात् किं पूर्वमिति नोच्यते ॥ (शा० १)। अनन्त—नास्ति अन्तो यस्य। यह आनन्त्य तीन प्रकार का होता है—न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः। न वस्तुतोऽपि सर्वात्म्यादानन्त्यं प्रकृतेस्त्रिधा ॥ अलिङ्ग—न विद्यते लिङ्गं यस्य तदलिङ्गम्। लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गमाकारो लक्षणं वा। लिङ्गग्राह्यता व्यक्त का लक्षण है। इसलिए अलिङ्ग से अव्यक्त का बोध होता है। किंवा 'लिङ्गं लययुक्तम्। लयकाले पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे स च बुद्धौ, सा च प्रधाने लयं यातीति। नैवं प्रधानम्, तस्मादलिङ्गं प्रधानम्' ॥ (गौडपादाचार्य)। अर्थात् जिसका लय नहीं होता है, उस प्रकार का। किंवा 'कारणानुमापकत्वाल्लयगमनाद्वा लिङ्गं कार्यमात्रम्'। (सांख्य प्रवचन भाष्य)। जो कार्य जात नहीं होता, वह अलिङ्ग है। तीनों दृष्टि से अलिङ्ग के वास्तविक अर्थ में फर्क नहीं होता। अपर—न विद्यते परः श्रेष्ठः सूक्ष्मो वा यस्मात्। जिससे कोई श्रेष्ठ या सूक्ष्म न हो। किंवा न हि प्रधानात् किञ्चिदस्ति परं यस्य प्रधानं कार्यं स्यात्' ॥ (गौडपादाचार्य)। सर्वगत—सर्वव्यापी, सर्वमूर्तसंयोगी या विभु। एका—सर्वपुरुषसाधारणा। असंख्य पुरुष भेद होने पर भी अभिन्ना। त्रिगुणा—सत्त्वरजस्तमात्मक। ये तीन गुण प्रकृति में साम्यावस्था में और अकार्यावस्था में उपस्थित होते हैं—सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेरभूद्गुणत्रयम्। गुणात्मिका च प्रकृतिः ॥ अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिरित्यर्थः ॥ (सांख्य प्रवचनभाष्य)। बीजधर्मिणी—बीजस्य धर्मो बीजधर्मः सोऽस्या अस्तीति बीजधर्मिणी। बीज में जैसे वृक्षोत्पत्ति का धर्म होता है, वैसे सर्गोत्पत्ति का धर्म जिसमें उपस्थित हो, ऐसी। इस सृष्टि को कई बार फल फूल से लदे वृक्ष की उपमा दी जाती है और इस सृष्टिरूप महावृक्ष का वर्णन सांख्यतत्त्वों के अनुसार करते हैं। तब प्रकृति को बीज ही कहते हैं—अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्। महाहङ्कारविटप इन्द्रियान्तरकोटरः। महाभूतविशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान्। सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः ॥ आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ॥ (महाभारत, आश्वमेधिकपर्व ३५)। प्रसवधर्मिणी—प्रसवः सर्गो वा धर्मोऽसंदृशपरिणामो वा तद्रूपो धर्मो यः सोऽस्या अस्तीति प्रसवधर्मिणी महदादि तत्त्वों की समस्त चराचर सृष्टि को जन्म देने का धर्म जिसमें उपस्थित हो, ऐसी। अमध्यस्थधर्मिणी—अमध्यस्थस्य धर्मो यः सोऽस्या अस्तीति अमध्यस्थधर्मिणी। सुखदुःखादि द्वन्द्वों से विचलित होने का जिसका धर्म हो, ऐसी अर्थात् सुख दुःख को भोगने वाली। अधिक विवरण आगे 'मध्यस्थधर्माण' में देखो। बहव—सांख्यशास्त्रानुसार पुरुष अनन्त होते हैं और उनके बहुत्व के लिये निम्न प्रमाण पेश किये जाते हैं—(१) यदि पुरुष एक होता तो सब का जन्म एक समय में होना चाहिए, सब की मृत्यु एक समय में होनी चाहिए, एक के विकल होने पर सब विकल होने चाहिएँ। परन्तु इस प्रकार की घटनाएँ संसार में नहीं दिखाई देती हैं, इसलिए प्रत्येक शरीर के पुरुष पृथक् पृथक् होने चाहिएँ। (२) एक धर्म में, एक अधर्म में, एक ज्ञान में, एक अज्ञान में एक वैराग्य में, एक विषय में प्रवृत्त होता है। इस तरह प्रत्येक में स्वतन्त्र प्रवृत्ति होती है इसलिए प्रत्येक शरीर में स्वतन्त्र पुरुष है। (३) कुछ सात्त्विक कुछ राजस और कुछ तामस होते हैं, तथा कुछ देवयोनि में, कुछ मनुष्ययोनि में और कुछ तिर्यग्योनि में जन्म लेते हैं। इसलिए प्रत्येक शरीर में पुरुष स्वतन्त्र है सांख्यकारिका में ये तीनों प्रमाण दिये हैं—जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव १७। अबीजधर्माण अप्रसवधर्माण—समस्त सस प्रकृति का पर्याय से त्रिगुणों का खेल है। पुरुष निगुणाती या निर्गुण होते हैं। इसलिए न वे प्रसवधर्मा और न बीजधर्मा हो सकते हैं। मध्यस्थधर्माण सुखदुःखादि द्वन्द्वों से मध्यस्थ जसे विचलित नहीं होता है, उस प्रकार का धर्म जिसमें है ऐसा अर्थात् निर्विकार। बन्ध मोक्ष सुख दुःखादि विकार प्रकृति के हैं। पुरुष इनसे अलिप्त है—तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥ पुरुष के मध्यस्थधर्म के सम्बन्ध में चरक में लिखा है—निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतगुणेन्द्रियैः। चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ (सू० १)। द्रष्टा साक्षी, तेन चानिर्विकारः परमात्मा साक्षी सन् जगत् क्रियाः सर्वाः पश्यन् रागद्वेषादिना युज्यते, यथाऽऽत्मापि सुखदुःखान्युपलभमानोऽपि न रागादिना युज्यते, इदमात्मनो रागादिविकारस्तु मनसि प्राकृतबुद्धौ वा सांख्यदर्शनप्रसिद्धाद्भवतीति भावः। (चक्रपाणिदत्त)। इस तरह पुरुष अकर्ता होने पर भी व्यवहार में वही कर्ता भोक्ता कहलाता है। इसका समाधान यह है कि जैसे रक्त पुष्प की सन्निधि से श्वेत आदर्श में रक्तिमा आ जाती है, चुम्बकसन्निधि से लोहे में चुम्बकत्व आ जाता है, वैसे ही कर्त्री प्रकृति की सन्निधि से पुरुष में भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व आरोपित होता है—यथा महाराज स्वयमयुध्यमानोऽपि स्वेन स्वामिना योद्धा भवत्यप्रेरयितृत्वेन, तथा कूटस्थोऽपि पुरुषः प्रकृत्याद्यखिलकरणप्रेरकः, सङ्करति। पीतेत्वमादिभिर्भवति संयोगादसाक्षित्वमात्रेण तैव प्रेरकत्वादयस्तस्मिन्नवतिष्ठन्ते। अत आत्मनि कर्तृत्वमप्युपचरितम्। निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ॥ यथा केवलो रक्तः स्फटिको लक्ष्यते जनैः। रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत् परः पुरुषः ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य)। सांख्यकारिका में प्रधान और पुरुष का साम्य और वैसम्य निम्न प्रकार से वर्णन किया है—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तम्, विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥ त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानम्, तद्विपरीतस्तथा

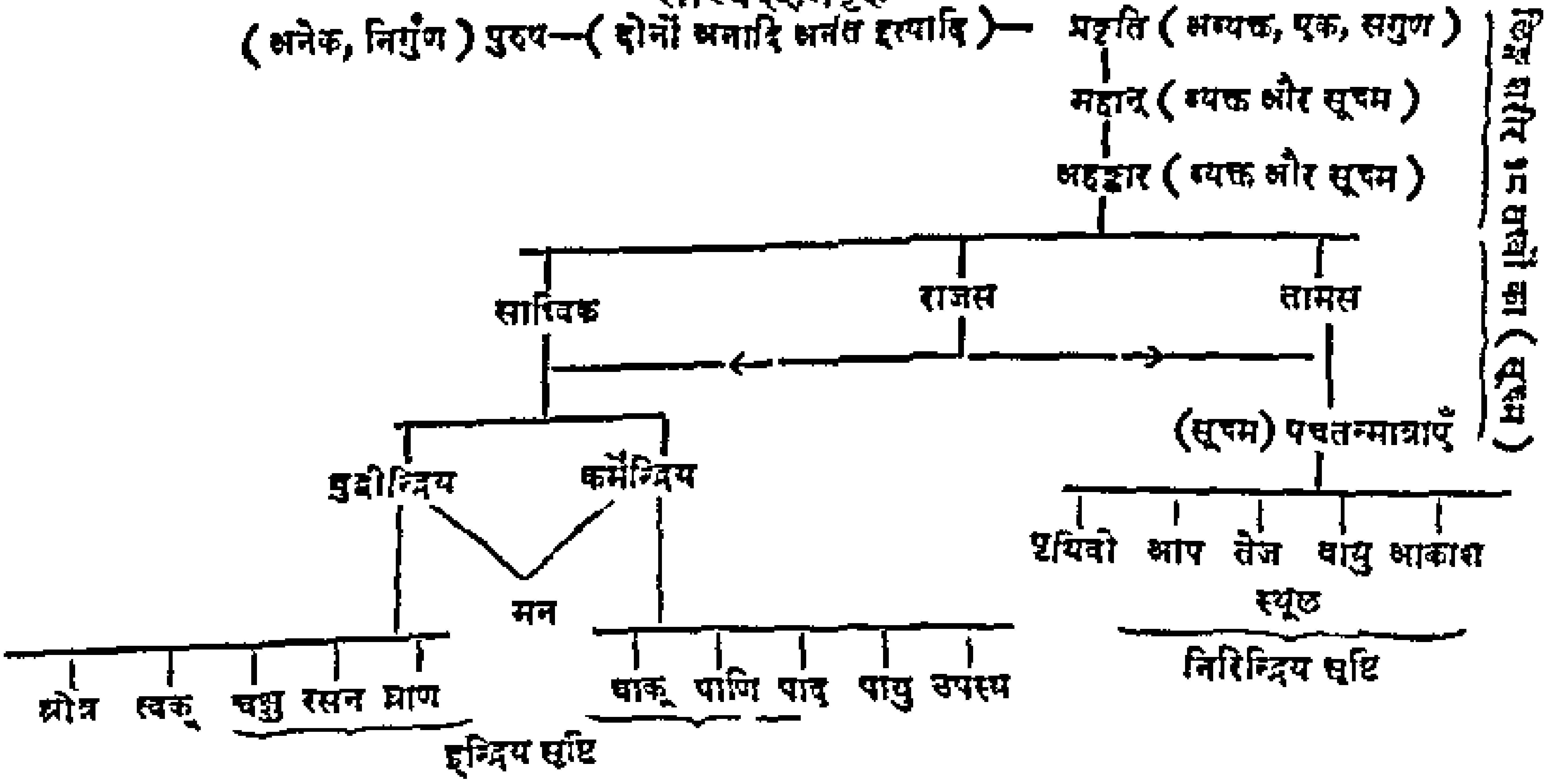
पुमान् ॥११॥ 'तथा च' का अर्थ पूर्व (१० वीं) आर्या में अहेतुमत्, नित्य इत्यादि प्रधान के गुण वर्णन किये हैं वैसा, अर्थात् इससे साम्य प्रदर्शित होता है और 'तद्विपरीत' से वैषम्य प्रदर्शित होता है।

तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति; तदञ्जनत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषन्ते ॥९॥

कारणानुरूप कार्य (हुआ करता है), इस (न्याय) के अनुसार ये सम्पूर्ण विशेष त्रिगुणात्मक होते हैं। तदञ्जन और तन्मय होने के कारण पुरुष त्रिगुणात्मक ही होते हैं, ऐसा कई (आचार्य) कहते हैं ॥ ९ ॥

वक्तव्य —कारणानुरूपं कार्यम्— सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद का (२ और ७ वें सूत्र की टिप्पणी देखो) यह उपसिद्धान्त है। विशेष— इसका सामान्य अर्थ आकाशादि पञ्चमहाभूत है—तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। एते स्मृता विशेषाः शान्ता मूढाश्च घोराश्च ॥ (सा० का० ३८)। परन्तु यहां पर 'महदादि विशेषभूतपर्यन्त' सब तत्त्व उससे अभिप्रेत हैं। कारण यह है कि, जैसे आकाशादि पञ्चमहाभूत त्रिगुणात्मक हैं, वसे बुद्धि, अहङ्कार और एकादश इन्द्रियां भी त्रिगुणात्मक हैं। संक्षेप में, विशेष शब्द यहां पर व्यक्त का पर्याय है। तद्गुणा एव पुरुषाः—पुरुष निर्गुण है, इसका उल्लेख पिछले सूत्र में किया है। परन्तु वह भी तद्गुण (प्रकृतिगुणयुक्त अर्थात् त्रिगुणात्मक) हो जाता है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। इस मत के समर्थनार्थ वे दो कारण बताते हैं। (१) तदञ्जनत्वात्— प्रकृति से लिप्त होने के कारण। अञ्जन का अर्थ है लेप या अपद्रव्य की मिलावट। पुरुष स्वयं त्रिगुणातीत होने पर भी प्रकृति से लिप्त होने के कारण त्रिगुणात्मक हो जाता है। जैसे आदर्श स्वच्छ होते हुए भी लाल फूल की सन्निधि से लाल हो जाता है तथा मुख स्वयं स्वच्छ होते हुए भी मलिन आदर्श के कारण मलिन दिखाई देता है। इसलिए सांख्यसूत्र में लिखा है—नं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥ ७, १९ ॥ इस सूत्र के प्रवचन में विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—यथा स्वभावशुद्धस्य स्फटिकस्य रागयोगो न जपायोगं विना घटते, तथैव नित्यशुद्धादिस्वभावस्य पुरुषस्योपाधिसंयोगं विना दुःखसंयोगो न घटते ॥ इसी दृष्टि से उपाधिविरहित अर्थात् प्रकृतिविरहित पुरुष या आत्मा निरञ्जन कहलाता है—अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरित्यादि ॥ (श्रुति)। निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत्)। परन्तु केवल संयोग (उपाधि) पुरुष में त्रिगुणात्मकता प्राप्त होने के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वाभ्यास से जब पुरुष को केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब वह पूर्ववत् त्रिगुणातीत होने पर भी प्रकृति की उपाधि में शरीरनाश होने के समय तक (सा० का० ६४ से ६७ देखो) रहता है। पुरुष को त्रिगुणात्मक बनाने के लिए केवल उपाधि पर्याप्त नहीं होती, इसलिए दूसरा हेतु तन्मयत्व बताया गया है। त्रिगुणात्मता प्राप्त होने के लिये यह हेतु आवश्यक है। (२) तन्मयत्वाच्च—तद्रूप होना, सम रस होना, अभेदभाव से रहना, अपने को भूल जाना अर्थात् आसक्ति इसको तन्मयता कहते हैं। जैसे कामी पुरुष स्त्री के साथ तन्मय होकर अपने पुरुषत्व को भूल जाता है—तन्मयत्वं चास्य विविक्तस्वरूपानभिव्यक्तया तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जाल्म इत्यादिवद् द्रष्टव्यम् ॥ (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य २।३।१७)। पुरुषतन्मयत्व से उसका बुद्ध्यादिमयत्व समझना चाहिए। बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि में तन्मयता उत्पन्न होने के कारण पुरुष अपने को ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता इत्यादि मानता है यद्यपि वास्तव में वह इससे विपरीत है—न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति। बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सतः आत्मनः ॥ (शांकरभाष्य)। प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ प्रकृतेः गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु। पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ (भगवद्गीता)। यह बुद्ध्यादिमयत्व पुरुष में प्रतिबिम्बरूपेण होता है, वास्तव में नहीं होता—सा (तदाकारता, तन्मयता) कूटस्थचित्तौ बुद्धेरर्थाकारवत् परिणामो न सम्भवतीत्यगत्या प्रतिबिम्बस्वरूपतायामेव पर्यवस्यति। अयमेव बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बो वृत्तिसारूप्यमितरत्रेतियोगसूत्रेण (१. ४) उक्तः। सत्त्वेऽनुतप्यमाने तदाकारानुरोधात् पुरुषोऽप्यनुतप्यत इव दृश्यते इति योगभाष्ये तदाकारानुरोधशब्देन विशिष्यैव तापादिदुःखस्य प्रतिबिम्ब उक्तः। अत एव च पुरुषस्य बुद्धिवृत्त्युपरागे स्फटिकं दृष्टान्तं सूत्रकारो वक्ष्यति—कुसुमवच्च मणेरिति। तस्मिंश्च दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः। इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥ अत्र दृष्टिशब्दो बुद्धिवृत्तिसामान्यपरो युक्तिसाम्यात्। प्रतिबिम्बश्च तत्तदुपाधिषु बिम्बाकारश्चित्तपरिणाम इति। तस्मात् प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषे दुःखसम्बन्धो भोगाख्योऽस्ति ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य)। इस विवरण का तात्पर्य यह है कि जैसे जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब उस पर जल के चञ्चलत्वादि धर्म आरोपित होते हैं और व्यवहार में चन्द्र हिलता है ऐसा बोला जाता है परन्तु आकाशस्थ चन्द्र इन चञ्चलत्वादि धर्मों से दूर होता है, वसे ही प्रकृति के बुद्ध्यादि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने पर उसके ऊपर प्रकृति के त्रिगुणत्वादि धर्म आरोपित होते हैं और व्यवहार में पुरुष त्रिगुणात्मक है ऐसा बोला जाता है, परन्तु वास्तव में पुरुष इन धर्मों से दूर होता है। इस तन्मयत्व और तदञ्जनत्व के कारण उत्पन्न हुई त्रिगुणात्मता ये कारण दूर होने पर अर्थात् पुरुष प्रकृति से दूर होने पर दूर हो जाती है, जैसे जपापुष्प आदर्श से दूर होने पर आदर्श की लाली दूर हो जाती है—यथा ज्वलद्गृहाश्लिष्टं गृहं विच्छिद्य रक्ष्यते। तथा सदोषप्रकृतिविच्छिन्नोऽयं न शोचति ॥

सांख्यदर्शनवृक्ष



अब तक सांख्यदर्शन के अनुसार सर्गोत्पत्ति का जो क्रम ऊपर वर्णन किया गया है, उसका वृक्ष पहले सुखावबोध के लिए दिया गया है।

प्रकृति, पुरुष, पंचमहाभूत इत्यादि तत्वों के संबंध में सांख्यदर्शन की जो विचारप्रणाली अब तक वर्णन की गई है, वह पूर्णतया आयुर्वेदसंमत नहीं है। इसलिए जिन बातों में आयुर्वेद अपनी विशेषता रखता है याने मतभेद प्रकट करता है, उन बातों का अब विचार किया जाता है। प्रथम प्रकृति के संबंध में आयुर्वेद का मत प्रकट करते हैं—

वैद्यके तु—

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥ १० ॥

आयुर्वेद में तो पृथुदर्शी लोक स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति और परिणाम को प्रकृति (के समान आदि कारण) मानते हैं ॥१०॥

वक्तव्य—वैद्यक—वैद्यमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः। चिकित्सा शास्त्र। (१) स्वभाव—तत्तद्द्रव्यप्रतिबद्ध सहज धर्म या गुण—स्वभावः स्वस्य तत्तत्पदार्थस्य भावोऽसाधारणकार्यकारित्वम्, यथाऽग्नेर्दाहकारित्वमपां निम्नदेशगमनादि॥ (शाकरानन्द श्वेताश्वतरोपनिषत् टीकाकार)। तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः। (चरक, विमान १)। यह स्वभाव निष्प्रतिक्रिय होता है—स्वभावो निष्प्रतिक्रियः। (चरक, शा० १)। द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्। एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥ (रामायण ६, ३६)। यावदेह स्वभावोऽस्य देहस्य न निवर्तते। (योगवासिष्ठ ३,७६९)। कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यम्, चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणां च। माधुर्यमिक्षौ कटुतां मरीचे, स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम्॥ (२) ईश्वर—परमात्मा, परमेश्वर जो संपूर्ण जगत् में व्याप्त है, जिससे यह सृष्टिचक्र घुमाया जाता है, जिसका न कोई पति है, न परिचालक है, न उत्पादक है इत्यादि—देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥ न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्। स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्)। ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्॥ (ईशावास्योपनिषद्)। ईशनेनाहमत्यर्थं न च मामीशते परे। ददामि च सदैश्वर्यमीश्वरस्तेन कीर्तितः॥ (३) काल—निमेषादि युगपर्यंत भूतभविष्यवर्तमानकाल जो सर्व जगत् का शासक है—कालो निमेषादिपरार्धपर्यन्तः प्रत्ययोत्पादको भूतो वर्तमान आगामीति व्यवह्रियमाणो जनैः॥ (शांकरानन्द)। कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥ नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालतो व्याहरते च बालः। नाकालतो यौवनमभ्युपैति नाकालतो रोहति बीजमुप्तम्॥ कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे॥ कालेनाभ्यागता सर्वे कालो हि बलवत्तरः॥ (महाभारत)। (४) यदृच्छा—बुद्धियुक्त कर्तृत्व के बिना मेघ का बरसना, भूमिकंप होना इत्यादि घटनाओं को अचानक उत्पन्न करने वाली शक्ति। काकतालीयवद्येन संवादकारिणी काचन शक्तिः। यथा ऋतुमतीनां योषितां कासांचित् कस्मिंश्चिदृतौ गर्भधारणमित्यादि॥ (शांकरानन्द)। यदृच्छा काकतालीयवत् अतर्कितोपस्थितः, यथाऽकस्माद्धनो वर्षति भूमिः कम्पते, लाभालाभौ भवतः॥ (नारायण, श्वेताश्वतरोपनिषत् टीकाकार)। यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः। समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते॥ यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ (भगवद्गीता)। (५) नियति—पूर्वजन्मार्जित या वर्तमान धर्माधर्म कर्म का फल या अदृष्ट। अथवा—नियतिः सर्वपदार्थेष्वनुगताऽकारणत्वेन यमनशक्तिः, यथर्तुष्वेव योषितां गर्भधारणमिति हृदये समुद्बुद्धिरित्यादि॥ (शांकरानन्द)। नियतिर्यथाऽग्निरूर्ध्वमेव ज्वलति वायुस्तिर्यगेव पवत इति नियमरूपा। (नारायण)। इस दृष्टि से 'विशेष नियम के अनुसार होने वाले कार्य' को नियति कहते हैं। (६) परिणाम—प्रकृति के गुणविकास का फल या अन्तिम परिवर्तन, पंचमहाभूत। प्रकृतिम्—प्रकरोतीति प्रकृतिः, आदिकारण। किं वा प्रकृतिवत् आदि कारण। पृथुदर्शिनः—मोटी या उदारबुद्धि वाले, दूरदर्शी, संकुचित विचार न रखने वाले। मन्यन्ते—सांख्य

से प्रकृति को आदि कारण मानते हैं, वैसे ही आयुर्वेद के पृथुदर्शी ऋषि स्वभावादि छओं को प्रकृति के समान आदि कारण मानते हैं।

इस संसार में दृष्टि के सामने आने वाले विविध और विलक्षण पदार्थों को तथा विचित्र घटनाओं को देखकर मनुष्यों के दिमाग में इनके कारण के संबंध में अनेक कल्पनाएँ उठती हैं। परंतु साधारण मनुष्य इनके ऊपर न अधिक विचार करता है, न उसके पास अधिक विचार करने के लिए आवश्यक समय और बुद्धिसामर्थ्य होता है। भारतीय ऋषि, जो सदैव तत्त्वचिन्तन में निमग्न रहा करते थे, इस विषय के संबंध में भी अधिक विचार करते थे जिसके फलस्वरूप उनमें प्राचीनकाल से कई मतमतान्तर प्रचलित थे। इन मतमतान्तरों का उल्लेख जैसे यहाँ पर किया है, वैसे श्वेताश्वतरोपनिषत् के प्रारंभ में सृष्टि का कारण क्या है ? इस तरह पूर्व प्रश्न करके किया गया है—किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥ कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्। संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥ ये सब मतमतान्तर निम्न प्रकार के हैं। सांख्य या प्रकृतिवादी मानते हैं कि सृष्टि का कारण प्रकृति है; स्वभाववादी या लोकायतिक स्वभाव को कारण मानते है; वेदान्ती, योगी और ईश्वरवादी परमेश्वर को कारण मानते हैं; कालवादी काल को कारण मानते हैं; मीमांसक नियति को कारण मानते हैं; और जगन्नित्यत्ववादी या गुणपरिणामवादी नास्तिक पंचमहाभूतों को कारण मानते हैं। इस तरह प्रत्येक पक्ष अपने मत को सत्य, या प्रधान और दूसरे के मत को असत्य, गौण या अपने मत में अन्तर्भूत मानता है। जैसे—सांख्य ईश्वर, काल, स्वभाव इत्यादि को कारण न मानते हुए प्रकृति को ही कारण मानते हैं। गौडपादाचार्य 'प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति' इस कारिका (६१) के भाष्य में लिखते हैं—"केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते—'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा ॥'' अपरे स्वभावकारणका ब्रुवते—"केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव" इति। अत्र सांख्याचार्या आहुः—'निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्? कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव? तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते। यथा—शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति कृष्णेभ्यः कृष्ण एव' इति। एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते, निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। अनेन पुरुषो व्याख्यातः। तथा केषांचित् कालः कारणमिति। उक्तं च—'कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥' व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणम्, स्वभावोऽपि अत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणं, नापि स्वभाव इति, तस्मात् प्रकृतिरेव कारणम् ॥" वेदान्ती भी इसी तरह स्वभाव, काल इत्यादि को जगत् कारण मानने वालों को मूढ समझते हैं—स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ॥

निषत्)। आयुर्वेदद्रष्टा ऋषि उपर्युक्त सांप्रदायिकों के अनुसार अपनी दृष्टि संकुचित न रखकर सर्वग्राही रखते हैं और विषयानुरोध और औचित्य के अनुसार चिकित्साशास्त्र में इन सब मतमतान्तरों का परामर्श लेते हैं। इसलिए यहाँ पर पृथुदर्शी शब्द का प्रयोग किया गया है—एतत् सर्वानुमतं, सर्ववेदपारिषत्त्वादायुर्वेदस्य (डल्हण)। सुश्रुत में तथा आयुर्वेद के चरकादि अन्य ग्रन्थों में इन छओं के उदाहरण मिलते हैं। (१) स्वभाव—अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते। सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ। तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः ॥ (सुश्रुत शा०)। कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्तात् यथा फलम्। प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम् ॥ (सुश्रुत, निदान)। स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः। स्वभावाद्गुरवो माषा वराहमहिषादयः ॥ (चरक, सु०)। (२) ईश्वर—जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥ (सुश्रुत)। स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च भूतानां भावाभावकरः विश्वकर्मा विश्वरूपः सर्वगः सर्वतन्त्राणां विधाता भावानामणुः विभुर्विष्णुः क्रान्ता लोकानां वायुरेव भगवानिति ॥ (चरक)। (३) काल—कालो हि नाम भगवान् स्वयंभुरनादिमध्यनिधनोऽत्र रसव्यापत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते ॥ (सुश्रुत)। तावेतावर्कवायुसोमाश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिवृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते ॥ (चरक)। देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्। शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुद्भवः ॥ (सुश्रुत, उत्तर ६१)। (४) यदृच्छा—पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्धयपाको यदृच्छया पाकमियात् कदाचित्। यदृच्छया चोपगतानि पाकं पाकक्रमेणोपचरेद्विधिज्ञः ॥ (सुश्रुत)। (५) नियति (अदृष्ट)—ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम् ॥ कर्मजा व्याधयः केचिद्दोषजाः सन्ति चापरे। कर्मदोषोद्भवाश्चान्ये, कर्मजास्तेष्वहेतुकाः ॥ नश्यन्ति त्वक्रियाभिस्ते क्रियाभिः कर्मसंक्षये ॥ (सुश्रुत)। निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम्। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपजायते ॥ न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते। क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ॥ (चरक)। नियम—नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यम्बुजं यथा। ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥ यथा वेलागमे वेलां छादयित्वा महोदधेः। वेगहानौ तदेवाम्भस्तत्रैवान्तर्निलीयते ॥ दोषवेगोदये तद्वदुदीर्येत ज्वरोऽस्य वा। वेगहानौ प्रशाम्येत यथाम्भः सागरे तथा ॥ इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि स्वं स्वं गृह्णाति मानवः। नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥ (सुश्रुत)। पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः। अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किञ्चिदथान्तरम् ॥ (चरक)। (६) परिणाम—ता एवौषध्यः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च। बालानामपि वयःपरिणामात् शुक्रप्रादुर्भावो भवति। इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ् मिथ्याविपक्वानि गुणं दोषं वा जनयन्ति। (सुश्रुत)। जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय)। इन कारणों में परिणाम उपादान कारण और शेष निमित्त कारण होते हैं। संक्षेप में इस विवरण का तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद, शरीर में जो अनेक कार्य होते हैं, उनकी उपपत्ति

भी कारण मानता है।

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजायत ॥ ११ ॥
तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥१२॥
यतोऽभिहितं—तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः ॥१३॥

आकाशादि पञ्चमहाभूत प्रकृतिमय तथा प्रकृतिगुणयुक्त जानने चाहिएं। इन महाभूतों से प्रकृतिलक्षणयुक्त सम्पूर्ण (स्थावरजंगमात्मक) सृष्टि उत्पन्न हुई है ॥ ११ ॥ उस (सम्पूर्ण स्थावरजंगमात्मक सृष्टि) का सदा से ही चिकित्सा के लिए उपयोग कहा गया है क्योंकि चिकित्सा शास्त्र में पंचमहाभूतों से परे विचार (करने का प्रयोजन) नहीं होता है ॥ १२ ॥ इसलिए 'पुरुषसंभवद्रव्यसमूह पञ्चमहाभूतोत्पन्न' कहा गया है ॥ १३ ॥

वक्तव्य—तन्मय—प्रकृतिस्वरूप, जैसे अचेतन, प्रसवधर्मी इत्यादि। तद्गुण—त्रिगुणात्मक। पञ्चमहाभूतों में त्रिगुण वैषम्यावस्था में होते हैं। इनका संगठन आगे २१ वें सूत्र में वर्णन किया गया है। तल्लक्षण—पञ्चमहाभूतों के लक्षणों से युक्त। महाभूतों के लक्षण—खरद्रवचलोष्णत्व भूजलानिलतेजसाम्। आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम् ॥ (चरक० शा० १)। शरीर की दृष्टि से पञ्चमहाभूतों के लक्षण—चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवम्। पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ एतैः पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावरजंगमम् (महाभारत)। तैः—पञ्चीकृतैर्महाभूतैः। स्थावरजंगमात्मक प्रत्येक द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक है। फर्क इतना ही है कि प्रत्येक द्रव्यगत पञ्चमहाभूतों का परिमाण भिन्न भिन्न होता है, जिससे द्रव्यों में भी भिन्नता आ जाती है। पांचों महाभूतों के न्यूनाधिक मिश्रण से जो द्रव्याभिनिर्वृत्ति होती है, उसको 'पञ्चीकरण' कहते हैं। भूतों के न्यूनाधिक प्रमाण के कारण पञ्चीकरण अनन्त प्रकार का होता है और द्रव्य भी अनन्त मिलते हैं। पञ्चीकरण का विवरण आगे इस अध्याय के २१वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। व्यजायत—विविधो जनितः। चिकित्सां प्रति—दोषधातु वैषम्यरूप विकार को दूर करने के लिए। शरीरगत पञ्चमहाभूतात्मक दोषधातुओं का वैषम्य प्राप्त होने पर उचित ओषधियों द्वारा उनको साम्यावस्था में स्थापित करना इसको चिकित्सा कहते हैं—याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः। सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम् ॥ प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्थां चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ (चरक)। भूतेभ्यो हि परम्—भूतज्ञानात् परम्। प्रत्येक द्रव्य के पञ्चमहाभूतात्मक सङ्गठन से अधिक। चिकित्सा के लिए अधिष्ठान और उपकरण होना की ही जरूरत होती है। पञ्चमहाभूतात्मकशरीरयुक्त पुरुष अधिष्ठान और भूतग्राम उपकरण हैं—तस्मिन् क्रियाऽस्मिन्नत् तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम् (प्रथमखण्ड पृष्ठ ८ पर सूत्र १० देखो)। इसलिए भूतज्ञान का सम्बन्ध अधिष्ठान और उपकरण दोनों के साथ होता है। (१) अधिष्ठान की दृष्टि से—शरीरगत दोषधातु अङ्गप्रत्यङ्गादि के पञ्चमहाभूतात्मक सङ्गठन ज्ञान से अधिक। शरीर में अमुक दोष अमुकभूताधिक्य से, अमुक धातु अमुकभूताधिक्य से होता है, इस प्रकार के पञ्चमहाभूतात्मक शरीररचनाविज्ञान से यदि वैद्य भली भांति परिचित हो तो उनकी साम्यावस्था ओषधियों के उपयोग से स्थापित करने में वैद्य को सफलता मिल सकती है। इसी दृष्टि से आगे २०वें सूत्र में 'महाभूतविकारप्रविभागेन' शरीर के अंगप्रत्यंग वर्णन किये गये हैं। चरकसहिता में भी शरीर के अङ्गप्रत्यङ्गों का विवरण इसी दृष्टि से (शा० ७।१२) दिया गया है। इस सूत्र की टीका में चक्रपाणिदत्त महाभूता के अनुसार अङ्गप्रत्यङ्गों का वर्गीकरण करने का उद्देश्य लिखते हैं—पुनश्चेह भूतजन्यत्वेनाभिधानमङ्गानां क्षये वा वृद्धौ वा सत्यां तत् कारणभूतभूतोपयोगप्रतिषेधाभ्यां वृद्धिक्षयजननज्ञानार्थम्। यदङ्गं यद्भूतप्रभवं तदङ्गं तद्भूतप्रधानेन द्रव्येण वर्धते, क्षीयते च तद्विपरीतेन ॥ (२) उपकरण की दृष्टि से—संसार में मिलने वाले द्रव्यों के भूतात्मक संगठन ज्ञान से अधिक। सृष्टि में मिलने वाले प्रत्येक पदार्थ के सङ्गठन से यदि चिकित्सक भली भांति परिचित हो तो वृद्धियुक्त दोषधातु के ह्रासन के लिए तथा क्षययुक्त दोषधातु के वर्धन के लिए उचित द्रव्यों का उपयोग करके वह दोषधातुओं की साम्यावस्था स्थापन करने में याने चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर सकता है। इस सफलता के लिए क्षेत्रज्ञ क्या है ? प्रकृति क्या है ? महान् क्या है ? तन्मात्रा क्या है ? इत्यादि गहन तत्त्वों के सम्बन्ध में विचार करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती है। इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के द्रव्यविशेषविज्ञानीय अध्याय में द्रव्यों के पार्थिवादि भेद तथा उनके गुणधर्म वर्णन करके (प्रथम खण्ड पृष्ठ २२५) पश्चात् लिखा है—अनेन निदर्शनेन नानौषधिभूतं जगति किञ्चिद्द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति ॥ वैसे ही आगे चलकर उसी अध्याय में 'भूतेजोवारिजैर्द्रव्यैः शमं याति समीरणः' इत्यादि द्रव्यसङ्गठन का दोषों के ऊपर होने वाला परिणाम लिखा है। यतोऽभिहितम्—सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय के ३७ वें सूत्र में (प्रथम खण्ड पृष्ठ १२ पर)। तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिः—चिकित्सा का अधिष्ठान पुरुष है और पुरुष सांख्यदर्शनोक्त पचीसवें तत्त्व का नाम है। वह निर्गुण, निर्विकार और अशरीर होने के कारण न उसमें दोषधातुवैषम्य हो सकता है, न वैद्य उसकी चिकित्सा कर सकता है। इसलिए इस संसार में पुरुष अवतीर्ण होने के लिए जो जो चीजें आवश्यक होती हैं (जैसे—शुक्रशोणित, त्रिदोष, सप्तधातु हृदयवृक्कादि अङ्ग) वे सब पुरुष शब्द से अभिप्रेत होती हैं। अर्थात् चिकित्सा के लिए वैद्य का सम्बन्ध पुरुषाधिष्ठित इन पञ्चमहाभूतात्मक दोषधातु अङ्गप्रत्यङ्गों के साथ हो आता है, प्रत्यक्ष पुरुष के साथ नहीं आता है। संक्षेप में यदि वैद्य शरीर के तथा द्रव्यों के पञ्चमहाभूतात्मक सङ्गठन से भली भांति परिचित हो तो पुरुष प्रकृति इत्यादि का गहन विचार न करने पर भी वह चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर सकता है, यह अभिप्राय इन श्लोकों से निकलता है।

भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः ॥१४॥

भवति चात्र—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥१५॥

(इन्द्रियों का भौतिकत्व—) आयुर्वेद में इन्द्रियां भौतिक ही वर्णन की जाती हैं, तथा इन्द्रियों के अर्थ (भौतिक वर्णन किये जाते हैं) ॥१४॥ इस (के समर्थन) पर श्लोक है—मनुष्य (प्रत्येक) इन्द्रिय के द्वारा तुल्ययोनि होने के कारण उसके विषय का ही एकान्ततः ग्रहण करता है, अन्य (इन्द्रिय) से अन्य (विषय) का (ग्रहण) नहीं (करता), यही सिद्धान्त है ॥१५॥

वक्तव्य—आयुर्वेदे—इस सूत्र में सांख्यदर्शन से आयुर्वेद का मतभेद प्रदर्शित करने के लिए आयुर्वेद शब्द का उपयोग किया है। यह दूसरा मतभेद है। इन्द्रियाणि—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और स्पर्शन। इन्द्रियार्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। भौतिकानि—यही मतभेद है। सांख्यदर्शन वृक्ष को देखने से यह भेद स्पष्ट होगा। सांख्यदर्शन के अनुसार वैकारिक अहङ्कार से समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है अर्थात् प्रस्तुत बुद्धीन्द्रियों के संबन्ध में यों कह सकते हैं कि उनकी योनि एक याने वैकारिक अहङ्कार है। तामस अहङ्कार से पांच तन्मात्राएँ और उनसे पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इन्द्रियों की और भूतों की उत्पत्ति पृथक् पृथक् होने के कारण इन्द्रियों को सांख्याचार्य भौतिक नहीं मानते। सांख्यसूत्र में इन्द्रियों को भौतिक मानने का स्पष्ट निषेध किया है—आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि (२, २०)। परंतु वैशेषिक, न्याय और वेदान्तदर्शनों में इन्द्रियां भौतिक मानी गई हैं—घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः॥ (न्यायदर्शन १, १, १२)। पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि (इन्द्रियकारणानि इति) (१, १, १३)। गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः॥ (१, १, १४)। खं श्रोत्रे, स्पर्शने वायुर्दर्शने तेज उत्कटम्। सलिलं रसने, भूमिर्घ्राणे तज्ज्ञैर्निरूपितम्॥ आयुर्वेद ने इन्द्रियोत्पत्ति के संबंध में सांख्यदर्शन को छोड़कर न्यायादि दर्शनों का आधार ग्रहण किया है। चरक में भी इन्द्रियां भौतिक मानी गई हैं—पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति॥ (सू० ८)। इन्द्रियेण इत्यादि—इस श्लोक में इन्द्रियों को भौतिक मानने का तत्व (स्थिति, सिद्धान्त) वर्णन किया है। तत्व का विचार निम्न तीन पहलुओं से कर सकते हैं। (१) सांख्यदर्शनानुसार पांचों इन्द्रियां वैकारिक अहङ्कार से उत्पन्न हुई हैं, अर्थात् इन्द्रियां एक स्वरूप की होनी चाहिएं। यदि यह तत्व ठीक हो तो एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियार्थों का ग्रहण होना चाहिए, या पांचों से पांचों अर्थों का ग्रहण नियमविरहित होना चाहिए, या एकाध इन्द्रिय न होने पर या नष्ट होने पर उसका कार्य अन्यों से होना चाहिए। परंतु इन्द्रियां इस प्रकार अर्थग्रहण नहीं करतीं, उनमें अर्थग्रहण का नियम होता है। इसलिए अनुमान से यह कह सकते हैं कि सब इन्द्रियां एककारणोत्पन्न नहीं हैं अर्थात् पांच अर्थों के लिए जैसे पांच इन्द्रियां हैं, वैसे ही पांच इन्द्रियों के लिए पांच उपादान कारण भी होने चाहिएँ—नाना-प्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमो नैकप्रकृतिनाम्, सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवति॥ (वात्स्यायनभाष्य)। कः पुनरयं नियमः? भूतगुणविशेषग्रहणसाधनत्वम्। न सर्वमिन्द्रियं सर्वभूतगुणविशेषं गृह्णाति, अपि तु यज्जातीयमिन्द्रियं भवति तस्य यो गुणविशेष इतरेतरभूतव्यवच्छेदहेतुर्गन्धादिः स तेनैवेन्द्रियेण गृह्यत इत्ययं नियमः। ऐकात्म्ये पुनरयं नियमो न स्यात्। यदि पुनरिन्द्रियाण्येकात्मकान्येककारणानि स्युः कारणस्वभावानुविधानात्कदैरस्यादिविषयव्यवस्था न स्यात् सर्वं सर्वार्थमेकं वा सर्वार्थमिति स्यात्॥ (उद्योतकर वार्तिक)। (२) श्रोत्र केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकता है। शब्देतर अन्य अर्थों को ग्रहण करने में वह असमर्थ होता है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के संबन्ध में अनुभव है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों का कार्य विषयग्रहणनियमयुक्त होता है। यह कार्य तब हो सकता है, जब प्रत्येक इन्द्रिय की प्रकृति (योनि—उपादान कारण) भिन्न भिन्न हो याने इन्द्रियां स्वस्वभिन्नप्रकृति हों (३) पहले यह बताया जा चुका है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये क्रम से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी के गुण हैं—शब्दो वैहायसः स्पर्शो वायवीयः प्रकीर्तितः। रूपमाग्नेयमाप्योऽत्र रसो गन्धस्तु पार्थिवः॥ शब्द आकाशीय गुण है और उसका ग्रहण केवल श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है। गंध पार्थिव गुण है और उसका ग्रहण केवल घ्राणेन्द्रिय द्वारा होता है। इससे यही अनुमान होता है कि शब्द और श्रोत्र, रूप और चक्षु, रस और जिह्वा, स्पर्श और स्पर्शन तथा गंध और घ्राण ये 'तुल्ययोनि' होते हैं—भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम्॥ (न्यायदर्शन ३, १, ६०)। इस सूत्र पर भाष्यकार लिखते हैं—दृष्टो हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषोऽभिव्यक्तिनियमः। यथा—वायुः स्पर्शव्यञ्जकः, आपो रसव्यञ्जकाः, तेजो रूपव्यञ्जकं, पार्थिवं किञ्चिद्द्रव्यं कस्यचिद्द्रव्यस्य गंधव्यञ्जकम्। अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः, तेन तेन भूतगुणविशेषोपलब्धेर्मन्यामहे—भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि नाऽव्यक्तप्रकृतीनि॥ वैशेषिक दर्शन में भी लिखा है—भूयस्त्वाद्गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः। ८, २, ५॥ तथापस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात्॥ ८, २, ६॥ श्रीजयनारायण तर्कपञ्चानन भट्टाचार्य कणादसूत्रविवृति में लिखते हैं—घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिमध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात् कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकघृतादिवत्। रसनेन्द्रियं जलीयं परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरसव्यञ्जकत्वात्सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्। चक्षुरिन्द्रियं तैजसं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रूपव्यञ्जकत्वात् दीपप्रभावत्। त्वगिन्द्रियं वायवीयं रूपाद्यव्यञ्जकत्वे सति स्पर्शव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसक्तिसलिलशैत्यव्यञ्जकव्यजनवत्॥ चरक में भी लिखा है—तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते; तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च॥ (सू० ८)। इन बुद्धीन्द्रियों के उपादान कारण महाभूत पञ्चीकृत होते हैं। जैसे—घ्राणेन्द्रिय का उपादान कारण महाभूत केवल पृथिवी न होकर पंचमहाभूतों का मिश्रण है, जिसमें पृथिवीतत्व की अधिकता होती है। इस विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए ऊपर वैशेषिक सूत्र में 'भूयस्त्वात्' शब्द प्रयोग किया गया

है। इस सूत्र के भाष्य में चन्द्रकान्त भट्ट लिखते हैं—यद्यपि खल्वियं पृथिवी पञ्चात्मिका, तथैवं सति सा यथा गन्धवत्त्वाद्गन्धज्ञाने प्रकृतिः एवं रसादिमत्त्वाद्रसज्ञानेऽपि प्रकृतिः स्यादित्यत आह—भूयस्त्वादिति। येषा पृथिवी, भूयांसः खल्वस्यां पृथिव्यां मात्रा अल्पीयांसश्चापादीनामिति भूयस्त्वाद्गन्धवती पृथिवी उच्यते॥ चरक में भी लिखा है—एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु। पञ्चकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते॥ (शा० १, २४)। इस पर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—एकैकाधिकपदेन पञ्चापि पाञ्चभौतिकानि, परं चक्षुषि तेजोऽधिकमित्याद्युक्तं सूचयति॥

न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च; असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति ॥१६॥

(पुरुष का अणुत्व—) आयुर्वेदशास्त्र में क्षेत्रज्ञ सर्वगत नहीं कहे जाते है, परंतु नित्य (कहे जाते हैं), और असर्वगत क्षेत्रज्ञों में (ही आयुर्वेद के ऋषि) पुरुष नित्यतादर्शक हेतु बतलाते हैं॥ १६॥

वक्तव्य—इस सूत्र में आयुर्वेद का सांख्यदर्शन से तीसरा भेद प्रदर्शित किया है। सर्वगत—सर्वव्यापी, विभु, सर्वमूर्तसंयोगी। च—इससे पूर्वशब्द के अर्थ से कुछ असंगतता सूचित की जाती है। जैसे—आयुर्वेद में क्षेत्रज्ञ सांख्यशास्त्रानुसार सर्वगत न होने पर भी उसके अनुसार नित्य कहलाते हैं और सर्वगत पुरुष का नित्यत्व जैसे सिद्ध किया जाता है, वैसे असर्वगत क्षेत्रज्ञ का भी नित्यत्व सिद्ध किया जाता है। सांख्यदर्शन में पुरुष विभु, अनेक और नित्य माने गये हैं। पुरुष के नित्यत्व के संबन्ध में योगादि अन्य दर्शनों का ऐकमत्य है। परंतु अनेकत्व और विभुत्व ये दो लक्षण परस्पर विरोधी होने के कारण सब दर्शनों का इनके संबंध में ऐकमत्य नहीं है। यदि पुरुष विभु माना जाय तो उसमें उत्क्रान्ति, गति, आगति इत्यादि गमन कार्य नहीं हो सकते तथा सर्वमूर्तसंयोगी होने के कारण वह अनेक भी नहीं हो सकता, एक ही होना चाहिए। यदि पुरुष विभु और अनेक हों तो प्रत्येक शरीर में अनेक (सर्व) पुरुष उपस्थित होंगे और प्रत्येक जीव को संसार में जितने जीव हैं उनके अनुभव का ज्ञान होगा। इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए पुरुष या तो विभु और एक या अविभु और अनेक होने चाहिए। इस विरोध को दूर करने के लिए अन्य दर्शनकार दोनों में से एक गुण को हटा देते हैं। वैशेषिक, न्याय और वेदान्त पुरुष को विभु और एक मानते हैं और उसका अनेकत्व घटाकाश, मठाकाश के समान वर्णन किया जाता है—व्यवस्थातो नाना। (वैशेषिक दर्शन ३, २, २०)। एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव॥ महर्षि सुश्रुत पुरुष का अनेकत्व मान्य करते हैं। इसलिये विरोधपरिहारार्थ उसका विभुत्व अमान्य करते हैं। चरकाचार्य पुरुष को विभु और एक मानते हैं—प्रत्यक्षमात्मा क्षेत्रज्ञः साक्षी विभुरव्ययः॥ विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्॥ (शा० १)। आत्मा विभु मानने के कारण समस्त संसार में क्या हो रहा है, इसका ज्ञान तथा प्रत्येक जीव के सुखदुःख का अनुभव प्रत्येक जीव को होना चाहिये, यह आक्षेप उत्पन्न होता है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि पुरुष विभु है तथापि उसको इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है और ये इन्द्रियाँ प्रत्येक शरीर में स्वतन्त्र होती हैं। अतः एक जीव को दूसरे जीव के सुख-दुःखादि का अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता—आत्मज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते॥ देही सर्वगतोऽप्यात्मा स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये। सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नाऽऽत्माऽतो वेत्ति वेदनाः॥ नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना। सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम्॥ (शा० १)। सुश्रुत में पुरुष अविभु मानने के कारण इस प्रकार का समाधान करने की आवश्यकता नहीं मालूम हुई। पुरुष का परिमाण—पुरुष के तीन परिमाण हो सकते हैं—मध्यम विभु और अणु। (१) मध्यम परिमाण—इसका अर्थ यह होता है कि जिस शरीर में पुरुष रहता है, उसको वह पूर्णतया व्यापता है। इसलिए वह शरीर परिमाण भी कहलाता है। बौद्ध आत्मा का परिमाण मध्यम मानते हैं। परन्तु इसमें यह आपत्ति होती है कि यदि पुरुष मनुष्यजन्म से हाथी के जन्म में चला जाय तो वह शरीरव्यापी नहीं होगा और यदि हाथी जन्म से चींटी के जन्म में चला जाय दो उसका समावेश उसके शरीर में नहीं होगा। इसलिए आत्मा का परिमाण मध्यम नहीं माना जा सकता। 'एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्' इस ब्रह्मसूत्र (२, २, ३४) के भाष्य में श्रीशंकराचार्य लिखते हैं—शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वात् मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुनः केनचित् कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्। पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत। समान एष एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः॥ (२) विभुपरिमाण—इसका अर्थ सर्वव्यापी, जिसके सिवा कोई श्रेष्ठ पदार्थ नहीं होता। परंतु पुरुष में पूर्वदेहपरित्याग, अपरदेहगमन, परलोकगमन इत्यादि गतिवाचक कार्य होते हैं। इसलिए वह विभु नहीं हो सकता। श्रीशंकराचार्य 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' इस ब्रह्मसूत्र (२, ३, १९) के भाष्य में लिखते हैं—उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति। आत्मा मुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति। न हि विभोश्चलनमवकल्पत इति॥ सुश्रुत में इसी कारण से (आगे का सूत्र देखो) पुरुष का विभुत्व नहीं माना गया है। (३) जब पुरुष मध्यम और विभु नहीं है, तब अणु होना चाहिए। अणु से अतिसूक्ष्मत्व का बोध होता है—बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत्)। पाँचवें अध्याय का ९ वाँ श्लोक देखो। यहाँ पर भी असर्वगत से आत्मा का परिमाण उपर्युक्त विवरण के आधार पर अणु ही समझना चाहिए—सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्यार्हतपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते। (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य)।

आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नि-

---

१ आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः।

स्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तं; त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति; स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ॥१७॥

आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्त में अणुरूप और नित्य पुरुष धर्माधर्म के कारण तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि और देवयोनि में संचार करते हैं । ये अनुभवग्राह्य, अत्यन्त सूक्ष्म, सचेतन और नित्य पुरुष शुक्रशोणित संयोग में प्रकट होते हैं । इसलिए (पहले) कहा है कि पञ्चमहाभूत और आत्मा के संयोग को ही पुरुष कहते हैं, और यही कर्म पुरुष चिकित्सा का अधिकरण होता है ॥१७॥

वक्तव्य - पिछले सूत्र में आत्मा अणु और नित्य वर्णन किया है। इस सूत्र में उसके अणुत्व और नित्यत्व के हेतु बताये गये हैं । आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेषु— आयुर्वेदशास्त्र में जो सिद्धान्त ग्रहण किये गये हैं, उनके अनुसार । तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु—यहां पर जो योनि के तीन प्रकार प्रदर्शित किये हैं, उनमें संपूर्ण भौतिक सृष्टि का समावेश हो जाता है । इनमें पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप (सर्पादि) और स्थावर करके तिर्यग्योनि पांच तरह की होती है। ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच करके दैवयोनि आठ तरह की होती है। मनुष्ययोनि केवल एक तरह की होती है—अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति । मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ (सा० का० ५३)। सञ्चरन्ति—इस संचरण में तीन प्रकार की गतियां आती हैं—(१) उत्क्रान्ति—एक देह का त्याग । (२) गति—परलोकगमन । (३) आगति—दूसरे जन्म में प्रवेश । ये तीनों गतियां एक पुरुष के सम्बन्ध में होती हैं, जिससे उसका नित्यत्व सिद्ध होकर विभुत्व नष्ट होता है। एक जन्म से दूसरे में प्रवेश करते समय पुरुष अपने साथ पूर्वजन्म के संस्कारों को ले जाता है, जिनके कारण बालक जन्म होते ही स्तनपान की अभिलाषा करता है, कुछ लोग बुद्धिमान् होते हैं, कुछ मन्दबुद्धि होते हैं, कुछ धार्मिक होते हैं और कुछ लोभी, तामसी इत्यादि होते हैं । न्यायदर्शन में पुरुषनित्यत्व की सिद्धि इन उदाहरणों से ही की गई है—पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ।३।१।१९॥ प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ।३।१।२२॥ वीतरागजन्मादर्शनात् ।३।१।२५॥ धर्माधर्मनिमित्तम्—शुभ, पुण्य या सात्त्विक कर्मों के द्वारा दैवयोनि में; अशुभ पाप या तामस कर्मों के द्वारा तिर्यक्योनि में; और संमिश्र कर्मों के द्वारा मनुष्योनि में पुरुष को जन्म मिलता है । तीसरे अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में दैवसंगात् की टिप्पणी भी देखो । धर्म से जिनमें पुण्य कर्मों की अधिकता हो ऐसे कर्म, अधर्म से जिनमें पापकर्मों की अधिकता हो ऐसे कर्म, और धर्माधर्म से जिनमें दोनों प्रकार के कर्मों की प्रायिक तुल्यता हो ऐसे कर्म समझने चाहि —यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ (भगवद्गीता १४।१४)। रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते । तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८॥ देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः । तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ (मनुस्मृति १२।४०)। अनुमानग्राह्यः—पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म अणुप्रमाण होने के कारण प्रत्यक्ष चर्मचक्षुओं से उनका ग्रहण नहीं हो सकता, परन्तु उनके और लक्षणों (आगे का सूत्र देखो) से अप्रत्यक्षतया उनकी उपलब्धि होती है—सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ॥ (सांख्यकारिका ८) । पुरुषोपलब्धि के सम्बन्ध में पांचवें अध्याय के ६२ वें श्लोक में कुछ विवरण किया गया है। अतः उस श्लोक को तथा उसके वक्तव्य को देखो । परमसूक्ष्माः—इस विषय का अधिक विवरण तीसरे अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है, उसको देखो । श्वेताश्वतरोपनिषत् में पुरुष सूक्ष्मता का प्रमाण निम्न प्रकार से वर्णित है—वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः ॥ (५।८)। लोहितरेतसोः सन्निपातेषु—शुक्र और शोणित के संयोग में । इसका विवरण तीसरे अध्याय के तीसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । शुक्रशोणित सन्निपात से सम्पूर्ण जरायुजन्य प्राणियों का बोध होता है और पुरुष के संचरण में इसकी आवश्यकता भी होती है, क्योंकि कर्मानुसार पुरुष को मनुष्येतर प्राणियों में भी संचार करना पड़ता है । परन्तु यहां पर इस का अर्थ मनुष्य कर सकते हैं । यतोऽभिहितम्—सूत्रस्थान के प्रथमाध्याय के २० वें सूत्र में ।

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥१८॥

(पुरुष के गुण—) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, बुद्धि, मनःसंकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि ये उस (पुरुष) के गुण हैं ॥ १८ ॥

वक्तव्य—सुखदुःखे—सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम् । सर्वेषां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम् । (तर्कसंग्रह)। बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ (न्यायसूत्र १) । इच्छाद्वेष—काम और क्रोध—सुखानुशायी रागः । दुःखानुशायी द्वेषः ॥ (योगसूत्र २)। सुख-दुःख के पीछे पड़ने से ही इच्छा और द्वेष उत्पन्न होते हैं । प्रयत्न—कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म करने की प्रवृत्ति । प्रत्यक्ष कार्य इससे अभिप्रेत नहीं है—प्रवृत्ति—वाग्बुद्धिशरीरारम्भः । (न्यायसूत्र १) । प्राण—वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक् । श्वास के द्वारा फुफ्फुस के भीतर जाने वाली वायु । संक्षेप में श्वास (Inspiration)। अपान—प्राण के विरुद्ध याने बाहर जाने वाली वायु (Expiration) अपान का अर्थ पांच वायु में से जो अपानवायु होती है, वह नहीं है । चक्रपाणिदत्त भी 'प्राणापानावुच्छ्वासनिश्वासौ' इसका अर्थ करते हैं। अपान का उपयोग इस दृष्टि से हमेशा होता है—प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ (भगवद्गीता ५। २७) । उन्मेषनिमेषौ—आंखों के पलक बन्द करने और खोलने के कर्म । इनके

अर्थ के सम्बन्ध में कुछ मतभेद दिखाई देता है— अविपद्मणी येन संयुज्येते तदुन्मेष । येन च संयुक्तयोस्तयो विभागस्तन्निमेष ॥ (वैशेषिकभाष्य) । अक्षिपक्ष्मणो संयोगजनक कर्म निमेष । तयोर्विभागजनकं कर्म उन्मेष (कणाद सूत्रविवृति) । बुद्धि—ज्ञान—बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ (योगसूत्र १) सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिर्ज्ञानम् ॥ (तर्कसंग्रह)। सांख्यदर्शन का बुद्धितत्त्व यहाँ पर अभिप्रेत नहीं है। सङ्कल्प—सङ्कल्पात्मक मानसिक कार्य । कोई वस्तु इस प्रकार की है, इस कार्य को इस प्रकार करना चाहिए, इस प्रकार के विचार को सङ्कल्प कहते हैं। विचारणा—ऊहापोहात्मक वस्तुविमर्श अर्थात् युक्तायुक्त प्रमाणों के द्वारा परीक्षण करना। स्मृति—इन्द्रियों के द्वारा भूतकाल में जो कुछ भी संस्कार हुए हैं, उनका ज्ञान—अनुभूतविषयासम्प्रमोष स्मृति ॥ (योगसूत्र) अध्यवसाय—यही काम करना चाहिए, इस प्रकार का निश्चय—सोऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्याया बुद्धे सोऽध्यवसाय । (सांख्यतत्त्वकौमुदी)। विषयोपलब्धि—इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियार्थों का ज्ञान होना । गुणा—पुरुष के यहाँ पर सोलह गुण बताये गये हैं। ये गुण जब किसी शरीर में मिलते हैं, तब उस शरीर को सजीव और जब नहीं मिलते हैं, तब मृत कहते हैं। यह सजीव या मृतावस्था पुरुष के अधिष्ठान होने पर या न होने पर होती है। इसलिए ये गुण पुरुष के कहे जाते हैं और इनकी उपस्थिति पर अतिसूक्ष्म अतएव अदृश्य पुरुष का पता लगाया जाता है—इच्छा द्वेष सुख दुःख प्रयत्नश्चेतना धृति । बुद्धि स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मन ॥ यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवत । न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षय । शरीरे हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्। पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वमुच्यते ॥ (चरक शा०)। इस सूत्र में सांख्यमत से आयुर्वेद का चौथा मतभेद वर्णन किया है। सांख्यदर्शन में भी पुरुष अनुमानग्राह्य होते हैं और उनकी उपलब्धि के लिए निम्न प्रमाण दिये गये हैं—सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् । पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ (सां० का० १७) । परन्तु वे निर्गुण अर्थात् सुखदुःखादि से विरहित माने गये हैं। उपर्युक्त कारिका में भी त्रिगुणादिविपर्ययात् स्पष्ट लिखा है। इसके सिवाय ११वीं कारिका में भी 'त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्' इस तरह पुरुष निर्गुण है, इसका स्पष्ट निर्देश है। इस कारिका पर विज्ञानभिक्षु अपनी कौमुदी में लिखते हैं—त्रयो गुणा सुखदुःखमोहा अस्येति त्रिगुणम्। तन्नेन सुखादीनामात्मगुणत्वं पराभिमत मपाकृतम् ॥ यहाँ पर पुरुष के जो गुण वर्णन किये हैं, व न्याय वैशेषिकमतानुसार किये गये हैं—इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् । (न्यायसूत्र १)। प्राणापाननिमेषोन्मेष जीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारा सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ (वैशेषिकदर्शन ३, २)। चरकसंहिता में भी पुरुष के ये ही गुण बताये गये हैं।

सुखस्मरणार्थं यहाँ पर सांख्यदर्शन से आयुर्वेददर्शन के मतभेदों का कोष्ठक दिया जाता है—

सांख्यायुर्वेदमतभेदसूचक कोष्ठक

मतभेद का स्थान	सांख्य	आयुर्वेद
(१) सृष्टि का कारण	प्रकृति	स्वभावादि छ (श्लोक १०)
(२) इन्द्रियाँ	अभौतिक	भौतिक (सूत्र १४)
(३) पुरुष	विभु निर्गुण	अणु और सगुण (सूत्र १६-१७)

सात्त्विकास्तु—आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च, राजसास्तु—दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहङ्कार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च तामसास्तु—विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति ॥१८॥

(मन के गुण—) अक्रूरता (दयावृत्ति), अपने को जो कुछ भी मिलता है उसमें से दूसरे को दान करने की प्रवृत्ति, क्षमा, सत्य, धर्म, आस्तिक्यबुद्धि, ज्ञान, (व्यवसायात्मक) बुद्धि, (ग्रंथादि) धारण करने की शक्ति, स्मृति, धृति और अनासक्ति ये सात्त्विक गुण हैं । दुःख की अधिकता, भ्रमण की प्रवृत्ति, अधीरता अहङ्कार, असत्य बोलने की प्रवृत्ति, क्रूरता, दम्भ (कपटवृत्ति, ढोंग) मान, हर्ष, काम और क्रोध ये राजस गुण हैं । मानसिक उद्विग्नता, नास्तिक्यवृत्ति, अधर्म की ओर प्रवृत्ति, बुद्धि का निरोध, अज्ञान, मूढ़ता, काम न करने की प्रवृत्ति (आलस्य) और निद्रालुता ये तामस गुण होते हैं ॥१८॥

वक्तव्य—इस सूत्र में मन के सात्त्विकादि गुण वर्णन किये हैं। जिसमें आनृशंस्यादि गुण अधिकता में होते हैं वह सात्त्विक, जिसमें दुःखबहुलतादि गुण अधिक होते हैं वह राजस, और जिसमें विषादित्वादि गुण अधिक होते हैं वह तामस कहलाता है। इन गुणों के निरपवाद होने की आवश्यकता नहीं है—यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वं तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात् ॥ (चरक, सूत्र ८)। सत्यपि गुणान्तरान्वये सत्त्वबहुलत्वात् सत्त्वकार्याणि सत्त्वहीनानि यस्य भवन्ति स सात्त्विक इति व्यपदिश्यते एवमपरमपि व्याख्येयम् ॥ (चक्रपाणिदत्त)। आस्तिक्यम्—धर्म, परलोक, परमेश्वर इत्यादि के सम्बन्ध में विश्वास करने की प्रवृत्ति। अस्ति परलोकपरलोकादिकमिति बुद्ध्या चरतीत्यास्तिक । (डल्हण)। आस्तिक्यम् श्रद्दधानता परमार्थेष्वागमार्थेषु ॥ (शङ्कराचार्य)। मेधा—धारणाशक्ति । मेधा ग्रन्थादिग्रहणे । (चरक)। धृति—नियमात्मक बुद्धि—धृतिर्हि नियमात्मिका । (चरक)। किंवा धैर्य, मनःस्थैर्य, विषयों से आकर्षित न होने की स्थिति—धृतिर्मनोधैर्येन । (चरक) । मान—संसार में अपनी इज्जत हो, इस प्रकार की महत्त्वाकांक्षा। बुद्धिनिरोध—विपरीतबुद्धि—अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता । सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ (गीता १८)।

आन्तरिक्षास्तु—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च; वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च; तैजसास्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च; आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च; पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति ॥२०॥

(महाभूतों के गुण—) शब्द, श्रोत्र, शरीरगत अवकाश और विविक्तता ये आकाश के; स्पर्श, त्वचा, संपूर्ण चेष्टाएँ, सर्वशरीरगत स्पंदन और हलकापन ये वायु के; रूप, चक्षु, वर्ण, उष्णता, तेज (शरीरगत) पचनकार्य, क्रोध, तीक्ष्णता (तेज मिजाज) और शौर्य ये तेज के; रस, जिह्वा, (शरीरगत) संपूर्ण द्रवभाग, भारीपन, शीतता, स्निग्धता और वीर्य ये जल के; और गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, (शरीरगत) सर्व ठोस भाग और गुरुता ये पृथिवी के गुण हैं ॥२०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में प्राणियों के शरीर में पंचमहाभूतों से जो जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन किया गया है। इस वर्णन के उद्देश्य के संबंध में पीछे १३ वें सूत्र के वक्तव्य में विवरण किया गया है। ये पञ्चमहाभूत शरीर में खाद्य द्रव्यों द्वारा प्रवेश करके उपर्युक्त भाव उत्पन्न करते हैं—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमित्यस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी, का आपः, किं तेजः, को वायुः, किमाकाशम् इत्यस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत्कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं ता आपः, यदुष्णं तत्तेजः, यः सञ्चरति स वायुः, यत्सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते। (गर्भोपनिषत्)। चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवः। पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम्॥ (महाभारत, शा० १८४)। सर्वच्छिद्रसमूहः-शरीर के भीतर जितने स्रोतस्, मार्ग, वाहिनियाँ, छिद्र, अवकाश, आशय (जैसे रक्ताशय, आमाशय) इत्यादि होते हैं वे सब इसमें आते हैं। श्रोत्रं घ्राणं तथास्यं च हृदयं कोष्ठमेव च। आकाशात् प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः॥ विविक्तता—एक का दूसरे से पृथक्त्व। यह पृथक्त्व आकाश के विना नहीं हो सकता और अवकाश आकाश के विना नहीं हो सकता। इसलिए आकाशीय विकारों में इसका समावेश किया गया है। शरीरस्पन्दन—हृदय का संकोच विकास, धमनियों की फड़कन, शरीर के अंगों का स्फुरण (जैसे आँखों का) तथा अनैच्छिक अन्य गतियाँ जैसे आन्त्र का परिसरण (Peristalsis), गर्भाशय का संकोच इत्यादि। सर्वमूर्तसमूह—शरीर के सब द्रव और वायुरूप पदार्थों को छोड़कर सब धातु उपधातु इत्यादि साकार अवयव।

तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्त्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति ॥२१॥

(त्रिगुणानुसार भूतसंगठन—) इन पंचमहाभूतों में आकाश सत्त्वप्रधान है, वायु रजःप्रधान है, अग्नि सत्त्वरजःप्रधान है, जल सत्त्वतमःप्रधान है और पृथिवी तमःप्रधान है ॥२१॥

वक्तव्य—इस सूत्र में पंचमहाभूतों का संगठन त्रिगुणों के अनुसार दिया गया है। आकाश प्रकाशक होने से सत्त्वबहुल माना गया है; वायु चल होने से रजोबहुल माना गया है; अग्नि प्रकाशक और चल होने से सत्त्वरजोबहुल माना गया है; पानी स्वच्छ, प्रकाशक और गुरु होने के कारण सत्त्वतमोबहुल माना गया है, और अत्यंत आवरक होने के कारण पृथिवी तमोबहुल मानी गई है। त्रिगुणों के अनुसार पंचमहाभूतों का संगठन देने का उद्देश्य यह है कि चिकित्साशास्त्र में इसकी भी कभी कभी आवश्यकता होती है। जैसे—पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तन्मयः। तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः॥ (सु० मूर्च्छाप्रतिषेध)।

श्लोकौ चात्र भवतः—

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥ २२ ॥

ये सब (आकाशादि पंचमहाभूत) एक दूसरे में अनुप्रविष्ट समझने चाहिएँ। परंतु इन सब महाभूतों के (खास) प्रकट लक्षण (केवल) अपने अपने द्रव्य में अपेक्षित होते हैं ॥२२॥

वक्तव्य—अन्योन्यानुप्रविष्टानि-अन्योन्यस्यान्योन्यस्मिन् अनुप्रवेशः अन्योन्यानुप्रवेशः, तद्युक्तानि। अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार से पाँचों में पाँचों का प्रवेश होता है। डल्हण की टीका में 'तत्र शब्दगुणमाकाशं मारुते प्रविष्टम्, आकाशमारुतौ तेजसि प्रविष्टौ, आकाशमरुत्तेजांसि तोयद्रव्ये प्रविष्टानि, आकाशमरुत्तेजस्तोयानि पृथिव्यामनु विष्टानि। एवं व्योमानिलानलजलोर्वीणां परस्परमनुप्रवेशकानुप्रवेश्यत्वेनावस्थितता नामन्योन्यानुप्रविष्टत्वमुक्तम्॥' इस प्रकार इसका अर्थ दिया है, परन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता है क्योंकि इस विवरण से भूतों का अन्योन्यानुप्रवेश न होकर केवल अनुप्रवेश या अनुलोम प्रवेश होता है। जैसे—आकाश में किसी अन्य भूत का प्रवेश ही नहीं है, वायु में केवल आकाश और वायु हैं और ऊपर श्लोक में 'सर्वाण्येतानि' स्पष्टतया लिखा है। डल्हणाचार्य जो अनुप्रवेश वर्णन कर रहे हैं, वह अनुप्रवेश गुणविकास (Evolution) के समय का है, स्थूल भूतों की उत्पत्ति से इसका कोई संबंध नहीं है। स्थूलभूतोत्पत्ति के लिए परस्परानुप्रवेश होना चाहिए। स्वे स्वे द्रव्ये—पंचीकरण के द्वारा भूतों की बनावट इस प्रकार की होती है कि जिस जिस नाम से जो द्रव्य याने भूत पुकारा जाता है उसमें उस भूत का आधिक्य होता है और अन्यों की अल्पता होती है। इस अधिकता और अल्पता के कारण अधिकतायुक्त भूत के लक्षण प्रकट होते और न्यूनतायुक्त के लक्षण अप्रकट रहते हैं।

पंचीकरण—इस श्लोक में महाभूतों का पञ्चीकरण संक्षेप में वर्णन किया गया है। समस्त स्थावरजंगमात्मक सृष्टि जिन भूतों से उत्पन्न होती है, वे अमिश्र स्वरूप के न होकर संमिश्र स्वरूप के होते हैं। इनका मिश्रण विशेष पद्धति से होता है। इस पद्धति को पञ्चीकरण कहते हैं। पञ्चीकृतमहाभूत में पाँचों के अंश उपस्थित रहते हैं। वेदान्त ग्रंथों में पञ्चीकरण के नियम निम्न प्रकार के मिलते हैं—द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते॥ (पंचदशी) पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद् द्विधा। एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत् पुनः॥ एकैकं भागमेकस्मिन् भूते संवेशयेत् क्रमात्। ततश्चाकाशभूतस्य भागाः पञ्च भवन्ति हि॥ वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत्॥ पञ्चीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः॥ (सुरेश्वराचार्यकृत पञ्चीकरणवार्तिक)।

इन श्लोकों का तात्पर्य नीचे कोष्ठक से दिया जाता है। सुखावबोध के लिये तीन कोष्ठक बनाये जाते हैं।

(१) कोष्ठक—इसमें प्रत्येक भूत के दो भाग बनाये जाते हैं—

आकाश	॥)	॥)	१
तेज	॥)	॥)	१
वायु	॥)	॥)	१
जल	॥)	॥)	१
पृथिवी	॥)	॥)	१

(२) कोष्ठक—आधे के फिर चार समान भाग करके प्रत्येक भूत के पाँच विभाग बनाये जाते हैं—

आकाश	॥)	=)	=)	=)	=)	१
वायु	॥)	=)	=)	=)	=)	१
तेज	॥)	=)	=)	=)	=)	१
जल	॥)	=)	=)	=)	=)	१
पृथिवी	॥)	=)	=)	=)	=)	१

(३) कोष्ठक—प्रत्येक भूत के प्रथम अर्धांश के साथ दूसरे अर्धांश के जो चार भाग किये हैं, उनमें से इतरभूतों का एक एक भाग मिलाया जाता है, जिससे पञ्चीकृतमहाभूत का ठीक सङ्गठन बन जाता है—

पञ्चीकृतभूत	आकाश	वायु	तेज	जल	पृथिवी	
आकाश	॥)	=)	=)	=)	=)	१
वायु	=)	॥)	=)	=)	=)	१
तेज	=)	=)	॥)	=)	=)	१
जल	=)	=)	=)	॥)	=)	१
पृथिवी	=)	=)	=)	=)	॥)	१

उपर्युक्त कोष्ठक से यह स्पष्ट होगा कि पञ्चीकृतमहाभूत में उसी भूत का आधा अंश और आधे हिस्से में समानरूपेण इतरभूत होते हैं। यही कारण है कि अन्य भूतों के लक्षण अव्यक्त होकर अधिकांश में जो भूत होता है, उसी के लक्षण व्यक्त होते हैं और जिसका भाग अधिक होता है तथा लक्षण प्रकट होते हैं उसी का नाम उस भूत को दिया जाता है। इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के ४२वें अध्याय में (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३२८) लिखा है—परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्॥ इन पञ्चीकृत महाभूतों के द्वारा ही समस्त स्थावरजंगमात्मक सृष्टि तथा पीछे सूत्र २० में वर्णन किये हुए शारीरिक भाव उत्पन्न होते हैं। पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराडित्युच्यते॥ (श्रीशङ्कराचार्य)

सांख्यदर्शन में यद्यपि स्थूल पञ्चमहाभूतों से समस्त निरिन्द्रिय सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है तथापि ये स्थूल महाभूत कैसे उत्पन्न होते हैं, इसके सम्बन्ध में केवल 'गुणपरिणाम' के अतिरिक्त और कोई अधिक वर्णन नहीं मिलता। स्थूल भूतों की उत्पत्ति का विशेष विवरण वेदान्त दर्शन में मिलता है, जो पञ्चीकरण कहलाता है। पञ्चीकरण के पूर्व वेदान्त में त्रिवृत्करण था, जिसमें केवल तेज, आप और पृथिवी ये तीन भूत थे। आगे चलकर पाँच भूतों की उत्पत्ति सर्वसंमत हुई, जिसके कारण त्रिवृत्करण का रूपान्तर पञ्चीकरण में किया गया है। पीछे १०वें सूत्र में जिन महाभूतों से शरीर के विविध भाव बताये गये हैं, वे महाभूत किस प्रकार के होते हैं इसका वर्णन इस श्लोक में किया गया है।

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराः षोडशैव तु।
क्षेत्रज्ञश्च समासेन स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः[1]॥२३॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सर्वभूतचिन्ताशारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः॥१॥

(उपसंहार—) आठ प्रकृति, सोलह विकार और पुरुष ये (इस अध्याय में) अपने और दूसरे के शास्त्र के अनुसार संक्षेप से वर्णन किये गये हैं॥२३॥

वक्तव्य—स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः—स्वतन्त्र शल्यतन्त्र या आयुर्वेदशास्त्र, और परतन्त्र मुख्यतया सांख्यदर्शन उनके अनुसार। इस श्लोक में अध्याय का उपसंहार किया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसमें वर्णन किये हुए विषयों का संक्षेप में निर्देश करने की प्रथा सुश्रुत में नहीं है। चरकसंहिता में प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसका उपसंहार करने का नियम है।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सर्वभूतचिन्ताशारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः।

अथातः शुक्रशोणितशुद्धिं शारीरं[2] व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥१॥

अब इसके पश्चात् शुक्रशोणितशुद्धि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था॥१॥

वक्तव्य—प्रथम अध्याय के १७वें सूत्र में यह बताया गया है कि पुरुष शुक्रशोणित के संयोग में अवतीर्ण होता है। इसके पश्चात् गर्भ की वृद्धि प्रारंभ होती है। इसलिए इस अध्याय में शुक्र और शोणित का विवरण किया जाता है। आत्मा को अवतीर्ण होने के लिए शुक्रशोणित शुद्ध होना आवश्यक है—शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वः स्वकर्मक्लेशचोदितः। गर्भः सम्पद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ॥ (अष्टांगहृदय, शा० १)। इसलिए इस अध्याय में शुक्र और आर्तव का विचार उनकी शुद्धि की दृष्टि से किया गया है। शुद्धि—गर्भाधानयोग्यता तथा नीरोगगर्भोत्पादनक्षमता जिस शुक्र और आर्तव में हो, वही शुद्ध कहा जाता है। इस दृष्टि से इस अध्याय में निर्दोष शुक्रशोणित के लक्षण, दोष उत्पन्न होने पर उनका स्वरूप और सदोष को निर्दोष करने की विधि इन बातों का विवरण किया गया है। शुक्र—गर्भोत्पादक शरीर से निकलने वाला स्राव (Semen)। इसी को तेज, रेत, बीज, वीर्य भी कहते हैं—शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च। (अमरकोश)। शोणित—आर्तवशोणित का यह संक्षेप है—रक्तमेव च स्त्रीणां मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्तमानमार्तवमित्याहुः। (अष्टांगसंग्रह, शा० १)। इसी को

---

१ स्वतन्त्रपरतन्त्रः, २ शुक्रशोणितशुद्धिशारीर.

रज या पुष्प भी कहते हैं। पुरुषों में गर्भोत्पादक एक वस्तु होती है, परन्तु स्त्रियों में दो वस्तुएँ होती हैं। एक वस्तु दृश्य होती है और प्रतिमास योनिद्वार से बाहर आती है। इसको आर्तवशोणित या बहिःपुष्प (Menses, Menstruation) कहते हैं। दूसरी वस्तु अदृश्य, अत्यंत सूक्ष्म और शरीर के भीतर ही रहती है। इसको 'अन्तःपुष्प' या संदर्भ के अनुसार केवल आर्तव कहते हैं—द्वादशाब्दे व्यतीते तु यदि पुष्पं बहिर्नहि। अन्तःपुष्पं भवत्येव पनसोदुम्बरादिवत् ॥ (वात्स्यायन)। इसको स्त्रीबीज (Ovum) कहते हैं। इसकी शुद्धाशुद्धता का ज्ञान प्रत्यक्षतया होना कठिन होता है, अप्रत्यक्षतया आर्तवशोणित से हो सकता है। इसलिए यहाँ पर शोणित से बाह्यपुष्प (Menstrual blood) लेना चाहिए। इसका अधिक विवरण चौथे सूत्र के तथा ३८ श्लोक के वक्तव्य में किया गया है, उसे देखो। अब प्रथम शुक्र के दोष बताये जाते हैं—

वातपित्तश्लेष्मशोणितकुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीण-मूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति ॥२॥

(शुक्रदोष—) वात, पित्त, कफ, शोणित (इनके वर्ण और लक्षणों से युक्त), शवगन्धी, गांठदार, दुर्गन्धित, पूययुक्त, क्षीण, मूत्र और पुरीष (की गंध से युक्त) शुक्रवान् (पुरुष) सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं ॥२॥

वक्तव्य—रेतसः - वातादि दोषों से युक्त जिनका शुक्र हो, ऐसे पुरुष। वास्तव में असामर्थ्य पुरुष में न होकर शुक्र में होता है, परंतु शुक्रोत्सर्ग का कारण पुरुष होने से असामर्थ्य उसी के ऊपर आरोपित हुआ है। प्रजोत्पादने असमर्था भवन्ति - प्रजोत्पादन का सामर्थ्य वीर्यान्तर्गत बीज या शुक्राणु (Spermatozoa) के ऊपर और असामर्थ्य इनके दोषों के ऊपर निर्भर होता है। इसलिए अष्टांगसंग्रह में यही सुश्रुत का वचन 'अबीजानि' इस पद के साथ दिया गया है— वातपित्तश्लेष्मकुणपग्रन्थिपूयक्षीणमूत्रपुरीषरेतांसि त्वबीजानि भवन्ति ॥ (शा० १)। बीज की दृष्टि से शुक्र को फल कह सकते हैं। फल में अंकुरोत्पादन शक्ति का असामर्थ्य बीजाभाव से या बीजाप्राशस्त्य से होता है। शुक्र में भी प्रजोत्पादन का असामर्थ्य बीजाभाव से या बीजाप्राशस्त्य से होता है। जब शुक्र में शुक्राणुओं की अनुपस्थिति होती है, तब उस अवस्था को अशुक्राणुता (Azoospermia) कहते हैं। यह अशुक्राणुता दो प्रकार की हो सकती है। प्रथम प्रकार में वृषणग्रंथि के भीतर शुक्राणुओं की उत्पत्ति नहीं होती और दूसरे प्रकार में शुक्राणु उत्पन्न होते हैं, परन्तु अन्य कारण से उनका नाश हो जाता है। यहां पर जो दोष बताये गये हैं, उनके द्वारा प्रायः दूसरे प्रकार की अशुक्राणुता उत्पन्न होती है। पहले प्रकार की अशुक्राणुता षण्ढों में पाई जाती है। आगे श्लोक ४६ देखो। अप्राशस्त्य मुख्यतया कई प्रकार का होता है। पहले प्रकार में शुक्राणु संख्या में कम और कमजोर होते हैं। इसको अल्पशुक्राणुता (Oligozoospermia) कहते हैं। दूसरे प्रकार में वीर्यगत जीवाणु मृत के समान होते हैं। इस अवस्था को नष्टशुक्राणुता (Necrozoospermia) कहते हैं। तीसरे प्रकार में शुक्र में रक्त मिला रहता है। इसको रक्तशुक्रता (Haemospermia) कहते हैं। चौथे प्रकार में शुक्र अल्प राशि में और मुश्किल से निकलता है। उसको अल्पशुक्रता (Oligospermia) कहते हैं। पांचवें प्रकार में शुक्र का उत्सर्ग होता ही नहीं। उसको शुक्रक्षय या अशुक्रता (Aspermia) कहते हैं। इनके सिवाय और भी कुछ दोष हो सकते हैं। चरकसंहिता में शुक्र के निम्न आठ दोष वर्णन किये हैं—फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम्। अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाष्टमम् ॥ (चिकित्सा ३०)। जैसे अन्तःपुष्प स्त्रियों में अदृश्य होता है, वैसे ही पुरुषों में शुक्रगत बीज अदृश्य होता है। इसलिए जिसमें यह बीज रहता है, उस शुक्र की वर्णवेदना के अनुसार तद्गत बीज की स्थिति का अनुमान किया जाता है। अतः प्रत्येक के वर्णवेदना का अब विवरण करते हैं। आधुनिक काल में शुक्र का अप्राशस्त्य मालूम होने पर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा तद्गत शुक्राणुओं की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। जिनमें प्रजोत्पादन का सामर्थ्य नहीं होता, उनको वन्ध्य (Sterile) और उस अवस्था को वन्ध्यता (Sterility) कहते हैं।

तेषु वातवर्णवेदनं वातेन, पित्तवर्णवेदनं पित्तेन, श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा, शोणितवर्णवेदनं कुणपगन्ध्यनल्पं च रक्तेन, ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्यां, पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्यां, क्षीणं प्रागुक्तं पित्तमारुताभ्यां, मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेनेति। तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणरेतसः कृच्छ्रसाध्याः; मूत्रपुरीषरेतसस्त्वसाध्याः (साध्यमन्यच्च इति ॥३॥

(शुक्र दोष के कारण—) इनमें वात से (शुक्र) वायु के वर्ण और लक्षणों का, पित्त से पित्त के वर्ण और लक्षणों का, कफ से कफ के वर्ण और लक्षणों का, रक्त से रक्त के वर्ण और लक्षणों का, शवगन्धी और अल्प, कफ वात से गांठदार, पित्त और कफ से दुर्गन्धित और पूयदार, वातपित्त से पूर्वोक्त क्षीण, सन्निपात से मूत्रपुरीषगंध का ज्ञान होता है। इनमें शवगन्धी, गांठदार, दुर्गंधित, पूयदार और क्षीणशुक्र (पुरुष) कृच्छ्रसाध्य; मूत्रपुरीषगन्धी शुक्र असाध्य और शेष साध्य होते हैं ॥३॥

वक्तव्य—वातेन—'शुक्रं भवति' इति योगः। इस प्रकार प्रत्येक के साथ जोड़ना चाहिए। वेदनं या वेदना— विद्यतेऽनेनेति वेदनम्। लक्षण—चिकित्सति भिषक् सर्वाङ्गिकाला वेदना इति ॥ [चरक, शा० १]। वातवर्णवेदनम्—रूक्षं फेनिलमरुणमल्पविच्छिन्नं सरुजं चिराच्च निषिच्यते वातेन। (अष्टाङ्गसंग्रह)। पित्तवर्णवेदनम्—सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च। दहलिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ॥ (चरक, चि० ३०)। शोणितवर्णवेदनम्— शुक्र में रक्त मिलने से या कामला उत्पन्न होने से शुक्र का वर्ण लाल, पीला, हरा इत्यादि हो जाता है। इसको रक्तशुक्रता (Haemospermia) कहते हैं। यह अवस्था अतिमैथुनजन्य शुक्रक्षय में होती है—तस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्ततेऽतिमात्रोपक्षीणरेतस्त्वात्; तथास्य वायुर्व्यायच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति, तच्छुक्रक्षयादस्य पुनः शुक्रमार्गेण शोणितं

१ कुणपगन्धि.

प्रवर्तते वातानुसृतलिङ्गम् ॥ [चरक, निदान ६]। ग्रन्थिभूत— गाढा या गाँठदार। मूत्रमार्ग से बाहर आने वाला शुक्र कई रसों का मिश्रण है। वृषण की ग्रंथियों में शुक्राणु उत्पन्न होते हैं। यह रस बहुत गाढा होता है और उस कारण से या अन्य कारण से उसमें शुक्राणु निश्चल रहते हैं। इस रस में अष्ठीला (Prostate), वीर्याशय, कौपर की ग्रंथियां और लिटर की ग्रंथियां इनका रस मिलकर शुक्र का सङ्गठन बन जाता है। जब किसी कारण से ये रस वृषणग्रंथि के रस में नहीं मिलते, तब वीर्य अत्यन्त गाढा होता है और मुश्किल से बाहर निकलता है। इसके सिवाय तद्गत शुक्राणु निश्चल भी होते हैं। अर्थात् गर्भाशय के भीतर प्रवेश करके स्त्रीबीज के साथ मिलने में वे असमर्थ होते हैं। पूतिपूय—अष्ठीला, शुक्राशय या शुक्रोत्पादक संस्थान के किसी अंग में पुराना शोथ होने से पूय के समान शुक्र निकल सकता है। इस अवस्था को पूयशुक्रता (Pyospermia) कहते हैं। क्षीणं प्रागुक्तम्– सूत्रस्थान के १५वें अध्याय के १०वें सूत्र में (प्रथमखण्ड पृष्ठ ९०) शुक्रक्षय के लक्षण दिये गये हैं— शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम् । ऊपर शोणितवर्णवेदन भी देखो। यह शुक्रक्षय स्वाभाविक नहीं है, अर्जित (Acquired) है और अतिव्यवाय से होता है। शरीर में किसी वस्तु का क्षय दो कारणों से होता है—एक अयोग से और दूसरा अतियोग से। प्रथम कारणजन्य क्षय को अयोगक्षय (Disuse atrophy) और दूसरे कारण से उत्पन्न हुए क्षय को अतियोगक्षय (Atrophy of overstimulation) कहते हैं। शुक्र का क्षय दोनों कारणों से हो सकता है, परन्तु संसार में कामप्रवृत्ति स्वाभाविक होती है—लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्न हि तत्र चोदना ॥ (भागवत)। अतः शुक्रक्षय व्यवायाभाव की अपेक्षा व्यवायाधिक्य के कारण प्रायः हुआ करता है। अधिक व्यवाय के कारण शुक्रोत्पादक अंगों को अधिक काम करना पड़ता है। कुछ काल तक ये अंग किसी तरह से काम कर लेते हैं, परन्तु अन्त में वे अपना काम करने में असमर्थ होते हैं, जिससे शुक्र की उत्पत्ति कम हो जाती है या बिल्कुल ही नहीं होती। मूत्रपुरीषगन्धि— शुक्राशय तथा शुक्रवाहिनियां मूत्राशय और मलाशय के बीच में होती हैं। यदि किसी कारण मलाशय का या मूत्राशय का या दोनों का सम्बन्ध हो जाय तो शुक्र में दोनों की गन्ध आ सकती है। मल और मूत्र के सम्बन्ध से शुक्राणु मर जाते हैं। इसके सिवा दोनों का सम्बन्ध आप से आप ठीक भी नहीं होता। इसलिए यह दोष असाध्य भी होता है—वातमूत्रपुरीषाणि कृमयः शुक्रमेव च। भगन्दरात् प्रसर्पन्ति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ (सुश्रुत)। चरकसंहिता में इन शुक्रदोषों का सामान्य निदान दिया है— अतिव्यवायाद् व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात्। अकाले वाप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः ॥ रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्णसेवनात्। नारीणामरसज्ञानां गमनाज्जरया तथा ॥ चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् । भयात्क्रोधादभीचाराद्व्याधिभिः कर्शितस्य च ॥ वेगाघातात् क्षताच्चापि धातूनां संप्रदूषणात् । दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः ॥ शुक्रं संदूषयन्त्याशु तद्वक्ष्यामि विभागशः । यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटादिदूषितम्। न विरोहति सन्दुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम् ॥ (चिकित्सा ३०)। मैथुनं न च गच्छतः—अयोगक्षय का यह कारण है। शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्—अर्श, अश्मरी और वृषण की शस्त्रक्रिया, क्षारक्रिया और अग्निक्रिया इनमें अतिरिक्त या दोषयुक्त कर्म करने से।

आर्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः पृथग्द्वन्द्वैः समस्तैश्चोपसृष्टमबीजं भवति; तदपि दोषवर्णवेदनादिभिर्विज्ञेयम् । तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषप्रकाशमसाध्यं साध्यमन्यच्चेति ॥ ४ ॥

(आर्तव के दोष—) आर्तव (शोणित) भी (वात, पित्त और कफ इन) पृथक् तीनों दोषों से, चौथे रक्त से, (वातपित्त, वातकफ और कफपित्त के) दो दो दोषों से तथा त्रिदोष से दूषित हुआ प्रजोत्पादन में अयोग्य होता है। उन्हें भी दोषों के वर्णों और लक्षणों के द्वारा समझना चाहिए। इनमें शवगन्धी, गाँठदार, दुर्गन्धित, क्षीण और मूत्रपुरीषसम आर्तव असाध्य होता है; अन्य (वात, पित्त और कफ से दूषित आर्तव) साध्य होता है ॥ ४ ॥

वक्तव्य—आर्तव—पुरुषों में जैसे शुक्र वैसे स्त्रियों में आर्तव होता है। परन्तु प्रजोत्पादन में पुरुष और स्त्री का कार्य भिन्न होने के कारण शुक्र और आर्तव में भी भिन्नता आ जाती है। प्रजोत्पादन के लिए पुरुष को अपने शुक्र को स्त्री की योनि में फेंकना पड़ता है और यह कार्य समागम से ही प्रायः होता है। प्रायः शब्द इसलिए प्रयुक्त किया गया है कि आधुनिक विज्ञान के युग में वनस्पतियों के समान बिना समागम के भी गर्भाधान के (Test tube babies) प्रयोग हो रहे हैं। इसलिए पुरुष का शुक्र बीजयुक्त होता है। स्त्री को अपना बीज बाहर फेंकना नहीं है, परन्तु अपने बीज को शरीर के भीतर रखकर पुरुष के बीज को शरीर के भीतर ग्रहण करना है। इसलिए स्त्री के आर्तव के दो भाग होते हैं। एक भाग वह होता है, जो गर्भाशय और योनि की सफाई करके योनि को मैथुन के लिए सुखसंवेदनीय, गर्भाशय और योनि को शुक्राणुओं के प्रवास के लिए निष्कंटक और गर्भाशय को गर्भ के अवस्थान के लिए योग्य बनाता है। दूसरा भाग वह है, जो प्रत्यक्ष गर्भोत्पत्ति में भाग लेता है। पहले को आर्तव शोणित या रजःपुष्प (Menstruation or Menstrual blood) कहते हैं—आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयमग्नीषोमीयत्वाद्गर्भस्य। (सुश्रुत, सूत्र १४)। दूसरे भाग के लिए आर्तव, शोणित ये ही शब्द प्रयुक्त होते हैं। उसको अन्तःपुष्प भी कहते हैं। इसलिए संदर्भ के अनुसार आर्तव या शोणित का अर्थ करना चाहिए। जैसे, नीचे के उद्धरणों में आर्तव या शोणित का अर्थ अन्तःपुष्प है। इसी को स्त्रीबीज (Ovum) कहते हैं—शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ॥ (सुश्रुत, शा० ४)। तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे ... शुक्रं च्युतं योनिमभिप्रपद्यते संसृज्यते चार्तवेन ॥ (सुश्रुत, शा० ३)। यदा चानयोः ... शुक्रं संसर्गो शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति ॥ (चरक, शा० ३)। तत्र ... द्वारि गर्भाशयं प्रति । तत्र शुक्रस्य ... गर्भं करोति ॥ (भावप्रकाश)। ये दोनों भाग एक दूसरे से

बेलकुल भिन्न होते हैं और दोनों एक समय पर भी नहीं होते। आर्तवसम्बन्धी कुछ अधिक विवरण इसी अध्याय के १८ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। अबीजम्—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आर्तवशोणित पुरुषशुक्र के समान सबीज नहीं होता। उससे गर्भाशय की भीतरी स्थिति का कुछ पता लग जाता है। यदि आर्तवशोणित स्वाभाविक हो तो गर्भाशय बीजग्रहण योग्य है, ऐसा समझ सकते हैं। यदि दोषयुक्त हो, जैसे कि इस सूत्र में वर्णन किया है, तो गर्भाशय को बीजग्रहण के लिए अयोग्य समझ सकते हैं। इसलिए 'अबीज' से बीजविरहित ऐसा अर्थ न करके 'बीजग्रहण के लिए अयोग्य' ऐसा अर्थ करना चाहिए। ग्रन्थिभूत—आगे १७ वें श्लोक के वक्तव्य में आर्तव का सङ्गठन देखो।

अब शुक्रदोषों की चिकित्सा बताते हैं—

भवन्ति चात्र—

तेष्वाद्यान् शुक्रदोषांस्त्रीन् स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत्[१] ।
क्रियाविशेषैर्मतिमांस्तथा चोत्तरवस्तिभिः ॥ ५ ॥

(वात, पित्त और कफजन्य शुक्रदोष की चिकित्सा—) इनमें से प्रथम तीन शुक्रदोषों को बुद्धिमान् वैद्य स्नेहन स्वेदादि से, विशेष क्रियाओं से तथा उत्तरवस्ति से दूर करे ॥ ५ ॥

वक्तव्य—स्नेहनस्वेदादि—स्नेहनस्वेदनयुक्त पञ्चकर्म । क्रियाविशेषैः—विशेष गुणकर और रसायन ओषधियों द्वारा। जैसे—वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः । आग्नमामलकीयं च, पैत्ते शस्तं विरेचनम् ॥ मागध्यमृतलोहानां त्रिफलाया रसायनम् । कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद् भल्लातकस्य च ॥ (चरक, चिकित्सा ३०)। अष्टांगसङ्ग्रह में इन शुक्रदोषों की संपूर्ण चिकित्सा निम्न प्रकार से वर्णन की गई है—

वातिके शुक्रदोषे वसुकसैन्धवफलाम्लसिद्धं यवक्षारप्रतीवापं सर्पिष्पानम् । बिल्वविदारिसिद्धं क्षीरयुक्तमास्थापनम् । मधुकभद्रदारुसि तैलमनुवासनम् । क्षीरकुलीररससिद्धं तैलमुत्तरवस्तिः ॥ पैत्तिके काण्टेक्षुश्वदंष्ट्रागुडूचीसिद्धं मूर्वामधुकप्रतीवापं सर्पिष्पानम् । त्रिवृच्चूर्णः सघृतो विरेकः । पयस्याश्रीपर्णीसिद्धं क्षीरयुक्तमास्थापनम् । मधुकमुद्गपर्णीसिद्धं तैलमनुवासनमुत्तरवस्तिश्च ॥ श्लेष्मिके पाषाणभेदाश्मन्तकामलककाथसिद्धं पिप्पलीमधुकचूर्णप्रतीवापं सर्पिष्पानम् । मदनफलकषायो वमनम् । दन्तीविडङ्गचूर्णस्तैललीढो विरेकः । राजवृक्षमदनफलकषायप्रगाढमास्थापनम् । मधुकपिप्पलीसिद्धं तैलमनुवासनमुत्तरवस्तिश्च ॥ (शारीर १)

पाययेत नरं सर्पिर्भिषक् कुणपरेतसि ।
धातकीपुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम् ॥ ६ ॥
पाययेदथवा सर्पिः शालसारादिसाधितम् ।

(कुणपदोषचिकित्सा—) कुणपगन्ध शुक्रदोष में धाय के फूल, खदिर, अनार और अर्जुन इनसे सिद्ध घृत वैद्य रोगी को पिलावे अथवा शालसारादि से सिद्ध घृत पिलावे ॥ ६ ॥

वक्तव्य—धातक्यादि घृत—डल्हण (धातक्यादेः कल्ककषायाभ्यां साधितम्) और हाराणचन्द्र (अत्र धातक्यादीनि त्रीण्यपि घृतानि क्काथकल्काभ्यामेव साधयन्ति भिषजोऽनन्तरोक्तपालाशघृतसाहचर्यात्) के अनुसार यह घृत क्काथ और कल्क दोनों से सिद्ध करना चाहिए। परन्तु वास्तव में यह घृत केवल कल्क से सिद्ध करना उचित है, क्योंकि धातकी गण न होकर पृथक् पृथक् ओषधियाँ हैं। इस संबंध में चक्रपाणिदत्त 'पिप्पल्यादि घृत' (च० चि० ३) की टीका में लिखते हैं—पिप्पल्यादौ घृते पिप्पल्यादीनां विशेषानुक्तेः कषायत्वं कल्कत्वं चैके ब्रुवते अन्ये तु कल्कमेवेच्छन्ति । यत्र तु कषायत्वं कल्कत्वं वा नोक्तं तत्र क्काथकल्कावेव कर्तव्यौ । यदुक्तं सुश्रुते—कल्कक्काथावनिर्देशे गणात्तस्मात् प्रयोजयेत् । इति; नैवं, सुश्रुतोक्तपरिभाषा हीयं गणविषया एव, 'गणात्तस्मात् प्रयोजयेत्' इति वचनात्; न च पिप्पल्यादयोऽमी गणत्वेनोक्ताः गणोऽपि यत्राधिकरणेन श्रुतस्तत्रैव क्काथकल्ककरणम् । यदुक्तमन्यत्र—यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणस्य स्नेहसंविधौ । तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिभिः ॥ तस्मात्कल्कमात्रेणैव पिप्पल्यादिद्रव्यं जलं न चतुर्गुणं देयम् । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । शालसारादि—शालसारादिगणोक्त द्रव्यों के कल्क और क्काथ से। शालसारादिगणोक्त द्रव्यों के लिए प्रथम खण्ड १२० पृष्ठ देखो।

ओषधियों का प्रमाण—धातक्यादि घृत के लिए घृत ४ सेर, जल १६ सेर और कल्क एक सेर लेना चाहिए। शालसारादि घृत के लिए शालसारादि का क्काथ १६ सेर (क्काथ्यद्रव्य ८ सेर, जल ६४ सेर, क्काथ १६ सेर) लेकर ४ सेर घृत में उसका घृतपाक बनावे। फिर १ सेर कल्क, ४ सेर उपर्युक्त क्काथपाक का घृत और १६ सेर जल डालकर कल्कपाक करें। मात्रा एक चतुर्थांश से एक तोला।

ग्रन्थिभूते शटीसिद्धं पालाशे वाऽपि भस्मनि ॥ ७ ॥

(ग्रंथिदोषचिकित्सा—) गाँठदार वीर्य में शटी (कचूर) द्वारा सिद्ध किंवा पलाशभस्म में सिद्ध घृत (वैद्य रोगी को पिलावे) ॥ ७ ॥

वक्तव्य—पालाशे भस्मनि—पलाशक्षारोदक में सिद्ध घृत। रक्तगुल्म की चिकित्सा में पलाशघृत चरक में वर्णन किया है—पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः । इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—क्षारपात्रे इति क्षारोदकस्याढकद्वयम्। और वृन्दमाधव सिद्धियोग में रक्तगुल्मचिकित्सा में लिखते हैं—पलाशक्षारतोयेन सर्पिः सिद्धं पिबेच्च सा ॥

परूषकवटादिभ्यां पूयप्रख्ये च साधितम् ।

(पूयदोष की चिकित्सा—) पूतिपूय (नामक शुक्रदोष) में परूषकादि और वटादि (गणों की ओषधियों) द्वारा साधित (घृत वैद्य रोगी को पिलावे)।

वक्तव्य—परूषक वटादि गणों की ओषधियों के लिए प्रथम खण्ड २१३ पृष्ठ देखो।

प्रागुक्तं वक्ष्यते यच्च तत् कार्यं क्षीणरेतसि ॥ ८ ॥

(क्षीणवीर्यचिकित्सा—) क्षीणशुक्र में जो (सूत्रस्थान के दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय अध्याय के १० वें सूत्र में प्रथमखण्ड के पृष्ठ ९०-९१ पर चिकित्सा) पहले बता चुके हैं तथा (चिकित्सास्थान के क्षीणबलीय वाजीकरणचिकित्सित नामक २६वें अध्याय में) जो बतायेंगे, उसको करना चाहिए ॥ ८ ॥

विट्प्रभे पाययेत् सिद्धं चित्रकोशीरहिङ्गुभिः ॥ ९ ॥

(मलमूत्रगन्धी शुक्र की चिकित्सा—) मल (और मूत्र)

---

१ ०तेऽश्मभिरिसिद्धं०. २ अस्याग्रे 'स्नेहादिश्च क्रमः कार्यः षट्स्वेतासु विजानता' इति कश्चिदधिकः पाठः.

सम शुक्र में चित्रक, उशीर (खस) और हींग से साधित घृत (रोगी को) पिलावे ॥९॥

वक्तव्य—मलमूत्रगन्धी शुक्रदोष असाध्य बतलाया गया है। इसलिए उसकी चिकित्सा के संबंध में इन्दु अष्टाङ्गसंग्रह की टीका में लिखते हैं—मूत्रपुरीषरेतसि नातिदुष्टे चिकित्सा, अतिदुष्टे उपेक्षा।

स्निग्धं वान्तं विरिक्तं च निरूढमनुवासितम्।
योजयेच्छुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरबस्तिना ॥ १० ॥

(शुक्रदोष की साधारण चिकित्सा—) स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूह और अनुवासन से भली भाँति विशोधित किये हुए शुक्रदोषपीड़ित रोगी को उत्तरबस्ति से संयुक्त करे ॥ १० ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में शुक्रदोषों की साधारण चिकित्सा बतलाई है। उत्तरबस्त्यन्त कर्म रोगी के शरीर को अच्छी तरह विशोधित करते हैं—तस्मात् पुरा शोधनमेव कार्यं बलानुरूपं, न हि वृष्ययोगाः। सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः ॥ (चरक, चिकित्सा २)। अथ स्निग्ध विशुद्धानां निरूहान् सानुवासनान्। घृततैलरसक्षीरशर्कराक्षौद्रसंयुतान् ॥ योगविज्ञोजयेत् पूर्वं क्षीरमांसरसाशिनाम्। ततो वाजीकरान् योगान् शुक्रापत्यविवर्धनान् ॥ (अष्टाङ्गसंग्रह, उत्तर ५०)। इस प्रकार पंच कर्मों द्वारा विशोधन करने के पश्चात् दोषानुसार उपर्युक्त श्लोकों में बताये हुए घृत या चरकोक्त निम्न साधारण योगों का प्रयोग करने से दोष दूर होकर शुक्र का बल बढ़ता है—वाजीकरणयोगैस्तैरुपयोगसुखैर्हितैः। रक्तपित्तहरैर्योगैर्योन्यिव्यापत्कैस्तथा ॥ दुष्टं यदा भवेच्छुक्रं तदा सम्यगुपाचरेत्। घृतं च जीवनीयं यच्च्यवनप्राश एव च ॥ गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषानपोहति। अपि पयो रसा ज्ञानियंबगोधूमषष्टिका। प्रशस्ता शुक्रदोषेषु बस्तिकर्म विशेषतः ॥ (चिकित्सा ३०)। उत्तरबस्ति—स निरूहादुत्तरमुत्तरेण वा मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्तिः। (अष्टाङ्गसंग्रह, सूत्र २८)। जो निरूहबस्ति के पश्चात् अथवा गुद से उत्तर भाग से याने मूत्रमार्ग से दिया जाता है, वह उत्तर बस्ति कहलाता है। स्त्रियों में उत्तरबस्ति अपत्यमार्ग में भी दिया जाता है। उत्तरबस्ति का विवरण चिकित्सास्थान के ३७ वें अध्याय में किया गया है।

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा ॥११॥

(विशुद्ध शुक्र का स्वरूप—) स्फटिक के समान (श्वेत), स्निग्ध (चिकना), मधुर और मधु की सी गन्ध वाले द्रव (तरल को) (आचार्य साधारणतया विशुद्ध) शुक्र समझते हैं। परंतु कई (आचार्य) तैल और मधु के समान (द्रव) को भी (विशुद्ध शुक्र समझते हैं) ॥ ११ ॥

वक्तव्य—उपर्युक्त श्लोकों में दुष्ट शुक्र का स्वरूप वर्णन किया गया था। इस श्लोक में अदुष्ट अर्थात् 'फलवत्' या गर्भाधानयोग्य शुक्र का स्वरूप वर्णन किया गया है। द्रव—शरीर में रस, रक्त, लाला, स्तन्य इत्यादि कई द्रव (Fluid) उत्पन्न होते हैं। उन्हीं में से शुक्र एक द्रव है। अन्य द्रवों से इसका पार्थक्य वर्णन करने के लिए 'स्फटिकाभ' इत्यादि इसका रूप दिया गया है। जो द्रव इस स्वरूप का है, वह शुक्र है। स्निग्ध—चिकना या सान्द्रता युक्त (Viscous)। पानी भी द्रव है परंतु उसमें स्निग्धता नहीं है। इसी स्निग्धता के कारण मैथुन के पश्चात् योनि में उत्सर्गित हुआ शुक्र वहीं पर अवस्थान करता है और मैथुनजन्य घर्षण से उत्तप्त हुई योनि की श्लेष्मल कला की शान्ति करके उसी में शोषित होकर स्त्री के शरीर की पुष्टि में सहायता करता है (तीसरे अध्याय के १६वें सूत्र के वक्तव्य में व्यवाय की टिप्पणी देखो)। इस दृष्टि से स्निग्ध का अर्थ शरीरपुष्टिकर, ऐसा भी कर सकते हैं। इसी स्निग्धता के कारण योनि में शुक्र रहने से शुक्र के संपूर्ण शुक्राणु गर्भाशय के भीतर दौड़ में भाग ले सकते हैं और प्रजोत्पत्ति के लिए उनमें से सब से बलवान् शुक्राणु मिल जाता है। जब शुक्र में स्निग्धता न होकर वह पानी के समान पतला रहता है, तब अधिकांश योनि के बाहर निकल जाता है और उपर्युक्त कार्य भली भाँति नहीं हो सकते। मधुर—पदार्थों की मधुरता 'प्राणमुख कण्ठौष्ठ जिह्वाप्रह्लादन' से तत्काल ज्ञात होती है। परंतु शुक्र आस्यसदृश (सूत्रस्थान १० अध्याय के चौथे सूत्र का वक्तव्य देखो) याने जिह्वा पर प्रत्यक्ष ग्रहण करने के लिए प्रशस्त पदार्थ नहीं है। अतः ऐसे पदार्थ की मधुरता अनुमान से ही जाननी चाहिए। मधुररस के लक्षणों में षट्पदपिपीलिकाभिष्टतम' यह एक लक्षण चरक और सुश्रुत (सूत्र ४२।१८) में दिया गया है। इस लक्षण से मूत्र और शरीर की मधुरता आयुर्वेद में जानने की पद्धति थी—मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च। षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणम्। आत्यर्थरसिक भाव कालप्रकरण मक्षिकाः। अपि स्नातानुलिप्तस्य भूयसाधावति सर्वशः ॥ मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम् ॥ (चरक)। शुक्र के संबंध में भी मधुर शब्द का प्रयोग इसी दृष्टि से समझना चाहिये, क्योंकि जब शुक्र जमीन पर गिरता है या किसी वस्त्र पर लगता है, तब उस पर चींटियाँ आकर्षित होती हैं। यदि रासायनिक प्रतिक्रिया की दृष्टि से मधुर शब्द का अर्थ करना हो तो इससे 'न अम्ल न क्षारीय' (Neutral) ऐसा अर्थ करना चाहिए। मधुर शब्द का प्रयोग इस अर्थ से क्षारदग्ध की चिकित्सा करते समय किया गया है—अम्लेन सह संयुक्त सर्वोल्लवणो रसः। माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति ॥ (सूत्रस्थान ११।२१)। मधुगन्धि—शुक्र की एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है जिसकी तुलना किसी द्रव्य की गन्ध से पूर्णतया नहीं की जा सकती। मधुगन्धि से, इसलिए, केवल यही समझना चाहिए कि शुक्र की गन्ध अधिक से अधिक मधु के साथ मिलती है—मधुनो गन्धस्येव गन्धो यस्य। केचित्—शुक्र का स्फटिकसदृश श्वेतवर्ण सर्वमान्य है—येन स्फटिकसन्निभम्। (चरक)। परंतु स्तन्य के समान शुक्र वृषणसम्बन्धादि का स्राव (Secretion) होने के कारण आहार्य पदार्थ शुक्र में विकृति पैदा न करते हुए भी उसके वर्ण में फर्क पैदा कर सकते हैं। इसलिए कई आचार्यों के मतानुसार तैल और मधु के वर्ण का भी शुक्र शुद्ध होता है। अष्टांगसंग्रह में इन मतों का उल्लेख किया है—तद् सौम्यं स्निग्धं शुद्धं शुक्रं मधुगन्धि मधुरं पिच्छिलं बहु बहलं घृततैलक्षौद्रान्यतमवर्णं च शुक्रं च गर्भाधानयोग्यं भवति। (शा० १)। परंतु फर्क यही बतलाया है कि ये विविध वर्ण के शुक्र गर्भाधानयोग्य होते हुए भी स्फटिक या घृतवर्ण शुक्र की संतान गौरवर्ण, तैलवर्ण शुक्र की संतान कृष्णवर्ण, मधुवर्ण शुक्र की संतान श्यामवर्ण होती है—तत्र शुक्रे शुद्धे घृतवर्णे वा गर्भस्य गौरत्वं, तैलाभे कृष्णत्वं, मध्वाभे श्यामत्वम्। (अष्टांगसंग्रह)। उपर्युक्त श्लोकगत लक्षणों के अतिरिक्त अदुष्ट

शुक्र के निम्न तीन लक्षण और होते हैं। सौम्य—सोमगुणभूयिष्ठ अर्थात् कफ के गुणों की अधिकता जिसमें हो, ऐसा। इस गुण का उल्लेख आगे तीसरे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है—सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम्। अविदाहि—जिसका उत्सर्ग होते समय या उत्सर्ग होने के पश्चात् विदाह या जलन न होती हो। जलनयुक्त शुक्र का उत्सर्ग प्रायः पित्तदोष से होता है। पीछे सूत्र ३ का वक्तव्य देखो। पिच्छिल—चिपचिपा (Slimmy या Slippery)। इसी पिच्छिलता के कारण शुक्राणु शुक्र में स्फूर्ति के साथ बड़ी तेजी से गति कर सकते हैं और पिच्छिल शुक्र से लिप्त होने के कारण ही शुक्राणु योनि से गर्भाशय तथा बीजस्रोत (Fallopian tube) में गति करने में बहुत कम रुकावट से समर्थ होते हैं। चरक में शुद्ध शुक्र के लक्षण इस प्रकार वर्णन किये गये हैं—बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम्। शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम् ॥ (चि० २)।

अब इसके बाद दूषित आर्तव की चिकित्सा बताई जाती है—

विधिमुत्तरवस्त्यन्तं कुर्यादार्तवशुद्धये।

(आर्तवशुद्धि की साधारण चिकित्सा—) आर्तवशुद्धि के लिए उत्तरवस्ति पर्यन्त विधि करे।

वक्तव्य—उत्तरवस्त्यन्तम्—उत्तरवस्ति जिसका अन्तिम कार्य है, ऐसी विधि। अर्थात् ऊपर ९ वें श्लोक में शुक्रदोषहरण के लिए स्नेहन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और उत्तरवस्ति—इन कर्मों से युक्त जो विधि बतलाई गई है, वह विधि।

स्त्रीणां स्नेहादियुक्तानां चतसृष्वार्तवार्तिषु ॥१२॥
कुर्यात्कल्कान् पिचूंश्चापि पथ्यान्याचमनानि च।

(वातादि चतुर्विध आर्तव दोषों की चिकित्सा—) चतुर्विध आर्तव दोषों में स्नेहनादि से युक्त स्त्रियों को कल्क, पिचू और पथ्य आचमन (वैद्य प्रयुक्त) करे।

वक्तव्य—चतसृषु—वात, पित्त, कफ और रक्त इन चार दोषों से पीड़ित विकारों में। कल्क—यथा दोषहर ओषधियों की लुगदी योनि में धारण करना। पिचू—यथा दोषहर द्रव्यों के क्राथ में या यथा दोषहर द्रव्य क्राथसिद्ध तैल में रुई का फोया भिगोकर (Pad) योनि में धारण करना। आचमनम्—योनिप्रक्षालनोदकम्। (डल्हण)। यह एक पारिभाषिक शब्द है, जिससे केवल योनिप्रक्षालन के लिए युक्त धावन (Lotion) का ही बोध होता है। वातादि दोषों से पीड़ित आर्तव की चिकित्सा अष्टांगसंग्रह में निम्न प्रकार से वर्णित है—वातजे पुष्पदोषे भार्ङ्गीमधुकभद्रदारुसिद्धं सर्पिष्पानम्। काश्मर्यक्षुद्रसहासिद्धं वा क्षीरम्। मधुकश्रृगालविन्नाकल्कं पयस्सर्पिस्सहितं प्रियङ्गुतिलकल्कं वा योनौ धारयेत्। सरलमुद्गपर्णीकषायः प्रक्षालनम्। पित्तजे काकोलीद्वयविदारीमूलक्राथमुत्पलपद्मक्राथं मधुकपुष्पकाश्मर्यफलक्राथं वा सशर्करं पिबेत्। श्वेतचन्दनक्राथं वा सक्षौद्रं, धवधातकीकल्कं वा घृतेन वा मधुकमधुरसामृद्वीकाकल्कम्। श्यामाकगवाक्षीक्षीरं विरेकः। चन्दनपयस्याकल्कं योनौ धारयेत्। गैरिकारिष्टकषायः प्रक्षालनम्। श्लैष्मिके कुटजकटुकाश्वगन्धाक्राथं पिबेत्। समाक्षिकं वा क्षीरीवृक्षप्रवालक्राथमेतेषामेव वा चूर्णं मधुघृताभ्यां लिह्यात्। मदनफलकषायेण वमनम्। तत्कल्कमेव च योनौ धारयेत्। लोध्रतिन्दुककषायः प्रक्षालनं बस्तमेषमूत्रं वा ॥ (शारीर १)।

ग्रन्थिभूते पिबेत् पाठां त्र्यूषणं वृक्षकाणि च ॥ १३ ॥

(ग्रंथिभूत आर्तवचिकित्सा—) गाँठदार (आर्तव दोष) में पाठा, त्रिकटु (सोंठ, मरीच और पीपल) और कुड़ा (इनका क्राथ) पीवे ॥१२-१३॥

दुर्गन्धिपूयसङ्काशे मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे।
पिबेद्भद्रश्रियः क्राथं चन्दनक्राथमेव च ॥ १४ ॥

(पूयार्तवचिकित्सा—) दुर्गन्धित, पूय और मज्जासम आर्तव में भद्रश्रिय या चन्दन का क्राथ पीवे ॥ १४ ॥

वक्तव्य—भद्रश्री—मलयपर्वतोत्थ श्वेतचन्दन—गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्। (अमरकोश)। चन्दन—इससे भी श्वेत चन्दन का ही ग्रहण करना चाहिए। जब मलयज श्वेत चन्दन न मिले, तब साधारण श्वेत चन्दन का उपयोग करना चाहिए। इसको दर्शाने के लिए चन्दन शब्द लिखा गया है। गयदासाचार्य चन्दन से गोशीर्षाख्य चन्दन समझते हैं—गयी तु भद्रश्रियं श्वेतचन्दनम्, चन्दनं गोशीर्षाख्यं चन्दनं न तु रक्तचन्दनम्, तस्य हि गन्धापहरणशक्त्यभावात् ॥ (डल्हणटीका)। गोशीर्ष भी श्वेत चन्दन का ही एक प्रकार है। अमरकोषटीकाकार क्षीरस्वामी के मतानुसार गोशीर्षपर्वतोत्पन्न श्वेत चन्दन गोशीर्ष कहलाता है। कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्। इस परिभाषा के आधार पर डल्हणाचार्य चन्दन से रक्तचन्दन समझते हैं, परन्तु यहाँ पर यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि जहां पर श्वेत चन्दन का काम है, वहाँ रक्तचन्दन किसी काम का नहीं है। इस क्राथ के सिवा 'त्रिफलाकल्कक्राथौ चात्र धारणाचमने (अष्टांगसंग्रह) इनका भी उपयोग करे। मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे—आर्तव का यह आखिर का दोष अर्थात् मूत्रपुरीषसंकाश दोष है। क्षीणदोष का विवरण सूत्रस्थान के १९ वें अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ ६१ पर) किया गया है, इसलिए उसका विवरण यहां पर नहीं किया—क्षीणं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम् ॥

शुक्रदोषहराणां च यथास्वमवचारणम्।
योगानां शुद्धिकरणं शेषास्वप्यार्तवार्तिषु ॥१५॥

(आर्तव दोषों की सामान्य चिकित्सा—) शुक्रदोषहारक योगों का यथाविधि सेवन शेष आर्तवविकारों में भी शुद्धिकारक होता है ॥१५॥

वक्तव्य—शुक्रदोषहराणाम्—शुक्रदोषहरण के लिए ऊपर ९-१० श्लोकों में जो योग बताये गये हैं, उनका। शेषास्वप्यार्तवार्तिषु—यह श्लोक १४वें श्लोक के अनुबन्ध में है। इस श्लोक में कुणपगन्धी, पूतिपूय और मूत्रपुरीषप्रतीकाश इन दोषों का विवरण किया है। अर्थात् इन तीन दोषों को छोड़कर शेष दोषों में भी याने वात, पित्त, कफ, शोणित, ग्रंथिभूत और क्षीण इन दोषों में। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि शुक्रदोषहर प्रयोग आर्तवदोषहर भी होते हैं।

१ दुर्गन्धे पूयसङ्काशे. २ दोषाणां.

अग्ने(र्ध्ने) शालियवं मद्यं हितं मांसं च पित्तलम् ॥१६॥

(आर्तव दोषों में पथ्याहार—) आहार्य द्रव्यों में शालि, जौ, मद्य और पित्तवर्धक मांस (आर्तव दोषों के लिए) हितकर होता है ॥१६॥

वक्तव्य—अन्न—प्रयतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते। सामान्य आहार diet.

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥ १७ ॥

(प्रशस्त आर्तव का लक्षण—) जो वर्ण में शशक के रक्त के समान अथवा लाक्षारस के समान (होकर) कपड़े को रञ्जित न करे, उस आर्तवशोणित को (आचार्य) प्रशस्त मानते हैं ॥१७॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आर्तव की प्रशस्तता का वर्णन किया है। इस प्रशस्तता का विचार निम्न पहलुओं से होता है। (१) वर्ण—यहां तथा चरक और अष्टांगसंग्रह में आर्तवशोणित का वर्ण खरगोश के रक्त के समान, लाक्षारस के समान, वीरबहूटी कीड़े के समान याने संक्षेप में लाल बतलाया गया है—आर्तवं पुनः शशरुधिरलाक्षारसोपमं शुद्धमाहुः। (अष्टांगसंग्रह)। गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसंनिभम्। इन्द्रगोपकसंकाशमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥ (चरक)। पाश्चात्य स्त्रीरोगचिकित्सकों का कथन है कि स्वाभाविक राशि से अधिक जब आर्तवशोणित निकलता है, तब उसका वर्ण लाल होता है—When abundant it may be bright red *Bland-Sutton and Giles* अर्थात् अधिक लाली आर्तवशोणित का प्रशस्त वर्ण नहीं कह सकते हैं। उनके मतानुसार यह शोणित सिरागत रक्त के समान किञ्चित् कृष्णवर्ण होता है—The latter (Menstrual blood) has all the characteristics of ordinary venous blood *Bland Sutton and Giles* इस वर्ण का स्पष्ट निर्देश आगे तीसरे अध्याय में 'ईषत्कृष्ण' करके किया गया है—नातिनोपचित काले धमनीभ्यां तदार्तवम्। ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥ भावप्रकाश में भी यही वर्ण लिखा है—ईषद्विवर्णं कृष्णं च वायुर्योनिमुखं नयेत्। इसलिए आर्तवशोणित का प्रशस्त वर्ण लालसुर्ख, जैसा कि यहां वर्णन किया है, न समझकर किञ्चित् कालापन लिये लाल समझना चाहिये। (२) राशि—आर्तवशोणितस्राव की राशि सब तन्दुरुस्त स्त्रियों में और सर्वावस्था में एक सी नहीं होती। अतः उसके लिये एक निश्चित परिमाण नहीं हो सकता, जिसको प्रशस्त कह सकते हैं। जो परिमाण एक स्त्री में प्रशस्त होगा, वही दूसरी में अप्रशस्त अर्थात् अत्यधिक या अत्यल्प हो सकता है। इसलिए, प्रत्येक स्त्री में मासिकस्राव के परिमाण की प्रशस्तता उसके प्रायिक मासिक स्राव के परिमाण का विचार करके करनी चाहिए। What is an ordinary menstrual flow in one woman may constitute menorrhagia in another आयुर्वेद में इसलिए निश्चित परिमाण न बतलाकर 'नैवातिबहुनात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्' (चरक) इस प्रकार परिमाण की प्रशस्तता वर्णन की गई है। उपर्युक्त विवरण से इस श्लोकार्थगत 'प्रति' शब्द का प्रयोग कितना उचित है और किस हेतु से समाविष्ट किया गया होगा, इस विषय पर अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है। अब अल्प और बहु का प्रायिक परिमाण पाश्चात्य ग्रंथकार एक छटांक से तीन चार छटांक तक लिखते हैं— The amount of blood lost naturally varies very much Within normal limits, but has been estimated at from 2 to 8 ounces *Ten Teacher's Midwifery.* The total quantity of blood lost at each monthly period varies from 2 to 10 ounces *Bland- Sutton and Giles.* (३) स्राव की अवधि—स्त्रियों की तन्दुरुस्ती और प्रकृति के अनुसार स्राव के काल में बहुत भिन्नता देखी जाती है। आयुर्वेद में स्राव का प्रायिक काल तीन से सात दिन का बतलाया गया है—रक्तमेव स्त्रीणां मासे मासि गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्तमानमार्तवमाहुः। (अष्टांगसंग्रह)। रजः सप्तदिनं यावत्। (हारीत)। मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम्। (अष्टांगहृदय)। रसादेव रजः स्त्रीणां मासि मासि त्र्यहं स्रवेत्। (भावप्रकाश)। दिनत्रयं प्रवृत्तिश्च कुरुते शोणितं स्त्रियाः॥ पंचरात्रानुबन्धि च। (चरक)। पाश्चात्य ग्रंथकार भी प्रायः यही काल बतलाते हैं—The flow lasts from three to five days. *Halliburton's Physiology.* The number of days during which the flow persists also varies in different women within normal limits, four to 6 days being the commonest length of time. *Ten Teacher's Midwifery*, कभी कभी बीच में एक आध रोज स्राव रुक जाता है और फिर से दो तीन रोज रहता है। इसलिए डल्हणसदृश स्रावकाल की मर्यादा दो से सात रोज की बतलाते हैं—The flow lasts from two to seven days मधुकोशकार 'पञ्चरात्रानुबन्धि' इस पर अपनी व्याख्या में लिखते हैं—पञ्चरात्रानुबन्धीति पञ्चरात्र प्रभृत्यप्रवृत्त्याऽनुबन्धानीत्यर्थः। अल्पप्रवृत्त्या पञ्चरात्र एव परतोऽप्यनुबध्नाति। उपर्युक्त विवरण से आर्तवस्राव का प्रशस्त काल दो से सात रोज तक होता है। इस काल से अधिक काल तक स्राव का रहना साधारणतया विकार का निदर्शक समझना चाहिए। (४) अनुबन्धी लक्षण—मलमूत्रादि की प्रवृत्ति के समान आर्तवप्रवृत्ति स्त्रियों के शरीर का स्वाभाविक धर्म है। इसलिए उस समय किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होनी चाहिए। प्रशस्त आर्तव का यही लक्षण होता है—निष्पिच्छदाहार्ति। (चरक)। परंतु साधारणतया यह देखा गया है कि अधिकसंख्य (५०% से ७०%) स्त्रियों में आर्तवप्रवृत्ति के समय श्रोणीविभाग में कुछ न कुछ पीड़ा जरूर हुआ करती है। कुछ स्त्रियों में यह पीड़ा शूल के समान असह्य होती है और उसके साथ साथ सिरदर्द, शारीरिक और मानसिक कमजोरी, बेचैनी, स्वभाव में चिड़चिड़ापन इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर मासिक धर्म एक बीमारी बन जाती है। इसी को कृच्छ्रार्तव (Dysmenorrhoea) या उदावर्ता योनि (उत्तरस्थान, ३८ देखो) कहते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि स्वाभाविक और कृच्छ्र आर्तव में वास्तविक भेद है तथापि व्यवहार में दोनों के बीच में निश्चित मर्यादा करना बहुत कठिन है। इसलिए आर्तव की प्रवृत्ति और स्राव के समय में यदि जरा सी पीड़ा

होती हो तो उसको बिलकुल अप्रशस्त मानना जरूरी नहीं है। (८) आर्तवप्रवृत्तिचक्रकाल—आयुर्वेद में इस चक्र का काल एक मास का लिखा है—मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य। (अष्टाङ्गसंग्रह)। मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च। नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्॥ (चरक)। मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्। (सुश्रुत)। मास् या मास का अर्थ चन्द्र है और नक्षत्रों में पूर्णचक्रपरिभ्रमण करने के लिए चन्द्र को जितने दिन लगते हैं, उन दिनों के समूह को 'मास' कहते हैं। यह काल साधारणतया २८ दिनों का या चार सप्ताह का होता है। अर्थात् दो आर्तवों के बीच में २८ दिन का अन्तर आर्तव की प्रशस्तता का लक्षण है। इसी दृष्टि से आर्तव को मासिकधर्म या माहवारी कहते हैं। In human subject menstruation occurs on an ovarage every four Weeks. *Halliburtion's Physiology.* व्यवहार में भी यह देखा गया है कि अधिकसंख्य (७०%) स्त्रियों में मासिकधर्म का काल २८ दिनों का ही होता है। बाकी स्त्रियों में इससे एक दो दिन कम या अधिक लगते हैं। कुछ स्त्रियों में आठ दस दिन कम या अधिक लगते हैं। इसका कारण यह है कि आर्तवचक्रकाल में स्त्री की तन्दुरुस्ती, प्रकृति और आयु के अनुसार बदल होता है। परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि बहुत थोड़े दिनों के पीछे स्राव का होना आर्तव की प्रशस्तता का लक्षण नहीं है। धर्मशास्त्र में स्वस्थ आर्तवचक्र का कम-से-कम काल २१ दिन का दिया है—अष्टादशदिनादूर्ध्वं स्नानप्रभृतिसंख्यया। यद्रजस्तु समुत्पन्नं तत्कालोत्पन्नमुच्यते॥ (९) स्राव का सङ्गठन—मासिकस्राव में रक्त (Blood) होता है। रक्त के सिवा गर्भाशय की श्लैष्मिक त्वचा का स्राव या श्लेष्मा (Mucus) भी होता है। इनके अतिरिक्त गर्भाशय और योनि की शीर्ण हुई कोशाएँ (cells) भी होती हैं। श्लेष्मा का स्राव अधिकतर आर्तवस्राव के पूर्व और पश्चात् हुआ करता है। साधारण रक्त और आर्तव रक्त में एक भेद यह होता है कि उसमें साधारण रक्त की अपेक्षा चूना (Calcium) अधिक परिमाण में होता है। दूसरा भेद यह होता है कि आर्तवरक्त साधारण रक्त की भांति जमता नहीं है। न जमने का एक कारण श्लेष्म-संयोग है। दूसरे कारण के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। ब्लेअर बेल नामक शास्त्रज्ञ का कथन है कि आर्तवरक्त में तन्त्वि (Fibrin) नामक द्रव्य उपस्थित नहीं होता है, जो रक्त जमने के लिए आवश्यक है—It is said by Blair Bell to contain a much larger proportion of calcium salts than circulating blood, and under normal conditions no fibrin ferment. *Ten Teacher's midwifery.* बेक और व्हाइट हाउस नामक शास्त्रज्ञों का कथन है कि गर्भाशय में रक्त जमता है, परंतु गर्भाशयग्रंथियों से फैब्रोलायसीन नामक द्रव्य उत्सर्गित होता है, जो जमे हुए रक्त को फिर से तरल बनाता है—While the solution of the clot, he believes, is brought about by a fibrolysin contained in the secretion of the uterine glands. *Ibid.* उपपत्ति कुछ भी हो, आर्तवरक्त का न जमना उसकी प्रशस्तता का एक लक्षण है। जब आर्तव में कुछ खराबी होती है, तब आर्तवशोणित जमता है याने छिछड़ेदार या गाँठदार बनता है और इसी का निर्देश पीछे ग्रंथिभूत करके सूत्र ४ में किया गया है—Normal menstrual blood does not clot. It is only under abnormal conditions that clots form during menstruation. *Ibid.* (१०) यच्चासो न विरञ्जयेत्—जो आर्तवशोणित उससे आर्द्र या शुष्क सफेद कपड़े को नीम गरम पानी से धोने पर विवर्ण नहीं करता है, वह प्रशस्त होता है। इसका मतलब यह है कि आर्तवशोणित से मलिन वस्त्र गरम पानी से धोने पर निर्मल याने बेदाग होना चाहिये। जीवशोणित याने शरीरधारक शोणित (Normal blood) की यही परीक्षा आयुर्वेद में वर्णन की गई है—उभयत्र च जीवरक्तपित्तयोर्ज्ञानार्थं रक्ते शुक्लं पिचु प्लोतं वा क्षिपेत्। तस्मिन्क्षालने कोष्णाम्बुक्षालितशुद्धे जीवरक्तम्। (अष्टांगसंग्रह)। शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा। प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते, शुद्धं तु शोणिते॥ (चरक और अष्टांगहृदय)। पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का भी ऐसा ही मत है—It is almost impossible to state whether stains have been caused by ordinary or menstrual blood. *Manual of Medical jurisprudence by Aitchison Robertson.* अर्थात् वस्त्र धोने पर उस पर के रक्त के दाग अच्छी तरह न मिटना रक्त की खराबी का लक्षण माना गया है।

तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि।
असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात्॥१८॥

(रक्तप्रदर—) (पूर्वोक्त आर्तव) रक्त लक्षण से भिन्न, अत्यधिक मात्रा में (और) ऋतुकाल से अतिरिक्त काल में प्रवृत्त वही आर्तव इसलिये असृग्दर (वैद्य) जान ले॥१८॥

वक्तव्य—अतिप्रसङ्गेन—ऊपर आर्तवशोणितस्राव का चार छटाँक तक जो अधिक से अधिक परिमाण बतलाया है, उससे भी अधिक मात्रा में। अनृतु—अनार्तव काल। ऊपर आर्तवशोणितस्राव का सात रोज तक जो अधिक से अधिक काल बतलाया है, वह ऋतुकाल कहलाता है। उससे अधिक याने सात रोज के पश्चात् का काल अनृतु कहलाता है। यहाँ ऋतुकाल से केवल स्वाभाविक आर्तवदर्शन काल से मतलब है। गर्भधारणा की दृष्टि से 'ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः' (सुश्रुत, शा० ३) इत्यादि जो ऋतुकाल वर्णन किया है, वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। उस ऋतुकाल के सम्बन्ध में वहाँ अधिक विवरण किया जायगा। अनृतावपि—पाँच सात दिन तक जो आर्तवस्राव का स्वाभाविक काल है, उसमें तथा उसके पश्चात् का जो अनार्तवकाल है उसमें भी कुछ दिनों तक प्रवृत्त अर्थात् दीर्घकालानुबन्धी। डल्हणाचार्य का 'अनृतावल्पमप्यदीर्घकालमपि प्रवृत्तमसृग्दरं विजानीयात्' यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि असृग्दर में आर्तवशोणित का प्रमाणाधिक्य एक मुख्य लक्षण है—रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः। रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः॥ यस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानता। तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः॥ (चरक, चि० ३०)। प्रमाण से अधिक रक्तस्राव हो और काल अल्प हो, यह दोनों

१ विजानीयादुक्तं लक्षणवर्जितम्.

असङ्गत हैं—'प्रदीर्यते इति विस्तारितो भवति' इति प्रदर। (चक्रपाणिदत्त)। इसलिए 'अनृतावपि' का 'अल्पमप्यनीषं कालमपि प्रवृत्तम्' अर्थ करके असृग्दर से नष्टार्तव का मतलब निकालना अयुक्तियुक्त है। असृग्दर—इसको रक्तप्रदर या प्रदर कहते हैं—रजः प्रदीर्यते यस्मात् प्रदरस्तेन स स्मृतः। (चरक)। असृग्दर शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं—रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य इति रक्तं प्रमाणाधिकं कृत्वा रक्तमादाय तद्रजो यस्माद्विवर्धयति पवनस्तस्माद्धप्रजोमेलकरूपत्वादयं व्याधिरसृग्दर इत्युच्यते। असृग्दीर्यते यस्मिन्निति असृग्दर' इत्येषाऽपि निरुक्तिरत्र बोद्धव्या। (चक्रपाणिदत्त, चरकटीका)। असृग्दर का पाश्चात्य परिभाषा में विचार—इस श्लोक में असृग्दर के तीन लक्षण वर्णन किये हैं—(१) रज-प्राचुर्य, (२) दीर्घकाल प्रवृत्ति और (३) स्वाभाविक आर्तव के रक्त से असृग्दर के रक्त की भिन्नता। पाश्चात्य परिभाषा में आर्तव रक्त का विशेष विचार नहीं किया जाता है। काल और परिमाण का विचार होता है, और उसके अनुसार दो स्वतन्त्र नाम रक्खे गये हैं। अर्थात् असृग्दर या प्रदर के लिए पाश्चात्य परिभाषा में एक नाम नहीं है। जब रक्तस्राव अधिक परिमाण में होता है, परन्तु आर्तवकाल स्वाभाविक याने अधिक से अधिक सात रोज तक ही रहता है, उसमें अधिकता नहीं होती तब उसको रजप्रदर (Menorrhagia) कहते हैं। जब रक्तस्राव ऋतुकाल में होकर अनार्तवकाल में भी होता है, तब उसको गर्भाशयप्रदर मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) कहते हैं। इस तरह यद्यपि दो अवस्थाओं के लिए दो पृथक् शब्द प्रयुक्त होते हैं, तथापि आयुर्वेद के अनुसार दोनों का विवरण एक साथ ही किया जाता है, क्योंकि दोनों अवस्थाएँ बहुत सम्बन्धित हैं। जो कारण स्राव की अधिकता उत्पन्न करते हैं, वे ही आगे जाकर स्राव के काल में वृद्धि और अनियमितता उत्पन्न करते हैं—Menorrhagia passes insensibly into metrorrhagia and it is therefore convenient to consider the two conditions together. Many diseases lead at first to menorrhagia and subsequently to metrorrhagia. *Bland-Sutton and Giles.* असृग्दरलक्षणात्—'शशासृक्प्रतिमं' 'निर्गिरद्गत्यवर्ति' इत्यादिवाक्यमनिपादितात् पूर्वोक्तादक्तलक्षणाद् यद्विन्न लक्षणम्। अर्थात् वातादि के लक्षणों से युक्त, जैसे, वातिक—फेनिलं तनु रूक्षं च श्यावं चारुणमेव च। किंशुकोदकसङ्काशं सरुजं वाथ नीरुजम्॥ पैत्तिक—सनीलमथवा पीतमत्युष्णमसितं तथा। नितान्तरक्तं स्रवति मुहुर्मुहुरार्तिमत्॥ श्लैष्मिक—पिच्छिलं पाण्डुवर्णं च गुरु स्निग्धं च शीतलम्। स्रवत्यसृक् श्लेष्मलं च घनं मन्दरुजाकरम्॥ (चरक, चि० ३०)। असृग्दर के हेतु—विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णाद्गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च। यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च भाराभिघाताच्छयनाद्दिवा च॥ (माधवनिदान)। विरुद्धमद्याध्यशनादि—गुरु, विदाही, कटु परस्पर विरोधी पदार्थों का अतिसेवन, पहिले सेवन किये हुए आहार का पचन होने के पूर्व दूसरा आहार सेवन करना, विविध मद्यों का अतिसेवन इत्यादि कारणों से वायु कुपित होकर असृग्दरोत्पत्ति करती है—लवणाम्लगुरुकटुविदाहिस्निग्धमतिमात्रं ग्राम्यौदकमांसानि च। कृशरां पायसं दधि शुक्तं मस्तु सुरादीनि भजन्त्या कुपितोऽनिलः॥ (चरक)। पाश्चात्य वैद्यक में भी खाद्यमद्य का अतिसेवन इस रोग का कारण माना जाता है—Over indulgence in food and alcoholic drinks. *Bland Sutton and Giles.* गर्भप्रपात—गर्भस्राव या गर्भपात। परन्तु इससे गर्भप्रसूति का भी बोध हो सकता है। गर्भ यदि पूर्णतया गर्भाशय से बाहर चला जाय और भीतर अपरा या अन्य कुछ भी न रहे तो गर्भाशय धीरे धीरे अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होने लगता है। इस अवस्था को गर्भाशय की स्वसङ्कृति (Involution of the uterus) कहते हैं। १० वें अध्याय के १९ वें सूत्र का वक्तव्य देखो। यदि गर्भ निकल जाने के पश्चात् गर्भाशय में गर्भ का या अपरा का कुछ अंश रह जाय तो उसकी संवृति ठीक प्रकार से न होकर वह कुछ मोटा और पिलपिला रह जाता है और रक्ताधिक्य के कारण उससे रक्तस्राव अधिक होता है। इस अवस्था को अपसवृति (Subinvolution) कहते हैं। यह अवस्था स्वाभाविक प्रसूति की अपेक्षा गर्भपात के बाद अधिक हुआ करती है। इसलिए गर्भप्रपात इस रोग का जो कारण बतलाया है, वह बिल्कुल ठीक है—A portion of placenta or of membranes may remain attached to the uterine wall, both after full time delivery and after abortion. It is most frequent in the latter case. *Bland Sutton and Giles.* अतिमैथुन—अतिमैथुन से स्त्रियों के जननेन्द्रिय की ओर रक्तप्रवाह अधिकता से होता है, जिससे आर्तव स्राव भी अधिक हो जाता है। यह अवस्था विशेष करके विवाह के पश्चात् शुरू शुरू में जब मैथुन अधिक सेवन किया जाता है तब होती है—The effect of sexual intercourse upon the menstrual flow is difficult to determine, but cases do occur in which excessive menstruation has been cured by abstension and we can not but believe that excess in this direction must, therefore have been the cause. Such cases occur chiefly in the newly married. There is no doubt that sexual excess often in the first months of married life is a reflex cause of uterine congestion and may cause metrorrhagia as well as menorrhagia. *Differential diagnosis by Herbert French.* यानाध्व—सवारी करना, चलना फिरना। जैसे—ऊँट, घोड़ा, घोड़ा, साइकल इत्यादि वाहनों पर सवारी करना, चलना फिरना, प्रवास करना, दौड़ना इत्यादि का अतिसेवन। हर्बर्ट फ्रेन्च अपनी पुस्तक में Dancing Hunting Gymnastics Bicycling असृग्दर के कारण बताते हैं। ये कारण बहुत साधारण नहीं हैं। शोक—यह मानसिक विकार का उपलक्षण है। इससे भीति, काम, क्रोध, चिंता इत्यादि मानसिक उद्वेगभावों का बोध होता है। मनःसंतापात्' 'शोकात्' 'दर्शनैः' इत्यादि चरक में प्रदर के कारण वर्णन किए हैं। हर्बर्ट फ्रेंच की उपर्युक्त पुस्तक में Fright Violent emotion इसके कारण निर्दिष्ट किये हैं। यदि ये मानसिक विकार आत्यकालिक हों तो एक आध बार मासिक स्राव अति

ात्रा में होता है; परंतु यदि स्त्री इन विकारों से सदैव पीड़ित हो तो इन विकारों से शरीर के अन्तःस्रावों (Internal secretions) में अधिकता होकर रक्तनिपीड (Blood pressure) भी सदा के लिए बढ़ जाता है (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३०६ देखो) और रक्तनिपीडाधिक्य से असृग्दर होता है। अतिकर्षणात्—अन्नपानातियोगेन क्षीणधातुत्वात्। (मधुकोश)। इससे खाद्य पेय द्रव्यों में योग्य और पर्याप्त द्रव्य न मिलने के कारण उत्पन्न हुए रोगों का समावेश कर सकते हैं; जैसे रक्त की जमने की शक्ति कम होना, प्रशीताद (Scurvy), नीलोह (Purpura) इत्यादि। भाराभिघातात्—गर्भाशय के ऊपर बोझ पड़ना या अभिघात होना; जैसे मलावरोध, कमर पर कपड़ा कसके बांधना या पहनना, नाचना, कूदना या बाहर से कोई आघात होना। इन कारणों के अतिरिक्त निम्न कारण भी असृग्दर उत्पन्न करते हैं। (१) एन्फ्लुएन्जा, आन्त्रिकज्वर, मसूरिका, विषमज्वर, आमवात इत्यादि संक्रामक रोग, यकृद्दाल्युदर, हृत्पादरोग इत्यादि। (२) गर्भाशय के विकार—कैन्सर, सार्कोमा इत्यादि दुष्टार्बुद; अर्श (Polypus), पेश्यर्बुद (Myoma) इत्यादि सौम्यार्बुद; स्थानभ्रष्टता (Displacements); और गर्भाशय का नवीन या पुराना प्रकोप (Endometritis), गर्भाशयगत रक्ताधिक्य (Congestion), गर्भाशय के लचकीले मांसतन्तुओं की शण जसे कठिन तन्तुओं में परिवृत्ति (Fibrosis Uteri), रक्तगुल्म (Fibroids) इत्यादि।

असृग्दरो भवेत् सर्वः साङ्गमर्दः सवेदनः ॥ १९ ॥
तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा तमस्तृषा।
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥२०॥

(असृग्दर के शारीरिक लक्षण—) सर्व असृग्दर अंगमर्द और वेदनायुक्त होते हैं ॥ १९ ॥ उनकी अतिप्रवृत्ति होने में कमजोरी, भ्रम (चक्कर आना), मूर्च्छा (क्वचित् बेहोश होना), तम (आँखों के सामने अँधेरा आना), प्यास, दाह (आँखों, हाथ पैरों तथा शरीर में जलन मालूम होना), प्रलाप, पाण्डुत्व (शरीर का वर्ण फीका पड़ना), तन्द्रा और वातज रोग (उत्पन्न होते है) ॥ २० ॥

वक्तव्य—सर्वः—ऊपर असृग्दर के अनेक हेतु वर्णन किये हैं। प्रत्येक हेतु से उत्पन्न हुए असृग्दर में स्रावकाल, स्रावमात्रा और स्राववर्ण में कुछ न कुछ फर्क हो सकता है। तब भी इन विविध कारणोत्पन्न सम्पूर्ण असृग्दरों में। 'जातौ एकवचनम्' इस दृष्टि से यहाँ एकवचन का प्रयोग किया गया है। अङ्गमर्दः—शरीर के विविध अङ्गों में टूटने की सी पीड़ा होना। सवेदनः—कटि, वङ्क्षण, ऊरु इत्यादि गर्भाशय समीप अङ्गों में वेदना होना—कटिवङ्क्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिषु मारुतः। कुरुते वेदनां तीव्राम्। (चरक)। तस्य—आर्तवशोणितस्य। दाह—यह रक्तक्षयजन्य दाह है। इसके लक्षण—धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृडर्दितः। क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद् भृशपीडितः॥ यहाँ धातुक्षय से रक्तक्षय का ही विशेष बोध है—धातुक्षयोक्तो रक्तक्षयोक्तः। (डल्हण)। प्रलाप—विलाप या रंज करना। कमजोरी तथा अन्य लक्षणों से पीड़ित होने के कारण रोगी जरा सा परिश्रम करने पर भी आह भरता है। रोगाश्च वातजाः—कम्प, कार्श्य, निद्रानाश, शिरःशूल तथा अन्य स्थान के शूल अनवस्थितचित्तत्व, स्वभाव का चिड़चिड़ापन, मलावरोध, कर्णनाद इत्यादि।

इस श्लोक में असृग्दर के रक्तस्राव के अतिरिक्त अन्य लक्षण वर्णन किये हैं। इनमें से कुछ लक्षण गर्भाशयगत विकारजन्य होते हैं और अधिकांश लक्षण रक्तस्रावाधिक्यजन्य होते हैं। जब रक्तस्राव अधिक होता है, तब शरीर में रक्त की कमी हो जाती है, जिससे शरीर के किसी भी अङ्ग को या धातु को पर्याप्त खाद्य नहीं मिलता। पेशियों में रक्त की कमी होने से बलक्षय होता है। त्वचा में कमी होने से पाण्डुता (Pallor) आ जाती है। आँखों में कमी होने से भ्रम, मूर्च्छा, तमोदर्शन इत्यादि विकार होते हैं। मस्तिष्क तथा नाड़ियों में कमी होने से अनवस्थितचित्तत्व, कम्प, कर्णनाद, निद्रानाश, स्वभाव में फर्क, शिरःशूल तथा अन्य स्थान के शूल इत्यादि लक्षण होते हैं।

तरुण्या हितसेविन्यास्तमल्पोपद्रवं भिषक्।
रक्तपित्तविधानेन यथावत् समुपाचरेत् ॥ २१ ॥

(असृग्दरचिकित्सा)—(आहार विहार इत्यादि में) हितकर सेवन करने वाली तरुण स्त्री के अल्प उपद्रवयुक्त असृग्दर की वैद्य रक्तपित्त की विधि से अनुरूप चिकित्सा करे ॥ २१ ॥

वक्तव्य—तरुणी—इससे बलसत्त्वायुष्पत्वं और सर्वौषधक्षमत्वं का बोध होता है। यह सुखसाध्यता का एक लक्षण है। हितसेविनी—जिसको पहिले ही से अहितकर आहार-विहार सेवन करने की आदत न हो, तथा जो वैद्यवाक्यानुसार हितकर आहार-विहार सेवन करने में दत्तचित्त हो। रोगी का यह एक प्रशस्त गुण है तथा सुखसाध्यता का लक्षण है। अल्पोपद्रव—इससे उपद्रवों की संख्या, काल और तीव्रता इनमें अल्पता अभिप्रेत है; अर्थात् जिस असृग्दर में उपद्रव थोड़े हों, नये हों और सौम्य हों, ऐसा। यह कृच्छ्रसाध्यता का लक्षण है—गर्भिणीवृद्धबालानां नात्युपद्रवपीडितम्। (चरक)। इस प्रथम श्लोकार्ध का इसलिए मतलब यह है कि यदि रोगी में सुखसाध्यता या कृच्छ्रसाध्यता के लक्षण उपस्थित हों तो वैद्य उसकी चिकित्सा करे, अन्यथा न करे—तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा न तत्र कुर्वीत भिषक् चिकित्साम्। (माधवनिदान)। शश्वत्स्रवन्तीमास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम्। क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विवर्जयेत्॥ (चरक)। रक्तपित्तविधानेन—उत्तरस्थान में रक्तपित्त की चिकित्सा जिस प्रकार वर्णन की गई है, उसके अनुसार—विधिश्चासृग्दरेऽप्येष श्रोणां कार्यो विजानता। त्रयाणामपि दोषाणां शोणितेऽपि च सर्वशः। लिङ्गान्यालोक्य कर्तव्यं चिकित्सितमनन्तरम्॥ (उत्तर, अ० ४५)। योनीनां वातलाद्यानां यदुक्तमिह भेषजम्। चतुर्णां प्रदराणां च तत्सर्वं कारयेद्भिषक्॥ रक्तातिसारिणां यच्च तथा शोणितपित्तिनाम्। रक्तार्शसां च यत्प्रोक्तं भेषजं तच्च कारयेत्॥ रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धं समीक्ष्य च। ततः कुर्याद्यथादोषं रक्तस्थापनमौषधम्॥ (चरक)। असृग्दर की चिकित्सा—(१) साधारण चिकित्सा—मद्य-मांस तथा अन्य उष्ण, कटु, खाद्य द्रव्यों को वर्ज्य करके हितकर आहार सेवन करना, चलना,

फिरना, दौड़ना, सवारी करना इत्यादि को छोड़कर शारीरिक तथा शोक, क्रोधादि को छोड़कर मानसिक आराम लेना, मैथुन वर्ज्य करना, मासिक धर्म के पहिले विरेचन से कोष्ठशुद्धि संक्षेप में निदान परिवर्जन। (२) औषधि चिकित्सा—इसमें विशेष करके रक्तस्थापक याने रक्तस्राव रोकने वाली (Haemostatic) ओषधियों का उपयोग, जैसे—पुष्यानुग चूर्ण, कुटजाष्टकावलेह, अशोकघृत, अशोकारिष्ट, कामदुधारस, प्रदरारि, प्रदरान्तक, बोलबद्ध इत्यादि ओषधियों का उपयोग करना। पाश्चात्य वैद्यक में गर्भाशय गत रक्तस्थापन के लिए अर्गट (Ergot) का उपयोग विशेषतया किया जाता है। इसके सिवाय स्टिप्टीसिन (Stypticin), हैड्रास्टिस (Hydrastis) का भी उपयोग होता है। शरीर में जब रक्तस्राव के कारण रक्त की कमी हो जाती है, तब लोह, यकृत् (Liver) इत्यादि शोणित वर्द्धक (Haematinic) ओषधियों का उपयोग करना चाहिए—यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्। (सु॰, रक्त पित्तचिकित्सा)। (३) स्थानिक चिकित्सा—यदि उपर्युक्त दो प्रकार की चिकित्सा से फायदा न हो या स्थानिक विकृति के लक्षण पहिले से ही मालूम होते हों तो गर्भाशय और योनि का परीक्षण करके अर्श, अर्बुद, प्रकोप या जो कुछ भी अन्य विकार हों, उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

दोषैरावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति स्त्रियाः।
तत्र मत्स्यकुलत्थाम्लतिलमाषसुरा हिताः।
पाने मूत्रमुदश्विच्च दधि शुक्तं च भोजने ॥ २२ ॥

(नष्टार्तव—) दोषों से मार्ग आवृत होने के कारण स्त्रियों का आर्तव नष्ट होता है। उसमें भोजन के और पीने के लिए मछली, कुलथी, काञ्जिक (या अन्य खट्टे पदार्थ), तिल, उड़द, सुरा, गोमूत्र, उदश्वित्, दही और शुक्त (सिरका) हितकर हैं ॥२२॥

वक्तव्य—दोषैः—अत्र दोषा कफो वायुर्वातकफौ च, न तु पित्तं, पित्तवृद्धौ तस्यातिप्रवृत्तिहेतुत्वात्, कुम्भवाहिनीनां कफवद्धमार्गत्वात्। (डल्हण)। अर्थात् इस रोग में वातकफवृद्धि और पित्तक्षय होता है। आवृतमार्गत्वात्—गर्भाशय में आर्तव उत्पन्न होने का जो स्वाभाविक मार्ग याने क्रम (Physiological process) है, उसमें दोषों के द्वारा बाधा उत्पन्न होने के कारण। नश्यति—स्त्री में योग्य वय में उत्पन्न हुआ और प्रतिमास होने वाला आर्तव नष्ट होता है अर्थात् उसकी उत्पत्ति रुक जाती है। मूत्र—गोमूत्र—मूत्रे गोमूत्रमादेयं विशेषो यत्र नेरितः। 'अनुक्तवर्गके मूत्राद्ये ग्रहणेऽपि मूत्राणि प्रयाति, यत्र तु अन्यदेव मूत्रं निर्दिश्यते तदेवेति निर्देश्यम्'। इस प्रकार प्रदीप ग्रन्थ जेज्जट आचार्य की अपनी टीका (सूत्र॰, अ॰ ४५) में लिखते हैं। यहाँ गोमूत्र ग्रहण करने का कारण यह है कि गौ का मूत्र तीक्ष्ण होने के कारण वह वर्धित वातकफ का हनन करके पित्त को बढ़ाता है—गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं सक्षारत्वान्न वातलम्। (सुश्रुत)। [illegible] उदश्वित्—आधा पानी डालकर बनाया हुआ मट्ठा—उदश्विदर्धाम्बुकम्। (भावप्रकाश)। [illegible] विवेचन [illegible]—आर्तवदर्शन (Menstruation) और आर्तवादर्शन (Amenorrhoea) ये दोनों स्त्रियों के शरीर के स्वाभाविक धर्म हैं। परन्तु जब ये दोनों अपने उचित समय पर नहीं होते, तब वैकारिक हो जाते हैं। यहां प्रथम श्लोकार्ध में आर्तवादर्शन का वर्णन किया है। आर्तवादर्शन के तीन मुख्य प्रकार होते हैं। (१) अनार्तव (Primary amenorrhoea)—स्त्रियों में बारह वर्ष की आयु से पचास वर्ष की आयु तक प्रतिमास आर्तवदर्शन होता रहता है—तद्वर्षाद् द्वादशात्काले वर्तमानमसृक् पुनः। जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥ (सुश्रुत)। अर्थात् बारह साल के पूर्व और पचास साल के बाद जो आर्तवादर्शन रहता है, वह स्वाभाविक (Physiological) होता है। कभी कभी आर्तवदर्शन के योग्य काल के कई बरसों के बाद आर्तवदर्शन होता है। इसे कालातीत या विलम्बित (Delayed) अनार्तव कहते हैं। यह अवस्था प्रायः रक्तक्षय, राजयक्ष्मा तथा अन्य शरीरशोषक रोगों के कारण, या गर्भाशय तथा बीजकोश (Ovary) विलम्ब से परिपक्व होने के कारण उत्पन्न होती है। यदि स्त्री विवाहित हो तो आर्तवदर्शन होने के पूर्व भी गर्भधारणा हो सकती है। गर्भधारणा के लिए आर्तवदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं होती, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए—अदृष्टार्तवोऽपि (ऋतु) भवतीत्यपरे। (अष्टांगसंग्रह)। (३ अध्याय का ६ सूत्र देखो)। परन्तु थोड़े दिनों में गर्भधारणा के अन्य लक्षण मिलने से उस स्थिति का निर्णय हो जाता है। कभी कभी गर्भाशय तथा बीजकोश दोनों ही सदा के लिए अपरिपक्व रह जाते हैं, जिससे स्त्री में आर्तवदर्शन कदापि नहीं होता। इस अवस्था को स्थायी (Permanent) अनार्तव कहते हैं। विलम्बित और स्थायी प्रकार वैकारिक हैं। (२) नष्टार्तव—इससे पीड़ित स्त्रियों में इसके पूर्व बराबर आर्तव दर्शन होता रहता है। इसको औपद्रविक (Secondary) कहते हैं। सगर्भावस्था और प्रसूतावस्था इसके स्वाभाविक कारण हैं—आर्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषः—इति गर्भे पर्याप्ते रूपाणि भवन्ति। (चरक)। परन्तु इन अवस्थाओं में भी कभी कभी रजःस्राव होता है। धर्मशास्त्र में उसको रागज और नैमित्तिक कहते हैं—यथाह प्रद्योतनभट्टः मेरोद्भवाऽ- [illegible] यत्। तद्रागजमिति प्रोक्तं मेरोद्भवमनुत्तमम् ॥ प्रसूतिका तु या नारी रजस्तस्या [illegible] परम्। मासतो रजसा प्रोक्ता प्राक् तु नैमित्तिकं रजः। न तु नैमित्तिकेन स्यादशुभा स्त्री रजस्वला ॥ रक्तक्षय, राजयक्ष्मा, मधुमेह, दुष्टार्बुद, शरीरक्षयकर अन्य विकार, सर्वाङ्गशोथ, मस्तिष्कार्बुद, चित्तोद्वेग (Melancholia), उन्माद तथा अन्य मानसिक विकार इसके वैकारिक कारण हैं। यहां प्रथम श्लोकार्ध में इसी वैकारिक नष्टार्तव का संक्षिप्त वर्णन किया है। वातकफवृद्धि और पित्तक्षय नष्टार्तव का जो कारण बतलाया है, उसका कुछ स्पष्टीकरण उपर्युक्त रक्तक्षयादि कारणों को देखकर हो सकता है। (३) आवृतार्तव—इसमें योग्य वय में आर्तवस्राव प्रारम्भ होता है, परन्तु बाहर आने का मार्ग अवरुद्ध होने के कारण आर्तवशोणित भीतर ही भीतर आवृत या अप्रवृत्त रहता है। इसलिए इस प्रकार को आवृतार्तव (Cryptomenorrhoea) कहते हैं। यह अवरोध गर्भाशयग्रीवा में छिद्र न होना (Imperforate cervix), योनिमार्गाभाव (Absence of vagina), योनि-

द्वार के पर्दे में (Hymen) छिद्र न होना इत्यादि सहज व्यंगों के कारण होता है; और सहज व्यंगजन्य आवृतार्तव अधिक देखने में आता है। कभी कभी शस्त्रकर्म या आघात के कारण गर्भाशयमुख या योनिमार्ग वंद हो जाता है; परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत ही कम देखने में आते हैं। आवृतार्तव में मासिक धर्म के समय सिरदर्द, श्रोणी में पीड़ा, बेचैनी इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु योनिद्वार से शोणितस्राव नहीं होता। इसलिए आर्तवादर्शन में आवृतार्तव की संभावना ध्यान में रखकर यदि आवश्यक हो तो रोगी के जननेन्द्रिय का परीक्षण जरूर करना चाहिए। अब सुखाववोध के लिए आर्त्तवादर्शन का कोष्ठक नीचे दिया जाता है।

आर्तवादर्शन

- अनार्तव
  - स्वाभाविक — बाल्यावस्था, वृद्धावस्था
  - वैकारिक — रक्तक्षयादि रोग
- नष्टार्तव
  - स्वाभाविक — सगर्भावस्था, प्रसूतावस्था
  - वैकारिक — रक्तक्षय, मानसिकविकार
- आवृतार्तव
  - सहज — व्यंगजन्य
  - जन्मोत्तर — शस्त्रकर्म, आघातजन्य

चिकित्सा—इस बात का जरूर ध्यान रखना चाहिए कि आर्तवादर्शन रोग नहीं है, लक्षण है। इसलिए उसकी चिकित्सा कारणानुसार करनी चाहिए। स्वाभाविक अनार्तव और नष्टार्तव की चिकित्सा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैकारिक अनार्तव, जो गर्भाशयादि की स्थायी अपरिपक्वता से उत्पन्न होता है, अचिकित्स्य है। वैकारिक नष्टार्तव तथा रक्तक्षयादिजनित अनार्तव कारणानुरूप चिकित्सा करने पर प्रायः साध्य होता है। आवृतार्तव कुछ असाध्य और कुछ शस्त्रसाध्य होते हैं। उनमें ओषधि सेवन से कुछ भी फायदा नहीं होता। सर्दी से बचना, गरम कपड़े पहरना, पौष्टिक पर्याप्त और हलका आहार सेवन करना, स्वच्छ हवा में हलका-सा व्यायाम करना, जल्दी सोना और अधिक निद्रा लेना, कोष्ठशुद्धि रखना तथा कारणानुसार ओषधि सेवन (जैसे, रक्तक्षय में लोह, संखिया, कुचला इत्यादि) यह आर्तवादर्शन की संक्षिप्त चिकित्सा है।

क्षीणं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम्।
तथाऽप्यत्र विधातव्यं विधानं नष्टरक्तवत्॥ २३॥

(क्षीणार्तव—) लक्षण और चिकित्सा के साथ क्षीण आर्तव पहिले कहा गया है। तो भी क्षीणार्तव में नष्टार्तव के समान विधि (आचरण) करनी चाहिए॥ २३॥

वक्तव्य—क्षीणं रक्तम्—क्षीणार्तव। इसको आलिगोमेनोरिआ (Oligomenorrhoea) कहते हैं। प्राक्—दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय नामक सूत्रस्थान के १५ वें अध्याय में (प्रथमखण्ड पृष्ठ ९१ देखो)। सलक्षणचिकित्सितम्—आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च। तत्र संशोधनमाग्नेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः। नष्टरक्तवत्—नष्टार्तव के समान। क्षीणार्तव और नष्टार्तव वास्तव में दो स्वतन्त्र लक्षण नहीं हैं, एक ही लक्षण के तरतमात्मक दो भेद हैं। जिन विकारों से नष्टार्तव उत्पन्न होता है, उनमें आर्तव पूर्णतया वंद होने के पूर्व कुछ महीनों तक अल्पराशि में और अनियमित काल में आया करता है; तथा जिन विकारों से क्षीणार्तव उत्पन्न होता है, वे ही विकार अधिक तीव्र और गंभीर होने पर नष्टार्तव उत्पन्न कर सकते हैं। यह कथन रक्तक्षयादि शरीरशोषक और दौर्बल्यकर विकारों के लिए विशेष लागू है, और वैकारिक नष्टार्तव के ये कारण क्षीणार्तव के भी प्रायिक कारण होते हैं। इसलिए नष्टार्तव के समान क्षीणार्तव की चिकित्सा करने के लिए जो लिखा है, वह कथन रोगसंप्राप्ति की दृष्टि से ठीक है—The mode onset of amenorrhoea due to anaemia is different; there is a history of a gradual diminution in quantity of the menstrual flow which becomes very scanty before disappearing altogether; in addition, there is often history of irregularity extending over several months or years. *Bland-Sutton and Giles: Diseases of women.*

एवमदुष्टशुक्रः शुद्धार्तवा च॥ २४॥

इस प्रकार दोषविरहित शुक्रयुक्त (पुरुष) और शुद्ध आर्तवयुक्त (स्त्री होती है)॥ २४॥

वक्तव्य—एवम्—ऊपर 'स्फटिकाभं द्रवम्' इत्यादि लक्षणयुक्त शुक्रवान् पुरुष अदुष्टशुक्र और 'शशासृक्प्रतिमम्' इत्यादि लक्षणयुक्त आर्तव वाली स्त्री शुद्धार्तवा होती है; किंवा यदि दुष्टशुक्र पुरुष और अशुद्धार्तवा स्त्री हो तो ऊपर दोषानुसार जो चिकित्सा वर्णन की गई है, उसका अनुशीलन करने से वे अदुष्टशुक्र और शुद्धार्तव हो जाते हैं।

ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत्। किं कारणम्? दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद् दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्, अतिशब्दश्रवणाद्बधिरः, अवलेखनात् खलतिः, मारुतायाससेवनादुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत्॥ २५॥

दर्भसंस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं, त्र्यहं च भर्तुः संरक्षेत्। ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहन्यहतवासां समलङ्कृतां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत्। तत् कस्य हेतोः?॥ २६॥

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना।
तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः॥ २७॥

(ऋतुमती चर्या—) ऋतुकाल में प्रथम दिन से ही ब्रह्मचारिणी स्त्री दिन में सोना, (आँखों में) अञ्जन डालना, (रोकर) आँसू गिराना, स्नान करना, (चन्दनादि सुगन्धी द्रव्यों का शरीर पर) अनुलेपन करना, (तैल का) अभ्यङ्ग, नखों को काटना, तेजी से दौड़ना, हँसना, (बहुत) बोलना,

अतिशब्दों को सुनना, केशप्रसाधन करना, (झोंके झपाटे की) वायु का सेवन और परिश्रम—इनको छोड़ दे। (उपर्युक्त दिवास्वप्नादि को छोड़ने का) क्या कारण है ? दिन में सोने वाली का गर्भ निद्रालु, अञ्जन से अन्धा, रोने से विकृत दृष्टि का, स्नान और अनुलेपन से दुःखशील (चिड़चिड़े स्वभाव का, तुनुकमिज़ाज), तैल के अभ्यङ्ग से कुष्ठी (त्वचा के रोगों से युक्त), नख काटने से कुनखी, तेजी से दौड़ने से चञ्चल, हंसने से श्यामवर्ण के दांत, ओष्ठ, तालु और जिह्वा वाला, अति बोलने से बहुत बोलने वाला, अतिशब्द सुनने से बहरा, अवलेखन से गञ्जा, वायु और परिश्रम के सेवन से उन्मत्त होता है। इसलिए इस प्रकार की क्रियाओं को त्याग दे ॥ २५ ॥ दर्भशयन पर सोने वाली, हथेली, मृत्पात्र (मिट्टी की थाली) और पत्तल इनमें से एक पर हविष्य भोजन करने वाली (उस स्त्री) को तीन दिन तक पति से निवारण करे। फिर चौथे दिन शुद्धस्नात, नवीन वस्त्रयुक्त, (आभूषणों से तथा पुष्पों की मालाओं से) स्वलंकृत, मंगलाचरण और स्वस्तिवाचन किये हुए (उस स्त्री) को पति को दिखावे। यह किस लिए (किया जाता है) ? ॥ २६ ॥ ऋतुस्नाता स्त्री जिस प्रकार के पुरुष को प्रथम देखती है, उस प्रकार के अपत्य को जन्म देती है। इसलिए भर्ता को दिखावे ॥ २७ ॥

वक्तव्य—ऋतु—इसका विवरण तीसरे अध्याय के पांचवें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है, उसको देखो। ब्रह्मचारिणी—आहार-विहार में ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करने वाली और विशेष करके 'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्' इत्यादि अष्टविध मैथुन से पराङ्मुख। अतिशब्द—अतिशय ऊँचे, कर्कश, भयावने तथा अन्य प्रकार के कर्णकटु शब्द। इससे अधिक समय तक सुनने का भी अर्थ हो सकता है। अवलेखन—कङ्कतिकादिना केशसमार्जनम्। (डल्हण)। कंघी आदि के द्वारा बालों का प्रसाधन करना। कुनख—रूखा, काला और खुरदरा नख कुनख कहलाता है—अभिघातं विना दुष्टो यो नखो रूक्षोऽसितः खरः। भवेत्तं कुनखं विद्यात् कुलीनमिति चापरे ॥ उन्मत्त—इस शब्द से यहां पागलपन (Insanity या Madness) अभिप्रेत नहीं है परन्तु शीघ्रकोपी, उग्र, अविचारी या तेजमिजाज, इतना ही इसका अर्थ परिमित है। गर्भ—उपर्युक्त कर्म ऋतुकाल में करने वाली स्त्री उसी काल में गर्भवती होने पर उससे होने वाली सन्तान अर्थात् कन्या या पुत्र। हविष्यम्—हविषे हितं यत्। अग्नि में आहुति देने योग्य अन्न—हविष्य श्राद्धविषयोग्य व्रीहिशालियवगोधूममुद्गमाषा मुन्यन्न (नीवारकादि) कालशाकमहाशाकैलाशुण्ठीमरीचहिङ्गुगुडश र्कराकर्पूरसैन्धवसांभरलवणपनसनालिकेरकदलीबदरगव्यपयोदधिघृतपायस-मधुमांसप्रभृति वेदितव्यम्। हविष्यमित्यनेनैवायोग्यस्यापि द्रवमसूर-चणककुलित्थपुलाकनिष्पावराजमाषकूष्माण्डवृन्ताकद्वयनीलदधिपोदकी-वशाङ्कुरपिप्पलीवचाशतपुष्पीपर्ययिविङ्लवणमाहिषचामरक्षीरदधिघृत-पायसादीनां निवृत्तिः ॥ (विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्यस्मृति १।२४०)। वाग्भटाचार्य के अनुसार कोष्ठशोधन और कर्षण के लिए क्षीरसिद्ध यवान्न अल्पमात्रा में स्त्री को दिया जाता है, और तीक्ष्णोष्ण अन्न वर्ज्य किया जाता है—देयं यावकं स्तोकं कोष्ठशोधनकर्षणम्। पर्णे शरावे हस्ते वा भुञ्जीत ब्रह्मचारिणी ॥ (अष्टांगहृदय, शारीर १)। यावकं पयसा सिद्धमल्पं कर्षणार्थं मश्नीयात्। तीक्ष्णोष्णाम्लभक्ष्याणि च वर्जयेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, शारीर १)। अल्पमात्रा में भोजन देकर कर्षण करने का उद्देश्य यह मालूम होता है कि गर्भधारणा निश्चिति से हो जाय। माता की कृशता या पुष्टता का सम्बन्ध गर्भधारणा के साथ होता है, यह तत्त्व आधुनिक विज्ञान को मान्य हो गया है (३ अध्याय के ९ सूत्र का वक्तव्य देखो), परन्तु यह संबंध किस प्रकार से होता है, इसका ठीक ठीक ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है। गौ, भैंस इत्यादि जानवरों में मनुष्यों के समान मासिक आर्तवस्राव न होकर गर्भधारणा का समय होता है। इस अवस्था को रंताना या गरमाना (Rut Oestrus) कहते हैं। इस समय में मर्द दिखाने से उनमें गर्भधारणा प्रायः हो जाती है। जब नहीं होती तब फिर से वे गरमाती हैं। उस समय दो तीन दिन खाने पीने को कम देने के पश्चात् यदि मर्द दिखाया जाय तो वे निश्चिति से गर्भधारणा करती हैं, यह अनुभव की बात है। याज्ञवल्क्य स्मृति में क्षामता या कर्षण पुत्रोत्पादक माना गया है—एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत्। सुस्थ इन्दौ सकृत् पुत्रं लक्षण्यं जनयेत् पुमान् ॥ १।८० ॥ इस पर विज्ञानेश्वर लिखते हैं—क्षामता च तस्मिन् काले रजस्वलाव्रतेनैव भवति अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत्पत्त्यर्थमल्पाऽस्निग्धभोजनादिना। (मिताक्षरा)। उष्ण और तीक्ष्ण अन्न का निषेध इसलिए किया है कि उनसे गर्भाशय में रक्ताधिक्य (Congestion) होकर आर्तवस्राव बढ़ता है। इसके कारण गर्भ का अवस्थान गर्भाशय में नहीं हो सकता। शुद्धस्नाता—शुद्धा जीर्णशोणितापगमेन, अनन्तरं स्नाता (डल्हण)। स्त्री की शुद्धि स्नान पर नहीं है, आर्तवस्राव बंद होने पर है—नवे तन्त्रे च संजाते विगते जीर्णशोणिते। नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा ॥ अर्थात् शुद्धि से यहां गर्भाशयशुद्धि समझनी चाहिए। आर्तवस्राव बंद होने पर बाह्यदोष के दूर करने के लिए स्नान किया जाता है। अतः शुद्धस्नाता का अर्थ 'जीर्णशोणितापगमेनान्तःशुद्धां स्नानेन बहिःशुद्धां' होता है। चतुर्थेऽहनि—चौथे दिन का निर्देश इसलिए किया है कि प्रायः उस दिन स्राव बंद हो जाता है, परन्तु चौथे दिन भी रजोयुक्ता होने वाली बहुत सी स्त्रियां होती हैं। इसलिए स्मृतिग्रन्थों में प्रथम चार दिन समागम के लिए निषिद्ध बतलाये हैं—तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या। त्रयोदशी च, शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ (मनुस्मृति ३।४७)। षोडशर्तुर्निशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति १।७९)। रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला। (मनुस्मृति ५।६६)। साध्वाचारा न तावत्स्याद्रजो यावत्प्रवर्तते। रजोनिवृत्तौ गम्या स्त्री गृहकर्मणि चैव हि ॥ (पाराशरस्मृति)। स्नानं रजस्वलायास्तु चतुर्थेऽहनि शस्यते। गम्या निवृत्ते रजसि नानिवृत्ते कथंचन ॥ (आपस्तम्बस्मृति)। धर्मशास्त्र के अनुसार रजस्वला स्त्री सहवास के लिए जैसे अयोग्य होती है, वैसे ही गृहकर्म के लिए भी अयोग्य मानी गई है (ऊपर पराशरस्मृति का वचन और मनु का पांचवें अध्याय का वचन देखो), मनु के इस वचन पर विज्ञानेश्वर लिखते हैं—रजसि निःसरणादुपरते निवृत्ते रजस्वला स्त्री स्नानेन

स्वी दैवादिकर्मयोग्या भवति। स्पर्शनादिविषये पुनरनुवर्ततेऽपि सि चतुर्थेऽहनि स्नानाच्छुद्धा भवति। तदुक्तं वृद्धमनुना—तुर्थेऽहनि संशुद्धा भवति व्यावहारिकी' इति। तथा स्मृत्यन्तरम्—द्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला। दैवे कर्मणि पित्र्ये च ञ्चमेऽहनि शुद्ध्यति॥ इसका मतलब यह होता है कि रजस्वला स्त्री तीन दिन तक अस्पृश्य भी होती है। धर्मशास्त्र के इस आदेश के अनुसार भारतवर्ष में रजस्वला स्त्रियों को सब गृहकर्मों से दूर रखने का रिवाज है। पाश्चात्य देशों में भी प्राचीन काल में इस प्रकार का कुछ रिवाज था। इस रिवाज की जड़ खोजने की इच्छा कुछ पाश्चात्य वैज्ञानिकों को हुई और अन्वेषण करने पर उनको यह मालूम हुआ कि रजस्वला स्त्री के रक्त में रजोविष (Menstrual toxin) होता है जो स्वेद, दूध इत्यादि के द्वारा उत्सर्गित होता है। यदि रजस्वला स्त्री के हाथ में फूल दिया जाय तो वह फूल रजोनिवृत्त स्त्री की हथेली में दिये हुए फूल की अपेक्षा जल्दी मुरझाता है। स्त्री के दूध में भी यह विष निकलता है और बच्चे को कुछ तकलीफ देता है। प्रसूति के पश्चात् दूध पिलाने के काल में स्त्रियों में स्वाभाविक नष्टार्तव होता है। उसके अनेक कारणों में यह भी एक स्वाभाविक कारण हो सकता है। मार्शल अपनी पुस्तक में लिखते हैं—In support of this contention Macht and Lorbin have recently obtained evidence of the existence in the blood of a menstrual toxin, which exudes in the sweat and other secretions and has deleterious effect on living plant tissues. Thus they state that a flower held in the hand of a menstruating women will wither more rapidly than otherwise, owing to the action of this toxic substance which is not present excepting at this stage in the cycle. The menstrual toxin is believed to affect the milk in lactating women, children sucking at such times being liable to slight digestive disturbances *Introduction to sexual Physiology*. इससे यह स्पष्ट है कि रजस्वला स्त्री को गृहकर्मों से निवृत्त रखने के प्राचीन तत्त्व में कुछ तथ्य है और आजकल दूसरों की देखादेखी इस रिवाज को तोड़ने की जो प्रवृत्ति जारी हो रही है, वह प्रशंसनीय नहीं है। अहतवासा—नवीन अथवा स्वच्छ शुभ्र वस्त्र पहनी हुई—शुक्लमाल्याम्बरा। (अष्टांगसंग्रह)। समलंकृता—सुगन्धी द्रव्य, पुष्प, गहने इत्यादि से विभूषित—अलङ्कारः कटकादिः पुष्पादिर्वा। अलङ्क्रियते भूष्यते शरीरमेभिरिति कृत्वा गन्धमाल्यस्यापि अलङ्कारत्वम् (अरुणदत्त)। पूर्वं पश्येदृतुस्नाता—ऋतुस्नाता स्त्री में कामेच्छा अधिक होने के कारण वह पुरुष के साथ समागम करने के लिए बहुत उत्सुक होती है। उस समय जिस प्रकार के पुरुष को देखती है, या जिसके रूपगुणादि का चिन्तन करती है, उस प्रकार की सन्तान उत्पन्न कर सकती है, यदि उस चिन्तनातुर अवस्था में पुरुष-समागम करने से उसमें गर्भधारण हो जाय। न केवल चिन्तन परन्तु जिस प्रकार की संतान चाहती है, उस प्रकार के पुरुष का आहार-विहार सेवन करने के लिए चरक में लिखा है—या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां तां पुत्राशिषमनुनिशम्य तांस्ताञ्जनपदान् मनसाऽनुपरिक्रामयेत्। ततो या या येषां येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेषां जनपदानां मनुष्याणामाहारविहारोपचारपरिच्छदाननुविधत्स्वेति वाच्या स्यात्। (शारीर ८।१४)। अपनी विशेष इच्छानुसार संतान उत्पन्न होने के लिए तदनुरूप चिन्तन नितान्त आवश्यक है। यह चिन्तन तब ही सकता है, जब मन के सामने बुद्धीन्द्रियों द्वारा तदनुरूप सामग्री रक्खी जाय। बुद्धीन्द्रियों में से नेत्र के द्वारा मन पर किये हुए संस्कार का जितना स्थायी परिणाम होता है, उतना दूसरे इन्द्रिय के द्वारा कृत संस्कार का नहीं होता। इसलिए यहाँ दर्शन का ही निर्देश किया गया है। इस प्राधान्य के सिवा दर्शन यहाँ एक उपलक्षण के तौर पर प्रयुक्त हुआ है और उससे स्पर्शन, श्रवण इत्यादि का बोध होता है। ऋतुकाल में स्त्री के शरीर में आर्तव या बीज (Ovum) उत्पन्न होता है और उस समय स्त्री जिस प्रकार के चिन्तन में मग्न रहती है, उस प्रकार का परिणाम उसके बीज पर होकर उसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न होती है, यह 'पूर्वं पश्येत्' उस अध्यर्ध श्लोकार्ध का तात्पर्य है। भर्तारं दर्शयेदतः—उपाध्यायो वैद्यो वा इति शेषः। अर्थात् उपाध्याय या वैद्य घर के लोगों को इस प्रकार की सूचना दे कि स्नान होने के पश्चात् स्त्री को सर्वप्रथम पति का दर्शन करावे। पतिव्रता स्त्री के लिए पति परमदैवत होता है—दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः। स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः॥ (रामायण)। पति के अनुसार सन्तान होने में एक प्रकार का औचित्य है, इसलिए स्त्री को उसी का दर्शन प्रथम कराने के लिए लिखा है। परंतु केवल दर्शन से काम नहीं होता है, दर्शन के समय अनन्य मन होकर जब उसी का चिंतन किया जाता है, तब चिंतनानुरूप सन्तान हो सकती है—भर्तारं पश्येदनन्यमनाः। तदा हि यादृशमेव पश्यति चिन्तयति वा तादृशं प्रसूत इति। (अष्टांगसंग्रह)। अर्थात् जब पतिसदृश सन्तान की इच्छा हो, तब पतिदर्शन की औपचारिक विधि आवश्यक है—इच्छन्ती भर्तृसदृशं पुत्रं पश्येत् पुरः पतिम् (अष्टाङ्गहृदय)। पुत्र से यहाँ केवल सन्तान का ही अर्थ होता है—पुत्रशब्दोऽपत्यमात्रोपलक्षणार्थोऽत्र। (अरुणदत्त)। परंतु पति के समान पुत्र होने में सार्थकता नहीं है, उत्तम पुत्र होने में सार्थकता है; इसलिए चरकसंहिता में पतिदर्शन की विधि का निर्देश नहीं किया है और जिस प्रकार के पुत्र की इच्छा हो, उस प्रकार के रूपचरितादि का चिन्तन करने के लिए लिखा है (ऊपर 'या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत' इत्यादि देखो)—इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितांश्च तौ। चिन्तयेतां जनपदांस्तदाचारपरिच्छदौ॥ (अष्टांगहृदय)। ऊपर सूत्र पच्चीस में ऋतुमती स्त्री के विशेष प्रकार के आचारों से विशेष प्रकार के परिणाम बतलाये गये हैं। इनका आपस में कार्यकारण संबंध कहाँ तक सत्य या संभवनीय है, इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। अंध, बधिर, विकृतदृष्टि, चपल, उन्मत्त इत्यादि कई प्रकार के बालक जब दिखाई देते हैं तब इन विविध कार्यों के कुछ कारण जरूर होने चाहिएँ। आयुर्वेदानुसार इनकी उपपत्ति निम्न प्रकार की हो सकती है। मनुष्यों का बीज (शुक्राणु या आर्तव)

अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी उसमें शरीर के सब अंग-प्रत्यंग व्यवस्थित रूप से प्रतिरूपित होते हैं—मनुष्यबीजं हि प्रत्यङ्गबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृशप्रत्यङ्गसमुदायरूपपुरुषजनकम्। (चक्रपाणिदत्त)। इस बीज में शरीर के जिस अंग का भाग उपतप्त होता है, वह गर्भ का भाग विकृत हो जाता है—यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्। (चरक, शा० ३)। ऋतुकाल में तीव्र कटु शब्दों को अधिक सुनना, रोना इत्यादि से कुपित हुए दोषों के कारण यदि बीजगत कान, आंख इत्यादि के भाग उपतप्त हो जायँ तो सम्भव है कि उस बीज से उत्पन्न होने वाले बालक में इन अंगों की कुछ विकृति हो सके। अथवा हँसना, रोना, ज्यादा बकबक करना इत्यादि कर्मों के समय स्त्री के मन की जो स्थिति या विचारों की बनावट जिस प्रकार की होती है, उसी का परिणाम ऋतुकाल के समय पूर्ण पक्व हुए स्त्री के बीज पर होकर उसी के अनुसार उससे उत्पन्न हुए बच्चे की आकृति, प्रकृति और स्वभाव इत्यादि बनते हैं। माता पिता की मन स्थिति का परिणाम बालक पर होता है, यह बात सर्वसम्मत है—An impression upon the mother of any kind acts upon the child *Esoteric Anthropotogy* माता की मन स्थिति का बालक पर परिणाम होने के तीन काल होते हैं। (१) माता के जिस बीज से बालक उत्पन्न होता है, उस बीज के सुपक्व होने का काल अर्थात् ऋतुकाल। इस काल में स्त्री को भावी सन्तान सर्व प्रकार से उत्तम हो, इस दृष्टि से कैसे रहना चाहिए, इसका यहाँ वर्णन किया गया है। (२) गर्भधारणा से गर्भजन्म के समय तक का याने स्त्री का सगर्भावस्था का काल। इस काल के रहन-सहन का विचार ३ अध्याय के १६ वें सूत्र में और १० वें अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है। (३) जन्म के पश्चात् जब तक बालक माता का दूध पीता है, तब तक का काल। इस काल के रहन-सहन का विचार भी १०वें अध्याय के ३२वें सूत्र में किया गया है। इन तीनों कालों में से द्वितीय काल के रहन-सहन का परिणाम प्रथम और तृतीय की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है, इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु प्रथम काल की मन स्थिति का परिणाम असर हो सकता है और इसी सन्ततोत्पत्ति की दृष्टि से २५वें सूत्र का अर्थ समझना चाहिए। उपर्युक्त कार्यों में से एक आध काम करने पर बालक उस कर्म के लिए बतलाये हुए परिणाम से पीड़ित होना चाहिए, यह कोई आवश्यक नहीं है क्योंकि बालक की आकृति और प्रकृति की बनावट के असंख्य कारण होते हैं, जिनका अभी तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं हुआ है।

ततो विधानं पुत्रीयमुपाध्यायः समाचरेत्।
कर्मान्ते च क्रमं ह्येनमारभेत विचक्षणः ॥ २८ ॥

(पुत्रीयविधि—) पश्चात् उपाध्याय पुत्रीय विधान का सत्कार करे। और (पुत्रीय) कर्म के अन्त में बुद्धिमान् (पति) इस (निम्नलिखित) क्रम को प्रारम्भ करे ॥ २८ ॥

वक्तव्य—ततः—स्त्री का स्नान और पतिदर्शन होने के पश्चात्। स्त्री के साथ उस रोज पुरुष का उत्साहनपूर्वक स्नान, शुभ्रवस्त्रपरिधान यह कर्म होना चाहिए—चतुर्थेऽहन्येनामुत्साद्य सशिरस्कं स्नापयित्वा शुक्लानि वासांस्याच्छादयेत् पुरुषं च। (चरक)। पुत्रीयविधानम्—पुत्रकामेष्टि यज्ञ। इसका वर्णन चरक शारीर के ८ वें अध्याय में निम्न प्रकार से किया है—तत ऋत्विक् प्रागुत्तरे दिश्यगारस्य प्राक्प्रवणमुदक्प्रवणं वा प्रदेशमभिसमीक्ष्य गोमयोदकाभ्यां स्थण्डिलमुपलिप्य प्रोक्ष्य चोदकेन वेदीमस्मिन् स्थापयेत्। तां पश्चिमेनाहतवस्त्रसञ्चये श्वेतार्षभे वाऽप्यजिने उपविशेद् ब्राह्मणप्रयुक्तः, राजन्यप्रयुक्तस्तु वैयाघ्रे चर्मण्यानडुहे वा, वैश्यप्रयुक्तो रौरवे बास्ते वा। तत्रोपविष्टः पालाशीभिरैङ्गुदीभिरौदुम्बरीभिर्माधूकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय कुशैः परिस्तीर्य परिधिभिः परिधाय लाजैः शुक्लाभिश्च गन्धवतीभिः सुमनोभिरुपकिरेत्। तत्र प्रणीयोदपात्रं पवित्रपूतमुपसंस्कृत्य सर्पिराज्यार्थं यथोक्तवर्णानाजानेयादीन् समन्ततः स्थापयेत्॥ ततः पुत्रकामा पश्चिमतोऽग्नेर्दक्षिणतो ब्राह्मणमुपविश्यान्वालभेत सह भर्त्रा यथेष्टं पुत्रमाशासाना। ततस्तस्या आशासानाया ऋत्विक् प्रजापतिमभिनिर्दिश्य योनौ तस्याः कामपरिपूरणार्थं काम्यामिष्टिं निर्वर्तयेद्विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्यनयर्चा। ततश्चैवाज्येन स्थालीपाकमभिघार्य त्रिर्जुहुयाद्यथाम्नायम्, मन्त्रोपमन्त्रितमुदपात्रं तस्यै दद्यात् सर्वोदकार्थान् कुरुष्वेति। ततः समाप्ते कर्मणि पूर्वं दक्षिणपादमभिहरन्ती प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत् सह भर्त्रा। ततो ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वाऽऽज्यशेषं प्राश्नीयात् पूर्वं पुमान् पश्चात् स्त्री, न चोच्छिष्टमवशेषयेत्॥ यह पुत्रीय होम केवल त्रैवर्णिकों के लिए है; शूद्रों के लिए केवल नमस्कार होता है—शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्यात् (देवाग्निद्विजगुरुतपस्विसिद्धेभ्यः)। (चरक, शारीर० ८)। यह पुत्रीय विधि केवल पुत्र के लिए नहीं, दुहिता के लिए भी हो सकती है। यहाँ विधान में पुत्रकामा शब्द का जो प्रयोग किया गया है, उससे अपत्य अभिप्रेत है। समाचरेत्—सत्कारमाचरेत्। कर्मान्ते—पुत्रकामेष्टि यज्ञ समाप्त होने पर। विचक्षणः—भर्ता जो गर्भाधान के आहाराचार विहार इत्यादि के सम्बन्ध में काफी परिचित हो।

ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहारां नारीमुपेयाद्रात्रौ सामादिभिरभिविश्वास्य; विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकामः ॥२९॥

तेषूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च।
प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै ॥३०॥

अतः परं पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्यां च स्त्रीकामः; त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्याः ॥३१॥

(पुत्रेष्टियज्ञ के पश्चात् कर्म—) फिर (पुत्रेष्टि यज्ञ के दिन) दो पहर में मास तक ब्रह्मचारी, घृतस्निग्ध पुरुष घृत और दूध के साथ भात का भोजन करके मास तक ब्रह्मचारिणी, तैलस्निग्ध, (दो पहर में) तैलमाषभूयिष्ठ आहार सेवन की हुई स्त्री को रात में अनुनयादि से आश्वासन देकर 'पुत्रार्थी (पुरुष) चौथी, छठी, आठवीं, दसवीं और बारहवीं (रात) गमन करे, इस नियम का मन में विचार कर (फिर उससे) सहवास करे ॥२९॥ इन दिवसों में प्रजा की आयु, आरोग्य, सौन्दर्य, ऐश्वर्य और बल

अधिकाधिक समझना चाहिए ॥३०॥ इसके सिवाय पांचवीं, सातवीं, नौवीं और ग्यारहवीं रात्रि में कन्यार्थी (गमन करे); तेरहवीं प्रभृति निंद्य (होती हैं) ॥३१॥

वक्तव्य—मासम्—पुत्रेष्टि कर्म के पूर्व एक महीना भर। इससे यह मालूम होता है कि पुत्रेष्टि कर्म तथा यहाँ वर्णन किये हुए खाद्यपेयादि नियमों का परिपालन ऋतुमती की चर्या के समान स्त्री में गर्भधारणा होने के समय तक प्रतिमास करने की विधियां हैं। ब्रह्मचारी—यहाँ विवाहित दम्पती का ब्रह्मचर्य अभिप्रेत है, अर्थात् ऋतुकाल में निंद्य दिन छोड़कर बाकी सब दिनों में सहवास करना ब्रह्मचर्य कहलाता है—निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ (मनुस्मृति)। षोडशर्तु निशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत्॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति)। युग्मास्विति बहुवचनं समुच्चयार्थम्। अतश्चैकस्मिन्नपि ऋतौ अप्रतिषिद्धासु सर्वासु रात्रिषु गच्छेत्। एवं गच्छन्ब्रह्मचार्येव भवति॥ (विज्ञानेश्वर)। तीसरे अध्याय के ५ वें सूत्र के वक्तव्य में पुरुष का ब्रह्मचर्य भी देखो। स्त्री के सम्बन्ध में भी ब्रह्मचारिणी का यही अर्थ करना है। सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्याम्—पुरुष शरीर पर घृत का मर्दन करे और घृतक्षीरप्रधान भोजन सेवन करे, क्योंकि 'शुक्रं सौम्यं' होने के कारण शुक्रपोषण के लिए घृतक्षीरादि के समान सौम्य पदार्थ उसको प्रयुक्त करने चाहिएँ। तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहाराम्—स्त्री शरीर पर तैल का मर्दन करे और तैल तथा उड़द जिसमें अधिक हो उस प्रकार का भोजन सेवन करे क्योंकि 'आर्तवमाग्नेयम्' होने के कारण उसके पोषण के लिए तैल माषादि के समान आग्नेय पदार्थ स्त्री के लिए प्रयुक्त करने चाहिएँ। रात्रौ—रात्रिग्रहणात् दिवसप्रतिषेधः॥ (विज्ञानेश्वर)। आयुर्वेदानुसार मैथुन के लिए पूर्वरात्र विहित होती है और मध्यरात्र, प्रभात, संध्याकाल, मध्यदिन निषिद्ध होते हैं—सन्ध्यापर्वस्वगम्यां च नोपेयात् प्रमदां नरः। गोसर्गे चार्धरात्रे च तथा मध्यन्दिनेषु च॥ (सुश्रुत)। सामादिभिरभिविश्वास्य—स्त्री के साथ मैथुन करने के पूर्व उसको सामादि से उभारना, प्रेम से विश्वास उत्पन्न करना, लज्जा दूर करना इत्यादि कर्म बहुत आवश्यक होते हैं। विशेषतः शुरू शुरू में जब स्त्री और पुरुष मिलते हैं, तब सामादि की बड़ी जरूरत होती है स्त्री में प्रेम उत्पन्न होने के पूर्व और लज्जा दूर होने के पूर्व उसके साथ मैथुन करना एक प्रकार का बलात्कार ही समझना चाहिये। सामादि में कामोत्तेजक परिहासानुरागात्मक बातें करना; गाल, स्तन, चूतड़, गुह्यांग इत्यादि पर हाथ फेरना या इन स्थानों को गुदगुदाना, चुम्बन करना, आलिङ्गन करना, खुशबूदार तेलों का, पुष्पों का, उबटनों का प्रयोग, ताम्बूल सेवन इत्यादि कायिक और मानसिक अनुनयात्मक कर्मों का समावेश होता है—रत्यर्थं सव्येन बाहुनानुद्धतः परिष्वङ्गः। पूर्वप्रकरणसम्बद्धैः परिहासानुरागैर्वचोभिरनुवृत्तिः। गूढाश्लीलानां च वस्तूनां समस्यया परिभाषणम्। सनृत्तम्, अनृत्तं वा गीतं वादित्रम्। कलासु संकथाः। विजने च यथोक्तैरालिङ्गनादिभिरेनामुद्धर्षयेत्। ततो नीवीविश्लेषादियथोक्तमुपक्रमेत्। कुसुमसधर्माणो हि योषितः सुकुमारोपक्रमाः। तास्त्वनधिगतविश्वासैः प्रसभमुपक्रम्यमाणाः सम्प्रयोगद्वेषिण्यो भवन्ति। तस्मात् साम्नैवोपचरेत्॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। किंवा छान्दोग्योपनिषद् में मैथुन के हिङ्कारादि जो वर्णन किये हैं, उनके द्वारा स्त्री को आश्वासित करके—उपमन्त्रयते स हिंकारः। ज्ञपयते स प्रस्तावः। स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः। प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः। कालं गच्छति तन्निधनम्। पारं गच्छति तन्निधनम्। एतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्॥ (छांदोग्योपनिषद् २।१३)। विकल्प्यैवम्—पुत्रार्थी अमुक दिनों में सहवास करे, कन्यार्थी अमुक दिनों में सहवास करे; इस वैद्यकोक्त या धर्मशास्त्रोक्त (युग्मासु पुत्रा जायन्ते, स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु। तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥ मनुस्मृति) नियम का स्मरण रखकर उसके अनुसार अपने मन का निश्चय कर। एषु दिवसेषु—दिवस से यहाँ रात्रि अभिप्रेत है, अर्थात् इन दिवसों के रात में स्त्री से सहवास करने पर उत्पन्न हुए प्रजा का आयुरारोग्य इत्यादि। उत्तरोत्तर—चौथी रात में सहवास करने पर उत्पन्न हुए पुत्र के आयुरारोग्यादि से छठी रात में सहवास करने से उत्पन्न हुए पुत्र का आयुरारोग्य अधिक होता है, इस तरह अधिकाधिक होते होते बारहवीं रात में सहवास से उत्पन्न पुत्र का आयुरारोग्य सब से अधिक होता है। कन्या के संबंध में भी यही नियम होता है। प्रजासौभाग्यम्—प्रजायाः कन्यायाः पुत्रस्य वा सौभाग्यं सौन्दर्यम्। प्रजा का संबंध आयुरारोग्यादि सब के साथ है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—तासूत्तरोत्तरमायुरारोग्यैश्वर्यसौभाग्यबलवर्णेन्द्रियसम्पदपत्यस्य भवति॥ अतः परं तूत्तरोत्तरमेवायुरादीनां ह्रासः॥ स्त्रीकामः—कन्या और पुत्र की उत्पत्ति के संबंध में आगे तीसरे अध्याय में ९ वें सूत्र में विवरण किया गया है। त्रयोदशीप्रभृतयः—तेरहवीं तथा आदि की तीन रात्रियां सुश्रुतमतानुसार निन्दित हैं। मनु के अनुसार प्रथम चार, ग्यारहवीं और तेरहवीं निंदित हैं—तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या। त्रयोदशी च, शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥ (मनुस्मृति)। अष्टांगहृदयानुसार प्रथम तीन और ग्यारहवीं निंद्य हैं—पूर्वास्तिस्रश्च निन्दिताः। एकादशी च॥ अष्टांगसंग्रह के अनुसार प्रथम तीन, एकादशी और त्रयोदशी निंद्य हैं—एकादशीत्रयोदश्योस्तु नपुंसकं स्यात्। याज्ञवल्क्य के अनुसार केवल प्रथम चार निंद्य और बाकी दिन अमावास्या, पौर्णिमा, चतुर्दशी और अष्टमी को छोड़कर प्रशस्त होते हैं—पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत्। (याज्ञवल्क्यस्मृति)। इस तरह धर्मशास्त्र और वैद्यक के विविध ग्रंथकारों में कई मतभेद मिलते हैं।

तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनायुष्यं पुंसां भवति, यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यते; द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागृहे वा; तृतीयेऽप्येवमसंपूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति; चतुर्थे तु संपूर्णाङ्गो दीर्घायुश्च भवति। न च प्रवर्तमाने रक्ते बीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति यथा नद्यां प्रतिस्रोतः प्लाविद्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्तते नोर्ध्वं गच्छति तद्वदेव द्रष्टव्यम्। तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत्। अतः परं मासादुपेयात्॥ ३२॥

(प्रथम त्रिरात्र में स्त्रीसहवास का फल—) इन

निन्द्य रात्रियों में से (तत्र) प्रथम दिवस में ऋतुमती के साथ पुरुषों को मैथुनकर्म आयुष्यनाशक होता है, और उस दिन के मैथुन में जो गर्भ स्थापित होता है, वह (नौ महीने के पश्चात्) प्रसव के समय (प्राणों से) विमुक्त हो जाता है (मर जाता है)। दूसरे दिन में भी इसी प्रकार होता है अथवा सूतिकागृह में (बालक मर जाता है)। तीसरे दिन में भी ऐसा ही होता है, किंवा असंपूर्ण अंगयुक्त या अल्पायु होता है। चतुर्थ दिन में तो सर्वांगसंपूर्ण और दीर्घायु होता है। (नीचे की ओर) बहते हुए आर्तवशोणित में प्रविष्ट हुआ (शुक्रगत) बीज गुणकारक नहीं होता, जैसे नदी में प्रवाह के विरुद्ध फेंका हुआ तैरने वाला (लकड़ी कागज के समान हलका) पदार्थ वापस आता है, ऊपर नहीं जाता वैसे ही (ऋतुमती स्त्री के समागम की घटना में) समझना चाहिए। इसलिए (ऋतुमती के) नियमों का आचरण करने वाली स्त्री को (समागम के लिए) त्रिरात्र वर्ज्य करे। उसके बाद महीना भर (यथोचित रात्रियों में) गमन करे ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—ऋतुमत्यां मैथुनगमनम्—रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन करने का निषेध वैद्यक तथा धर्मशास्त्र में किया गया है, यहाँ तक कि चौथे दिन भी यदि रजःस्राव होता हो तो उस दिन सहवास का निषेध किया गया है—रजस्वलां प्राप्तवतो नरस्यानियतात्मनः। दृष्ट्यायुस्तेजसां हानिरधर्मश्च ततो भवेत् ॥ (सुश्रुत, चि० २४)। रजस्वलामुपसेवमानस्य प्रकुपिता दोषा मेढ्रमागम्य श्वयथुं जनयन्ति तमुपदंशमित्याचक्षते। (सुश्रुत, निदान)। रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीमुखानाम्। (चरक, सूत्र २५)। दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम्। ईदृशीं प्रमदां मोहाद्यो गच्छेत् कामहर्षतः। ध्वजभङ्गः प्रवर्तते। (चरक, चिकित्सा ३०)। वाग्भट के अनुसार रजस्वलागमन गुह्यरोगों का एक कारण है—दोषाध्युषितसंकीर्णमलिनारजःपथाम् ॥ (अष्टांगहृदय, उत्तर ३३)। रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः। प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ (मनुस्मृति ४।४१)। इन वचनों में रजस्वलागमन से होने वाली आपत्तियों का जो वर्णन मिलता है, वह सोलहों आने वास्तविक न होकर रजस्वलागमन निषेध का महत्त्वसूचक है। तथापि इससे स्त्रियों में श्वेतप्रदर और पुरुषों में मूत्रप्रसेकशोथ (प्रमेह) उत्पन्न होता है, इसको आधुनिक चिकित्सक भी मानते हैं। आधीयते गर्भ—आर्तवस्राव के दिनों में समागम करने से गर्भधारणा होती है, इसका स्पष्ट निर्देश इस वचन में है। इस काल में समागम करने का रिवाज संसार भर में कहीं नहीं है। आर्तवस्राव समागम की दृष्टि से भयसूचक चिह्न (Danger signal) माना जाता है। परन्तु विरही कामातुर बहुत काल के बाद मिलने के समय इस लाल झंडे की परवाह न करके समागम करते हैं—कामातुराणां न भयं न लज्जा। कलकत्ते की एक स्त्री के इस प्रकार के समागम से चार सन्तान हुए थे और ये सब तन्दुरुस्त थे। इसलिए यहाँ पर आगे 'प्रतिस्रोतः प्लावि' द्रव्य का जो दृष्टान्त दिया है, वह ऐकान्तिक नहीं मालूम पड़ता। इसका कारण यह है कि नदीप्रवाह के विरुद्ध फेंका हुआ कागज या लकड़ी का टुकड़ा निर्जीव और गतिहीन होने के कारण ऊपर कदापि नहीं जा सकता, परन्तु आर्तवस्राव के विरुद्ध योनि में उत्सर्गित शुक्र का शुक्राणु सजीव और चञ्चल होने के कारण ऊपर गर्भाशय में जा सकता है। ऐसी अवस्था में आर्तव के विरुद्ध योनि में प्रविष्ट हुए शुक्र की आमतौर से क्या गति हो सकती है उसको स्पष्ट करना यही प्लाविद्रव्यदृष्टान्त का उद्देश्य मालूम पड़ता है। प्रसवमानो विमुच्यते—प्राणैः इति शेषः। प्रसव होने की स्थिति में, गर्भाशय से योनिद्वार के बाहर आने के पूर्व अर्थात् जन्म के समय बालक मृतजात (Still born) होता है। द्वितीयेऽप्येवम्—पुरुष की आयु का नाश और बालक का मृतावस्था में जन्म ये दोनों घटनाएँ दूसरे दिन समागम करने से होती हैं। सूतिकागृहे वा—सूतिकागृह में जब तक माता का निवास होता है, तब तक। अर्थात् दस रोज के भीतर अथवा अधिक से अधिक डेढ़ से तीन महीनों तक, क्योंकि इतनी अवधि तक माता सूतिका कहलाती है—स साध्यर्धमासमुपसंस्कृता क्रमेण विमुक्ताहारविहारयन्त्रणा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्। पुनरार्तवदर्शनादित्येके। (अष्टांगसंग्रह)।

तृतीयेऽप्येवम्—पुरुष की आयु का नाश, मृतावस्था में जन्म ये दोनों, तथा सूतिकागृह में मृत्यु ये तीनों घटनाएँ तीसरे दिन के समागम से होती हैं। असंपूर्णाङ्ग—जिसके शरीर की यथोचित परवरिश नहीं हुई है ऐसा अर्थात् दुर्बल, किंवा जिसके अङ्ग परिपूर्ण नहीं हुए हैं अर्थात् सहज व्यङ्ग (Congenital malformations) युक्त (प्रथम खण्ड पृष्ठ १६०); किंवा अस्वाभाविक विकृत आकार का (Monsters)। आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सकों का कथन है कि ऋतुकाल में समागम करने से इस प्रकार के विकृताकारी गर्भ उत्पन्न होने की अधिक संभावना होती है। गुणकरम्—(१) गर्भाधानकरम्। क्योंकि शुक्र का मुख्य गुण या कर्म गर्भोत्पत्ति है—गर्भोत्पादश्च धातूनां श्रेष्ठं कर्म क्रमात् स्मृतम्। (अष्टाङ्गहृदय, सूत्र ११)। (२) किंवा सुख देना, कुल विस्तार करना, कुल की कीर्ति बढ़ाना, पिता के तीनों ऋणों से मुक्त होना ये अपत्य के गुण हैं—प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो विपुलं कुलम्। यशो लोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिताः ॥ (चरक, चिकित्सा २)। आगे भी ३१वें श्लोक का वक्तव्य देखो। ये गुण जिस बीज से उत्पन्न हुए बालक में होते हैं, वह बीज गुणकर कहलाता है। आर्तवकाल के प्रथम तीन दिनों में बोया हुआ बीज या तो अङ्कुरित नहीं होता, या अङ्कुरित होने पर उत्पन्न हुआ बालक अल्पायु होने के कारण पिता के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए लिखा है—न च गुणकरं भवति। गुणकर बीज का वर्णन आगे ३१ वें श्लोक में किया है—स जातो रूपवान् सत्त्ववांश्चिरायुश्च। भवत्यनृणस्य मोक्षाय सत्पुत्रः पुत्रिणो हितः ॥ मासात्—मासादिति 'ऊर्ध्वम्' इति शेषः। अर्वाग्गमने तु गर्भद्वारविघट्टनेन स्थितमपि गर्भं च्यावयति। (डल्हण)। यदि यही अर्थ लिया जाय तो 'अतः परं मासादुपेयात्' इस वाक्य का तात्पर्य इस प्रकार होता है—ऋतुकाल के प्रथम तीन दिन छोड़कर उसके पश्चात् उचित रात्रियों में गमन करे और इसके पश्चात् स्त्री रजस्वला होने के बाद फिर गमन करे। दोनों का तात्पर्य एक ही है, परन्तु पूर्वापर संदर्भ से ऊपर अनुवाद में दिया हुआ अर्थ अधिक प्रशस्त

मालूम होता है। वैद्यक या धर्मशास्त्र के अनुसार महीने में सहवास कितनी बार करना चाहिए—कुछ लोगों का कथन है कि ऋतुकाल में पुत्र या कन्या की इच्छा के अनुसार सम या विषम रात्रि में एक ही बार सहवास करना चाहिए। परन्तु वैद्यक में या धर्मशास्त्र में इस प्रकार का नियम नहीं है। कन्या की इच्छा करने वाले के लिए 'पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्यांच'; वैसे ही पुत्र की इच्छा करने वाले को 'चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां च' इस तरह दिन बतलाये गये हैं। वाक्यों में 'च' का प्रयोग किया गया है, जिससे इन सम या विषम रात्रियों का समूह प्रदर्शित होता है। इसके सिवाय आयुर्वेद में ही उत्तम सन्तति और यावदिच्छ स्त्रीगमन के लिए वाजीकरण वर्णन किया गया है—तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चापत्यसंश्रितान्। वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामसुखानि च ॥ पुमान् यथा जातबलो यावदिच्छं स्त्रियो व्रजेत्। यथा चापत्यवान् सद्यो भवेत्तदुपदेक्ष्यते ॥ (चरक)। इससे यह स्पष्ट है कि महीने में एक बार गमन यद्यपि उत्तम हो सकता है, तथापि आयुर्वेद में अभिप्रेत नहीं है। धर्मशास्त्र के अनुसार प्रथम चार रात्रियां, ग्यारहवीं रात्रि और तेरहवीं रात्रि को छोड़कर तथा महीने भर में अष्टमी, चतुर्दशी, पौर्णिमा और अमावास्या छोड़कर पूरा महीना भर सहवास कर सकते हैं—ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या। त्रयोदशी च, शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः॥ (मनुस्मृति)। षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् ॥ यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति)। पर्वाण्यमावास्यादीनि वक्ष्यन्ते। तानि वर्जयित्वा भार्याप्रीतिव्रतं यस्य स तद्व्रतोऽन्यत्रावप्युपेयात् ॥ (कुल्लूकभट्ट)। युग्मास्विति बहुवचनं समुच्चयार्थम्। अतश्चैकस्मिन्नपि ऋतौ अप्रतिषिद्धासु युग्मासु सर्वासु रात्रिषु गच्छेत्। (विज्ञानेश्वर)। ऋतावुपेयादनृतौ च पर्ववर्जम्। ऋतावुपेयात् सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम्। (गौतमसूत्र)। इससे धर्मशास्त्रानुसार भी महीने में केवल एक दिन सहवास करना इष्ट नहीं मालूम होता है। इसलिए 'त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्याः' इसका अर्थ तेरहवीं रात्रि के पश्चात् सब रात्रियां निंद्य हैं, यह अर्थ भी अयुक्त मालूम पड़ता है।

लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहःसु लक्ष्मणावटशुङ्गसहदेवाविश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेणाभिषुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै, न च तान्निष्ठीवेत् ॥ ३२ ॥

(पुंसवनविधि—) और इन दिनों में गर्भ प्राप्त हुई, पुत्र की इच्छा रखने वाली स्त्री के दाहिने नथने में लक्ष्मणा, वटशुङ्ग (वट के नवीन अङ्कुर), सहदेवा (पीतबला), विश्वदेवा (श्वेतबला) इनमें से किसी एक को गौ के दूध के साथ कुचलकर (उसके) तीन या चार बूँद (स्त्री स्वयं) प्रदान करे; उन्हें थूके नहीं ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहःसु—पूर्व तीन चार सूत्रों में स्त्रीसंग के लिए निंद्य तथा प्रशस्त दिनों का विचार करके अन्त में प्रशस्त दिनों में स्त्रीसंग करे, इस प्रकार का विधान है। उसी के सिलसिले में यह शब्द प्रयोग है; और 'च' के प्रयोग से यह बात बिलकुल स्पष्ट होती है। इसलिए 'उपर्युक्त बतलाये हुए प्रशस्त दिनों में पुरुषसमागम करने पर जिस में गर्भधारणा हुई है, ऐसी स्त्री के' यह इस शब्दप्रयोग का अर्थ है। पुंसवनविधि की कालमर्यादा बतलाने के लिए इनका प्रयोग नहीं है। लक्ष्मणा—पुत्रकाकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छितच्छदा। लक्ष्मणा पुत्रजननी वस्तगन्धाकृतिर्भवेत् ॥ अभिषुत्य—गोदुग्ध के साथ कुचलकर उसका कल्क बनावे फिर वस्त्र में लेकर उसको खूब निचोड़ कर रस के बूँद नासा में छोड़ दे। पुत्रकामायै—यदि कन्यार्थी हो तो वाम नासापुट में उनके बूंद डाले। न निष्ठीवेत्—नासा में बूँद छोड़ने पर वे गले में आने से कुछ खराश या बेचैनी मालूम होती है। उस समय उनको थूकना न चाहिए, निगलना चाहिए। दद्यात्—बूँद छोड़ने का काम पति या वैद्य या स्त्री या घर के कोई अन्य लोक करें, इसके सम्बन्ध में यहां कुछ भी लिखा नहीं है। चरक और वाग्भट में इस काम के लिए 'स्वयं' शब्द का प्रयोग किया है। इस पर अरुणदत्त लिखते हैं—क्षीरेण कल्कीकृत्य स्वयं स्त्री दक्षिणे नासापुटे पुत्रार्थं सिञ्चेत् ॥

इस सूत्र में पुंसवन कर्म का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यह विधि गर्भ को पुरुष बनाने के लिए की जाती है—पुंसवनमिति पुंस्त्वकारकं कर्म। (चक्रपाणिदत्त) पुमांल्लब्धो जायते येन तत् पुंसवनम्। शिश्न, भग इत्यादि लिंगदर्शक बाह्यांगों की और वृषण तथा बीजकोष (Ovary) इन लिंगपोषक अन्तरंगों की उत्पत्ति का सूत्रपात होने के पूर्व यह विधि की जाती है। क्योंकि इन अंगों की उत्पत्ति का सूत्रपात होने के पश्चात् लिंगपरिवर्तन करना कठिन है—तयोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन सम्यक्। तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्। (चरक, शा० ८)। प्राग्व्यक्तीभावादिति यावन्न स्त्रीत्वं पुंस्त्वं वा गर्भस्य व्यक्तं भवति तावदेव तद्वक्ष्यमाणं कर्म लिङ्गपरिवृत्तिकरं भवति। (चक्रपाणिदत्त)। लब्धगर्भां चैनां विदित्वा प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुष्ये पुंसवनानि प्रयुञ्जीत। (अष्टांगसंग्रह)। गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्। (अष्टांगहृदय)। यह अव्यक्तावस्था (Indifferent stage) आधुनिक गर्भविज्ञान (Embryology) के अनुसार अधिक से अधिक छठे सप्ताह तक होती है—

This stage (which belongs to the middle of second month) of formation is often termed the indifferent stage, but it is quite possible to distinguish the sex even now. Nevertheless, although there are sexual differences in small details at this stage, and even earlier, the fundamental arrangement of these simple parts is the same for both sexes at this time, and in this way may be said to be indifferent. *Manual of Embryology by J. E. Frazer.*

आयुर्वेद में अव्यक्त और व्यक्त अवस्था की कालमर्यादा इस प्रकार वर्णन की गई है—व्यक्तिस्तु द्वितीये मासे भवति।

१ अस्याग्रे 'वामे दुहितृकामायै' इति क्वचिदधिकः पाठः।

यदुक्तम्—'द्वितीये मासे घन सम्पद्यते इत्यादि। किंवा तृतीये मासे अङ्गप्रत्यङ्गाभिव्यक्तेर्व्यक्तीभावो ज्ञेय, द्वितीये तु मासे अन्यथा दिरूपे। गर्भे प्रत्यङ्गव्यक्तीभावो न व्यक्त। (चक्रपाणिदत्त)। अव्यक्त प्रथमे मासि सप्ताहात् कललो भवेत्। गर्भं, पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्ते प्रयोजयेत्। (अष्टाङ्गहृदय)। सप्ताहादन तर यावन्मासस्तावदव्यक्ताकृति कलली भवेत्। अत्र कललीभूते यावत् स्त्रीपुरुषाद्युपलिलक्षणा व्यक्तिर्न भवति तावद् व्यक्ते प्राक् प्रथमे मासि पुंसवनादि प्रयोजयेत्। (अरुणदत्त)। इससे यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेदोक्त अव्यक्तावस्था की कालमर्यादा पाश्चात्य कालमर्यादा के साथ ठीक ठीक मिलती है, और इस अवस्था में पुंसवन की विधि करने के लिए जो लिखा है, वह भी युक्तियुक्त है। पुंसवन दो प्रकार से किया जाता है। (१) नस्य—लक्ष्मणादि का क्षीरयुक्त नस्य यहां वर्णन किया गया है। इसके सिवाय निम्न नस्य भी प्रयुक्त होते हैं—तथा पुष्योद्धृताया श्वेतबृहत्या मूलकल्कादरस नावयेत्। तद्वत् तलपत्र कुमुदपत्र लक्ष्मणामूल वटशुङ्गानि चाष्टौ च नावयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। पुष्येणैव च शालिपिष्टस्य पच्यमानस्योष्मा णमुपाघ्राय तस्यैव च पिष्टस्योदकससृष्टस्य रस देहल्यामुप निधाय दक्षिणे नासापुटे स्वयमासिञ्चेत् पिचुना॥ (चरक)। (२) पान—इसमें विविध द्रव्यों का दूध दही इत्यादि के साथ सेवन किया जाता है—गोष्ठे जातस्य न्यग्रोधस्य प्रागुत्त राभ्या शाखाभ्यां शुङ्गेऽनुपहते आदाय द्वाभ्यां धान्यमाषाभ्यां सम्पदुपेताभ्यां गौरसर्षपाभ्यां वा सह दध्नि प्रक्षिप्य पुष्येण पिबेत्। तथैवापरान् जीवकर्षभकापामार्गसहचरवल्कांश्च युगपदेकैकशो यथेष्ट वाऽप्युपसस्कृत्य पयसा। कुड्यकीटं मत्स्यकं वोदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुष्येण पिबेत्, तथा कनकमयान् राजतानायसांश्च पुरुषकानग्नि वर्णानणुप्रमाणान् दध्नि पयस्युदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिबेदनवशे षत पुष्येण॥ (चरक, शा० ८)। पुंसवन के नस्यपानादि प्रयोग की अवधि के संबंध में कुछ मतभेद होता है। कई आचार्य कहते हैं कि ऋतुकाल के बारह दिनों में करना चाहिए। कई कहते हैं कि इनमें भी केवल सम दिनों में करना चाहिए। कई कहते हैं कि प्रतिदिन करना चाहिए। कई कहते है कि दो महीनों तक बराबर करते रहना चाहिए—द्वादशरात्रमित्यन्ये। तत्रापि युग्मदिनेष्विति केचित्। प्रत्यहमिति अपरे॥ (अष्टांगसंग्रह)। तेन पुंसवनार्थं (पुंसवन) कर्म मासद्वय यावत्। (चक्रपाणिदत्त)। इन लक्ष्मणादि ओषधियों का नस्यपान ऋतुकाल में गर्भस्थापक और आगे बढ़ने पर स्थितगर्भ में पुंस्त्वजनक होता है—लब्धगर्भायाश्च लक्ष्मणादिनस्यदान गर्भसंस्थापनार्थम्। मासत्रयाभ्यन्तरे पुत्राप त्यजननार्थं नस्यदानम्॥ (डल्हण)। पुंसवन की विधि प्रथम बार गर्भधारणा होने पर की जाती है, प्रत्येक बार नहीं की जाती है—पुंसवनाख्य कर्म गर्भचलनात् पूर्वम्। एते च पुंसवनसीमन्तोन्नयने क्षेत्रसंस्कारकर्मत्वात् सकृदेव कार्ये, न प्रतिगर्भम्। यथाह देवलः—सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता। य य गर्भं प्रसूयेत स सर्वः संस्कृतो भवेत्॥ (विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्यस्मृति १।११)। पुंसवन से गर्भ के लिंग का परिवर्तन हो सकता है या नहीं, इस विषय का विवरण तीसरे अध्याय के ६ वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है।

ध्रुव चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा॥ ३५॥

(गर्भोत्पत्ति की सामग्री-) जैसे ऋतु, क्षेत्र, जल और बीज इन चारों के सान्निध्य से अंकुर निश्चिति से (विधि-पूर्वक उत्पन्न) होता है, वैसे ही ऋतु, क्षेत्र, जल और बीज इन चारों की सन्निधि से गर्भ निश्चिति से विधिपूर्वक (उत्पन्न) होता है॥३५॥

वक्तव्य—इस श्लोक में गर्भ तथा अंकुर उत्पन्न होने के लिए जो सामग्री आवश्यक होती है, उसका वर्णन किया है। गर्भोत्पत्ति की घटना समझाने के लिए इस श्लोक में दिया हुआ अंकुर का दृष्टान्त बहुत ही सुन्दर, सृष्टि के सूक्ष्म निरीक्षण का साक्ष्य देने वाला तथा सुप्रजानिर्माण शास्त्र की दृष्टि से उद्बोधक है। इस श्लोक में प्रयुक्त हुआ प्रत्येक शब्द गर्भ तथा अंकुर दोनों के लिए उपयुक्त है, केवल सान्निध्य शब्द गर्भ के लिए और सामग्र्य शब्द अंकुर के लि[ए] हैं, परन्तु ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। ऋतु—(१) अंकु[र] की उत्पत्ति के लिए अनुकूल काल। जैसे—शालि के लि[ए] वर्षा की ऋतु, चने के लिए शिशिर ऋतु इत्यादि। ऋतु [से] यहां ऋतूपलक्षित चैत्रादि महीनों का अभिप्राय नहीं है परन्तु तदुपलक्षित आर्द्रता, शीतता, उष्णता इत्यादि बाह्य परिस्थिति के समयोग का है। यदि ऋतूपलक्षित मास योग्य होने पर शीतादि का अतियोग या मिथ्यायोग हो तो अंकु[र] अच्छी तरह से उत्पन्न नहीं हो सकता या नष्ट होता है यदि मासोपलक्षित ऋतु विपरीत होने पर भी शीतादि परि[स्]थिति योग्य हो तो अंकुर उत्तम प्रकार से उत्पन्न होता है। इसी तत्त्व के आधार पर जहां जो बीज नैसर्गिक उत्पन्न नहीं होती, वहां कृत्रिमतया शीतादि अनुकूल बनाकर उत्पन्न की जाती है। ऋतुचर्या के सम्बन्ध में भी यही तत्त्व वाग्भट में लिखा है—हेम तादिषु कुर्वीत स्वं स्व चाकालिकेष्वपि। विधिं तच्छीलन यस्माच्छीतादि द्वन्द्वकारितम्। ऋतुचर्यादिशीतोष्णवृष्टिप्रतिक्रिया॥ (अष्टांगसंग्रह)। इस पर इन्दु लिखते हैं—यस्मिन्नेव मासे शीतादयस्तस्मिन्नेव सा चर्या सेव्या। शीतादिदोष प्रतिकारा ऋतुचर्येवेत न तु मासमात्रमाश्रित्य॥ (२) गर्भ के आधान के लिए अनुकूल काल—ऋतुर्नाम शोणितदर्शनोपलक्षितो गर्भधारणयोग्य स्त्रीणामवस्थाविशेष॥ (कुल्लूकभट्ट)। यह काल सोलह या बारह दिन का होता है। इन दिनों में स्त्री में गर्भधारणा होने की अधिक सभावना होती है। इसलिए इस कालविधि को गर्भधारण योग्य काल या अंकुर की तुलना में ऋतु कहते हैं। परन्तु अंकुर की दृष्टि से जैसे ऋतूपलक्षित चैत्रादि मासों में योग्यता न होकर ऋतूपलक्षित शीतादि के सम योग पर योग्यता निर्भर होती है, वैसे ही गर्भ की दृष्टि से ऋतूपलक्षित सोलह या बारह दिनों में योग्यता न होकर उन दिनों में स्त्री के शरीर के भीतर जो बीज बनती है, उसके ऊपर योग्यता निर्भर होती है। यदि वह बीज सोलह दिनों के भीतर बनती हो तो सोलह दिन गर्भधारण के लिए योग्य हो सकते हैं, यदि वह बीज सोलह दिनों के बाहर बनेगी तो सोलह दिन गर्भधारण के लिए योग्य न होकर शेष मास गर्भधारण के लिए योग्य याने अऋतु भी ऋतु बन जायगा; और यदि वह बीज सम्पूर्ण महीने में न बने तो पूरा महीना गर्भधारण के लिए अयोग्य बनेगा। जिस बीज के ऊपर गर्भधारणा होती है, वह बीज आर्तव या स्त्रीबीज (Ova) कहलाती है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि गर्भ के

लिए ऋतु से 'स्त्रीबीज' अभिप्रेत है। ऋतु के संबंध का कुछ अधिक विवरण आगे तीसरे अध्याय के छठे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। क्षेत्र—(१) अङ्कुर की उत्पत्ति और उत्तम वृद्धि के लिए जिस प्रकार की भूमि आवश्यक होती है, उस प्रकार की भूमि। (२) गर्भ की उत्पत्ति और वृद्धि जिस स्थान में होती है, वह स्थान अर्थात् गर्भाशय या गर्भशय्या। परन्तु यह अर्थ कुछ सङ्कुचित है। इससे गर्भाशय जिस शरीर का एक हिस्सा होता है, वह शरीर याने स्त्री यह अर्थ अधिक योग्य है। आयुर्वेद में स्त्री के लिए क्षेत्र शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है—वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षणी॥ (चरक, चि० २)। इस पर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—क्षेत्रमिव क्षेत्रम्, तत्र शुक्ररूपबीजप्ररोहणात्॥ स्मृतिग्रन्थों में भी स्त्री के लिए क्षेत्र की उपमा दी जाती है—क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्। बीजक्षेत्रसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम्॥ (मनुस्मृति ९।३३) इस पर कुल्लूकभट्ट लिखते हैं—ब्रीह्याद्युत्पत्तिस्थानं क्षेत्रं तत्तुल्या स्त्री मुनिभिः स्मृता॥ स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्। तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम्॥ (मनुस्मृति ९।१६६)। साहित्य में भी क्षेत्र शब्द स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात्॥ (शाकुन्तल १)। तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व। योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम्॥ (कुमारसंभव ३।१६) वेदों में भी स्त्री के लिये क्षेत्र की उपमा दी गई है—तां पूषन् शिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति। या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्॥ (ऋग्वेद १०।८५।३७)। इस शास्त्र और व्यवहारप्रामाण्य के सिवा गर्भ की दृष्टि से क्षेत्र का अर्थ करने का दूसरा महत्त्व का कारण यह है कि गर्भाशय गर्भ के निवास का केवल स्थान है, उसका पोषण स्त्री के शरीर से होता है। इसके सिवा स्त्री के आहार, विहार, विचार इत्यादि का भी परिणाम गर्भ पर होता है। अम्बु—अंकुर की दृष्टि से केवल जल। उसका पोषण जिन द्रव्यों से होता है, वे द्रव्य क्षेत्र से मिलते हैं। गर्भ की दृष्टि से आहाररस। गर्भ का पोषण गर्भाशय से न होकर माता के आहाररस से होता है—मातुस्तु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा। साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति। तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। इसलिए अम्बु से अप्रत्यक्षतया माता का योग्य आहार भी अभिप्रेत होता है। बीज—शालि, यव, गोधूम इत्यादि जिनसे अंकुर उत्पन्न होता है—व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः। यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा॥ (मनुस्मृति)। गर्भ की दृष्टि से शुक्राणु (Spermatozoa) जिससे गर्भधारणा होती। परन्तु यहाँ पर भी जैसे क्षेत्र से स्त्री का ग्रहण किया जाता है, वैसे ही बीज से पुरुष का ग्रहण करना चाहिए—बीजभूतः स्मृतः पुमान्॥ (मनुस्मृति)। यद्यपि रेतो बीजं तथापि तदधिकरणत्वात्पुरुषो बीजमिति व्यपदिश्यते॥ (कुल्लूकभट्ट)। इसका कारण यह है कि बीज की गुणसम्पन्नता पुरुष के आहार, आचार, विचार, मानसिक विकारों पर निर्भर होती है। अब इन चारों का यदि फिर से विचार किया जाय तो अंकुर की दृष्टि से ऋतु, क्षेत्र, जल और बीज ये चारों स्वतन्त्र होते हैं और अंकुरोत्पत्ति के लिए इन चारों का साक्षिध्य या संनिपात होना आवश्यक होता है। गर्भ की दृष्टि से ऋतु, क्षेत्र और अम्बु एक स्त्री में समाविष्ट होते हैं और बीज पुरुष में अलाहिदा होता है। इसलिए गर्भोत्पत्ति के लिए केवल स्त्री और पुरुष दोनों का संयोग काफी है। इसी लिए मनुस्मृति में लिखा है—बीजक्षेत्रसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम्॥ सामग्र्य—गुणसंपन्नता, उत्कृष्टता, दोषराहित्य, अनुपघात—प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥ (कुमारसंभव)। यह दोषराहित्य जब स्त्री और पुरुष दोनों में होता है, तब उत्तम प्रजा निर्माण हो सकती है—विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्। उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते॥ (मनुस्मृति)। बीज में उत्कृष्टता या गुणसंपन्नता उपस्थित होने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए। (१) स्त्री और पुरुष के कुल—स्त्री और पुरुष दोनों के कुलों के विद्यमान तथा अविद्यमान मनुष्य स्वस्थ, दीर्घायु और स्थिरेन्द्रिय होने चाहिएँ। क्यैन्सर, वातरक्त, शोणितप्रियता (Haemophilia), रक्तनिपीडाधिक्य, राजयक्ष्मा, कुष्ठ, मधुमेह, वृक्करोग तथा अन्य शारीरिक विकार, अपस्मार, विविध प्रकार से उन्माद, उद्विग्नता, अव्यवस्थितचित्तता, मस्तिष्कदौर्बल्य, लासक (Chorea), पक्षाघात, अपतन्त्रक तथा अन्य मानसिक विकार, फटा होंठ, फटी तालु तथा अन्य शारीरिक व्यङ्ग इन आदिबलप्रवृत्त या खानदानी रोगों से अलिप्त होने चाहिएँ। स्त्री और पुरुष के कुल अतुल्यगोत्र होने चाहिएँ। तुल्यगोत्रविवाह (Inbreeding) कुलज दोषप्रवृत्ति को बढ़ाता है। कभी कभी स्त्री और पुरुष विवाह के पूर्व समय स्वस्थ होते हैं; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके शरीर में कोई कुलज रोग नहीं है, जो उनके बीज द्वारा सन्तति में आ सके। कुछ कुलज रोग एक दो पीढ़ी के बाद आ जाते हैं, कुछ कुलज रोग अनुकूलता प्राप्त होने पर उत्पन्न होते हैं और कुछ कुलज रोग स्त्री की पुरुषसन्तति में आते हैं। इन कारणों से यह हो सकता है कि स्त्री और पुरुष दोनों ही स्वस्थ रहते हैं; परन्तु उनके कुल में कुछ विकार हों तो उनकी सन्तति में वे स्वयं पीड़ित न होने पर भी आ सकते हैं। इसलिए वधूवर कितने भी स्वस्थ क्यों न हों, उनके कुल का स्वास्थ्य जरूर देखना चाहिए—Choice of a mate must take into account the principles of heredity. *Ideal Birth by Van De Velde.* इस विषय के संबन्ध में आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र का मत और विशेष विवरण सूत्र २४।१ के वक्तव्य में (प्रथमखण्ड में १४८।१६० पृष्ठ पर) किया गया है, उसको देखो। (२) स्त्री और पुरुष का स्वास्थ्य—स्त्री और पुरुष दोनों ही स्वस्थ होने चाहिएँ। उनमें उपर्युक्त कुलज विकार न होने चाहिएँ; उनमें नैष्ठुर्य, मात्सर्य, कामान्धता, क्षिप्रकोपता, अनवस्थितचित्तता, उद्विग्नता, अहंकार, समाजविरोधी वर्तन करने की प्रवृत्ति तथा अन्य प्रकार के मानसिक विकार न होने चाहिएँ। भांग, गांजा, अफीम, शराब तथा अन्य नशीली चीजों के सेवन की कुटेव न होनी चाहिए। संक्षेप में दोनों ही स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल, खुशमिजाज (जनप्रिय) और व्यसनरहित होने चाहिएँ—सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता। (चरक)।

वयोरूपगुणैस्तुल्यां गुणवतीं गुणाभिरामाम् । (चरक) । रूपशीलगुणसम्पन्नामनन्यपूर्वां [illegible] मृदुमरोगपङ्क्ति मातापितरौ विधिनोद्वहेत् ॥ (अष्टाङ्गसंग्रह) । ये जो स्त्री के लिए गुण वर्णन किये हैं, उन्हीं गुणों से युक्त पुरुष भी होना चाहिए—तस्मात् कन्याभिमानोपेतां साध्वसे गुण प्रयुक्तां [illegible] गिम्रकृशिरोरां तथाविध एव सुस्वान् दम्पितैः ॥ (वात्स्यायन कामसूत्र) । एतैरेव गुणैर्युक्तः, सुवा धीमान् जनप्रियः । (याज्ञवल्क्यस्मृति) । जनप्रियः स्मितपूर्वमृदुभिमाषणादिभिरनुरञ्जन । (विज्ञानेश्वर) । (३) जननेन्द्रिय का स्वास्थ्य—बीजवाहिनी, गर्भाशय, योनि, शिश्न, वृषण इत्यादि जननेन्द्रिय के प्रत्यग स्वस्थ और शुद्ध होने चाहिएँ । रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर उपदंश, फिरङ्ग, सोजाक इत्यादि विकारों से प्रजननमार्ग अनुपहत होना चाहिए । जननेन्द्रियाँ पूर्ण परिपक्व होनी चाहिएँ; अपरिपक्व (Under developed) न होनी चाहिएँ । यौवनावस्था में जननेन्द्रिय पूर्ण प्रगल्भ न होने को अपरिपक्वता कहते हैं । अष्टांगहृदय में स्त्री जननेन्द्रिय की शुद्धि के संबन्ध में लिखा है—शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि । वीर्यवन्तं सुतं सूते ॥ (शा० १) । गर्भस्याशयो गर्भाशयः । तस्मिन् शुद्धे निर्मले वातादिभिरदुष्टे तथा मार्गे प्रसूतसादपत्यमार्गे वातादिभिरदुष्टे ॥ (अरुणदत्त) । स्त्रीजननेन्द्रिय दुष्ट होने पर उससे विविध स्राव स्रवते हैं । ऐसे अपत्यमार्ग में गिरा हुआ पुरुष का शुक्राणु उसके स्राव से निर्बल या मृत होता है । (४) स्त्री-पुरुषों का प्रथम सन्तानोत्पादक काल—स्त्री और पुरुष दोनों ही यौवनावस्था में पदार्पण करने के पश्चात् कुछ साल तक अपरिपूर्णवीर्य होते हैं । जब तक वे परिपूर्णवीर्य नहीं होते, तब तक उनका बीज भी परिपूर्णवीर्य नहीं होता । स्त्री और पुरुष दोनों का परिपूर्णवीर्य होने का काल भिन्न भिन्न होता है । सुश्रुत और अष्टांगसंग्रह के अनुसार पुरुषों का वय २५ और स्त्रियों का १६ होता है—पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्, नारी तु षोडशे । समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ (सुश्रुत प्रथमखण्ड पृष्ठ १९९ देखो) । तस्या षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं प्रयतेत । (अष्टांगसंग्रह) । उत्तम बीज उत्पन्न होने की आयुर्वेदशास्त्रानुसार यह वयोमर्यादा है । कौटिलीय अर्थशास्त्र में पुरुष के लिए यही मर्यादा बतलाई है—ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात् । अतो गोदानं दारकर्म च ॥ पाश्चात्य शास्त्रज्ञों के अनुसार (अर्थात् उनके देशों के लिए) पुरुषों में ३० और स्त्रियों में २३ वयोमर्यादा मानी जाती है—

The most favourable age for procreation for the transmission of mental abilities for the off sdring is, according to Vaerting, the thirtieth year in the men, in the woman, not before the 23rd year *Ideal birth by Van De Velde*

यह मर्यादा भारतवर्ष जैसे उष्ण देश के लिए कुछ अधिक है । इसलिए १६ से २० वर्ष स्त्रियों के लिए और २५ से ३० पुरुषों के लिए उचित वयोमर्यादा मालूम होती है । इस वयोमर्यादा के पश्चात् दीर्घकाल तक स्त्री और पुरुष विवाह न करें तो उस अतिपरिपक्व अवस्था में विशेष करके स्त्रियों में, बीज कुछ खराब हो जाता है और उत्पन्न हुई संतति दुर्बल होती है । इससे यह स्पष्ट है कि उत्तम संतति होने के लिए एक विशेष आयुर्मर्यादा आवश्यक है—ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् । यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ॥ अतिवृद्धायां (Old, particularly old primiparae) दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत । पुरुषस्यापि एवंविधस्य त एव दोषाः सम्भवन्ति ॥ (सुश्रुत) ।
Children born beforet he mother is twenty one are decided by inferior invitality to those of women in the next five years Simila ly late marriage is unfavourable for the women and her offspring The new born children of the old, particularly excessively old primiparae, are even in the case of robust mothers not exactly strongly developed and resemble the children of too young primipera Moreover, the theory that there is a deterioration of the germ in old mother is not to be rejected lightly and would have an influence on the quality of the offspring *Ideal birth by Van De Velde* (५) स्त्री और पुरुष में अन्तर—भारतीय वैद्यक और धर्मशास्त्र के अनुसार वर की अपेक्षा वधू उमर में छोटी होनी चाहिये—अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् । अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति) यवीयसीं वयसा प्रमाणतश्च न्यूनाम् ॥ (विज्ञानेश्वर) । पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का भी मत है कि उत्तम प्रजा उत्पन्न होने के लिए स्त्री पुरुष की अपेक्षा उमर में कुछ छोटी हो—For psychological and social, but also for purely biological reasons, it is to be desired further that the woman should be a few year youngert han the man, for she reaches physical and mental maturity relatively earlier than the man and her sexual capabilities die out earlier *Ideal birth* अब दोनों में निश्चित अन्तर कितना होना चाहिए इसका ठीक प्रमाण कहना कठिन है परन्तु साधारणतया यों कह सकते हैं कि स्त्री और पुरुष में यौवनावस्था प्राप्त होने के समय जो अन्तर होता है, उससे कम अन्तर न होना चाहिये । यौवनावस्था का प्रारम्भ स्त्रियों में आर्तवदर्शन से और पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति से होता है । आर्तवदर्शन स्त्रियों में साधारणतया १२ साल में और शुक्रोत्पत्ति पुरुषों में १६ साल में होती है, वधू और वर में कम से कम अन्तर इसलिए चार साल का होना चाहिए, अधिक से अधिक अन्तर नौ साल का, जो सुश्रुत ने दिया है, होना चाहिए । अर्थात् वधू और वर में चार साल से कम और नौ साल से अधिक अन्तर कदापि न होना चाहिये । वात्स्यायनकामसूत्र में वधूवर में कम से कम तीन साल का अन्तर बतलाया है—त्रिवर्षात् प्रभृति न्यूनवयसम् । टीकाकार यशोधर अपनी जयमङ्गला टीका में वधूवर का अन्तर चार से आठ देते हैं—चतुर्थादूर्ध्वं यावत् कनिष्ठा वत्सरे वरात् । कन्या परिणयेच्छ्रुत्वा नेतरातिवयाश्च या ॥ (६) दो प्रसवों में अन्तर—जल्दी जल्दी सन्तान

उत्पन्न होने से स्त्री के स्वास्थ्य में बिगाड़ हो जाता है, और ऐसे गिरे स्वास्थ्य में उत्पन्न हुई सन्तान कमजोर होती है। इसलिए दो गर्भधारणा के बीच में कुछ नियमित अन्तर होना बहुत आवश्यक है। इस विषय पर विचार करने से यह कहना पड़ता है कि प्रसव के कारण खराब हुआ स्त्री का स्वास्थ्य जब तक बालक उसका दूध पीता है तब तक ठीक नहीं हो सकता क्योंकि स्त्री जो कुछ अन्न सेवन करती है, उसके एक अंश से बच्चे का भी पोषण होता है—यद्यदश्नाति मातास्य भोजनं हि चतुर्विधम्। तस्मादन्नाद्रसीभूतं वीर्यं त्रेधा प्रवर्तते। भागः शरीरं पुष्णाति स्तन्यं भागेन वर्धते॥ (भोज)। इसलिए बालक जिस समय से माता का दूध पीना छोड़ दे, उस समय से एक वर्ष भर माता को यथेच्छ पौष्टिक खाना पीना मिलने पर उसका स्वास्थ्य पूर्ववत् हो जाता है और वह उत्तम बीज उत्पन्न करने में समर्थ होकर दूसरी बार उत्तम गर्भ धारण करने योग्य हो जाती है। इसलिए दो सन्तानों के बीच में २, ३ साल का अन्तर होना बहुत आवश्यक है। आगे १०वें अध्याय के १२वें सूत्र के वक्तव्य में 'मैथुन' की टिप्पणी में भी इस विषय का विचार किया गया है, उसको देखो। इस तरह उपर्युक्त छः गुणों से युक्त [स्त्र]ी-पुरुषों का बीज उत्कृष्ट और सर्वगुणसम्पन्न होता है [औ]र उनके संयोग से उत्तम प्रजा उत्पन्न होती है। अंकुर की [दृ]ष्टि से बीज का सामग्र्य कृमिवातादि से अनुपदग्धता में, [का]ल का सामग्र्य योग्य समय पर मिलने में, क्षेत्र का सामग्र्य [यो]ग्य प्रकार की भूमि और योग्य खाद मिलने में और [ऋ]तु का सामग्र्य उचित शैत्य या उष्णता में होता है—[य]था बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम्। नाविरोहति सन्दुष्टं तथा [शु]क्रं शरीरिणाम्॥ (चरक, चिकित्सा ३०)। सामग्र्य में इन चारों के संयोग का बोध होता है और सान्निध्य में सामग्र्य का बोध होता है। विधिपूर्वकः—यथाविधि, यथाशास्त्र अर्थात् सुप्रजानिर्माणशास्त्र (Eugenics) के अनुसार जैसा होना चाहिए, वैसा।

एवं जाता रूपवन्तः सत्त्ववन्तश्चिरायुषः।
भवन्त्यृणस्य मोक्तारः सत्पुत्राः पुत्रिणो हिताः॥३५॥

ऐसे (यथायोग्य चारों पदार्थों के संयोग से) उत्पन्न हुए (बालक) रूपवान्, सत्त्ववान्, दीर्घायु, ऋणमोचन करने वाले, सत्पुत्र और पिता के हितकारी होते हैं॥३५॥

वक्तव्य—सत्त्ववन्तः—गर्भ में निम्न गुण सत्त्व से उत्पन्न होते हैं—शुद्धसत्त्वजानि शौचमास्तिकत्वं कृतज्ञता दाक्षिण्यं व्यवसायः शौर्यं गाम्भीर्यं बुद्धिर्मेधा स्मृतिः शुक्लवर्त्मरुचिभक्तिरभिपन्नाभावस्तमोगुणविपर्ययश्च। (अष्टांगसंग्रह)। इन गुणों से युक्त। ऋणस्य मोक्तारः—पुत्र के लिए देव, पितृ और ऋषि इनके तीन ऋण होते हैं। इन ऋणों का परिमार्जन करना पुत्र का कर्तव्य है। इस कर्तव्य को करने वाले—ब्राह्मणो ह वै जयमानस्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः, स्वाध्यायेनर्षिभ्यः॥ अथवा केवल पिता की दृष्टि से विचार किया जाय तो विवाह कर सन्तति उत्पन्न करके प्रजातन्तु को अविच्छेद रखना—प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। पिता की मृत्यु होने पर उसको पिण्ड प्रदान, यदि हो सके तो गया में जाकर करना—पितुर्ऋणं पिण्डदानात्। एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः। तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत्॥ (रामायण)। और पिता के पैसे का भी ऋण हो तो उसको देना—पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा। पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम्॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति)। इन ऋणों का शोधन करने वाले। सत्पुत्राः—इस प्रकार ऋणमोचन करके पिता की रक्षा नरक से जो करते हैं, वे सत्पुत्र हैं—अतः पुत्रेण जातेन स्वार्थमुत्सृज्य यत्नतः। ऋणात् पिता मोचनीयो यथा नो नरकं व्रजेत्॥ पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः॥ (रामायण)। अतः सब से उत्तम ऋणमोचन का मार्ग उत्तम प्रजा उत्पन्न करना है—प्रजननं वै प्रतिष्ठा। लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितॄणामनृणो भवति। तदेव तस्यानृणं तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति। (तैत्तिरीय आरण्यक)।

तत्र तेजोधातुः सर्ववर्णानां प्रभवः; स यदा गर्भोत्पत्तावब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवीधातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम्। यादृग्वर्णमाहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवतीत्येके भाषन्ते॥ ३६॥

(गर्भ के गौरकृष्णादि वर्णों की उत्पत्ति—) पंचमहाभूतों में से तेजोधातु सर्व वर्णों का उत्पत्ति हेतु है। जब वह गर्भोत्पत्ति के समय जलधातुप्रधान होती है, तब गर्भ को गौरवर्ण करती है; (जब) पृथिवीधातुप्रधान (होती है तब गर्भ को) कृष्णवर्ण (करती है); पृथिव्याकाशधातुप्रधान कृष्णश्याम करती है; जलाकाशधातुप्रधान गौरश्याम करती है। कई आचार्यों का कथन है कि जिस वर्ण का आहार गर्भिणी सेवन करती है, उस वर्णयुक्त संतति को उत्पन्न करने वाली होती है॥ ३६॥

वक्तव्य—सर्ववर्ण—शरीर के स्वाभाविक वर्ण—कृष्णः कृष्णश्यामः श्यामावदातोऽवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति। (चरक)। ये शरीर के स्वाभाविक वर्ण त्वचागत मेचकि (Melanin) नामक रंगद्रव्य की न्यूनाधिकता के अनुसार हुआ करते हैं। तादृग्वर्णप्रसवा—तादृग्वर्णः प्रसवः अपत्यं यस्याः सा। उसी वर्ण का अपत्य जिसको होता है, ऐसी स्त्री (त्वचा के वर्ण के लिए ४ अध्याय के ३ सूत्र का वक्तव्य देखो)। इस सूत्र में बालकों के शरीर के वर्णों में अन्तर क्यों पड़ता है, इस विषय का कुछ तात्त्विक विवरण किया है। इस विषय का विचार करने पर वर्ण में अन्तर पड़ने के निम्न कारण मालूम होते हैं। (१) कुल, जाति या वंश (Racial)—जैसे, नीग्रो की सन्तान काली होती है, जापानी चीनी की पीली होती है और यूरोपियन की गौरवर्ण होती है। भारतवर्ष में भी कुछ जातियाँ गौरवर्ण, कुछ श्यामवर्ण और कुछ कृष्णवर्ण होती हैं। (२) बीज (Hereditory or Germinal)—गौरवर्ण पुरुष और कृष्णवर्ण स्त्री के सहवास से गौरवर्ण संतति होती है, यह बीजानुगत वर्णभेद का उदाहरण है। (३) आहार—आहार से गर्भ की वृद्धि होती है, त्वचा भी बनती है और त्वचागत रंगद्रव्य भी बनता है। इसलिए माता के आहार का परिणाम ...

१ महासत्त्वा०।

के अन्यान्य शारीरिक और मानसिक विकास पर जैसे हुआ करता है, वैसे उसके वर्ण पर होना भी युक्तियुक्त है। जाति-गत या कुलगत सन्तति में साधारणतया एक प्रकार का शरीरवर्ण उत्पन्न होने के कारणों में उनका जातीय आहार एक कारण अवश्य होता है। अंग्रेज, चीनी या जापानी चाहे वे किसी देश में हों अपने जातीय वर्ण के अनुसार सन्तान उत्पन्न करते हैं क्योंकि जहां तक हो सके, वे अपने आहार में बदल नहीं करते हैं। (५) देश प्रकृति (Climatic —देश या प्रांत की आबहवा जैसी होती है, वैसी स्वदेशी लोगों की त्वचा की रंगत बदलती है। जैसे, ठण्डे मुल्क में होने वालों की तथा उनकी सन्तान की त्वचा गौरवर्ण होती है। काला आदमी जब ठंडे मुल्क में रहता है, तब उसकी तथा उसकी संतान की त्वचा कुछ गौरवर्ण हो जाती है। वैसे ही उष्ण प्रदेश में रहने वालों का वर्ण कुछ कृष्ण होता है और गोरा मनुष्य भी उष्ण प्रदेश में रहने पर कुछ काला हो जाता है। (६) व्यवसाय और रहन-सहन—जिन मनुष्यों को अपना व्यवसाय करने के लिए नंगे बदन से काम करना पड़ता है, या गरीबी के कारण शरीर पर पूरा कपड़ा नहीं मिलता तथा धूप में काम करना पड़ता है, वे मनुष्य तथा उनकी सन्तान कुछ काली हो जाती है। इसके विरुद्ध जो छाया में काम करते हैं, शरीर पर पूरा कपड़ा पहनते हैं, वे मनुष्य तथा उनकी सन्तान कुछ गौरवर्ण होती है। (७) चिन्तन—गर्भाधान के समय में तथा उसके पश्चात् सगर्भावस्था में स्त्री जिस वर्ण के बालक का मन से चिन्तन करती है, उस चिन्तन का प्रभाव बालक के वर्ण पर होता है। इसी तत्त्व के आधार पर सौदागर जिस रंग का बच्चा घोड़ी से चाहते हैं, उसी रंग का घोड़ा घोड़ी के सामने गर्भाधान के समय खड़ा करते हैं और घोड़ी की आंखों में पट्टी बांध देते हैं। जब दूसरे घोड़े से गर्भाधान हो चुकता है, तब आंखों की पट्टी खोल देते हैं। पट्टी खोलने से घोड़ी की नजर सामने वाले घोड़े पर पड़ती है और उसी रंग का बच्चा प्रायः होता है। मनुष्यों में भी इसी प्रकार चिन्तन का प्रभाव बच्चों पर कभी कभी होता है। कृष्णवर्ण स्त्री-पुरुषों की गौरवर्ण संतान और गौरवर्ण स्त्री-पुरुषों की कृष्णवर्ण संतान की उत्पत्ति का समर्थन इसी तत्त्व पर हो सकता है। इस विषय में यूरोपियन की एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। एक यूरोपियन दम्पती के यहां काले रंग की सन्तान हुई। कारण यह साबित हुआ कि गर्भाधान के समय स्त्री की दृष्टि पलंग के सामने टंगे हुए एक हबशी के चित्र पर पड़ी थी। आयुर्वेद में भी लिखा है— इच्छेता यादृशं पुत्रं तद्रूपचरिताश्च तौ। चिन्तयेतां जनपदां स्तदाचारपरिच्छदौ ॥ (अष्टांगहृदय)। माता के चिन्तन का परिणाम बालक पर कैसे होता है, इस विषय के अधिक विवरण के लिए प्रथम खण्ड का १६१ पृष्ठ देखो। इन कारणों का संक्षिप्त निर्देश अष्टांगसंग्रह में निम्न प्रकार से मिलता है—तत्र शुक्ले शुक्रे घृतमण्डाभे वा गर्भस्य गौरत्व, तैलाभे कृष्णत्व, मध्वाभे श्यामत्वम्। तथा क्षीरादिमधुराणामुपयोगान्मातुरुदकविहाराच्च गौरता, तिलान्नविदाहिना कृष्णता, व्यामिश्राणां श्यामता। देशकालानुवृत्तिश्च वर्णभेदं। कषायनिलया श्याव (जनयति)। (चरक)।

तत्र दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति, तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्तानुगतं पिङ्गाक्षं, श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं, वातानुगतं विकृताक्षमिति ॥ ३७ ॥

(नेत्रवर्ण की उत्पत्ति—) दृष्टिभाग में अप्राप्त तेजोधातु (बालक को) जन्मान्ध करती है। वही रक्तानुगत (होने पर) रक्ताक्ष, पित्तानुगत (होने पर) पिङ्गाक्ष (पीली आंखों वाला), श्लेष्मानुगत (होने पर) शुक्लाक्ष (और) वातानुगत (होने पर) विकृताक्ष (करती है) ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में आंखों की जन्मजात विकृतियां वर्णन की हैं। ये विकृतियां गर्भावक्रान्ति के समय आंखों की यथोचित वृद्धि न होने से होती हैं। जात्यन्ध—जन्मान्धता नेत्रों की उत्पत्ति न होने से (अनेत्रता Anopthalmos), दृष्टिनाड़ी, दृष्टिपटल (Retina या दृष्टि के लिए आवश्यक अन्य अंगों की ठी[क] वृद्धि न होने से होती है। यह अन्धता पू[र्ण] या अपूर्ण दोनों प्रकार की हो सकती है। रक्ताक्ष, पिङ्गाक्ष शुक्लाक्षम्—ये तीनों भेद कृष्णमण्डल (Iris) के वर्णानुसा[र] किये हुए मालूम पड़ते हैं। कृष्णमण्डल संकोचविस्तार शील नेत्र का सच्छिद्र पर्दा है, जो प्रकाश की तीव्रातीव्रता के अनुसार सदैव सिकुड़ा और फैला करता है। इस पर्दे की बीच की तह अनैच्छिक मांसतन्तुओं से बनती है। इनके संकोचविकास से पुतली छोटी और बड़ी होती है। इन मांसतन्तुओं के पिछले पृष्ठ पर दोहरी सेलों की एक तह होती है। इनके अगले पृष्ठ पर संयोजक धातुओं की सेलों की तह होती है, जिसमें रक्तवाहिनियां और नाड़ियों के अग्र होते हैं और इस तह के अगले पृष्ठ पर भी सेलों की एक तह होती है। इस तरह इस पर्दे में चार तहें होती हैं, और मांसतन्तुओं की तह छोड़कर शेष तीनों की सेलों में स्वाभाविक अवस्था में रंग (Pigment) कण काफी होते हैं, जिसके कारण आंखें काली काली दिखाई देती हैं। यही आंखों का प्रकृतिवर्ण है। जब रंग मध्यम होता है, तब आंखें पिङ्गल या धूसर दिखाई देती हैं। जब रंग कम होता है, तब फीकी (शुक्लवर्ण) दिखाई देती हैं और जब बहुत ही कम होता है, तब (Albinism) भीतरी रक्तवाहिनियों के रक्त के कारण गुलाबी या लाल लाल दिखाई देती हैं। इस तरह तेजोधातु से नेत्रगत रंगद्रव्य ठीक न बनने से ये तीन वर्ण के दोष उत्पन्न होते हैं। विकृताक्षम्—भेंगापन, द्विधादृष्टि, पलक का छोटा बड़ा या टेढ़ा होना इत्यादि नेत्र के आकार में खराबी करने वाले विकार।

भवन्ति चात्र—

घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते।
विसर्पत्यार्तवं नार्यास्तथा पुंसां समागमे ॥ ३८ ॥

जैसे कि अग्नि के आश्रित होने से घृतपिण्ड द्रवीभूत होकर फैलता है, वैसे ही पुरुषों के समागम से स्त्रियों का आर्तव (पक होकर पिण्ड याने कोष से बाहर) प्रसर्पण करता है ॥ ३८ ॥

वक्तव्य—ऋतुकाल के प्रारंभिक तीन दिनों में योनि

से बाहर बहने वाला रक्त और उसके पश्चात् शरीर के भीतर उत्पन्न होकर और भीतर ही रहकर गर्भधारणा में भाग लेने वाला पदार्थ ये आर्तव शब्द के दो अर्थ होते हैं, इसका उल्लेख इस अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। यहाँ आर्तव का दूसरा अर्थ अभिप्रेत है और इस अर्थ से आर्तव को स्त्री-बीज (Ova) कहते हैं। आर्तव क्या है?—जैसे कि पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति के लिए दो शुक्रग्रंथियाँ (वृषण) होती हैं, वैसे ही स्त्रियों में गर्भाशय के पार्श्विक बंधनों में स्थित दाहिनी ओर एक और बाईं ओर एक-दो आर्तवग्रन्थियाँ या बीजकोष होते हैं। इनका आकार और परिमाण चिड़िया के अण्डे जैसा होता है। इन बीजकोषों में स्त्री के जन्म के समय ७०००० के लगभग अपक्व बीज होते हैं, जो धीरे धीरे पक्व होते जाते हैं। जो बाल्यावस्था में पक्व होते हैं, वे कोष के बाहर नहीं आते, भीतर ही भीतर क्षीण होते हैं। जो बीज युवावस्था में पक्व होते हैं, वे कोष की दीवाल को तोड़कर बाहर आते हैं। प्रायः एक मास में एक ही बीज पक्व होकर कोष के बाहर निकलता है और इसको बीजविपाक (Ovulation) कहते हैं। बीजविपाक का प्रायिक काल मासिक स्राव के समय से बारह दिनों का माना जाता है। बीजकोष से बाहर आया हुआ विपक्व बीज का व्यास $\frac{1}{1८}$–$\frac{1}{1२०}$ इञ्च के लगभग होता है और नंगी आँखों से यह एक सूक्ष्म बिन्दु जैसा दिखाई देता है। जो बीजकोष के बाहर आता है, वह या तो उदरगुहा में नष्ट होता है, या बीजवाहिनी में प्रवेश करता है जहाँ शुक्राणु से उसका संयोग होकर गर्भ उत्पन्न होता है या गर्भाशय और योनि में से शरीर के बाहर चला जाता है। यह वस्तु अतिसूक्ष्म होने के कारण इसके वास्तविक स्वरूप का वर्णन यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता और गर्भोत्पादक आर्तव का उल्लेख साधारण आर्तवशोणित से ही किया जाता था तथापि वह मलरहित, बीजभूत, सूक्ष्म, आर्तवशोणित का स्राव बन्द होने पर फिर स्त्री के शरीर में उत्पन्न होने वाली और अपने स्थान से प्रसर्पित होकर शुक्र के साथ मिलने वाली, पुरुष के समागम से जिसकी उत्पत्ति जल्दी होती है ऐसी, आर्तवस्राव प्रारम्भ से केवल सोलह दिन स्त्री के शरीर में रहने वाली वस्तु है, इतना स्वरूपनिदर्शक वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। इस वर्णन का आधुनिक शरीर-कार्यविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर आयुर्वेदोक्त गर्भ-जनक आर्तव स्त्रीबीज (Ova) होता है और इसी अर्थ से यहाँ आर्तव शब्द प्रयुक्त हुआ है। डल्हणाचार्य साफ लिखते हैं कि स्त्रीपुरुषसमागम से प्रवर्तित हुआ आर्तव शुक्र के साथ मिलकर गर्भसंभवहेतु होता है—ननु पुराणमार्तवमुपचयादिनत्रयं स्रुत्वा स्वयमेव विनिवृत्तं नूतनं स्वल्पं स्त्यानीभूतमिव प्रवर्तितुमक्षमं तत् कथमार्तवसंचारो येन तत्संसृष्टं शुक्रं गर्भजननसमर्थं भवतीत्याशङ्क्याह—घृतेत्यादि। पुंसां समागमे इन्द्रियद्वयसघर्षजेनोष्मणा विलीनमार्तवं विसर्पति। तच्च विसर्पितं शुक्रोपगतं गर्भाशयमनुप्राप्तं जीवोपगतं गर्भसंभवहेतुर्भवति। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि गर्भजनक आर्तव प्रवर्तन या आधुनिक परिभाषानुसार बीजविपाक का कार्य जो स्त्रीशरीरगत अनेक स्वाभाविक सहायक कारणों के द्वारा एक नियत समय पर हुआ करता है, स्त्री का पुरुष के साथ समागम होने से नियत समय के पूर्व होता है। अर्थात् स्त्री का पुरुष के साथ समागम बीजविपाक कार्य को उद्दीपित (Provoke) करके बीज को शीघ्रता से कोष के बाहर प्रवर्तित करता है। आधुनिक पाश्चात्त्य शास्त्रज्ञों का भी यही कथन है—

In general, I believe I admit that in the majority of cases the ovum is set free from the Graafian follicle on the twelfth day after the commencement of the last menstruation. While it may perhaps happen more frequentlyt hat, if an orgasm in copulation happens to take place, the follicle bursts prematurely. I would regard it as probable that the said boy births came from premature ovulations provoked by coitus which produce ova not yet quite mature. *Ideal birth.*

इस उपमा में घृतपिण्ड बीजकोष के लिए, घृत बीज के लिए और अग्नि मैथुन के लिए प्रयुक्त हुआ है।

कुछ प्राचीन टीकाकार इस श्लोकगत आर्तव से शुक्र समझते हैं—अन्ये तु—घृतकुम्भो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते। विसर्पत्यार्तवं पुंसां तथा स्त्रीणां समागमे—इत्यत्र यथाऽऽर्तवशब्देन शुक्रमुच्यते तथा स्त्रीणां चार्तवमित्यत्रापि आर्तवशब्दः शुक्र एव वर्तते न तु रजसि। (शिवदाससेन)। परन्तु यहाँ पर भी शुक्र शब्द स्त्रीशरीरगत गर्भोत्पादक वस्तु के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। स्त्रीशरीरगत गर्भोत्पादक वस्तु के लिए शुक्र शब्द कभी कभी प्रयुक्त होता है—स्त्रीपुंसयोः सुसंयोगे यद्यादौ विसृजेत्पुमान्। शुक्रं ततः पुमान् वीरो जायते बलवान् दृढः॥ अथ चेदङ्गना पूर्वं विसृजेद्रक्तसंयुतम्। ततो रूपान्विता कन्या जायते दृढसंहता॥ (दारुवाह, अरुणदत्त की शारीर १-५ की टीका में उद्धृत)। स्त्रियों के शुक्रस्रवण के सम्बन्ध में डल्हणाचार्य इस श्लोक की टीका में निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं—योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे। गर्भस्य तत्र किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते॥ (वृद्धवाग्भट)। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जैसे स्त्री के समागम में पुरुष से शुक्र निकलता है, वैसे ही पुरुष के समागम में स्त्री से शुक्र निकलता है परन्तु वह गर्भोत्पादक न होने के कारण उसका विचार करने का कारण नहीं है।

वाग्भटाचार्य के इस श्लोक का विचार करने के पूर्व समागम के समय स्त्री-पुरुषजननेन्द्रिय से जिन चीजों का स्राव होता है, उसके संबंध में आधुनिक शास्त्रज्ञों ने जो कुछ विवरण किया है, उसका ज्ञान आवश्यक है। पुरुष जब मैथुन करने लगता है, तब उसके मूत्रद्वार से स्वच्छ लसदार तरल की कुछ बूँदें निकला करती हैं। यह तरल अष्ठीला (Prostate) और कौपर की ग्रंथियों का स्राव होता है, जो मैथुन की रगड़ को कम करने के लिए रोगन की तरह काम में आता है। इसमें शुक्राणु नहीं होते। थोड़ी देर पीछे मैथुन के अन्त में दूसरा अत्यन्त चिपचिपा और लसदार तरल वेग के साथ आता है। यह तरल शुक्र है, जिसमें शुक्राणु होते हैं। मैथुन के समय स्त्री की योनि से भी कुछ तरल निकलता है। यह तरल योनि की श्लेष्मल त्वचा से तथा योनिद्वारसमीपवर्ती ग्रन्थियों (Bartholian glands) से निकलता है और योनि को तर रखकर शिश्न की रगड़ से

उसकी रक्षा करता है। थोड़ी देर पीछे जब मैथुनजन्य आनन्द परमोच्च कोटि तक पहुँचता है, तब पुरुषों के समान स्त्री के गर्भाशय से दूसरा क्षारीय चिपचिपा पदार्थ उत्सर्गित होता है। इस तरह का गर्भोत्पादन से कोई संबंध नहीं है—

The process of erection in women is accompanied by the pouring out of fluid which copiously bathes all parts of the valva roundt he entrance to the vagina. This is a bland more or less odourless mucus which under ordinary circumstances *slowly* and *imperceptibly* suffuses the parts There is however a real ejaculation of fluid, which as usually described, comes largely from glands, situated near the mouth of the vagina *Psychology of sex by Havelock Ellis*

इस सब विवरण का तात्पर्य यह है कि इस श्लोकगत आर्तव का अर्थ स्त्रीबीज है, जिसके लिए कभी कभी शुक्र शब्द का भी प्रयोग होता है और स्त्रियों में शुक्र का अर्थ स्त्रीबीज या योनिगत स्राव होता है और संदर्भ के अनुसार उनसे उचित अर्थ निकालना चाहिए।

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ।
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ ॥३९॥

(अनेक गर्भोत्पत्ति हेतु—) अन्तर्वायु के द्वारा बीज विभक्त होने पर गर्भाशय में अवतीर्ण हुए दो पापी जीव यम कहलाते हैं ॥३९॥

वक्तव्य—अन्तर्वायु—पक्वाशयान्तर्गत वायु अर्थात् अपान वायु जिसका संबंध आर्तव, शुक्र गर्भ इत्यादि के साथ होता है। किंवा पञ्चमहाभूतान्तर्गत वायु जिसके द्वारा गर्भ में विभजन का कार्य होता है—त चेतनावस्थितं वायुर्विभजति। (शारीर ४।२)। बीजे भिन्ने—इसके दो अर्थ हो सकते हैं और उनके अनुसार अनेक गर्भोत्पत्ति होती है। (१) स्त्रीबीज पृथक् पृथक् होने पर। साधारणतया प्रतिमास बीजकोष से केवल एक बीज बाहर निकलता है और जब उसका संयोग शुक्राणु के साथ होता है, तब गर्भ उत्पन्न होता है। कभी कभी वाम और दक्षिण बीजकोष से एक एक या कभी एक ही से दो बीज बाहर आते हैं। इस तरह साधारणतया एक और क्वचित् दो या तीन बीज हर महीने में बाहर आते हैं। स्त्रीसमागम के समय उत्सर्गित शुक्र में करोड़ों शुक्राणु होते हैं और एक बीज को फलित (Fertilize) करने के लिए केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है। शास्त्रज्ञों की यह राय है कि जन्म के समय स्त्री के बीजकोष में ७२००० के लगभग अपक्व बीज होते हैं। इनमें से स्त्री की गर्भधारणयोग्य आयु में केवल ४०० तक बीज पक्व होकर बाहर आते हैं और उनमें से दस बारह बीज सफल होते हैं। इस प्रकार असंख्य शुक्राणु और अनेक स्त्रीबीज होने पर भी स्त्रियों में कई महीनों तक गर्भधारणा नहीं होती या गर्भधारणा होने पर प्रायः एक ही गर्भ का आधान होता है। इसका कारण यह है कि बाहर आये हुए बीज कई बार उदरगुहा में ही नष्ट हो जाते हैं। जो बीजवाहिनी में आकर शुक्राणु के साथ मिलते हैं, वे ही सफल होते हैं। अतः अनेक पक्व बीज बाहर आने पर भी बीजवाहिनी में आने में असमर्थ होने के कारण बहुप्रसवता (Multiple pregnancy) उत्पन्न नहीं होती। जब अनेक बीज बीजवाहिनियों में आ सकते हैं, तब यह घटना उत्पन्न होती है। इस प्रकार दो स्वतन्त्र बीजों से उत्पन्न हुए यमल द्विबीजात्मक (Binovular) और स्वतन्त्र बीजों से उत्पन्न हुए त्रिक, चतुष्क अनेक बीजात्मक (Multiovular) कहलाते हैं। प्रतिमास बीज का उत्सर्ग करना, उसको यथामार्ग बीजवाहिनी में ले जाना, गर्भ का उत्सर्ग, प्रतिमास आर्तव का उत्सर्ग ये कर्म अपानवायु के हैं—पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्। समीरणं शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवानि च॥ (सुश्रुत, निदान १)। इसलिए बहुबीजात्मक बहुप्रसवता अपानवायु के कारण समझ सकते हैं। (२) दूसरे प्रकार से भी बहुप्रसवता होती है। एक ही बीज शुक्रसंयुक्त होने के बाद दो भागों में पूर्णतया विभक्त (Complete division) होने से। इस प्रकार से उत्पन्न हुए अपत्यों को एकबीजात्मक (Uniovular) कहते हैं। इसमें भी दो प्रकार हैं—दो केन्द्रयुक्त बीज से होने वाले, और एक केन्द्रयुक्त बीज शुक्राणु से संगत होने के बाद दो भागों में पूर्णतया युग्मभाजन (Complete dichotomy) होने पर होने वाले। इस प्रकार की बहुप्रसवता पंचमहाभूतात्मक वायु के कारण समझ सकते हैं।

एकबीजात्मक अपत्यों की विशेषताएँ—(१) एक बीज से साधारणतया दो ही गर्भ हुआ करते हैं, परन्तु क्वचित् तीन भी हो सकते हैं—

Triplets may be developed from three ova or from two ova, one of which has a double nucleus or conceivably from a single ovum *Ten Teachers Midwifery.*

(२) युग्म बालकों में एकबीजात्मक अपत्यों का प्रमाण बहुत कम होता है। द्विकेन्द्रात्मक बीज से होने वालों का प्रतिशत प्रमाण बारह और एककेन्द्रात्मक बीज से होने वालों का ८ होता [illegible] लिङ्ग एक होता है और अपरा [illegible] एक ही होती है। (४) इनकी वृद्धि [illegible] कभी कभी विषमवृद्धि होती है और इनका [illegible] नहीं होता। (५) इनमें कालपूर्व [illegible] की संभावना भी अधिक होती है।

अनेकबीजात्मक अपत्यों की विशेषताएँ—(१) इसमें प्रत्येक गर्भ शुक्रसंयुक्त स्वतन्त्र बीज से उत्पन्न होता है। (२) युग्मों में द्विबीजात्मक अपत्यों का प्रमाण एकबीजात्मक अपत्यों की अपेक्षा छः से आठ गुना अधिक होता है, अर्थात् ८० प्रतिशत युग्म बालक द्विबीजात्मक होते हैं। (३) दोनों का लिङ्ग एक या भिन्न हो सकता है। परन्तु अपरा और गर्भ के आवरण सदैव स्वतन्त्र होते हैं। (४) इनकी वृद्धि ठीक और समान होती है, दोनों का तोल समान होता है और प्रायः स्वास्थ्य भी ठीक होता है। (५) प्रायः योग्य समय पर प्रसव होता है।

बहुप्रसवता का प्रमाण—अनेक देशों के प्रसूतिगृहों के

इतिवृत्तों का विचार कर हेलिन नामक शास्त्रज्ञ ने यह आनुमानिक नियम बनाया है कि प्रत्येक अस्सी प्रसवों में एक युग्म (Twins) उत्पन्न होता है, प्रत्येक ६४०० प्रसवों में एक त्रिक (Triplet) उत्पन्न होता है, और प्रत्येक ५१२००० प्रसवों में एक चतुष्क (Qadruplet) उत्पन्न होता है। पंचक (Qintlot) और षट्क (Sixlot) अपत्य बहुत कम होते हैं इसलिए उनके सम्बन्ध में नियम करना कठिन है—

We may mention as a curiosity, that according to a formula given by Hellin, there is one twin birth in 80 births, one triplet in 80 × 80 and one quintlet in 80 × 80 × 80. *Ideal Birth.*

बहुप्रसव राष्ट्र में युग्मों की संख्या उपर्युक्त प्रमाण से भी अधिक हुआ करती है—

As a rule, the more fertile a nation the more twin pregnancies will there be. *Ten Teacher's Midwifery.*

इनकी आयुर्मर्यादा—साधारणतया युग्म बालक सजीव प्रसूत होते हैं और साधारण अपत्य के समान आयुर्मर्यादा होती है। त्रिक बालक भी सजीव प्रसूत होते हैं और युग्म के समान जी सकते हैं। चतुष्क, पञ्चक और षट्क बालक सजीव प्रसूत हो सकते हैं, परन्तु प्रायः जीते नहीं। एक नीग्रो स्त्री से छः अपत्य हुए थे। उनमें पांच पुत्र और एक कन्या थी। उनमें एक बालक दो दिन तक जीवित रहा, चार तीन दिन तक जीवित रहे और एक चार रोज के बाद मर गया।

बहुपत्यता के हेतु—अनेक अपत्य क्यों उत्पन्न होते हैं? इस विषय का संतोषजनक उत्तर आज का विज्ञान नहीं दे सकता। तथापि निम्न कारण सहायता करते हैं। (१) कुलजप्रवृत्ति—बहुपत्यता में कुछ कुलजप्रवृत्ति सिद्ध हुई है। यह कुलजप्रवृत्ति स्त्री में अधिक होती है, क्योंकि आखिर में अनेक अपत्य उत्पन्न होने का कार्य स्त्रीबीजगत प्रवृत्ति पर निर्भर होता है परन्तु यह प्रवृत्ति पुरुष के बीज में भी कभी कभी दिखाई देती है, क्योंकि एक घर के कई भाइयों को युग्म हुए हैं और एक पुरुष से अनेक स्त्रियों में भी युग्म हुए हैं। पुरुष के शुक्राणुओं में यह प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न होती है, इसका भी संतोषजनक उत्तर देना कठिन है क्योंकि प्रत्येक समय असंख्य स्त्रीबीजों को सफल करने के लिए पर्याप्त शुक्राणु योनि में प्रविष्ट होते हैं। (२) आयु—इक्कीस से अट्ठाईस साल की आयु में युग्म अधिक होते हैं। अधिक उम्र की स्त्री में प्रथम प्रसव में अधिक होते हैं। (३) प्रसव क्रम—प्रथम प्रसव में युग्म होने की सम्भावना सब से अधिक होती है, दूसरे प्रसव में सब से कम होती है और तीसरे से फिर धीरे धीरे बढ़ने लगती है। जिस नीग्रो स्त्री के छः अपत्यों का ऊपर निर्देश किया गया है, उसको प्रथम बार चार, दूसरी बार तीन, तीसरी बार तीन और चौथी बार छः, इस तरह चार प्रसवों में कुल सोलह अपत्य हुए थे। बहुपत्यता के कारण एक स्त्री के ४४, उसकी एक बहन के ४१ और दूसरी बहन के २९ अपत्य हुए थे।

आयुर्वेद मे बहुपत्यता की उपपत्ति—बहुपत्यता के एकबीजात्मक और अनेकबीजात्मक करके दो कारण इस वक्तव्य के प्रारम्भ में आधुनिक पाश्चात्य कल्पना के अनुसार बताये गये हैं। आयुर्वेद में इसके संबंध में निम्न वचन मिलते हैं—भिनत्ति यावद्बहुधा प्रपन्नः शुक्रार्तवं वायुरतिप्रवृद्धः। तावन्त्यपत्यानि यथाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसूते॥ (चरक, शारीर २)। शुक्रार्तवेऽनिलेन खण्डशो भिन्ने यथाविभागमपत्यानामुत्पत्तिः। (अष्टांगसंग्रह, शारीर २)। मिश्रीभूतं च शुक्रार्तवं स्वविशिष्टहेतुकोऽनिलो यदा खण्डशः करोति तदा बहूनामपत्यानां संभवः। (इन्दु)। शुक्रार्तवे पुनः। वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं बह्वपत्यता। (अष्टांगहृदय, शारीर १)। यदा तु कललं वायुस्तद् द्विधा कुरुते बली। यमौ तदा संभवतः कृष्णात्रेयवचो यथा॥ (भेडसंहिता, शारीर १)। इन वचनों में 'मिश्रीभूतं शुक्रार्तवं' 'कलल' (तीसरे अध्याय का १८वाँ सूत्र और उसका वक्तव्य देखो) इत्यादि जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि आर्तव और शुक्र संयुक्त होने के पश्चात् उसमें विभाग होने के कारण बह्वपत्यता उत्पन्न होती है, यह आयुर्वेद के सब ग्रंथकारों का मत है। यह मत आधुनिक परिभाषा के अनुसार एकबीजात्मक (Uniovular) अपत्यों के लिए लागू है। इस दृष्टि से 'बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने' इसका स्पष्टीकरण 'अतिवृद्धेनान्तर्वायुना मिश्रीभूते शुक्रार्तवे द्विधा खण्डशो भिन्ने सति' ऐसा होता है। व्यवहार में यद्यपि एकबीजात्मक बह्वपत्यता हुआ करती है तथापि उसका प्रमाण बहुत कम होता है और अनेकबीजात्मक बह्वपत्यता अधिक हुआ करती है। तिस पर भी आयुर्वेद में अनेकबीजात्मक बह्वपत्यता का उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद के अनुसार पुरुष के शुक्र में और स्त्री के आर्तव में प्रत्येक समय एक ही बीज (उत्पादक अंश) होता है, ऐसी कल्पना होती है। इनके संयोग से एक अपत्य उत्पन्न होता है और जब इनके संयोग के कई विभाग हो जाते हैं तब कई अपत्य उत्पन्न होते हैं। पशुओं की बह्वपत्यता के सम्बन्ध में भी आयुर्वेद की यही कल्पना है, जिससे उपर्युक्त कथन की सत्यता स्पष्ट होती है—सूकरसारमेयादिजातिषु स्वनेनैव विधिना सदाऽनेकपत्यता। (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय, शा० १)। वायुस्तथश्वराहाणां देहेषु बलवान् पुनः। स तत्र कललं भित्वा करोति बहुपुत्रताम्॥ (भेडसंहिता, शा० १)। इसमें संदेह नहीं कि जानवरों में बह्वपत्यता मनुष्यों के समान हुआ करती है, इसलिए मनुष्यों की बह्वपत्यता की आयुर्वेद की कल्पना जैसी एकदेशीय है, वैसी जानवरों की बह्वपत्यता की भी हो जाती है। वास्तव में मनुष्यों में बह्वपत्यता अधिकतर अनेक बीजों से होती है और सूकर सारमेयादि पशुओं में भी ऐसी ही होती है। सूकरसारमेयादि जाति में बह्वपत्यता स्वभाव है। मनुष्य-जाति में, यद्यपि उसको विकृति नहीं कह सकते तथापि यह स्वभाव नहीं है अर्थात् स्वभावविरोधी कार्य होने में कुछ कारण होना चाहिए। आयुर्वेद इसके लिए पूर्वकर्म या पूर्वपाप कारण मानता है—कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसूते। (चरक)। तीसरे अध्याय का ४५वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो।

यमों मे न्यूनाधिक वृद्धि का हेतु—जब दो अपत्य एक बीज के विभिन्न होने से होते हैं, तब प्रायः एक अपत्य दूसरे से तोल में अधिक रहता है। इसका कारण यह होता है कि, दोनों की अपरा एक होती है और दोनों के रक्तपरिभ्रमण

पण्डकं शृणु पञ्चमम् ॥४३॥
यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते ।
ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्डसंज्ञितः ॥४४॥

(नरषण्ड—) पाँचवां पण्डक सुनो ॥४३॥ जो पुरुष (अपनी) स्त्री में ऋतुकाल में मोहवश स्त्री की तरह प्रवृत्त होता है, तब स्त्री के समान हावभाव करने वाला और आकार का पण्ड नामक (पुत्र) उत्पन्न होता है ॥४४॥

वक्तव्य—अङ्गनेव—मैथुन के समय स्त्री नीचे उत्तान और पुरुष ऊपर होना चाहिए—उत्ताना तन्मना योषित्तिष्ठेदङ्गैः सुसंस्थितैः । (अष्टांगहृदय) । पुरुष को स्त्री के नीचे होने का वैद्यक में निषेध किया है—न चासावधस्तिष्ठेत । तथाहि स्त्रीचेष्टः पुमान् जायते पुंश्चेष्टा स्त्री । (अष्टांगसंग्रह) । अङ्गनावदुत्तानो भूत्वा व्यवाययति । (डल्हण) । कामशास्त्र में इसका निषेध नहीं है। परन्तु यह आसन काम तृप्ति के लिए है सन्तानोत्पत्ति के लिए नहीं कहा है । इस प्रकार के आसन को 'पुरुषायित' कहते हैं और यह आसन पुरुष तब ग्रहण करता है, जब मैथुन के समय वह थक जाता है परन्तु उसकी कामेच्छा पूरी नहीं होती—नायकस्य सन्तताभ्यासात् परिश्रममुपलभ्य रागस्य चानुपशमम्, अनुमता तेन तमधोऽवपात्य पुरुषायितेन साहाय्यं दद्यात् ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र) । स्त्रीचेष्टिताकारः—स पुमान् स्त्र्याकृतिः स्त्रीचेष्टितश्च स्त्रीवदधोभूतः स्वमेढ्रस्योर्ध्वप्रदेशेऽपरपुरुषाद् वीर्यच्युतिं कारयति । (डल्हण) । स्त्री के समान शरीर का आकार, स्त्री के समान हावभाव करना, वेष करना और पुरुष से प्रेम करना इत्यादि ।

ऋतौ पुरुषवद्वाऽपि प्रवर्तेताङ्गना यदि ।
तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता ॥४५॥

(नारीपण्ड—) अथवा यदि स्त्री भी ऋतु समय में (मोहवश) पुरुष की तरह प्रवृत्त हो, तो यदि कन्या उत्पन्न होगी तो वह पुरुष के समान चेष्टा करने वाली होगी ॥४५॥

वक्तव्य—पुरुषवत्—पुरुष को नीचे करके स्वयं पुरुष के समान ऊपर होकर—पुरुषमधः कृत्वा व्यवायं कुरुते यदि । नरचेष्टिता—स्त्रीरूपाऽपि पुंवत् स्त्रियमारुह्य तद्योनौ स्वयोनिघर्षणं करोति । (डल्हण) । पुरुष के समान हावभाव करना, वेष करना और स्त्री से प्रेम करना इत्यादि ।

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा ।
सरेतसस्त्वमी ज्ञेया अशुक्रः षण्ड(ण्ढ)संज्ञितः ॥४६॥

(सशुक्र और अशुक्र पण्ढ—) आसेक्य, सौगन्धिक, कुम्भीक तथा ईर्ष्यक ये (चार नपुंसक) सशुक्र जानने चाहिएँ; पण्ढ नामक (नपुंसक) शुक्ररहित है ॥४६॥

वक्तव्य—सशुक्र—आसेक्यादि चार पुरुषों में एक विशेष अवस्था में सिर्फ ध्वजोच्छ्राय होता है और उस समय शुक्र भी गिरता है याने ये प्रजोत्पादन में समर्थ होते हैं। पंचम पण्ढ में प्रायः ध्वजोच्छ्राय नहीं होता तथा शुक्र भी नहीं गिरता; अर्थात् यह प्रजोत्पादन में असमर्थ है । यह वन्ध्य (Sterile) कहलाता है । आसेक्यादि पुरुष एक विशेष प्रकार के नपुंसक (Impotent) हैं । इनका विशेष विचार आगे के श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः ।
हर्षात्स्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छ्रायस्ततो भवेत् ॥४७॥

(ध्वजोच्छ्राय की उपपत्ति—) इस विप्रकृति के द्वारा हर्ष (उत्पन्न होने) से उनकी शुक्रवह सिराएँ फूल जाती हैं, जिसके कारण ध्वजोच्छ्राय होता है ॥४७॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आसेक्यादि नपुंसकों में ध्वजोच्छ्राय की युक्ति वर्णन की है । शुक्रवहसिरा—वृषण और शिश्नगत रक्तवाहिनियाँ । ध्वजोच्छ्राय—शिश्नोत्थापन (Erection of the penis) । ध्वजोच्छ्राय मैथुन के समय की एक प्राकृतिक और आवश्यकीय स्थिति है । ध्वजोच्छ्राय के विना मैथुन नहीं हो सकता । स्त्रियों में भी मैथुन के समय उनकी भगशिश्निका (Clitoris) का उच्छ्राय होता है; परन्तु स्त्रियाँ निश्चेष्ट होने के कारण उच्छ्राय के विना भी मैथुन हो सकता है—कर्ता हि पुरुषोऽधिकरणं युवतिः । (कामसूत्र) । अनया विप्रकृत्या—शुक्रप्राशनादि उपर्युक्त विपरीत प्रक्रियाओं के द्वारा । इन प्रक्रियाओंका वैपरीत्य समझने के लिए ध्वजोच्छ्राय में शिश्न में होने वाला परिवर्तन स्वाभाविक तौर से कैसे होता है, इसका ज्ञान बहुत आवश्यक है । ध्वजोच्छ्राय में शिश्नगत परिवर्तन—मैथुन के अतिरिक्त समय में शिश्न शिथिल, छोटा और सिकुड़ा हुआ रहता है। जब पुरुष का मन कामुक होता है, तब शिश्न पहले से बहुत दृढ़, मोटा और लंबा हो जाता है । पुरुष का शिश्न कितना ही मोटा और लम्बा क्यों न हो तथा योनि कितनी ही चौड़ी क्यों न हो, जब तक शिश्न खूब सख्त नहीं होगा, तब तक उसका प्रवेश योनि में नहीं होगा और मैथुन भी असंभव होगा। शिश्नोत्थान ठीक न होना यह नपुंसक (Impotent) का एक लक्षण है। शिश्न की बनावट में मूत्रप्रसेकधरा (Corpora spongiosa) एक और शिश्नपार्श्विका दो (Corpora cavernosa) इस तरह तीन पेशियाँ भाग लेती हैं । स्पंज के समान इन पेशियों में बहुत से गह्वर (Caverns) होते हैं, जो शिथिलावस्था में रिक्त रहते हैं । जब पुरुष का मन मैथुनप्रवण होता है, तब ये अवकाश रक्त से भरकर तन जाते हैं (स्फुटत्वमायान्ति)। रक्त आने का मार्ग खुलने के साथ साथ रक्त लौटने का मार्ग बंद हो जाता है । जैसे, गाढ़क (एक प्रकार का मोटा कपड़ा) की एकमुखी नलिका में पानी भरकर दूसरा मुख कसके बाँधने से उस नली में सख्ती आ जाती है, वैसे ही शिश्न के अवकाश विस्फुटित होकर उनमें रक्त भरकर लौटने का मार्ग बंद होने से शिश्न में सख्ती आ जाती है। यह सख्ती मैथुन समाप्त होने के समय तक याने वीर्य निकलने के समय तक रहती है। उसके पश्चात् रक्त लौट जाता है और शिश्न पहिले के समान शिथिल पड़ जाता है।

शिश्नगत ये परिवर्तन कैसे होते हैं?—शिश्नगत रक्तपरिभ्रमण का नियन्त्रण मस्तिष्क और कटिविभागगत केन्द्रों के द्वारा होता है। सुंदर स्त्री, स्त्री का कर्णमधुर गान, सुगन्धित फूलों की गंध, ताम्बूल सेवन, स्त्रीशरीर का स्पर्श इन कामोत्तेजक अर्थों का संबंध पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से होने पर उनकी सूचनाएँ इन इन्द्रियों के केन्द्रों में पहुँचती हैं, वहाँ से सोचने के स्थान में जाती हैं। आधुनिक

विद्वानों का कथन है कि कामुक विषयों की सूचनाओं का मनन करने का कोई एक स्थान या केन्द्र नहीं है, मस्तिष्क का संपूर्ण बहिस्तर (Cerebral cortex) यह काम करता है—

The higher sexual centres are situated in the brain Their exact location is not known It seems that the whole cortex is capable of receiving and transmitting sexual stimuli The human mind is omni-sexual *Riddle of Sex*

कामुक सूचनाओं का मन से ग्रहण होने पर बुद्धि से मैथुन करने का निश्चय हुआ हो तो मस्तिष्क से सूचना तारों द्वारा कटिविभागगत सुषुम्ना के जननेन्द्रियसंबंधी केंद्र को जाती है। यहां से जननेन्द्रियसंबन्धी रक्तवाहिनियों को जाती है, जिससे जननेन्द्रिय में रक्त पहुँचाने वाली वाहिनियां विस्फारित होकर उनमें काफी रक्त भर जाता है और जननेन्द्रिय से रक्त ले जाने वाली वाहिनियां संकुचित हो जाती हैं, जिससे आया हुआ रक्त लौट नहीं सकता और शिश्न का उत्थान होता है। कटिविभागगत सुषुम्नाकेन्द्र जननेन्द्रिय से नाड़ियों द्वारा आई हुई सूचना के अनुसार प्रतिक्षेप क्रिया (Reflex action) के द्वारा जननेन्द्रिय को उत्थित करने में स्वतन्त्र होता है। इस तरह स्पर्शादि कामुक विषयों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण मन को उत्तेजित करने का प्रधान मार्ग है और उत्तेजित मन मैथुनकर्म का प्रधान आश्रय है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शब्दस्पर्शादि बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि मन इन अर्थों को चिन्तन द्वारा मानसप्रत्यक्ष कर ले, तब भी वह उत्तेजित हो सकता है। इस तरह शब्दस्पर्शादि कामुक अर्थों का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या चिन्तन द्वारा प्रत्यक्ष करके उत्तेजित होकर मैथुन करने में समर्थ होना यह मन की प्रकृति है, इससे विपरीत विप्रकृति है। अब एक एक अर्थ का विचार किया जाता है।

(१) रूप—सुंदर, सुडौल, जवान, वस्त्रालंकार से विभूषित या नग्न स्त्री, स्त्री का मुख, केशकलाप, स्तन, नितम्ब, जघन इत्यादि अंग, स्त्री के वस्त्र अलंकार या अन्य पदार्थ, स्त्री की तस्वीर या मूर्तियां तथा अन्य कामोत्तेजक वस्तुओं में से एक या अनेकों के प्रत्यक्ष दर्शन या मानसिक चिंतन से शिश्नोत्थापन होना प्रकृति है। इसके सिवाय मनुष्यों के या जानवरों के मैथुनिक कर्म चित्र में या प्रत्यक्ष देखने पर शिश्नोत्थापन होना यह भी प्रकृति है। परन्तु जब उपरिनिर्दिष्ट दृश्यों में से एक दृश्य के प्रत्यक्ष दर्शन के सिवाय अन्य दृश्यों से उत्थापन नहीं होता और केवल उसी दृश्य से होता है, तब वह विप्रकृति हो जाती है। ईर्ष्यक इस प्रकार की विप्रकृति है। दूसरे का व्यवाय देखने से हर्षित होने की विप्रकृति को अंग्रेजी में Scoptophilia or mixoscopia or voyeurism कहते हैं—

Founded on the sense of vision also we find a phenomenon bordering on the abnormal which is by Moll termed Mixoscopy. This means sexual pleasure derived from the spectacle of other persons engaged in natural and perverted sexual notions *Studies in the Psychology of sex by Havelock Ellis.*

(२) रस—कामोत्तेजक अर्थात् वाजीकरण द्रव्यों के सेवन से काम को और बढ़ाना इसमें कोई खराबी नहीं होती है, परन्तु किसी पदार्थविशेष के सेवन के बिना मैथुन में असामर्थ्य उत्पन्न होना यह विप्रकृति है। आसेक्य इस प्रकार की विप्रकृति है, जिसमें मुखमैथुन (Fellatio) और शुक्रप्राशन के सिवा काम, हर्ष और उत्तेजना प्राप्त नहीं होती। शुक्र में वाजीकरण के गुण कुछ ऐसे विपरीत लोगों में दिखाई देते हैं—

Semen is thus a natural stimulant and physiological aphrodisiac When held for some time in the mouth, remarked John Hunter, it produces warmth similar to spices which lasts for some time The stimulation produced by the injection of semen would appear to form in some cases a part of the attraction exerted by Fellatio, De sade emphasized this point and in a case recorded by Howard semen appears to have acted as a stimulant for which the craving was as irresistible as that for alcohol in dipsomania. *Ibidem*

(३) गंध—सर्प तथा अन्य जानवरों में घ्राणेन्द्रिय बहुत तीक्ष्ण होती है और इस तीक्ष्णता के कारण वे घ्राणेन्द्रिय का अनेकविध उपयोग कर लेते हैं। मनुष्यों में घ्राणेन्द्रिय उतनी तीक्ष्ण नहीं है और उसकी उपयोगिता बहुत कम है तथापि सुगन्धित तेल, इत्र, पुष्प इत्यादि की गंध से मन प्रसन्न होता है और सम्पूर्ण मस्तिष्कसंस्थान कुछ उत्तेजित हो जाता है। अपने पुराने ग्रन्थों में स्त्री और पुरुष के शरीर की गंध वर्णन करके गंध के अनुसार पद्मिनी, चित्रिणी इत्यादि भेद किये हैं—पद्मिनी पद्मगन्धा स्यान्मधुगन्धा च चित्रिणी। शङ्खिनी क्षारगन्धा स्याद्धस्तिगन्धा च हस्तिनी॥ भवति कमलनेत्रा नासिका क्षुद्ररन्ध्रा अविरलकुचयुग्मा चारुकेशी कृशाङ्गी। मृदुवचनसुशीला गीतवाद्यानुरक्ता सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा॥ (रतिमंजरी)। यह गन्ध की कल्पना कुछ लोगों को केवल काल्पनिक मालूम होगी, परन्तु आधुनिक विद्वानों का भी कथन है कि स्त्री और पुरुष दोनों में युवावस्था में एक विशेष प्रकार की गन्ध उत्पन्न होती है—

In both sexes, puberty, adolescence, early manhood and womanhood are marked by a gradual developement of the adult odour of skin and excreta, in general harmony with the secondary sexual developements of hair and pigment *Psychology of Sex*

अब मैथुन की दृष्टि से गंध का विचार किया जाय तो यों कहना पड़ता है कि घ्राणेन्द्रिय और जननेन्द्रिय में जरूर कुछ सम्बन्ध है और एक के उत्तेजित हो जाने से दूसरा भी उत्तेजित हो जाता है। जानवरों में प्राय शरीर की, विशेष करके जननेन्द्रिय की, गंध को सूँघकर ही मैथुन में प्रवृत्ति और उत्तेजना आती है, क्योंकि उनकी शरीर की गंध और

घ्राणेन्द्रिय दोनों ही तीक्ष्ण होती हैं। मनुष्यों में शरीर की गंध तथा घ्राणेन्द्रिय दोनों ही उतनी तीक्ष्ण न होने के कारण मैथुन में शरीर की गन्ध को सूँघकर प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति याने प्रकृति नहीं होती। हां, मैथुन के समय सुगन्धित तैल, इत्र, पुष्पमाला इत्यादि का उपयोग स्त्री के शरीर पर करने से उनकी गन्धों का कामोत्तेजक प्रभाव जरूर कुछ पड़ता है और मैथुन में कुछ सहायता होती है, परन्तु यह प्रभाव गौण है। कुछ लोगों में गन्ध का, विशेष करके जननेन्द्रिय की गंध का कामोत्तेजक प्रभाव बहुत अधिक दिखाई देता है और ये लोग प्रायः उस गन्ध के सिवाय मैथुन करने में असमर्थ होते हैं, यह विप्रकृति है। सुगन्धी नपुंसक इसी वर्ग का है—

Olfactory influences play a certain part in various sexually abnormal tendences and practices which do not proceed from an exclusively olfactory fascination Thus, Cunnilingus and Fellatis derive part of their attraction more especially in some individuals from a prediliction for odours of sexual parts. In many cases smell plays no part in attraction. 'I enjoy cunnilingus if I like the girl very much inspite of the smell.' We may associate this impulse with the prevelence of these practices among sexual inverts in whom olfactory attraction are often specially marked. It is certain also that a great many neurasthenic people and particularly those who are sexually neurasthenic are particularly by susceptible to olfactory influences. A neurasthenic sensitiveness to odours is frequently accompanied by lack of sexual vigour. *Studies in the Psychology of Sex*

(४) स्पर्श—यह कामोत्तेजन का बड़ा प्रभावशाली इन्द्रियार्थ है। पुरुष का स्त्री के शरीर से और स्त्री का पुरुष के शरीर से स्पर्श होते ही दोनों के शरीर में बिजली की सी चमक पैदा होकर मन कामप्रवण होता है। कण्डूयन (गुदगुदाना), चुम्बन, आलिङ्गन और प्रत्यक्ष मैथुन स्पर्श के ही विविध प्रकार हैं। यद्यपि शरीर की सम्पूर्ण त्वचा में कामोत्तेजक शक्ति होती है तथापि कुछ स्थान ऐसे हैं कि जहां यह शक्ति विशेषरूप से होती है। इनको कामकटिबन्ध (Erogenie yones) कहते हैं। ये कामकटिबंध अधिकतर उन स्थानों में होते हैं, जहां बाह्य त्वचा का श्लेष्मल त्वचा से संयोग होता है। जैसे—मुख, योनिमुख, गुद, स्तनाग्र इत्यादि। इनके सिवाय ऊरु, कक्षा आदि अन्य स्थान भी होते हैं। इन कटिबंधों का आपस में या जननेन्द्रिय से संयोग होने पर कामवेग बढता है। इसलिए समागम के समय स्त्री-पुरुष कामवेग को बढ़ाने के लिए इन स्थानों की संयोगपरिवृत्ति (Permutations and Combinations) करते हैं। अर्थात् योनिचुम्बन, स्तनचुम्बन, गुदमैथुन, मुखमैथुन इत्यादि कार्य, जो प्रायः अस्वाभाविक कहलाते हैं, वास्तविक स्वाभाविक हैं। परन्तु यदि इन कर्मों का उपयोग मैथुन के बदले किया जाय, या इनमें से एकाध कर्म के सिवाय अन्य कामुक इन्द्रियार्थों से शिश्नोत्थान न हो तो यह विप्रकृति हो जाती है। कुम्भीक नपुंसक इस विप्रकृति का उदाहरण है, क्योंकि गुदमैथुन के सिवाय उसमें शिश्नोत्थापन नहीं होता।

(५) शब्द—कर्णमधुर गान, स्त्री के बोल, कोकिला के शब्द सुनकर तबीयत प्रसन्न होती है और कामवेग बढ़ता है; यह प्रकृति है। परन्तु यदि किसी विशेष शब्द के सिवाय कामवेग बिल्कुल ही न बढ़ता हो तो वह विप्रकृति हो जाती है। इस प्रकार का यहां कोई उदाहरण नहीं है।

कामुक विप्रकृति—उपर्युक्त आसेक्यादि चतुर्विध पुरुष कामुकविप्रकृति के जो अनेक प्रकार होते हैं, उनमें से एक प्रकार की विप्रकृति के (Sexual aberrations या Perversions) उदाहरण हैं। आसेक्यादि जिस विप्रकृति के उदाहरण हैं, उसकी विशेषता यह होती है कि एक विशिष्ट अवस्था में सिर्फ मनुष्य मैथुन करने में समर्थ होता है और उसके सिवाय षण्ढ रहता है। इस अवस्था को Fetishism (फेटीशिझम) कहते हैं। यह अवस्था मानसिक दौर्बल्य के कारण होती है—

Although the man be imptotent under what might be termed ordinary or usual circumstances, he is able to perform the sexual act under unusual or special conditions. This condition of affairs is a psychoneurosis, the man being impotent unless there are special and unusual circumstances attending the act, and to this state of affairs the name fetishism is given. *Index of differential diagnosis by Herbert French.*

चरकसंहिता में संस्कारवाही नाम से इसी विप्रकृति का वर्णन किया है—शुक्राशयद्वारविघट्टनेन संस्कारवाहं कुरुतेऽनिलश्च। (शारीर २)। संस्कार का अर्थ अष्टांगसंग्रह में इस प्रकार वर्णन किया है—तत्र संस्कारो वाजीकरावस्तयोऽभ्यवहारश्चेतोहर्षणानि च। विशिष्ट संस्कार के पश्चात् शुक्रवह सिराएँ विस्फुट होकर जिसको मैथुन में सामर्थ्य आ जाता है, वह संस्कारवाही है—संस्कारेण बस्तिवाजीकरणादिना परं यस्य शुक्रमदुष्टद्वारं सत् प्रवर्तते स संस्कारवाहः। (चक्रपाणिदत्त)। संस्कारेण वाजीकरणादिना शीघ्रगमनाय संवाहयत इत्यर्थः। (इन्दु)। अत्र च संस्कारवाहिन सुश्रुतोक्ता आसेक्यसौगन्धिककुम्भीका अन्तर्भावनीयाः, यत एतेऽपि संस्कारविशेषेणैव शुक्रं त्यजन्ति। (चक्रपाणिदत्त)। इस अवस्था का कारण विकृत वायु है। स्वाभाविक वायु 'सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, हर्षोत्साहयोर्योनिः' है, और विकृत होने पर 'मनो व्यावर्तयति' अर्थात् मनोव्यावर्तन इस अवस्था का कारण सिद्ध होता है। यही कारण आधुनिक परिभाषा में Psycho neurosis करके उपर्युक्त हर्बर्ट फ्रेंच के उद्धरण में दिया है। अतः Fetishism के लिए 'संस्कारवाहिता' शब्द प्रयोग कर सकते हैं।

नरषण्ढ और नारीषण्ढ—ये भी कामुक विप्रकृति के उदाहरण हैं। पुरुषषण्ढ देखने में स्त्री के समान होता

है। उसकी मानसिक स्थिति भी स्त्री के समान होती है। स्त्री के समान चेष्टा करने की उसकी इच्छा होती है और स्त्री के समान पुरुष के साथ प्रेम करता है और उसी से मैथुन भी करवाता है। ऊपर ४४-४५ वें श्लोक के वक्तव्य में डल्हण की टीका देखो। नारीपण्ड की इससे विपरीत स्थिति होती है। वह स्त्री होने पर भी सब काम मर्दाना करना चाहती है। शारीरिक कोई भी वैपरीत्य न होकर स्त्री में पुरुष के और पुरुष में स्त्री के गुणधर्म उपस्थित होना इस कामुक वैपरीत्य को नरनारीपण्ड कहते हैं। पाश्चात्य परिभाषा में इस कामुक विप्रकृति को सेक्सुअल इन्वर्शन (Sexual inversion), होमो सेक्सुआलिटी (Homo sexuality) या हर्शफील्ड की परिभाषा में सायको सेक्सुअल हर्माफ्रोडिटिझम (Psycho-sexual hermaphroditism) कहते हैं। इन पण्डों की शारीरिक और मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में ऊपर डल्हण का जो कथन दिया है, ठीक वैसा ही कथन 'हेवेलाक एलिस' अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

In male inverts there is a frequent tendency to approximate to feminine type and in female inverts to the masculine type This occurs both in physical and psychic respects Among female inve ts there is some approximation to the masculine attitude and temparament though this is by no means always conspicuous *Psychology of sex*

नरपण्ड अशुक्र है और अनुमान से नारीपण्ड अनार्तवी होती है, अर्थात् पुरुष वन्ध्य और नारी वन्ध्या दोनों ही प्रजोत्पादन में असमर्थ होते हैं। यह कथन भी ठीक मालूम होता है। कारण यह है कि इन नरनारीपण्डों की अन्तर्बाह्य जननेन्द्रियां अपक्व या शैशवीय (Infantile) हुआ करती हैं—

The sexual organs in both sexes are sometimes over developed, or perhaps more usually, under developed, in a slight approximation to the in fantile type Many of these physical and psychic characteristics may be said to indicate some degree of infantalism *Psychology of sex*

जिस मनुष्य में लैङ्गिक आकर्षण अपने लिङ्ग के मनुष्य की ओर होता है, उसे समलिङ्गी (Homosexual) और उस अवस्था को समलिङ्गता (Homosexuality) कहते हैं। जब यह अवस्था सहज या जन्मज होती है, तब उसे लैङ्गिक विपर्यास (Sexual inversion) कहते हैं। हेवेलॉक एलिस की इस व्याख्या के अनुसार नरनारीपण्ड Sexual inversion के उदाहरण हैं। जो समलिङ्गी मनुष्य सहज प्रकृति के नहीं होते, वे अशुक्र नहीं होते। वे स्त्री और पुरुष दोनों की ओर आकर्षित होते हैं। इसलिए द्विलिङ्गी (Bisexuals) कहलाते हैं। इन समलिङ्गियों में हस्तमैथुन, गुदमैथुन, मुखमैथुन इत्यादि अनेक लैङ्गिक विपर्यय मिलते हैं और संस्कारवाहित्व भी हो सकता है। इसलिए, आसेक्यादि पुरुष समलिङ्गियों के विविध प्रकार समझे जाते हैं।

कामुक या लैङ्गिक विप्रकृति (Sexual aberration) प्रकार—आधुनिक काल में पाश्चात्य विद्वानों ने का[म] विप्रकृति की ओर काफी ध्यान देकर उसके कई प्र[कार] निर्णीत किये हैं। उनका विवरण संक्षेप में नीचे [दिया] जाता है—

(अ) कामेच्छा का विपर्यय (अयोग और अतियोग)
(१) कामजड़ता (Sexual frigidity)—इस विपर्यय [में] मनुष्य की कामवासना बहुत कम रहती है या कभी [कभी] उसका अभाव होता है। (२) कामोल्लटना (Erotic[ism] Satyriasis, Nymphomania)—इसमें पुरुष या [स्त्री] कामवासना से उन्मत्त हो जाते हैं।

(आ) काम का मिथ्यायोग (Parasthesia sexualis)
(१) लक्ष्यविपर्यय—
(क) आत्मलिङ्गता (Auto sexuality)—इसमें पु[रुष] या स्त्री का कामुक आकर्षण अपने शरीर की ओर होता [है] और हस्तमैथुन, दिवा या रात्रि के स्वप्न, कामुकचिन्[तन] इत्यादि के द्वारा इसकी शान्ति होती है। उसको अ[न्य] व्यक्ति की आवश्यकता नहीं होती।

(ख) समलिङ्गता (Homosexuality, sexual i[n]version)—(१) द्विलिङ्गी—इसमें पुरुष और स्त्री दोनों [की] ओर आकर्षण होता है। (२) इसमें केवल अपने लिङ्ग[के] व्यक्ति की ओर आकर्षण होता है। (३) मानसिक प्रकृ[ति] दूसरे प्रकार के लिङ्ग के व्यक्ति के समान होती है। (४) शारीरिक आकृति दूसरे प्रकार के लिङ्ग के व्यक्ति के सम[ान] होती है।

नारीपण्ड और नरपण्ड इस प्रकार के हैं—

(ग) जानवरों की ओर आकर्षण होना (Bestiality)—कुत्ता, बिल्ली, सूअर, गौ, घोड़ी, बकरी इत्यादि जानव[रों] का उपयोग किया जाता है। इसको 'तिर्यग्योनिगम[न]' कहते हैं।

(घ) लौंडेबाजी या कुमारप्रियता (Paidophilia)—छोटे छोटे कोमल बच्चों के ऊपर प्रेम करना।

(ङ) मुर्देबाजी या शवप्रियता (Necrophilia)—श[व] शरीर पर प्रेम करना।

(२) हेतुविपर्यय—

(च) शिश्न और योनि के अतिरिक्त अन्य स्थानों [से] आनन्द प्राप्त करना (अयोनिगमन), या किसी असाधार[ण] वस्तु या क्रिया से आनन्द प्राप्त करना (Fetichism)। आसेक्यादि चतुर्विध पुरुष इसी वर्ग में आते हैं।

(छ) प्रदर्शनीयता (Exhibitionism)—इसमें मनुष्य में अपने गुह्यांग दूसरों को सार्वजनिक स्थानों में दिखाने की प्रवृत्ति होती है।

(ज) कामक्रूरता (Sadism, Masochism)—इसमें कामुकविपर्यय के अतिरिक्त दूसरे पर कर्णनासार्धकर्तन प्रहार करना इत्यादि क्रूरकर्म करने की प्रवृत्ति होती है।

(झ) काम का विपरीतकालोद्भव (Parodoxia sexualis)—इसमें अकाल में कामवासनाओं का उद्भव होता है। जैसे—स्त्रियों में बारह साल के पूर्व और पुरुषों में

पंद्रह साल के पूर्व कामवासना प्रवल होना। किंवा वृद्धावस्था में काम फिर से प्रवल होना।

इन लैङ्गिक विपर्ययों के उदाहरण उपर्युक्त सुश्रुत के श्लोकों के अतिरिक्त और भी मिलते हैं—कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु। (मेघदूत ९)। नहि जातवलाः सर्वेनराश्चापत्यभागिनः। वृहच्छरीरा वलिनः सन्ति नारीषु दुर्वलाः॥ सन्ति चाल्पवलाः स्त्रीषु वलवन्तो वहुप्रजाः। प्रकृत्या चावलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्वलाः॥ नराश्चटकवत् केचित् व्रजन्ति वहुशः स्त्रियम्। गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न वहुगामिनः॥ कालयोगवलाः केचित् केचिदभ्यसनध्रुवाः। केचित् प्रयत्नैर्व्यज्यन्ते वृषाः केचित् स्वभावतः॥ (चरक, चिकित्सा २)। नान्ययोनिं नायोनौ व्यवायं गच्छेत्। (चरक)। तिर्यग्योनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम्। दुष्टयोनौ विसर्गं तु वलवानपि वर्जयेत्॥ (सुश्रुत)। तिर्यग्योनिरजादिः। अयोनि मुखमैथुनम्, यथा दाक्षिणात्याः स्त्रियो मुखे मैथुनं कारयन्ति। (डल्हण)। स्त्रीयोगेणैव पुरुषाणामपि अलब्धवृत्तीनां वियोनिषु विजातिषु स्त्रीप्रतिमासु केवलोपमर्दनाच्चाभिप्रायनिवृत्तिर्व्याख्याता। धात्रेयिकां सखीं दासीं वा पुरुषवदलंकृत्याकृतिसंयुक्तैः कन्दमूलफलावयवैरपद्रव्यैर्वाऽत्माभिप्रायं निवर्तयेयुः॥ वियोनिषु वालोरुकक्षादिषु, विजातिषु एडीवडवादिषु। स्त्रीप्रतिमासु स्त्रीप्रतिकृतिषु समुत्कीर्णस्त्रीलिङ्गादिषु। कन्दा आलुकक्कदल्यादीनाम्। मूलं तालकेतकीनाम्। फलमलावुकर्कटीनाम्। (वात्स्यायनकामसूत्रस्य [जयमंगलाटीकायाम्, यशोधरः)। स्त्रियमयोनौ गच्छतः पूर्वस्साहसदण्डः, पुरुषमधिमेहतश्च। मैथुने द्वादशपणः तिर्यग्योनिष्वात्मनः। दैवतप्रतिमानां च गमने द्विगुणः स्मृतः। स्त्रीपुंसयोर्मैथुनार्थेनाङ्गविचेष्टायां रहश्शीलसंभाषायां वा चतुर्विंशतिपणः स्त्रिया दण्डः, पुंसो द्विगुणः। केशनीवीदन्तनखावलम्वनेषु पूर्वस्साहसदण्डः। (कौटिलीय अर्थशास्त्र)। इसके सिवाय 'औपरिष्टकम्' और 'प्रहणनयोगा' इत्यादि कामसूत्र के द्वितीय अधिकरणगत प्रकरण भी कामुक विपर्यय के ही हैं। उनके अन्त में वात्स्यायन लिखते हैं—कष्टमनार्यवृत्तमनादृत्यमिति वात्स्यायनः। तथादन्यदपि (प्रस्तराद्याहननं) देशसात्म्यात्प्रयुक्तमन्यत्र न प्रयुञ्जीत॥ तदेतत्त न कार्यं समयविरोधादसभ्यत्वाच्च।

ये लैङ्गिक विपर्यय अत्यन्त प्राचीन काल से अव तक, क्या सभ्य और क्या असभ्य, सभी लोगों में संसार भर में प्रचलित हैं, क्योंकि कामातुर मन क्या करेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं—अर्थस्यास्य रहस्यत्वाच्चलत्वान्मनसस्तथा। कः कदा, किं कुतः कुर्यादिति को ज्ञातुमर्हति॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। कामातुराणां न भयं न लज्जा। (सुभाषित)। शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मदरसा जनाः। प्रवृत्ते रतिचक्रे तु नैव शास्त्रं न च क्रमः॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। लैङ्गिक विपर्यास के कारण—इन लैङ्गिक विपर्यस्तों (Sexual perverts) को धार्मिकदृष्टया पातक का डर दिखाया जाता था, सामाजिक दृष्टि से लोग उनको घृणा से देखते थे और राजकीयदृष्टया विपर्यस्त काम करने पर उनको दण्ड दिया जाता था और अव भी इन तीन उपायों द्वारा उनकी संभावना होती है। परन्तु ये लोग इन उपायों का प्रयोग होते हुए भी प्राचीनकाल में थे, वर्तमानकाल में हैं, और भविष्यकाल में होंगे। पाश्चात्य देशों में गत अर्धशताब्दी में मानसशास्त्र क साथ साथ कामशास्त्र का भी काफी विचार हुआ है; और कुलजप्रवृत्ति, गर्भावक्रान्ति, शरीरकार्यविज्ञान इत्यादि अनेक शास्त्रों की सहायता से मन के इन कामुक विपर्ययों का विचार करने पर पाश्चात्य शास्त्रज्ञ इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यद्यपि वाल्य और युवावस्था में खराव संगति के कारण मनुष्यों को खराव आदतें लग सकती हैं, तथापि अधिकसंख्य लोग अपनी आन्तरिक प्रकृति के कारण ही विपर्यस्त होते हैं; अर्थात् उनकी प्रकृति विपरीत होती है। इस विप्रकृति के तीन कारण माने गये हैं—

(१) आदिवलप्रवृत्तिदोष (माता पिता के वीजों का दोष (Heredity)—माता पिता के धन के लिये जैसे उनकी प्रजा अधिकारी होती है, वैसे ही उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य के लिए भी उनकी प्रजा अधिकारी होती है। यह स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य उनके वीज के द्वारा संतति में प्रविष्ट होता है। कामुक विपर्यासयुक्त मातापिता की प्रजा में कामुक विपर्यास उत्पन्न हो सकता है। (२) जन्मवलप्रवृत्ति (Anamolies of developement)—माता के उदर में स्थित गर्भ में माता के आहार-विहार आचार-विचार के कारण या अन्य कारणों से विविध मानसिक और शारीरिक विकार जैसे उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है, वैसे ही लैङ्गिक विपर्यास भी उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है और जन्म के पश्चात् वाल्यावस्था और युवावस्था में खराव संगति के कारण या ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं द्वारा उनकी वृद्धि होती है। (३) अन्तःस्रावी ग्रंथियों (Endocrine glands) के दोष—गर्भ में पुंस्त्व और स्त्रीत्व के लिए योग्य वाह्य और आभ्यन्तरीय जननेन्द्रियां उत्पन्न करना, जन्म के पश्चात् योग्य वय में उनकी वृद्धि करना, दाढ़ी मूछें, स्तनवृद्धि इत्यादि व्यञ्जकविशेषों की वृद्धि करना तथा स्त्री और पुरुष के लिए योग्य मनोवृत्ति को वनाना इत्यादि सव कार्य शरीरगत कुछ विशेष ग्रंथियों के अन्तःस्राव से होते हैं। इन ग्रंथियों में स्त्रीत्व के लिए वीजग्रंथि (Ovary) का स्राव और पुरुषत्व के लिए वृषण का स्राव महत्व का है। इनके सिवाय अधिवृक्कग्रंथि (Suprarenal), ग्रीवाग्रंथि (Thyroid), थायमस (Thymus), पोषणकग्रंथि (Pituitary) इत्यादि अनेक ग्रंथियाँ लैङ्गिक कार्य में सहायता करती हैं। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् इनका कार्य विकृत होने से नरनारीपण्ढता, स्वलिङ्गता, कामजड़ता, कामोन्मत्तता, द्विलिङ्गता इत्यादि अनेक लैङ्गिक विपर्यय उत्पन्न होते हैं। इन ग्रंथियों की विकृति प्रायः आदिवल और जन्मवल के कारण ही हुआ करती है। इसलिए आधुनिक विद्वानों का यह कथन है कि लैङ्गिक विप्रकृतियां प्रकृतिप्रभव होती हैं और विप्रकृति और प्रकृति वास्तव में एक ही प्रकृति के तरतमदृष्टि से उत्पन्न हुए भेद हैं—

Thee lements of pathology are already to be found in the physiological, and pathological processes are still following the laws of physiology. Every normal man in matters of Sex, when we examine him carefully enough, is found to show some abnormal elements and the abnormal man is merely manifesting in a dis-ordered or extravagant shape some phase of the normal man. *Psychology of sex*

लैङ्गिक विपर्ययों की उत्पत्ति के संवंध में पाश्चात्य शास्त्रज्ञों

है। उसकी मानसिक स्थिति भी स्त्री के समान होती है। स्त्री के समान चेष्टा करने की उसकी इच्छा होती है और स्त्री के समान पुरुष के साथ प्रेम करता है और उसी से मैथुन भी करवाता है। ऊपर ४४-४५ वें श्लोक के वक्तव्य में डल्हण की टीका देखो। नारीषण्ढ की इससे विपरीत स्थिति होती है। वह स्त्री होने पर भी सब काम मर्दाना करना चाहती है। शारीरिक कोई भी वैपरीत्य न होकर स्त्री में पुरुष के और पुरुष में स्त्री के गुणधर्म उपस्थित होना इस कामुक वैपरीत्य को नरनारीषण्ढ कहते हैं। पाश्चात्य परिभाषा में इस कामुक विप्रकृति को सेक्सुअल इन्वर्शन (Sexual inversion), होमो सेक्सुआलिटी (Homo sexuality) या हर्शफील्ड की परिभाषा में सायको सेक्सुअल हर्मोफ्रोडिटिज्म (Psycho-sexual hermaphroditism) कहते हैं। इन षण्ढों की शारीरिक और मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में ऊपर डल्हण का जो कथन दिया है, ठीक वैसा ही कथन 'हेवेलाक एलिस' अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

In male inverts there is a frequent tendency to approximate to feminine type and in female inverts to the masculine type This occurs both in physical and psychic respects Among female inve ts there is some approximation to the masculine attitude and temparament though this is by no means always conspicuous *Psychology of sex*

नरषण्ढ अशुक्र है और अनुमान से नारीषण्ढ अनार्तवी होती है, अर्थात् पुरुष वन्ध्य और नारी वन्ध्या दोनों ही प्रजोत्पादन में असमर्थ होते हैं। यह कथन भी ठीक मालूम होता है। कारण यह है कि इन नरनारीषण्ढों की अन्तर्बाह्य जननेन्द्रियां अपक्व या शैशवीय (Infantile) हुआ करती हैं—

The sexual organs in both sexes are sometimes over developed, or perhaps more usually, under developed, in a slight approximation to the in fantile type Many of these physical and psychic characteristics may be said to indicate some degree of infantalism *Psychology of sex*

जिस मनुष्य में लैङ्गिक आकर्षण अपने लिङ्ग के मनुष्य की ओर होता है, उसे समलिङ्गी (Homosexual) और उस अवस्था को समलिङ्गता (Homosexuality) कहते हैं। जब यह अवस्था सहज या जन्मज होती है, तब उसे लैङ्गिक विपर्यास (Sexual inversion) कहते हैं। हेवेलॉक एलिस की इस व्याख्या के अनुसार नरनारीषण्ढ Sexual inversion के उदाहरण हैं। जो समलिङ्गी मनुष्य सहज प्रकृति के नहीं होते, वे अशुक्र नहीं होते। ये स्त्री और पुरुष दोनों की ओर आकर्षित होते हैं। इसलिए द्विलिङ्गी (Bisexuals) कहलाते हैं। इन समलिङ्गियों में हस्तमैथुन, गुदमैथुन, मुखमैथुन इत्यादि अनेक लैङ्गिक विपर्यय मिलते हैं और संस्कारवाहित्य भी हो सकता है। इसलिए, आसेक्यादि पुरुष समलिङ्गियों के विविध प्रकार समझ सकते हैं।

कामुक या लैङ्गिक विप्रकृति (Sexual aberration) के प्रकार—आधुनिक काल में पाश्चात्य विद्वानों ने कामुक विप्रकृति की ओर काफी ध्यान देकर उसके कई प्रकार निर्णीत किये हैं। उनका विवरण संक्षेप में नीचे दिया जाता है—

(अ) कामेच्छा का विपर्यय (अयोग और अतियोग)— (१) कामजड़ता (Sexual frigidity)—इस विपर्यय में मनुष्य की कामवासना बहुत कम रहती है या कभी कभी उसका अभाव होता है। (२) कामोत्कटता (Eroticism Satyriasis, Nymphomania —इसमें पुरुष या [illegible] कामवासना से उन्मत्त हो जाते हैं।

(आ) काम का मिथ्यायोग (Parasthesia sexualis)

(१) लक्ष्यविपर्यय—

(क) आत्मलिङ्गता (Auto-sexuality)—इसमें पु[रुष] या स्त्री का कामुक आकर्षण अपने शरीर की ओर होता और हस्तमैथुन, दिवा या रात्रि के स्वप्न, कामुकचिन्त[न] इत्यादि के द्वारा इसकी शान्ति होती है। उसको अ[न्य] व्यक्ति की आवश्यकता नहीं होती।

(ख) समलिङ्गता (Homosexuality, sexual i[n]version)—(१) द्विलिङ्गी—इसमें पुरुष और स्त्री दोनों [की] ओर आकर्षण होता है। (२) इसमें केवल अपने लिङ्ग [के] व्यक्ति की ओर आकर्षण होता है। (३) मानसिक प्रवृ[त्ति] दूसरे प्रकार के लिङ्ग के व्यक्ति के समान होती है। ([४]) शारीरिक आकृति दूसरे प्रकार के लिङ्ग के व्यक्ति के समा[न] होती है।

नारीषण्ढ और नरषण्ढ इस प्रकार के हैं—

(ग) जानवरों की ओर आकर्षण होना (Bestiality)- कुत्ता, बिल्ली, सूअर, गौ, घोड़ी, बकरी इत्यादि जानव[रों] का उपयोग किया जाता है। इसको 'तिर्यग्योनिगमन' कहते हैं।

(घ) लौंडेबाजी या कुमारप्रियता (Paidophilia)- छोटे छोटे कोमल बच्चों के ऊपर प्रेम करना।

(ङ) मुर्देबाजी या शवप्रियता (Necrophilia)—मु[र्दा] शरीर पर प्रेम करना।

(२) हेतुविपर्यय —

(च) शिश्न और योनि के अतिरिक्त अन्य स्थानों [से] आनन्द प्राप्त करना (अयोनिगमन), या किसी असाधार[ण] वस्तु या क्रिया से आनन्द प्राप्त करना (Fetichism)। आसेक्यादि चतुर्विध पुरुष इसी वर्ग में आते हैं।

(छ) प्रदर्शनीयता (Exhibitionism)—इसमें मनुष्य में अपने गुह्यांग दूसरों को सार्वजनिक स्थानों में दिखाने की प्रवृत्ति होती है।

(ज) कामक्रूरता (Sodism, Masochism)—इसमें कामुकविपर्यय के अतिरिक्त दूसरे पर कर्णनासाच्छेद[न] प्रहार करना इत्यादि क्रूरकर्म करने की प्रवृ[त्ति] होती है।

(झ) काम का विपरीतकालोदय (Parodoxia sex-ualis)—इसमें अकाल में कामवासनाओं का उदय हो[ता] है। जैसे—स्त्रियों में बारह साल के पूर्व और पुरुषों [में]

पंद्रह साल के पूर्व कामवासना प्रबल होना। किंवा वृद्धावस्था में काम फिर से प्रबल होना।

इन लैङ्गिक विपर्ययों के उदाहरण उपर्युक्त सुश्रुत के श्लोकों के अतिरिक्त और भी मिलते हैं—कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु। (मेघदूत ५)। नहि जातबलाः सर्वे नराश्चापत्यभागिनः। बृहच्छरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः॥ सन्ति चाल्पबलाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः। प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्बलाः॥ नराश्चटकवत् केचित् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम्। गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः॥ कालयोगबलाः केचित् केचिदभ्यसनध्रुवाः। केचित् प्रयत्नैर्व्यज्यन्ते वृषाः केचित् स्वभावतः॥ (चरक, चिकित्सा २)। नान्ययोनिं नायोनौ व्यवायं गच्छेत्। (चरक)। तिर्यग्योनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम्। दुष्टयोनौ विसर्गं तु बलवानपि वर्जयेत्॥ (सुश्रुत)। तिर्यग्योनिरजादिः। अयोनि मुखमैथुनम्, यथा दाक्षिणात्याः स्त्रियो मुखे मैथुनं कारयन्ति। (डल्हण)। स्त्रीयोगेष्वेव पुरुषाणामपि अलब्धवृत्तीनां वियोनिषु विजातिषु स्त्रीप्रतिमासु केवलोपमर्दनाच्चाभिप्रायनिवृत्तिर्व्याख्याता। धात्रेयिकां सखीं दासीं वा पुरुषवदलंकृत्याकृतिसंयुक्तैः कन्दमूलफलावयवैरपद्रव्यैर्वाऽत्माभिप्रायं निवर्तयेयुः॥ वियोनिषु बालोरुकक्षादिषु, विजातिषु एडीवडवादिषु। स्त्रीप्रतिमासु स्त्रीप्रतिकृतिषु समुत्कीर्णस्त्रीलिङ्गादिषु। कन्दा आलुकुकदल्यादीनाम्। मूलं तालकेनकीनाम्। फलमलाबुकर्कटीनाम्। (वात्स्यायनकामसूत्रस्य [जयमंगलाटीकायाम्, यशोधरः)। स्त्रियमयोनौ गच्छतः पूर्वस्साहसदण्टः, पुरुषमधिमेहतश्च। मैथुने द्वादशपणः तिर्यग्योनिष्वात्मनः। दैवतप्रतिमानां च गमने द्विगुणः स्मृतः। स्त्रीपुंसयोर्मैथुनार्थेनाङ्गविचेष्टायां रहश्शीलसंभाषायां वा चतुर्विंशतिपणः स्त्रिया दण्टः, पुंसो द्विगुणः। केशनीवीदन्तनखावलम्बनेषु पूर्वस्साहसदण्टः। (कौटिलीय अर्थशास्त्र)। इसके सिवाय 'औपरिष्टकम्' और 'ग्रहणनयोगा' इत्यादि कामसूत्र के द्वितीय अधिकरणगत प्रकरण भी कामुक विपर्यय के ही हैं। उनके अन्त में वात्स्यायन लिखते हैं—कष्टमनार्यवृत्तमनादृत्यमिति वात्स्यायनः। तथाऽन्यदपि (प्रस्तराघाहननं) देशसात्म्यात्प्रयुक्तमन्यत्र न प्रयुञ्जीत॥ तदेतत्त न कार्य समयविरोधादसभ्यत्वाच्च।

ये लैङ्गिक विपर्यय अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक, क्या सभ्य और क्या असभ्य, सभी लोगों में संसार भर में प्रचलित हैं, क्योंकि कामातुर मन क्या करेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं—अर्थस्यास्य रहस्यत्वाच्चलत्वान्मनसस्तथा। कः कदा, किं कुतः कुर्यादिति को ज्ञातुमर्हति॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। कामातुराणां न भयं न लज्जा। (सुभाषित)। शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मदरसा जनाः। प्रवृत्ते रतिचक्रे तु नैव शास्त्रं न च क्रमः॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। लैङ्गिक विपर्यास के कारण—इन लैङ्गिक विपर्यस्तों (Sexual perverts) को धार्मिकदृष्ट्या पातक का डर दिखाया जाता था, सामाजिक दृष्टि से लोग उनको घृणा से देखते थे और राजकीयदृष्ट्या विपर्यस्त काम करने पर उनको दण्ड दिया जाता था और अब भी इन तीन उपायों द्वारा उनकी संभावना होती है। परन्तु ये लोग इन उपायों का प्रयोग होते हुए भी प्राचीनकाल में थे, वर्तमानकाल में हैं, और भविष्यकाल में होंगे। पाश्चात्य देशों में गत अर्धशताब्दी में मानसशास्त्र के साथ साथ कामशास्त्र का भी काफी विचार हुआ है; और कुलजप्रवृत्ति, गर्भावक्रान्ति, शरीरकार्यविज्ञान इत्यादि अनेक शास्त्रों की सहायता से मन के इन कामुक विपर्ययों का विचार करने पर पाश्चात्य शास्त्रज्ञ इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यद्यपि बाल्य और युवावस्था में खराब संगति के कारण मनुष्यों को खराब आदतें लग सकती हैं, तथापि अधिकसंख्य लोग अपनी आन्तरिक प्रकृति के कारण ही विपर्यस्त होते हैं; अर्थात् उनकी प्रकृति विपरीत होती है। इस विप्रकृति के तीन कारण माने गये हैं—

(१) आदिबलप्रवृत्तिदोष (माता पिता के बीजों का दोष (Heredity)—माता पिता के धन के लिये जैसे उनकी प्रजा अधिकारी होती है, वैसे ही उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य के लिए भी उनकी प्रजा अधिकारी होती है। यह स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य उनके बीज के द्वारा संतति में प्रविष्ट होता है। कामुक विपर्यासयुक्त मातापिता की प्रजा में कामुक विपर्यास उत्पन्न हो सकता है। (२) जन्मबलप्रवृत्ति (Anamolies of developement)—माता के उदर में स्थित गर्भ में माता के आहार-विहार आचार-विचार के कारण या अन्य कारणों से विविध मानसिक और शारीरिक विकार जैसे उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है, वैसे ही लैङ्गिक विपर्यास भी उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है और जन्म के पश्चात् बाल्यावस्था और युवावस्था में खराब संगति के कारण या ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं द्वारा उनकी वृद्धि होती है। (३) अन्तःस्रावी ग्रंथियों (Endocrine glands) के दोष—गर्भ में पुंस्त्व और स्त्रीत्व के लिए योग्य बाह्य और आभ्यन्तरीय जननेन्द्रियां उत्पन्न करना, जन्म के पश्चात् योग्य वय में उनकी वृद्धि करना, दाढ़ी मूछें, स्तनवृद्धि इत्यादि व्यञ्जकविशेषों की वृद्धि करना तथा स्त्री और पुरुष के लिए योग्य मनोवृत्ति को बनाना इत्यादि सब कार्य शरीरगत कुछ विशेष ग्रंथियों के अन्तःस्राव से होते हैं। इन ग्रंथियों में स्त्रीत्व के लिए बीजग्रंथि (Ovary) का स्राव और पुरुषत्व के लिए वृषण का स्राव महत्व का है। इनके सिवाय अधिवृक्कग्रंथि (Suprarenal), ग्रीवाग्रंथि (Thyroid), थायमस (Thymus), पोषणकग्रंथि (Pituitary) इत्यादि अनेक ग्रंथियाँ लैङ्गिक कार्य में सहायता करती हैं। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् इनका कार्य विकृत होने से नरनारीपण्ढता, स्वलिङ्गता, कामजड़ता, कामोन्मत्तता, द्विलिङ्गता इत्यादि अनेक लैङ्गिक विपर्यय उत्पन्न होते हैं। इन ग्रंथियों की विकृति प्रायः आदिबल और जन्मबल के कारण ही हुआ करती है। इसलिए आधुनिक विद्वानों का यह कथन है कि लैङ्गिक विप्रकृतियाँ प्रकृतिप्रभव होती हैं और विप्रकृति और प्रकृति वास्तव में एक ही प्रकृति के तरतमदृष्टि से उत्पन्न हुए भेद हैं—

Thee lements of pathology are already to be found in the physiological, and pathological processes are still following the laws of physiology. Every normal man in matters of Sex, when we examine him carefully enough, is found to show some abnormal elements and the abnormal man is merely manifesting in a dis-ordered or extravagant shape some phase of the normal man. *Psychology of sex*

लैङ्गिक विपर्ययों की उत्पत्ति के संबंध में पाश्चात्य शास्त्रज्ञों

के अनुसार ऊपर जो तीन कारण दिये हैं, वे ही तीन कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यही बड़ी आश्चर्यजनक और सतोषजनक बात है (१) आदिबलप्रवृत्ति दोष—यदा तु स्त्रिया शोणितगर्भाशयौ दोषा किञ्चित् प्रदूषयन्ति तदा यो गर्भो भवति तस्य गर्भस्य यस्य यस्य मातृजस्यावयवस्य बीजे बीजांशे वा दोष प्रकोपमापद्यते त तमवयव विकृतिराविशति। एवमेव पुनो यदा शुक्राश्रये बीजे बीज प्रदुष्यति, इत्यादि योजयेद्द्रष्टव्य पूनिप्रज तथा पुरुषाकृतिप्राय पुरुष तृणपुत्रिक नाम जनयति। (अष्टाङ्गसंग्रह)। इसके सिवाय सुश्रुत में आसेक्यादि षड्विध षण्ढ और चरक में द्विरेता, वक्री इत्यादि षण्ढ शुक्रशोणितदोषजन्य ही वर्णन किये हैं। (२) जन्मबलप्रवृत्ति दोष—बीजात्म गर्भाशयकालदोषैर्मातुस्तदाहारविहारदोषैः। कुर्वन्ति दुष्टा विविधानि दोषा सस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि॥ (चरक)। इसमें इन्द्रियवैकृत के भीतर लैङ्गिक विपर्यय आ जाते हैं। शुक्राशय गर्भगतस्य गत्वा करोति वायु पवनेन्द्रियत्वम्। वाय्वग्निदोषाद्वृषणौ तु यस्य नाश गतौ वातिकषण्डक स। शुक्राशयद्वारविघट्टनेन सस्कार वाह हि करोति वायु। व्यवायशीला (गर्भिणी) दुर्बलपुत्रसहीक स्त्रैण वा। अभिध्यात्री परोपतापिनमिर्ष्यु स्त्रैण वा। खड्कनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्य वा। (चरक)। (३) स्त्रीकर और पुरुषकर भाग दोष—यदा तु अस्या शोणिते गर्भाशयबीज भागावयव स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेश प्रदोष मापद्यते तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रिय वार्तां नाम जनयति। यदा त्वस्य बीजे बीजभागावयव पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेश प्रदोषमापद्यते तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुष तृणपुत्रिक नाम जनयति। (चरक)। स्त्रीकर शरीर भाग के सबंध में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—स्त्रीकराणां शरीरबीजभागानामिति स्त्रीत्वव्यञ्जकस्तनो पस्थलोमराज्यादिजनकबीजभागानाम्। वैसे ही 'पुरुषकराणामिति पुंस्त्वव्यञ्जकश्मश्रुपस्थलोमराज्यादिजनकबीजभागानाम्' भी कह सकते हैं। संक्षेप में स्तन श्मश्रु इत्यादि स्त्रीत्व पुरुषत्व-व्यञ्जक अंगों की उत्पत्ति करने वाले भाग का दोष। आधुनिक शारीरकार्यविज्ञान के अनुसार यह सिद्ध हुआ है कि पुरुषत्व और स्त्रीत्व व्यञ्जक अंगों की उत्पत्ति का काम विशेष अन्त स्रावी ग्रंथियों के रस से होता है—

The main spring of puberty lies in the sexual hormone, the hormone, so we have learned, is a product of internal secretion by the sex glands *The testicles in the male and the ovaries in the female* are the workshops and supply stations of sexual hormone Now, sexual hormone is not a new ingredient of puberty It has existed before and some authorities have reserved for it the formidable task of sex differentiation in the embryo It decides the issue between male and female Secondary sexual characteristics one being developed The larynx grows longer The voice gets deeper A crop of hair appears on the face and upper lip of the male The testicles grow larger The female breasts swell. The girdle becomes fuller. *The Riddle of the sex*

चक्रपाणिदत्त के कथन का मेल इस उद्धरण के साथ करने पर स्त्रीकर और पुरुषकर भाग आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार Sexual glands समझ सकते हैं। आसेक्यादि चतुर्विध पुरुष नपुसक हैं। उनमें एक विशेष सस्कार से ध्वजोच्छ्राय होता है, *अन्यथा उनमें ध्वजोच्छ्राय नहीं होता।* इस अवस्था को सस्कारवाहित्व (Fetichism) कहते हैं। नपुंसकत्व (Impotence) का यह कारण है। इसके सिवाय और भी कई कारण होते हैं, उनका यहां सक्षेप में विचार किया जाता है।

नपुसकता (Impotence) के कारण—(१) शिश्न और वृषण के विकार—मेढ्रामयात्। (अष्टागसंग्रह)। वदन्ति शेफसश्छेदात्। (चरक)। जैसे शिश्न का सहजव्यग, निरुद्धप्रकश, वृषणक्षय, शिश्न का अभाव, शिश्न का कर्कट (कैन्सर), श्लीपद, जल वृषण (मूत्रजवृद्धि) इत्यादि।

(२) शारीरिक विकार—रसादीना च सक्षयात्। वाता दीनां च वैषम्यात्तथैवानशनाच्छ्रमात्। (चरक)। अतिस्थौल्यात् (अष्टागसग्रह)। जरया, क्षयात्। (चरक)। मधुमेह, वातरक्त, जरा, पोष-ग्रंथि का कार्य ठीक न होना (Hypopituitrism), अतिस्थौल्य, फिरग की चौथी अवस्था के मस्तिष्क सुषुम्नागत विकार, क्ष-रश्मि का परिणाम घातक रक्तक्षय, राजयक्ष्मा, फिरग और विषमज्वर दौर्बल्य इत्यादि।

(३) मानसिक विकार—चिन्तया, स्त्रीणा चातिनिषेवणात्, स्त्रीणामसेवनात्, स्त्रीरोषदर्शनात्, अरसज्ञत्वात्, शोकचिन्ता भयत्रासात्। (चरक)। अतिहर्षात्, स्त्रीणामकौशलात्, क्रोधात् (अष्टागसग्रह)। मन, मस्तिष्क और मैथुनकर्म के सबध में पीछे इसी वक्तव्य के प्रारम्भ में जो विवरण किया गया है, उस से मानसिक विकारों का नपुसकता के साथ कितना घना सबध है, इसका बोध हो जायगा। जब तक पुरुष का मन मैथुन की ओर नहीं लगेगा तब तक जननेन्द्रिय में खून रक्तसंचय नहीं होगा और ध्वजोच्छ्राय भी ठीक नहीं होगा। इसलिए मैथुन के समय 'तन्मय' होना बहुत आवश्यक है—उत्सर्ग मैथुनाहारशोधने स्यात्तु तन्मना। (सुश्रुत)। उपर्युक्त मानसिक विकारों से पुरुष का मन मैथुन से पराङ्मुख हो जाता है, जिससे ध्वजोच्छ्राय ठीक न होने के कारण मैथुन नहीं हो सकता। इस विषय का कुछ अधिक विवरण सुश्रुत चिकित्सास्थान के २६वें अध्याय में होगा। वन्ध्यता के भी प्राय ये ही कारण होते हैं। पीछे २ सूत्र का वक्तव्य तथा ३ अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में पुरुष की मन स्थिति की टिप्पणी भी देखो।

आहाराचारचेष्टाभिर्यादशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥४८॥

(आहाराचारचेष्टा का सन्तति पर परिणाम—) जिस प्रकार के आहार, आचार और चेष्टाओं से युक्त होकर स्त्री और पुरुष समागम करते हैं, उस प्रकार की सन्तान उनसे (उत्पन्न) होती है॥४८॥

वक्तव्य—पुत्र—कन्या या पुत्र—पुत्रशब्दोऽपत्यमात्रो पलक्षणार्थोऽत्र। (अरुणदत्त)। समुपेयाताम्—इससे केवल समागमकाल अभिप्रेत नहीं है, समागमपूर्वकाल भी इसमें समाविष्ट है। इसको गर्भधारणकाल (Procreation period) कहते हैं। इस काल की अवधि आयुर्वेद के अनुसार अधिक से अधिक एक महीने

की समझ सकते हैं—मासं ब्रह्मचारी, मासं ब्रह्मचारिणीम । (सूत्र २९ देखो)। यह एक महीने का काल स्त्री की दृष्टि से उचित है, क्योंकि एक महीने में केवल एक ही बीज कोष से पक होकर बाहर निकलता है, जिससे गर्भ-धारणा हो सकती है । पुरुष की दृष्टि से एक महीने की अवधि कुछ अधिक है, क्योंकि उसके वृषण में प्रतिदिन असंख्य शुक्राणु उत्पन्न होते हैं । परन्तु व्यवहार के लिए अधिक से अधिक एक महीने की अवधि दोनों में भी उचित समझी जा सकती है । पाश्चात्य शास्त्रज्ञ मद्य, अफीम इत्यादि नशीली चीजों का वर्जन गर्भाधान के पूर्व एक महीना भर करने को कहते हैं—

Prospective parents who in intentional procreation wish to give life to a child with the best possible predispositions must be advised not to drink alcohol for a long time-at least four weeks. This period is not chosen arbitrarily. It is based at least for the women, on the consideration that a poisoned follicle and vitellus developed from it might damage and endanger embryo and pregnancy. This abuse (opium and morphia, etc.) might be discontinued at least for the period (one month) claimed above for preparation for the act of procreation. *Ideal Birth.*

इस एक महीने के काल में स्त्री और पुरुष का जिस प्रकार का आहार होगा, विहार होगा, मानसिक स्वास्थ्य होगा; उसी के अनुसार अपत्य भी स्वस्थ या अस्वस्थ, सबल या निर्बल, आनंदी या दुःखी, चञ्चल या स्थिर हो जायगा । इसलिए जिस प्रकार के अपत्य की इच्छा हो, उस प्रकार के अपत्य के लिए उचित आहार, विहार, आचार, विचार, चिन्तन इत्यादि शारीरिक और मानसिक कर्म स्त्री और पुरुष दोनों को ही एक महीना भर के लगभग करने चाहिएँ—इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितांश्च तौ । चिन्तयेतां जनपदांस्तदाचारपरिच्छदौ ॥ (अष्टांगहृदय)। Ideal Birth में भी लिखा है—

By procreation, we want to transmit our ego and make it go on living in our children and children's children. And therefore because we want to and must give our best we should set a certain time for concentration on the duty in which we prepare body and mind.

पीछे सूत्र २७वें का भी वक्तव्य देखो ।

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन
मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥४६॥

(अनस्थिगर्भोत्पत्तिहेतु—) जब अत्यन्त कामातुर हुई दो स्त्रियां समागम करती हैं और किसी तरह से एक दूसरे में शुक्र का उत्सर्ग करती हैं, तब अनस्थि (गर्भ) पैदा होता है ॥४६॥

वक्तव्य—वृषस्यन्ती—वृषभ की इच्छा करने वाली गौ, यह इसका योगार्थ है । स्त्री की दृष्टि से वृष के समान मैथुन कर्म में बलवान् पुरुष के साथ समागम की इच्छा करने वाली अर्थात् अत्यन्त कामातुर—'वृषं पुरुषमात्मार्थमिच्छन्ती' इति वृषस्यन्ती । रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा । अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे । इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ (रघुवंश १२)। शुक्र—स्त्रियों में मैथुन के आनन्द से योनिगर्भाशय से एक प्रकार का चिपचिपा स्राव स्रवता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । परन्तु यह पुरुषों के समान गर्भजनक शुक्र नहीं है, न इसका गर्भोत्पत्ति से कोई संबंध है; इस बात का स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद में किया गया है—योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे । गर्भस्य तत्र किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते ॥ (अष्टांगसंग्रह)। इस विषय के संबंध में अरुणदत्त अष्टांगहृदय की टीका में लिखते हैं—तदेवं तरुणीनां कुसुमशराक्रान्तमानसानां तथाविधेन पुरुषसंयोगेन विनाऽपि केवलात् स्मृतिसंस्पर्शदर्शनाच्चलितप्रस्रुतरेतसां किमिति गर्भो न जायते ? । शुक्रार्तवं हि गर्भकारणम् । तच्च सन्निहितमेवेति केचित् । तान् ब्रूमहे । पुंशुक्राभावात् । पुंशुक्रं हि स्त्रीरेतोरक्तयुक्तं गर्भकारणम् । न च तदत्रास्ति । तदभावाद्गर्भस्याऽनुत्पत्तिः । तथा च संग्रहेऽप्यध्यगीष्ट—। यूरोप में १७वीं शताब्दी तक मैथुन के समय के इस योनिगर्भाशयगत स्राव को स्त्रीशुक्र ही कहते थे और गर्भधारणा के लिए उसे आवश्यक मानते थे—

This mucous ejaculation was in former days regarded as analogous to the seminal ejaculation in men and hence essential to conception. The belief that mucus poured out in women during sexual excitement is femenine semen and therefore essential to conception had many remarkable conjectures and was wide spread until the seventeenth century. *Studies in the Psychology of sex.*

आयुर्वेद में इस प्रकार का अज्ञान स्त्रीशुक्र के संबंध में नहीं था, यह उपर्युक्त अरुणदत्त और वाग्भट के वचनों से स्पष्ट है । अनस्थि—अस्थिविरहित, कोमलास्थियुक्त या विकृतास्थियुक्त । 'अ' से अभाव, अल्पता और अप्राशस्त्य तीनों का बोध हो सकता है ।

इस श्लोक में नारीषण्ढों (Female Homosexual) का उल्लेख है । नारीषण्ढ स्त्रियों से प्रेम करती है, स्त्रियों से कामुक चेष्टा करती है, वेष आकृति इत्यादि में पुरुषों का अनुकरण करने की इच्छा करती है । जो द्विलिङ्गी नारीषण्ढ (Bisexual) होती है, वह स्त्री से भी प्रेम करती है और किसी पुरुष की पत्नी होकर भी रह सकती है । इस श्लोक का अभिप्राय—(१) स्त्रीशुक्र से गर्भोत्पत्ति का विचार किया जाय तो इस कथन को प्रत्यक्षविरोधी, आयुर्वेदविरोधी और अनार्ष मानकर इस श्लोक को प्रक्षिप्त समझ सकते हैं । (२) यदि अनस्थि याने कोमलास्थि विकृतास्थि युक्त बालकों के विकारों (जैसे—Rickets, Osteogenesis Imperfecta Fragilitas Ossium इत्यादि) की दृष्टि से विचार किया जाय तो यों कह सकते हैं कि इस प्रकार के कुकर्म के साथ इनकी उत्पत्ति का संबंध किया गया होगा, जैसे कि नरनारीषण्ढ की उत्पत्ति में माता पिता के कुछ विपरीत कर्म का संबंध लगाया गया है । पूर्वापर संदर्भ से द्वितीय अर्थ अधिक उचित मालूम पड़ता है ।

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत् ।

आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥५०॥
मासि मासि विवर्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम्।
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥५१॥

(विकृतगर्भोत्पत्ति—) परन्तु यदि ऋतुस्नाता स्त्री स्वप्न में मैथुन का अनुभव करे तो वायु आर्तव को गर्भाशय में ले जाकर गर्भ को उत्पन्न करता है ॥ ५० ॥ (इस प्रकार की) गर्भिणी के गर्भ के लक्षण प्रतिमास बढ़ते जाते हैं, (परन्तु) उसका (वह गर्भ) पितृगुणविरहित (केवल) कलल बनता है ॥

वक्तव्य—स्वप्ने मैथुनमावहेत्—पुरुषसमागम के समय तथा समागम का चिन्तन करने से जैसे स्त्रियों की योनि गर्भाशय से शुक्रस्राव होता है, वैसे ही स्वप्न में मैथुन का दृश्य देखने पर पुरुषों के समान स्त्रियों में भी योनिगर्भाशय से शुक्रस्राव होता है—

Inquiries into the lives of girls reveal numer ous incidents of org astic dreams resulting, pro bably, in secretions from cervix and other parts, such as seen in normal intercourse *Riddle of sex*

गर्भलक्षण—आर्तव का बंद होना, प्रातर्वमन इत्यादि जो तीसरे अध्याय के १३वें सूत्र में वर्णन किये हैं। पैतृकैर्गुणैः—गर्भ में केश, श्मश्रु, नख, अस्थि, सिरास्नायु इत्यादि धातु पिता से उत्पन्न होते हैं, तीसरे अध्याय का ४२वां सूत्र देखो। इन धातुओं से विरहित गर्भ उत्पन्न होता है।

इन श्लोकों के भी पिछले श्लोकों के अनुसार दो अर्थ कर सकते हैं। (१) स्त्री के आर्तव के साथ स्वप्न में मैथुन कर्म अनुभव करने पर उत्पन्न हुए स्त्री के शुक्र का संयोग गर्भोत्पादन के लिए पर्याप्त नहीं है, इसका विचार पिछले श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। अतएव इन श्लोकों को अनार्ष या प्रक्षिप्त मानना। सुश्रुत के प्राचीन टीकाकार जेज्जटाचार्य इन श्लोकों को नहीं पढ़ते हैं—इमौ द्वावपि श्लोकौ जेज्जटाचार्येण न पठितौ। (डल्हणटीका)। (२) अथवा अस्थि स्नायु इत्यादि से विरहित विकृत गर्भ की उत्पत्ति के लिए विवाहित स्त्री का स्वप्नमैथुन कारण मानना। पूर्वापर सदर्भ से दूसरा अर्थ प्रशस्त है।

कुकर्मों से मनुष्यों को परावृत्त करने के लिये प्रत्येक शास्त्र अपने अधिकारानुसार उसका खराब फल बतलाता है। जैसे—अर्थशास्त्र कुकर्म के लिए दण्ड देता है, धर्मशास्त्र प्रायश्चित्त या दूसरे जन्म में नीच योनि या रोग की उत्पत्ति बतलाता है और वैद्यशास्त्र इसी जन्म में रोगोत्पत्ति या सन्तति में रोगोत्पत्ति बतलाता है। जैसे—अनार्यपाणिपाद स्यात् श्वगुरु सखिमायग। (वृद्धगौतम)। स्त्रियमयोनौ गच्छतः पूर्वसाहसदण्ड, पुरुषमधिमेहतश्च। (कौटिलीय अर्थशास्त्र)। ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभि। कर्मभि पाप रोगस्य प्राहु कुष्ठस्य सम्भवम् ॥ (सुश्रुत)। इस श्लोक से रक्तगुल्म का भी अर्थ निकाला जाता है, परन्तु निम्न कारणों से यह अर्थ अयथार्थ मालूम पड़ता है—(१) पूर्वापर संदर्भ से ये श्लोक गर्भ की विकृति के सम्बन्ध में लिखे गये हैं। रक्तगुल्म गर्भ की विकृति नहीं है, गर्भाशय की विकृति है, जिसमें गर्भ के समान लक्षण होते हैं—मगर्भलिङ्ग। (२) चरक, सुश्रुत, वाग्भट तथा आयुर्वेद के अन्य ग्रंथों में रक्तगुल्म के कारणों में स्वप्नमैथुन का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। (३) यदि ग्रंथकार इससे रक्तगुल्म समझता तो उत्तरतन्त्र में जहां पर इसका विवरण किया गया है, वहां का उल्लेख यहां पर कर देता, जैसे कि पानीय क्षार के बारे में किया गया है—न चेनरक्षारवदन्धा परिस्रावयेद, तस्य विस्तारो न्यत्र (उत्तरस्थाने क्षारपाकविधि अध्याय)

सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये।
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम् ॥ ५२ ॥
गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वावमानिते।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिन एव च ॥५३॥
मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृतैः।
वातादीनां च कोपेन गर्भो विकृतिमाप्नुयात् ॥५४

(गर्भ की विकृतियाँ और उनके हेतु—) सर्प, वृश्चिक कूष्माण्ड (इत्यादि के समान) विकृताकारी जो स्त्रियों के गर्भ (होते हैं), वे अकसर पाप कर्मों से (होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥५२॥ वातप्रकोप से, अथवा दौहृद के अवमानना करने से गर्भ कुबड़ा, कुणि (जिसका हाथ विकृत या खराब हो गया है ऐसा), पङ्गु (लँगड़ा या विकृत पैर का), मूक (गूँगा), अथवा मिन्मिन (जिसका उच्चारण नासा में होता है ऐसा, सानुनासिक वाक्) होता है ॥५३ माता पिता की नास्तिकता से पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्म से और वातादि (दोषों) के प्रकोप से गर्भ विकृति को प्राप्त हुआ करता है ॥ ५४ ॥

वक्तव्य—सर्पवृश्चिकादि—इससे सर्प वृश्चिकादि का अर्थ न करना चाहिए। मनुष्ययोनि में जन्म लेकर जिनका शरीर मनुष्य की वास्तविक आकृति से भिन्न होता है, ऐसे विकृताकारी गर्भ इस शब्दप्रयोग से अभिप्रेत हैं। विकृताकृतय—गर्भ में जो अनेक विकृताकार दिखाई देते हैं वे अंगों की अतिवृद्धि, अवृद्धि और अर्धवृद्धि इन कारणों से होते हैं। ये विकृताकार Anamolies of foetal developements or Congential mal format ons कहलाते हैं। इसमें कटा होंठ, फटी तालु, टेढ़ा पैर, विकृत हस्त अंगुलियों का अधिक, कम या संयुक्त होना, उनका अभाव, गुदा या मूत्रद्वार का न होना, सिर का बड़ा होना, मस्तिष्कावरण और सुषुम्नावरण की ग्रंथियां (Me ngocele) इत्यादि अनेक प्रकार होते हैं। इनमें से विशेष प्रकार की विकृताकारता को Monstr city या Terat s n कहते हैं और विकृतगर्भ को Mons ers (राक्षस) कहते हैं। सर्पादि उदाहरण इसी वर्ग के हैं। आधुनिक काल में इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—

(अ) अयुक्तराक्षस (S ngle monsters)—इसमें केवल एक ही गर्भ की विकृतियाँ आती हैं। इनके तीन विभाग किये हैं—(१) नाभिजीवी Omphalosite)—इसमें नाभि नाड़ी द्वारा नाभि के नीचे के अंगों का पोषण होता है, परन्तु हृदय सिर इत्यादि ऊपर के अंगों का पोषण नहीं होता। कभी कभी मृदुपिण्ड के समान यह अनस्थि और निराकारी (An dius) भी होता है। इस प्रकार के हृदयहीन (Acardiac) गर्भ एकबीजोत्पन्न युग्म गर्भों में

कभी कभी उत्पन्न होते (पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हैं। (२) आत्मजीवी (Autosite)—इसमें नाभिनाड़ी द्वारा प्रारम्भ में सभी अंगों की वृद्धि होती है, परन्तु आगे जाकर किसी न किसी अंग की वृद्धि रुक जाती है। जैसे—किसी में अधःशाखा या ऊर्ध्वशाखा की वृद्धि ठीक नहीं होती, वह शाखाविकारी (Tera omelians) कहलाता है; किसी में शाखाएँ संयुक्त रहती हैं; किसी में अन्तराधि की दीवाल ठीक नहीं बनती, वह अन्तराधिविकारी कहलाता है; किसी में खोपड़ी या मस्तिष्क की वृद्धि ठीक नहीं होती या बिलकुल नहीं होती, उसे शीर्षविकारी (Terato oncephalians) कहते हैं; किसी में मुख का ऊपर का या नीचे का भाग नहीं मिलता, वह मुखविकारी (Terato cephalians) कहलाता है। (३) परोपजीवी (Parasite — इनमें नाभिनाड़ी भी नहीं होती। ये केवल निराकारी —ल होते हैं, जो माता के गर्भाशय की दीवाल पर चांदे की ह चिपककर उसी से रस ग्रहण किया करते हैं। ...सलिए ये परोपजीवी कहलाते हैं।

(आ) संयुक्तराक्षस (Double monsters —इसमें गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं। इसके निम्न विभाग किये ...ये हैं—(१) युग्म आत्मजीवी (Double autosite)—इसमें दो पूर्ण गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं Terato pagians — ...थवा नाभि के नीचे का हिस्सा पृथक् होकर ऊपर का जुड़ा ...हता (Teradelphian) है; या दोनों के शीर्ष पृथक् होकर ...प अंग जुड़ा रहता (Teratodymes) है। (२) ...त्मपरोपजीवी (Auto parasite —इसमें परोपजीवी गर्भ दूसरे ...र्भ पर जुड़ा रहता है। जैसे—एक स्वतन्त्र गर्भ के सिर ...के साथ दूसरे का केवल सिर जुड़ा रहता है, या दूसरे ...के केवल हाथ पैर जुड़े रहते हैं, या एक के उदर में दूसरा गर्भ मिलता है। दो जुड़े हुए गर्भ प्रायः एकबीजात्मक दो गर्भों का सम्पूर्ण पृथक्त्व न होने के कारण उत्पन्न होते हैं। पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो।

विकृताकृति गर्भ की उत्पत्ति के कारण—पाश्चात्य वैद्यक में गर्भ की जन्मज विकृति के कोई विशेष हेतु नहीं बतलाये हैं। आयुर्वेद में इसके छः कारण बताये गये हैं, जो बहुत युक्तियुक्त मालूम होते हैं और जब तक दूसरे कारण सिद्ध नहीं हुए हैं, तब तक इनको मानना ही उचित है। (१) पापकर्म—माता पिता के पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के पापाचरण तथा गर्भ के पूर्वजन्म के पापकर्म। माता पिता के पापाचरण में स्त्रियों का आपस में मैथुनकर्म, स्वप्नमैथुन इत्यादि कर्मों का समावेश कर सकते हैं। (२) बीजदोष—इसमें माता के बीज का तथा पिता के शुक्राणु के दोषों का समावेश होता है। (३) गर्भाशयदोष—फिरंग, सोजाक, गर्भाशयशोथ, प्रदर इत्यादि विकार इसमें आते हैं। (४) माता के आहार-विहार का दोष—इसमें गर्भाधान होने के पश्चात् के आहार-विहार का समावेश होता है। तत्पूर्व के आहार-विहार के दोषों का समावेश नं० २ और ३ में होता है। (५) माता के श्रद्धाविघात का तथा मानसिक विकारों का परिणाम—श्रद्धाविघात का विवरण सूत्रस्थान के २४ वें अध्याय के ५वें सूत्र के वक्तव्य (प्रथमखण्ड पृष्ठ १५०-१५१) में किया गया है। इसी कारण में नास्तिक्य का भी समावेश करना चाहिए, क्योंकि नास्तिक्य मन की ही एक अवस्था है। धर्मशास्त्र और परमार्थ की दृष्टि से 'आस्तिक्यं श्रद्धानता परमार्थेष्वागमार्थेषु' इस प्रकार आस्तिक्य की व्याख्या की गई है। इसकी विरुद्ध अवस्था को नास्तिकता कहते हैं। वैद्यकीय दृष्टि से इसकी व्याख्या निम्न प्रकार कर सकते हैं—'आस्तिक्यं श्रद्धानता आयुर्वेदोपदेशेषु' और इसकी विरुद्ध अवस्था को नास्तिकता कह सकते हैं। जैसे परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होती है, वैसे ही आयुर्वेद में याने वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य प्राप्त होता है। एक बार परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होने के बारे में सन्देह उत्पन्न हो सकता है, परन्तु वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य-प्राप्ति के संबंध में सन्देह करने का कोई कारण नहीं होता, उसका फल तुरन्त मिलता है। वैद्यकीय नास्तिकता का स्वरूप निम्न प्रकार का हो सकता है। गर्भाधान के पूर्व बताये हुए नियमों की माता-पिता को क्या आवश्यकता है? मैथुन के समय चित्त शान्त और प्रसन्न रखने की क्या आवश्यकता है? गर्भिणी को आहार-विहार के नियमों की क्या आवश्यकता होती है? इत्यादि। इस नास्तिकता के कारण माता-पिता अपथ्यकर आहार-विहार करते हैं, जिससे वातादि दोष प्रकुपित होकर गर्भ की स्वाभाविक वृद्धि में बाधा होती है और विविध विकार उत्पन्न होते हैं। (६) कालदोष—काल से माता-पिता की आयु, समागमकाल, गर्भधारणकाल तीनों का बोध होता है, और माता-पिता का अतिबाल या अतिवृद्ध होना, दोनों में अनमेल, जल्दी जल्दी गर्भधारणा होना, निषिद्ध समय में मैथुन करना, अशुभ काल पर गर्भाधान होना इत्यादि बातों का समावेश काल के दोषों में होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति और चरक में ये ही दोष बतलाये गये हैं—कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च। गर्भस्य वैकृतं दृष्टमङ्गहीनादि जन्मतः॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१६६)। बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः। कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि। वर्षासु काष्ठाश्मघनाम्बुवेगास्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य। यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः॥ (शारीर २)।

मलाल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च।
वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥५५॥

(गर्भावस्था में मलादि के अभाव के कारण—) मल के अल्प होने से तथा पक्वाशय की वायु के अयोग से गर्भाशयस्थ (बालक) वात, मूत्र और मल (का उत्सर्ग) नहीं करता है ॥५५॥

वक्तव्य—मलाल्पत्वात्—गर्भाशयस्थ बालक के पचन और श्वसनसंस्थान के अतिरिक्त सब संस्थान कार्य करते हैं। श्वसन के अकार्यकारित्व का उल्लेख आगे के श्लोक में किया गया है। पचनसंस्थान में जो मल बनता है, वह मुख द्वारा सेवन किये हुए आहार का अपाच्य अंश होता है। गर्भस्थ बालक मुख से कुछ भी सेवन नहीं करता, उसका पोषण माता के आहाररस से होता है। इसलिए पक्वाशय में आहारजन्य मल का अभाव होता है—अजातस्य साक्षादन्नपानानुप्रवेशादमलत्वाच्च रसस्य गर्भस्य स्थूलमलासंभवः। (अष्टांगसंग्रह)। परन्तु आन्त्र की श्लेष्मल कला की टूटी फूटी कोशाएँ (सेलें) इकट्ठा होकर कुछ मल जम जाता है। पित्त के कारण इसका वर्ण हरा काला सा रहता.

आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥५०॥
मासि मासि विवर्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम्।
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥५१॥

(विकृतगर्भोत्पत्ति—) परन्तु यदि ऋतुस्नाता स्त्री स्वप्न में मैथुन का अनुभव करे तो वायु आर्तव को गर्भाशय में ले जाकर गर्भ को उत्पन्न करता है ॥ ५० ॥ (इस प्रकार की) गर्भिणी के गर्भ के लक्षण प्रतिमास बढ़ते जाते हैं, (परन्तु) उसका (वह गर्भ) पितृगुणविरहित (केवल) कलल बनता है ॥

वक्तव्य—स्वप्ने मैथुनमावहेत्—पुरुषसमागम के समय तथा समागम का चिन्तन करने से जैसे स्त्रियों की योनि गर्भाशय से शुक्रस्राव होता है, वैसे ही स्वप्न में मैथुन का दृश्य देखने पर पुरुषों के समान स्त्रियों में भी योनिगर्भाशय से शुक्रस्राव होता है—

Inquiries into the lives of girls reveal numerous incidents of orgiastic dreams resulting, probably, in secretions from cervix and other parts, such as seen in normal intercourse *R. dle of sex.*

गर्भलक्षण—आर्तव का बंद होना, प्रातर्वमन इत्यादि जो तीसरे अध्याय के १३वें सूत्र में वर्णन किये हैं। पैतृकैर्गुणैः—गर्भ में केश, श्मश्रु, नख, अस्थि, सिरास्नायु इत्यादि धातु पिता से उत्पन्न होते हैं; तीसरे अध्याय का ३२वां सूत्र देखो। इन धातुओं से विरहित गर्भ उत्पन्न होता है।

इन श्लोकों के भी पिछले श्लोकों के अनुसार दो अर्थ कर सकते हैं। (१)स्त्री के आर्तव के साथ स्वप्न में मैथुन कर्म अनुभव करने पर उत्पन्न हुए स्त्री के शुक्र का संयोग गर्भोत्पादन के लिए पर्याप्त नहीं है, इसका विचार पिछले श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। अतएव इन श्लोकों को अनार्ष या प्रक्षिप्त मानना। सुश्रुत के प्राचीन टीकाकार जेजटाचार्य इन श्लोकों को नहीं पढते हैं—इमौ श्लोकावपि जेज्जटाचार्येण न पठितौ। (डल्हणटीका)। (२) अथवा अस्थि स्नायु इत्यादि से विरहित विकृत गर्भ की उत्पत्ति के लिए विवाहित स्त्री का स्वप्नमैथुन कारण मानना। पूर्वापर सन्दर्भ से दूसरा अर्थ प्रशस्त है।

कुकर्मों से मनुष्यों को परावृत्त करने के लिये प्रत्येक शास्त्र अपने अधिकारानुसार उसका खराब फल बतलाता है। जैसे—अर्थशास्त्र कुकर्म के लिए दण्ड देता है, धर्मशास्त्र प्रायश्चित्त या दूसरे जन्म में नीच योनि या रोग की उत्पत्ति बतलाता है और वैद्यशास्त्र इसी जन्म में रोगोत्पत्ति या संतति में रोगोत्पत्ति बतलाता है। जैसे—अनात्स्यपाणिपाद स्याद् अश्रृग सन्निभायग। (वृद्धगौतम)। स्त्रियमयोनौ गच्छत पूर्वसाहसदण्ड, पुरुषमधिमेहतश्च। (कौटिलीय अर्थशास्त्र)। मद्यस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभि। कर्मभि पापरोगस्य प्राहु कुष्ठस्य सम्भवम् ॥ (सुश्रुत)। इस श्लोक से रक्तगुल्म का भी अर्थ निकाला जाता है, परन्तु निम्न कारणों से यह अर्थ अयथार्थ मालूम पड़ता है—(१) पूर्वापर संदर्भ से ये श्लोक गर्भ की विकृति के सम्बन्ध में लिखे गये हैं। रक्तगुल्म गर्भ की विकृति नहीं है, गर्भाशय की विकृति है, जिसमें गर्भ के समान लक्षण होते हैं—समगर्भलिङ्ग। (२) चरक, सुश्रुत, वाग्भट तथा आयुर्वेद के अन्य ग्रंथों में रक्तगुल्म के कारणों में स्वप्नमैथुन का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। (३) यदि ग्रंथकार इससे रक्तगुल्म समझता तो उत्तरतन्त्र में जहां पर इसका विवरण किया गया है, वहां का उल्लेख यहां पर कर देता, जैसे कि पार्नायद्वार के बारे में किया गया है—न चेत्क्षारवद्धत्वा परिस्रवेदेत्, तस्य विस्तारोऽन्यत्र (उत्तरस्थाने क्षारपाकविधि अध्याय)

सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये।
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम् ॥ ५२
गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिन एव च ॥५३
मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृतैः।
वातादीनां च कोपेन गर्भो विकृतिमाप्नुयात् ॥५४॥

(गर्भ की विकृतियां और उनके हेतु—) सर्प, वृश्चिक कूष्माण्ड (इत्यादि के समान) विकृताकारी जो स्त्रियों के गर्भ (होते हैं), वे अकसर पाप कर्मों से (होते हैं, ऐसा) जानना चाहिए ॥५२॥ वातप्रकोप से, अथवा दौहृद की अवमानना करने से गर्भ कुबड़ा, कुणि (जिसका हाथ विकृत या खराब हो गया है ऐसा), पङ्गु (लँगड़ा या विकृत पैर का), मूक (गूँगा), अथवा मिन्मिन (जिसका उच्चारण नासा में होता है ऐसा, सानुनासिक वाक्) होता है ॥५३॥ माता पिता की नास्तिकता से पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्म से और वातादि (दोषों) के प्रकोप से गर्भ विकृति को प्राप्त हुआ करता है ॥ ५४ ॥

वक्तव्य—सर्पवृश्चिकादि—इससे सर्प वृश्चिकादि का अर्थ न करना चाहिए। मनुष्ययोनि में जन्म लेकर जिनका शरीर मनुष्य की वास्तविक आकृति से भिन्न होता है, ऐसे विकृताकारी गर्भ इस शब्दप्रयोग से अभिप्रेत हैं। विकृताकृतय—गर्भ में जो अनेक विकृताकार दिखाई देते हैं वे अंगों की अतिवृद्धि, अवृद्धि और अर्धवृद्धि इन कारणों से होते हैं। ये विकृताकार Anamolies of foetal developments or Congential mal formations कहलाते हैं। इसमें कटा होंठ, फटी तालु, टेढ़ा पैर, विकृत हस्त, अंगुलियों का अधिक, कम या संयुक्त होना, उनका अभाव, गुदा या मूत्रद्वार का न होना, सिर का बड़ा होना, मस्तिष्कावरण और सुषुम्नावरण की ग्रंथियां (Meningocele) इत्यादि अनेक प्रकार होते हैं। इनमें से विशेष प्रकार की विकृताकारता को Monstrocity या Teratism कहते हैं और विकृतगर्भ को Monsters (राक्षस) कहते हैं। सर्पादि उदाहरण इसी वर्ग के हैं। आधुनिक काल में इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—

(अ) अयुक्तराक्षस (Single monsters)—इसमें केवल एक ही गर्भ की विकृतियाँ आती हैं। इनके तीन विभाग किये हैं—(१) नाभिजीवी Omphalosite)—इसमें नाभिनाड़ी द्वारा नाभि के नीचे के अंगों का पोषण होता है, परन्तु हृदय सिर इत्यादि ऊपर के अंगों का पोषण नहीं होता। कभी कभी मृदुपिण्ड के समान यह अनस्थि और निराकारी (Anidians) भी होता है। इस प्रकार के हृदयहीन (Acardiac) गर्भ एकबीजोत्पन्न युग्म गर्भों में

कभी कभी उत्पन्न होते (पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हैं। (२) आत्मजीवी (Autosite)—इसमें नाभिनाड़ी द्वारा प्रारम्भ में सभी अंगों की वृद्धि होती है, परन्तु आगे जाकर किसी न किसी अंग की वृद्धि रुक जाती है। जैसे—किसी में अधःशाखा या ऊर्ध्वशाखा की वृद्धि ठीक नहीं होती, वह शाखाविकारी (Tera omelians) कहलाता है; किसी में शाखाएँ संयुक्त रहती हैं; किसी में अन्तराधि की दीवाल ठीक नहीं बनती, वह अन्तराधिविकारी कहलाता है; किसी में खोपड़ी या मस्तिष्क की वृद्धि ठीक नहीं होती या बिलकुल नहीं होती, उसे शीर्षविकारी (Terato enceophalians) कहते हैं; किसी में मुख का ऊपर का या नीचे का भाग नहीं मिलता, वह मुखविकारी (Terato-cophalians) कहलाता है। (३) परोपजीवी (Parasite — इनमें नाभिनाड़ी भी नहीं होती। ये केवल निराकारी कल्ल होते हैं, जो माता के गर्भाशय की दीवाल पर चांदे की तरह चिपककर उसी से रस ग्रहण किया करते हैं। इसलिए ये परोपजीवी कहलाते हैं।

(आ) संयुक्तराक्षस (Double monsters —इसमें गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं। इसके निम्न विभाग किये गये हैं—(१) युग्म आत्मजीवी (Double autosite)—इसमें दो पूर्ण गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं Terato pagians — अथवा नाभि के नीचे का हिस्सा पृथक् होकर ऊपर का जुड़ा रहता (Teradelphian) है; या दोनों के शीर्ष पृथक् होकर शेष अंग जुड़ा रहता (Teratodymes) है। (२) आत्मपरोपजीवी (Auto parasite —इसमें परोपजीवी गर्भ दूसरे गर्भ पर जुड़ा रहता है। जैसे—एक स्वतन्त्र गर्भ के सिर के साथ दूसरे का केवल सिर जुड़ा रहता है, या दूसरे के केवल हाथ पैर जुड़े रहते हैं, या एक के उदर में दूसरा गर्भ मिलता है। दो जुड़े हुए गर्भ प्रायः एकबीजात्मक दो गर्भों का सम्पूर्ण पृथक्त्व न होने के कारण उत्पन्न होते हैं। पीछे ३९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो।

विकृताकृति गर्भ की उत्पत्ति के कारण—पाश्चात्य वैद्यक में गर्भ की जन्मज विकृति के कोई विशेष हेतु नहीं बतलाये हैं। आयुर्वेद में इसके छः कारण बताये गये हैं, जो बहुत युक्तियुक्त मालूम होते हैं और जब तक दूसरे कारण सिद्ध नहीं हुए हैं, तब तक इनको मानना ही उचित है। (१) पापकर्म—माता पिता के पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के पापाचरण तथा गर्भ के पूर्वजन्म के पापकर्म। माता पिता के पापाचरण में स्त्रियों का आपस में मैथुनकर्म, स्वप्नमैथुन इत्यादि कर्मों का समावेश कर सकते हैं। (२) बीजदोष—इसमें माता के बीज का तथा पिता के शुक्राणु के दोषों का समावेश होता है। (३) गर्भाशयदोष—फिरंग, सोजाक, गर्भाशयशोथ, प्रदर इत्यादि विकार इसमें आते हैं। (४) माता के आहार-विहार का दोष—इसमें गर्भाधान होने के पश्चात् के आहार-विहार का समावेश होता है। तत्पूर्व के आहार-विहार के दोषों का समावेश नं० २ और ३ में होता है। (५) माता के श्रद्धाविघात का तथा मानसिक विकारों का परिणाम—श्रद्धा-विघात का विवरण सूत्रस्थान के २४ वें अध्याय के ५वें सूत्र के वक्तव्य (प्रथमखण्ड पृष्ठ १९०–१९१) में किया गया है। इसी कारण में नास्तिक्य का भी समावेश करना चाहिए, क्योंकि नास्तिक्य मन की ही एक अवस्था है। धर्मशास्त्र और परमार्थ की दृष्टि से 'आस्तिक्यं श्रद्धधानता परमार्थेष्वागमार्थेषु' इस प्रकार आस्तिक्य की व्याख्या की गई है। इसकी विरुद्ध अवस्था को नास्तिकता कहते हैं। वैद्यकीय दृष्टि से इसकी व्याख्या निम्न प्रकार कर सकते हैं—'आस्तिक्यं श्रद्धधानता आयुर्वेदोपदेशेषु' और इसकी विरुद्ध अवस्था को नास्तिकता कह सकते हैं। जैसे परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होती है, वैसे ही आयुर्वेद में याने वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य प्राप्त होता है। एक बार परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होने के बारे में सन्देह उत्पन्न हो सकता है, परन्तु वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य-प्राप्ति के संबंध में सन्देह करने का कोई कारण नहीं होता, उसका फल तुरन्त मिलता है। वैद्यकीय नास्तिकता का स्वरूप निम्न प्रकार का हो सकता है। गर्भाधान के पूर्व बताये हुए नियमों की माता-पिता को क्या आवश्यकता है? मैथुन के समय चित्त शान्त और प्रसन्न रखने की क्या आवश्यकता है? गर्भिणी को आहार-विहार के नियमों की क्या आवश्यकता होती है? इत्यादि। इस नास्तिकता के कारण माता-पिता अपथ्यकर आहार-विहार करते हैं, जिससे वातादि दोष प्रकुपित होकर गर्भ की स्वाभाविक वृद्धि में बाधा होती है और विविध विकार उत्पन्न होते हैं। (६) कालदोष—काल से माता-पिता की आयु, समागमकाल, गर्भधारणकाल तीनों का बोध होता है, और माता-पिता का अतिबाल या अतिवृद्ध होना, दोनों में अनमेल, जल्दी जल्दी गर्भधारणा होना, निषिद्ध समय में मैथुन करना, अशुभ काल पर गर्भाधान होना इत्यादि बातों का समावेश काल के दोषों में होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति और चरक में ये ही दोष बतलाये गये हैं—कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च। गर्भस्य वैकृतं दृष्टमङ्गहीनादि जन्मतः॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१६६)। बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः। कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि। वर्षासु काष्ठाश्मघनाम्बुवेगास्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य। यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः॥ (शारीर २)।

मलालपत्वादयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च।
वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि॥५५॥

(गर्भावस्था में मलादि के अभाव के कारण—) मल के अल्प होने से तथा पक्वाशय की वायु के अयोग से गर्भाशयस्थ (बालक) वात, मूत्र और मल (का उत्सर्ग) नहीं करता है॥५५॥

वक्तव्य—मलाल्पत्वात्—गर्भाशयस्थ बालक के पचन और श्वसनसंस्थान के अतिरिक्त सब संस्थान कार्य करते हैं। श्वसन के अकार्यकारित्व का उल्लेख आगे के श्लोक में किया गया है। पचनसंस्थान में जो मल बनता है, वह मुख द्वारा सेवन किये हुए आहार का अपाच्य अंश होता है। गर्भस्थ बालक मुख से कुछ भी सेवन नहीं करता, उसका पोषण माता के आहाररस से होता है। इसलिए पक्वाशय में आहारजन्य मल का अभाव होता है—अजातस्य साक्षादन्नपानानुप्रवेशादमलत्वाच्च रसस्य गर्भस्य स्थूलमलासंभवः। (अष्टांगसंग्रह)। परन्तु आन्त्र की श्लेष्मल कला की टूटी फूटी कोशाएँ (सेलें) इकट्ठा होकर कुछ मल जम जाता है। पित्त के कारण इसका वर्ण हरा काला सा रहता

है। कभी कभी गर्भोदक के पीने से, जिसमें त्वचा की कोशाएँ और बाल रहते हैं, उसमें त्वचा की कोशाएँ और बाल भी मिलते हैं। इस मल का उत्सर्ग प्राय जन्म के पश्चात् हुआ करता है। क्वचित् जन्म के पूर्व गर्भोदक में इसका उत्सर्ग होता है। गर्भस्थ शिशु के पक्वाशय में मिलने वाला यह मल रंग में अफीम के समान होने के कारण मेकोनिअम (Meconium) कहलाता है। अयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य—इसके दो अर्थ होते हैं—(१) वायु—अधोवात। इसकी उत्पत्ति पक्वाशयगत मल के सड़ने से होती है। गर्भस्थ बालक में मलाभाव होने से अधोवायु का भी अभाव होता है। इसलिए इस पदसमूह का अर्थ 'पक्वाशयगत अधोवायु के असंभव से' ऐसा कर सकते हैं। (२) किंवा पक्वाशयवायु से अपानवायु भी समझ सकते हैं, जो मल मूत्रादि के उत्सर्ग का काम करता है—पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्। समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः ॥ मनुष्यशरीर का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए उसमें मस्तिष्कनाडीसंस्थान, श्वसनसंस्थान, पाचनसंस्थान, रक्तवहसंस्थान इत्यादि कई संस्थान बनाये गये हैं। इनमें से रक्तवहसंस्थान माता के रक्तवहसंस्थान के सहयोग से गर्भ के पोषण का कार्य किया करता है। शेष संस्थान कार्य करने के लिए, वस्तु या विषय न होने के कारण अकार्यंकर होते हैं। इस दृष्टि से 'पक्वाशयस्य वायोरयोगाच्च' इसका अर्थ 'अपानवायु की अकार्यकारिता से' कर सकते हैं। अपान वायु का कार्य मलमूत्र अपानवायु को नीचे उत्सर्गित करने का है। यह अपानवायु अकार्यंकर होने के कारण गर्भस्थ शिशु, मलमूत्र और अधोवायु का उत्सर्ग नहीं करता है। मूत्र न करोति—गर्भ का रक्तवहसंस्थान कार्य करता है। माता से शुद्ध रक्त आता है और गर्भ के शरीर में जो अशुद्ध रक्त बनता है, वह फिर माता के शरीर में जाकर शुद्ध होता है। शरीर में रक्त की शुद्धि त्वचा, फुप्फुस और वृक्क इन तीन अंगों से होती है। गर्भस्थ शिशु की त्वचा और फुप्फुस अकार्यंकर होते हैं, परन्तु वृक्क में रक्त की कुछ शुद्धि होकर मूत्र बनता है और उसका उत्सर्ग भी गर्भोदक में होता है क्योंकि यह देखा गया है कि पाँचवें सप्ताह से प्रसूति के समय तक गर्भोदक में मिह (Urea) की राशि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और उसमें गर्भ के मूत्र में मिलने वाले लवण भी मिलते हैं—

The gradual increase in the amount of urea present up to its maximum at full time has been taken as an indication that the foetus urinates in utero. Further, the salts found in the amnoitic fluid are very similar to those commonly present in foetal urine. *Ten Teacher's Midwifery*

इस श्लोक का तात्पर्य इतना ही समझना कि जन्म के पश्चात् जैसे मलमूत्र का उत्सर्ग होता रहता है, उस प्रकार जन्म के पूर्व नहीं होता है।

जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते।
वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ॥५६॥

जरायु के द्वारा मुख ढका हुआ होने के कारण, कफ से कण्ठ लिप्त रहने के कारण और वायु के मार्ग में रुकावट होने के कारण गर्भस्थ शिशु रोता नहीं ॥५६॥

वक्तव्य—जरायु—गर्भ के आवरण (Foetal membranes)। जो बालक जन्म होते ही बड़े जोर से चिल्लाता है, वह जन्म के पूर्व माता की कुक्षि में क्यों नहीं रोता इसके कारण इस श्लोक में वर्णन किये हैं। कण्ठे च कफवेष्टिते—बालक के मुख और कण्ठ में श्लेष्मा जरूर उपस्थित रहता है। यदि बालक स्वस्थ हो तो वह माता की सुरक्षित और सुखकर कुक्षि से बाहर आने पर जोर से रोता है। यह रुदन श्वासप्रश्वास क्रिया का प्रारम्भ है। कभी कभी श्लेष्मा की राशि अधिक होती है, जिससे बालक को श्वास लेने में तथा रोने में कठिनाई होती है। इसलिए जन्म होते ही बालक का मुख और कण्ठ रुई के फाया से साफ करने के लिए कहा गया है—अथास्य बालोऽङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया ... सुप्रभानिर्तोपधानकार्पासपिचुमत्या (चरक)। १०वें अध्याय का ११वां सूत्र और उसका वक्तव्य देखो।

निःश्वासोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नान् गर्भोऽधिगच्छति।
मातुर्निश्वसितोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नसंभवान् ॥ ५७ ॥

माता के निश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ तथा स्वप्न से उत्पन्न हुए निश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ और स्वप्नों को गर्भ प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि जब तक बालक माता के उदर में रहता है, तब तक वह माता के शरीर के एक अंग के समान होता है और माता के प्रत्येक भले या बुरे कर्म का परिणाम जैसे उसके शरीर पर होता है, वैसे ही गर्भ के ऊपर भी होता है। माता जब श्वासोच्छ्वास करती है, तब उसके रक्त की शुद्धि होती है और उसके साथ साथ गर्भ के रक्त की भी शुद्धि होती है। माता जब सोती है, तब उसके शरीर के साथ साथ गर्भ को भी आराम मिलता है। माता जब भोजन करती है, तब उसके शरीर के पोषण के साथ गर्भ का भी पोषण होता है। माता जब संक्षुब्ध होती है, तब उसके शरीर पर जो बुरा परिणाम होता है वही परिणाम गर्भ पर भी होता है। संक्षेप में माता के प्रत्येक कर्म के साथ साथ गर्भ भी वही कर्म करता हुआ जान पड़ता है। इसलिए लिखा है माता के साँस से साँस लेता है, इत्यादि। परन्तु वास्तव में न गर्भ साँस लेता है, न सोता है, न क्षुब्ध होता है और न भोजन करता है। निःश्वास—बाहर साँस छोड़ना। उच्छ्वास—भीतर साँस लेना। संक्षोभ—मानसिक क्रोधादि विकार। ये सब उपलक्षण हैं। इनसे प्रत्येक शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का बोध होता है। तीसरे अध्याय के ३१वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ।
तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः ॥ ५८ ॥

शरीरों का सन्निवेश, दाँतों का गिरना और पैदा होना हथेली और तलुवे में बालों का न होना यह स्वभाव से होता है ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—सन्निवेश—बाहर और भीतरी रचना। संसार में अनन्त प्रकार के शरीरधारी जीव होते हैं और उनके शरीर का सन्निवेश भिन्न भिन्न होता है, जिससे एक प्रकार का जीव दूसरे प्रकार के जीव से पहचाना जाता है। इसमें

पतनोद्भवौ—दाँतों का द्विजत्व। एक वार उत्पन्न हुए दाँतों का गिरना और फिर से उत्पन्न होना। तलेषु—हस्तपादतलेषु।

प्रत्येक प्रकार की वनस्पति से उसी प्रकार की वनस्पति की उत्पत्ति, प्रत्येक प्रकार के प्राणी से उसी प्रकार के प्राणी की उत्पत्ति, मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति, माता के उदर में मासानुमासिक गर्भ की वृद्धि, दस ही महीने में पूर्ण वृद्धि होकर जन्म होना, युवावस्था में पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति, स्त्रियों में मासिक रजःप्रवृत्ति, स्तनवृद्धि, पुरुषों में डाढ़ी मूछें उत्पन्न होना, स्त्रियों में न होना, वृद्धावस्था में रजोनिवृत्ति, मृत्यु इस प्रकार के संसार के असंख्य कार्य स्वभावानुसार होते जाते हैं। आधुनिक विज्ञान इन असंख्य कार्यों के लिए कितने ही कारण क्यों न खोज लें; एक अवस्था ऐसी आती है, जिसके लिए कारण देना मुश्किल होता है और अन्त में स्वभाव की ओर अंगुलि निर्देश करना पड़ता है। प्रथमखण्ड के ३६३-३६४ पृष्ठों पर 'कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्ताद् यथा फलम्। प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम्॥ इसका तथा १०वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। वभाव कारणों का कारण है, जिसके अनुसार सृष्टि का त्येक कार्य हो रहा है। इसलिए कुछ लोक 'स्वभाव' को ी सृष्टि का आदि कारण मानते हैं—स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्)। स्वभाव को अँग्रेजी में नेचर (Nature) कहते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रत्येक कार्य का कारण खोजने की कोशिश करते हैं और जहाँ बुद्धि कार्य नहीं कर सकती, वहाँ नेचर पर सौंप देते हैं, याने एक दृष्टि से पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वभाववादी हैं। अव यहाँ शरीरादि के सन्निवेश के लिए जैसे स्वभाव कारण माना गया है, वैसे ही पाश्चात्य वैज्ञानिक भी मानते हैं—

Ninety percent of our physical and a large percentage of our mental make up are due to hereditary influences. There are different races, different nationalities and different individuals whom we recognize at the first glance. How is this accomplished? It is the secret of heredity, the question is—what is heredity? Heredity is the treasure chest of Nature. Everything is preserved in its repository. *The Riddle of Sex.*

तीसरे अध्याय के ४५वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः।
भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः ॥५९॥

(जातिस्मरता के कारण—) पूर्वजन्मों में (ज्ञान विज्ञानादि) भावित, शास्त्रों (के अनुसार आचरण करने) में बुद्धि रखने वाले और सत्त्वभूयिष्ठ नर जातिस्मर होते हैं ॥५९॥

वक्तव्य—भाविताः—जैसे उचित द्रव्यों की भावना देने से ओषधि की गुणवृद्धि होकर वह अधिक कार्यकर होता है, वैसे ही उचित ज्ञानविज्ञानसंपन्न शास्त्रों के अध्ययन और चिन्तन रूप भावनाओं से जिनकी गुणवृद्धि हुई है, अर्थात् सुसंस्कृत। शास्त्रबुद्धि—शास्त्रान्तर्गत नियमों के ऊपर विश्वास रखकर उनके अनुसार वर्तन करने की बुद्धि जिनमें है, ऐसे। पूर्वदेहेषु—इस जन्म के पहले अनेक जन्मों में। एक जन्म में पुरुष को जो कुछ भी अनुभव होता है, उसके संस्कार मृत्यु के वाद लिंगशरीर के साथ जाते हैं और दूसरे जन्म में आविर्भूत होते हैं। उस जन्म के संस्कार प्रथम जन्म के संस्कारों के साथ मृत्यु के वाद तीसरे शरीर में चले जाते हैं। इस तरह जन्म-जन्मान्तर के संस्कार इकट्ठे होते जाते हैं। यद्यपि शरीर वदलता है तथापि आत्मा और मन के द्वारा सव जन्मों के संस्कारों की परम्परा कायम (अविच्छिन्न) रक्खी जाती है—शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गतेः। देहाद्देहान्तरं याति कृमिवच्छाश्वतोऽव्ययः॥ मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्॥ (रघुवंश)। रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः॥ (चरक शा० २)। मनसो मनस्त इति; पूर्वजन्मन्यव्यवहिते यादृङ् मनः, इह जन्मन्यपि तादृगेव मनो भवति। उक्तं चान्यत्र—जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः॥ (चक्रपाणिदत्त)। पूर्वजातिस्मराः—पूर्वजन्मवृत्तान्तं स्मरन्ति इति पूर्वजातिस्मराः। पूर्वजन्म का स्मरण जिनको है, ऐसे। जातिस्मरता पूर्वजन्म या पुनर्जन्म के सिद्धान्त के ऊपर अधिष्ठित होती है। यदि पुनर्जन्म केवल कल्पना की सृष्टि हो तो जातिस्मरता का विचार ही करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए प्रथम पुनर्जन्म का थोड़ा सा विचार किया जायगा। पुनर्जन्म भारतीय तत्त्वज्ञान (Philosophy) का मौलिक सिद्धान्त है। शरीर की मृत्यु के साथ शरीरगत आत्मा की मृत्यु न होकर वह आत्मा उस देह में प्राप्त संस्कारों के साथ दूसरे देह में चला जाता है, यह पुनर्जन्म का सूत्र है—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (भगवद्गीता २।२२)। मृतो नष्ट इति प्रोक्तो मन्ये तच्च मृषा ह्यसत्। स देशकालान्तरितो भूत्वा भूत्वाऽनुभूयते॥ (योगवासिष्ठ ४।७१।६९)। अनुभूय क्षणं जीवो मिथ्यामरणमूर्च्छनम्। विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रत॥ (३।२०। ३१)। आशापाशशतावद्धा वासनाभावधारिणः। कायात्कायमुपायान्ति वृक्षाद् वृक्षमिवाण्डजाः॥ (४।४३।२६)। इस्लाम और क्रिश्चियन धर्म में पुनर्जन्म की कल्पना नहीं है। उनके अनुसार शरीर के साथ आत्मा का भी नाश होता है और वह कयामत के दिन (Dooms day) तक कब्रिस्तान में पड़ा रहता है। यह कयामत की कल्पना विचारी मनुष्य को जँचने लायक नहीं है। परन्तु जव तक अंधश्रद्धा के दिन थे, तव तक लोग इस कल्पना पर विश्वास करते थे। आधुनिक ज्ञानयुक्त विज्ञान के युग में लोक इसकी युक्तायुक्तता पर विचार करने लगे और इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि पुनर्जन्म की कल्पना न केवल युक्तियुक्त है, अपितु आत्मा की दृष्टि से आवश्यक घटना है। माता-पिता से अपत्य को भौतिक शरीर मिलता है तथा कुछ कुलसंचारी (Hereditary) गुणदोष भी मिलते हैं, परन्तु इससे अपत्य के सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक गुणदोषों की उत्पत्ति लगाना मुश्किल होता है। पुनर्जन्म यही एक ऐसी घटना है कि जिसके आधार पर कठिन से कठिन प्रश्नों का भी उत्तर दिया जा सकता है। ये विचार निम्न पाश्चात्य विद्वानों के उद्धरणों में स्पष्ट रूप से मिलते हैं—

I am for personal purposes, convinced of the persistance of human existance beyond bodily death Sir *OliverLodge* We conclude, then, that our death is our birth to a life beyond *W Tudor Jones*, Reincarnation teaches that soul enters this life, not as a fre h creation, but after a lo g course of previous existances on this earth and else ever The ancient doctrine of transmigration seems the most rational and most consistant with god's wisdom and goodness E *D Walker's Re-incarnation* It is not unreasonable conclusion to arrive at that the bodies which parents supply by their own sexual inter course are tenanted in the rst instance by spirits from another world attracted to them by some form of spiritual sympathy and that accordingly the parents of the physical form can not strictly speaking be regarded as the originators of the consciousness which inhabits it The human germplasm is, even when seen under a microscope hardly distinguishable from that of an animal Is it to be supposed that it contains within itself the undeveloped powers of a man of genious ? Or may we not rather elieve that the reincarnating ego possessed these powers before his birth into this world as an inheritence from his past lives ? The hypothesis is plausible because it and it alone meets the facts of the case in innumerable instances *Problem of Re birth by Hon Ralph Shirley*

पुनर्जन्म का सिद्धान्त अनुमान और युक्ति के आधार पर सिद्ध करना पड़ता है। इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं के बराबर मिलते हैं। यदि ये प्रमाण बहुतायत से मिलते तो पुनर्जन्म की आविष्कृति और उसकी सिद्धि में भारतीय तत्त्वज्ञान की कोई विशेषता नहीं रहती तथा इस्लामी और क्रिश्चियन धर्म में कयामत की कल्पना नहीं आती। जातिस्मरता पूर्वजन्म सिद्ध करने का जिन्दा प्रमाण है। भारतवर्ष के पुराणों में तथा साहित्य-ग्रंथों में जातिस्मरता के कई उदाहरण मिलते हैं। महाकवि बाण की काव्यमय कादम्बरी की कथा में जातिस्मरता मिलती है। परन्तु आजकल नास्तिक्य के कारण लोक इनको कल्पित समझते हैं। पाश्चात्य देशों में जातिस्मरता के सम्बन्ध में भी जब खोज होने लगी, तब उन देशों में प्राचीन काल से आधुनिक काल तक इसके कई उदाहरण मिले। राल्फशर्ले ने अपनी पुनर्जन्म की पुस्तक में जातिस्मरता के कई उदाहरण दिये हैं, जिनमें अलेक्सान्द्रिना सामोना (Alexandrina Samora) और निरिया Nv ia) के उदाहरण बड़े अद्भुत और उद्बोधक हैं। भारतवर्ष में हाल में मथुरा की शांतादेवी का उदाहरण मशहूर हो गया है। इसका भी उल्लेख उपर्युक्त पुस्तक में है। संक्षेप में, जातिस्मरता पौराणिक या कविकल्पना नहीं है, एक सिद्ध घटना है और जातिस्मर मनुष्य जैसे प्राचीन काल में थे, वैसे वर्तमान काल में मिलते हैं और भविष्य में भी मिलेंगे, तथा जैसे भारतवर्ष में मिलते थे और मिलते हैं, वैसे संसार के अन्य देशों में भी थे और इस समय मिलते हैं।

इस श्लोक में जातिस्मरता उत्पन्न होने के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन किया है। इसमें सत्त्वप्राधान्य विशेष महत्त्व का गुण है, क्योंकि सत्त्व के द्वारा मोक्ष मिलता है, याज्ञवल्क्यस्मृति में जातिस्मरता के ये ही कारण बताये हैं—आचार्योपासनं वेदशास्त्रार्थेषु विवेकिता। तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥ (३।१५८)। नार्यालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम्। त्यागः परिग्रहाणां च जीर्णकाषायधारणम् ॥ ... सत्त्वशुद्धिर्निःस्पृहता शमः। एतैरुपायैः संशुद्धः सत्त्वयोग्यमृती भवेत् ॥ (३।१५९)। तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात्सत्त्वयोगात् परिक्षयात्। कर्मणां सन्निकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥१६०॥ शरीरसङ्क्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम्। अविप्लुतमतिः सम्यग्जातिसंस्मरतामियात् ॥ ॥१६१॥ जातिस्मरता मोक्ष मिलने का एक साधन माना गया है। इस अन्तिम श्लोक की टीका में विज्ञानेश्वर लिखते हैं—अत्यन्तरानुभूतकृमिकीटादिनानागर्भवासादिसमुद्भूतदुःखस्मरत्वं प्राप्नुयात्। तत्स्मरणेन च जातोद्वेगस्तच्छित्त्यै कारिणि मोक्षे प्रवर्तते। मनुस्मृति में भी जातिस्मरता उत्पन्न होने के कारण और उसके फल ये ही बतलाये हैं—वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च। अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥४।१४८॥ पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः। ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥ आज जातिस्मर मनुष्यों के जो थोड़े उदाहरण उपलब्ध हुए हैं, उनके परिशीलन से जातिस्मरता के कारणों का तथा उसके फलों का कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता। भविष्य में अधिक उदाहरणों का अन्वेषण करने पर कार्यकारण और कार्यफल इनके सम्बन्ध में कुछ निर्णय किया जा सकता है।

अब पूर्वजन्म से उत्तरजन्म का सम्बन्ध बताया जाता है—

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥६०॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शुक्रशोणितशुद्धिशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

जिस कर्म के कारण (जीव) पुनर्जन्म में प्रेरित होता है, उसी के अनुसार (उस जन्म में सब कुछ) प्राप्त करता है, और पूर्वजन्म में अभ्यास किये हुए जो गुण होते हैं, उन्हीं को (दूसरे जन्म में) धारण करता है ॥६०॥

वक्तव्य—कर्मणा—शुभाशुभ, धर्माधर्म, पापपुण्य, राजस तामस इत्यादि विविध प्रकार के कर्म प्राणी करता है और उन्हीं की प्रेरणा से वह जन्म-जन्मान्तर में फंस जाता है—शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणा मनसो गतेः। देहाद्देहान्तरं याति कृमिवच्छ्राधनोऽव्ययः ॥ तद्—तदनुरूपम्। जिस कर्म से जीव प्रेरित होता है, उसी के अनुरूप फल वह दूसरे जन्म में भोगता है। उत्तम कुल में जन्म, अधम कुल में जन्म, श्रीमान् या दरिद्री कुल में जन्म, शरीर, व्यङ्ग या स्वास्थ्य ठीक न होना, विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होना, नाना प्रकार की योनि में प्रवेश इत्यादि काम पूर्वकर्मानुसार होते हैं—नैव व्याधय कश्चित् ॥ महत्तीमज्जनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम् ॥ (सुश्रुत)। भवन्ति ये त्वाहं त्रिबुद्धिभेदा रजस्तमस्तत्र च कर्महेतु ॥ (चरक, शारीर १)।

यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम्। नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१६२)। तथैवात्मा तत्तत्कर्मफलोपभोगार्थं कुब्जवामनादिनानारूपाणि कर्मनिमित्तानि कलेवराण्यादत्ते ॥ (विज्ञानेश्वर)। अभ्यस्ताः—जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥ उपनिषद् और गीता के निम्न वचनों में इसी श्लोक का तत्व दिया है—अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतु कुर्वीत ॥ (छांदोग्य ३।१४)। नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति। प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽपि जायते ॥ (भगवद्गीता ६।४१)। अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥ पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥४४॥ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ (गीता ८।६)।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने शुक्रशोणितशुद्धिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथातो गर्भावक्रान्ति शारीरं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहां से गर्भावक्रान्ति नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

वक्तव्य—गर्भावक्रान्ति—अत्र हि शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते, तस्यावक्रान्तिः, उपगमनमवतरणमिति यावत् गर्भावक्रान्तिः ॥ (डल्हण)। गर्भस्यावक्रान्तिर्मेलक उत्पत्तिरिति यावत् ॥ (चक्रपाणि)। गर्भस्यावक्रान्तिरवक्रमणं संप्राप्तिः। यथाऽगर्भो गर्भतां संपद्यत इत्यर्थः। (अरुणदत्त)। अत्र गर्भशब्देन मनःसंयोगाच्चेतनेनात्मनाधिष्ठितानां महाभूतानां विकारविशेष उच्यते। तस्यावक्रमणं प्राप्तिः स्वरूपलाभः। (इन्दु)। गर्भावक्रान्ति अध्याय के प्रारम्भ में अष्टांगसंग्रह में इन्दु लिखते हैं—पुत्रस्य निषेकात् प्रभृति योगक्षेमौ यथा संभवतः, यथा च मातरि तिष्ठति, यथा च न व्यापद्यते, अव्यापन्नं च यथा सुखं सूते इति प्रदर्शनार्थमध्यायारम्भः ॥ इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ का वास्तविक अर्थ शुक्रशोणितसंयोग (Fertilized ovum या embryo) है, और गर्भावक्रान्ति का अर्थ शुक्रशोणितसंयोगपद्धति (Process of the fertilization of ovum) है। तथापि इस अध्याय में, जैसे कि इन्दु ने बताया है, गर्भ की नौ महीने की मासानुमासिक वृद्धि वर्णन की गई है। इसलिए गर्भावक्रान्ति का अर्थ गर्भपरिवृद्धि (Developement of the foetus) समझना चाहिए।

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्यणुना विशेषेण, परस्परोपकारात्परस्परानुग्रहात्परस्परानुप्रवेशाच्च ॥२॥

शुक्र सौम्य और आर्तव आग्नेय है, परन्तु (भूतों का) आपस में उपकार, अनुग्रह और प्रवेश होने के कारण (जल और अग्नि के अतिरिक्त) अन्य भूतों का भी इनमें एक विशिष्ट अल्पमात्रा में सान्निध्य होता है ॥२॥

वक्तव्य—सौम्यम्—सोमस्येदं सौम्यम्। सोम से उत्पन्न हुआ अर्थात् जलोत्पन्न। आग्नेय—अग्नेरिदमाग्नेयम्। अग्नि से उत्पन्न हुआ अर्थात् तेजोत्पन्न। परन्तु इसी सूत्र में जो विचारसरणि प्रकट की गई है, उसी के अनुसार जलभूयिष्ठ और तेजोभूयिष्ठ। अणुना विशेषेण—अल्प परन्तु अनुपेक्षणीय मात्रा में। सान्निध्यम्—उपस्थिति। परस्परोपकारात् इत्यादि—समस्त सृष्टि पञ्चीकृत महाभूतों से उत्पन्न हुई है, अर्थात् ये पांचों महाभूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हैं। परन्तु केवल अनुप्रवेश से एक में पांचों का सान्निध्य नहीं हो सकता क्योंकि तेज और जल जैसे कुछ भूत परस्पर विरोधी होते हैं, जो आपस में मिलने पर परस्पर नष्ट हो जाते हैं। इस शंका को दूर करने के लिए परस्परानुग्रह और परस्परोपकार ये शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे सत्त्वादि त्रिगुण परस्पर विरोधी होने पर भी प्रदीपवत् (सांख्यकारिका १३) उपकारक और अनुग्राहक होते हैं, जैसे वातादि त्रिदोष सर्प और उसके विष के समान (विषं घोरमहीनिव ॥ चरक, चि० २६) परस्परोपकारी होते हैं, वैसे ही पृथिव्यादि महाभूत परस्पर विरोधी होने पर भी सृष्ट्युत्पत्ति के काम में परस्परोपकारी होते हैं। अन्यथा, जैसे चक्रपाणिदत्त ने शङ्का प्रदर्शित की है—तर्हि पाञ्चभौतिकद्रव्यारम्भेऽपि तयोर्विरोधात्पाञ्चभौतिकं द्रव्यं न स्यात्, तोयाग्निगुणातिरेकाद्धाऽम्लरसो न स्यात्। —उसके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति होना असम्भवनीय हो जाता। इन द्रव्यों में जो भूत अधिक होता है, उसके अनुसार नाम दिया जाता है। जो अल्पमात्रा में होते हैं, उनका नाम नहीं दिया जाता। प्रथम अध्याय के २२वें श्लोक का वक्तव्य तथा प्रथमखण्ड का पृष्ठ २२८ भी देखो।

तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति, ततस्तेजोनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते ॥३॥

(मैथुनकर्म—) स्त्री और पुरुष के समागम के समय वायु शरीर से तेज को प्रकट करती है, फिर तेज और वायु के सहयोग से क्षरित हुआ शुक्र योनि की ओर चल देता है और आर्तव के साथ (वहां) मिलता है; (इस प्रकार आर्तव रूप) अग्नि और (शुक्ररूप) सोम के संयोग से उत्पन्न हुआ वह गर्भ तत्पश्चात् गर्भाशय में आश्रय करता है ॥३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में 'योनिमभिप्रपद्यते' तक मैथुनकर्म (Phenomena of coitus) वर्णन किया है और शेष भाग में शुक्रार्तव संयोग (Fertilization of the ovum) और उसका गर्भाशयगमन वर्णन किया है। यही वर्णन भावप्रकाश में कुछ अधिक विस्तार से मिलता है, इसलिए यहां दिया जाता है—ऋतौ स्त्रीपुंसयोर्योगे मकरध्वजवेगतः। मेढ्योन्यभिसंघर्षाच्छरीरोष्मानिलाहतः ॥ पुंसः सर्वशरीरस्थं रेतो द्रावयतेऽथ तत्। वायुर्मेहनमार्गेण पातयत्यङ्गनाभगे ॥ तत् संसृत्य व्यात्तमुखं याति गर्भाशयं प्रति। तत्र शुक्रवदायातेनार्तवेन युतं भवेत् ॥ (प्रथमखण्ड)।

वायु—मैथुनकर्म में यद्यपि पांचों इन्द्रियाँ पांचों इन्द्रियार्थों पर काम करती हैं तथापि स्पर्श पर त्वगिन्द्रिय अधिक काम करती है, इसलिए मैथुन को स्पर्शसुख कहते हैं—कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हता पञ्चभिरेव पञ्च ॥ हेवेलाक एलिस का भी यही कथन है—

This abbreviated courtship, by which tumescence is secured or heightened even in the repetition of acts of coitus, which have become familiar, is mainly tactile *Psychology of Sex*

त्वचा में वायु की अधिकता होती है—स्पर्शनेऽभ्यधिको वायु स्पर्शनं च त्वगाश्रितम् ॥ (चरक)। इसलिए मेढ्योनि अभिसंघर्ष से तथा स्त्री के शरीर के संस्पर्श से वायु उत्तेजित होती है। आधुनिक शारीरकार्य के अनुसार मस्तिष्कसस्थान (Nervous system) विशेष करके मस्तिष्क और सुषुम्ना के कामुक केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं। तेज शरीराद्वायुरुदीरयति—वायु की उत्तेजना के दो परिणाम होते हैं, एक सार्वदैहिक और दूसरा लैङ्गिक। परन्तु ये दोनों परिणाम एक अवस्था के दो रूप हैं। इस अवस्था को 'तेजोदीरण' कह सकते हैं। तेज के उष्णता, पित्त, अग्नि, शक्ति, स्फूर्ति, द्युति, जोश, फोर्स इत्यादि कई अर्थ होते हैं। चक्रपाणिदत्त चरक टीका (चिकित्सा ३।२१७) में लिखते हैं—तत्र तेज शब्द पित्तानलस्नेहशक्तिवर्तिषु ग्रीष्मे च वर्तते। परन्तु सब अर्थों में अन्तर्भूत कल्पना एक ही है। यह तेज या उष्णता तभी उत्पन्न हो सकती है, जब आदमी का हृदय बलवान् हो और रक्त गरम हो। मैथुन के समय स्त्री के स्पर्श से तथा मेढ्योनि अभिसंघर्ष से जब मन और वात उत्तेजित होते हैं, तब हृदय भी उत्तेजित होता है। उसकी गति शीघ्र और जोरदार होती है। समस्त शरीर में खून का दौरान तेजी से चलता है। चेहरा और आँखें लाल हो जाती हैं। रक्त का भार बढ़ता है। शरीर में उष्णता मालूम होने लगती है। त्वचागत रक्तवाहिनियाँ फैल जाती हैं। पसीना आने लगता है। सांस उथली और तेज हो जाती है, संक्षेप में शरीर के रोम-रोम में तेज उदीर्ण हो जाता है। यह अवस्था जैसे सर्व शरीर में होती है, वैसे ही शिश्न में होती है और उसी के कारण शिश्न अत्यन्त दृढ़ हो जाता है। इसकी युक्ति द्वितीय अध्याय के ४० वें श्लोक के वक्तव्य में वर्णन की गई है। इस अवस्था को तेजोदीरण (Tumescence) कहते हैं। जब यह अवस्था अत्युच्च कोटि को प्राप्त हो जाती है, तब वात और तेज दोनों के सहयोग से शुक्र बड़े जोर के साथ योनि में फेंका जाता है। इस अवस्था को तेजस्खलन (Detumescence) कहते हैं। हेवेलाक एलिस इन अवस्थाओं के वर्णन में तेज (Fire Flame, Force) शब्द का ही प्रयोग करते हैं—

Tumescence is the piling on of the fuel, detumescence is the leaping out of the devouring flame whence is lighted the torch of life to be handed on from generation to generation In tumescence the organism is slowly wound up and force accumulated; in the act of detumescence the accumulated force is let go, and by its liberation the sperm bearing instrument is driven home *Psychology of Sex*

शुक्रस्खलन के समय कभी कभी हृदय की गति और रक्तभार बेहद बढ़ता है, जिससे दुर्बलहृदय और व्याधित लोगों में मूर्च्छा, प्लीहाभेद, अपस्मार, पक्षाघात, मृत्यु भी हो जाते हैं—व्याधितस्य रुजा प्लीहा मृत्युमूर्च्छा च जायते ॥ (सुश्रुत, चि० २४)। हेवेलाक एलिस अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

Fainting, vomiting have been noted Epilepsy has not been not infrequently recorded Lesions of various organs, even rupture of the spleen, have sometimes taken place In men of mature age the arteries have at times been unable to resist the high blood pressure, and cerebral haemorrhage with paralysis has occured. In elderly men the excitement of intercourse has sometimes caused death *Psychology of Sex*

स्त्री में भी पुरुष के समान उपर्युक्त उत्तेजनाएँ उत्पन्न होती हैं—तस्मात् पुरुषवदेव योषितोऽपि रसव्यक्तिर्द्रष्टव्या। (कामसूत्र)। परन्तु पुरुष का कार्य सक्रिय होने से उसमें स्त्री की अपेक्षा उपर्युक्त उत्तेजनाएँ अधिक तीव्र हुआ करती हैं—कर्ता हि पुरुषोऽधिकरणं युवतिः। अन्यथा हि कर्ता क्रिया प्रतिपद्यते, अन्यथा चाधारः ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। योनिमभिप्रपद्यते—योनि से यहाँ गर्भाशय अभिप्रेत है। मैथुन के अन्त में शुक्र चाहे भगद्वार पर गिरे, चाहे अन्तर्भग में गिरे, चाहे गर्भाशय के मुख पर गिरे, उसकी गति सर्वदा योनि की ओर होती है, क्योंकि पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का यह कथन है कि उस समय भगद्वार से लेकर योनि तक के अंगों में इस प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है कि भगद्वार पर गिरा हुआ शुक्र भी भीतर योनि की ओर खींचा जाता है। उस समय गर्भाशय भी नीचे की ओर आता है, चौड़ा और छोटा होता है और उसका मुख प्रसारित (व्यात्तमुख) हो जाता है, जिससे उसके मुख पर गिरा हुआ शुक्र शीघ्र भीतर जा सकता है और अन्तर्भग में गिरे हुए शुक्र के लिए भी उसके भीतर प्रविष्ट होने में सहायता होती है। इसके सिवाय शुक्राणुओं में भी गति करने की शक्ति होती है, जिसकी सहायता से वे गर्भाशय की ओर चल पड़ते हैं। भावप्रकाश में इसका संक्षिप्त वर्णन किया है—तदा स्यात् व्यात्तमुखं यानि गर्भाशय प्रति।

So far as the evidence goes, it would seem that in women, the uterus becomes shorter broader and softer during the orgasm, at the same time descending lower into the pelvis, with its mouth open intermittently Owing to the combined activities of the semen and vagina during sexual excitement, it is possible for the semen to reach the uterus even when it has only been effused at the entrance of the vagina *Psychology of Sex*

समुज्यते पार्थवेन—मैथुन के अन्त में जितना शुक्र निकलता है, उसमें बीस करोड़ के लगभग शुक्राणु होते हैं।

मनुष्यजाति में गर्भाधान के लिए केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है, और जब एक शुक्राणु का स्त्रीबीज के साथ संसर्ग हो जाता है, तब उस बीज में कुछ ऐसा परिवर्तन होता है कि फिर उसमें दूसरा शुक्राणु प्रवेश नहीं कर पाता। इसलिए यद्यपि, असंख्य शुक्राणु गर्भाशय की ओर दौड़ मारते होंगे तथापि उनमें जो सब से प्रबल और चपल होता है, वही आर्तव के साथ मिलने में सफल होता है। यदि कर्मवशात् स्त्री के दो बीज हों तो दो शुक्राणुओं से दो गर्भों का आधान होकर युग्म उत्पन्न हो जाता है। शुक्र और आर्तव का संयोगस्थान—पाश्चात्य शास्त्रज्ञों ने मनुष्येतर प्राणियों में इस विषय का अन्वेषण करके यह सिद्ध किया है कि उनमें शुक्राणु और स्त्रीबीज का संयोग बीजवाहिनी (Fallopian tube) में उसके औदर्यमुख (ostium-abdominale) के पास होता है और उसके आधारपर मनुष्य जाति में भी दोनों के संगम का वही स्थान माना गया है। आयुर्वेद में दोनों का संगम कहाँ होता है इसका ठीक ठीक निर्देश नहीं मिलता, परन्तु वह गर्भाशय के बाहर होता है इतना निश्चिति से बताया है और यह बात इसी सूत्र के 'संसृज्यते चार्तवेन, ततः संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनु प्रतिपद्यते' इस वाक्य से स्पष्ट होती है। परन्तु शुक्रशोणित के संगम का स्थान गर्भाशय के बाहर बताते हुए गर्भ बनने का स्थान गर्भाशय ही बताया गया है। यह विरोध नहीं है, पाश्चात्य पौर्वात्य परिभाषा का भेद है। आयुर्वेद में पाश्चात्य परिभाषा के समान शुक्रशोणितसंगम को गर्भ नहीं कहते, परन्तु शुक्रशोणितसंगम में 'जीव' का संयोग होने पर उस त्रिसंयोगी अंग को (पंचम-अध्याय २ सूत्र) गर्भ कहते हैं—शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वः (जीवः) स्वकर्मक्लेशचोदितः। गर्भः संपद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ॥ अष्टांगहृदय॥ शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसंप्रयोगात्तदा गर्भोऽभिनिर्वर्तते चरक शारीर ३॥ अत्र गर्भशब्देन मनस्संयोगाच्चेतनेनात्मनाधिष्ठितानां महाभूतानां विकारविशेष उच्यते॥ इन्दु, अष्टांगसंग्रह॥ आगे के सूत्र की भी टिप्पणी देखो। भावप्रकाश में दोनों के संगम का स्थान गर्भाशय बताया है— तत्र (गर्भाशये) शुक्रवदायातेनार्तवेन युतो भवेत्॥ भावमिश्र के इस मत की भी पुष्टि कुछ पाश्चात्य शास्त्रज्ञ करते हैं। वे कहते हैं कि यद्यपि शुक्रशोणित के संयोग का स्थान प्रायः बीजवाहिनी में होता है तथापि गर्भाशय में भी दोनों का संयोग होकर गर्भ का आधान हो सकता है—

The meeting of the sex cells and their conjugation occurs in all probability most frequently in the outer part of the fallopian tube. This statement, can not, of course be expected to rest on direct observation in the human subject, but it is considered probable because the corresponding situation is known to be the site of fertilization in other animals. On the other hand, the possibility of fertilization in the uterus can not be denied, although it seems very unlikely that the ovum, after its sojourn in the tube, would be in a condition fit enough physiologically to admit of fertilization and developement. *Manual of Embryology by Frazer.*

स्त्री बीज स्वयं गतिहीन होता है, परन्तु कोष से उदरगुहा में आने पर बीजवाहिनी द्वारपरिवर्ती अंचलों (Fimbria) से उत्पन्न हुई लहरों में फँसकर उनकी ओर चला जाता है, और वाहिनी में घुसता है। वाहिनी भीतर से लोमश (Ciliated) होती है। इन लोमों की दिशा और गति गर्भाशय की ओर होती है। इसके सिवाय वाहिनी में भी एक प्रकार की पुरःसारणगति (Peristaltic wave) होती है। पुरःसारण और लोम इनकी सहायता से बीज धीरे-धीरे गर्भाशय की ओर चला जाता है और यदि उसका संयोग शुक्राणु से न हुआ तो मासिक स्राव के साथ वह भगद्वार से शरीर के बाहर चला जाता है। प्रायः शुक्राणु से उसका संयोग बीजवाहिनी के मुख के पास होता है, क्योंकि शुक्राणु गतियुक्त होता है। शुक्राणुओं की गति के सम्बन्ध में अनेकों के अनेक मत होते हैं, परन्तु साधारण मत यह है कि एक इञ्च का अन्तर तय करने के लिए पाँच से दस मिनट का समय लग जाता है और गर्भाशयमुख से बीजवाहिनी द्वार तक पहुँचने के लिए डेढ़ घंटे का समय काफी हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि मैथुन के थोड़े घंटे के पश्चात् शुक्राणु बीजवाहिनी में पहुँच सकते हैं। उस स्थान में बीज मिलने पर दोनों का संयोग होकर गर्भधारणा होती है। यदि न मिला तो शुक्राणु उदरगुहा में चला जाता है और वहाँ यदि बीज मिल जाय तो उदर में भी गर्भधारणा होती है। इस अवस्था को औदर्य गर्भावस्था (Abdominal pregnancy) कहते हैं। कभी कभी स्त्रीबीज के पीछे पड़ा हुआ शुक्राणु इधर उधर बीज न मिलने पर सीधा बीजकोष पर चला जाता है और यदि पक्वबीज वहाँ मिल जाय तो उससे संयुक्त होकर गर्भधारणा करता है। इस अवस्था को बीजकोषस्थ गर्भावस्था (Ovarian pregnancy) कहते हैं। ये दोनों अवस्थाएं भयानक होती हैं। क्योंकि ये स्थान गर्भवृद्धि के लिए योग्य न होने के कारण अकाल में विदीर्ण होकर रक्तस्राव होता है और उसी से रोगी की मृत्यु हो जाती है। शुक्राणु और बीज का संयोग—शरीर की प्रत्येक कोशा में न्यष्टि होती है। उस न्यष्टि में कुछ रंगद्रव्य होता है, उसे अग्निवर्णि (Chromatin) कहते हैं। कोशाविभाजन के समय यह रंगद्रव्य कई सूत्रों में विभक्त होता है। इनको पित्र्यसूत्र (Chromosomes) या रंगवस्तु (Chromatin body) कहते हैं। प्रत्येक जाति के प्राणियों में इन सूत्रों की संख्या निश्चित होती है। मनुष्य जाति में इनकी संख्या ४८ होती है। स्त्रीबीज पक्व होने के समय उसमें कई बार विभजन होकर न्यष्टिगत सूत्रों की संख्या २४ हो जाती है और बाकी का हिस्सा उसके ऊपर के आवरण में (Zona pellucida) मिलकर नष्ट हो जाता है। शुक्राणु पक्व होने के समय भी इसी प्रकार का विभजन होकर उसकी न्यष्टि में भी २४ सूत्र रह जाते हैं। यह न्यष्टि शुक्राणु के सिर और ग्रीवा में ही रह जाती है, पुच्छ में नहीं होती। इन पित्र्यसूत्रों या क्रोमोसोमों के द्वारा व्यक्ति के गुणदोष सन्तति में आ जाते हैं। प्राचीन परिभाषा के अनुसार इन पित्र्यसूत्रों को बीज का बीजभाग कह

सकते हैं, जिसमें व्यक्ति के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म चित्र मिलता है—यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्। (चरक, शारीर ३)। मनुष्यबीजं हि प्रत्यग बीजभागसमुदायात्मक स्वसदृशप्रत्यगसमुदायरूपपुरुषजनकम्। (चक्रपाणिदत्त)। कुछ थोड़े फर्क से आधुनिक विद्वान् भी चक्रपाणिदत्त के अनुसार ही बीजगत शरीररचना के सम्बन्ध में लिखते हैं—

Each chromo some contains a certain number of genes. They occur in pairs a set for black eyes, some for fair skin and a number of them for crooked nose *Riddle of sex.*

आदिबलप्रवृत्त या कुलज (Hereditary) रोगों में शुक्रशोणित में जो दोष होता है, वह इन क्रोमोसोम्स में ही रहता है और इन्हीं के द्वारा संतति में प्रवेश करता है। दोषों के अनुसार व्यक्ति के गुण भी इन्हीं के द्वारा संतति में जाते हैं। प्रथम विभाग में पृष्ठ १४८, १४९ और आगे चौथे सूत्र के वक्तव्य में 'जीव क्या है?' देखो। इस तरह विभजन के द्वारा एक हुए स्त्रीबीज के पास कई शुक्राणु पहुँच सकते हैं, परन्तु केवल एक जो सब से सबल होता है, भीतर प्रवेश कर सकता है। उसका सिर ऊपर के आवरण में से भीतर घुस जाता है और बीज के केन्द्र के साथ मिल जाता है। उसकी पूँछ सिर से अलग होकर बाह्य आवरण में विलीन हो जाती है। इस तरह २४ शुक्राणु के और २४ स्त्रीबीज के पित्र्यसूत्र संयुक्त होकर पूर्ववत् ४८ पित्र्यसूत्रों का एक जीव बनता है, जिसमें माता के और पिता के सम्पूर्ण गुण-दोष आ जाते हैं और यही गर्भ है। संक्षेप में शुक्रशोणित ससर्ग से दोनों पित्र्यसूत्रों का संयोग अभिप्रेत है। पित्र्यसूत्रों की संख्या में कदापि वृद्धि नहीं होती है।

गर्भाशयमनुप्रपद्यते—एवं दोनों का संयोग होने पर गर्भ की प्रारंभिक कोशा विभक्त होने लगती है और एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह इस तरह वृद्धि शुरू होती है। इस वृद्धि के साथ साथ धीरे धीरे गर्भाशय की ओर मार्ग तय करता है और प्रायः पाँच से दस दिन में गर्भाशय में आश्रय लेता है। हाराणचन्द्र 'अनु' का गर्भाशय के एक विशिष्ट भाग के साथ सम्बन्ध समझते हैं—गर्भाशयमन्वित्यनुर्भागेऽर्थे कर्मप्रवचनीय। गर्भाशयस्याशविशेष योऽयस्तृतीयमावर्तमित्येनन्, वदन्ति हि 'तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भ शय्या प्रतिष्ठिता' इति। प्रपद्यते प्राप्नोति॥ यह कथन भी ठीक है, क्योंकि बीजवाहिनी से आया हुआ गर्भ गर्भाशय के शिखर में याने तृतीय आवर्त में (Fundus of the uterus) में चिपक जाता है।

कभी कभी गर्भ बीजवाहिनी में अधिक दिनों तक रहता है। इसके कारण अभी तक ठीक मालूम नहीं हुए हैं। अधिक दिन रहने पर उसमें चिपकने का अंग (Trophoblast) उत्पन्न होता है और वह वहीं चिपककर वर्धित होता है। इस अवस्था को नलिकागर्भावस्था (Tubal Pregnancy) कहते हैं। औदरिक और बीजकोषस्थ गर्भावस्थाओं के अनुसार यह अवस्था भी खतरनाक होती है। गर्भधारणा के लिए अनेक बार मैथुनकर्म की आवश्यकता क्यों?—मनुष्यों में यह हमेशा देखा जाता है कि स्त्री और पुरुष दोनों प्रजोत्पादनयोग्य होते हुए भी एक बार समागम करके अपने उद्देश्य में सफल नहीं होते। उनको महीने में कई बार और इस प्रकार कई महीनों तक समागम करना पड़ता है, तब जाकर गर्भधारणा होती है। इसके सम्बन्ध में चरकाचार्य लिखते हैं—यथोक्तेन विधिनोपसंस्कृतशरीरयो स्त्रीपुरुषयोर्मिश्रीभावमापन्नयो. शुक्र शोणितेन सह संयोग समेत्याव्यापन्नमव्यापन्नेन योनावनुपहतायामप्रदुष्टे गर्भाशये गर्भमभिनिर्वर्तयत्येकान्तेन। यथा—निर्मले वाससि सुपरिकल्पिते रञ्जनसुदि गुणमुपनिपातादेव रागमभिनिर्वर्तयति, तद्वत्॥ (शारीर ८) योनिप्रदोषान्मनसोऽभितापाच्छुक्रासृगाहारविहारदोषात्। अकाल योगाद्बलसंक्षयाच्च गर्भं चिराद्विन्दति स प्रजाऽपि॥ (शारीर २)। पुरुषस्यानुपहतरेतस. स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाय यदा भवति समर्ग ऋतुकाले, यदा चानयोस्तथायुक्ते ससर्गे शुक्रशोणितससर्गमन्तर्गर्भाशयगत जीवोऽवक्रामति तदा गर्भोऽभिनिर्वर्तते॥ (शारीर ३)। इन उद्धरणों के अनुसार उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह होता है कि एकान्तेन गर्भधारणा के लिए जो शर्तें आवश्यक होती हैं, वे प्रायः पूरी न होने के कारण अनेक समागम निष्फल होते हैं और जब शर्तें पूरी हो जाती हैं, तब समागम सफल होता है। इसलिए इन शर्तों का विचार कुछ विस्तार के साथ किया जाता है। (१) ऋतुकाल—महीने में कुछ दिन ऐसे होते हैं कि उन दिनों में समागम करने पर गर्भधारणा की संभावना अधिक होती है, उनको ऋतुकाल कहते हैं—स्त्रीया गर्भधारणयोग्यावस्थोपलक्षित काल ऋतु॥ (विज्ञानेश्वर)। इसका अधिक विवरण इसी अध्याय के ६ सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। इन दिनों के अतिरिक्त दिनों में किया हुआ समागम प्रायः निष्फल होता है। समागम करने पर भी गर्भधारणाप्रतिबन्धक (Birth Control) जो उपाय होते हैं, उनमें ऋतुकालातिरिक्त दिनों में समागम करना एक उपाय होता है—

Women desirous to avoid pregnancy must beware of the Ides of the pre and early postmenstrual period *The Riddle of sex*

अर्थात् ऋतुकाल (Genetic period) और अनृतुकाल (Agenetic period) ये जो दो भेद किये गये हैं, वे ठीक हैं। (२) बीज की अनुपस्थिति—ऋतुकाल में गर्भधारणा होने का मुख्य कारण यह है कि उन दिनों में बीजकोष से बीज बाहर निकलता है। कभी कभी बीज बाहर निकलने पर भी बीजवाहिनी में न आकर उदरगुहा में नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में ऋतुकाल में भी गर्भधारणा नहीं हो सकती। (३) योनि गर्भाशय की शुद्धि—योनि गर्भाशय शुद्ध होने पर उनकी श्लेष्मल त्वचा तथा उनके स्राव शुक्राणुओं के अनुकूल होते हैं। जब इनमें कुछ दोष उत्पन्न होता है, तब इनका स्राव शुक्राणुओं के लिए घातक होता है, जिससे उत्तम शुक्राणु भी योनि में प्रविष्ट होने पर नष्ट या भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए गर्भाशय और मार्ग की शुद्धि की महत्ता वर्णन की है—Alterations of the secretions from vagina, cervix, uterus and tubes endangers the life of the spermatozoa *Riddle of Sex* (४) की पी स्पष्ट—

गर्भधारणा होने के लिए स्त्री के मन में अपत्य होने की प्रबल इच्छा होनी चाहिए। इसलिए आयुर्वेद में स्थान स्थान पर प्रजामिच्छन्ती, पुत्राशिषां कर्म, गुणवत्पुत्रार्थी, पुत्रमिच्छन्ती, इत्यादि अपत्य की आतुरतादर्शक शब्द प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार की आतुरता जब मन में होती है, तब 'तदर्थाभिनिवृत्तकर कर्म' सफल होता है। वानदे वेल्डे गर्भधारणा के मानसिक स्वास्थ्य (Mental Hygiene of conception) के अन्त में लिखते हैं—

In this sense, I desire of every women that she should experience her longing for a child not only with every fibre of her body but also with every impulse of her soul. *Ideal Birth.*

अपत्य के लिए जब इच्छा करके समागम किया जाता है, तब जरूर अपत्य उत्पन्न होता है। प्रतिदिन स्त्रीपुरुष जो समागम करते हैं, वह अधिकतर मैथुन से केवल आनन्द प्राप्त करने के लिए होता है। स्त्रियों की दृष्टि से अगर विचार किया जाय तो मैथुन सफल होने से स्त्रियाँ बहुत दिनों तक के लिए फँस जाती हैं, बार बार जल्दी फँसने से उनकी जिम्मेदारी बढ़ती है और स्वास्थ्य खराब होता है; इसलिए स्वभावतः उनमें मैथुन की इच्छा कम होती है। ऐसी अवस्था में पुरुष जब खुशी की जबर्दस्ती से उसके साथ समागम करता है, तब उसका मन न मैथुन में होता है, न वह अपत्य की इच्छा करती है। इसलिए गर्भधारणा नहीं होती—विमना गर्भं न धत्ते, विगुणां वा प्रजां जनयति। (चरक, अष्टांगसंग्रह)। अर्थात् तन्मना होने से मैथुन में आनन्द प्राप्त होता है, आनन्द के साथ उसके गर्भाशय से क्षारीय स्राव स्रवता है, जो पुरुष के शुक्राणुओं के लिए फायदेमन्द होता है। इस स्राव के सम्बन्ध में द्वितीय अध्याय के ३८वें श्लोक का वक्तव्य देखो। यदि आनन्द प्राप्त न होने के कारण गर्भाशय से क्षारीय स्राव न निकले तो योनि के स्राव में जो अम्ल होता है, उससे शुक्राणु नष्ट या खराब हो जाते हैं—

The vaginal secretion is slightly acid, when mixed with spermatic fluid and uterine discharge it becomes slightly alkaline—the medium most suitable for preservation of the sperm cells. *Riddle of the Sex.*

मानसिकदृष्ट्या भी तन्मय होकर आनन्द प्राप्त होने से गर्भधारणा होती है और गर्भ भी उत्तम प्रकार का होता है—

I have made mention above of the importance of the woman's orgasm for the high value of the offspring *Ideal Birth.*

(५) स्त्री की मनःस्थिति—काम, क्रोध, भीति इत्यादि विकारों से यदि स्त्री का मन मैथुन के समय तथा उसके पूर्व और पश्चात् बिगड़ा हुआ हो तो गर्भ का आधान ठीक नहीं हो सकता है, क्योंकि इन विकारों से अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्राव (Hormones of the ductless glands) विकृत हो जाते हैं, जिससे स्त्रीबीज फलित होने पर भी गर्भाशय में नहीं टिकता है—नत्राशिता क्षुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्ता क्रुद्धा न गर्भं धत्ते विगुणां वा प्रजां जनयति। (चरक)। इसके उलटे 'सौमनस्यं गर्भधारणानाम्'। (चरक)।

Since the firmness of the settlement of the fertilized ovum in the uterine mucous membrane is dependent on the vitellus; further, since the nature of this organ with internal secretion is influenced by the frame of the mind, the psychical equilibrium, it seems comprehensible that a fertilized ovum in consequence of the disturbances of this kind may be expelled soon after its embedding or also at some other later date. In the former case, we have a menstrual period delayed for a few days. *Ideal Birth.*

(६) स्त्री की कामशान्ति—मैथुन के समय स्त्री और पुरुष दोनों को ही सुख होता है, परन्तु दोनों की कामशान्ति का तत्त्व भिन्न है। पुरुषों में कामशान्ति कुछ जल्दी होती है और उसके लिए शुक्रोत्सर्ग जैसी एक स्वाभाविक घटना रक्खी गई है। स्त्रियों में इस प्रकार की कोई घटना नहीं है, जिससे उनकी कामशान्ति आप से आप हो जाय। स्त्रियों में कामशान्ति एक मानसिक अवस्था है, जिसके लिए पुरुष को समागम के प्रारम्भ से कोशिश करनी पड़ती है। यदि इस प्रकार का प्रयत्न न किया जाय तो उनकी शान्ति मुश्किल से होती है और वे असंतुष्ट रह जाती हैं। इसी दृष्टि से लिखा है—स्त्रीणामष्टगुणः कामः॥ वात्स्यायन कामसूत्र में भी लिखा है कि प्रारम्भ से चुम्बनादि द्वारा स्त्री की कामेच्छा पूरी करने की कोशिश की जावे और जब उनकी कामेच्छा पूरी होने को आवे, तब पुरुष अपनी पूरी कर लेवें। स्त्री की कामेच्छा पूरी न होने से गर्भधारण नहीं होता—जातेरभेदाद् दम्पत्योः सदृशं सुखमिष्यते। तस्मात्तथोपचर्या स्त्री यथाग्रे प्राप्नुयाद्रतिम्॥ चिरवेगे नायके स्त्रियोऽनुरज्यन्ते। शीघ्रवेगस्य भावमनासाद्यावसानेऽभ्यसूयिन्यो भवन्ति। नह्यसत्यां भावप्राप्तौ गर्भसम्भव इति बाभ्रवीयाः ॥२१॥ आधुनिक विज्ञान भी इस तत्त्व को मानता है—

The sexual gratification of women is even a part of the act of fecundation, for her share in that act is not purely passive. Mathew Duncan placed stress on this need of sexual pleasure in the women in order to ensure fecundation. *Psychoogy of sex by H. Ellis.* In the female the complete orgasm satisfying the desire is not generally consummated so rapidly as in the male, with whom seminal ejaculation is accomplished in a few minutes or even less. The culminating point in the female orgasm occurs seighly after that of the male, and is said to be marked by the expulsion of mucous through the os uteri. The mucus is then partly withdrawn into the uterus along with the semen, coition sometimes takes place without the orgasm in the female being completed or even without its occuring at all, but this is abnormal and such coitions are

apt to be sterile, probably because the orgasm may be an essential factor in bringing about ovulation (or release of the ova). *Sexual Physiology by Marshall*

गर्भधारणा के लिए कामशान्ति की आवश्यकता इस लिए होती है कि उसमे स्त्री के बीजकोष से बीज (आर्तव) स्वतन्त्र होने में सहायता होती है। खरगोश, बिल्ली इत्यादि मनुष्येतर प्राणियों में मैथुन के समय ही बीज कोष से स्वतन्त्र होते हैं। मनुष्यों में यद्यपि इस प्रकार की आवश्यकता नहीं होती तथापि मैथुन और कामशान्ति बीजोत्सर्ग में जरूर सहायता करते हैं। इस विषय का कुछ विवरण दूसरे अध्याय के 'घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रित प्रविलीयते' इस (३७ वे) श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। (७) मैथुन का आसन—वीर्यग्रहण के लिए वह आसन उत्तम होता है, जिसमें योनि में उत्सर्गित हुआ शुक्र आसानी से गर्भाशय की ओर जा सके। जिन आसनों में इसके लिए कठिनाई होती है, उन आसनों में मैथुन करने से प्राय गर्भधारणा नहीं होती, यह अनुभवसिद्ध है। आयुर्वेद में इसलिए, बतलाया है कि गर्भधारणा के लिए अनुकूल आसन स्त्री की उत्तान स्थिति याने चित लेटना है। इसी स्थिति में वीर्य निकलने के पश्चात् उसका ग्रहण करने के लिए स्त्री को शिथिल अवस्था में और योनि भींचकर पड़ा रहना और सो जाना चाहिए—उत्ताना तन्मना योषित् तिष्ठेदङ्गैः सुसंस्थितैः ॥ (अष्टाङ्गहृदय)। तस्मादुत्तान बीजं गृह्णीयात्। तथा यथास्थानमेव तिष्ठन्ति दोषा ॥ (अष्टाङ्गसंग्रह)। न च न्युब्जा पार्श्वगता वा सेवेत।

If an unsuitable posture be assumed during intercourse, the woman may remain sterile. *Laws of Sexual Philosophy*

अर्थात् मैथुन में आसन ग्रहण करने से या उत्तान अवस्था में वीर्य निकलने पर एकदम खड़ा हो जाने से तथा पश्चात् योनि प्रक्षालन करने से सब वीर्य बाहर चला जाता है और गर्भधारणा नहीं होती। (८) पुरुष की मन स्थिति—ऊपर अत्याशिता, क्षुधिता इत्यादि स्त्री के लिए जो दोष वर्णन किये हैं, वे पुरुष के लिए भी लागू हैं—पुरुषेऽप्येत एव दोषा। अर्थात् क्रुद्ध, भीत या अन्य विकारों से युक्त पुरुष स्त्री में गर्भ का आधान नहीं कर सकता। अत सर्वदोषवर्जितौ स्त्रीपुरुषौ संसृज्येयाताम् ॥ (चरक)। इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष कितना ही स्वस्थ क्यों न हो यदि मैथुन के पूर्व तथा मैथुन के समय वह शरीर से और मन से अत्यन्त श्रान्त हुआ हो या क्रोध, शोक, भय आदि से व्याप्त हुआ हो तो उसके शुक्र में कुछ ऐसा दोष उत्पन्न हो जाता है कि वह शुक्र गर्भ का आधान नहीं कर सकता—पुरुषस्येत्यादिना पूर्वं मैथुनात्प्रागनुपगमनैरसंस्वापक्व, तथायुक्ते चेत्य नेन तु मैथुनसमयेऽपि शुक्रदोषाणीनामदुष्टिरुच्यते। मैथुनकाले हि ईर्ष्यादिना शुक्रदुष्टि समाम्नाते ॥ (चक्रपाणिदत्त)। पाश्चात्य पण्डितों का भी कथन है कि पुरुष के शुक्र में शुक्राणुओं की उपस्थिति एक सी नहीं होती। एक ही पुरुष में शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यावस्था के अनुसार शुक्राणु कभी कम होते हैं, कभी अधिक होते हैं और कभी होते ही नहीं—

After physical or mental exhaustion, strenuous intercourse, or following invalidating disease, the ejaculation may be free from sperm cells. *The Riddle of Sex.*

(९) शिश्नोत्थान ठीक न होना—गर्भधारणा के लिए पुरुष का वीर्य गर्भाशयमुख के ऊपर या आसपास गिरना आवश्यक है। यह कार्य शिश्न का उत्थान अच्छी तरह होने से हो सकता है। शारीरिक या मानसिक थकावट, किसी काम की चिन्ता, क्रोध इत्यादि से शिश्नोत्थान ठीक नहीं होता परन्तु आदत के कारण जब पुरुष समागम करता है, तब वीर्य भगद्वार के आसपास गिर जाता है और शुक्राणु नहीं जा सकते।

इस तरह से अयोग्यकाल, स्त्रीबीज का अभाव, स्त्री की अनिच्छा, मैथुन के समय कामवेग का अभाव तथा मानसिक वैपरीत्य, योनि का दुष्टस्राव, वीर्य में शुक्राणुओं की अनुपस्थिति, शिश्नोत्थान ठीक न होने से, अयोग्य स्थान में वीर्यक्षरण इत्यादि अनेक कारणों से प्रतिदिन का स्त्री-पुरुषों का संयोग वन्ध्य हो जाता है। यदि उपर्युक्त नियमों के अनुसार संयोग होगा तो 'अवन्ध्य एव संयोग स्यादपत्यकामत ॥ (अष्टाङ्गहृदय)।

क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणः गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥ ४ ॥

(जीव पर्याय और उसका गर्भ में अवतरण—) क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता पुरुष स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता इत्यादि पर्याय वाचक नामों से (ऋषियों से) जो पुकारा जाता है वह (क्षेत्रज्ञ स्वय) अक्षय, अचिन्त्य (और) अव्यय (होते हुए भी) दैव के सग से (सूक्ष्म) भूत, सत्त्व रज तम, दैव आसुर या अन्य भाव इन से युक्त वायु से प्रेरित हुआ गर्भाशय में प्रविष्ट होकर तत्काल (शुक्र आर्तव के संयोग में) अवस्थान करता है ॥ ४ ॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र मे गर्भ की उत्पत्ति का विचार भौतिक दृष्टि से याने आधुनिक विज्ञान (Modern Science) की दृष्टि से किया गया है। भारतीय दर्शनशास्त्र की दृष्टि से शुक्र और आर्तव महाभूतात्मक अतएव अचेतन है। उनमें चैतन्य प्राप्त होने के लिए चेतनावान् आत्मा या पुरुष का उनके साथ संयोग होना आवश्यक है। इसलिए गर्भ की व्याख्या में शुक्र, शोणित और आत्मा तीनों का निर्देश निरपवाद किया जाता है—शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति ॥ यथा सत्यामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक् संयोगाद्गर्भत्व न भवति, तथा संयोगाद्भवति ॥ (चरक)। अत प्रथम गुणवर्णनात्मक आत्मा के पर्याय नाम दिये हैं। क्षेत्रज्ञ—शरीर रूपी क्षेत्र का ज्ञाता—इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहु क्षेत्रज्ञ इति तद्विद ॥ (भगवद्गीता १३।१)। किया शरीर रूप क्षेत्र में बद्ध हुआ

आत्मा—आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः। तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥ (महाभारत)। वेदयिता—सुखदुःखादि का अनुभव करने वाला—पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्॥ (भगवद्गीता १३।२१)। तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः॥ (सांख्यकारिका ५५)। जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्। येन वेदयते सर्वं सुखदुःखं च जन्मसु॥ (मनुस्मृति १२।१३)। मनसो ज्ञापयिता॥ (डल्हण)। स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता—पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा मिलने वाले ज्ञान का ज्ञाता। यद्यपि नेत्र रूप को देखते हैं तथापि रूप का ज्ञान आत्मा को होता है, नेत्र को नहीं—आत्माज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते। (चरक)। किंवा इन्द्रियों के द्वारा कार्य करने वाला याने कर्ता, ज्ञापक—कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम्॥ (चरक)। पुरुषः—पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः। लिङ्ग शरीर में जो निवास करता है। स्रष्टा—शरीर में चैतन्य उत्पन्न करने वाला—चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते। शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्॥ (चरक)। गन्ता—एक देह से दूसरे देह में गमन करने वाला—देहाद्देहान्तरं याति किंचिच्छ्रावणोऽव्ययः॥ साक्षी—ज्ञानवान् होने के कारण आत्मा साक्षी कहलाता है—यः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः, साक्षी ह्यात्मा यतः स्मृतः। (चरक)। किंवा ज्ञानवान् होने के कारण तटस्थ के समान सुखदुःखादि से विचलित न होने वाला—निर्विकारः परस्त्वात्मा, द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥ (चरक)। द्रष्टा साक्षी, तेन यतिर्यथा परमशान्तः साक्षी सन् जगतः क्रियाः सर्वाः पश्यन् रागद्वेषादिना युज्यते, तथाऽऽत्मापि सुखदुःखाद्युपलभमानोऽपि न रागादिना युज्यते। (चक्रपाणिदत्त)। धाता—पंचमहाभूतात्मक शरीर को धारण करने वाला। वक्ता—बोलने वाला। यह उपलक्षण है, इससे पाँचों कर्मेन्द्रियों का कर्ता आत्मा है, यह अर्थ समझना चाहिए—एतेन कर्मेन्द्रियाणामपि वचनादानविहरणोत्सर्गादिश्चाप्ययमेव हेतुः। (डल्हण)। दैवसंगात्—प्रारब्ध कर्म का फल भोगने के सिवाय जीव का छुटकारा नहीं होता, यह वेदान्तशास्त्र का मत है—शरीरारम्भकं कर्म योगिनोऽयोगिनोऽपि च। विना फलोपभोगेन नैव नश्यत्यसंशयम्॥ वर्तमानशरीरेण संपन्नं कर्म देहिनः। इह वाऽमुत्र वाऽप्यस्य ददाति स्वफलं शुक॥ प्रारब्धशेषं विच्छिन्नं पुनर्देहान्तरेण तु। भुङ्क्ते देही ततो भुङ्क्ते तल्लङ्घयति कः पुमान्?॥ (पराशर)। भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते॥ (वेदान्तसूत्र)। कभी यह फल एक जन्म में समाप्त होता है, कभी अनेक जन्म की आवश्यकता होती है—अवश्यमनुभोक्तव्यं प्रारब्धस्य फलं जनैः। देहेनैकेन वाऽन्येन युगपद्वा क्रमेण वा॥ (पराशर)। दैव से एक या अनेक पूर्व जन्म के प्रारब्ध कर्म का बोध होता है, जिसके फल जीव को वर्तमान जन्म में भोगने पड़ते हैं—दैवं पुरा यत् कृतमुच्यते तु। दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदैहिकम्॥ (चरक)। उस पौर्वदैहिक कर्म के फलरूप संग या बंधन के कारण। आत्मा उपर्युक्त गुणों से युक्त होने पर भी अपने पूर्वकर्मों में फँसने के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करता है—क्षेत्रज्ञा नित्याश्च तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम्॥ (सुश्रुत, शा० १)। पूर्वकर्म की कल्पना आधुनिक पाश्चात्य पण्डित भी मानते हैं—

The individual never being other than what he has made himself in the course of his evolution by the immense series of representations he has gone through, it follows that every thing that is within his field of consciousness is his own doing, the fruit of his own efforts, his own sufferings and his own joys. Every act, even every desire and inclination, has an inevitable reaction in one or other of his existences. *Gustave Geley. From the Unconscious to the Conscious.*

अचिन्त्य—जो मन और बुद्धि की चिन्तनशक्ति के बाहर होता है—मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः। (गीता)। यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥ भूतात्मना सह—भूतात्मा के साथ। वेदान्त के अनुसार पंचतन्मात्रा या 'देहबीजभूत सूक्ष्म' को भूतात्मा कहते हैं—योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते। यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥ (मनुस्मृति)। यः पुनरेष व्यापारान् करोति शरीराख्यः स पृथिव्यादिभूतारब्धत्वाद् भूतात्मेति पण्डितैरुच्यते। (कुल्लूक भट्ट)। वेदान्तसूत्र में भी लिखा है—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः (३।१।१)। तदन्तरप्रतिपत्तौ देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम्॥ (शांकरभाष्य)। सांख्यशास्त्रानुसार भूतात्मा से 'लिङ्गशरीर' का बोध होता है। यह लिंगशरीर अठारह तत्त्वों का बनता है—महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। (सांख्यकारिका)। महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्। एषां समुदायः सूक्ष्मं शरीरम्॥ (सांख्यतत्त्वकौमुदी)। चरक में भी लिखा है—भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्। (शा० २)। इस सूक्ष्म शरीर का आकार व्यवहार के लिए अंगुष्ठमात्र माना जाता है—ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशङ्गतम्। अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद्यमः॥ (महाभारत)। अन्वक्षम्—(१) तत्काल, अल्पकाल में। तत्क्षणमेव न क्षणान्तरे। (डल्हण)। इसका संबंध गर्भोत्पत्ति के समय भूतग्रहण के साथ निम्न चरक वचनानुसार हो सकता है—तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते। यथा—प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः, तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः। सर्वमपि तु खल्वेतद्गुणोपादानमणुना कालेन भवति॥ (शा० ४)। (२) हाराणचन्द्र अक्ष से इन्द्रिय समझते हैं—अन्वक्षमित्यनुः सहार्थे कर्मप्रवचनीयः, अक्षैरिन्द्रियैः सहेत्यर्थः॥ भावः—सांख्यशास्त्रानुसार सत्त्व रज तम इन गुणों के कारण बुद्धि में जो विविध स्थित्यन्तर होते हैं, उनको 'भाव' कहते हैं, और सत्त्वादि के न्यूनाधिक प्रमाण के अनुसार इन भावों की संख्या भी अनेक होती है। ये भाव पुष्प में सुवास या वस्त्र में रंग के समान लिङ्ग शरीर में रहते हैं और इन भावों के अनुसार देव, मनुष्य या पशुयोनि में जीव भ्रमण करता है—संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्। (सांख्यकारिका)। इस कारिका पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि भावाः, तदन्विता बुद्धिः, तदन्वितं च

सूक्ष्मं शरीरमिति तदपि भावैरधिवासितम् । यथा सुरभिचम्पककुसुममम्पकादस्त्रं तदामोदवासितं भवति । तस्माद्भावैरधिवासितत्वात्ससरति ॥ (सांख्यतत्त्वकौमुदी) । इसके सिवाय कलल-बुद्‌बुदादि गर्भ के, बाल्ययौवनादि बाल के जो स्थित्यन्तर होते हैं, वे भी 'भाव' ही कहलाते हैं, परन्तु ये शारीरिक हैं। इस तरह शारीरिक और बौद्धिक दो प्रकार के भाव होते हैं—द्विधा करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्या । (सांख्यकारिका)। यहाँ बौद्धिक भावों से संबंध है, क्योंकि वे नित्य हैं और आत्मा के साथ एक देह से दूसरे देह में जाते हैं, और इन्हीं के कारण उच्च नीच योनि में जीव जन्म लेता है । शारीरिक भाव प्रत्येक जन्म के भिन्न भिन्न होते हैं और मृत्यु के साथ मिट जाते हैं । सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैः —सत्त्व के कारण धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार दैवासुर भाव उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच इन अष्टविध दैवासुर योनि में जन्म लेता है । तम के कारण अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य ये चार तैर्यग्भाव उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर इन तैर्यग्योनियों में जन्म लेता है । रजोयुक्त दोनों के मिश्रण से धर्माधर्मादि अष्टविध दैवासुर और पाशव (अपर) भाव उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव मनुष्ययोनि में जन्म ग्रहण करता है—बुद्धिधर्मो ज्ञानं विरागमैश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति । मानुषश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमो विशालश्च मूलतः सर्गः । मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः । (सांख्यकारिका) । मनुष्य योनि में सत्त्व रज तम तीनों गुण उपस्थित रहते हैं (प्रायः रज का प्राधान्य मनुष्ययोनि में मानते हैं), दैविक भाव होते हैं, पाशविक भाव भी होते हैं और सुख तथा दुःख भी रहता है । यह कार्य धर्माधर्मादि अष्टविध भावों से होता है । अतः अष्टविध भावों को प्रदर्शित करने के लिए सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च यह शब्द प्रयोग किया गया है।

सांख्यशास्त्रानुसार जीव इन भावों से अधिवासित होने के कारण बार बार जन्म लेता है, वेदान्तशास्त्रानुसार जीव प्राक्तन कर्मों (दैवसंग) से अधिवासित होने के कारण बार बार जन्म लेता है। अर्थात् 'भाव' और 'कर्म' पर्यायवाची शब्द हैं। सुश्रुतसंहिता में सांख्य और वेदान्त दोनों का काफी परिचय मिलता है। इसलिए जीव के जन्मग्रहण के कारण बतलाने के लिए दोनों शास्त्रों के शब्द यहाँ (दैवसंग और भाव) प्रयुक्त किये हैं, जैसे कि आजकल के अँग्रेजी लिखे पढ़े पण्डित व्याख्यान या लेख में एक ही कल्पना को प्रकट करने के लिए देशी और अँग्रेजी शब्द प्रयोग में लाते हैं।

डल्हणाचार्य भाव से 'मन' समझते हैं, और दैवासुरादि भावों का संबंध चौथे अध्याय में सात्त्विक, राजस और तामस काय के जो प्रकार वर्णन किये हैं, उन्हीं के साथ करते हैं—पुनः किंविशिष्टः ? दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुना प्रेर्यमाणः भावः सत्त्वं मनः इत्यर्थः । तेन देवादीनां सप्तानां सप्तभिः सात्त्विकैः भावैः, असुरादीनां षण्णां षड्भिः राजसैर्भावैः, पश्वादीनामपरैश्च त्रिभिस्तामसैर्भावैः । सत्त्वस्य च मनःपर्यायस्य प्रेरकत्वं जन्मान्तरे प्रतिपादितम् । तदुक्तं चरके—'अस्ति खलु सत्त्वमुपपादिकं यज्जीवं स्पृक् शरीरेणाभिसंबध्नाति' इति । इस तरह यदि भाव से मन समझा जाय तो ये मन के भेद दैवसंग याने पूर्वकर्म के कारण ही होते हैं—मनसो मनस्त्वं इति । पूर्वजन्मन्यवहितं यादृङ्मनः, इह जन्मन्यपि तादृगेव मनो भवति । उक्तं चान्यत्र—'जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः । तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥ इति। अत्रापि च मनउत्पत्तौ कर्मात्मजानामिति बोध्यम् । तेन कर्मवशादेव मनोभेदो भवति ॥ (चक्रपाणिदत्त चरक, शारीर २।३६) । वायुना—मैथुन के समय हर्ष से उद्दीपित होकर जो वायु शुक्र को फेंकती है, उसी वायु से प्रेरित हुआ । गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते—गर्भाशयमनुप्रविश्य लोहितरेतसो सन्निपातेष्ववतिष्ठते । (प्रथम अध्याय का १७वाँ सूत्र देखो)। शुक्रशोणित संयोग गर्भाशय में आने के पश्चात् उसमें जीव या आत्मा प्रवेश करने पर गर्भ उत्पन्न होता है यह गर्भोत्पत्ति की दार्शनिक कल्पना है और इसका उल्लेख पीछे तीसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। अब प्रश्न यह है कि जीव गर्भाशय में ही शुक्रशोणित के साथ क्यों मिलता है, बाहर क्यों नहीं मिलता ? इस प्रश्न का दार्शनिक समाधान यह है कि जीव अपने पूर्वकर्मों के अनुसार सुख दुःख भोगने के लिए शुक्रशोणित संयोग में अवतीर्ण होता (प्रथम अध्याय सूत्र १७ देखो) है । यह सुख दुःख भोगने का कार्य शुक्रशोणित संयोग बढ़ कर 'शरीर' (५ वाँ अध्याय सूत्र २ देखो) बनने पर ही हो सकता है । गर्भाशय को छोड़ कर अन्य स्थान में रहे हुए शुक्रशोणित संयोग को परिवर्धित होकर शरीर बनने का अवसर ही नहीं (पिछले सूत्र के वक्तव्य में औदर्य बीजकोषस्थ और नलिकागत गर्भधारणा देखो) मिल सकता । इस लिए उन स्थानों में रहे हुए शुक्रशोणित संसर्ग में जीव का प्रवेश व्यर्थ होता है और गर्भाशय में पहुँचे हुए शुक्रशोणित संसर्ग को यथाकाल बढ़ने के लिए अवसर मिलने के कारण जीव का प्रवेश सफल होता है इस लिए जीव गर्भाशय में ही उसमें प्रवेश किया करता है।

जीव किसके जरिये गर्भाशय में प्रवेश करता है ?—यद्यपि गर्भोत्पत्ति के लिए आत्मा की आवश्यकता होती है तथापि केवल आत्मा स्वयं शुद्ध बुद्ध निष्क्रिय, ज्ञानी होने के कारण उसको जन्म लेने की कोई जरूरत नहीं होती। जब वह वासनाधिष्ठित हो जाता है, तब जन्ममरण के फेर में पड़ता है। यह आत्मा बुद्धि, अहंकार, मन दश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्र इन तत्त्वों के साथ भ्रमण करता है—भूतैरिन्द्रियैः सह वैरात्मा कदाचन्न वियुक्तरूपः । न मनसा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः ॥ (चरक)। इस समूह को 'लिङ्गशरीर 'अतिवाहिक शरीर' या संक्षेप में 'जीव' कहते हैं। शुक्रशोणित के संयोग में मिलने वाली यही तीसरी चीज है, जिसके सिवाय गर्भ नहीं उत्पन्न होता—यद्यपि शुक्रजन्मो कारणे तथापि यदैवातिवाहिक सूक्ष्मभूतरूपं शरीरं प्राप्नुतः, तदैव ते शरीरं जनयतः, नान्यथा । यदि शुक्रशोणितमातिवाहिकशरीरनिरपेक्षं गर्भं जनयेत्, तदाऽसत्यपि जीवाधिष्ठाने जनयेत्, न तु जनयति, तस्मात् सूक्ष्मभूतादेः बीजरूपाच्छुक्रशोणितयुक्ताद्गर्भजन्मेति । (चक्रपाणिदत्त) । यह

जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए गर्भाशय में प्रवेश करते समय इसका दर्शन नहीं होता—तेजो यथार्करश्मीनां स्फटिकेन तिरस्कृतम्। नेन्धनं दृश्यते गच्छत्सत्त्वो गर्भाशयं तथा ॥ (अष्टांग-हृदय)। परन्तु दिव्यदृष्टि से इसका भी दर्शन हो सकता है—कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्। (चरक)। यह जीव शुक्र के समान हर्षोदीरित वायु से प्रेरित होता है। इसी जीव से भौतिकदृष्ट्या भी अपत्य उत्पन्न होता है। इसी लिए 'आत्मा पुत्रः', 'आत्मजः', 'अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादभिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदां शतम् ॥' इत्यादि वाक्प्रचार प्रचलित हैं। इससे यह अनुमान कर सकते हैं कि जीव पुरुष के वीर्य में ही अधिष्ठित होकर उसी के साथ गर्भाशय में प्रवेश करता है। चरकसंहिता में पुरुष के वीर्य का वर्णन भी इसी प्रकार मिलता है—तया सह तथाभूतया यदा पुमानव्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति, तदा तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽङ्गादङ्गात् सभवति। स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्तवेनाभिसंसर्गमेति। (शारीर ४)। यहाँ 'अधिष्ठितश्च' से 'जीवाधिष्ठितश्च' समझना चाहिए। योगवासिष्ठ (३।५५) में जीव रेत में अधिष्ठित होकर एक देह से दूसरे देह में प्रवेश करता है, यह स्पष्ट लिखा है—नस्मिन् देहे शवीभूते वाते चानिलतां गते। चेतनं वासनायुक्तं स्वात्मतत्त्वेऽवतिष्ठति। 'जीव' इत्युच्यते तस्य नामाणोर्वासनावतः। इतोऽयमहमादिष्टः स्वकर्मफलभोजने। गच्छाम्याशु शुभं स्वर्गमितो नरकमेव च ॥ तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम्। रेतसामधितिष्ठन्ति गर्भजातिक्रमोचिते ॥ इससे यह स्पष्ट होगा कि जीव शुक्र में उपस्थित रहता है, शुक्र के साथ पुरुष के शरीर से वायु द्वारा बाहर आता है और शुक्र के साथ गर्भाशय में भी प्रवेश करता है।

जीव क्या है ?—वेदान्तशास्त्रानुसार जीव की कल्पना बहुत उच्च प्रकार की है, परन्तु इतनी उच्च कल्पना का यहाँ विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैद्यकशास्त्र में जीव से कोई सिद्ध अर्थ निकलता है या नहीं, जो ग्रहण करने पर जीव के अधिकांश कार्यों को भली भाँति प्रदर्शित कर सके, इसी दृष्टि से इसका उत्तर देने का यहाँ प्रयत्न किया गया है और इसी दृष्टि से इस अर्थ की ओर देखना चाहिए। जीव अतिसूक्ष्म, अणुस्वरूप, चर्मचक्षु से अदृश्य परन्तु दिव्यचक्षु से दृश्य, वीर्य में मिलने वाला, वीर्य के साथ वायु से बाहर आने वाला, वीर्य में जिसके होने से गर्भ होता है, न होने से गर्भ नहीं होता ऐसा पदार्थ है, संक्षेप में यह वीर्य का बीज है। योगवासिष्ठ (३।५५) में जीव को मनुष्य का बीज कहा है—संसुप्तकरणस्त्वेवं बीजतां यात्यसौ (जीवः) नरे। तद्बीजं योनिगलितं गर्भो भवति मातरि ॥ आशापाशशतावद्धा वासनाभावधारिणः। कायात्कायमुपायान्ति वृक्षाद् वृक्षमिवाण्डजाः ॥ इससे यह स्पष्ट है कि वैद्यकशास्त्र में शुक्रगत गर्भोत्पादक बीज को 'जीव' कह सकते हैं। अब आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान के अनुसार शुक्रगत गर्भोत्पादक अंग को स्पर्माटोझुआ (Spermatozoa) कहते हैं। इसी का निर्देश शुक्राणु करके पीछे किया गया है। यह शुक्राणु जीव के समान अतिसूक्ष्म, अणुस्वरूप, चर्मचक्षु से अदृश्य परन्तु दिव्यचक्षु (सूक्ष्मदर्शक यन्त्र Microscope) से दृश्य, वीर्य में मिलने वाला, वीर्य के साथ वायु से बाहर आने वाला, जिसकी उपस्थिति पर शुक्र की गर्भोत्पादक शक्ति होती है, जिसकी अनुपस्थिति पर वीर्य की गर्भोत्पादक शक्ति जाती रहती है, ऐसा पदार्थ है। विशेष विवरण के लिए प्रथम खण्ड में ८९ पृष्ठ देखो। इस तरह दोनों में पूर्ण अभेद होता है। अब जीव के वासना, संस्कार, गुणदोष इत्यादि आनुषङ्गिक धर्मों का विचार करना है। ये धर्म जीव के साथ रहते हैं और जिस देह में जीव अवस्थान करता है, उस देह में प्रकट होते हैं। पूर्वजन्म, पुनर्जन्म इनकी सिद्धि इन धर्मों के ऊपर ही की जाती है। अब शुक्राणुओं का इस दृष्टि से विचार किया जाय तो यह सिद्ध हुआ है कि उसकी न्यष्टि में कुछ पित्र्यसूत्र (Chromosome) होते हैं, जो कुलज शारीरिक और मानसिक गुणदोषों को अपने साथ ले जाते हैं, याने ये कुलजप्रवृत्ति (Heredity) के वाहक होते हैं। इस कुलजप्रवृत्ति का विवरण पूर्वजन्म के संस्कार अर्थात् जीव के आनुषंगिक धर्मों पर ही किया जाता है—

The self seeking for rebirth obtains embodiment in the frame offering the necessary conditions. The physical body derived from the parents according to the laws of heredity is appropriated by the conscious self. *Sir Radhakrishnan 'Idealistic View of Life.'* We appear in the world not as clear slates for the writing of environment and circumstance, but as slates already inscribed. For example, we inherit talents. "An eye for beauty, a taste for music, which are not common qualities of the species but individual variations. We can not believe that the rise of the self with a definite nature is simply fortuitous" Therefore, we must presuppose a past for the self, in which the individual inheritance which it brings with it into the world has been built up. *Radhakrishnan's arguments for rebirth summed up by Joad in counter attack from the East.*

अर्थात् मनुष्य की बुद्धि, वासना, मन, स्वास्थ्य, रोग इत्यादि शारीरिक और मानसिक विकार जो प्राचीन कल्पना के अनुसार जीव के आनुषंगिक धर्मों पर निर्भर होते हैं आधुनिक कल्पना के अनुसार शुक्राणु गत पित्र्यसूत्रों पर निर्भर होते हैं। इसलिए वैद्यकशास्त्र में जीव के लिए आर्तवसयोगी शुक्राणु समझने से प्रायः सभी व्यावहारिक बातों का स्पष्टीकरण हो जाता है। इसके साथ साथ यह भेद भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्राचीन कल्पना के अनुसार जीव का संसरण केवल पुरुष के द्वारा होता है, परन्तु आधुनिक कल्पना के अनुसार पुरुष के समान स्त्री में भी बीज (Ova) होता है और उस बीज में भी माता के संस्कारवह पित्र्यसूत्र होते हैं, और किसी व्यक्ति में जो पूर्व संस्कार दिखाई देते हैं, वे माता पिता के संयुक्त संस्कार से बनते हैं।

तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति ॥ ५ ॥

(गर्भ में लिङ्गभेद के कारण—) शुक्रार्तव के संयोग में (तत्र) शुक्रबाहुल्य से पुरुष, आर्तवबाहुल्य से स्त्री और दोनों की समता से नपुंसक पैदा होता है ॥ ५ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि शुक्र और आर्तव के संयोग के समय में शुक्र और आर्तव की स्थिति के अनुसार गर्भ का लिङ्ग निश्चित होता है। चरक में भी लिखा है—एवमभिनिर्वर्तमानस्य गर्भस्य स्त्रीपुरुषत्वे हेतु पूर्वमुक्त। यथा हि बीजमनुपतप्तं स्वां स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयते। पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का भी स्त्रीपुरुष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही मत है—

The theory, which is supported by an enormous amount of evidence, postulates that sex is definitely determined at fertilization. *Halliburton's Physiology* The sex of the future embryo is determined at the time of fertilization *Manual of Embryology by Frazer*

अब प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? तीसरे सूत्र के वक्तव्य में यह बताया गया है कि शुक्राणु और स्त्रीबीज में पितृयसूत्रों की संख्या ४८ होती है और पक्व होते समय विभजन के कारण इनकी संख्या आधी २४ हो जाती है। अधिक अन्वेषण से यह सिद्ध हुआ है कि इन में कुछ *लिंगसूत्र* (Sex chromosomes) होते हैं। स्त्रीबीज में इनकी संख्या सम या व्यवहार के लिए दो समझ सकते हैं, जिससे विभजन के द्वारा पक्व हुए प्रत्येक स्त्रीबीज में स्त्रीत्व वाहक सूत्र (X chromosome) आ जाता है। शुक्राणु में पुंस्त्वजनक Y सूत्र एक होता है, जिसका विभाग विभजन के समय नहीं होता। परिणाम यह होता है कि विभजन के पक्व हुए शुक्राणुओं में आधे शुक्राणु पुंस्त्वजनक सूत्रयुक्त होते हैं और आधे पुंसूत्रविरहित होते हैं। व्यवहार के लिए यों कह सकते हैं कि वीर्य में आधे शुक्राणु प्रभविष्णु (Dominant) होते हैं, जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर उत्पन्न होने वाले गर्भ में पुंस्त्व पैदा कर सकते हैं, और आधे निर्बल होते हैं जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर होने वाले गर्भ में पुंस्त्व पैदा नहीं कर सकते, अर्थात् स्त्रीबीज बलवान् होकर गर्भ स्त्री होता है। कुछ वैज्ञानिक शुक्राणुओं में पितृयसूत्रों की संख्या ४७ मानते हैं जिससे विभजन के द्वारा पक्व होकर जब ये वीर्य में आते हैं, तब आधे २४ सूत्र युक्त और आधे २३ सूत्रयुक्त होते हैं। २३ सूत्रयुक्त शुक्राणु निर्बल होते हैं, जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर अपना पुंस्त्व प्रकट नहीं कर सकते। २४ सूत्रयुक्त शुक्राणु सबल होते हैं, जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर अपना पुंस्त्व प्रकट कर सकते हैं। इस उपपत्ति के अनुसार गर्भ में स्त्रीत्व या पुंस्त्व उत्पन्न होना शुक्राणु के प्रकार के ऊपर निर्भर होता है। अब योनि में च्युत शुक्र में दोनों प्रकार के शुक्राणु समसंख्या में होते हैं और सभी स्त्रीबीज के साथ मिलने के लिए भीतर की ओर दौड़ते हैं। इस घुड़दौड़ में किस प्रकार का शुक्राणु सब से पहले भीतर घुसकर स्त्रीबीज के साथ संयुक्त होगा, यह एक दैवयोग (Chance) है। इस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं चल सकता। इसलिए शार्ङ्गधर में लिखा है—आधिक्ये रजसः कन्या, पुत्रः शुक्राधिके भवेत्। नपुंसकं समत्वेन, यथेच्छा पारमेश्वरी॥ अन्य पर पारमेश्वरी इच्छा, अदृष्टस्य बलवत्त्वात् अन्तरम्। (गूढार्थदीपिका)। पाश्चात्य शास्त्रज्ञ भी स्त्री पुरुष की उत्पत्ति में दैवयोग ही प्रधान मानते हैं—

Sex is inherited The germcells transmit sex according to the mendelian laws. (But) it is a matter of chance which sex is favoured by Nature. *Riddle of Sex*

इस सूत्र में पुत्र या कन्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो उपपत्ति वर्णन की है, वह सर्वमान्य है—रक्तेन कन्याम् अधिकेन, पुत्रं शुक्रेण (अधिकेन)। (चरक)। पितू रेतोऽतिरेकात् पुरुषो, मातू रेतोऽतिरेकात् स्त्री, उभयोर्बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति। (गर्भोपनिषद्) पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः। समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः। (मनुस्मृति)। कार्याणां च कारणानुविधायित्वात्तत्तद्भागतां प्रतिपद्यते। तत एव च शुक्रस्य बाहुल्यात् पुमानार्तवस्य बाहुल्यात् स्त्री तयोः साम्येन नपुंसकम्। (अष्टांगसंग्रह)। कार्यं हि कारणस्य स्वरूपमनुगच्छति, तथा च तिलेभ्यस्तिला एव जायन्ते न माषा। अत एव च कारणानुविधायित्वादेव पुंस्कारणस्य शुक्रस्य बाहुल्यात् पुमान् जायते। (इन्दु)। वाग्भट और इन्दु के कथन का यह स्पष्ट अर्थ है कि शुक्र में पुंस्कारक और आर्तव में स्त्रीकारक शक्ति होती है और यह कथन आधुनिक वैज्ञानिकों के लिंगसूत्रों Y Chromosome or X chromosome के तत्त्व के साथ मिलता है।

शुक्रबाहुल्य—बाहुल्य के कई अर्थ हो सकते हैं। (१) राशि की अधिकता—ननु, शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, इति कस्मादुक्तम्? यत आर्तवस्यैव बाहुल्यमुक्तम्, 'आर्तवं चतुरञ्जलिप्रमाणं, शुक्रं तु प्रसृतिमात्रम्'-इति, नैव, यावन्मात्रमार्तवं गर्भाशयावस्थितं मलरहितं गर्भजननं तावदेवाग्राह्यम्, अथवा स्वमानापेक्षया शुक्रशोणितयोर्बाहुल्यमल्पत्वं चाभिप्रेतम्। (डल्हण)। (२) कार्यकर शक्ति की अधिकता—कार्यकर शक्ति से यहाँ शुक्र या आर्तव की गर्भजनक शक्ति अभिप्रेत नहीं है, पुंस्त्व या स्त्रीत्वकारक शक्ति अभिप्रेत है क्योंकि गर्भधारणा होने के पश्चात् का यह प्रश्न है—अन्ये त्वाचार्या एवं ब्रुवन्ति शुक्रार्तवयोर्न्यूनाधिकसमत्वं वीर्येण भवति। (डल्हण)। शुक्रस्य बाहुल्याद्बहुत्वात्सामर्थ्यतस्त्वाच्च। पुरेतो हि बलवदल्पं स्त्रीरजोऽभिभूय पुंगर्भस्य कारणतां याति। (अरुणदत्त)। इसी तरह अल्पता से राशि की अल्पता, कार्यकर शक्ति की अल्पता या अभाव इनका बोध होता है—तथाविधस्य कारणस्याऽभावात्। (अरुणदत्त)। इनमें से राशि की अधिकता की अप्रयोजकता स्वयं डल्हण को भी मालूम हुई है और गर्भजनन तथा स्त्रीपुरुष भेदजनन की दृष्टि से भी राशि का कुछ भी महत्त्व नहीं है। इसलिए बाहुल्य से शुक्रबीज की पुंस्त्वकारक शक्ति की अधिकता समझनी चाहिए और अल्पता से पुंस्त्वकारक शक्ति की अल्पता या अभाव समझना चाहिए इस अर्थ के अनुसार आधुनिक उपपत्ति का विचार करने पर दोनों के तत्त्व में मेल हो जाता है। जब शुक्राणु पुंसूत्र (वाय क्रोमोसोम) युक्त होता है

ाने शुक्रबाहुल्य होता है, तब पुत्र पैदा होता है। जब शुक्राणु ससे विरहित होता है याने शुक्राल्पता और पर्याय से आर्तवाधिक्य होता है, तब कन्या होती है।

आर्तवबाहुल्य—शुक्रबाहुल्य के समान इससे भी स्त्री-बीज की गर्भ में स्त्रीत्वजनक शक्ति समझनी चाहिए। यह बाहुल्य शुक्राणु में पुंस्त्वजनक शक्ति के अभाव में हो सकता है, इस बात का उल्लेख ऊपर किया गया है। कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि स्त्रीबीजों में भी स्त्रीत्वजनक और पुंस्त्वजनक दो प्रकार के बीज स्वभाव से ही हुआ करते हैं। यदि स्त्रीत्वजनक (Female determinant) बीज से गर्भ पैदा हो तो कन्या पैदा होगी और यदि पुंस्त्वजनक (Male determinant बीज से गर्भ पैदा होगा तो पुत्र होगा। मनुष्येतर प्राणियों के बीज की परीक्षा करके उन्होंने यह सिद्ध किया है कि दोनों प्रकार के बीजों के रासायनिक संगठन में फर्क होता है। मनुष्यों में इस प्रकार की परीक्षा असम्भव है, परन्तु उसके साथ साथ यह मालूम हुआ है कि दक्षिण बीजकोष से पैदा होने वाले बीज पुत्रजनक और वाम बीजकोष से पैदा होने वाले बीज कन्याजनक होते हैं, अर्थात् वामकोष के बीज प्रवल और दक्षिणकोष के बीज अल्पबल होते हैं। यदि दैवयोग से वामकोष के बीज से शुक्राणु का संयोग हुआ तो कन्या होगी। पुत्र और कन्या की उत्पत्ति की इस विचारसरणि को ओटोशोनर का मत (Otto Schoner's theory) कहते हैं। कन्या या पुत्र की उत्पत्ति के लिए निम्न प्रकार से इस मत का फायदा उठा सकते हैं। यदि स्त्री प्रसूत होकर पुत्र हुआ हो तो वह दक्षिण बीजकोष के बीज से हुआ है। प्रसूतकाल के पश्चात् जब फिर आर्तवदर्शन होगा, तब उस समय बीज वामकोष से निकलेगा। उसके बाद दक्षिण से, फिर वाम से। इस तरह स्त्रियों का बीज पर्याय से निकला करता है। इस नियम के अनुसार प्रसूति के समय से मासिक धर्म की तिथियां लिखकर रखने पर प्रत्येक मासिक धर्म का संबंध कन्या या पुत्र के साथ है, इसका निर्णय होता है और तदनुसार स्त्रीपुरुष समागम कर सकते हैं।

इन मतों के अतिरिक्त और कई मत कन्या और पुत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन काल में प्रचलित थे और आधुनिक काल में भी वैज्ञानिकों में प्रचलित हैं। उनका संक्षेप में यहाँ उल्लेख किया जाता है।

शरीरस्वास्थ्य और आहार—शुक्राधिक्य और आर्तवाल्पता इत्यादि से कुछ लोग शुक्राधार पुरुष और आर्तवाधार स्त्री इनकी पुष्टता और कृशता समझते थे, और पुत्रोत्पादन के लिए पुरुष को पौष्टिक आहार-विहार और स्त्री को लघु आहार-विहार दिया करते थे—स्त्रियाः शुक्रेऽधिके स्त्री स्यात् पुमान् पुंसोऽधिके भवेत्। तस्माच्छुक्रविवृद्ध्यर्थं वृष्यं स्निग्धं च सेवयेत्॥ वाजीकरण के सम्बन्ध में पुरुषों को अर्थात् पर्याय से शुक्र को पुष्ट करके पुत्रोत्पादन का भी हेतु था—वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्। तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च। पुत्रस्यायतनं ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्रयाः। (चरक)। वृष्यप्रयोगजनितः पुत्रो धर्मादीन् पितुः संपादयतीत्यर्थः। (चक्रपाणिदत्त)। ततः पुष्पदर्शने प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी अल्पं कर्शनार्थमश्नीयात्। (अष्टांगसंग्रह)। एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत्। सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत् पुमान्॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति)। इसकी टीका में विज्ञानेश्वर लिखते हैं—एवमुक्तेन प्रकारेण स्त्रियं गच्छन् क्षामां गच्छेत्। क्षामता च तस्मिन् काले रजस्वलाव्रतेनैव भवति। अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत्पत्त्यर्थमल्पाऽस्निग्धभोजनादिना। (मिताक्षरा)। पुत्रोत्पादन के लिए पुरुष का पौष्टिक आहार सहायता करता है या नहीं, इस विषय में पाश्चात्य वैज्ञानिक निश्चिति से नहीं कह सकते हैं परन्तु गर्भोत्पादन के समय स्त्री की क्षामता पुत्रोत्पत्ति में सहायता करती है, यह उनका भी मत है—

The measures which aim at altering the momentary condition are more important in practice. In this case it is thus a question of physical condition shortly before and during the sexual union which is to lead to the desired child. For this purpose, the woman who hopes to give birth to a son can have short measure in food. *Ideal Birth.*

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य तथा अपत्योत्पादन की इच्छा इत्यादि में यदि पुरुष स्त्री से प्रवल हो तो पुत्र होगा, यदि स्त्री प्रवल हो तो कन्या होगी—

The sex of the child is determined by the relative vigour of the parents. The father, from maturity, force of will, or superior strength of the procreative function may give the masculine development, or the mother, from similar causes; may give the feminine. *Esoteric Anthropology by Dr. Nicholas.*

पुरुष का ब्रह्मचर्य—पुत्रोत्पत्ति के लिए जो समागम होता है, उसमें पुरुष को ब्रह्मचर्य पालन का उपदेश होता है—मासं ब्रह्मचारी (पीछे दूसरे अध्याय का २६वां सूत्र देखो)। इस ब्रह्मचर्य से अपत्य पुमान् और उत्तम गुणान्वित होता है, इस बात का समर्थन आधुनिक वैज्ञानिक भी करते हैं—

Various considerations make the demand for a certain abstinence before copulation seem well founded. This may be traced not only to the improvement of the ova and spermatozoa but also to the increase in the sexual power of attraction. Thus if the man has been continent during menstruation, or best of all, for a few days longer, and then after very strong sexual exigence undertakes copulation with the desire for a boy, then the probability is certainly greater...for achieving the birth of a boy. *Ideal Birth.*

समागम का काल—आयुर्वेद और धर्मशास्त्र में आर्तवस्राव बंद होने के बाद आठ से बारह दिन गर्भधारणा के लिए योग्य बतलाये गये हैं। उनमें सम दिन पुत्र के लिए और विषम दिन कन्या के लिए (द्वितीय अध्याय का २९वाँ सूत्र देखो) योग्य माने गये हैं (आगे १२वां श्लोक देखो)। सीगेल

(Siegel) नामक शास्त्रज्ञ ने अपने अनुभव पर यह नियम बनाया है कि पहले नौ दिन से समागम करने पर गर्भधारणा हो जाय तो पुत्र होते हैं; दस से चौदह दिन में गर्भधारणा होने पर पुत्र और कन्या सम सख्या में होते हैं, उसके बाद तेईसवें दिन तक कन्याएँ होती हैं, और अन्तिम दिनों में गर्भधारणा नहीं होती या होने पर पुत्र होता है। यह नियम निरपवाद नहीं है, परन्तु इससे यह जरूर मालूम होता है कि प्रारम्भिक दस बारह दिनों में पुत्र होने की सम्भावना बहुत अधिक होती है। यहां सम और विषम रात्रि का जो नियम दिया है, उस पर ज्यादा जोर देने की जरूरत नहीं क्योंकि यदि ब्रह्मचर्य, खाद्य पेयादि बातों पर पुत्रोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान दिया जाय तो विषम दिनों में पुत्र उत्पन्न हो सकता है। 'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्र' इस श्लोक की मनुस्मृति की टीका में कुल्लूकभट्ट लिखते हैं—पुंसो बीजेऽधिकेऽयुग्मास्वपि पुत्रो जायते। स्त्रीबीजेऽधिके युग्मास्वपि दुहितैव। अतो वृष्याहारादिना निज बीजाधिक्यं भार्यायाश्चाहारलाघवादिना बीजाल्पत्वमवगम्यायुग्मास्वपि पुत्रार्थिना, न तव्यमिति दर्शितम्॥ अब समागमकाल का और कन्या-पुत्र की उत्पत्ति का क्या संबंध है? यद्यपि इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर देना कठिन है तथापि स्त्रीबीज की पकापक्वता के साथ उसका संबंध माना जाता है। स्त्रीबीज आर्तवदर्शन के बाद बारहवें दिन पक होकर कोष के बाहर आता है। परन्तु मैथुन के कारण वह इस काल के पहिले भी बाहर आ जाता है, इस बात का उल्लेख पीछे 'विसृजति आर्तवं नार्यस्तथा पुंसा समागमे' (अध्याय २ श्लोक ३८) इस श्लोक के तथा इस अध्याय के तीसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। जो उचित काल के पूर्व मैथुन के कारण बाहर आता है, वह अपक्व (Premature) होता है याने बल में अल्प होता है, जिससे उससे होने वाला गर्भ स्त्री बनता है। जब योग्य काल में बाहर आये हुए याने परिपक्व बीज से गर्भ बनता है, तब बलाधिक्य के कारण कन्या होती है। जब महीने के आखिर के दिनों में समागम होता है तब बीज अतिपक्व (Over mature) याने दुर्बल होने के कारण पुत्र होता है या बीज नष्ट होने के कारण गर्भधारणा नहीं होती। अरुणदत्त अत एव च शुक्रस्य बाहुल्याज्जायते पुमान् (शारीर ३।५) इस श्लोक की टीका में पुत्र और कन्या की उत्पत्ति के संबन्ध में निम्न श्लोक देते हैं—ऋत्वादिना तु क्रम—स्त्रीपुंसयो सुसयोगे यथादौ विसृजेत्पुमान्। शुक्रं तत पुमान् बीरो न यते बलवान् दृढ ॥ अथ चेद्वनिता पूर्व विसृजेद्रक्तसयुतम्। ततो रूपान्विता कन्या जायते दृढसंहता॥ इस श्लोक का अर्थ यदि सीगेल के मतानुसार निम्न प्रकार से किया जाय तो पुत्र और कन्या की उत्पत्ति की उपपत्ति ठीक समझने में आती है और जिस तत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए यह श्लोक दिया गया है, उस तत्व का समर्थन होता है। यथा—स्त्री पुरुष के समागम के समय यदि पुरुष का शुक्र प्रथम उत्सर्गित हो और समागम की उत्तेजना से पश्चात् स्त्री का बीज उत्सर्गित हो तो वह बीज अर्धपक्व अतएव अल्पबल होने के कारण पुत्र उत्पन्न होता है। यदि समागम के समय स्त्रीबीज पहिले उत्सर्गित हुआ हो और पश्चात् शुक्र उत्सर्गित हो तो बीज परिपक्व अतएव प्रबल होने के कारण कन्या उत्पन्न होती है। यदि इस प्रकार से अर्थ न किया जाय तो इस श्लोक का कुछ भी अर्थ नहीं निकलता।

अन्य मार्ग—पहिले यह बताया जा चुका है कि शुक्र में सबल और निर्बल दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं। सबल से पुत्र और निर्बल से कन्या उत्पन्न होती है। ये यदि एक दूसरे से पृथक किये जायँ तो इच्छा के अनुसार पुत्र या कन्या उत्पन्न करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। यह पृथक् करने का काम बहुत कठिन है। तथापि शास्त्रज्ञों की यह राय है कि पुरुषत्वकारक शुक्राणु दूसरे प्रकार के शुक्राणुओं से अधिक चपल, सबल और कठिनाइयों के साथ सरलता से मुकाबला करने वाले होते हैं। इसलिए भीतर पहुँचने के रास्ते में कठिनाइयां होने पर भी यदि गर्भ धारणा हो जाय तो अधिकतर पुत्र उत्पन्न होता है। स्त्रियों में प्रथम बार पुत्र अधिक होते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि उनका अपत्यमार्ग संकट और अक्षुण्ण होने के कारण अधिकतर पुरुषजनक शुक्राणु भीतर पहुँच सकते हैं। शुक्रोत्सर्ग गर्भाशयद्वार के पास करने की अपेक्षा योनिद्वार के पास करने से शुक्राणुओं को अधिक लम्बा मा[र्ग] तय करना पड़ता है, जिससे अधिक पुत्र उत्पन्न होने [की] संभावना होती है। अपत्यमार्ग की क्षारीयप्रतिक्रि[या] भी उनके मार्ग में अड़चन उत्पन्न करती है। ऋतुका[ल] के प्रारम्भिक दिनों में अधिक पुत्र उत्पन्न होने के [का]रण हैं, उनमें उस समय अपत्यमार्ग की क्षारीय प्रति[क्रि]या एक कारण माना जाता है। यदि अपत्यमार्ग की क्षारीय प्रतिक्रिया न हो तो मैथुन के समय शिश्नाग्र पर जरा सा क्षाराणु द्विक्षारीय (सोडा बायकार्बोनेट) बुरक देने से काम हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेद ने शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री यह पुत्र-कन्या की उत्पत्ति के संबंध में जो बाहुल्य का नियम बताया है, वह बिलकुल ठीक है और इसी को आधुनिक परिभाषा में प्रभुत्व का नियम (Law of dominance) कहते हैं और इसी के आधार पर गर्भ में लिङ्गनिर्णय होता है—

That sex is inherited persuant to the law of dominance and in accordance with the mendeli ans rules *Riddle of Sex*

यह प्राबल्य कैसे होता है तथा कैसे किया जा सकता है, इस विषय का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण किसी गर्भिणी स्त्री में पुत्र या कन्या होगी इसका उत्तर नहीं दे सकते, न किसी पुत्रार्थी स्त्री को निश्चित मार्ग बता सकते हैं। वैज्ञानिक केवल पिछले अनुभव और हिसाब किताब के आधार पर संभाव्यता सूचित कर सकते हैं—

While we know something about the mechanism of heredity, we know little indeed of the forces controlling it, so as to be able to make its statutory laws apply in each individual case What we can do is to consult statistics and find averages *Riddle of Sex.*

दैविक उपाय—पुत्र या कन्या की उत्पत्ति में मानवी उपायों

की इतनी संदिग्धता होने के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से पुत्रीयविधि (द्वितीय अध्याय के २८वें श्लोक का वक्तव्य देखो), समागम के समय शुभ नक्षत्रों की उपस्थिति 'ब्रह्मा बृहस्पति-र्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ । भगोऽथ मित्रावरुणौ वीरं ददतु मे सुतम्॥' इत्यादि मन्त्रों का पठन आदि अनेक दैवी उपाय प्रयुक्त होते थे। इन उपायों की सहेतुकता विज्ञान से सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए विज्ञानवादी तथा नास्तिक इन कर्मों पर विश्वास नहीं करते हैं। विश्वास या श्रद्धा मन का एक बड़ा धर्म है, जिससे मनोबल बढ़ता है और संसार में जो चाहे वह चीज उससे मनुष्य प्राप्त कर सकता है—श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः। (गीता)। जिनका इन उपायों पर विश्वास नहीं है, उनके लिए इनसे कुछ भी फायदा नहीं हो सकता परन्तु जिनका विश्वास है, उनके मन को इनसे शान्ति मिलती है और उस शान्ति का परिणाम इच्छितार्थ प्राप्त होने में होता है। इच्छित अपत्य प्राप्त करने के लिए जो दैवी उपाय प्रयुक्त होते हैं, उनके सम्बन्ध में 'वानदे वेल्डे' जैसे सुप्रसिद्ध जर्मन शास्त्रज्ञ के विचार बहुत ही ऊँचे उदार और विचारणीय हैं—

I do not presume to judge the numerous theories of this kind (Ancient incantation ceremonies and superstitious rites) in which sometimes, under all kinds of mysterious overgrowths, there lies hidden a true observation of nature; and I leave to each individual the belief which gives him most satisfaction or makes him happy. Finally, there is much in the world which has an effect without exact science being able to compute it in figures or by mechanism. Besides, it can hardly be maintained that astrology, for example, stands on weaker foundations than the compensating tendency, etc. *Ideal Birth.*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि पुत्र या कन्या प्राप्त करने के लिए कोई भी एक उपाय पर्याप्त नहीं है, अनेक उपायों का संयोग करना चाहिए, क्योंकि गर्भ का लिङ्गनिर्णय भी वास्तविक अनेक कारणों के सहयोग से होता है। इसलिए निम्न उपायों को अङ्गीकार करने से पुत्र उत्पन्न होने की सम्भाव्यता बढ़ती है—

जिस महीने में दक्षिण कोष से बीज का उत्सर्ग होगा, उस महीने का निर्णय करके उस महीने के ऋतुकाल के प्रारम्भिक नौ दिनों में समागम करो। समागम से पूर्व आठ दस रोज तक ब्रह्मचर्य धारण करो और स्त्री के लिए अल्पाहार रक्खो। समागम के पूर्व तथा समागम के समय पुत्र की इच्छा मन में धारण करो, तथा शुक्र का उत्सर्ग गर्भद्वार के पास न करके योनिद्वार के पास करो। यदि योनि में कुछ अम्लता हो तो मैथुन के समय शिश्न पर जरा सा क्षारातु इथङ्क्षारीय (सोडाबाईकार्ब) छिड़को। यह सब कुछ करने पर भी पुत्रोत्पत्ति का वादा नहीं किया जा सकता, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए।

पुंसवनविधि का औचित्य—शुक्र और आर्तव के बलाबल पर गर्भ के आधान के समय उसके लिङ्ग का भी आधान होता है, यह आयुर्वेद का मत आज के विज्ञान से भी सिद्ध हुआ है। इसका उल्लेख इस वक्तव्य के प्रारम्भ में किया गया है। ऐसी अवस्था में जब कि गर्भ के लिङ्ग का निर्णय हुआ है, लिंगपरिवर्तन का प्रयत्न अस्वाभाविक, अयुक्तियुक्त अतएव निरर्थक मालूम पड़ता है। यह शङ्का प्राचीन ऋषियों के सामने थी और उसका उत्तर भी आचार्यों ने ऐसा उत्तम दिया कि जो पुंसवनविधि का औचित्य सिद्ध करके हरएक काम के लिए भूत भविष्य वर्तमान काल में मार्गदर्शक हो जाता है—तत्र यदि प्राक्कृतेन कर्मणा स्त्रीगर्भः कर्तुमाक्षिप्तस्तदा पुरुषप्रयत्ने सत्यपि पुंगर्भः कर्तुं न शक्यते। तस्मात्पुंसवनमनर्थकमेवेत्याशंक्याह। (अरुणदत्त)। इस आशङ्का को सामने रखकर वाग्भटाचार्य उत्तर देते हैं—बली पुरुषकारो हि दैवमप्यतिवर्तते। (अष्टांगहृदय)। इसका अभिप्राय यह है कि यदि बलवान् प्रयत्न किया जाय तो दैवदत्त लिङ्ग में भी परिवर्तन कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञान का भी यही मत है—

We may not know exactly, what sex is; but we do know that it is mutable, with the possibility of one sex being changed into another sex. *Psychology of Sex.* In man and all classes of animals with separate sexes it is true that sex appears to be fixed......Nevertheless......there is the possibility of an artificial change of sex which can be effected even in individuals fairly far or already completely developed in the direction of one sex. *Ideal Birth.*

निम्न श्रेणी के प्राणियों में लिङ्गपरिवर्तन के प्रयोगों में आज भी सफलता मिल गई है, और मनुष्यों में यद्यपि आज पूरी सफलता नहीं मिली तथापि भविष्य में, जो बहुत दूर नहीं है, पूरी सफलता मिलने की आशा है। यह परिवर्तन कैसे हो सकता है, इसका विचार अब नपुंसक के विवरण में किया जायगा।

साम्यादुभयोर्नपुंसकम्—नपुंसक के कई अर्थ होते हैं। (१) पंढ—तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् पुमान्॥ (चरक)। स पुमान् स्त्रीषु पुरुषव्यापारकरणासमर्थत्वात् अपुमान् भवति। (चक्रपाणिदत्त)। इसको इम्पोटंट (Impotent) कहते हैं। नपुंसकता के जन्मोत्तर कारणों का विचार पीछे २ अध्याय के ४७वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है। कभी कभी नपुंसकता वृषणों का अभाव, वृषणों की ठीक वृद्धि न होना या उदरगुहा में दोनों की स्थिति इत्यादि सहज कारणों से होती हैं। वातिकपंढ (Anorchism) इस प्रकार का विकार है—वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकपण्डकः सः। (चरक)। (२) क्लीव, हिजड़ा (Eunuch, castrate)—इनके वृषण बचपन में निकाल दिये जाते हैं, जिससे इनका पुरुषत्व नष्ट होता है। कभी कभी यौवन प्राप्त होने के पूर्व वृषण का अन्तःस्राव नष्ट होता है, इससे नपुंसक राक्षस (Eunuchoid gigantism) उत्पन्न होता है। इन दोनों प्रकारों में पुरुषत्व की कमी होती है, परन्तु उसमें स्त्रीत्व का अंश नहीं होता है। (३) द्विलिङ्गी या स्त्रीपुंसलिङ्गी—जिसमें दोनों के लिङ्ग मिलते हैं, ऐसे व्यक्ति। कुछ टीकाकार नपुंसक से (न पुमान् न स्त्री) जिसमें दो के लिङ्ग नहीं मिलते, ऐसे व्यक्ति समझते हैं—

यदा तु शुक्रार्तवयोः साम्यं तुल्यत्वं भवति तदा न स्त्री पुमान् जायतेऽपि तु निष्कृष्टयालिङ्गिनः क्लीब एवो जायते। (अरुणदत्त)। स्त्रीपुंसलिङ्गेति स्त्रीपुरुषसाधारणनासिकाचक्षुरादिलिङ्गयुक्त। यानि तु स्त्रीपुंसयोरसाधारणान्युरस्थध्वजस्तनश्मश्रुप्रभृतीनि तानि चास्य न सम्भवन्ति। असाधारणानि लिङ्गानि पुरुषेण शुक्रेण रक्तेन वा जन्यन्ति, इह समरक्तशुक्रारब्धेन भागत्य यतस्तद्विति मोपरथध्वजादिविशेषलिङ्गमवतम्। (चक्रपाणिदत्त)। परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि 'कारणानुविधायित्वात् कार्याणां तत्स्वरूपता' इस न्याय से जब शुक्र और आर्तव दोनों कारण मौजूद हैं, तब उनके लक्षण गर्भ में न मिलना असम्भव है। इसके सिवाय जिसमें स्त्री-पुरुष के कुछ भी लक्षण न मिलें और आकृति मनुष्य की हो ऐसे व्यक्ति मिलते नहीं। *जिसमें दोनों के व्यामिश्र लक्षण हों,* ऐसा व्यक्ति कभी कभी मिल सकता है और उसको व्यामिश्रलिंगी (Hermaphrodite) और उस स्थिति को *व्यामिश्रलिंगावस्था* (Hermaphroditism) कहते हैं। नपुंसक से यहाँ व्यामिश्रलिङ्गी व्यक्ति अभिप्रेत है। जिस व्यक्ति में वृषण तथा बीजकोष और दोनों के बाह्यव्यंजन *मिलते हैं, उसको यथार्थ* (True) नपुंसक कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार शुक्रशोणित के बल की ठीक साम्यावस्था से ऐसी तृतीया प्रकृति उत्पन्न हो सकती है। परंतु सम्भावना (Probability) की दृष्टि से दोनों की *ठीक* साम्यावस्था होना बहुत ही कठिन है। इसलिए यथार्थ नपुंसक उत्पन्न होना भी बहुत कठिन है। पाश्चात्य डाक्टरों का कथन है कि संसार के साहित्य में अब तक केवल बारह यथार्थ नपुंसकों का पता मिलता है—

In the worlds literature there are on record but twelve true hermaphrodites. *Medical Annual 1935* Upto 1914, only five cases of unmistakable hermaphroditism have been reported Since then a few more have been added Altogether, there are about twelve such cases on record *Riddle of Sex*

साम्यावस्था ठीक न होने से एक लिंग की अधिकता और दूसरे लिंग की कुछ कमी हो ऐसे व्यक्ति देखने में अधिक मिलते हैं और इस प्रकार को अयथार्थ (Pseudo, spurious) नपुंसक कहते हैं। लिङ्गाधिकता के अनुसार अयथार्थ नपुंसकता के दो भेद किये जाते हैं। (१) जिसमें वृषण होता है परंतु जिसके बाह्य व्यञ्जनों में दोनों का मिश्रण होता है, उसे पुंस्त्रीलिंगी (Androgynoid) और उस अवस्था को पुंस्त्रीलिंगता (Androgyny) कहते हैं। चरक में तृणपुत्रिका या तृणपूलिका नामक एक सहज पुरुषव्यापत्ति वर्णन की है—यदा तस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठपुरुषं तृणपुत्रिकं नाम जनयति तां पुरुषव्यापदमाचक्षते॥ (शा० ४)। यह व्यापत्ति अन्ड्रोगनी मालूम पड़ती है। (२) जिसमें बीजकोष होता है, जो मुख्यतया स्त्री है परन्तु जिसमें पुरुष के भी बाह्य व्यंजक मिलते हैं, उसे स्त्रीपुंसलिंगी (Gynandroid) और उस अवस्था को स्त्रीपुंसलिंगी (Gynandry) कहते हैं। चरक में वार्ता या वार्ता नामक एक स्त्रीव्यापत्ति वर्णन की है वह इस प्रकार की मालूम पड़ती है—यदा तस्या शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं वार्तां नाम जनयति, तां स्त्रीव्यापन्माचक्षते (शा० ४)। वार्तातृणपुत्रिकयोर्व्यवायेच्छा परं भवति न व्यवायसामर्थ्यमिति बुवते। (चक्रपाणिदत्त)। इसका कारण यह है कि दोनों के शरीर में लिंगानुसार लैङ्गिक ग्रंथि उपस्थित रहने से 'व्यवायेच्छा परं भवति', परंतु बाह्यजननेन्द्रिय विकृत होने से व्यवायसामर्थ्य नहीं होता। संक्षेप में स्त्री और पुरुष दोनों के लक्षण उपस्थित होने से जिसको न पुरुष न स्त्री (न पुमान् न स्त्री) कह सकते हैं, ऐसा व्यक्ति, यह नपुंसक का अर्थ है।

नपुंसक क्यों होता है?—इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व गर्भ की वृद्धि गर्भाशय में किस प्रकार से होती है, इस विषय का विचार आवश्यक है। शुक्र और शोणित का संयोग होने पर जो जीव उत्पन्न होता है, उसकी वृद्धि उसी क्षण से शुरू होती है, परन्तु छः सप्ताह तक उसमें न स्त्री के लक्षण मिलते हैं न पुरुष के, याने वह क्लीब पुरुषत्व विरहित (Neuter) होता है। इस अवस्था को अव्यक्तावस्था कहते हैं, इसका उल्लेख पीछे दूसरे अध्याय के ३३वें श्लोक के *वक्तव्य में किया गया है।* इस अवस्था के पश्चात् जननेन्द्रिय के स्थान में दोनों के *लिए साधारण* (Wolffian body) नामक एक अंग उत्पन्न होता है। उसके साथ साथ या कुछ पीछे दोनों लिङ्गों की ग्रंथियाँ (*सूक्ष्म रूप में वृषण और बीजकोष*) भी उत्पन्न होती हैं। फिर धीरे धीरे शुक्र या आर्तव के प्राबल्य के अनुसार 'भूयस्त्वात् हि जीयते' इस न्याय से एक ग्रंथि का नाश होकर दूसरी ग्रंथि जोर पकड़ती है और गर्भ स्त्री या पुरुष होता है। संक्षेप में प्रथम उभयसाधारणावस्था और पश्चात् एकसाधारणावस्था होकर स्त्री या पुरुष उत्पन्न होता है। कुछ गर्भवैज्ञानिक उभयसाधारणावस्था मान्य नहीं करते हैं। उनका कथन है कि प्रारम्भ से गर्भ में स्त्री या पुरुष के सूक्ष्म चिह्न उपस्थित रहते हैं—

It must be recognized that there is in this no idea of there being a 'neuter' or general basis on which the characters of men and women are grafted, nor is there any reason for looking on woman as a modified man, or *vice versa* So far as cellular structure is concerned, the individual must be, from inception either male or female *Manual of Embryology by Fraser*

एकसाधारणावस्था, याने स्त्रीत्व या पुरुषत्व, व्यक्ति में अन्तःस्रावी ग्रंथियों के समूहविशेष से उत्पन्न होती है। वृषणाधिष्ठित अन्तःस्रावी ग्रंथिसमूह जिसमें काम करता है वह पुरुष, और बीजकोषाधिष्ठित अन्तःस्रावी ग्रंथिसमूह जिसमें काम करता है वह स्त्री होती है। अन्तःस्रावी ग्रंथियों में पूर्व पिच्युटरी मुख्यतया तथा थायमस, थायराइड, अधिवृक्क इत्यादि कई ग्रंथियों का लिंगोत्पत्ति में विशेष संबंध आता है। इसका उल्लेख द्वितीय अध्याय में ४७वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इन ग्रंथियों के अतियोग, अयोग और

मिथ्यायोग से गर्भ में शारीरिक, मानसिक और लैङ्गिक वैपरीत्य आ जाता है। आहार, विहार, मानसिक स्थिति, जलवायु इत्यादि का भी परिणाम इन ग्रंथियों के ऊपर होता है। इस तरह प्रथम उभयसाधारणावस्था, बीच में उभयसाधारणलिङ्गग्रंथियुक्तावस्था और अन्त में अन्य अन्तःस्रावी ग्रंथियों की सहायता से एक प्रकार की लिङ्ग-ग्रंथि की वृद्धि और अन्य प्रकार की लिङ्गग्रन्थि का नाश इस क्रम से गर्भावस्था में पुरुष या स्त्री उत्पन्न होती है। यदि तीसरी अवस्था के प्रारम्भ से ही दोनों प्रकार की लिङ्ग-ग्रन्थियों का कार्य बराबर जारी रहे तो यथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है और यदि एक प्रकार की ग्रन्थि का कुछ नाश होने के बाद दोनों का कार्य जारी रहे तो अयथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार का अस्वाभाविक क्रम क्यों उत्पन्न होता है ? इस प्रश्न का उत्तर आज का विज्ञान नहीं दे सकता—

We are still in the dark concerning the inner mechanism of those malformations. We are at a loss to account for the underlying condition which is responsible for the sudden shift from a predestined direction into a series of developmental adventures. *Riddle of Sex.*

आयुर्वेद के अनुसार बीजों की समबलता, उपतप्तता और माता के आहारविहारादि के दोष इस अवस्था के कारण होते हैं—बीजात्समांशादुपतप्तबीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः। बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः ॥ (चरक, शा० २)। गर्भ में लिङ्गपरिवर्तन या मनचाहा लिङ्ग स्थापन कैसे हो सकता है ?—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ में यद्यपि आधान के समय से शुक्र या आर्तव के प्राबल्य के अनुसार पुरुष या स्त्री बनने की प्रवृत्ति होती है तथापि वह दुर्बल होती है; आगे जाकर उसकी पुष्टि पुरुषकर या स्त्रीकर ग्रंथियों द्वारा होकर गर्भ पुरुष या स्त्री बनता है। यदि माता-पिता पुत्र की इच्छा करें तो प्रारम्भ से ही गर्भ के ऊपर पुरुषकर ग्रंथियों द्वारा परिणाम करने से पुत्र उत्पन्न हो सकता है। यदि गर्भ स्त्री हो तो स्त्रीकर ग्रंथियों का नाश करने से और पुरुषकर ग्रंथियों का उपयोग करने से लिङ्गपरिवर्तन हो सकता है। यह कार्य माता के ऊपर आहार, विहार, विशिष्ट जलवायु, ओषधियाँ, ग्रंथियों के सत्व (Hormones) इत्यादि का उपयोग करके उसके शरीर के परिवर्तन (Metabolism) में घटावढ़ी करने से होता है। पुत्र उत्पन्न करने के लिए माता को अमुक प्रकार का आहार-विहार, अमुक प्रकार की जलवायु (Climate), अमुक ओषधियाँ, अमुक ग्रंथियों के सत्त्व अमुक मात्रा में प्रदान करना इत्यादि का निश्चित सूत्र अभी तक निर्माण नहीं हुआ है। इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं और निम्न श्रेणि के प्राणियों में इन उपायों द्वारा सफलता मिल रही है। मनुष्यों के ऊपर मनमाने प्रयोग करने में कुछ जिम्मेदारी होने के कारण सावधानता से प्रयोग हो रहे हैं और भविष्य में उन प्रयोगों से निश्चित लाभ होने की बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

लिङ्गपरिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ शास्त्रज्ञों का यह कथन है कि उभयसाधारण अवस्था (Bisexual Phase) के पश्चात् गर्भ में थोड़ी देर के लिए पुरुषावस्था प्राप्त होती है, जिसमें उसमें वृषणग्रंथि उत्पन्न होती है और यदि पुरुष ही उत्पन्न होने वाला हो तो यही अवस्था आगे बढ़कर जननेन्द्रिय के पिण्ड (Genital ridge) बढ़कर वहाँ शिश्नादि वर्धित होते हैं; यदि स्त्री उत्पन्न होने वाली हो तो वृषण के स्थान में बीजकोष बनता है, और जननेन्द्रिय के पिण्ड शोषित होकर भग, योनि, गर्भाशयादि अंग वर्धित होते हैं। इसलिए लिंगपरिवर्तन स्त्री में ही हो सकता है, याने गर्भ को पुरुष बना सकते हैं—

Therefore, sex reversal can only occur in the female a deduction with which all experience concurs. *Medical Annual. Page 130, 1935.*

इसका अभिप्राय यह है कि लिंगपरिवर्तन के लिए केवल 'पुंसवनविधि' सम्भवनीय है।

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अदृष्टार्तवाऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते ॥ ६ ॥

(ऋतुकाल की मर्यादा—) जिसमें आर्तवदर्शन होता है, ऐसा ऋतुकाल बारह दिन का होता है। कई (आचार्य) कहते हैं कि आर्तवस्राव न होने वाली भी (ऋतुमती) होती है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—ऋतु—ऋतुकाल, गर्भधारणा के लिए योग्य काल। गर्भधारणा स्त्री में बीजोत्सर्ग के ऊपर निर्भर होती है, आर्तवस्राव के ऊपर नहीं। ऋतुकाल में बीजकोष से पक्वबीज का उत्सर्ग होता है। इसलिए ऋतुकाल को बीजोत्सर्ग काल भी (Ovulation time) कहते हैं। आयुर्वेद में गर्भोत्पत्ति की तुलना अंकुरोत्पत्ति के साथ (दूसरा अध्याय श्लोक ३४ और उसका वक्तव्य देखो) की जाती है। अंकुरोत्पत्ति के लिए जैसे अनुकूल काल की आवश्यकता होती है, वैसे ही गर्भोत्पत्ति के लिए भी अनुकूल काल की आवश्यकता होती है; और जैसे वह काल ऋतु कहलाता है, वैसे गर्भोत्पत्ति का अनुकूल काल भी ऋतुकाल कहने का रिवाज पड़ गया है—आर्तवदर्शनं च शरदाद्यृतुसाधर्म्यादृतुशब्देनोच्यते। यथा ऋतावुप्तानि बीजानि प्ररोहन्ति, तथाऽऽर्तवदर्शनाख्येऽपि ऋतौ शुक्ररूपं बीजमुप्तमिति ऋतुसाधर्म्यम्। (चक्रपाणिदत्त, शारीर ३)। ऋतुबीजकालमवेक्षेत इत्याहुर्महर्षयः॥ (काश्यपसंहिता, जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। दृष्टार्तवः—दृष्टमार्तवं यस्मिन्। जिसमें आर्तवदर्शन हुआ है, ऐसा। अदृष्टार्तवा—जिसमें मासिक आर्तवस्राव नहीं हुआ है, ऐसी ऋतुमती याने गर्भधारण योग्य स्त्री। द्वादशरात्रम्—बारह दिन। अन्य वैद्यकग्रन्थों में तथा स्मृतिग्रन्थों में ऋतुकाल की अवधि सोलह दिन की बताई गई है—ऋतुकालं तु षोडशरात्रं यावत्, यदुक्तं हारीते—'षोडश दिवसा ऋतुकालः' इति। (चक्रपाणिदत्त, शारीर २)। तदुक्तं हारीते—'षोडश दिवसान्यृतुकालः' इति। विदेहेऽप्युक्तम्—'स्त्रीणामृतुर्भवति षोडशवासराणि' इति। (मधुकोषव्याख्या, प्रदर निदान)। आर्तवस्रावदिवसादृतुः षोडशरात्रयः। गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः॥ (भावप्रकाश)। ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः। (मनुस्मृति ३।४६)। षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणाम्। (याज्ञवल्क्यस्मृति १।७९)। ये षोडश दिन आर्तवदर्शन-दिन से गिने जाते हैं—स च (ऋतुः)

यदा तु शुक्रार्तवयो साम्य तुल्यत्व भवति तदा न स्त्री पुमान् जायतेऽपि तु लिङ्गद्वयानिङ्गित क्लीब एवो जायते। (अरुणदत्त)। स्त्रीपुंसलिङ्गहीनेति स्त्रीपुरुषसाधारणनामिश्राचक्षुरादिलिङ्गयुक्त। यानि तु स्त्रीपुंसयोरसाधारणान्युरस्थस्वजस्तनश्मश्रुप्रभृतीनि तानि चास्य न सम्भवन्ति। असाधारणानि लिङ्गानि वृद्धेन शुक्रेण रक्तेन वा जन्यन्ति, इह समस्तशुक्रारक्तेन नारब्ध यतस्तद्धिरिति नोपरुध्यत्वादिविकेपलिङ्गमवनम्। (चक्रपाणिदत्त)। परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि 'कारणानुविधायित्वात् कार्याणां तत्स्वरूपता' इस न्याय से जब शुक्र और आर्तव दोनों कारण मौजूद हैं, तब उनके लक्षण गर्भ में न मिलना असंभव है। इसके सिवाय जिसमें स्त्री-पुरुष के कुछ भी लक्षण न मिलें और आकृति मनुष्य की हो ऐसे व्यक्ति मिलते नहीं। जिसमें दोनों के व्यामिश्र लक्षण हों, ऐसा व्यक्ति कभी कभी मिल सकता है और उसको व्यामिश्रलिंगी (Hermaphrodite) और उस स्थिति को व्यामिश्रलिंगावस्था (ermaphrodism) कहते हैं। नपुंसक से यहाँ व्यामिश्रलिङ्गी व्यक्ति अभिप्रेत है। जिस व्यक्ति में वृषण तथा बीजकोष और दोनों के बाह्यव्यंजन मिलते हैं, उसको यथार्थ (True) नपुंसक कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार शुक्रशोणित के बल की ठीक साम्यावस्था से ऐसी तृतीया प्रकृति उत्पन्न हो सकती है। परंतु सम्भाव्यता (Probability) की दृष्टि से दोनों की ठीक साम्यावस्था होना बहुत ही कठिन है। इसलिए यथार्थ नपुंसक उत्पन्न होना भी बहुत कठिन है। पाश्चात्य डाक्टरों का कथन है कि संसार के साहित्य में अब तक केवल बारह यथार्थ नपुंसकों का पता मिलता है—

In the world's literature there are on record but twelve true hermaphrodites *Medical Annual 1935* Upto 1914, only five cases of unmistakable hermaphroditism have been reported Since then a few more have been added. Altogether, there are about twelve such cases on record *Riddle of Sex*

साम्यावस्था ठीक न होने से एक लिंग की अधिकता और दूसरे लिंग की कुछ कमी हो ऐसे व्यक्ति देखने में अधिक मिलते हैं और इस प्रकार को अयथार्थ Pseudo, spurious) नपुंसक कहते हैं। लिङ्गाधिकता के अनुसार अयथार्थ नपुंसकता के दो भेद किये जाते हैं। (१) जिसमें वृषण होता है परंतु जिसके बाह्य व्यञ्जनों में दोनों का मिश्रण होता है, उसे पुंस्त्रीलिंगी (Androgynoid) और उस अवस्था को पुंस्त्रीलिंगता (Androgyny) कहते हैं। चरक में तृणपुत्रिका या तृणपूलिका नामक एक सहज पुरुषव्यापत्ति वर्णन की है—यदा स्वस्य बीजे बीजभागावयव पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेश प्रदोषमापद्यते तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठपुरुष तृणपुत्रिक नाम जनयति, वा पुरुष व्यापद्यमाचक्षते॥ (शा० ४)। यह व्यापत्ति अन्द्रोगनी मालूम पड़ती है। (२) जिसमें बीजकोष होता है, जो मुख्यतया स्त्री है परन्तु जिसमें पुरुष के भी बाह्य व्यंजक मिलते हैं, उसे स्त्रीपुंसलिंगी (Gynandroid) और उस अवस्था को स्त्रीपुंसलिंगी (Gynandry) कहते हैं। चरक में वार्ता या वार्ता नामक एक स्त्रीव्यापत्ति वर्णन की वह इस प्रकार की मालूम पड़ती है—यदा स्वस्या शोणि गर्भाशयबीजभागानामेकदेश प्रदोषमापद्यते, तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठमस्त्रिय वार्तां नाम जनयति, तां स्त्रीव्यापन्माचक्षते (शा० ४)। वार्तातृणपुत्रिकयोर्व्यवायेच्छा पर भवति न व्यवायसामर्थ्यमिति बुवते। (चक्रपाणिदत्त)। इसका कारण यह है कि दोनों के शरीर में लिंगानुसार ऐन्द्रिक ग्रंथि उपस्थित रहने से 'व्यवायेच्छा पर भवति', परंतु बाह्यजननेन्द्रिय विकृत होने से व्यवायसामर्थ्य नहीं होता। संक्षेप में स्त्री और पुरुष दोनों के लक्षण उपस्थित होने से जिसको न पुरुष न स्त्री (न पुमान् न स्त्री) कह सकते हैं, ऐसा व्यक्ति, यह नपुंसक का अर्थ है।

नपुंसक क्यों होता है?—इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व गर्भ की वृद्धि गर्भाशय में किस प्रकार से होती है, इस विषय का विचार आवश्यक है। शुक्र और शोणित के संयोग होने पर जो जीव उत्पन्न होता है, उसकी वृद्धि उसी क्षण से शुरू होती है, परन्तु छठे सप्ताह तक उसमें न स्त्री के लक्षण मिलते हैं न पुरुष के, याने वह स्त्रीत्व पुरुषत्व विरहित (Neuter) होता है। इस अवस्था को अव्यक्तावस्था कहते हैं, इसका उल्लेख पीछे दूसरे अध्याय के ३३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इस अवस्था के पश्चात् जननेन्द्रिय के स्थान में दोनों के लिए साधारण (Wolffian body) नामक एक अंग उत्पन्न होता है। उसके साथ साथ या कुछ पीछे दोनों लिङ्गों की ग्रंथियाँ (सूक्ष्म रूप में वृषण और बीजकोष) भी उत्पन्न होती हैं। फिर धीरे धीरे शुक्र या आर्तव के प्राबल्य के अनुसार 'भूयस्त्वात् हि जीयते' इस न्याय से एक ग्रंथि का नाश होकर दूसरी ग्रंथि जोर पकड़ती है और गर्भ स्त्री या पुरुष होता है। संक्षेप में प्रथम उभयसाधारणावस्था और पश्चात् एकसाधारणावस्था होकर स्त्री या पुरुष उत्पन्न होता है। कुछ गर्भवैज्ञानिक उभयसाधारणावस्था मान्य नहीं करते हैं। उनका कथन है कि प्रारम्भ से गर्भ में स्त्री या पुरुष के सूक्ष्म चिह्न उपस्थित रहते हैं—

It must be recognized that there is in this no idea of there being a 'neuter' or general basis on which the characters of men and women are grafted, nor is there any reason for looking on woman as a modified man, or vice versa. So far as cellular structure is concerned, the individual must be from inception either male or female *Manual of Embryology by Frazer*

एकसाधारणावस्था, याने स्त्रीत्व या पुरुषत्व, व्यक्ति में अन्तःस्रावी ग्रंथियों के समूहविशेष से उत्पन्न होती है। वृषणाधिष्ठित अन्तःस्रावी ग्रंथिसमूह जिसमें काम करता है वह पुरुष, और बीजकोषाधिष्ठित अन्तःस्रावी ग्रंथिसमूह जिसमें काम करता है वह स्त्री होती है। अन्तःस्रावी ग्रंथियों में पूर्व पिच्युटरी मुख्यतया तथा थायमस, थायराइड, अधिवृक्क इत्यादि कई ग्रंथियों का लिंगोत्पत्ति में विशेष संबंध आता है। इसका उल्लेख द्वितीय अध्याय में ४७वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इन ग्रंथियों के अतियोग, अयोग और

मिथ्यायोग से गर्भ में शारीरिक, मानसिक और लैङ्गिक वैपरीत्य आ जाता है। आहार, विहार, मानसिक स्थिति, जलवायु इत्यादि का भी परिणाम इन ग्रंथियों के ऊपर होता है। इस तरह प्रथम उभयसाधारणावस्था, बीच में उभयसाधारणलिङ्गग्रंथियुक्तावस्था और अन्त में अन्य अन्तःस्रावी ग्रंथियों की सहायता से एक प्रकार की लिङ्ग-ग्रंथि की वृद्धि और अन्य प्रकार की लिङ्गग्रन्थि का नाश इस क्रम से गर्भावस्था में पुरुष या स्त्री उत्पन्न होती है। यदि तीसरी अवस्था के प्रारम्भ से ही दोनों प्रकार की लिङ्ग-ग्रन्थियों का कार्य बराबर जारी रहे तो यथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है और यदि एक प्रकार की ग्रन्थि का कुछ नाश होने के बाद दोनों का कार्य जारी रहे तो अयथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार का अस्वाभाविक क्रम क्यों उत्पन्न होता है ? इस प्रश्न का उत्तर आज का विज्ञान नहीं [दे] सकता—

We are still in the dark concerning the inner mechanism of those malformations. We are at a loss to account for the underlying condition which is responsible for the sudden shift from a predestined direction into a series of developmental adventures. *Riddle of Sex.*

आयुर्वेद के अनुसार बीजों की समबलता, उपतप्तता और माता के आहारविहारादि के दोष इस अवस्था के कारण होते हैं—बीजात्समांशादुपतप्तबीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः। बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः ॥ (चरक, शा० २)। गर्भ में लिङ्गपरिवर्तन या मनचाहा लिङ्ग स्थापन कैसे हो सकता है?—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ में यद्यपि आधान के समय से शुक्र या आर्तव के प्राबल्य के अनुसार पुरुष या स्त्री बनने की प्रवृत्ति होती है तथापि वह दुर्बल होती है; आगे जाकर उसकी पुष्टि पुरुषकर या स्त्रीकर ग्रंथियों द्वारा होकर गर्भ पुरुष या स्त्री बनता है। यदि माता-पिता पुत्र की इच्छा करें तो प्रारम्भ से ही गर्भ के ऊपर पुरुषकर ग्रंथियों द्वारा परिणाम [क]रने से पुत्र उत्पन्न हो सकता है। यदि गर्भ स्त्री हो तो [स्त्री]कर ग्रंथियों का नाश करने से और पुरुषकर ग्रंथियों का [उ]पयोग करने से लिङ्गपरिवर्तन हो सकता है। यह कार्य [म]ाता के ऊपर आहार, विहार, विशिष्ट जलवायु, ओषधियाँ, [ग्र]ंथियों के सत्त्व (Hormones) इत्यादि का उपयोग करके उसके शरीर के परिवर्तन (Metabolism) में घटावढ़ी करने से होता है। पुत्र उत्पन्न करने के लिए माता को अमुक प्रकार का आहार-विहार, अमुक प्रकार की जलवायु (Climate), अमुक ओषधियाँ, अमुक ग्रंथियों के सत्त्व अमुक मात्रा में प्रदान करना इत्यादि का निश्चित सूत्र अभी तक निर्माण नहीं हुआ है। इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं और निम्न श्रेणि के प्राणियों में इन उपायों द्वारा सफलता मिल रही है। मनुष्यों के ऊपर मनमाने प्रयोग करने में कुछ जिम्मेदारी होने के कारण सावधानता से प्रयोग हो रहे हैं और भविष्य में उन प्रयोगों से निश्चित लाभ होने की बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

लिङ्गपरिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ शास्त्रज्ञों का यह कथन है कि उभयसाधारण अवस्था (Bisexual Phase) के पश्चात् गर्भ में थोड़ी देर के लिए पुरुषावस्था प्राप्त होती है, जिसमें उसमें वृषणग्रंथि उत्पन्न होती है और यदि पुरुष ही उत्पन्न होने वाला हो तो यही अवस्था आगे बढ़कर जननेन्द्रिय के पिण्ड (Genital ridge) बढ़कर वहाँ शिश्नादि वर्धित होते हैं; यदि स्त्री उत्पन्न होने वाली हो तो वृषण के स्थान में बीजकोष बनता है, और जननेन्द्रिय के पिण्ड शोषित होकर भग, योनि, गर्भाशयादि अंग वर्धित होते हैं। इसलिए लिंगपरिवर्तन स्त्री में ही हो सकता है, याने गर्भ को पुरुष बना सकते हैं—

Therefore, sex reversal can only occur in the female a deduction with which all experience concurs. *Medical Annual. Page 130, 1935.*

इसका अभिप्राय यह है कि लिंगपरिवर्तन के लिए केवल 'पुंसवनविधि' सम्भवनीय है।

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अदृष्टार्तवाऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते ॥ ६ ॥

(ऋतुकाल की मर्यादा—) जिसमें आर्तवदर्शन होता है, ऐसा ऋतुकाल बारह दिन का होता है। कई (आचार्य) कहते हैं कि आर्तवस्राव न होने वाली भी (ऋतुमती) होती है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—ऋतु—ऋतुकाल, गर्भधारणा के लिए योग्य काल। गर्भधारणा स्त्री में बीजोत्सर्ग के ऊपर निर्भर होती है, आर्तवस्राव के ऊपर नहीं। ऋतुकाल में बीजकोष से पक्वबीज का उत्सर्ग होता है। इसलिए ऋतुकाल को बीजोत्सर्ग काल भी (Ovulation time) कहते हैं। आयुर्वेद में गर्भोत्पत्ति की तुलना अंकुरोत्पत्ति के साथ (दूसरा अध्याय श्लोक ३४ और उसका वक्तव्य देखो) की जाती है। अंकुरोत्पत्ति के लिए जैसे अनुकूल काल की आवश्यकता होती है, वैसे ही गर्भोत्पत्ति के लिए भी अनुकूल काल की आवश्यकता होती है; और जैसे वह काल ऋतु कहलाता है, वैसे गर्भोत्पत्ति का अनुकूल काल भी ऋतुकाल कहने का रिवाज पड़ गया है—आर्तवदर्शनं च शरदाद्यृतुसाधर्म्यादृतुशब्देनोच्यते। यथा ऋतावुप्तानि बीजानि प्ररोहन्ति, तथाऽऽर्तवदर्शनाख्येऽपि ऋतौ शुक्ररूपं बीजमुप्तमिति ऋतुसाधर्म्यम्। (चक्रपाणिदत्त, शारीर ३)। ऋतुबीजकालमवेक्षेत इत्याहुर्महर्षयः ॥ (काश्यपसंहिता, जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। दृष्टार्तवः—दृष्टमार्तवं यस्मिन्। जिसमें आर्तवदर्शन हुआ है, ऐसा। अदृष्टार्तवा—जिसमें मासिक आर्तवस्राव नहीं हुआ है, ऐसी ऋतुमती याने गर्भधारण योग्य स्त्री। द्वादशरात्रम्—बारह दिन। अन्य वैद्यकग्रन्थों में तथा स्मृतिग्रन्थों में ऋतुकाल की अवधि सोलह दिन की बताई गई है—ऋतुकालं तु षोडशरात्रं यावत्, यदुक्तं हारीते—'षोडश दिवसा ऋतुकालः' इति। (चक्रपाणिदत्त, शारीर २)। तदुक्तं हारीते—'षोडश दिवसान्यृतुकालः' इति। विदेहेऽप्युक्तम्—'स्त्रीणामृतुर्भवति षोडशवासराणि' इति। (मधुकोषव्याख्या, प्रदर निदान)। आर्तवस्रावदिवसादृतुः षोडशरात्रयः। गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः ॥ (भावप्रकाश)। ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः। (मनुस्मृति ३।४६)। षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणाम्। (याज्ञवल्क्यस्मृति १।७९)। ये षोडश दिन आर्तवदर्शन-दिन से गिने जाते हैं—स च (ऋतुः)

रजोदर्शनदिवसादारभ्य षोडशाहोरात्रं । (विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्य १।७९)। सुश्रुत में ऋतुकाल जो बारह दिनों का बतलाया है, वैसा ही अष्टांगसंग्रह (शारीर १) और अष्टांगहृदय (शारीर १) में बताया गया है। वहां पर टीका में इन्दु और अरुणदत्त ऋतुकाल का प्रारम्भ आर्तवदर्शन दिन से गिनने के लिए कहते हैं—नामि भवादार्तवदर्शनादारभ्य द्वादशरात्रम्। (इन्दु)। ऋतुदर्शनात्प्रभृति यावद् द्वादश रात्रय स्तावदृतुर्योषित । परन्तु यदि अन्य वैद्यक ग्रंथों के तथा स्मृति ग्रंथों के ऋतुकाल से और आधुनिक मत (आगे का अँग्रेजी वचन देखो) से समन्वय करना हो तो ऋतुकाल का प्रारम्भ ऋतुस्नात दिन से याने चौथे दिन से मानना ही उचित है। डल्हण लिखते हैं—द्वादशमिति षोडशदिनेषु मध्ये आद्य दिनत्रयमन्तिम च षोडश दोलिमशौचदिन न गणनीयम्। इस डल्हण के मत का यही अर्थ होता है। इसलिए जब ऋतुकाल षोडश दिन हो, तब उसका प्रारम्भ आर्तवदर्शन दिन से और जब द्वादश दिन हो, तब उसका प्रारम्भ चौथे दिन से गिनना चाहिए। काश्यपसंहिता में ऋतुकाल का प्रारम्भ चौथे दिन ही से बताया गया है—रजस्वलायाश्चैव प्रथमेऽहनि गर्भ आपद्येत न वातगर्भमाचक्षते विफल वा पुष्पमिवोद्भिदानाम्, द्वितीयेऽहनि चेद स्रसते च्यवते वा तृतीयेऽहनि सूतिकागृहे म्रियते न वा दीर्घायुर्भवति हीनाङ्गश्च जायते। अत ऊर्ध्वमृतुर्द्वादशाह ब्राह्मणीनाम्, एकादशाह क्षत्रियाणां, दशाहं वैश्यानां, नवरात्र मितरासाम्। (जातिसूत्रीय शारीराध्याय)।

ऋतुकाल की आधुनिक मर्यादा—ऋतुकाल में बीज एक होकर कोष के बाहर आता है। जिस दिन वह बाहर आता है, उस दिन के आसपास दो तीन दिनों में समागम करने से गर्भधारणा होने की सम्भावना सब से अधिक होती है। बीजोत्सर्ग का प्रत्यक्ष न होने से उसके निश्चित दिन के सम्बन्ध में पाश्चात्त्य चिकित्सकों में भी बहुत मतभेद दिखाई देते हैं। परन्तु उनका भी मत आयुर्वेद के मत के साथ बहुत कुछ मिलता है—

This evidence then points to the conclusion that ovulation is most frequent from the sixth to the thirteenth day after the beginning of men struation This time would correspond more or less to a post-menstrual oestrous period Moreover Mall, as a result of a study of thirty six cases of early human embryos, has come to the conclusion that fertile coition is most likely to occur between the fourth and thirteenth day after the appearance of the menstrual discharge. (*Sexual Physiology by Marshall*

बीजोत्सर्ग का दिन स्त्री की प्रकृति, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, पुरुषसमागम (२ अध्याय का ३८वां श्लोक और उसका वक्तव्य देखो) इत्यादि से बदलता रहता है। जिस दिन बीजोत्सर्ग होता है, उस दिन स्त्री के शरीर का ताप कुछ बढ़ता है तथा उदरगुहा में गर्भाशय के पार्श्व में कुछ पीड़ा भी होती है। इन लक्षणों से बीजोत्सर्ग दिन का पता कभी कभी चल जाता है। इन लक्षणों से यदि अनेक स्त्रियों में अनेक बार बीजोत्सर्ग की मर्यादा निश्चित की जाय तो उसमें कुछ भिन्नता पाई जाती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि वैद्यक और धर्मशास्त्र में ऋतुकाल की सोलह दिन की जो मर्यादा बतलाई है, वह किसी एक व्यक्ति की न होकर आधुनिक परिभाषा के अनुसार औसत (Average) मालूम होती है, क्योंकि पाश्चात्त्य वैज्ञानिकों के अनुसार औसत निकालने पर भी वह सोलह के लगभग ही आ जाती है।

ऋतुकाल के पश्चात् गर्भधारणा की सम्भावना—यद्यपि ऋतुकाल में समागम करने से गर्भधारणा होने की अधिक अधिक सम्भावना होती है, तथापि ऋतुकाल के बाहर भी गर्भधारणा हो सकती है, क्योंकि बीजवाहिनी में बीज कुछ दिनों तक गर्भजननयोग्य अवस्था में रह सकता है तथा बीजोत्सर्ग का काल भी विलंबित हो सकता है, ऐसे शास्त्रज्ञों की राय है—

I, along with many other gynaecologists, am of opinion on grounds of experience that, generally speaking, sexual intercourse in human beings may lead to conception at any time because I assume that both the ovum and spermatozoa which have penetrated into the inner female sexual organs have a comparatively long duration of life ovulation can be delayed as a result of other influences *Ideal Birth*

गर्भधारणा के लिए आर्तवदर्शन आवश्यक है?—साधारण तया यह माना जाता है कि गर्भधारणा आर्तवदर्शन के सिवाय नहीं हो सकती, याने आर्तवदर्शन गर्भधारणा के लिए एक आवश्यक घटना है। एक दृष्टि से यह कल्पना ठीक है, क्योंकि निन्यानवे प्रतिशत स्त्रियों में इसी प्रकार से गर्भधारणा हुआ करती है। परन्तु वास्तव में गर्भधारणा के लिए आर्तवदर्शन कोई आवश्यक घटना नहीं है। यदि स्त्री के शरीर में बीजोत्सर्ग हुआ हो और पुरुषसमागम भी उस समय हुआ हो तो बिना आर्तवदर्शन के गर्भधारणा हो *सकती है। इस तरह से कई बार विवाहित स्त्री सयानी* होने पर बिना आर्तवदर्शन के गर्भिणी होती है। धर्मशास्त्र में इसका स्पष्ट वचन है—वर्षद्वादशकादूर्ध्वं यदि पुष्प बहिर्न हि। अन्तःपुष्प भवत्येव पनसोदुम्बरादिवत्। अतस्तत्र प्रकुर्वीत स्त्रीसग बुद्धिमान् नर॥ (काश्यपवचन)। प्रसूता स्त्री फिर से आर्तवदर्शन होने के पूर्व पुनः गर्भ धारण करती है, और पाण्डुरोगी स्त्री नष्टार्तवा होने पर भी गर्भधारणा कर सकती है—

It must be remembered that pregnancy may occur before patient has menstruated *Diseases of Women By Bland-sutton and Giles* Fertilization of the ovum may occur before menstruation has started, during a period of amenorrhoea and even after the menopause *Ten Teacher's Midwifery*

इसी लिए लिखा है—ऋदृष्टार्तवाप्यस्तीत्येके भाषन्ते। अष्टांग समय में वाग्भटाचार्य उपर्युक्त सभी मतमतान्तरों का निर्देश करते हैं—ऋतुस्तु दृष्टार्तवो द्वादशरात्र भवति। षोडशरात्र

सित्यन्ये। शुद्धयोनिगर्भाशयार्तवाया मासमपि केचित्। तद्‌दृष्टार्तवोऽप्यस्तीत्यपरे। (शा० १)।

आर्तवदर्शन और बीजोत्सर्ग का सम्बन्ध—आर्तवस्राव और बीजोत्सर्ग ये दोनों स्त्रीशरीरान्तर्गत घटनायें प्रजोत्पत्ति के लिए पर्याय से नियत समय पर हुआ करती हैं; अर्थात् इनका आपस में घनिष्ट सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। परन्तु इनमें बीजोत्सर्ग प्रधान और आर्तवस्राव तदनुपङ्गी होता है। जब कोष से बीज उत्सर्गित होता है, तब उसके पुट में रक्त भरता है और थोड़ी देर के बाद उस स्थान पर व्रण बनता है। इस व्रणयुक्त पुट को बीजकिणपुट (Corpus leuteum) कहते हैं। इस किणपुट से एक विशेष पदार्थ बनता है, जिसको प्रोजेस्टिन (Progestin) कहते हैं। यह पदार्थ रक्त में मिलकर गर्भाशय के अन्तरावरण को उत्तेजित करके उसकी वृद्धि करता है। इस पदार्थ के सिवाय बीजकोष से ओस्ट्रिन (Oestrin नामक पदार्थ बनता है, जो प्रोजेस्टिन के साथ गर्भाशय के अन्तःस्तर की वृद्धि में सहायता करता है। इस प्रकार के परिवर्धित नवीन अन्तःस्तर के विना गर्भ संलग्न नहीं हो सकता है। यदि समागम से गर्भधारणा हुई हो तो वह गर्भ धीरे धीरे बीजवाहिनी से गर्भाशय में आता है और उसमें संलग्न होता है। यदि गर्भधारणा नहीं हुई तो बीजकिणपुट का क्षय होकर उससे प्रोजेस्टिन नहीं बनता, जिससे गर्भाशय का वर्धित अन्तःस्तर नष्ट होकर गर्भाशय से अलग होता है और रक्त के साथ बाहर निकलता है। यही आर्तवस्राव है। संक्षेप में आर्तवस्राव उसके पूर्वकाल में गर्भधारणा न होने का तथा नवीन गर्भ के लिए गर्भाशय सज्ज करने की पूर्व आयोजना का निदर्शक है। आर्तवदर्शन और बीजोत्सर्ग का कार्यकारण भाव की दृष्टि से यद्यपि सम्बन्ध होता है, तथापि ये दोनों स्वतन्त्र भी होते हैं; क्योंकि कई बार विना आर्तवदर्शन के बीजोत्सर्ग होता है और कई बार आर्तवदर्शन होने पर भी बीजोत्सर्ग नहीं होता। व्यवहार में कई स्त्रियाँ देखने में आती हैं, जिनमें विना आर्तवदर्शन के गर्भधारणा हुआ करती है। इस तरह आर्तवस्राव और बीजोत्सर्ग में अव्यभिचारी सम्बन्ध न होने के कारण कुछ शास्त्रज्ञ दोनों घटनाओं का कारण एक स्वाभाविक कालचक्र (Cyclical Theory) मानते हैं (प्रथम खण्ड ३६४ पृष्ठ भी देखो)।

There is probably a menstruation causing cycle in the intestitial cells as there is in those producing ova. *Halliburton's Physiology.*

आर्तवदर्शन क्यों होता है?—जब आर्तवदर्शन के सिवाय गर्भधारणा हो सकती है तब प्रतिमास आर्तवस्राव क्यों होता है? इस प्रश्न का ठीक उत्तर देना बहुत कठिन है, परन्तु जब स्त्रियों में आर्तवस्राव मिलता है, तब उससे निम्न फायदे व्यावहारिक दृष्टि से मालूम पड़ते हैं, चाहे उसके कुछ उच्च कार्य शरीर में हों या न हों। (१) इसके प्रारम्भ से यौवनावस्था के प्रारम्भ का और इसकी निवृत्ति से यौवनावस्था की निवृत्ति का ज्ञान सहज में हो जाता है। (२) प्रतिमास मासिक धर्म ठीक होने से साधारणतया स्त्री के शरीर के दोष बह जाते हैं और स्त्री का स्वास्थ्य ठीक रहता है—रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुद्ध्यति। सर्वं शरीरं दोषाश्च। (तन्त्रान्तर, डल्हणटीका)। आधुनिक विद्वानों की भी मासिक धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना है—

Menstruation is nature's washday; the poorest blood in the circulation is thrown out, for menstrual blood possesses none of the vital properties peculiar to that which escapes when haemorrhage occurs. *Laws of Sexual Physiology by Chandra.*

(३) योग्य आयु में रजोदर्शन न होने से स्त्री के स्त्रीत्व की कमी का या उसके स्वास्थ्य की खराबी का ज्ञान हो जाता है। वैसे ही जिसमें रजोदर्शन ठीक समय पर प्रतिमास हो रहा है, उसमें समय पर रजोदर्शन न होने से उसके भी स्वास्थ्य की खराबी का अनुमान किया जा सकता है। (४) आर्तवदर्शन से गर्भाधान के लिए तथा गर्भाधान रोकने के लिए योग्यकाल का बोध होता है। (५) आर्तवस्राव से स्त्री के अपत्यमार्ग की स्थिति तथा प्रतिक्रिया शुक्राणुओं के प्रवेश के लिए याने गर्भाधान के लिए अनुकूल होती है। (६) समागम करने के पश्चात् आर्तवदर्शन बन्द होने से गर्भाधान का ज्ञान हो जाता है। साधारण जनता के लिए स्त्री की सगर्भावस्था का ज्ञान होने का यही मुख्य लक्षण होता है। (७) प्रसवकाल निश्चित करने के अनेक साधन (आगे १२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) होते हैं। परन्तु इन सब साधनों में रजोदर्शन के आधार पर प्रसवकाल निश्चित करने का मार्ग सब से सरल और सब के लिए सुगम होता है। साधारणतया मानवी गर्भावस्था की अवधि (आगे ३६वाँ सूत्र तथा उसका वक्तव्य देखो) २८० दिनों की होती है। अंग्रेजी पञ्चाङ्ग के अनुसार यह अवधि नौ मास ७ दिन की और भारतवर्ष के चान्द्रवर्ष के अनुसार नौ मास पन्द्रह दिन की होती है। नीचे दोनों के अनुसार प्रसवकाल निश्चित करने की सारणियाँ दी जाती हैं।

अंग्रेजी महीनों के अनुसार

आर्तवदर्शन मास और तारीख			प्रसवकाल मास और तारीख				
जनवरी	तारीख	अ	अक्टूबर	७	+	तारीख	अ
फरवरी	तारीख	आ	नवम्बर	७	+	तारीख	आ
मार्च	तारीख	इ	दिसम्बर	५	+	तारीख	इ
अप्रैल	तारीख	ई	जनवरी	४	+	तारीख	ई
मई	तारीख	उ	फरवरी	४	+	तारीख	उ
जून	तारीख	ऊ	मार्च	७	+	तारीख	ऊ
जुलाई	तारीख	ए	अप्रैल	६	+	तारीख	ए
अगस्त	तारीख	ऐ	मई	७	+	तारीख	ऐ
सितम्बर	तारीख	ओ	जून	७	+	तारीख	ओ
अक्टूबर	तारीख	औ	जुलाई	७	+	तारीख	औ
नवम्बर	तारीख	क	अगस्त	७	+	तारीख	क
दिसम्बर	तारीख	ख	सितम्बर	६	+	तारीख	ख

मान लीजिए कि गर्भावस्था के पूर्व आर्तवदर्शन

२० जनवरी को हुआ था तो प्रसवकाल २७ अक्तूबर के करीब होगा।

संवत् और शालिवाहनशक के अनुसार प्रसवकाल निर्णय करने में एक सरलता यह होती है कि जिस तिथि पर सगर्भावस्था का पूर्वकालीन आर्तवदर्शन होता है, उसी तिथि पर प्रसव का काल आता है। शक का मास अमावास्यान्त और संवत् का पौर्णिमान्त होने के कारण मासों के कृष्णपक्ष के नाम बदल जाते हैं। इसलिए प्रसव तिथिनिर्णय के दोनों के कोष्ठक पृथक् पृथक् दिये जाते हैं।

शकानुसार प्रसवतिथिनिर्णय कोष्ठक

आर्तवदर्शन का मास और पक्ष	प्रसव का मास और पक्ष
चैत्र शुक्लपक्ष	पौष कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	माघ शुक्लपक्ष
वैशाख शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	फाल्गुन शुक्लपक्ष
ज्येष्ठ शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	चैत्र शुक्लपक्ष
आषाढ़ शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	वैशाख शुक्लपक्ष
श्रावण शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	ज्येष्ठ शुक्लपक्ष
भाद्रपद शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	आषाढ़ शुक्लपक्ष
आश्विन शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	श्रावण शुक्लपक्ष
कार्तिक शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	भाद्रपद शुक्लपक्ष
मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	आश्विन शुक्लपक्ष
पौष शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	कार्तिक शुक्लपक्ष
माघ शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष
फाल्गुन शुक्लपक्ष	„ कृष्णपक्ष
„ कृष्णपक्ष	पौष शुक्लपक्ष

मान लीजिए कि किसी स्त्री को कार्तिक शुक्ल पञ्चमी को आर्तवदर्शन हुआ, उसके बाद गर्भधारणा के कारण हुआ नहीं तो उसकी प्रसवतिथि श्रावण कृष्ण पंचमी होगी। यदि आर्तवदर्शन का मास अधिक हो या बीच में अधिक मास आ जाय तो प्रसव के महीने में एक महीना कम करना चाहिए। जैसे, ऊपर के उदाहरण में यदि बीच में अधिक मास आ जाय तो श्रावण कृष्ण पंचमी के बदले प्रसवतिथि आषाढ़ कृष्ण पंचमी होगी।

विक्रम संवत् के अनुसार प्रसवतिथिनिर्णय कोष्ठक

आर्तवदर्शन का मास और पक्ष	प्रसव का मास और पक्ष
चैत्र शुक्लपक्ष	माघ कृष्णपक्ष
वैशाख कृष्णपक्ष	„ शुक्लपक्ष
„ शुक्लपक्ष	फाल्गुन कृष्णपक्ष
ज्येष्ठ कृष्णपक्ष	„ शुक्लपक्ष
„ शुक्लपक्ष	चैत्र कृष्णपक्ष
आषाढ़ कृष्णप	„ शुक्लपक्ष
„ शुक्लपक्ष	वैशाख कृष्णपक्ष
श्रावण कृष्णपक्ष	„ शुक्लपक्ष
„ शुक्लपक्ष	ज्येष्ठ कृष्णपक्ष
भाद्रपद कृष्णपक्ष	„ शुक्लपक्ष
„ शुक्लपक्ष	आषाढ़ कृष्णपक्ष
आश्विन कृष्णपक्ष	„ शुक्लप
„ शुक्लपक्ष	श्रावण कृष्णपक्ष
कार्तिक कृष्णपक्ष	„ शुक्लपक्ष
„ शुक्लपक्ष	भाद्रपद कृष्णपक्ष
मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष	„ शुक्लपक्ष
„ शुक्लपक्ष	आश्विन कृष्णपक्ष
पौष कृष्णपक्ष	„ शुक्लपक्ष
„ शुक्लपक्ष	कार्तिक कृष्णपक्ष
माघ कृष्णपक्ष	„ शुक्लपक्ष
„ शुक्लपक्ष	मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष
फाल्गुन कृष्णपक्ष	„ शुक्लपक्ष
„ शुक्लपक्ष	पौष कृष्णपक्ष
चैत्र कृष्णपक्ष	„ शुक्लपक्ष

इस सारणी के अनुसार प्रसवतिथिनिर्णय शक की सारणी के अनुसार ही किया जाता है। यदि बीच में अधिक मास हो या अधिक मास के शुक्लपक्ष में आर्तवदर्शन की तिथि हो तो प्रसव के महीने में एक महीना कम करना चाहिए। यदि अधिक मास के कृष्णपक्ष में आर्तवदर्शन की तिथि हो तो इस सारणी के अनुसार ही महीना होता है। उसमें फर्क नहीं होता।

भवन्ति चात्र—

पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम् ।
नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्धजाम् ॥ ७ ॥
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम् ।
हर्षौत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति ॥ ८ ॥

(ऋतुमती के लक्षण—) जिसका मुख पुष्ट और प्रसन्न हो, जिसका शरीर, मुख तथा दांत क्लेदयुक्त हों, जो पुरुष की इच्छा करती हो, जो प्रेमकथाओं में दिलचस्पी लेती हो, जिसकी कुक्षि, आंखें और बाल शिथिल हों, जिसकी भुजाएँ, स्तन, श्रोणि, नाभि, ऊरु, गुह्यांग और नितम्ब में स्फुरण होता हो, और जो (समागम के लिए) हर्ष तथा औत्सुक्य से भरी हुई हो, उसे ऋतुमती जानना चाहिए ॥ ७ ॥ ८ ॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में ऋतुमती के बाद गर्भधारण

ोग्य पूर्ण जवान स्त्री के लक्षण वर्णन किये हैं। स्त्री में जब प्रथम रजोदर्शन होता है, तब भी वह ऋतुयुक्त होती है परन्तु उसको ऋतुमती नहीं कह सकते हैं। उस आयु में उसका शरीर अपरिपूर्णवीर्य, अपरिपक्व अतएव गर्भधारण योग्य नहीं होता—तस्मात् अत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्। उस समय से उसकी कली खिलने लगती है, उसमें स्त्रीत्व आने लगता है और ज्यों ज्यों स्त्रीत्व बढ़ता है त्यों त्यों चेहरा पुष्ट प्रसन्न और लज्जायुक्त होता है, स्तन मोटे और कठिन होते जाते हैं, नितम्ब की वृद्धि होती है, गुह्यांग पर बाल जमने लगते हैं और गर्भाशय की वृद्धि होती है। शरीर की इस वृद्धि के साथ साथ उसके मन में भी काफी परिवर्तन होता है। वह लज्जायुक्त होती है, पुरुष की ओर उसका मन आकर्षित होता है, उसकी संगत सोहबत करने की इच्छा होती है, कामुक बातों में अधिक प्रेम उत्पन्न होता है और शरीर के कामकटिबन्धों (जैसे स्तन, जघन) में स्फुरण उत्पन्न होता है। यह सब कार्य बीजकोष के अन्तःसार से होता है। वह द्रव्य रक्त के द्वारा स्त्री के समस्त शरीर में फैलकर उसको पूर्ण स्त्री तथा गर्भधारण का भार ग्रहण करने योग्य बनाता है—नारीणां रजसि चोपचीयमाने शनैः शनैः स्तनगर्भाशययोन्यभिवृद्धिर्भवति। प्रथम भाग पृष्ठ ८२ और १६६ देखो। डल्हणाचार्य ये लक्षण अदृष्टआर्तव ऋतुमती के मानते हैं—अदृष्टार्तवाया ऋतुमत्या लक्षणमाह—पीनेत्यादि। परन्तु इस तरह मानने की कोई जरूरत नहीं है। ये लक्षण पूर्ण नौजवान स्त्री के हैं, चाहे उसमें आर्तव दृष्ट हो या अदृष्ट हो। अब ये जो जवानी के लक्षण हैं, वे आर्तवदर्शन के पश्चात् और भी जोर पकड़ते हैं। प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्—प्रक्लिन्नाः प्रकर्षेण क्लेदमापन्ना आत्मादयो यस्याः, आत्मा देहः। (डल्हण)। कामातुर मन का परिणाम शरीर के हर एक पुर्जे पर होता है। ग्रंथियाँ उत्तेजित होकर उनसे अधिक स्राव होता है, स्वेदग्रंथियों से पसीना निकलकर समस्त शरीर क्लेदित हो जाता है, लालाग्रंथियों से लाला स्रवती है, जिससे मुख तथा दांत लालाक्लिन्न हो जाते हैं, मूत्रग्रंथियों (वृक्कों) से मूत्र अधिक बनता है, जिससे बार बार मूत्रत्याग करने की जरूरत होती है, इत्यादि। यहाँ 'प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजा' से इसी घटना का संक्षेप में वर्णन किया है। गीतगोविन्द में कामातुरता से स्वेद उत्पन्न होने का उल्लेख है—स त्वां पश्यति कम्पते पुलकयत्यानंदति स्विद्यति। नरकामां प्रियकथाम्—आर्तवस्राव के पश्चात् स्त्री में कामवासना बहुत बढ़ती है, जिससे वह यदि विवाहित हो तो पतिसमागम की इच्छा करती है और यदि अविवाहित हो तो पुरुष की इच्छा करती है या पुरुषों के साथ बातचीत करने में या कामुक विषयों के सम्बन्ध में बातचीत करने में आनन्द मानती है—

During or immediately following menstruation, sexual ardour is at its highest peak. Women who may not be easily approchable otherwise or who may be frigid by nature, will warm up under the stimulas of menstruation and exhibit more than habitual interest in sexual matters. They show less resistance and respond more readily to masculine overtures. *Riddle of Sex.*

नरे पुंसि कामोऽभिलाषो यस्यास्ताम्। प्रियकरेण सह कथायां प्रेमकथायां वा अभिलाषो यस्यास्तां प्रियकथाकामामित्यर्थः॥ स्फुरद्भुजकुच इत्यादि—कामेच्छा (Sexual impulse) उत्पन्न होने पर समस्त शरीर में एक प्रकार की उत्तेजना पैदा होती है। उसी का एक परिणाम पसीना आने में होता है, और उसी से स्तनादि स्थानों में स्फुरण होता है। ये कामुक स्थान हैं और स्फुरण के कारण स्त्री इन स्थानों को पुरुष के अंगों के साथ रगड़ना चाहती है। इन स्थानों को मैथुन के समय गुदगुदाने से, मलने से स्त्री को आनन्द आता है और वह जल्दी उभर आती है। भुज से यहाँ बाहु समझने की अपेक्षा भुजकोटर याने बगल कक्षा (Arm-pit) समझना उचित है, क्योंकि कक्षा कामकटिबन्ध है। विशेष विवरण के लिए दूसरे अध्याय के ४७वें श्लोक के वक्तव्य में 'स्पर्श' देखो। हर्षौत्सुक्यपरा—पुरुषसमागम के लिए हर्ष और उत्साह से पूर्ण।

इन श्लोकों में शारीरिक और मानसिक स्थिति के अनुसार ऋतुमती याने गर्भधारण योग्य स्त्री की व्याख्या वर्णन की है। चरक में जननेन्द्रिय की स्थिति के अनुसार ऋतुमती की व्याख्या वर्णन की है—गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्नयोनिशोणितगर्भाशयामृतुमतीमाचक्षते॥ (शा० ४)। गर्भधारणा के लिए योनि गर्भाशय के स्वास्थ्य के अतिरिक्त गर्भाशय के अन्तःस्तर की विशेष स्थिति की भी आवश्यकता होती है। गर्भ गर्भाशय में विराजमान होने के लिए उसे नये सिंहासन की आवश्यकता होती है, इसलिए गर्भाशय में एक मासिक चक्र यौवन के प्रारम्भ से यौवन के अन्त तक जारी रहता है, जिसके द्वारा प्रतिमास गर्भाशय में गर्भ के लिए नया आसन बनता है। यदि गर्भ का आगमन नहीं हुआ तो वह पुराना आसन नष्ट होकर फिर से नया आसन बनता है, और इस तरह गर्भ के आगमन तक यह चक्र जारी रहता है। यदि गर्भ का आगमन हुआ तो नये आसन पर वह स्थिर होता है और उसके अवस्थान के समय तक तथा उसके पश्चात् कुछ काल तक यह चक्र बन्द रहता है। पश्चात् फिर से नये गर्भ के लिए जारी होता है। इस चक्र की तीन अवस्थाएँ हैं। (१) आर्तवपूर्व अवस्था—गर्भाधान न होने के कारण इस अवस्था में पुराने अन्तःस्तर का नाश करने की पूर्व तैयारी होती है। इसमें योनि गर्भाशय में रक्ताधिक्य होता है, श्रोणि में भारीपन खिंचावट और गरमी मालूम होती है, रक्ताधिक्य के कारण गर्भाशय के अन्तःस्तर की रक्तवाहिनियाँ फूलती हैं, कुछ फूटती हैं और अन्तःस्तर के नीचे रक्त कई जगह इकट्ठा होता है। इसकी अवधि पाँच छः दिन की होती है। (२) आर्तव की अवस्था—रक्तभार अधिक बढ़ने से अन्तःस्तर कई जगह टूट जाता है और रक्त के साथ बाहर निकल आता है। यही पुराना रज या आर्तव है। इसकी अवधि ३-८ दिन की होती है। (३) आर्तवोत्तर अवस्था—इस अवस्था में टूटी हुई रक्तवाहिनियाँ जुड़ती हैं, टूटा हुआ अन्तःस्तर फिर से नया बनना शुरू होता है और थोड़ी देर के बाद गर्भाशय में नवीन रक्त और नवीन अन्तःस्तर पूर्णतया बन जाता है, जिसके ऊपर

गर्भ संलग्न हो सकता है। इसी आर्तवोत्तर अवस्था (Post-menstrual Period) में गर्भधारणा की अधिक सम्भावना होती है। चरक के ऋतुमती के लक्षण में गर्भाशयान्तर्गत इन परिवर्तनों के अनुसार 'गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते' इस शब्दसमूह का अर्थ करना चाहिए।

नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचत्यम्बुजं यथा।
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥९॥

(ऋतु के पश्चात् गर्भाशय की स्थिति—) जैसे कि दिवस के समाप्त होने पर कमल निश्चिति से सङ्कुचित हो जाता है, वैसे ही ऋतु के समाप्त होने पर स्त्री की योनि (निश्चिति से) सङ्कुचित हो जाती है ॥ ९ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि ऋतुकाल में गर्भाशय का मुख विस्तृत होता है, जिससे उस काल में योनि में गिरा हुआ शुक्र भीतर जाकर गर्भधारणा होती है। ऋतुकाल के पश्चात् गर्भाशय-मुख सङ्कुचित हो जाता है, जिससे उस समय योनि में गिरा हुआ शुक्र कठिनता से भीतर जा सकता है और इसलिए प्रायः ऋतुकाल समाप्त होने पर गर्भधारणा नहीं हो सकती—पद्म सकोचमायाति दिनेऽतीते यथा तथा। ऋतावतीते योनिः सा शुक्रं नात. प्रतीच्छति ॥ (अष्टांगहृदय)। आयुर्वेद के अनुसार यह नियम निरपवाद नहीं है, क्योंकि 'शुद्धयोनिगर्भाशयार्तवाया मासमपि केचित्' इस प्रकार मास भर भी गर्भधारणा हो सकती है। अर्थात् गर्भाशय का मुख पूर्णतया बंद नहीं होता। अष्टांगहृदयटीकाकार अरुणदत्त 'मासेनोपचितं रक्तम्' (शा० १।२३) इस श्लोक की टीका में लिखते हैं कि—विवृताविवृतमुखत्वं हि योनेर्गर्भग्रहणाग्रहणहेतुस्तच्च वायोः क्रियावतः वातसंहायस्यायत्तम्। मासेनोपचितं रक्तमृतौ वायुर्योनिमुखान्नुदेत् प्रेरयेत्। तदा योनिमुखं विवृतं सम्पद्यते। इसका आशय यह होता है कि आर्तवस्राव के दिनों में गर्भाशय का मुख विवृत हो जाता है। पश्चात्य डाक्टरों का भी यही कथन है—

During menstruation there is a slight spontaneous dilatation of the cervical canal, attaining its maximum on the third and fourth days. *Herman quoted in Bland-sutton and Giles. Diseases of Women*

यह विवृति धीरे धीरे कम होती है और दूसरे आर्तव स्राव के पूर्व गर्भाशय का मार्ग संकोच के कारण संकट हो जाता है। पाश्चात्य डाक्टर भी इस बात को मानते हैं कि महीने के आखिरी दिनों में गर्भाशय का मार्ग शुक्र के लिए कठिनाइयों से भरा रहता है—

In cases where very great obstacles have to be overcome, that is, in conception, near the time of menstruation, *Ideal Birth.*

योनि—गर्भाशय, विशेष करके उसका मुख (आगे पांचवें अध्याय के २९वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। यहाँ पर कमल का जो दृष्टान्त दिया है, उससे यह अर्थ निकलता है कि आर्तवकाल में गर्भाशय विकसित यानी कुछ बड़ा होता है—

During menstruation the organ (Uterus) is enlarged, and more vascular, its surfaces rounder, the external orifice is rounded, etc. *Gray's Anatomy.*

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥ १० ॥

(आर्तवस्वरूप और स्रवणयुक्त—) दो धमनियों के द्वारा महीना भर में इकट्ठा हुआ किंचित् कृष्णवर्ण और विगन्धवह आर्तव (अपान) वायु (योग्य) समय पर योनिमुख की ओर ले जाती है ॥ १० ॥

वक्तव्य—आर्तव कैसे उपचित होता है, इसका विवरण पिछले श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इसके सिवाय आर्तव के प्रशस्त लक्षणों का विचार दूसरे अध्याय के १७वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। काल—योग्य काल। यह काल प्रत्येक स्त्री में और स्वास्थ्य के अनुसार बदलता रहता है। धमनीभ्याम्—गर्भाशय को रक्त की रसीद पहुँचाने वाली दो रक्तवाही धमनियां होती हैं उनको गर्भाशयधमनी (Uterine artery) कहते हैं इनके द्वारा। इन्हीं का उल्लेख २वें अध्याय के छठे सूत्र में किया गया है। धमनी से यहाँ बीजवाहिनी (Follopian tubes) अभिप्रेत नहीं है। विगन्धम्—विशिष्ट गन्ध विकृतगन्धं वा। रक्त योनि में थोड़ी देर रहने से कुछ सड़ जाता है, जिससे उसमें एक प्रकार की गन्ध आती है—

The menstrual discharge has also some odour due to slight decomposition, which takes place during its passage through the vagina. *Crossen.*

वायु—आर्तव को बाहर फेंकने का काम अपान वायु का है (प्रथम खण्ड पृष्ठ २११ देखो)। वाग्भटाचार्य का इस श्लोक का पाठान्तर अर्थ की दृष्टि से अधिक प्रशस्त है—मासेनोपचितं रक्तं धमनीभ्यामृतौ पुनः। ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखान्नुदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह)।

तद्वर्षाद् द्वादशात् काले वर्तमानमसृक् पुनः।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ ११ ॥

(स्त्रियों का आर्तवकाल—) वह आर्तवशोणित बारह वर्ष (की अवस्था) से प्रारंभ होकर फिर वृद्धावस्था से परिपक्व शरीर वाली स्त्रियों की ५० वर्ष (की आयु) में नष्ट होता है ॥ ११ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में स्त्रियों के आर्तवकाल (Menstrual life) की मर्यादा वर्णन की है। रजोदर्शन और रजोनिवृत्ति (Menopause) की यह मर्यादा प्रायिक है, जो प्रत्येक व्यक्ति में उसके रहनसहन, स्वास्थ्य इत्यादि के अनुसार बदल सकती है—द्वादशादिति प्रायिकमेतत्। एकादशवार्षिकायामपि क्वचित् रजःप्रवृत्तिदर्शनात्। पंचाशतः क्षयमित्यत्राप्येवमेव चिन्त्यम्। (अरुणदत्त)। रजोदर्शन के काल के संबंध का विचार प्रथम खण्ड के ८५वें पृष्ठ पर किया गया है। रजोनिवृत्ति के काल की मर्यादा में भी रजोदर्शन के काल के अनुसार जाति, जलवायु, रहनसहन, गर्भधारणा इत्यादि के अनुसार फर्क होता है। विधवा स्त्रियों में, पतिसुख कम मिलने वाली स्त्रियों में, अधिक परिश्रम करनेवाली स्त्रियों

में रजोनिवृत्ति जल्दी होती है। विवाहित, अधिक सन्तति वाली स्त्रियों में, आलसी स्त्रियों में देर से रजोनिवृत्ति होती है। रजोनिवृत्ति पैंतालीस से पचास साल की आयु में होती है, परन्तु कभी तीस साल की आयु में और कभी ५५ साल की आयु तक भी बढ़ सकती है। पूर्ण रजोनिवृत्ति अकस्मात् भी हो सकती है, परन्तु प्रायः उसके पूर्व कुछ काल मासिक धर्म में गड़बड़ी हो जाया करती है। जैसे कि, दीपज्योति नष्ट होने के पूर्व कुछ काल तक न्यूनाधिक हुआ करती है, वैसे ही आर्तव पूर्ण निवृत्त होने के पूर्व कुछ महीनों से कुछ साल तक न्यूनाधिक राशि में और अनियमित हुआ करता है।

आर्तव निवृत्तिकालिक परिवर्तन—रजोदर्शन के समय जैसे स्त्री में स्तन, गर्भाशय वृद्ध्यादि गर्भधारण के लिए उचित परिवर्तन होते हैं, वैसे ही रजोनिवृत्ति के समय गर्भधारण प्रतिबन्ध के लिए योग्य परिवर्तन होते हैं। बीजग्रंथियों से बीजोत्सर्ग बन्द हो जाता है। इस अवस्था को क्लैम्याटिक Climacteric कहते हैं। गर्भाशय, योनि तथा बीज ग्रंथियाँ सिकुड़ने लगती हैं। इस तरह आभ्यन्तरीय परिवर्तनों के साथ स्तनों का सिकुड़ना, दाढ़ी, और मूछों के स्थान में कुछ बाल निकल आना, आवाज बदलना, शरीर स्थूल या पतला होना, चेहरे की कोमलता नष्ट होकर उग्रता पैदा होना इत्यादि बाह्य परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों से स्त्री का स्त्रीत्व नष्ट होता है। इन शारीरिक परिवर्तनों के साथ मानसिक परिवर्तन भी होते हैं। बीजकोष का अन्तःस्राव बन्द होने पर थायराइड तथा अधिवृक्क ग्रंथियों का अन्तःस्राव अधिक मात्रा में रक्त में आता है, जिससे खुशमिजाज स्त्री तेजमिजाज, चिड़चिड़ी, बेचैन हो जाती है। कुछ उद्विग्नचित्त तथा अव्यवस्थितचित्त होती हैं और कभी कभी पागल की सी तरह बन जाती हैं। इसके सिवाय चक्कर आना, शरीर में कंप, निद्रानाश, गरम मालूम होना, मृगी, स्तन, उदर इत्यादि अंगों में पीड़ा होना, दिल में धड़कन, पेट फूलना, मलावरोध, ऊर्ध्ववात, अरोचक इत्यादि अनेक लक्षण भी होते हैं। संक्षेप में रजोनिवृत्ति स्त्री के लिए बड़ा महत्त्व का संक्रमकाल होता है। कुछ स्त्रियों में, विशेष करके अविवाहित स्त्रियों में, कुछ भी तकलीफ नहीं होती है, तथा नियमित रूप से चला हुआ मासिक धर्म अकस्मात् बन्द हो जाता है। साधारणतया रजोनिवृत्ति के साथ साथ गर्भधारणशक्ति की भी निवृत्ति होती है, परन्तु कभी कभी उसके पश्चात् भी गर्भधारणा हो सकती है।

युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽबला।
पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं व्रजेत् ॥१२॥

(समविषमदिनसमागम का फल—) (ऋतुकाल के) सम दिनों में (समागम करने से) पुत्र (और) विषम दिनों में कन्या होती है, (ये नियम आचार्यों से) वर्णित हैं। इसलिए (ब्रह्मचर्यादि से) शुचि होकर अपत्य की इच्छा करने वाला पुरुष (पुत्र या कन्या की इच्छा के अनुसार) ऋतुकाल के सम या विषम दिनों में स्त्री से समागम करे ॥ १२ ॥

वक्तव्य—समविषमदिनसमागम का फल दूसरे अध्याय के २९-३१वें सूत्र में बताया गया है। पुत्र और कन्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध का यह मत 'शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री' इस मत के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि विदेह का मत है कि सम दिनों में स्त्रीबीज बलवत्तर होने से पुत्र होता है, विषम दिनों में स्त्रीबीज कमजोर होने से कन्या होती है—युग्मेषु तु दिनेष्वासां भवत्यल्पतरं रजः। सयोगं तत्र या गच्छेत् सा पुमांसं प्रसूयते ॥ अयुग्मेषु दिनेष्वासां भवेद्बहुतरं रजः। संयोगं तत्र या गच्छेत् सा तु कन्यां प्रसूयते ॥ पुत्र और कन्या की उत्पत्ति में कुछ पाश्चात्य पण्डित स्त्रीबीज कारण मानते हैं। उसी स्वरूप का विदेह का यही मत है। परन्तु यह नियम नहीं है, क्योंकि आहार-विहार के द्वारा शुक्रप्राबल्य किया जाय तो समागम से पुत्र ही होगा, चाहे वह दिन सम हो या विषम हो। पांचवें श्लोक के वक्तव्य में 'समागमकाल' भी देखो। पुष्पकाल—ऋतुकाल। भविष्य में होने वाले फल का पूर्वरूप जैसे पुष्प होता है, वैसे ही भविष्य में होने वाले गर्भ का पूर्वरूप आर्तव होता है, इसलिए आर्तव को आलंकारिक भाषा में 'पुष्प' कहते हैं—शुद्धं च रक्तं पुष्पसंज्ञं गर्भाख्यस्य फलस्य भविष्यतोऽभिव्यञ्जकत्वात्। (अरुणदत्त)। अँग्रेजी में भी आर्तव के लिए पुष्प (Flower) कहने का रिवाज है—

Menstruation, called also menses, period, monthly flow and flowers, is known in man and monkeys. Exceptional cases of flowers at the age of seven to eight have been noted. *Riddle of Sex.*

परन्तु जैसे पुष्प और फल का व्यभिचारी सम्बन्ध होता है—अप्येवं तु भवेत्पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत्। फलं चापि भवेत् किञ्चिद्यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥ (चरक), वैसे ही आर्तव और गर्भ का भी व्यभिचारी सम्बन्ध होता है—एवं चापि भवेत् पुष्पं गर्भेणाननुबन्धि यत्। गर्भश्चापि भवेत्तद्वद्यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥

तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि—श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः ॥ १३ ॥

सद्योगृहीतगर्भा स्त्री के लक्षण—श्रम, ग्लानि, तृषा, टाँगों में थकावट, शुक्र और आर्तव का रुक जाना, तथा योनि का स्फुरण ॥ १३ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में जो लक्षण वर्णन किये है, उन्हें केवल गर्भिणी स्वयं अनुभव कर सकती है, अर्थात् इनके ज्ञान के लिए वैद्य को गर्भिणी के कथन पर विश्वास करना पड़ता है, वह स्वयं इनकी परीक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार के लक्षणों को आत्मप्रत्यय (Subjective) कहते हैं। सगर्भावस्था का निदान करने के लिए इनके ऊपर प्रथमगर्भा स्त्री स्वयं ज्यादा भरोसा नहीं कर सकती, परन्तु यदि वह इनके ऊपर प्रत्येक बार बारीकी से ध्यान दे तो ये उसको गर्भावस्था की निश्चित सूचना दे सकते हैं। वैद्य के लिए ये लक्षण निरर्थक हैं, परन्तु जब अन्य लक्षणों के साथ मिलते हैं तब समर्थन की दृष्टि से इनका उपयोग होता है। सद्योगृहीतगर्भा—इसकी अवधि निश्चित करना कठिन है, तथापि समागम के बाद दो चार दिन से उसके बाद का मासिक धर्म टलने के समय तक (शोणितयोरवबन्धः)

याने कम से कम चार और अधिक से अधिक छः सप्ताह की अवधि 'सद्य' से समझनी चाहिए। अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में सुश्रुत के अनुसार गर्भिणीलक्षण के दो विभाग किये हैं—अथ नार्याः सद्योगृहीतगर्भायाश्च लिङ्ग, क्रमेण तु व्यक्तगर्भाया। इससे यह स्पष्ट है कि प्रथम समूह अव्यक्त गर्भा स्त्री के लक्षणों का है, याने गर्भ के आधान से जब तक गर्भ स्त्री या पुरुष की दृष्टि से अव्यक्त रहता है, तब तक का है। यह अव्यक्त गर्भावस्था छः सप्ताह की होती है। इसका उल्लेख पीछे २ अध्याय के ३४वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है, इसलिए ये लक्षण प्रथम छः सप्ताह तक के समझने चाहिए। ये सब लक्षण प्रारम्भिक हैं और अनार्तव के सिवाय बाकी सब अस्थायी स्वरूप के होते हैं। क्वचित् हृदय स्पन्दन आखिर तक होता है।

श्रमो ग्लानिः सक्थिसदनम्—शुक्र और शोणित का संयोग होने पर स्त्री के शरीर में विद्युत्संयोगजन्य स्तब्धता (Shock) के समान कुछ स्तब्धता आ जाती है। इसके सिवाय इस नये जीव की परवरिश के लिए शरीर की कुछ शक्ति खर्च होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि शुरू शुरू में स्त्री को थकावट मालूम होती है। इस स्थिति को दर्शाने के लिए उपर्युक्त तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनके सिवाय 'गौरवम्, गरिमा, तन्द्रा, अवसाद' ये चरक और अष्टांगसंग्रह के शब्द भी इसी थकावट को दर्शाने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं।

शुक्रशोणितयोरवबन्ध —शुक्रं च शोणितं च शुक्रशोणिते तयोरवबन्ध अप्रवृत्ति। शुक्रशोणितयोर्योनेरस्रावोऽथ क्रमेोद्भव। (भावप्रकाश)। शुक्रावबन्ध—स्त्री के गर्भाशय से जो एक प्रकार का चिपचिपा स्राव होता है, वह स्राव गर्भधारणा होने के कारण बंद हो जाता है। यहां तक कि उसकी अप्रवृत्ति से स्त्री को गर्भाशयमुख में एक प्रकार की खुरकी मालूम होती है। शोणितावबन्ध—मासिक धर्म का बंद होना (Amenorrhoea)। गर्भ का आधान होने पर बीज ग्रन्थिपुट (Corpus luteum) का क्षय नहीं होता, वह धीरे धीरे बढ़ता है। इसलिए आर्तव का स्राव नहीं होता। जिन स्त्रियों में मासिक धर्म नियमपूर्वक होता है, उनसे यह लक्षण विशेष महत्व का है। जिनमें मासिक धर्म पहले ही अनियमित रहता है, तथा जिनमें पाण्डुरोग, हृद्रोग, रक्तक्षय (Chlorosis) इत्यादि मासिक धर्म में गड़बड़ी पैदा करने वाले रोग उपस्थित हैं, उन स्त्रियों में इस लक्षण पर विशेष जोर नहीं दे सकते। स्त्री में मासिक धर्म पहले पहल शुरू होने के पश्चात् कुछ मास के लिए उसका स्राव अनियमित है या बंद रहता है। अविवाहित स्त्रियों में समागम के बाद गर्भस्थिति के डर से कभी कभी मासिक धर्म बंद होता है। कुछ स्त्रियों में रजोनिवृत्ति अल्पायु में होती है। शोणितावबन्ध से गर्भस्थिति का निदान करते समय इन सब गूढ़ बातों पर ध्यान देना चाहिए। गर्भस्थिति हो जाने पर भी क्वचित् शोणितस्राव की प्रवृत्ति (२ अध्याय के २२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) प्रथम तीन मासों में देखी जाती है। इस विषय के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि गर्भस्थिति होने पर प्रारंभिक महीनों में मासिक धर्म हो सकता है, तथापि प्राय: होता नहीं। कभी कभी जो रक्तस्राव होता है वह मासिक धर्म का रक्तस्राव नहीं होता, क्योंकि वह उसके समय पर नहीं होता, तथा उसकी राशि, अवधि और संगठन मासिक स्राव से भिन्न होती है। इसलिए गर्भधारणा के लक्षण मिलने पर भी यदि गर्भाशय से रक्तस्राव होता हो तो उसको मासिक धर्म न समझकर भावी गर्भपात का पूर्वरूप (१० अध्याय का ६वां सूत्र और वक्तव्य देखो) मानना चाहिए और उसी दृष्टि से रोगी की परीक्षा करके गर्भपात टालने की कोशिश करनी चाहिए। स्फुरणं च योने — नेत्र, बाहु इत्यादि में जिस प्रकार की अनैच्छिक गति कभी कभी होती है, उसी प्रकार की गति योनि में भी होती है। इस प्रकार की गति को स्फुरण (Throbbing) कहते हैं—स्फूर्तिभंगे भवेत्। (भावप्रकाश)। जैसे अन्य स्थानों का स्फुरण किसी घटनाविशेष का सूचक होता है—शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य। अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥ (शाकुन्तल), वैसे ही योनि का स्फुरण गर्भाधान रूप घटना का सूचक होता है। कुछ लोग इससे योनिगत स्पन्दन (Vaginal pulsation) समझते हैं, परन्तु यह अर्थ गलत है। इसका कारण यह है कि स्फुरण वातिक (Nervous) है, जो गर्भाधान के पूर्व या उस समय में हो सकता है, परन्तु योनिगत स्पन्दन योनि में रक्ताधिक्य के कारण होता है। यह अवस्था चौथे महीने में होती है और उसी समय यह स्पन्दन योनि में अंगुलि प्रवेश कराने से प्रतीत होता है। स्फुरण स्वप्रत्यय है, स्पन्दन परप्रत्यय है।

इन लक्षणों के सिवा चरक और वाग्भट अपने ग्रंथों में निम्न अधिक लक्षण देते हैं।

हृदयस्पन्दन—दिल में धड़कन (Palpitations)। इसी लक्षण का निर्देश अष्टांगहृदय में 'हृदयव्यथा' करके किया गया है। यह लक्षण प्रारम्भ से अन्त तक हो सकता है, परन्तु इससे डरने का कारण नहीं होता, क्योंकि यह हृदय के वास्तविक विकार से न होकर प्रारम्भ में हृल्लास वमनादि पचनसंस्थान की खराबी के कारण, मध्य में हृदयवृद्धि और उसकी शीघ्रगति के कारण और अन्त में बढ़े हुए गर्भाशय के दबाव के कारण होता है। सगर्भावस्था में गर्भाशय, गर्भ, स्तन इत्यादि अंगों की वृद्धि होती है। इनकी वृद्धि का दबाव पड़ने के कारण, रक्तनिपीड (Blood pressure) बढ़ने के कारण, रक्त की राशि बढ़ने के कारण हृदय को अधिक काम करना पड़ता है, जिससे उसकी गति तेज होती है तथा उसकी आकारवृद्धि भी हो जाती है। जब हृदय अविकृत होता है तब तो वह गर्भावस्था के अधिक काम को मजे में झेल सकता है, परन्तु जब वह पहले ही विकृत, विशेषतया कपाटों की खराबी से (Valvular disease) रहता है तब विकृतिन्यूनाधिकता के अनुसार गर्भावस्था में, प्रसूति के समय में या प्रसूति के पश्चात् जवाब देता है और माता की मृत्यु हो जाती है।

तृप्ति प्रहर्ष —कामवासना की तृप्ति और मन का संतोष—प्राग्गर्भपिशुना रसानभिभाषणा शारीरप्रीतिर्वा। (इन्दु)। गर्भधारणा होने से स्त्रियों की कामवासना स्वभाव से ही कम हो जाती है—

Sudden waning of the sex urge has been sugg

ested as an early sign of pregnancy. *Riddle of Sex.*

अर्थात् जो अपत्यार्थी स्त्री है, उसमें ये लक्षण मिल सकते हैं। जो शरीरसुख चाहती है उसमें न तृप्ति हो सकती है, न मन प्रसन्न हो सकता है, परन्तु कभी कभी मन बिगड़ जाता है और वह चिड़चिड़ी, तेजमिजाज बनती है—निष्ठीविका, हृल्लासः, आस्यसंस्रवणम्, अन्नानभिलाषः, छर्दिः, अरोचकः, अम्लकामिता च विशेषेण। (चरक)। गर्भस्थिति होने पर पचनसंस्थान में उथलपुथल होने से मुँह में पानी भरना, जी मिचलना, भूख नष्ट होना, मिट्टी खट्टे पदार्थ इत्यादि खाने की इच्छा होना ये लक्षण होते हैं। निष्ठीविका, आस्यस्रवण, छर्दि, हृल्लास इनको प्रातरस्वास्थ्य (Morning sickness) कहते हैं। यह अवस्था प्रातःकाल उठने पर मालूम होती है। अरोचक, अम्लकामिता—स्वाभाविक खाद्य द्रव्यों के लिए अरुचि और मिट्टी, भस्म, चूना, खट्टे पदार्थ इन अस्वाभाविक पदार्थों के लिए अभिलाषा। इस लक्षण को दोहद (Pica या Longings कहते हैं। ये सब लक्षण द्वितीय मास में उत्पन्न होते हैं। कभी बहुत जल्दी मिट जाते हैं और कभी दो तीन महीनों तक जारी रहते हैं। इसलिए इन लक्षणों का निर्देश व्यक्तगर्भा के लक्षणों में भी मिलता है। नीचे अँग्रेज ग्रंथकार का जो उद्धरण दिया है, वह उपर्युक्त आयुर्वेद के सूत्र का गोया उल्था मालूम होता है।

There are two sets of symptoms or signs of pregnancy. One is subjective and the other is of more tangible character. To the first category belongs a certain feeling of tiredness, dizziness, heart palpitation nausea and vomitting (morning sickness), a sickening dislike of ordinary foods, and a longing for spices and indigestible ingredients. These symptoms may appear quite early in pregnancy. As a matter of fact, they, may form the first suspicion of having 'been caught.' *Riddle of Sex.*

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा।
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः॥१४॥
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात्।
प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते॥१५॥

(व्यक्तगर्भा स्त्री के लक्षण—) विशेषतया उसके दोनों स्तनों पर कालापन (आ जाता है), (शरीर पर) रोमराजियों का उद्भव (होता है), आंखों के पलकों का बन्द होना ॥ १४ ॥ विना कारण वमन, शुभ गन्धों से उद्वेग, मुख में लालास्राव और थकावट ये गर्भिणी के लक्षण होते हैं ॥ १५ ॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में व्यक्तगर्भा स्त्री के अर्थात् दूसरे महीने के अन्त से होनेवाले (पीछे १३ वें सूत्र के वक्तव्य का प्रारम्भिक भाग देखो) लक्षण वर्णन किये हैं। स्तनयोः कृष्णमुखता—गर्भाधान होने के छठे सप्ताह के बाद स्तनों की ओर अधिक रक्त जाने लगता है। यह रक्ताधिकता सम्पूर्ण गर्भावस्था में तथा प्रसूति के पश्चात् दूध पिलाने के काल में बराबर जारी रहती है—धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः। तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः। स्वभावादेव विवृता जायन्ते॥ (निदान, अध्याय १०)। इस रक्ताधिक्य का परिणाम स्तनगत दुग्धग्रन्थियों और नालियों की वृद्धि में याने पर्याय से स्तनों की पुष्टता में होता है—स्तनौ पीनौ। (अष्टांगहृदय)। तस्माद्गर्भिण्याः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति॥ (शारीर ४।२३)। प्रसूति के पश्चात् इसी रक्ताधिक्य का परिणाम स्तन्योत्पत्ति में होता है (आगे १० वें अध्याय के १३ वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। रक्तवृद्धि और पुष्टता के कारण स्तनों में गुदगुदी के समान कुछ खास संवेदना मालूम होती है, तथा स्तनों पर फूली हुई सिराओं का जाल भी दिखाई देता है। तीसरे महीने के आखिर से स्तनों को दबाने से एक गाढ़ा द्रव निकलने लगता है और यही द्रव उत्तरोत्तर अधिकाधिक होता है। इसको स्तन्य कहते हैं—स्तनौ सस्तन्यौ। (अष्टांगहृदय)। इस गाढ़े द्रव को वास्तव में पीयूष (खीस Colostrum) कहते हैं (आगे १० वें अध्याय के १४ वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। कार्ष्ण्यम्—तीसरे महीने के प्रारम्भ से चूचुक मोटे होते हैं, उनके चारों ओर का मण्डल (Areola) उभर आता है और कुछ काला पड़ जाता है—स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यम्। (चरक)। स्तनमण्डलकृष्णत्वम्। (काश्यपसंहिता)। चूचुक और मण्डल दोनों मिल कर बन्दर के काले मुँह की तरह स्तनों के मुख के समान दिखाई देते हैं, इसलिए लिखा है—स्तनयोः कृष्णमुखता। इसके सिवा मण्डल में जो नन्हीं नन्हीं ग्रन्थियां होती हैं, वे (Montgomery's follicles) भी उभर आती हैं। प्रथम गर्भावस्था में मोटी होने पर ये सदा के लिए वैसी ही रहा करती हैं। चूचुकमण्डल का कालापन गर्भवृद्धि के साथ अधिकाधिक हो जाता है तथा उसमें कुछ चमकीलापन भी आ जाता है—दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्। (रघुवंश ३।८)। पांचवें और छठे महीने में कभी कभी स्तनमण्डल के बाहर भी कुछ कालापन आ जाता है। यह एक सा नहीं होता; कहीं अधिक कहीं कम होने से छत्तेदार (Mottled or honey combed) दिखाई देता है। इस मण्डल को द्वितीयक (Secondory) और चूचुकमण्डल को प्राथमिक (Primary) कहते हैं।

स्तन और गर्भाशय में गाढ़ा सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं। गर्भाशय में गर्भ का आधान होने पर स्तनों में उपर्युक्त परिवर्तन प्रारम्भ होते हैं। ये परिवर्तन कैसे होते हैं, इनके सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान नहीं है। तथापि यह माना जाता है कि गर्भ की अपरा और बीजकोष के अन्तःस्राव से प्रोजेस्टिन (Progestin) और आस्ट्रिन (Oestrin) नामक (आगे ३९ वें सूत्र के वक्तव्य में अपरा के कार्य देखो तथा १० वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) पदार्थ बनते हैं, जो रक्त के द्वारा स्तनों में प्राप्त होकर उपर्युक्त परिवर्तन कराते हैं। अष्टांगसंग्रह के निम्न वचन में तथा चौथे अध्याय के २३ वें सूत्र में (उसका वक्तव्य देखो) यही सम्बन्ध पर्याय से बताया गया है—जरायुशेषं चोर्ध्वमसृक् प्रतिपद्यते। तस्मात् पीनकपोलपयोधरता कृष्णौष्ठचूचुकत्वं च। ये स्तनगत परिवर्तन गर्भावस्था के निश्चयात्मक लक्षण नहीं हैं, क्योंकि बीजकोष के अर्बुद (Ovarian tumour), रक्त-

गुल्म (Uterine fibroids) और मिथ्या गर्भावस्था (Pseudo cyesis) में भी ये मिलते हैं—स्तनमण्डलकृष्णत्व रोमराजि सदोहदा । गर्भिणीरूपमध्यक्तं भजते सर्वमेव तु ॥ विपाकपाण्डु कार्श्यानि भवन्त्यप्यधिकानि तु । इत्येव लक्षणं स्त्रीणां रक्तगुल्मं प्रचक्षते ॥ (काश्यपसंहिता, गुल्मचिकित्सिताध्याय) तथापि इन रोगों में स्तनगत सिराजाल प्राय नहीं होता। इसलिए कुछ चिकित्सक स्तनगत सिराजाल को अन्य परिवर्तनों की अपेक्षा गर्भावस्था का सूचक मानते हैं। रोमराज्युद्गम —स्त्रिया नाभेरधो रोमराजि प्रादुर्भवति । (इन्दु)। गर्भावस्था में बालों की वृद्धि होती है, जिससे गुह्यांग के केश अधिक लम्बे और कुटिल हो जाते हैं—योनिरोम्णां सलुननम् । (अष्टांगसंग्रह)। Changes in the skin are seen during pregnancy Increased growth of hair in several directions *Ten Teacher's Midwifery*

श्रद्धाप्रणयनमुच्चावचेष्विति इत्यादि—इसके सिवाय 'श्रद्धाप्रणयन मुच्चावचेषु भावेषु । ये सब लक्षण दूसरे महीने में शुरू होते हैं और चौथे, पांचवें महीने तक जारी रहते हैं। इसलिए इनका निर्देश यहाँ किया गया है। ये सब लक्षण गर्भ स्थापना के कारण मस्तिष्कसंस्थान में उत्पन्न हुई खलबली के परिणाम हैं। गन्धादुद्विजते शुभात—यह केवल उपलक्षण है (स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वम्)। इस लिए रूप, रस, शब्द, स्पर्श इनके सम्बन्ध में भी वैपरीत्य आ जाता है। इसी लक्षण का सामान्य निर्देश चरक और अष्टांगसंग्रह में श्रद्धाप्रणयनमुच्चावचेषु भावेषु' करके किया गया है। उच्चावचेषु इति उच्चनीचेषु भक्षणीयत्वेन कुत्सेषु चाकृतेषु चेत्यर्थः। (चक्रपाणिदत्त)। तेषु तेष्वनुक्तेष्वपि स्वकल्पितेषु नानाविधेषूच्चावचेष्वनियतेषु भावेष्वाहारविहाराद्युपयोगिष्वभिलाष इति । (इन्दु)। इसका अभिप्राय केवल यही है कि गर्भिणी की इन्द्रियार्थ अभिलाषा में कुछ असाधारण वैपरीत्य आ जाता है—

The above symptoms may be associat with disturbances of sense organs, affecting taste, smell and sight *Riddle of Sex*

इस विषय का कुछ अधिक विवरण आगे २६ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त गर्भस्थिति के और कई लक्षण माता में दिखाई देते हैं। इनका संक्षेप में विवरण यहां दिया जाता है।

गर्भस्पन्दनप्रतीति—इसको फड़काव (Quickening) कहते हैं। इसका अभिप्राय है माता को गर्भ की हलचल का ज्ञान होना। यह लक्षण सर्वप्रथम चौथे महीने के आखिर से पांचवें महीने के मध्य तक होता है। साधारणतया गर्भस्पन्दन की प्रथमप्रतीति का काल १८ वाँ सप्ताह माना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि गर्भ में प्रथमस्पन्दन इस समय होता है। स्पन्दन इससे बहुत पहले शुरू होता है—तस्मात्तत्र (चतुर्थमासात्प्रभृति) प्रभृति गर्भ स्पन्दते। (चरक)। स्पन्दते चलति। (चक्रपाणिदत्त)। तस्माच्चतुर्थे मासि चलनादावभिप्रायं करोति। (मिताक्षरा)। अर्थात् गर्भ में हलचल चौथे महीने से शुरू होती है, परन्तु उस समय गर्भाशय उदरप्राचीर से स्पर्श न करने के कारण तथा गर्भ के स्पन्दन बहुत हलके होने के कारण माता को उसका ज्ञान नहीं होता। पाश्चात्य पण्डितों का भी यही कथन है कि गर्भस्पन्दन की प्रथमप्रतीति से यह न समझना चाहिये कि उसी समय गर्भ में प्रथम स्पन्दन शुरू होता है—

This means the first time that the mother is able to appreciate foetal movements This does not mean first foetal movements *Ten Teacher's Midwifery*

अनुभवहीन प्रथमप्रसवा स्त्री Primipara) गर्भस्पन्दन को ठीक नहीं समझ सकती, परन्तु अनेकप्रसवा स्त्री (Multi para) इसको ठीक समझ सकती है। आन्त्र की गति तथा आन्त्रगत वायु से भी गर्भगति के समान संवेदना हो सकती है, इस बात का ध्यान रखना चाहिए। जब आर्तवदर्शन के काल का ठीक स्मरण नहीं होता अथवा जब आर्तव दर्शन के सिवाय गर्भधारणा होती है, जैसे कि प्राय प्रसूति के बाद हुआ करती है, तब गर्भस्पन्दन प्रतीतिकाल का उपयोग प्रसवकालनिर्णय के लिए किया जाता है। जिस सप्ताह में गर्भस्पन्दन प्रथम प्रतीत हो, उसके बयालीस सप्ताह के बाद प्रसवकाल होता है, यह नियम है।

कार्ष्ण्यम्, कालापन Pigmentation —स्तनों के कालेपन का उल्लेख ऊपर किया गया है। स्तनों के अतिरिक्त शरीर के अन्य अंगों पर भी कुछ कालापन आ जाता है। चेहरे पर, आँखों के नीचे, नासापालि के आसपास और होंठों पर कालापन आ जाता है—ओष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यम् (चरक)। बगल के आसपास भी कुछ कालापन आता है उदर पर भगास्थि से नाभि तक, क्वचित् कौडीप्रदेश तक एक असित रेखा (Linea nigra) बनती है। जघासे में भी कभी कभी कालापन आ जाता है। यह कार्ष्ण्य प्रत्येक स्त्री में एक सा नहीं होता, किसी में कम, किसी में अधिक होता है। उदर और स्तनों का कालापन प्रसूति के पश्चात् भी पूर्णतया नष्ट नहीं होता।

उदरवृद्धि—गर्भाधान होने पर पहिले दो महीने में गर्भाशय श्रोणिगुहा में नीचे चला जाता है, जिससे उदर कुछ सपाट या निम्न हो जाता है। गर्भ की अधिक वृद्धि होने पर गर्भाशय श्रोणिगुहा में रह नहीं सकता, धीरे धीरे ऊपर चढ़ता है, जिससे उदर भी धीरे धीरे ९वें महीने के अन्त तक बढ़ता जाता है। दसवें महीने में फिर कुछ कम हो जाता है।

उदर पर किक्किसाविर्भाव—गर्भाशय के बढ़ने के कारण उदर की त्वचा तनने से उपत्वचा फट जाती है, जिससे उदर पर दरारें भी पैदा होती हैं। इन्हे किक्किस कहते हैं—गर्भोत्पीडिता दोषास्तास्मिन् हृदयमाश्रिता । कण्डूं विदाहं कुर्वन्ति गर्भिण्या किक्किसानि च ॥ (अष्टांगहृदय)। किक्किसं सकर्मविदरणम्। (चक्रपाणिदत्त)। कक्षस्तनोदरे वलित्रिशेषा रेखाकारास्तत्काले प्रायो ये जायन्ते ते किक्किससंज्ञा ॥ (अरुणदत्त)। उदरप्राचीर अत्यधिक तनने के कारण किक्किस उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये आखिर के तीन महीनों में दिखाई देते हैं। गर्भावस्था के सिवाय जलोदर, बीजकोषकोष Ovarian cyst इत्यादि उदरवृद्धिजनक रोगों में भी किक्किस उत्पन्न होते हैं। जैसे कि अरुणदत्त ने कहा है उदर के सिवाय

ऊरु और अतिवृद्धि के कारण स्तनों पर भी किक्किस उत्पन्न होता है। इसको गर्भरेखा (Stria gravidaram या Lineae gravida.um कहते हैं।

The stretching of the skin of the breasts sometimes produces stria like those seen on the abddomen. *Ten Teaher's Midwifery.*

किक्किस नाभि-भगास्थि रेखा के दोनों ओर समानान्तर समकेन्द्र त्रुटित रेखाएँ होती हैं। इनकी संप्राप्ति जैसे कि चक्रपाणिदत्त ने बतलाई है, वैसे ही होती है—

They are produced by the tearing apart of the subepidermal elastic fibres. *Gellet's Midwfery.*

प्रथम गर्भावस्था में जब ये रेखाएँ पहली बार बनती हैं तब गुलाबी या बैंगनी रंग की होती हैं, परन्तु पीछे सफेद हो जाती हैं, और एक बार बनने पर पुनः लुप्त नहीं होतीं। इनके श्वेत वर्ण के कारण यह (Lineaea lbicantes) श्वेत रेखाएँ भी कहलाती हैं। इनकी उपस्थिति भूत गर्भावस्था का एक लक्षण है। नाभि—जलोदर में नाभि में जो परिवर्तन (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३५९ देखो) होते हैं, वे ही परिवर्तन गर्भवृद्धि के कारण नाभि में होते हैं। प्रथम तीन महीने में नाभि गहरी होती है, परन्तु उसके बाद वह धीरे धीरे क्रम से उथली, सपाट और बाहर की ओर निकली हुई होती है। गर्भाशयवृद्धि—गर्भस्थिति का यह एक प्रधान लक्षण है। गर्भ के बिना अन्य किसी भी कारण से गर्भाशय क्रम से नहीं बढ़ता। प्रथम तीन महीने में गर्भाशय बढ़ने पर भी श्रोणिगुहा में छिपा रहता है। चौथे महीने के अन्त में उसका किनारा भगास्थि और नाभि के बीच में आता है। पाँचवे महीने के अन्त में नाभि के नीचे दो अंगुल, छठे महीने के अन्त में नाभि के बराबर, सातवें महीने के अन्त में नाभि से तीन अंगुल ऊपर, आठवें महीने के अन्त में नाभि और उरःफलकाग्रपत्र (Ensiform cartilage) के बीच में, नौवें महीने के अन्त में उरःफलकाग्रपत्र तक और दसवें महीने में गर्भाशय कुछ नीचे उतर आता है और कुक्षि में कुछ शिथिलता आ जाती है—शिथिलकुक्षिता। (अष्टांगसंग्रह)। उस समय गर्भाशय का ऊपर का किनारा आठवें महीने के बराबर होता है (पांचवें अध्याय के ५१ वें श्लोक का वक्तव्य तथा १० वें अध्याय का ५ वां श्लोक और उसका वक्तव्य देखो)। जब मासिक धर्म की तारीख याद नहीं होती, तब इस क्रमवृद्धि का उपयोग गर्भस्थिति का काल तथा प्रसवकाल निश्चित करने के लिए किया जाता है। एलिस मेकेडोनल्ड ने यह नियम बनाया है कि भगास्थि से गर्भाशय के ऊपर के किनारे तक सेन्टीमीटर में जो नाप मिलता है, उसको साढ़े तीन से भाग देने पर जो फल मिलता है, वह गर्भस्थिति का मासिक काल बताता है। जैसे, यदि गर्भाशय भगास्थि से १७.५ सेन्टीमीटर ऊँचा हो तो गर्भधारण के पश्चात् पूरे पांच महीने व्यतीत हुए हैं, ऐसा समझना चाहिए। पादशोफ, सिराकुटिलता—गर्भाशयवृद्धि के कारण श्रोणिगुहा के भीतरी सिराओं के ऊपर दबाव पड़ता है, जिससे रक्तप्रवाह में कुछ बाधा उत्पन्न होती है, सिराओं में रक्त सञ्चित होता है और सिराएँ कुटिल (Vericose) हो जाया करती हैं। यह परिणाम विशेष करके गुदा की सिराओं में होकर अर्श उत्पन्न होता है—गर्भवृद्धिप्रपीडनात्। जायन्तेऽर्शांसि। (अष्टांगसंग्रह)। सगर्भावस्था में मलावरोध प्रायः होता है, इससे अर्शोत्पत्ति में सहायता होती है। इसके सिवाय योनिद्वार और पैरों की सिराएँ भी कभी कुटिल हो जाती हैं। गर्भावस्था में गर्भ, गर्भाशय, स्तन इत्यादि अङ्गों की वृद्धि के लिए माता के शरीर में रक्त की राशि अधिक होती है। परन्तु उस रक्त में लाल कणों की कमी और जल की अधिकता (जलरक्तता Hydraemia) होती है, जिससे पैरों पर कुछ सूजन आ जाती है—श्वयथुः पादयोरीपत्। (चरक)। रक्तकणों की कमी के कारण शरीर पर कुछ पाण्डुता भी आ जाती है—मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना। तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ (रघुवंश ३।२)।

क्षामता—शरीर का कार्श्य (अष्टांगहृदय)। गर्भावस्था के प्रारम्भिक महीनों में वमन, भूख ठीक न लगना, गर्भवृद्धिभार इत्यादि कारणों से माता कुछ कृश हो जाती है। कुछ स्त्रियों में यह कृशता बहुत ही अधिक हो जाती है, परन्तु आगे जाकर यह कृशता दूर हो जाती है और स्त्री पहले से भी अधिक पुष्ट और सुन्दर दिखाई देती है—शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना। तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा। पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा॥ (रघुवंश ३)। यह प्रचीयमानावयवता मुख, ग्रीवा, स्तन, उदर, ऊरु, नितम्ब इत्यादि में चरबी का सञ्चय होने से उत्पन्न होती है।

Whilst a certain emaciation not infrequently occurs in the first months, after the middle of pregnancy the figure becomes fuller, the appearance more blooming the conformation of the body stouter and the gait heavier. *Ideal Birth.*

योनि में परिवर्तन—(१) गर्भस्थिति के कारण गर्भाशय के अनुसार योनि में भी रक्तसञ्चार अधिक हो जाता है तथा गर्भाशय के भार के कारण उसके रक्तसञ्चार में कुछ बाधा भी उत्पन्न होती है। गर्भाशयभार और अधिक रक्तसञ्चार के कारण योनि की भीतरी त्वचा बैंगनी रंग की हो जाती है। यह रंगपरिवर्तन तीसरे महीने से शुरू होकर पांचवें महीने तक अधिक से अधिक होता है और प्रसवकाल तक रहता है। रक्तगुल्म (Fribroids) बीजकोपग्रंथि इत्यादि विकारों में यद्यपि योनि में रंगपरिवर्तन होता है तथापि गर्भस्थिति में सबसे अधिक होता है। इसलिए योनि का रंगपरिवर्तन गर्भस्थितिसमर्थक लक्षण माना जाता है। (२) गर्भस्थिति के कारण योनि शिथिल, ढीली, चौड़ी भी होती है—योन्याश्चाटालत्वमिति। (चरक)। चाटालत्वं विवृतत्वम्। (चक्रपाणिदत्त)।

The tissues of the vagina become relaxed, loose and hanging in folds. *Ten Teacher's Midwifery.*

इस विवृति का उपयोग आगे जाकर प्रसूति के लिए होता है। (३) रक्तसञ्चार अधिक होने के कारण योनि में अंगुलियों को प्रविष्ट करने पर स्पन्दन (Vaginal pulsation)

प्रतीत होता है। आयुर्वेद के 'स्पर्शं न वेत्ति' (चरक) इस लक्षण का यह अर्थ नहीं है। (४) सगर्भावस्था में योनि से स्राव अधिक बहता है। यह स्राव योनि की दीवाल और गर्भाशयग्रीवा से आता है। यह श्वेतवर्ण, चिपचिपा, कुछ गाढ़ा और प्रतिक्रिया में अम्ल होता है। इस अम्ल प्रतिक्रिया के कारण अपत्यमार्ग में विकारी जीवाणु नहीं रह सकते। (५) हेगर का चिह्न (Hegar's Sign)—यह चिह्न गर्भस्थिति के छठे सप्ताह से दसवें सप्ताह तक मिलता है, और इस तत्त्व पर निर्भर होता है कि गर्भ इस समय में गर्भाशय के ऊपर के हिस्से में रहता है, गर्भाशयशरीर का निचला हिस्सा अत्यन्त मृदु होता है और ग्रीवा कुछ कड़ी होती है। संक्षेप में तीनों अंग स्पर्श में भिन्न घनता के मालूम होते हैं। इस चिह्न को अनुभव करने के लिए एक हाथ की दो अंगुलियाँ योनि के भीतर गर्भाशयग्रीवा के ऊपर रखनी चाहिएँ, और ऊपर से दूसरे हाथ की अँगुलियों द्वारा गर्भाशय और उसका निचला हिस्सा टटोलना चाहिए। इससे ऊपर का हिस्सा गोल और स्थितिस्थापक, नीचे का हिस्सा, जहाँ दोनों हाथों की अंगुलियाँ बिलकुल मिली हुई सी प्रतीत होतीं हैं, अत्यन्त मृदु; और ग्रीवा का भाग कुछ कठिन मालूम होगा। इन तीन बातों पर हेगर का चिह्न निर्भर होता है, केवल मध्यभाग की अतिमृदुता पर नहीं। गर्भावस्था के प्रारम्भिक काल में उसका निश्चय करने के लिए हेगर का चिह्न एक महत्त्व का साधन है। अब तक वर्णन किये हुए लक्षण गर्भ के कारण माता के शरीर में उत्पन्न हुए परिवर्तनों पर निर्भर होते हैं। ये परिवर्तन अन्य कारणों से हो सकते हैं। इसलिए उपर्युक्त लक्षण गर्भावस्था के सिवाय अन्य अवस्था में भी मिलते हैं। जैसे, पाण्डुरोग राजयक्ष्मा में अनार्तव, अग्निमांद्य में अरोचक, छर्दि इत्यादि; जलोदर में उदरवृद्धि, पादशोथ, अर्श इत्यादि; रक्तगुल्म में गर्भाशयवृद्धि। कुछ लक्षण गर्भ के अस्तित्व की सिद्धि पर निर्भर होते हैं। इनका विचार आगे ३१ वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है।

तदा प्रभृति व्यवायं व्यायाममतितर्पणमतिकर्शनं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं भयमुत्कटुकासनं चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणं च न सेवेत ॥ १६ ॥

(गर्भिणीस्वस्थवृत्त) तब से (गर्भिणी स्त्री) मैथुन, व्यायाम, अतितर्पण, अतिकर्शन, दिन में सोना, रात को जागना, शोक, यानों पर सवारी करना, भीति, उकडू बैठना इनको कदापि भी और स्नेहादि क्रिया, रक्तमोक्षण और वेगविधारण इनको अकाल में सेवन न करे ॥ १६ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भिणी का स्वस्थवृत्त Hygiene of pregnancy संक्षेप में वर्णन किया है। तदा प्रभृति—जब उपर्युक्त 'श्रमो ग्लानि' इत्यादि लक्षणों से स्त्री की सगर्भावस्था का निश्चय हो जाय, तब से। व्यवाय—आयुर्वेद और धर्मशास्त्र का यह एक साधारण नियम है कि आर्तवदर्शन के पश्चात् ऋतुकाल में स्त्रीसमागम करना चाहिए—ऋतुकालाभिगामी स्यात्। (मनु)। अर्थात् यदि किसी कारण से आर्तवदर्शन न हो तो स्त्रीसमागम न करना चाहिए, यह उपर्युक्त नियम से अनुमान होता है। स्त्री में गौण अनार्तव (Secondary amenorrhoea) व्याधि या सगर्भावस्था के कारण होता है। व्याधितावस्था में समागम करने से उसकी व्याधि बढ़ती है, दुर्बलता बढ़ती है, और उसी में यदि गर्भधारणा हो जाय तो माता की व्याधि से गर्भ का नाश और गर्भ के कारण माता की व्याधि की वृद्धि इस तरह दोनों का नाश होता है। यदि स्वस्थ स्त्री गर्भिणी होने पर उससे समागम किया जाय तो गर्भ को हानि पहुँचने की बहुत कुछ सम्भावना होती है, जिससे गर्भपात, मूढगर्भता (Malpresentation of the foetus मूढगर्भनिदान में मैथुन एक कारण है, प्रथमखण्ड पृष्ठ ४६० देखो) इत्यादि आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, और इनके कारण माता का स्वास्थ्य गिर जाता है। इसलिए गर्भिणी और व्याधित स्त्री व्यवाय के लिए निषिद्ध मानी गई है—यथा व्याधिप्रपीडिताम्। गर्भिणीं नोपेयात् प्रमदां नरः। गर्भिण्यां गर्भपीडा स्यात् व्याधितायां बलक्षयः। (सुश्रुत)। आम तौर से गर्भवती स्त्री को भी मैथुन की इच्छा नहीं होती, इस बात का उल्लेख पीछे १३ वें सूत्र के वक्तव्य में 'तृप्ति' लक्षण के विवरण में किया गया है। इसलिए गर्भिणी स्त्री के साथ समागम कदापि न करना चाहिए—

If the menses do not appear, it is a sign that conception has taken place and the expectant mother must then be secluded from all approach through the whole period of pregnancy and nursing. Every time a husband excites in his wife the sexual passion, he robs his child of some portion of its vitality, and her of some of the strength she needs. *Esoteric Anthropology by Dr Nicholas.*

परन्तु साल डेढ़ साल के लिए ब्रह्मचर्यपालन पुरुष के लिए कठिन होता है और क्वचित् स्त्री को भी अभ्यास से मैथुनेच्छा होती है। इसलिए यदि स्त्री को पीड़ा न हो तो उसकी इच्छा होने पर कभी कभी सावधानी से ७ वें ८ वें मास तक मैथुन कर लिया जाय, ऐसी पाश्चात्य शास्त्रज्ञों की राय है—

There is no harm in sexual relations during gestation, provided the special condition of the female partner is respected. Violence and over indulgence is a menace to mother and foetus. In some under-developed individuals abortion may follow intercourse in early pregnancy. *Riddle of Sex.*

वाग्भटाचार्य सुश्रुत के अनुसार एकान्ततः व्यवायनिषेध न करके 'अतिव्यवायं त्यजेत्' (अष्टांगहृदय) ऐसा मध्यम पक्ष बताते हैं, और स्मृति में छः महीनों तक व्यवाय करने से धर्महानि नहीं होती, ऐसा स्पष्ट लिखा है—षण्मासान् कामयेन्मर्त्यो गुर्विणीमेव वै स्त्रियम्। आस्तनजननाद्‌ध्वमेवं धर्मो न हीयते ॥ (अत्रिस्मृति)। गर्भवती स्त्री के साथ एकान्ततः व्यवायनिषेध न करने के लिए पाश्चात्य शास्त्रज्ञ और

१ प्रमुत्येव २ यानावरोहण

एक युक्ति बताते हैं। वह यह है कि योनि में गिरा हुआ पुरुष का शुक्र वहां से हमेशा शोषित होता है और रक्त में मिलकर स्त्री के शरीर को पुष्ट करने में सहायता करता है। गर्भवती अवस्था में यह शोषण और भी अधिक होता है और स्त्री के तथा गर्भ के पोषण में सहायता करता है—

If a woman is pregnant a stronger absorption of the substances introduced into the vagina takes place. Since the sperminum, a chemical compound contained in the semen, has a favourable invigorating effect on the organism, the influence of the absorption of semen may be favourable to both mother and child. And this influence must, as a rule, be recognised as desirable. *Ideal Birth.*

इस विवरण का तात्पर्य यह है कि यदि स्त्री का स्वास्थ्य ठीक न हो, उसकी इच्छा न हो, मैथुनकर्म में उसे शारीरिक पीड़ा होती हो तो मैथुन एकान्ततः वर्ज्य करना चाहिए। इसकी विपरीत अवस्था में सावधानी से कभी कभी मैथुन करने में आपत्ति नहीं है। अतिमैथुन और अन्तिम दो महीनों में मैथुन सर्वदा वर्ज्य करना चाहिए। व्यायाम— व्यायाम से यहां दौड़ना, नाचना, कूदना, फांदना, जिनमें शारीरिक हलचल अकस्मात् करनी पड़े ऐसे कर्म, जिनमें थकावट हो, हांफनी हो, दिल में धड़कन हो, गर्भ में फड़काव उत्पन्न हो, अधिक देर तक खड़े रहने की आवश्यकता हो, ऐसे दारुण अनुचित शारीरिक कर्म अभिप्रेत हैं—गात्रा-नुचितव्यायामसंक्रियाः। (चरक)। श्रम व्यायामश्चेष्टाः। (अष्टांगसंग्रह)। मामूली घर के काम-काज करना, चलना फिरना, खुली स्वच्छ हवा में टहलना इस प्रकार के हल्के शारीरिक परिश्रम स्वास्थ्य के लिए फायदेमन्द होते हैं। इनसे शरीर में स्फूर्ति होती है, पेशियां कार्यक्षम होकर प्रसूति में कष्ट नहीं होता। गर्भिणी स्त्री को आलसी होकर रहना ठीक नहीं है। अतितर्पणापतर्पणम्— इसका अभिप्राय यह है कि गर्भिणी स्त्री अतिमात्रा में तथा अल्पमात्रा में आहार सेवन न करे। अपने और गर्भ के पोषण के लिए आवश्यक जितना आहार चाहिए, उतना ही सेवन करे— भोजनं हीनमात्रं तु न बलोपचयौजसे। अतिमात्रं पुनः सर्वानाशु दोषान् प्रकोपयेत ॥ (अष्टांगहृदय)। गर्भिणी का आहार-संबंधी विशेष विवरण दसवें अध्याय के दूसरे तीसरे सूत्र तथा उसके वक्तव्य में किया गया है। शोकं भयम्— इससे शोक, क्रोध, असूया, ईर्ष्या, भय, उद्वेग, त्रास, चित्तसंक्षोभ इत्यादि मानसिक विकार अभिप्रेत हैं। इसका मतलब यह है कि गर्भिणी स्त्री ऐसे कर्म न करे, ऐसी बातें न सुने न करे, ऐसे दृश्य न देखे कि जिससे उसके चित्त में उपर्युक्त विकार उत्पन्न हो जायें—दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः, क्रोधभयसंकरांश्च भावान् परिहरेत्। (सुश्रुत, शा० १०)। इन मानसिक विकारों का गर्भ के ऊपर प्रत्यक्ष क्या परिणाम होता है, इसका निश्चित उत्तर देना आज भी कठिन है। परन्तु आयुर्वेद के अनुसार पाश्चात्य पण्डितों का भी कथन है कि सगर्भावस्था में स्त्री का मन और मस्तिष्क अनवस्थित होता है, जिससे क्रोध शोकादि अवस्थाओं का बुरा असर उसके शरीर पर जल्दी होकर गर्भ के ऊपर भी होता है; इसलिए इन मानसिक विकारों से गर्भवती स्त्री दूर रहे—

A pregnant woman should be shielded as far as possible from all worry and excitement. *Ten Teacher's Midwifery.* A pregnant woman should never be told tales of horror, and the tales of difficult labour are specially to be avoided. The connection between shock and fear, sudden change in the adrenalin content of the blood is known to us, we farther know that a constant exchange of matter between the maternal blood and that of the child takes place. And, therefore we can very well imagine that in this way the child feels the reaction of what occurs in the mother. *Ideal Birth*

यानसंक्षोभणम्—जिस यान या वाहन से संक्षोभ (Jolting) उत्पन्न होता है, उस यान या वाहन पर चढ़ना—अतिमात्र-क्षोभकयानयानम्। (अष्टांगसंग्रह)। अतिमात्रक्षोभिययानैः यानैः। (चरक) जैसे, घोड़ा, बैलगाड़ी स्वयं संक्षोभी होते हैं, इसलिए इन पर न बैठना चाहिए, चाहे रास्ता ठीक हो या खराब हो। साईकल, मोटर स्वयं संक्षोभी नहीं हैं और उत्तम पक्की सड़क पर कुछ भी संक्षोभ पैदा नहीं होता, इसलिए इन पर सवारी करने में हरजा नहीं है। परन्तु जब खराब सड़क होती है तब उन पर घोड़े या बैलगाड़ी से भी अधिक क्षोभ उत्पन्न होता है; इसलिए खराब सड़क पर इन पर सवारी नहीं करनी चाहिए। मनुष्यवाहित पालकी या म्याने पर सवारी करने में कभी भी आपत्ति नहीं होती। आखिरी दिनों में यानावरोहण न करना ही प्रशस्त होता है। उत्कटुकासनम्—अवसक्थिकसमायोगः प्राकृत्कटकासनम्। पैर और सक्थि के बल बैठना (अवसक्थिकासन) या उकडू बैठना (Squatting)। इस तरह बैठने से भगपीठ (मूलाधारपीठ, Perineum) पर तनाव पड़ता है, जिससे भगद्वार विवृत होता है। इसके साथ साथ उदरप्राचीर पर भी दबाव पड़ता है, जिससे गर्भ के ऊपर दबाव आ जाता है। इससे गर्भपात होने की संभावना होती है। उत्कटुकासन के साथ विषमासन और कठिनासन भी वर्ज्य करने चाहिएं। उत्कटुक-विषमकठिनासनम्। (अष्टांगसंग्रह)। उत्कटविषमस्थानकठि-नासनसेविन्याः। (चरक)। एकान्ततः—कदापि भी, सदैव। इसका सम्बन्ध व्यवाय से लेकर उत्कटकासन तक प्रत्येक के साथ है। अर्थात् व्यवायादि विषय गर्भिणी के लिए एकान्ताहितकर होते हैं, इसलिए इनका सेवन कदापि न करना चाहिए। अकाले— इसका सम्बन्ध स्नेहादि क्रिया और शोणितमोक्षण के साथ जरूर है तथा वेगावधारण के साथ भी हो सकता है। कैसे? इसका उत्तर नीचे वेगविधारण में देखो। स्नेहादिकार्य गर्भिणी के लिए निषिद्ध हैं, परन्तु एकान्ततः निषिद्ध नहीं हैं, क्योंकि ये अधिकतर चिकित्सा करने के उपाय हैं, और जब गर्भिणी ऐसे रोगों से पीड़ित हो कि जिनमें इनके सिवाय चिकित्सा में सफलता नहीं मिल सकती, तब मृदुता से और सावधानता से स्नेहादि क्रियाओं का उपयोग करना पड़ता है। इसलिए

अकाले का अभिप्राय 'अनात्ययिके काले' ,'अविषोपसर्गे काले, जैसे, स्वेदनिषेध में—गर्भिणीं पुष्पिनीं सूतां (न स्वेदयेत्) मृदु चाऽऽत्ययिके गदे। (अष्टांगहृदय)। वमननिषेध में—अवम्या गर्भिणी। ऋते विषगराजीर्णविरुद्धाऽभ्यवहारतः। (अष्टांगहृदय)। विस्रावणनिषेध में—प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गे आत्ययिके च सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम्। (सुश्रुत)। इत्यादि। स्नेहादिक्रिया शोणितमोक्षणं च—स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन, धूमपान और रक्तमोक्षण। स्नेहादि क्रियानिषेध के सम्बन्ध में चरक में विशेष विवरण दिया है—व्याधींश्चास्या मृदुमधुरशिशिरसुखसुकुमारप्रायैरौषधाहारोपचारैरुपचरेत्। न चास्या वमनविरेचनशिरोविरेचनानि प्रयोजयेत्। न रक्तमवसेचयेत्। सर्वकालं च नास्थापनमनुवासनं वा कुर्यादन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेः। अष्टम मासमुपादाय वमनादिसाध्येषु पुनर्विकारेष्वात्ययिकेषु मृदुभिर्वमनादिभिस्तदर्थकारिभिर्वोपचारः स्यात्। पूर्णमिव तैलपात्रमसङ्क्षोभयताऽन्तर्वत्नी भवत्युपचर्या। (शारीर ८)। आत्ययिक व्याधि के लिए संवत्सर में तीक्ष्ण क्रियाओं का उपयोग करके स्त्री का रक्षण करने के लिए लिखा है—स्त्यनात्ययिके व्याधौ, विधिरात्ययिके पुनः। तीक्ष्णैरपि क्रियायोगैः स्त्रिय यत्नेन पालयेत्॥ (अष्टांगसंग्रह)। वेगविधारण—मलमूत्रादि के आवेगों को रोकना। इनके वेगों को कदापि न रोकना चाहिए, अन्यथा विविध रोग उत्पन्न होते हैं—अधश्चोर्ध्वं च भावाना प्रवृत्तानां स्वभावतः। न वेगान् धारयेत् प्राज्ञो वातादीनां जिघांसुः॥ (सुश्रुत)। यद्यपि आयुर्वेद में इस प्रकार का नियम है, तथापि आयुर्वेद मनुष्यसम्बन्धी शास्त्र होने के कारण, मनुष्य सामाजिक और धार्मिक प्राणी (धर्मो हि तेषामधिको विशेषः) (A Social and religious animal) है, जो अन्य प्राणियों के समान मलमूत्र का आवेग आते ही उनका उत्सर्ग नहीं कर सकता, इस बात का भी ख्याल रखता है। इसलिए जहाँ वेगविधारण का निषेध होता है, वहाँ ही अमुक सामाजिक और धार्मिक कर्म के काल में वेगोत्सर्ग का निषेध मिलता है—न वेगितोऽन्यकार्यं स्यात्; न वाय्वग्निसलिलसोमार्कद्विजगुरुप्रतिमुखं निष्ठीविकावातवर्चोमूत्राण्युत्सृजेत्, न पन्थानमवमूत्रयेन्न जनवति नान्नकाले, न जपहोमाध्ययनबलिमङ्गलक्रियासु श्लेष्मसिङ्घाणकं मुञ्चेत्। (चरक)। अर्थात् अकाले वेगविधारण का अभिप्राय यह है कि इन कर्मों के समय के अतिरिक्त समय में वेगविधारण न करना चाहिए। इन कर्मों के समय भी यदि किसी काम का वेग उत्पन्न हो जाय तो स्त्री तुरन्त निकलकर उसका उत्सर्ग कर ले। इस सूत्र में गर्भिणी के स्वस्थवृत्त का निषेधात्मक वर्णन किया है, विध्यर्थक वर्णन निम्न प्रकार से कर सकते हैं। गर्भधारणा का निश्चय होने पर स्त्री ब्रह्मचर्य से रहे; जिससे शरीर को अधिक आयास न हो, ऐसे हल्के काम करे; उचित मात्रा में हल्का पौष्टिक आहार सेवन करे; केवल रात को काफी निद्रा सेवन करे; मन शान्त, प्रसन्न और सन्तुष्ट रखे; सवारी करना हो तो मृदुयान पर अच्छी सड़क पर करे; रोग उत्पन्न होने पर यदि आवश्यक हो तो वमनविरेचनादि कर्म के लिए मृदु सुकुमार औषधियों का सेवन करे और जहाँ तक हो सके मलमूत्रादि का वेग आने पर वही कार्य प्रथम करे। गर्भिणी के स्वस्थवृत्त का पूर्ण अधिक विवरण १० वें अध्याय के २-३ सूत्र में और उसके वक्तव्य में किया गया है।

दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते।
स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते ॥१७॥

दोषरूप अभिघातों के कारण गर्भिणी स्त्री का जो जो भाग (अंग) पीड़ित होता है, उस गर्भस्थ बालक का वही वही भाग पीड़ित हो जाया करता है ॥ १७ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में पूर्वोक्त व्यवायव्यायामादि सेवन न करने का हेतु वर्णन किया है। दोषाभिघातैः—व्यायाम व्यवायादि पूर्वोक्त निषिद्ध आहार-विहार रूप दोषों के अभिघातों से। जैसे—व्यवायशीला दुर्बलमह्रीकं स्त्रैणं वा, शोकनित्या भीतमपचितमल्पायुषं वा, अभिध्यात्री परोपतापिनमीर्ष्युं स्त्रैणं वा, इत्यादि। (चरक)। किंवा, निषिद्ध आहार-विहार के कारण प्रकुपित वातादि दोषों के अभिघातों से—मातुरपथ्याहारविहारदोषैः। कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि॥ (चरक)। किंवा, आहार-विहार दोष और पतन प्रहारादि अभिघात याने निज और आगन्तु कारणों से। यो यो भाग: प्रपीड्यते इत्यादि—माता के जिस अंग में विकार होता है, गर्भस्थ शिशु के उसी अंग में विकार होता है। इस मत का समर्थन करना यद्यपि बहुत कठिन है, तथापि माता के शारीरिक और मानसिक दोषों का बुरा असर गर्भस्थ शिशु पर होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है—माता च गर्भे प्रधानं कारणं, येन आसेकात् प्रभृति प्रसवपर्यन्तं मातुरेव गुणदोषाननुविदधाति गर्भः। (चक्रपाणिदत्त)।

All the mother takes of food and drink, medicines and poisons from such things as tobacco and alcohol, exercises an influence on the child's body. then does it not seem, following a law of logic, that likewise the psychical fare exercises an influence on the mind of the unborn child To be sure, we can not prove this, but there are many things between heaven and earth which we can not prove—are they therefore less true?
Ideal Birth

इसलिए पथ्यकर आहार-विहार का सेवन करके स्त्री अपना और गर्भस्थ शिशु का स्वास्थ्य बनाये रखने की कोशिश करे—तस्मादहिताहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्। साध्वाचारा चात्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्यामिति। (चरक)। प्रथमखण्ड पृष्ठ १५१ भी देखो।

तत्र प्रथमे मासि कललं जायते ॥ १८ ॥

(प्रथम मास में गर्भ का स्वरूप—) प्रथम मास में (गर्भ) कलल बनता है ॥ १८ ॥

वक्तव्य—शुक्रशोणित का संयोग होने के पश्चात् सर्वांगसंपूर्ण बालक बनने के समय तक मासानुसार उत्तरोत्तर गर्भ में क्या क्या परिवर्तन होते हैं, उनका वर्णन यहाँ से हो रहा है। इस सूत्र में पहले महीने के गर्भ का स्वरूप वर्णन किया है। अन्य ग्रन्थों में प्रथम मास के गर्भ का स्वरूप—एवं युक्तस्य गर्भसमाप्तः प्रथमे मासे सम्मूर्च्छितः सर्वधातुकलुषीकृतः (कलली) [illegible] खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः। (चरक)। [illegible] प्रथमे [illegible]

लली भवेत्। (अष्टांगहृदय)। प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुमूर्च्छितः। (याज्ञवल्क्यस्मृति)। ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कलं भवति, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति, अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति, मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति। (गर्भोपनिषद्)।

गर्भाधान के न्यूनाधिक काल के पश्चात् शस्त्रक्रिया के कारण या गर्भविच्युति के कारण प्राप्त हुए अनेक गर्भों का बाह्य और आभ्यन्तर निरीक्षण करके मासानुमासिक गर्भवृद्धिक्रम आश्रय शास्त्रज्ञों ने निश्चित किया है। भारतीय महर्षियों ने प्रायः इसी प्रकार से और दिव्यदृष्टि से इस विषय का ज्ञान प्राप्त किया होगा। पाश्चात्य देशों में आज जो सब से अल्पकालीन गर्भ निरीक्षण के लिए मिलते हैं, वे ब्राइस और टीचर Bryce-Teacher's ovum, पीटर (Peter, ग्राफ फॉन स्पी Graf Von Spee इत्यादि के हैं। इनका काल पन्द्रह से बीस दिनों का माना जाता है। अर्थात् इसके पूर्वकालिक गर्भवृद्धि का जो वर्णन पाश्चात्य ग्रंथों में मिलता है, वह काल्पनिक होता है। काल्पनिक का अर्थ मनमानी कल्पना के अनुसार बनाया हुआ ऐसा नहीं है, परन्तु अन्य प्राणियों में गर्भ की इसी स्थिति को प्रत्यक्ष करके आधार पर उपकल्पित (Hypothetical) ऐसा है। संक्षेप में मनुष्य में शुक्रशोणितसंयोग तथा संयोग के पश्चात् पन्द्रह बीस रोज तक गर्भ में जो कुछ भी परिवर्तन होते हैं, वे अब तक दृष्टिगम्य नहीं हुए हैं।

स्त्रीबीज में शुक्राणु (जीवात्मा) का प्रवेश होने के समय से उसमें विशेष परिवर्तन प्रारम्भ होकर उसका अन्तिम परिणाम बालकोत्पत्ति में होता है—बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्)। शुक्र और स्त्रीबीज का संयोग बीजवाहिनी में प्रायः होता है। स्त्रीबीज आकार में सूक्ष्म (१/५ मिलिमीटर के लगभग) गोल और एक कोशा सेल) का होता है। शुक्राणु से संयुक्त होने पर उसमें विभजन प्रारम्भ होता है। विभजन के द्वारा मूल एक कोशा से दो कोशाएँ बन जाती हैं। फिर दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह, सोलह से बत्तीस इस तरह सेल संख्यावृद्धि का सिलसिला जारी होता है, जिससे एक छोटा सा गोल ठोस कोशासमूह बन जाता है। इसमें बाहरी कोशाएँ आकार में छोटी और भीतरी बड़ी होती हैं। इस कोशासमूह को कलल या कलन Motula कहते हैं। कलल के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि प्रारम्भिक एक कोशा के स्थान में इसमें अनेक कोशाएँ होती हैं, तथापि इसका परिमाण प्रारम्भिक एक कोशा से मोटा नहीं होता, कुछ छोटा ही हो सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि कलल वास्तविक वृद्धि की अवस्था नहीं है। वृद्धि पूर्व अवस्था है, जिसमें जीव की वृद्धि के लिए उचित कोशाएं बनाई जाती हैं। कलल ठीक बनने पर उसमें एक खोखला स्थान बनना शुरू होता है, और धीरे धीरे इस स्थान में तरल इकट्ठा होकर इसके दबाव से बाहरी कोशाएँ भीतरी कोशाओं से अलग हो जाती हैं। इस अवस्था को बुद्बुद (Blastula) कहते हैं। तरल अधिक इकट्ठा होने से बुद्बुद का परिमाण वास्तव में बढ़ने लगता है। इसकी बाहरी कोशाएँ अधिकांश स्थान में इकहरी या दोहरी होती हैं, परन्तु एक स्थान में बाकी सब कोशाएँ इकट्ठा रहती हैं। ये अन्तःसेलसमूह (Inner cell mass) कहलाती हैं। बाहरी कोशाएँ गर्भपोषण के काम में आती हैं, इसलिए पोषक (Trophoblast) कहलाती हैं; और भीतरी कोशाएँ गर्भवृद्धि के काम में आती हैं। इस तरह एक तरफ कलल बनने का काम जारी रहता है और दूसरी तरफ जीव गर्भाशय की ओर मार्ग तय करता है। शास्त्रज्ञों की राय है कि गर्भाशय तक मार्ग तय करने के लिए साधारणतया एक सप्ताह लगता है और इस सप्ताह की अवधि में कलल पूर्णतया बन जाता है—सप्ताहात् कलली भवेत्। इस प्रवास में जीव का पोषण बीजवाहिनीगत स्राव से होता है। कलल की बाहरी कोशाओं में पाचन और प्रचूषण की शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे यह कार्य होता है। गर्भाशय के भीतर पहुँचने पर ये बाह्य कोशाएं अन्तःस्तर के पृष्ठभाग में अपनी पाचकशक्ति के द्वारा एक छेद बनाती हैं, जिसमें से होकर गर्भ अन्तःस्तर की मोटाई के बीच में सुचित रहता है। जिस छेद में से गर्भ अन्दर जाता है, वह छेद पीछे बन्द हो जाता है। इसके बाद गर्भ का पोषण अच्छी तरह से होने के कारण उसकी वृद्धि तेजी से होती है। पोषण का विचार आगे ४०वें सूत्र में किया गया है।

इस तरह गर्भाशय के भीतर तेजी से वृद्धि प्रारम्भ होने पर चतुर्थ सप्ताह के अन्त में गर्भ की लम्बाई लगभग १/४ इञ्च होती है। उसका एक सिरा मोटा होता है जहाँ सिर बनता है, दूसरा पुच्छ के समान नोकीला होता है। गर्भ गोलाई में इस तरह मुड़ा रहता है कि दोनों सिरे आपस में मिल जाते हैं। मोटे सिरे में मस्तिष्क, आँखें, कान, नाक इनका सूत्रपात होता है; मुख के स्थान पर दरार दिखाई देती है। मध्यभाग में हृदय और यकृतादि अंगों का सूत्रपात होता है। शाखाओं के स्थान में छोटे छोटे उभार दीख पड़ते हैं। यह गर्भ देखने में मानवी नहीं होता है। इसलिए लिखा है—अव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः। (चरक)। विद्यमानाविद्यमानाङ्गप्रत्यङ्ग इत्यर्थः। अङ्गानां च बीजरूपतया स्थितत्वेन सत्त्वम्, अव्यक्तभावाच्चासत्त्वम्। (चक्रपाणिदत्त)।

द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां सघातो घनः संजायते; यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति ॥ १९ ॥

(द्वितीय मास में गर्भ का स्वरूप—) दूसरे में शीत (कफ), ऊष्मा (पित्त) और वायु से परिपक्व महाभूतों का संघात (गर्भ) घन हो जाता है। यदि (यह गर्भ आकार में) पिण्ड हो तो पुरुष, पेशी हो तो स्त्री, अर्बुद हो तो नपुंसक ॥ १९ ॥

वक्तव्य—दूसरे महीने के अन्त में गर्भ की लम्बाई डेढ़ इञ्च के लगभग होती है। उसका सामान्य स्वरूप मनुष्य के समान दीख पड़ता है। नासिका, कान, और पलक ठीक बनते हैं। शाखाएं लम्बी होती हैं और अँगुलियों का बनना शुरू होता है। नीचे का सिरा, जो पुच्छ के समान दिखाई देता था, प्रायः नष्ट हो जाता है। गर्भ के शरीर की वक्रता कुछ कम हो जाती है, जिससे शिर ऊँचा होता है। आन्त्र का भाग जो नाल में गया था, अब उदर में आता है। नाल में ऐंठन पड़ने लगती है। कुछ तरुणास्थियों में अस्थिभवन का कार्य शुरू होता है। छठे सप्ताह तक गर्भ का स्वरूप स्त्रीत्व या पुरुषत्व से विरहित याने

अव्यक्त होता है (दूसरे अध्याय के ३३वें सूत्र का वक्तव्य देखो), परन्तु उसके बाद जननेन्द्रिय के स्थान में स्त्री या पुरुष के लिए उचित परिवर्तन शुरू होते हैं। आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों में दूसरे महीने के गर्भवृद्धिक्रम में इस विषय का केवल निर्देश मिलता है।

तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति ॥ २० ॥

(तीसरे महीने में गर्भ का स्वरूप—) तीसरे में दो हाथ, दो पैर और सिर, इनकी पांच पिंडकाएँ निकल आती हैं और अंग-प्रत्यंग विभाग सूक्ष्म होता है ॥ २० ॥

वक्तव्य—तीसरे महीने के गर्भ का तन्त्रान्तर में स्वरूप—तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिवर्तन्ते। (चरक)। तृतीये पञ्चधा प्ररोहन्ति, तद्यथा सक्थिनी बाहू शिरश्च। सक्थ्यादिप्ररोहैककालमेव च सर्वमङ्गावयवेन्द्रियाणि युगपत्सम्भवन्ति, अन्यत्र जन्मोत्तरकालजेभ्यो दन्तादिभ्यः। क्रमेण तु स्फुटीभवन्ति। (अष्टांगसंग्रह)। व्यक्तीभवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम्। मूर्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्माङ्गजन्म च। सममेव च मूर्धादेर्ज्ञानं च सुखदुःखयोः। (अष्टांगहृदय)। अंग-प्रत्यंगविभाग—शाखाश्चतस्रो मूर्धोरःपृष्ठोदराण्यङ्गानि, चिबुकनासौष्ठश्रवणाङ्गुलिपार्ष्णिप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि। (डल्हण)। सूक्ष्मो भवति—ये सब अङ्ग-प्रत्यंग सूक्ष्म रूप में उत्पन्न होते हैं।

तीसरे महीने के अन्त में गर्भ की लम्बाई ३ इञ्च के लगभग होती है। धड़ से सिर ग्रीवा द्वारा विभक्त होता है। हाथ पैरों की अंगुलियों पर सूक्ष्म रूप में नख उत्पन्न होते हैं तथा अंगुलियां अलग अलग दिखाई देती हैं। शरीर की अनेक अस्थियों में अस्थिविकास केन्द्र उत्पन्न होते हैं। बाह्य जननेन्द्रियां स्पष्ट होती हैं, जिससे पुत्र या कन्या के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता। संक्षेप में गर्भ के अंग-प्रत्यङ्गों की वृद्धि यहां तक सूक्ष्म होती है कि वह मानवी गर्भ है इसकी पहचान सहज ही में हो सकती है।

चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्? तत्स्थानत्वात्, तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते ॥ २१ ॥

(चतुर्थमास में गर्भ का स्वरूप तथा माता की द्विहृदयता-) चौथे महीने में सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंग विभाग (पहले की अपेक्षा) अधिक स्पष्ट हो जाता है; गर्भहृदय प्रव्यक्त होने से चेतना धातु भी अभिव्यक्त हो जाता है, क्यों? हृदय उसका स्थान होने से, इसलिए चौथे महीने में (सर्वप्रथम शब्दस्पर्शादि) इन्द्रियों के विषयों में गर्भ (माता के द्वारा) अपनी इच्छा प्रकट करता है। दो हृदययुक्त स्त्री को दौहृदिनी कहते हैं ॥ २१ ॥

वक्तव्य—गर्भहृदयप्रव्यक्तिभाव—गर्भ का हृदय प्रकर्षेण व्यक्त होने के कारण। हृदय से यहाँ रक्तसंचालक यन्त्र (Heart) अभिप्रेत है। आयुर्वेद के अनुसार इसी हृदय में चेतना का अधिष्ठान होता है। इस विषय का विशेष विवरण चौथे अध्याय के 'इदं तु महत्सौम्यं भूतानां चेतनास्थानम्' इस ३१ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। सुख-दुःखादि का स्थान जो हृदय वह कार्यक्षम बनने के कारण गर्भ में सुख-दुःख की भावनाएं उत्पन्न होती हैं और सुख-दुःख के कारण गर्भ माता के उदर में हाथ-पैर हिलाता है तथा हृदय के द्वारा अपनी इच्छाओं का प्रभाव, माता के हृदय पर, डालता है, क्योंकि ये दोनों आपस में सम्बन्धित होते हैं—अस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते तत्कालमेव चेतसि वेदनानिर्बन्धं प्राप्नोति, तस्मात्तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते, प्रार्थयते च जन्मान्तरानुभूतं यत् किञ्चित्। तस्मादिव सुखदुःखसम्बन्धात् सुखोत्पादनार्थं दुःखपरिहारार्थं च स्पन्दते चलति। मातृहृदयं गर्भहृदयेन सम्बद्धं द्विहृदयं भवति। (चक्रपाणिदत्त)।

यद्यपि इस महीने में गर्भ चलन-वलन करता है, तथापि उसका ज्ञान न माता को होता है, न उदर पर रक्खे हुए परीक्षार्थी हाथ को होता है। परन्तु यदि श्रवणनलिका द्वारा परीक्षा की जाय तो गर्भचलनस्वन (Stirrage) सुनाई देता है। गर्भ के माथे पर तथा शरीर के अंगों पर रोम निकलने लगते हैं। लिङ्ग स्पष्ट हो जाता है। चेहरा स्वाभाविक हो जाता है। गर्भ की कुल लम्बाई ६॥ इञ्च के लगभग होती है।

दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति तस्मात् सा यद्यदिच्छेत् तत्तस्यै दापयेत्, लब्धदौहृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषं च पुत्रं जनयति ॥ २२ ॥

भवन्ति चात्र—

इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी।
गर्भाबाधभयात् तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत् ॥२३॥
सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत गुणान्वितम्।
अलब्धदौहृदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम् ॥ २४ ॥
येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे वै विमानना।
प्रजायेत सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये ॥२५॥

(दौहृद पूरण का महत्व—) दौहृद की उपेक्षा करने से (स्त्री) कुबड़े, लूले, लंगड़े, जड़ (मन्दबुद्धि, जड़मति), बौने, खराब आँखों के अथवा अंधे पुत्र को उत्पन्न करती है। इसलिए वह जिस जिस पदार्थ की इच्छा करे, वह पदार्थ उसको प्रदान करे। दौहृद की प्राप्ति होने से (स्त्री) वीर्यवान् और दीर्घायु पुत्र को पैदा करती है ॥२२॥

यहाँ पर श्लोक हैं कि—गर्भिणी स्त्री इन्द्रियों के जिन जिन विषयों का उपभोग करना चाहे, गर्भपीड़ा के भय से वैद्य उन उन पदार्थों को लाकर उसको दिलवावे ॥२३॥ दौहृद की प्राप्ति होने पर स्त्री गुणवान् पुत्र उत्पन्न करती है। दौहृद की प्राप्ति जिसको न हुई है, ऐसी स्त्री को अपने या गर्भ (के विषय) में (कुछ विकार पैदा हो जाय, ऐसा) भय प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ जिन जिन इन्द्रियों के विषयों में दौहृद में उपेक्षा होती है, उन उन (विषयों के) इन्द्रियों में पुत्र में विकार उत्पन्न होता है ॥२५॥

वक्तव्य—दौहृदविमानना गर्भावस्था में माता के मन में जो विशेष वासनाएं उत्पन्न होती हैं, उनको तिरस्कार बुद्धि से देखना अर्थात् उनकी पूर्ति न करना। तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये—[illegible]। (डल्हण)। जैसे, किसी को देखने की इच्छा माता को हुई हो और उसकी पूर्ति न की जाय तो अपत्य की आँखों में पीड़ा होने की संभावना होती है।

स्त्री के मन में गर्भस्थिति के कारण शब्द स्पर्शादि इन्द्रियार्थों के सम्बन्ध में जो विशेष या अस्वाभाविक

वासनाएं उत्पन्न होती हैं, वे दौहृद (Longings या Pica) कहलाती हैं। यद्यपि दौहृद का मुख्यकाल चौथा महीना यहां बताया गया है तथापि उसका प्रारम्भ दूसरे महीने से ही होता है। इस लिए दूसरे महीने से पाँचवें महीने के प्रारम्भ तक दौहृदकाल होता है—अन्ये तु पक्षत्रयात् प्रभृत्या-पञ्चमान्मासाद्दौहृदकालमाहुः । (अष्टांगहृदय) । दौहृद को दौर्हृद, दोहद और दोहल भी कहते हैं—सुदक्षिणा दौर्हृद-लक्षणं दधौ। तस्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदा-हृतम् । (रघुवंश) । पृथ्वा यानि दोहदं ललितकामिनामारणम् । प्राचीनकाल में भारतवर्ष के अनुसार यूरोप के शास्त्रज्ञ दौहृद को काफी महत्व देते थे, परन्तु आधुनिक काल में वे सगर्भावस्थानिदान के लिए दौहृद को विशेष महत्व हीं देते।

दौहृद और गर्भ का सम्बन्ध—स्त्री गर्भिणी होने पर सके मस्तिष्कसंस्थान, मन और स्वभाव में फर्क हो जाता जिससे अकामतः वमन, उद्विग्नता, चिड़चिड़ापन, शीघ्र-कोपिता, मानसिक दौर्बल्य, इन्द्रियार्थों की स्वाभाविक अभिरुचि में वैपरीत्य, निद्रानाश, स्वप्नदर्शन इत्यादि अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं । ये सब लक्षण गर्भ के कारण ही उत्पन्न होते हैं, इस विषय में आयुर्वेद और पाश्चात्य वैद्यक का ऐकमत्य है। परन्तु आयुर्वेद दौहृदलक्षणों का सम्बन्ध गर्भ के मन के साथ जोड़ता है, और केवल भौतिक शास्त्रों पर विश्वास करने वाला पाश्चात्य वैद्यक इनका सम्बन्ध गर्भजन्य विष, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के कार्य की न्यूनाधिकता और मस्तिष्ककार्य की अस्थिरता इनके साथ जोड़ता है। दौहृद का कारण गर्भ का मन हो या गर्भजन्य अन्य पदार्थ हो, इस विषय में आयुर्वेद और पाश्चात्य वैद्यक का ऐकमत्य है कि सगर्भावस्था में स्त्री का मन या मस्तिष्क अस्थिर स्थिति में होता है, जिससे वह जरा सी बात पर बिगड़ कर गर्भ में विकार उत्पन्न कर सकता है। इसलिए सगर्भावस्था में स्त्री के मन में जो जो इच्छाएं उत्पन्न होती हैं, उनकी पूर्ति यदि पथ्यकर हो तो पूर्णतया, यदि अपथ्यकर हो तो पथ्यकर के साथ मिलाकर अल्पतया करके माता को प्रसन्नचित्त रखना बहुत ही आवश्यक है। यदि इच्छा गर्भोपघातकर हो तो उसकी पूर्ति न करना ही उचित है, इसका ध्यान रखना उचित है—स यद्यदिच्छेत्तत्तदस्य दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः। लौल्याया तु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपहितं दद्यात् प्रार्थनाविनयनार्थम् । (चरक) । देयमप्यहितं तस्यै हितो-पहितमल्पकम् । (अष्टांगहृदय) । श्रद्धाविघात में जरा सी बात के लिए स्त्री के मन पर बड़ा भारी परिणाम हो सकता है, जो आगे जाकर दोनों को हानि पहुंचा सकता है—प्रार्थनासंधारणाद्धि वायुः प्रकुपितोऽन्तःशरीरमनुचरन् गर्भस्यापद्यमानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्यात् । (चरक) । इच्छाविघातश्च मनःक्षोभकरभयादिवद्वात-प्रकोपको भवति । (चक्रपाणिदत्त) ।

The whole organism is in a state of strain, and slight causes suffice to move it either in the direction of abnormal depression and melancholia, or in the direction of excessive exhilaration. The mental condition and surroundings of the pregnant woman are of importance, inasmuch as they largely influence her physical well being and hence that of the foetus. A pregnant woman should, as far as possible, be sheltered from all influences which tend to give rise to excitement, annoyance or depression. *Jellet's Midwifery.*

इसलिए दौहृदोत्पत्ति की आयुर्वेद की उपपत्ति यद्यपि कुछ दूरान्वित मालूम होती है तथापि उसके अनुसार माता की वासनाओं को पूर्ण करके उसको प्रसन्नचित्त रखने में किसी प्रकार का नुकसान नहीं है, बल्कि दोनों को ही फायदा है—

In adhering to this theory, we shall certainly not take a wrong path, but may preserve the mother, and probably the child too, from much trouble and deep affliction, may give it on the other hand, perhaps a big plus for life. In any case, it is also to be borne in mind that the mental peace, the happy confident frame of mind, pleasant diversion may like wise act favourably on the child. *Ideal Birth.*

इस विषय का कुछ विवरण प्रथम विभाग में पृष्ठ १५०, १५१ पर भी किया गया है, उसे देखो।

अब इसके बाद दौहृदविशेषता के अनुसार पुत्रस्वभाव विशेषता के कुछ उदाहरण दिग्दर्शन के लिए दिये जाते हैं—

राजसन्दर्शने यस्या दौहृदं जायते स्त्रियाः ।
अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते ॥ २६ ॥

राजा के दर्शन में जिस स्त्री का दौहृद (मन) होता है, वह द्रव्यवान् और महापुण्यवान् पुत्र को जन्म देती है ॥ २६ ॥

दुकूलपट्टकौशेयभूषणादिषु दौहृदात् ।
अलङ्कारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते ॥ २७ ॥

दुकूलपट्ट (मलमल के समान महीन पतला कपड़ा), कौशेय (रेशमी वस्त्र), अलङ्कार इत्यादि में (गर्भवती स्त्री का) दौहृद होने से वह अलंकारप्रिय और सुन्दर (रूपवान्) पुत्र को जन्म देती है ॥ २७ ॥

आश्रमे संयतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते ।
देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम् ॥ २८ ॥

आश्रम में (निवास करने का जिसका दौहृद होता है, वह) जितेन्द्रिय और धर्मात्मा पुत्र को जन्म देती है। तथा देवताप्रतिमा में (जिसका दौहृद होता है, वह) पार्षदोपम (पुत्र) को जन्म देती है ॥ २८ ॥

वक्तव्य—आश्रमे—यस्याः आश्रमे तपस्विनामधिष्ठाने श्रद्धा भवेत् सा स्वंभूतं जनयेत् । (डल्हण) । श्रीसीतादेवी को मुनियों के आश्रम में निवास करने की इच्छा कुश की गर्भावस्था में हुई थी—प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहया-लुरेव । (रघुवंश) । पार्षदोपमम—पार्षदेषु सभापुरुषेषु उपमा यस्य स तथा तं सभ्यसमम् । (डल्हण) । सज्जन मनुष्य, जिसका देवदर्शनादि धर्मकर्मों में प्रेम हो, ऐसा । पार्षदा रुद्रानु-चराः—'रुद्रैर्वलाढ्यैर्वृषभादिरूढैः स पार्षदैरम्बरमापुपूरे' इति पुराणम् । (हाराणचन्द्र) ।

दर्शने व्यालजातानां हिंसाशीलं प्रसूयते ॥ २९ ॥

(सिंह व्याघ्र सर्प इत्यादि) हिंस्र जाति के दर्शन में (दोहद होने से स्त्री) क्रूर पुत्र को जन्म देती है ॥ २९ ॥

गोधामांसाऽशने पुत्रं सुषुप्सुं धारणात्मकम् ।
गवां मांसे तु बलिनं सर्वक्लेशसहं तथा ॥ ३० ॥

गोह का मांस खाने में (दोहद होने से) पुत्र निद्रालु और धारणात्मक होता है । गोमांस (खाने) में (दोहद होने से पुत्र) बलवान् तथा सर्व प्रकार के कष्टों को सहन करने वाला होता है ॥ ३० ॥

वक्तव्य—धारणात्मक—डल्हण धारणा से मेधा अन्यादि धारणाशक्ति समझते हैं—धारणात्मक हृदयगृहीतवस्तुनामको-चकम्। यह धारणाशक्ति गोधा में कहां तक होती है, यह कहना बहुत कठिन है । परन्तु दूसरी एक शक्ति गोधा में होती है, जिससे वह पत्थर, चट्टान, पहाड़ इत्यादि को जबरदस्त पकड़ती है । यहां तक कि उसके कमर में कसी हुई रस्सी की सहायता से मनुष्य ऊपर चढ़ सकता है। मराठी भाषा में गोधा को 'घोरपड' कहते हैं। मराठे सैनिक शत्रु के किले पर गोधा की सहायता से चढ़ते थे, और अचानक हमला करके किला सर करते थे। सिंहगढ़ सर करने के समय की नरवीर तानाजी की कथा इसके सम्बन्ध में मशहूर है। जिन्होंने सर्वप्रथम गोधा की इस धारणाशक्ति का उपयोग किले पर चढ़ने के लिए किया, उनके वंशज महाराष्ट्र में 'घोरपडे' नाम से प्रसिद्ध हैं। जंगली लोग, नाड़ीवैद्य, हकीम गोधा के मांस और तेल का प्रयोग कमजोरी में करते हैं और चरक तथा सुश्रुत में गोधा बलवर्धक बतलाई है—वातपित्तप्रशमनी बृंहणी बलवर्धिनी इससे धारणात्मक का अर्थ बलवान् करना ही उचित है

माहिषे दौर्हृदाच्छूरं रक्ताक्षं लोमसंयुतम् ।
वाराहमांसात् स्वप्नालुं शूरं सञ्जनयेत् सुतम् ॥ ३१ ॥

भैंस (के मांस) में दौहृद होने से लाल आंखों वाला और लोमयुक्त तथा सूअर के मांस में (दौहृद होने से स्त्री) निद्रालु और शूर पुत्र को उत्पन्न करती है ॥ ३१ ॥

मार्गाद्विक्रान्तजङ्घालं सदा वनचरं सुतम् ।
सृमराद्विग्नमनसं नित्यभीतं च तैत्तिरात् ॥ ३२ ॥

मृगमांस (में दोहद होने) से अत्यन्त तेजी से दौड़ने वाला तथा हमेशा जंगल में घूमने वाला, समर (के मांस) से चञ्चलचित्त और तित्तिर (के मांस में दोहद होने) से डर-पोक पुत्र को (स्त्री उत्पन्न करती है) ॥ ३२ ॥

वक्तव्य— मार्गाद—मृगमांस के अतिरिक्त प्रवास करना या शिकार खेलना भी मार्ग के अर्थ हो सकते हैं। इन अर्थों के अनुसार प्रवास करने में या शिकार खेलने में जिसका दोहद हो, उसे। विक्रान्तजङ्घाल—जिसकी टांगें काफी बलवान् हों, अर्थात् जो अपनी टांगों के बल पर खूब चल फिर दौड़ सकता हो।

इन विविध दोहदों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के दोहद हो सकते हैं। उनसे अर्थ निकालने के लिए संग्रह श्लोक दिया जाता है—

अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दौहृदम् ।
शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति ॥ ३३ ॥

इन से अतिरिक्त अब तक न बतलाये हुए (विषयों) में (जब) स्त्री दोहद का चिन्तन करती है, तब (उस विषय के) शरीर, आचार और शील के समान पुत्र को उत्पन्न करती है ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—प्राचीन काल के भारतीयों में जिस प्रकार की वृत्ति प्रायः हुआ करती थी, उसके अनुसार ही ऊपर के श्लोकों में दोहद के उदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकार की वृत्ति आधुनिक भारतीयों में प्रायः नष्ट हो गई है। इसलिए उपर्युक्त प्रकार का दोहद आधुनिक भारतीय स्त्रियों में मिलना असम्भव है।

कर्मणा चोदितं जन्तोर्भवितव्यं पुनर्भवेत् ।
यथा तथा दैवयोगाद् दौर्हृदं जनयेद्धृदि ॥ ३४ ॥

(विविध दोहदों की उपपत्ति—) जैसे (कि पूर्वजन्मार्जित) कर्म से प्रेरित प्राणी का भवितव्य पुनर्जन्म में होता है, वैसे ही पूर्वकर्म से (माता के) हृदय (मन) में दोहद उत्पन्न होता है ॥ ३४ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि गर्भस्थ जीव का भवितव्य जिस पूर्वकर्म के कारण बनता है, उस पूर्वकर्म के कारण माता के मन में दोहद उत्पन्न होता है याने दोहद का प्रेरक गर्भस्थ जीव का पूर्वकर्म है। भवितव्य—संचित कर्म की प्रेरणा से पुनर्जन्म में या भविष्य में जो कुछ भी निश्चिति से होता है, यह भवितव्य कहलाता है पूर्वकर्म के अनुसार पुनर्जन्म में जीव का स्वभाव, शील आहार-विहार में अभिरुचि, शारीरिक और मानसिक संगठन होता है—यथा ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥ (महाभारत)। पूर्वकर्म का फल जीव टाल नहीं सकता—ऐहिक प्राक्तनं वाऽपि कर्म यद्चितं स्फुरत्। पौरुषोऽसौ परो यत्नो न कदाचन निष्फलः (योगवासिष्ठ)। प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः। जब जीव का स्वभाव, आहार-विहार में अभिरुचि इत्यादि पूर्वकर्म के कारण उत्पन्न होते हैं और जब माता का दोहद इन्हीं बातों को बतलाता है, तब दोनों का कारण एक ही होना चाहिए दैवयोगात् कर्मयोगात्। इस विषय का विवरण पीछे चौथे सूत्र के 'दैवयोगात्' के वक्तव्य में किया गया है। जीव के भवितव्य के संबंध में वेदान्तशास्त्रोक्त कर्मविपाक का जो नियम है, उसे आधुनिक पाश्चात्य पण्डित भी कुछ मानने लगे हैं—

All things, whether visible or invisible are subservient to, and fall within the scope of the infinite and eternal law of causation All the varying conditions of life as they obtain in the world to day, are the result of this law reacting on human conduct. Man can choose what cause he shall set in operation, but he can not change the nature of effects He can decide what thoughts he shall think and what deeds he shall do but he has no power over the result of those thoughts and deeds, these are regulated by the overruling law Man has all power to act, but his power ends with the act committed. The result of the act can not be altered, annulled or

१ स्वप्नशीलम्. २ शौर्यक इत्यन्ये.

escaped; it is irrevokable. *James Allen Book of Meditations.*

पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति ॥ २५ ॥

(पाँचवें महीने का गर्भ—) पाँचवें (महीने) में (पहिले की अपेक्षा गर्भ का) मन अधिक प्रबुद्ध हो जाता है ॥२५॥

वक्तव्य—तन्त्रान्तर में पाँचवें महीने का स्वरूप—पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः। (चरक)। पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति मांसशोणितोपचयश्च। (अष्टांगसंग्रह)। पञ्चमे पृष्ठवंशो भवति। (गर्भोपनिषद्)।

पाँचवें महीने में गर्भ की लम्बाई दस इञ्च होती है। लंबाई में इतनी वृद्धि दूसरे किसी महीने में नहीं होती है। यह लंबाई अधिकतर टांगों में होती है। शिर अब भी शेष शरीर के मुकाबले कुछ बड़ा होता है। आन्त्र में कुछ मल इकट्ठा होने लगता है। यकृत् अच्छी तरह बन जाता है। शरीर पर बाल अधिक लंबे होते हैं। गर्भ का चलन-वलन जोर से होता है। गर्भ का तोल पहले से दुगुना याने आधा सेर होता है। उसके सर्वशरीर पर एक चिकना पदार्थ (Vernix Caseosa) बनने लगता है; उससे गर्भ की त्वचा की रक्षा गर्भोदक से होती है।

पीछे १३-१५ सूत्र में गर्भिणी के जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे केवल गर्भ की उपस्थिति पर निर्भर न होने के कारण पूर्णतया विश्वसनीय नहीं होते। इस महीने से गर्भ के कुछ खास लक्षण मिलते हैं, जिनके ऊपर सगर्भावस्था का निर्णय करने के लिए विश्वास किया जा सकता है। ये लक्षण निम्न हैं—गर्भहृत्स्पन्दन, गर्भ के अंगों का ज्ञान और गर्भ की गतियाँ। इनमें से गर्भहृत्स्पन्दन इस महीने में मिलता है। गर्भहृत्स्पन्दन (Foetal heart sounds)—गर्भ का हृदय चौथे महीने में व्यक्त होता है और तभी से उसका संकोच-विकास का कार्य जारी होता है परंतु उसकी आवाज उस समय सुनाई नहीं देती। साधारणतया १८ वें सप्ताह से गर्भहृच्छब्द सुनाई देता है। ये शब्द तकिया के नीचे रक्खी हुई घड़ी के शब्द के समान होते हैं। इनकी संख्या प्रति मिनट १२० से १६० तक और औसत १४० होती है, याने माता की हृदयगति से दुगुनी होती है। गर्भहृच्छब्द उदरप्राचीर के साथ कान लगाने से, या एकनलिका अथवा द्विनलिका (Single or binaural) श्रवणयन्त्र से सुनाई देते हैं। कुछ लोगों का यह कथन है कि पुराने ढंग का काठ का बनाया हुआ एकनलिका श्रवणयन्त्र इस काम के लिए बेहतर होता है। कुछ भी हो, श्रवण करते समय यन्त्र को उदरप्राचीर पर न्यूनाधिक दबाकर सुनने की कोशिश करनी चाहिए, क्योंकि कभी कभी हलके दबाव से शब्द अच्छे सुनाई देते हैं, कभी कभी अधिक दबाव से अच्छे सुनाई देते हैं।

गर्भहृच्छब्द से फायदे—(१) गर्भहृच्छब्द मिलने से स्त्री की सगर्भावस्था का निःसंदिग्धता से निर्णय होता है।

(२) इनके सुनने से गर्भ की गति (Presentation) का ज्ञान होता है। प्रथम जब कि गर्भोदक काफी होता है, तब गर्भ का हृदय नाभि के नीचे मध्यरेखा में सुनाई देता है। परन्तु आगे जाकर यदि गर्भ की शिरोगति (Vertex) हो तो शब्द नीचे नाभि और जघनकपालपूरोर्ध्वकूट के बीच में सुनाई देता है। यदि जघनगति हो तो नाभि के ऊपर खींची हुई इसी रेखा पर सुनाई देता है।

(३) गर्भ के आसन (Position) का ज्ञान होता है। गर्भ के अंगविशेष का माता की शरीरमध्यरेखा के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे गर्भ का आसन कहते हैं। सिर और जघन गति में गर्भ का पृष्ठ आसन का निर्णायक होता है। पृष्ठ आगे और वामपार्श्व में होने से प्रथम आसन (First position), आगे और दक्षिणपार्श्व में होने से द्वितीय आसन, पीछे और दक्षिणपार्श्व में होने से तृतीय आसन और पीछे तथा वामपार्श्व में होने से चतुर्थ आसन होता है। इस प्रकार प्रत्येक गति के चार आसन होते हैं और प्रत्येक आसन में गर्भहृच्छब्द की अत्यधिक तीव्रता एक विशिष्ट स्थान में पाई जाती है, जिसके अनुसार गर्भ का आसन मालूम होता है।

(४) गर्भ का साधारण स्वास्थ्य और लिङ्ग—कुछ शास्त्रज्ञों का कथन है कि गर्भ के हृदय की गति उसकी वृद्धि के व्यस्त (Inverse) प्रमाण में होती है, याने गर्भ की वृद्धि यदि ठीक ठीक हुई हो तो हृदय की गति कुछ कम होती है और यदि वृद्धि ठीक न हुई हो तो गति कुछ अधिक हुआ करती है। वैसे ही पुमान् गर्भ के हृदय की गति स्त्रीगर्भ के हृदय की गति की अपेक्षा कुछ कम होती है। अर्थात् दोनों में फर्क बहुत कम (१३९ पुरुष, १३६ स्त्री) होने से निश्चिति से लिङ्गनिर्णय करना कठिन है, तथापि कुछ सहायता मिल सकती है।

(५) यमल का निर्णय—माता के उदर में गर्भ एक है या दो हैं, इसका निर्णय करने के जो अनेक उपाय हैं उनमें गर्भहृदय-शब्दश्रवण एक उत्तम उपाय है। यदि एक समय सुनने वाले दो व्यक्तियों को दो भिन्न स्थानों में दो गर्भहृदय सुनाई दें जिनकी गति (प्रति मिनट स्पन्दनसंख्या) माता की हृदयगति से तथा एक दूसरे से भिन्न हो, और यही स्थिति अनेक वार श्रवण करने पर भी मिल जाय तो यमल की उपस्थिति निश्चिति से समझनी चाहिए।

(६) गर्भ की आपत्तियों का ज्ञान—प्रायः अपनी गतियों के कारण तथा माता की ज्वरयुक्त अवस्था में गर्भ की हृदय की गति तेज हो जाती है, और गर्भाशय संकोच से, अपरा (Placenta) और नाल पर दबाव पड़ने से तथा गर्भ के मस्तिष्क पर दबाव पड़ने से हृदयगति मन्द हो जाती है। यदि हृदयगति १०० से कम और १६० से अधिक बार हो तो गर्भ आपत्ति में है, ऐसा जानना चाहिए। प्रसव के समय गर्भहृदयश्रवण एक बहुत उपयोगी कार्य है, और यदि प्रसव में विलम्ब न हो और गर्भहृदयगति १०० से कम हो तो कृत्रिमरीत्या गर्भ को तुरन्त बाहर निकालने की कोशिश करनी चाहिए।

(७) गर्भमृत्यु का ज्ञान—गर्भहृदय के शब्द सुनने के पश्चात् अनेक वार प्रयत्न करने पर भी यदि फिर से वे न सुनाई दें तो गर्भ की मृत्यु की कल्पना की जा सकती है—गर्भास्पन्दनभावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता। भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तमृते शिशौ ॥

गर्भाशय का आकुञ्चन—यह लक्षण इस महीने से मिलता है। उसको 'ब्राक्स्टन हिक्स' का लक्षण कहते हैं। इसमें गर्भाशय के ऊपर उदर की दीवाल पर सपाट हथेली रखने

से गर्भाशय में आकुञ्चन की प्रतीति होती है। आकुञ्चन के समय गर्भाशय कुछ कठिन हो जाता है। यह आकुञ्चन प्राय प्रति पाँच मिनट पर होता है, परन्तु कभी इसमें कम कभी अधिक समय पर भी होता है। यह लक्षण गर्भाशय के अर्बुद में मिल सकता है, परन्तु साधारणतया इसकी उपस्थिति गर्भावस्था की सूचक मानी जाती है।

षष्ठे बुद्धिः ॥ ३६ ॥

छठे महीने में बुद्धि (अधिक प्रव्यक्त होती है) ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—तन्त्रान्तर में छठे महीने का स्वरूप—षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः। (चरक)। षष्ठे केशरोमनखास्थिस्नाय्वादी यभिव्यक्तानि बलवर्णोपचयश्च। (अष्टांगसंग्रह)। षष्ठे मासे मुखनासिकाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति। (गर्भोपनिषद्)।

इस महीने में गर्भ की लम्बाई एक फुट के करीब और वजन एक सेर के लगभग होता है। त्वचा में सलवटें होती हैं और उसके नीचे चरबी का सञ्चय होने लगता है। भ्रू और पक्ष्म बनने लगते हैं। शिर के बाल और स्थानों की अपेक्षा अधिक लम्बे होते हैं।

इस महीने से गर्भस्थ शिशु के करचरणादि अंगों का ठीक परिज्ञान हो जाता है। माता के उदर को टटोलने से गर्भ के भिन्न भिन्न अंगों का पता चल जाता है। इसके सिवाय उदर पर हाथ रखने से गर्भ की गतियाँ प्रतीत होती हैं। यदि गर्भ गतिहीन हो तो उदर पर जरा सा धक्का देने से गर्भ में गति उत्पन्न होती है। पतली दीवार वाली स्त्रियों में ये गतियाँ क्वचित् तीव्र पड़ती हैं।

अब तक गर्भावस्था के अनेक लक्षण वर्णन किये गये हैं। गर्भावस्था का निदान करने की दृष्टि से प्रत्येक लक्षण की महत्ता पृथक् पृथक् होती है। इसलिए नीचे उनकी सारणी दी जाती है।

गर्भिणीनिदानसहायक सारणी

लक्षण	प्रतीतिकाल	महत्ता
(अ) १ गर्भहृत्स्पन्दन	अठारहवें सप्ताह के पश्चात्	निश्चितिदर्शक
२ गर्भ के अंग	अन्तिम चार मास	,,
३ गर्भ की गतियाँ	अन्तिम तीन या चार मास	,,
(आ) १ स्तनगत परिवर्तन	दूसरे महीने के पश्चात्	सम्भाव्यता दर्शक
२ योनि वैवर्ण्य	,, ,,	,,
३ हेगर का लक्षण	,, ,,	,,
४ गर्भाशयवृद्धि	,, ,,	,,
५ गर्भाशय का आकुंचन	चौथे महीने के पश्चात्	,,
(इ) १ दौहृदलक्षण	दूसरे महीने के पश्चात्	शक्यतादर्शक
२ मुख और उदर के वर्ण में फर्क	चौथे महीने के पश्चात्	,,
३ उदरवृद्धि	,, ,,	,,

सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागः प्रव्यक्ततरः ॥ ३७ ॥

सातवें में संपूर्ण अंगों और प्रत्यंगों का विभाग और भी अधिक स्पष्ट होता है ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—तन्त्रान्तर में वर्णन—सप्तमे मासि गर्भः सर्वैर्भावैराप्यायते। (चरक)। सप्तमे सर्वाङ्गसम्पूर्णता। (अष्टांगसंग्रह)। सर्वैः सर्वाङ्गसम्पूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे। (अष्टांगहृदय)।

इस महीने में गर्भ की लम्बाई १४ इञ्च और भार १॥ सेर के लगभग होता है। त्वचा के नीचे चरबी अधिक जम जाती है, जिससे उसकी सलवटें कम होती हैं। पक्ष्म अलग हो जाते हैं। आँखों के ऊपर की झिल्ली नष्ट होने लगती है। वृषण उदरगुहा में से वंक्षणसुरंगा (Inguinal canal) में पहुँचते हैं। संक्षेप में जीवन के लिए म[?] अंग-प्रत्यंगों की कम से कम जितनी वृद्धि होनी आवश्य[क] है, उतनी वृद्धि इस महीने के अन्त में होती है—तेन सर्व[ै] जन्मनीवनलक्षणैर्नाङ्गैश्च सपूर्णो भवतीत्यवतिष्ठते। (अरुणदत्त) इसलिए यदि किसी कारण से इस मास के अन्त में बाल[क] का जन्म हो जाय और उसका उचित पालन किया जा[य] तो वह जीवित रह सकता है। इस दृष्टि से गर्भोपनिष[द्] में इस महीने के गर्भ का वर्णन बहुत ही सूचित किया है—सप्तमे मासे जीवने संयुक्तो भवति। इसका तात्पर्य यह है कि जीवनावश्यक सब अंग-प्रत्यङ्गों से युक्त हो जाने के कारण जीने योग्य हो जाता है। पाश्चात्य लोगों का भी कथन है कि इस महीने के अन्त में बालक जीवनक्षम Viable हो जाता है परन्तु अकालप्रसव होने के कारण बालक दीर्घायु तथा उत्तम स्वास्थ्ययुक्त नहीं होता—तथा चास्मिन् (सप्तमे) मासे गर्भो जातो जीवति किन्त्वकालप्रसवत्वान्न यथा दीर्घजीवित्वादिकं स्यात्। (अरुणदत्त)।

At seven months, every part has increased in volume and perfection. This is reconed as the epoch of viability, or the period in which the foetus if expelled from the uterus, is capable of independant existance. *Esoteric Anthropology*

अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैर्ऋतभागत्वाच्च, ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत् ॥ ३८ ॥

आठवें महीने में (माता और बालक दोनों का) ओज अस्थिर होता है, उस समय यदि जन्म हो जाय तो ओजोराहित्य और नैर्ऋतभागत्व के कारण बालक जीवित नहीं रहता। अतः उस निर्ऋति के लिए मांस और ओदन की बलि देनी चाहिए ॥ ३८ ॥

वक्तव्य—ओज—इसका विवरण प्रथम खण्ड के १४ पृष्ठ पर किया गया है। अस्थिरीभवति—इसका कारण यह है कि इस महीने में गर्भ से माता के शरीर में और माता से गर्भ के शरीर में ओज का निरन्तर आना जाना होता रहता है—अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोज परस्परत आददाते गर्भस्यासम्पूर्णत्वात्। (चरक)। इसका परिणाम यह होता है कि कभी गर्भ ओजयुक्त होता है और कभी ओजविरहित होता है। न जीवेत्—यदि ओजविरहित हो तो जीवित नहीं रहता; यदि ओजयुक्त हो तो जीवित रह सकता है। आठवें महीने का बालक कदापि जीवित नहीं रह सकता, यह इसका तात्पर्य नहीं है—[?] [?]

१. अस्थिर भवति. २. नैर्ऋतभागधेयत्वात्.

ओजसि यदि गर्भं प्रसूते तदा स जातो विनश्यति, यदा गर्भशरीरं प्राप्ते ओजसि गर्भो निष्क्रामति तदा ओजसः सद्भावाज्जातो जीवति। (इन्दु)। अनेनौजःस्थितिरेव जीवनहेतुरिति दर्शयति। (विज्ञानेश्वर)। अर्थात् आठवें महीने में जन्म लेने पर जीवित रहना या न रहना ओज की उपस्थिति पर निर्भर होता है। नैर्ऋतभाग त्वाच—आठवें महीने का गर्भ मरने का यह दूसरा कारण है। निर्ऋतिः—राक्षस, भूत या रजनीचर। कुछ लोगों का यह मत है कि आठवें महीने में गर्भ का जन्म होने पर मृत्यु का कारण ओजोराहित्य न होकर निशाचरों की वक्रदृष्टि है। यदि उनको मांसौदन की बलि न दी जाय तो ये गर्भ का नाश करते हैं। अतः इनको गर्भवती स्त्री आठवें महीने में स्नानादियुक्त होकर मांसौदन का बलिदान करे। अप्रत्यक्षतया ये रजनीचर गर्भ के शरीर का नहीं, उसके ओज का ही हरण करते हैं—ओजोशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम्। (चरक)। इसलिए गर्भमृत्यु का कारण ओजोराहित्य ही समझना चाहिए। आधुनिक दृष्टि से यों कह सकते हैं कि सातवें तथा आठवें महीने में गर्भ का जन्म होने पर यद्यपि उसके बचने की संभावना हो सकती है तथापि उसमें ओजोराहित्य होने के कारण जीवशक्ति (Vitality) कम रहती है, जिससे वह किसी न किसी व्याधिरूप आपत्ति से मर जाता है—तस्मात्तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात्। (चरक)।

Children born at this period (eighth month) are less active than those born at full term, but can sometimes be reared if carefully attended *Jellet's Midwifery.*

आठवें और नौवें महीने के गर्भ का वर्णन आयुर्वेद में इसलिए नहीं किया गया है कि इन दो महीनों में गर्भ में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। उसके अंग-प्रत्यंग सुपरिपक्व हो जाते हैं।

From this period up to nine months there is mere increase of size and action. *Esoteric Anthropology.*

परन्तु गर्भोपनिषद् में इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है—अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति। अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसम्पूर्णो भवति॥ एक बात का यहाँ जरूर निर्देश करना चाहिए कि सातवें महीने के अन्त तक वृषण वङ्क्षणसुरंगा में होते हैं। आठवें महीने में वे अपने उचित स्थान (वृषण कोष) में आ जाते हैं।

नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते, अतो ऽन्यथा विकारी भवति॥ ३६॥

(प्रसवकाल—) नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें में से किसी महीने में (गर्भ का स्वाभाविक) प्रसव होता है। इसके अनन्तर (यदि गर्भ उदर में रहे तो प्रसव) विकारी हो जाता है॥ ३६॥

वक्तव्य—इस सूत्र में कालप्रसव और कालातीत प्रसव की मर्यादा बताई गई है। सुश्रुत और वाग्भट के अनुसार यह मर्यादा चार महीने की होती है। चरक के अनुसार केवल दो महीनों की होती है—तस्मिन्नेकदिवसेऽतिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरादशमान्मासात्॥ एतावान् प्रसवकालः, वैकारिकमतः परं कुक्षौ स्थानं गर्भस्य। इस मतभेद को तथा मर्यादा के अन्तर को देखकर यह कहना पड़ता है कि प्रचीन ऋषियों को प्रसव का काल निश्चित मालूम नहीं था, अथवा कालप्रसव का निश्चित समय मालूम करना कठिन है, अथवा कालप्रसव का निश्चित समय, जो सब स्त्रियों में लागू हो, नहीं हो सकता। पाश्चात्य देशों में प्रसूतिशास्त्रज्ञों ने प्रसवकाल निश्चित करने के बारे में बहुत कुछ अन्वेषण किया। प्रसवकाल निश्चित करने के दो उपाय हैं—स्त्रीपुरुषसंयोग से या रजोदर्शन से। डॉ० रीड ने ४० स्त्रियों में पुरुषसंयोग के दिन से प्रसव तक के दिनों की गिनती की, तो उसको २६० से २९४ दिनों तक प्रसवकाल की अवधि मालूम हुई। दूसरे डॉ० सिम्पसन ने रजोदर्शन दिन से ७८२ स्त्रियों में प्रसवकाल की अवधि निश्चित करने की कोशिश की, तो उसको ३४२ से ३२६ दिनों तक प्रसवकाल की अवधि मालूम हुई। डॉ० राशींग ने एक ही स्त्री में तीन बार प्रसवकाल की मर्यादा पहली बार २७७ दिनों की, दूसरी बार ३२९ दिनों की और तीसरी बार २८९ दिनों की देखी। इंग्लैंड के हाउस आफ लार्डस में 'गार्डनर पीअरेज केस' में गर्भावस्था की अधिक से अधिक मर्यादा निश्चित करने की जरूरत पड़ी। उस समय सारे यूरोप के प्रसिद्ध प्रसूतिशास्त्रज्ञ गवाही देने के लिए आये थे। उनमें से कुछ लोगों ने अधिक से अधिक मर्यादा बारह महीने की या ४८ सप्ताह की बतलाई। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रसवकाल की निश्चित एक मर्यादा नहीं हो सकती, प्रत्येक स्त्री में तथा कभी कभी प्रत्येक गर्भावस्था में प्रसवकाल की मर्यादा भिन्न भिन्न होती है। इसलिए सुश्रुताचार्य ने कम से कम और अधिक से अधिक प्रसवकाल की जो मर्यादा बतलाई है, वह आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञों की मर्यादा के साथ पूर्णतया मिलती है—

Moreover, prolonged gestation is a not very uncommon occurance, with parturition at the 320th or ever 331st day and twelve month pregnancies are not unknown. On the other hand well developed children may be born as early as the 240th day *Introduction to Sexual Physiology by Marshall.*

प्रसवकाल में अनिश्चय क्यों रहता है?—इस अनिश्चय के निम्न कारण प्रधान हैं। (१) शुक्र और शोणित के संयोग का काल निश्चय से मालूम न होना—यह देखा गया है कि पुरुषसंयोग के पश्चात् तीन सप्ताह के लगभग शुक्राणु बीजवाहिनी में सजीव रह सकते हैं। अर्थात् समागम के दिन बीज और शुक्राणु का संयोग हो सकता है, या बीस रोज के बाद हो सकता है। इस तरह समागम के दिन से गिनती करने में अधिक से अधिक बीस रोज का फर्क हो सकता है। (२) गर्भधारणा होने पर रजोदर्शन होना—कुछ स्त्रियों में शुक्रशोणितसंयोग होने के पश्चात् भी एक आध बार रजोदर्शन होता है। अर्थात्

रजोदर्शन के दिन से गिनती करने में इस तरह एक आध महीने का फर्क हो सकता है। (३) आर्तवदर्शनचक्र के काल में फर्क—साधारणतया स्त्रियों में आर्तवदर्शनचक्र २८ दिन का होता है और प्रसव का काल दसवें मासिक धर्म के समय आता है। इस दृष्टि से प्रसवकाल २८० दिन का या ४० सप्ताह का माना जाता है। परन्तु आर्तवदर्शन के लिए २८ दिन का नियम सर्वत्र लागू नहीं होता। कुछ स्त्रियाँ २८ से कम और कुछ २८ से अधिक दिनों के बाद रजस्वला होती हैं। अर्थात् इस चक्र के अनुसार प्रसवकाल में भी न्यूनाधिकता हो सकती है। (४) गर्भ की प्रकृति—गर्भ आत्माधिष्ठित होता है और आत्मा अपने पूर्व पाप-पुण्य के अनुसार न्यूनाधिक काल तक माता के उदर में निवास करता है। प्रत्येक आत्माधिष्ठित गर्भ के इस न्यूनाधिक काल का परिज्ञान होना असम्भव है और इसी अज्ञान के कारण भी प्रसवकाल में अनिश्चय उत्पन्न होता है—

It is the organic soul that presides over the developement of the f etus, and fixes the time for its expulsion. But this intelligent soul is not a machine. It has the power, f r good reasons, to bring on the process of labour earlier, or postpone it to a later period *Esoteric Anthropology*

इसका अभिप्राय यह है कि सब गर्भ एक काल में परिप्रागल्भ नहीं हो सकते, प्रत्येक के लिए प्रगल्भ (Mature) होने का काल भिन्न होता है। (५) कभी कभी गर्भाधान होने के पूर्व एक आध मास अन्य कारण से आर्तवदर्शन बन्द हो सकता है अर्थात् इससे गर्भावस्था का काल एक आध महीने से अधिक हो सकता है। (६) गर्भाशय की पेशी की स्थिति ठीक न होने से भी गर्भावस्था के काल में फर्क हो सकता है। (७) [illegible]—[illegible] मामर [illegible] का मत है कि माता पिता के वय का परिणाम उनके अपत्यों की गर्भावस्था के काल पर होता है। माता पिता का वय अधिक होने पर गर्भावस्था की अवधि भी अधिक होती है। (८) [illegible]—कुछ [illegible] की स्त्रियों में गर्भावस्था का काल अधिक होता है। यह विशेषता उन स्त्रियों की [illegible] के साथ दूसरे [illegible] में भी चली आती है। (९) [illegible] कुछ [illegible] की स्त्रियों की गर्भावस्था अधिक काल की होती है। (१०) [illegible]—[illegible] का [illegible] उचित समय पर होने पर भी गर्भ-[illegible] या अन्य कारण से [illegible] में पाँच चार दिन का विलम्ब हो सकता है। इन कारणों से प्रसवकाल में आधेर्य उत्पन्न होने पर भी कुछ धैर्य भी रहता है। साधारणतया यह देखा गया है कि [illegible] स्त्रियों में गर्भावस्था का काल ४० सप्ताह के [illegible] होता है और [illegible] स्त्रियों की गर्भावस्था की औसत [illegible] यह काल २८० दिनों का होता है। [illegible] इस आशय के [illegible] के [illegible] के अन्त में प्रसव [illegible] करने के जो कोष्टक दिये हैं, वे इस औसत [illegible] के अनुसार दिये गये हैं। औसत [illegible] की [illegible] किसी विशेष स्त्री के [illegible] नहीं हो सकती,

इसलिए उन कोष्टकों के अनुसार जो प्रसवतिथि मिलेगी, उससे कुछ दिन पूर्व या कुछ दिन पश्चात् प्रसव होगा। आयुर्वेद के अनुसार औसतकाल दस महीने का ही होता है। सुश्रुत में यद्यपि इस सूत्र में गर्भावस्था की अवधि ८-१२ मास की बतलाई है, तथापि गर्भरक्षाप्रतिषेधक मासानुमासिक में (शारीर, अध्याय १०) दस महीने के लिए ही कर्म बताया है, कम या अधिक महीनों के लिए नहीं। आयुर्वेद के अन्य ग्रंथों में भी (अष्टांगहृदय शारीर १, अष्टांगसंग्रह शारीर ४, वृन्दमाधव, स्त्रीरोगाधिकार, चक्रदत्त स्त्रीरोगाधिकार) दस महीने का ही मासानुमासिक बताया गया है। चरक में भी दस महीने का काल प्रकृतिक माना गया है—[illegible] नवमं [illegible] प्रसवकालमित्याहुः [illegible] । [illegible] (चरक, शारीर ४)। वेदों में भी प्रसवकाल दस महीने का ही माना गया है—[illegible] पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे। (अथर्ववेद ५, २५, १०-१३)। यथा वातो यथा मनो यथा [illegible] दशमास्य [illegible] जरायुणा [illegible] (अथर्ववेद १।११।६)। इस तरह प्रसवकाल दस महीने का होने पर भी प्रसव के लिए नौवाँ और दसवाँ मास प्रकृत या अविकारी मानने का रिवाज भारतवर्ष में है। पाश्चात्यों के समान २८० दिन पर ज्यादा जोर भारतीय शास्त्र नहीं देते हैं—[illegible] दशमे वापि प्रसूते [illegible] (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।८३)। प्रसवकाल की अनिश्चिति के अनेक कारण होने पर तथा व्यवहार में प्रसवकाल उतना ही अनिश्चित मिलने पर प्रसवकाल की २८० दिन की एक मर्यादा बताना या मानना अनुचितयुक्त मालूम होता है। इससे भारतीयों की नौवें और दसवें मास की मर्यादा मानने की पद्धति अधिक व्यावहारिक है। [illegible] के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि पाश्चात्यों के समान भारतीय गर्भाधान के पूर्व आर्तवदर्शन की तिथि से गणना नहीं करते हैं, परन्तु गर्भाधान के पश्चात् होने वाले आर्तवदर्शन (जो गर्भाधान के कारण नहीं हो सका) की तिथि से करते हैं। [illegible]—(१) विकार उत्पन्न करने वाला होता है। यह देखा गया है कि कुक्षि में गर्भ अधिक काल तक रहने से उसका आकार और भार बढ़ता है। इसलिए उसके बाहर निकलने में अधिक समय लगता है तथा कष्ट होता है। इस प्रकार की [illegible] गर्भ और माता दोनों को ही विकारकारी होती है—[illegible] (अष्टांग-हृदय)। [illegible] ([illegible])। (२) उचित समय के पश्चात् जो गर्भ माता के उदर में रहता है, वह विकारी (विकारयुक्त) हो जाता है—[illegible] (इन्दु)।

[illegible]

[illegible]

सारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति ॥ ४० ॥

(गर्भ का पोषण—) माता की रसवहा नाडी में गर्भ की नाभिनाडी बँधी हुई होती है; यह नाभिनाडी माता के आहार रस वीर्य उसको पहुँचाती है। उस उपस्नेह से गर्भ की अभिवृद्धि होती है। गर्भाधान के समय से अपरिणत अंगप्रत्यंगविभागयुक्त (गर्भ) को सर्वशरीरावयवानुसारी रसवह तिर्यग्गामी धमनियों का उपस्नेह जीवन देता है ॥४०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भाशयस्थ गर्भ का पोषण माता से कैसे होता है, इसका वर्णन किया है। पोषण की दृष्टि से गर्भावस्था के दो काल होते हैं। प्रथम काल अपरा और नाभिनाडी बनने के पूर्व का याने प्रारम्भिक तीन महीनों का, और दूसरा इनके बनने के पश्चात् का याने अन्तिम सात महीनों का होता है। शुक्रशोणितसंयोग के पश्चात् एक सप्ताह तक गर्भ बीजवाहिनी में ही होता है। वहाँ पर वृद्धि होकर उसके ऊपर पोषक और प्रचूषक एक स्तर (Trophoblast) (पीछे १८ वें सूत्र का वक्तव्य देखो) बनता है। इस स्तर के द्वारा गर्भ बीजवाहिनीगत उपस्वेद या उपस्नेह को ग्रहण करता है। वहाँ पर इस का भक्षक कार्य नहीं होता। गर्भाशय में प्रवेश करने पर यह स्तर गर्भाशय की श्लेष्मल कला का कुछ अंश नष्ट करता है, जिसमें से होकर गर्भ भीतर प्रवेश करता है और पश्चात् यह छिद्र बन्द हो जाता है। इस अवस्था में गर्भ के चारों ओर श्लेष्मल कला की केशिकाओं से निकला हुआ रक्त तथा रक्तरस भरा रहता है और गर्भ के ऊपर की पोषक कोशाएँ उसमें से अपने लिए योग्य खाद्य द्रव्य को ग्रहण करती हैं। धीरे धीरे गर्भ के पोषक आवरण के चारों ओर से रसांकुर (Villi) निकलने लगते हैं। इनके कारण गर्भावरण और गर्भाशय की श्लेष्मल कला के बीच में काफी अवकाश (Chorio-Decidual space) उत्पन्न होता है। इस अवकाश में गर्भाशय की रक्तवाहिनियों से रक्त का संचार होता है। इस तरह गर्भ के चारों ओर इस अवकाश में रक्त की छोटी छोटी असंख्य झीलें बन जाती हैं। प्रारंभ में इन झीलों में केवल केशिकाओं से रक्त आया जाया करता है, परन्तु जब गर्भावरण के रसांकुर शाखाप्रशाखायुक्त और लम्बे हो जाते हैं, तब स्थान स्थान की धमनिकाओं और सिराओं को भी खाते हैं जिससे इन झीलों में धमनियों से रक्त आता है और सिराओं से चला जाता है। गर्भ के संपूर्ण आवरण के रसांकुर इन झीलों में जो रक्त आता है, उससे गर्भ का पोषण करते हैं। यह अवस्था छः सप्ताह तक होती है। इसके बाद वास्तविक अपरा बनने का काम जब शुरू होता है, तब गर्भावरण के समस्त रसांकुर सिकुड़ने लगते हैं और अन्त में पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। केवल जिस स्थान पर अपरा (Placenta) बनती है, उसी स्थान के रसांकुर बढ़ते रहते हैं और छः सप्ताह में अपरा पूर्ण बन जाती है। इसके पश्चात् गर्भ का पोषण केवल अपरा के स्थान के रसांकुरों से होता है, संपूर्ण शरीर के अंकुरों से नहीं। एवं अधिक से अधिक गर्भाधान से तीन महीनों तक गर्भ का पोषण संपूर्ण आवरण के रसांकुरों से होता है। उस समय तक अपरा और नाभिनाडी पूर्णतया बन जाती है। उसके पश्चात् गर्भ का पोषण केवल अपरा में होने वाले आवरणों के रसांकुरों से नाभिनाडी के द्वारा होता है।

असंजाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागम्—यह गर्भ का विशेषण है। यद्यपि अंग-प्रत्यंग से गर्भ के हस्तपादादि अङ्ग-प्रत्यङ्गों का बोध हो सकता है, तथापि पूर्व संदर्भ (Context) के अनुसार अंग-प्रत्यङ्गप्रविभाग से अपरा और नाभिनाडी की पूर्ण रचना समझनी चाहिए। इससे 'अपरा और नाभिनाडी जिसकी पूर्ण नहीं बनी है, ऐसे गर्भ को' यह इसका अर्थ होता है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—गर्भो ह्यसंजाताङ्गप्रत्यङ्गस्यास्य नाभ्यां प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यामपरा। सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां धमनीनाम्—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अपरा और नाभिनाडी बनने के समय तक गर्भ के सर्वशरीर के चारों ओर माता की रसवह धमनियों से जो रस आता है, उससे उसका पोषण होता है। जब अपरा बन जाती है, तब केवल अपरानुसारी माता की रसवह धमनियों से उसका पोषण होता है। इस सूत्र का तात्पर्य संक्षेप में और स्पष्ट शब्दों में निम्न प्रकार से प्रदर्शित कर सकते हैं—असंजातापरानाभिनाडीप्रविभागमनिर्वृत्तप्रकृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति। संजातापरानाभिनाडीप्रविभागमपरानुसारिणीनां रसवहानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति।' मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा—गर्भाशय को रक्त की रसीद गर्भाशय और बीजकोष की (Uterine and ovarian) धमनियों से मिलती है। गर्भाधान होने पर ये धमनियां काफी मोटी और विस्तृत हो जाती हैं। इनकी शाखा-प्रशाखाओं से निकला हुआ रक्त गर्भ के चारों ओर स्थान-स्थान पर इकट्ठा होता है और गर्भावरण के रसांकुर उस रक्त में से गर्भ के लिए पोषकरस ग्रहण करते हैं। जब अपरा बन जाती है, तब केवल अपरा के स्थान की शाखा-प्रशाखाएँ रहती हैं; बाकी शाखाएँ तथा गर्भ के रसांकुर सब नष्ट हो जाते हैं। इधर गर्भ की नाभि से जो नाडी बनती है, वह भी अपरा में प्रतिबद्ध हो जाती है। इस तरह माता की रसवह नाडी और बालक की नाभिनाडी आपस में अपरा के द्वारा मिलती है। एक का रक्त दूसरे में सीधा प्रवेश नहीं करता। माता के और गर्भ के रक्त के बीच में रक्तवाहिनियों की पतली दीवाल और गर्भ का बाह्यावरण रहता है। इन दोनों से निर्मित पर्दा इतना सूक्ष्म होता है कि रक्त में घुले हुए पदार्थ एक तरफ से दूसरी तरफ उसमें से जा सकते हैं। जब तक गर्भ गर्भाशय में होता है, तब तक पोषण श्वासप्रश्वास और मलोत्सर्ग अपरा के द्वारा ही होता है। इसलिए माता के रक्त से पोषणद्रव्य और प्राणवायु गर्भ की ओर और गर्भ के रक्त से रक्तस्थ मल और अंगार द्विजारेय (CO_2) माता की ओर इस पर्दे में से चले जाते हैं। संक्षेप में पोषण, श्वसन और मलोत्सर्जन ये अपरा के तीन कार्य हैं। इन तीन कार्यों के सिवा माता के रक्तगत विष और जीवाणुओं से गर्भ की रक्षा करना तथा अपने अन्तःस्राव (Internal secretion) से गर्भवृद्ध्यर्थ गर्भाशय और स्तनों की वृद्धि कराना ये भी और दो कार्य अपरा के होते हैं (पीछे १५वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। अपरा की उत्पत्ति और बनावट गर्भाधान के समय से गर्भाशय की अन्तःकला मोटी होने लगती है और चार पांच महीने के बाद वह दसगुना मोटी हो जाती है। उसका बाहरी भाग अधिक ठोस होता है और भीतरी (गर्भाशय की पेशी के साथ लगा हुआ) कुछ शिथिल होता है।

इस रचना के अनुसार अन्त कला की निविडस्तर (Stratum C mpactu) और विरलस्तर (Stratum spongiosum) करके दो तह बनती हैं। बीजवाहिनी में से आया हुआ गर्भ निविडस्तर को खाकर विरलस्तर में प्रवेश करता है। गर्भ के प्रवेश से अन्त कला के तीन हिस्से बनते हैं। जो हिस्सा गर्भ और गर्भाशयपेशी के बीच में होता है, वह मूलकला (Decidua Basa) कहलाता है, जो गर्भ के चारों ओर (मूलकला को छोड़कर) होता है वह पिधानकला (Decidua Capsularis) कहलाता है, और जो शेष गर्भाशय के ऊपर होता है वह पतनकला Decidua Vera कहलाता है। गर्भावस्था के प्रारम्भिक छः सप्ताह तक गर्भ के चारों ओर पिधानकला और मूलकला में माता की रसवह धमनियों से जो रस आता है, उसको गर्भ अपने सम्पूर्ण शरीर के आवरण के रसांकुरों से चूसकर बढ़ता है। उसके पश्चात् गर्भाशय की अन्त कला की वृद्धि केवल मूलकला के स्थान पर होती रहती है, गर्भावरण के रसांकुर भी वहीं पर वर्धित और शाखा-प्रशाखायुक्त होते हैं। कुछ रसांकुर मूलकला में भली भाँति चिपटे रहते हैं और कुछ केवल गर्भावरण और मूलकला के बीच में खून से भरी झीलों में निमज्जित रहते हैं। मूलकला के स्थान के अतिरिक्त गर्भावरण में जो रसांकुर होते हैं, वे धीरे धीरे सिकुड़ने लगते हैं और तीन महीने के पश्चात् गर्भ मोटा होने के कारण जब पिधानकला पतनकला से मिल जाती है, तब ये पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं और पिधानकला भी नष्ट हो जाती है। प्रारम्भ में गर्भावरण के रसांकुरों में वाहिनियाँ नहीं होतीं परन्तु धीरे धीरे वह बनने लगतीं और पूर्ण प्रगल्भ रसांकुर में एक छोटी सिरा और धमनी होती है। इनमें बालक का रक्त संचार करता है। माता के और बालक के रक्त में केवल एक पतला परदा होता है। संक्षेप में मूलकला और उसके सामने के गर्भावरण के रसांकुरों की वृद्धि से अपरा बनती है। यह वृद्धि मोटाई और गोलाई दोनों दिशा में होती है। अपरा की एक ओर मूलकला होती है, दूसरी ओर गर्भावरण होता है, दोनों के बीच में रक्ताशय होता है, जिसमें माता की गर्भाशय की धमनियों की शाखा प्रशाखाओं से रक्त आता है और छोटी सिराओं से चला जाता है और जिसमें गर्भावरण के रसांकुर सदैव निमज्जित रहकर पोषक द्रव्य का प्रचूषण और त्याज्य द्रव्य का उत्सर्जन करते रहते हैं। पूर्ण प्रगल्भ अपरा का व्यास ८-९ इञ्च होता है, मध्य में उसकी मोटाई एक इञ्च के लगभग होती है परिसर पतला होता है और तोल ४०-६० तोले के लगभग रहता है। अपरा गर्भाशय की गुम्बी Fundus में चिपटी रहती है। गर्भ की ओर उसका जो पृष्ठ भाग होता है, वह गर्भ के अन्तरावरण या उल्व (Amnion) से आच्छादित होने के कारण चिकना और मुलायम होता है और उसमें से नाभिनाडी की धमनियों और सिराओं की शाखा प्रशाखाएं दीख पड़ती हैं। गर्भाशय की ओर का भाग निम्नोन्नत और खुरदरा होता है। गर्भाशय में अपरा की मोटाई में छेद करने से गर्भ से गर्भाशय की ओर निम्न स्तर मिलते हैं—(१) गर्भ का अन्तरावरण। (२) जरायु या बाह्यावरण (Chorion)। (३) बाह्यावरण के रसांकुर और उनके बीच का अवकाश जिसमें माता का रक्त संचार करता है। (४) गर्भाशय की अन्तःकला का हिस्सा। (५) गर्भाशय की पेशी।

नाभिनाडी—नाभिनाडी गर्भ की नाभि से अपरा के मध्य तक होती है। इसकी लम्बाई साधारणतया १८-२० इञ्च होती है। कभी कभी नाभिनाडी का अभाव होता है, याने नाभि सीधी अपरा से लगी रहती है। यह अवस्था प्रायः नाभिगत आन्त्रवृद्धि (Umbilical hernia) में हुआ करती है। कभी कभी यह बहुत लम्बी होती है। एक बालक में इसकी लम्बाई ६७॥ इञ्च मिली थी। नाडी की लम्बाई कम होने से बालक के बाहर निकलने में कठिनाई होती है, या बालक बाहर निकलते समय वह टूट जाती है या अपने साथ जबर्दस्ती से अपरा को खींच लेती है। इसमें माता और बालक को खतरा होता है। नाडी अधिक लम्बी होने से गर्भ के शरीर या गले पर उसके आवेष्टन पड़ने का डर रहता है। ये आवेष्टन अधिकतर गले के ऊपर ही होते हैं। गले के ऊपर या हाथ पैरों के ऊपर नाडी के आवेष्टन से गर्भ की मृत्यु हो सकती है या आवेष्टित अंग की ठीक वृद्धि नहीं होती। यदि ये आवेष्टन सख्त न हों तो कोई बुरा परिणाम नहीं होता। आवेष्टन लम्बी नाडी को छोटा बनाने का एक स्वाभाविक तरीका है। अधिक आवेष्टन से नाडी छोटी हो जाती है और छोटी नाडी के सब दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार का आवेष्टन (Coiling) अनेक गर्भों में दिखाई देता है। चर्चिल नामक प्रसवचिकित्सक को १९० प्रसूतियों में से ९२ में नाडी के आवेष्टन मिले। आयुर्वेद में नाडी के कण्ठावेष्टन का उल्लेख मिलता है और यह घटना आपत्तिजनक मानी गई है और उसका कारण माता का उत्तानशयन बतलाया गया है—प्रततोत्तानशायिन्याः पुनः गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडी कण्ठमनु वेष्टयति। (चरक, शा० ८)। आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में इसका कोई कारण नहीं बतलाया जाता है। नाभिनाडी में दो धमनियाँ, एक सिरा और कुछ लसदार पदार्थ (Wharton's Jelly) होता है, और इन सबके ऊपर अन्तरावरण का गिलाफ चढ़ा रहता है। नाभिनाडी में बाईं से दाईं ओर ऐंठन Spiral tw भी होती है। नाभिनाडीगत सिरा अपरा के रक्तावकाशों से शुद्ध रक्त गर्भ की ओर ले जाती है और धमनियां गर्भ से अशुद्ध रक्त अपरा की ओर ले जाती हैं।

गर्भस्थ रक्तसंवहन (Foetal circulation)—अष्टांगसंग्रह में गर्भ के रक्तसंवहन का क्रम निम्न प्रकार से वर्णन किया है—तदात् प्रभृति गर्भाशयोपस्नेहोपस्वेदौ वर्तनम्। ततो व्यक्तीभवदङ्गप्रत्यङ्गस्यास्य नाभ्यां प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यामपरा, तया मातृहृदयम्। ततो मातृहृदयादाहाररसो धमनीभिः स्यन्दमानोऽपरामुपैति। तत क्रमान्नाभिम्। ततश्च स पुनर्गर्भस्य पक्वाशये स्वकायाग्निना पच्यमानः प्रसादबाहुल्याद्बालस्यापि पुष्टिकरः सम्पद्यते॥ अपरा से शुद्ध रक्त नाभिसिरा द्वारा नाभि में से होकर यकृत् में प्रवेश करता है। उसमें से कुछ रक्त सीधा सेतु सरा (Ductus venosus) से अधरा महासिरा में प्रविष्ट होता है। बाकी रक्तप्रतिहारिणी महासिरा में प्रवेश करके समस्त यकृत् में संचार करके अधरा महासिरा में मिलता है। अधरा महासिरा का रक्त दक्षिणालिन्द में जाकर शुक्तिच्छिद्र (Foramen ovale) द्वारा सीधा वामालिन्द में से वामा-

निलय में आता है और महाधमनी के द्वारा समस्त शरीर में परन्तु विशेष करके मस्तिष्क और सिर में संचार करता है। उत्तरा महासिरा के द्वारा आया हुआ रक्त भी दक्षिणालिन्द में आता है, परन्तु वह अधरा महासिरा के रक्त से संमिश्र न होकर दक्षिणनिलय में जाकर, वहां से फुफ्फुसाभिगा धमनी के द्वारा फुफ्फुस में जाकर वामानिलय में फुफ्फुससिराओं से आता है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि रक्त फुफ्फुस में विशोधन के लिए नहीं जाता, फुफ्फुसपोषण के लिए जाता है। अधिक रक्त फुफ्फुसाभिगा धमनी से सेतुधमनी (Ductus arteriosus) द्वारा महाधमनी में प्रविष्ट होकर समस्त शरीर में परिभ्रमण करता है। इस तरह समस्त शरीर में परिभ्रमण करके उत्तरा और अधरा महासिरा द्वारा हृदय में आता है और शरीरगत रक्तपरिभ्रमण जारी रहता है। परन्तु अधोशाखा में आये हुए रक्त का कुछ हिस्सा आभ्यन्तरीय अधिश्रोणिकाधमनियों की दो शाखाओं द्वारा नाभिधमनियों में आकर अपरा में शुद्ध होने के लिए जाता है और शुद्ध हुआ रक्त नाभिसिरा द्वारा फिर गर्भ में प्रवेश करता है। इस तरह गर्भ का रक्तपरिभ्रमण होता है। गर्भस्थ रक्तसंवहन की विशेषताएँ—गर्भावस्था में फुफ्फुस बेकाम होता है, उसका कार्य अपरा करती है। सबसे विशुद्ध रक्त यकृत् को मिलता है। गर्भस्थ बालक में यकृत् एक बहुत महत्त्व का अंग है। इसी में माता से जो पोषकरस आता है, उसका परिवर्तन रक्त में होता है। 'स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति' (प्रथमखण्ड पृष्ठ ७७) यह कथन गर्भ के संबंध में पूर्णतया सत्य है। इसके सिवाय जन्मोत्तर क्षीरवर्तनकाल में दूध में लोहे की कमी होने के कारण शरीर को हानि न पहुचे, इसलिए गर्भस्थ बालक माता के आहाररस से अधिक लोहे का ग्रहण करके उसको यकृत् में संचित करता है। इनके कारण गर्भ का यकृत् बहुत बड़ा होता है। जवान मनुष्य में यकृत् का भार शरीर के भार का $\frac{1}{40}$ वाँ अंश होता है। परन्तु गर्भ में वह $\frac{1}{18}$ वाँ अंश होता है। सिर और ऊर्ध्व शाखाओं को कुछ कम शुद्ध रक्त मिलता है और उदरविभाग तथा अधोशाखाओं को सब से अशुद्ध रक्त मिलता है। इसलिए अधोशाखा की धमनियों से दो धमनियाँ रक्त को शुद्ध करने के लिए अपरा की ओर जाती हैं। वही नाभिनाडी की धमनियाँ हैं। इनके सिवाय रक्तपरिभ्रमण मार्ग की कुछ रचनाविशेषताएं भी होती हैं। (१) सेतुसिरा—इससे नाभिसिरा द्वारा आया हुआ रक्त सीधा अधरा महासिरा में जाता है। (२) सेतुधमनी—इससे दक्षिणनिलय का रक्त सीधा महाधमनी में चला जाता है। (३) शुक्तिच्छिद्र—इससे अधरा महासिरा का आया हुआ रक्त दक्षिणालिन्द से सीधा वामालिन्द में चला जाता है। (४) अधिश्रोणिका धमनियाँ—इससे गर्भ का रक्त शुद्ध होने के लिए अपरा की ओर जाता है। ये ही धमनियाँ नाभि के बाहर आने पर नाभिधमनियाँ कहलाती हैं। गर्भ का जन्म होने के दो से पाँच रोज के भीतर शुक्तिच्छिद्र के सिवाय बाकी मार्ग बंद हो जाते हैं। इस तरह माता का रक्तसंवहन स्वतन्त्र होता है, गर्भ का भी स्वतन्त्र होता है। दोनों के रक्त का संयोग (संमिश्रण नहीं) अपरा में होता है। वहां माता अपने शुद्ध रक्त से अपरा की पतली दीवाल के द्वारा गर्भ को पोषकद्रव्य और प्राणवायु दान करती है और गर्भ के अशुद्ध रक्त से प्रांगार द्विजारेय (कार्बन डायोक्साईड) और मल का प्रतिग्रहण करती है। माता और गर्भ के रक्त का मिश्रण नहीं होता, इसका स्पष्ट निर्देश 'उपस्नेह' शब्द से होता है—पूर्णसरःसलिलोपस्नेहस्तीरजाततरुकदम्बकं जीवयति तद्वत् प्राणधारणं करोतीत्यर्थः। (डल्हण)। आनिषेकात् प्रभृति—आ समन्ततो भावेन निषेचनमानिषेको योनौ शुक्रस्य निषेचनं तत्प्रभृति गर्भाधानं मर्यादीकृत्य इत्यर्थः। (डल्हण)। तिर्यग्गतानां धमनीनाम्—नौवें अध्याय में वर्णन की हुई धमनियों का।

गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवतीत्याह शौनकः शिरोमूलत्वात्प्रधानेन्द्रियाणाम्, हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्, नाभिरिति पाराशर्यस्ततो हि वर्धते देहो देहिनः पाणिपादमिति मार्कण्डेयस्तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्य, मध्यशरीरमिति सुभूतिगौतमस्तन्निबद्धत्वात् सर्वगात्रसंभवस्य ॥४१॥

प्रधान इन्द्रियाँ शिरोमूल होने से शौनक ऋषि का मत है कि उत्पन्न होने वाले गर्भ का सब से प्रथम शिर उत्पन्न होता है। बुद्धि और मन का स्थान होने से हृदय (सब से प्रथम उत्पन्न होता है), यह कृतवीर्य का मत है। प्राणी के शरीर की वृद्धि नाभिद्वारा होती है अतः नाभि (प्रथम उत्पन्न होती है), यह पाराशर्य का मत है। गर्भ की चेष्टाओं का मूल होने से पाणिपाद (प्रथम उत्पन्न होते हैं), यह मार्कण्डेय का मत है। संपूर्ण गात्रों की उत्पत्ति वहाँ पर निबद्ध होने से मध्यशरीर (धड़, अन्तराधि प्रथम उत्पन्न होता है), यह सुभूति गौतम का मत है ॥ ४१ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भावस्था में सब से प्रथम गर्भ के किस अङ्ग की उत्पत्ति होती है, इसके संबंध में प्राचीन काल में जो मतमतान्तर प्रचलित थे, उनका संग्रह किया है। इनके अतिरिक्त चरक में निम्न अधिक मत दिये हैं—पक्वाशयगुदमिति भद्रशौनको मारुताधिष्ठानत्वात्। इन्द्रियाणीति जनको वैदेहः तान्यस्य बुद्ध्यधिष्ठानानीति कृत्वा॥ गर्भ के अंग-प्रत्यङ्गों की उत्पत्ति के संबंध में विविध आचार्यों के इस मतमतान्तर को देखकर अंधों के द्वारा हाथी के संबंध में प्रदर्शित किये हुए मतमतान्तर की याद आती है। इन आचार्यों ने केवल एक एक अंग के एक एक कार्य को महत्त्व देकर उसके अनुसार अपना मत प्रदर्शित किया। यहां अंधा शब्द का प्रयोग निरादर प्रदर्शित करने के लिए नहीं किया गया है, वस्तुस्थिति प्रदर्शनार्थ प्रयुक्त किया है। चरक में मतप्रदर्शन के समय एक आचार्य कहते हैं—परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारीचिः कश्यपः। सम्भवतः—'उत्पन्न होने वाले गर्भ का' (विशेषण) अथवा 'प्रायशः, कदाचित्' (अव्यय)। प्रधानेन्द्रियाणाम्—ज्ञानेन्द्रियाणाम्[1]। ततो हि वर्धते देहो देहिनः—नाभि के द्वारा माता का आहाररस गर्भ के शरीर में जाकर उसकी वृद्धि होती है, इसलिए।

तत्तु न सम्यक्, सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत्

१ देहेन्द्रियाणाम्.

उत्तरत्र—चतुर्थ अध्याय के अन्त में ८० वें श्लोक से सत्त्व के लक्षणों का विचार किया गया है। मेधा—धीर्धारणावती मेधा। (अमरकोष)। आत्मज—मातृजादि शब्दों में 'ज' उत्पत्ति बोधक होता है। परन्तु आत्मा के बारे में यह अर्थ असम्भव है क्योंकि आत्मा निर्विकार होता है। इसलिए आत्मज से 'आत्मसन्निकर्षजन्य' समझना चाहिए।

इस सूत्र में गर्भोत्पत्ति की सामग्री के साथ उसके प्रत्येक घटक से गर्भशरीर में उत्पन्न होने वाले अंगों और भावों का वर्णन किया है। इस विषय का विशेष विवरण चरक शारीर के तीसरे अध्याय में किया गया है। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उपर्युक्त सामग्री में से कोई भी एक या दो द्रव्य गर्भोत्पत्ति करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। सब भाव एक समय में उपस्थित होने से गर्भोत्पत्ति होती है—सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—समुदितेभ्य इति वचनात् प्रत्येकं मात्रादीनामितरकारणनिरपेक्षाणां गर्भकारणत्वं निषेधयति। इस विषय के अन्त में चरकाचार्य लिखते हैं:—एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः, यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायात्, यथा वा रथो नानारथाङ्गसमुदायात्॥ (शारीर ३)। ऐसी अवस्था में इस सूत्र में सामग्री के प्रत्येक घटक के सामने जो भाव निर्दिष्ट किये हैं, उनके सम्बन्ध में 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से यह समझना चाहिए कि अमुक भावों की उत्पत्ति में अमुक घटक प्रधान है और शेष अप्रधान हैं। अब प्रत्येक के सामने वर्णन किये हुए भावों का विचार किया जाय तो मातृज और पितृज भावों का वर्गीकरण कहाँ तक ठीक है इसके सम्बन्ध में कुछ सन्देह हो जाता है। इसके सम्बन्ध में इतना कथन पर्याप्त है कि यह वर्गीकरण गुणाधार पर किया गया है—मृदूनि मातृजानि, स्थिराणि पितृजानि॥

तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति दक्षिणाक्षिमहत्त्वं च, पूर्वं च दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति स्वप्नेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातकादीनि पुन्नामान्येव प्रसन्नमुखवर्णा च भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद्विपर्यये कन्यां, यस्याः पार्श्वद्वयमुन्नतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागभिहितलक्षणं च तस्या नपुंसकमिति विद्यात्, यस्या मध्ये निम्नं द्रोणीभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति॥ ४४॥

(गर्भ के स्त्रीपुंनपुंसकलक्षण—) उसमें जिसके दक्षिण स्तन में प्रथम दूध दिखाई दे; दक्षिण आँख भारी हो; (चलते समय) जो दाहिने पैर को प्रथम उठाकर चलना प्रारम्भ करती है; जिसका दोहद अधिकतर पुंल्लिङ्गी द्रव्यों में होता है; स्वप्न में जो पद्म, उत्पल, कुमुद, आम्रातक इत्यादि पुंनामक द्रव्यों को देखती है; जो प्रसन्न मुखवर्ण होती है उसे कहना चाहिए कि वह पुत्र को उत्पन्न करेगी। इससे विपरीत हो तो (कहना चाहिए कि वह) कन्या को (उत्पन्न करेगी)। जिसके दोनों पार्श्व ऊँचे हों, पेट आगे को (मध्य में) सपाट हो और पूर्वोक्त लक्षण हों उसका (गर्भ) नपुंसक समझना चाहिए। जिसका उदर बीच में दबा हुआ द्रोणी के आकार का है, वह युग्म (दो बच्चों) को जन्म देती है (ऐसा जानना चाहिए)॥ ४४॥

वक्तव्य—दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति—तत्र या दक्षिणं पादं पूर्वमभिसरति। (अष्टांगसंग्रह)। पद्मोत्पलकुमुद—कमल के विविध प्रकार (प्रथमखण्ड पृष्ठ ७३ देखो)। विपर्यये—इसके विरुद्ध लक्षण होने पर। जैसे दक्षिण के बदले वाम, पुन्नाम के बदले स्त्रीनाम इत्यादि। मध्ये निम्नम्—गर्भाशय में दो बालक होने के कारण दोनों के मध्य का भाग कुछ निम्न होता है, परन्तु यह मध्यनिम्नता दृष्टिगम्य न होकर स्पर्शलभ्य होती है। द्रोणीभूतम्—पानी भरने के लिए लकड़ी या पत्थर का जो बड़ा पात्र बनाया जाता है, वह द्रोणी कहलाता है। यहाँ पर द्रोणी से पेट के अधिक बड़े होने से अभिप्राय है। यह देखा गया है कि जब उदर में दो गर्भ होते हैं तब नाभि के पास उदर की परिधि (Girth) एक गर्भ की अपेक्षा दो से चार इञ्च तक अधिक होती है।

इस सूत्र में गर्भलिङ्गसूचक जो लक्षण वर्णन किये हैं, उनका गर्भलिङ्ग के साथ कार्यकारणभाव की दृष्टि से (Physiologically) कोई संबंध नहीं है। इसलिए ये लक्षण प्रत्येक गर्भवती स्त्री में नहीं मिल सकते और यदि मिल जायँ तो भी संपूर्ण गर्भावस्था में एक-से नहीं हो सकते। अतः इनके ऊपर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। ये लक्षण अधिकतर दौहृद की जाति के हैं, जो श्रद्धायुक्त गर्भवती स्त्री में कभी कभी मिल सकते हैं और जिनकी उत्पत्ति का तत्त्व दौहृदोत्पत्ति के समान (पीछे इस अध्याय में २९वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हो सकता है। आधुनिक काल में भी गर्भलिङ्गनिर्णय के संबंध में कुछ विचार किया गया है, परन्तु अभी तक इसमें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई है। तथापि निम्न तीन नियम, जो गर्भ तथा तज्जन्य शरीरपरिवर्तन पर निर्भर होते हैं, मार्गदर्शक हो सकते हैं। (१) स्त्रीगर्भ की अपेक्षा पुरुषगर्भ का भार अधिक होता है। यह फर्क प्रथमप्रसवा (Primiparae) स्त्री की अपेक्षा बहुप्रसवा (Multiparae) स्त्री में अधिक होता है। (२) स्त्रीगर्भ की अपेक्षा पुरुषगर्भ के हृदय की गति कुछ कम होती है। (३) सगर्भावस्था में स्त्री के शरीर से मूत्रद्वारा न्यासर्ग (Hormone, प्रणालीहीन ग्रंथियों से उत्पन्न होने वाले पदार्थ) अधिक मात्रा में उत्सर्गित होते हैं। उनकी राशि के अनुसार भी स्त्री या पुरुष का निर्णय (Hormonic diagnosis) करने की कोशिश की जाती है।

गर्भ के लिङ्गनिर्णय में जैसी कठिनाई होती है, वैसी कठिनाई युग्मनिर्णय में नहीं होती। युग्म का निदान निम्न चार पद्धतियों से किया जाता है। (१) परिधिमापन—इसका उल्लेख ऊपर द्रोणीभूत की टिप्पणी में किया गया है। (२) स्पर्शन—उदरविभाग पर टटोलने से दो गर्भों के दो सिर, कभी दोनों नीचे की ओर, कभी एक नीचे और एक ऊपर, दो पीठ और शाखाओं की अधिकता प्रतीत होती है तथा दोनों के बीच में प्रणाली रहती है। इसी के उपलक्ष्य में इस सूत्र में 'मध्ये निम्नम्' शब्द प्रयोग किया गया है। (३) श्रवण—चतुर्थ मास के पश्चात् गर्भवती स्त्री के उदर पर कान लगाने से या श्रवणनलिका से गर्भहृदय के स्पन्द सुनाई देते हैं। उदर में दो गर्भ होने से दो हृदय के स्पन्द

सुनाई दे सकते हैं। इसलिए यदि दो सुननेवाले माता के उदरविभाग के दो स्वतन्त्र स्थानों पर एक समय में दो स्वतन्त्र हृदयों को सुनकर उनकी स्पन्दनसंख्या गिन सकें और यदि प्रत्येक हृदय की गतिसंख्या दूसरे की तथा माता के हृदय की गतिसंख्या से भिन्न हो तो युग्म का निदान हो जाता है। युग्मनिदान का यह मार्ग बहुत विश्वसनीय और सरल है। (४) क्ष-किरण (Radiography)—क्ष-किरणों के द्वारा देखने से या चित्र खींचने से भी युग्मनिदान हो जाता है। जब दोनों गर्भ दो पार्श्वों में होते हैं तब निदान में विशेष कठिनाई नहीं होती, परन्तु जब एक पीछे और दूसरा आगे की ओर होता है, तब निदान में कठिनाई हो जाती है।

भवन्ति चात्र—

देवताब्राह्मणपराः शौचाचारहिते रताः।
महागुणान्प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान् ॥ ४५ ॥

देवता-ब्राह्मणपरायण, (शास्त्र) शुद्ध और हितकर आचार में रत (माता या माता-पिता) गुणवान् संतान को जन्म देते हैं और विपरीत (आचारयुक्त) गुणहीन (संतान) को (उत्पन्न करते हैं) ॥ ४५ ॥

वक्तव्य—शौचाचारहिते रता—शौचाचारे हिताचारे च रताः। शौचाचार—धर्मशास्त्र में जो आचार बताये गये हैं, उनके अनुसार व्यवहार। हिताचार—आयुर्वेद में जो स्वास्थ्यकर आचार बताये गये हैं, उनके अनुसार व्यवहार। महागुण और निर्गुण—गुण से यहाँ पर शारीरिक और मानसिक गुणों का बोध होता है। महागुण जीव वह है, जिसके शरीर में कोई व्यंग न हो तथा मन में कोई मानसिक दोष न हो (प्रथमखण्ड पृष्ठ ८ तथा १२० देखो)। इससे विपरीत शरीरव्यंगयुक्त और मानसिक दोषयुक्त निर्गुण होता है।

इस श्लोक में यह बताया गया है कि जब माता-पिता सदाचार और हिताचार के अनुसार व्यवहार रखते हैं, तब उनके संतान बीजाङ्कुरन्यायेन सब दृष्टि से गुणवान् होते हैं—यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम् । (महाभारत, शान्तिपर्व)। यथा बीज तथाकुर। परन्तु यह नियम सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में निरपवाद नहीं है। संसार में कई बार यह देखा जाता है कि माता-पिता सच्छील, सदाचारी और गुणवान् होते हुए भी उनके सन्तान कभी शारीरिक व्यंगों से युक्त, कभी मानसिक दोषों से युक्त और कभी दोनों से युक्त दिखाई देते हैं। यदि केवल माता-पिता के गुणावगुण के ऊपर सन्तान के गुणावगुण निर्भर होते तो इस तरह का दृश्य कदापि नहीं दिखाई देता। परन्तु इसमें माता-पिता के गुणावगुण के अतिरिक्त और एक कारण होता है, जिसका निर्देश नीचे सार्ध श्लोक में करते हैं—

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते।
अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ ये भवन्ति गुणागुणाः ॥
ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माधर्मनिमित्तजाः ॥ ४६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भावक्रान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अंग-प्रत्यङ्गों की निष्पत्ति स्वभाव से ही होती है। (परन्तु) अंग-प्रत्यङ्गों की निष्पत्ति में जो गुणावगुण होते हैं, वे गर्भ के (पूर्वजन्म के) धर्माधर्म के कारण समझने चाहिएँ ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—अङ्गप्रत्यङ्ग—हाथ-पैर, धड़ और सिर ये छः अंग और इनके भीतरी हृदय, यकृत्, प्लीहा इत्यादि अवयव प्रत्यङ्ग होते हैं। इनमें मन, बुद्धि इत्यादि मानसिक गुणों का भी समावेश होता है। निर्वृत्ति—शुक्रशोणितसंयोग होने के पश्चात् उपर्युक्त शरीरगत सपूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गों का सूत्रपात होना, यथाकाल और यथोचित उनकी वृद्धि होना और योग्य समय पर प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वरूप जैसा होना चाहिए, वैसा बनना इसको निर्वृत्ति (Growth and developement) कह सकते हैं। स्वभावात्—इसका विवरण पीछे प्रथम अध्याय में हो चुका है। जैसे, पानी नीचे की ओर बहता है, अग्निज्वाला ऊपर की ओर उठती है इनको किसी के मार्गदर्शित्व की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही संयुक्त शुक्रशोणित को विविध अङ्गों की निष्पत्ति के लिए किसी के मार्गदर्शित्व की आवश्यकता नहीं होती। गुणागुण—बनावट और कार्य की दृष्टि से जो अङ्ग जैसा होना चाहिए, वैसा होना उसका गुण, इससे विपरीत अवगुण। जैसे, हृदय में चार कोष्ठ होना, कोष्ठों के कपाटयुक्त द्वार होना, गर्भावस्था में दो अलिन्दों की दीवाल में शुक्तिच्छिद्र (Foramen ovale) का होना, जन्म के पश्चात् दस दिन के भीतर उसका बन्द होना इत्यादि हृदय के गुण हैं। इससे विपरीत, जैसे शुक्तिच्छिद्र का बन्द न होना इत्यादि, अवगुण होते हैं। महास्रोत (Alimentary canal) एक बड़ा अङ्ग जिसमें कई प्रत्यङ्ग होते हैं। महास्रोत का मुख से गुदा तक का मार्ग अनवरुद्ध होना, सब प्रत्यङ्ग यथास्थान होकर उनकी रचना ठीक होना ये महास्रोत के गुण हैं। ओष्ठ खण्डित होना (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४०६ देखो), तालु में विदार (Cleft palate), गुदनलिका की अनिच्छिद्रता (Imperforate anus) इत्यादि उसके अवगुण होते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि निर्वृत्ति के अवगुणों से यहाँ पर सहज या जातज दो[ष] (Congenital malformations Developements errors) अभिप्रेत हैं।

इस श्लोक का संक्षेप में तात्पर्य यह है कि मनुष्य व अन्य प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि में स्वभाव सर्वदा नियमानुसार काम करता है, नियम के विरुद्ध काम उससे कदापि नहीं होता। आधुनिक काल में जो स्वभाव के अवगुण (Freaks of nature) कहलाते हैं, वे वास्तव में स्वभाव के नहीं होते हैं, परन्तु जिसमें ये अवगुण दिखाई देते हैं उसके पूर्वजन्म के कर्म के फल होते हैं, चाहे वे अवगुण मनुष्यों में हों या मनुष्येतर प्राणियों में हों, क्योंकि जैसे एक ही आत्मा अपने पूर्वकर्म से उच्च या नीच योनि में प्रवेश करता है, वैसे धर्माधर्म का फल भोगने के लिए अव्यङ्ग या सव्यङ्ग शरीर को पाता है।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने गर्भावक्रान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः।

अथातो गर्भव्याकरणं नाम शारीरं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ १॥

अब इसके बाद गर्भव्याकरण नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था॥ १॥

वक्तव्य—व्याकरणम्—विस्तार करना—[illegible]—पिछले अध्याय में गर्भ की उत्पत्ति और वृद्धिक्रम वर्णन किया है। इस अध्याय में गर्भ के अङ्गों का विस्तार से वर्णन किया गया है, इसलिए यह अध्याय गर्भव्याकरण कहलाता है।

अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः॥ २॥

(शरीर के जीवनीय तत्त्व—) पित्त, कफ, वायु, सत्त्व, रज, तम, (नेत्रादि) पांच (ज्ञान की) इन्द्रियाँ और पुरुष ये प्राण हैं॥ २॥

वक्तव्य—अग्निः—पित्त—'अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति।' (चरक)। सोमः—कफ—'सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति।' (चरक)। भूतात्मा—अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण पञ्चमहाभूतात्मक शरीर में अवस्थित हुआ पुरुष, अर्थात् कर्मपुरुष—'भूते भूते व्यवस्थितः आत्मा भूतात्मा।' प्रथम अध्याय के चतुर्थ सूत्र के वक्तव्य में भूतात्मा देखो। प्राणाः—'जीवयन्तीति प्राणाः, प्राणनाद् प्राणाः।' पञ्चभूतात्मक जड शरीर में जीवन या चैतन्यता के लक्षण जिनके कारण उत्पन्न होते हैं, वे तत्त्व प्राण कहलाते हैं। यद्यपि वास्तव में पुरुष चैतन्यता का कारण है, तथापि वह स्वयं उन लक्षणों को उत्पन्न नहीं कर सकता, उसको कुछ कारणों की आवश्यकता होती है—'आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं तस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते॥ नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्। संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन।' (चरक, शारीर १)। चैतन्यता के लक्षण (Signs of life) प्रथम अध्याय के १८ वें सूत्र में आत्मा के लिङ्ग करके दिये गये हैं। आधुनिक काल में जीवन के पांच लक्षण माने गये हैं। (१) उद्दीप्यता—(Irritability)—बाह्य उत्तेजना या आघात से उद्दीपित होकर उसके प्रतीकार के लिए या शरीररक्षा के लिए उचित परिवर्तन करने की शक्ति। (२) सात्म्यीकरण (Assimilation)—खाद्य पेय पदार्थों को सेवन करके उनको हजम करना। (३) वर्धन—दिन-प्रतिदिन शरीर की वृद्धि करना। (४) प्रजोत्पादन—अपने समान जीवधारियों को जन्म देना। (५) मलोत्सर्जन—शरीरगत त्याज्य पदार्थों का उत्सर्ग करना। ये लक्षण सब जीवधारियों के लिए लागू हैं। आयुर्वेद शास्त्र मनुष्यों के लिए होने के कारण जीवन के दिये हुए लक्षण मनुष्य-प्राणी का अधिक ख्याल रखके दिये गये हैं। तथापि उनसे भी आधुनिक पाँचों का अर्थ निकलता है। यहाँ पर जो बारह प्राण दिये गये हैं, उनमें त्रिदोष सात्म्यीकरण, मलोत्सर्जन, वर्धन इत्यादि के द्वारा, त्रिगुण सुख-दुःखादि के द्वारा शरीर में चैतन्य का प्रदर्शन करते हैं। पञ्चबुद्धीन्द्रियाँ विषयोपलब्धि के द्वारा यही कार्य करती हैं।

तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति। तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्ववर्णानवभासयति पञ्चविधां च छायां प्रकाशयति, सा व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा, सिध्मपद्मकण्टकाधिष्ठाना; द्वितीया लोहिता नाम, व्रीहिषोडशभागप्रमाणा, तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठाना; तृतीया श्वेता नाम, व्रीहिद्वादशभागप्रमाणा, चर्मदलाजगल्लीमशकाधिष्ठाना; चतुर्थी ताम्रा नाम व्रीहेरष्टभागप्रमाणा, विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना; पञ्चमी वेदिनी नाम, व्रीहिपञ्चभागप्रमाणा, कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना; षष्ठी रोहिणी नाम, व्रीहिप्रमाणा, ग्रन्थ्यपच्यर्बुदश्लीपदगलगण्डाधिष्ठाना; सप्तमी मांसधरा नाम, व्रीहिद्वयप्रमाणा, भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना। यदेतत् प्रमाणं निर्दिष्टं तन्मांसलेष्ववकाशेषु, न ललाटे सूक्ष्माङ्गुल्यादिषु; यतो वक्ष्यत्युदरेषु—व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येदिति॥ ३॥

(त्वचा—) इस प्रकार (भूतात्मा से अधिष्ठित होने पर) प्रवृत्त हुए और पश्चात् त्रिदोषों से पकते हुए उस शुक्रशोणित की सात त्वचाएँ बनती हैं, जैसे दूध की मलाई। उनमें प्रथम अवभासिनी नामक (त्वचा) है, जो सब वर्णों को प्रकट करती है और पांचों प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है। यह (त्वचा मोटाई में) व्रीहि (धान्य) के अठारहवें भाग के प्रमाण की है (और) सिध्म तथा पद्मकण्टक का अधिष्ठान होती है। दूसरी लोहिता नामक है, जो व्रीहि के सोलहवें भाग के प्रमाण की और तिलकालक, न्यच्छ और व्यङ्ग की अधिष्ठात्री है। तीसरी श्वेता नामक है, जो व्रीहि के बारहवें भाग के प्रमाण की और चर्मदल, अजगल्ली और मशक की अधिष्ठात्री है। चौथी ताम्रा नामक है, जो व्रीहि के आठवें भाग के प्रमाण की और विविध प्रकार के किलास और कुष्ठों की अधिष्ठात्री है। पांचवीं वेदिनी नामक है, जो व्रीहि के पांचवें भाग के प्रमाण की और कुष्ठ तथा विसर्प की अधिष्ठात्री है। छठी रोहिणी नामक है, जो व्रीहि के प्रमाण की है और जो ग्रंथि, अपची, अर्बुद, श्लीपद, गलगण्ड की अधिष्ठात्री है। सातवीं मांसधरा नामक है जो दो व्रीहि के प्रमाण की और भगन्दर, विद्रधि और अर्श की अधिष्ठात्री होती है। यह जो प्रमाण बताया गया है वह मांसल स्थानों का है; ललाट अंगुल्यादि सूक्ष्म स्थानों का नहीं। इसलिए उदररोग (चिकित्सा) में कहते हैं कि व्रीहिमुख शस्त्र से अँगूठे की चौड़ाई के बराबर वेधन करे॥ ३॥

वक्तव्य—एवं प्रवृत्तस्य—शुक्र और शोणित का संयोग होने पर उसमें जब पुरुष प्रवेश करता है, तब आगे गर्भाभिनिर्वृत्ति की ओर वह प्रवृत्त होता है। इसलिए भूतात्मा के संयुक्त होने के पश्चात् सर्वाङ्गपरिपूर्ण गर्भ उत्पन्न करने की ओर प्रवृत्त हुए। अभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः—अग्नि के द्वारा परिपक किये जाते हुए दूध के पृष्ठ भाग पर जैसे मलाई की कई तहें बनती जाती हैं और

पूर्णपक्व दूध के ऊपर इन सब तहों से मोटी मलाई बनती है, वैसे ही त्रिदोषों के विशेषतया पित्त के द्वारा परिपक्व (वर्धित) होते हुए गर्भ के पृष्ठ भाग पर त्वचा की कई तहें बन जाती हैं और सर्वाङ्गपरिपूर्ण गर्भ के शरीर पर ये सब तहें मिलकर त्वचा बनती है। सप्त त्वचः—सम्पूर्ण शरीर को बाहर से आवृत करने वाला अंग त्वचा है। एता षट् शरीरमवतत्य तिष्ठन्ति। (चरक)। इस अर्थ से त्वचा को Common integument कहते हैं। यहाँ पर जो सात त्वचाएँ वर्णन की गई हैं, वे सात स्वतन्त्र त्वचाएँ न होकर एक त्वचा के सात स्तर (Layers of skin) हैं। इन स्तरों का क्रम बाहर से भीतर की ओर है, अर्थात् अवभासिनी बाहर की और मांसधरा सब से भीतर की है। चरक और अष्टांगसग्रह में छः त्वचाएँ वर्णित हैं—शरीरे षट् त्वचः। (चरक, शा० ७)। तत्रास्त्र पच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिका षट् त्वचो भवन्ति। (अष्टांगसंग्रह, शा० ५)। उनका भी क्रम बाहर से भीतर की ओर है और इस क्रम के अनुसार सुश्रुतोक्त मांसधरा स्तर को चरकाचार्य त्वचा में समाविष्ट नहीं करते हैं, ऐसा *मालूम होता है। यह अनुमान* इन्दु की टीका के आधार पर किया गया है—षष्ठी तु प्राणधरा। (अष्टांगसग्रह)। षष्ठी सर्वामामन्तर्मांसलग्ना, सा प्राणानन्तर वस्थाऽवतत्यावतिष्ठति। (इन्दु)। यदि वास्तविक दृष्टि से *विचार किया जाय तो त्वचा के छः स्तर होते हैं।* इसलिए चरक का कथन ठीक है। सुश्रुत में मांसधरा त्वचा का त्वचा में जो समावेश किया गया है, उसका भी कारण है जिसका विवरण आगे किया गया है। अवभासिनी—यह त्वचा सब से बाहर की है। चरक में यही त्वचा उदकधरा बतलाई है। इसका कारण यह है कि इसके होने से शरीरगत रस तथा लसिका बाहर नहीं आ सकती और इसके छिल जाने से निकलने लगती है—तासां प्रथमा देहम् उदक बिभर्ति येन बहिरार्द्रत्वाभावः। (इन्दु)। पञ्चविधा छाया—प्रथमखण्ड पृष्ठ १८१ देखो। सिध्म—एक प्रकार का क्षुद्र कुष्ठ। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३४३ देखो। पद्मिनी कण्टक—एक क्षुद्र रोग। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३९७ देखो। तिलकालकादि—ये क्षुद्र रोग हैं। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३९७ देखो। चर्मदल—क्षुद्र कुष्ठ का एक प्रकार। अजगल्लीमशक—क्षुद्ररोग। श्विलास—सफेद कोढ। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३४४ देखो। कुष्ठ—इससे चौथी त्वचा के अधिष्ठान में त्वग्रोग (Skin diseases) और पाँचवीं त्वचा में कोढ (Leprosy) समझना चाहिए। ग्रन्थ्यपची इत्यादि—कुछ ग्रंथियाँ (जैसे, Sebaceous cyst प्रथमखण्ड पृष्ठ ३७७ देखो), कुछ अर्बुद (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३८० देखो) तथा श्लीपद (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३८९ देखो) ये रोग त्वचा में होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। अपची त्वचा के नीचे स्थित स्तर (Subcutaneous tissue) में होने वाली लसिका ग्रंथियों का रोग है (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३७८ देखो) गलगण्ड—थायराइड नामक ग्रीवा मध्य स्थित ग्रंथि का यह रोग है। यह ग्रंथि त्वचा से बहुत दूर होती है। त्वचा और इस ग्रंथि के दरमियान पेशियाँ (मांस) आती हैं। अब तक प्रथम छः त्वचाओं में जिन रोगों का उल्लेख किया गया है वे सब रोग, अपची और गलगण्ड को छोड़कर, त्वचा में ही उत्पन्न होते हैं, यह बात आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के अनुसार भी सिद्ध है। यदेतत्प्रमाणं निर्दिष्टम्—प्रत्येक त्वचा का तथा सातों त्वचाओं *का प्रमाण। सातों त्वचाओं की कुल मोटाई डल्हण के* अनुसार ४$\frac{1}{2}\frac{?}{?}$ यव होती है—व्रीहिरत्र यव, प्रत्येक व्रीहि विस्तारस्य विंशतिर्भागा. परिकल्पनीया., ते चाष्टादशभागा अवभासिन्या. प्रमाणम्, एव वक्ष्यमाणेष्वपि विंशतिभागेषु षोडशप्रभृतयो भागा बोद्धव्या॥ इस प्रकार से त्वचा की मोटाई वास्तविक मोटाई से बहुत अधिक होती है, इसलिए 'व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा' इसका अर्थ डल्हण के अनुसार $\frac{१८}{२०}$ यव ऐसा न करके $\frac{१}{१८}$ यव ऐसा किया गया है। इससे सातों स्तरों की मोटाई साढ़े तीन यव (३$\frac{?}{?}$) के लगभग होती है। यह मोटाई सब जगह एक सी नहीं होती। यहाँ पर निर्दिष्ट किया हुआ प्रमाण उच्चतम मर्यादा का है। मांसलेष्ववकाशेषु—इसके दो *अर्थ हो सकते हैं। (१) जहाँ त्वचा अधिक मांसल* याने स्थूल (Thick) है, ऐसे अवकाशों याने स्थानों में। यह साधारण अर्थ है। (२) मांसधरा त्वचा से आवृत अवकाशों याने रिक्त स्थानों में, जैसे कोष्ठ या उदरगुहा। *यह दूसरा अर्थ यहाँ पर अभिप्रेत है, क्योंकि उसी का* उदाहरण आगे दिया है। यतो वक्ष्यत्युदरेषु—चिकित्सास्थान के १४वें अध्याय के अन्त में उदरगुहागत जल निकालने के शस्त्रकर्म में। अङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढम्—त्वचा की मोटाई की ऊपर जो उच्चतम मर्यादा निर्दिष्ट की गई है, उसको सिद्ध करने के लिए यह उदाहरण दिया गया है। जल निकालने के लिए जहाँ पर वेध किया जाता है, वह स्थान नाभि के नीचे बाईं ओर चार अंगुल पर होता है—अधो नाभेर्वामत श्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेन इत्यादि। उस स्थान का जल तक छेद लिया जाय तो बाहर से भीतर की ओर निम्न भाग मुख्यतया मिलते हैं, त्वचा और उदरप्राचीर की पेशियाँ। त्वचा में उपत्वचा (Subcutaneous tissue का और पेशियों में उदरकला का समावेश कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सुश्रुत में उदरगुहा का आगे का आवरण केवल त्वचा से निर्मित माना जाता है—अङ्गुष्ठोदर प्रमाणमिति, एतेनैतदुक्त भवति—सप्तानां त्वचां समुदायेनाङ्गुष्ठोदर प्रमाणमस्ति, अङ्गुष्ठोदर विंशतिप्रभागोनषड्यवप्रमाणम्॥ (डल्हण)। इसका प्रत्यय सद्योव्रणचिकित्सा में मिलता है—त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा। कोष्ठे प्रतिष्ठित शल्य कुर्यादुक्तानुपद्रवान्॥ (चिकित्सा २)। यहाँ पर केवल त्वचा (त्वचः सप्त। डल्हण) पार करने से शल्य कोष्ठ में प्रवेश करता है, यह स्पष्ट लिखा है।

आधुनिक काल में प्रत्यक्षीकृत त्वचा की बनावट—सूक्ष्मदर्शक के द्वारा त्वचा का परीक्षण करने पर उसमें बाहर से भीतर की ओर निम्न स्तर मिलते हैं। (१) शार्ङ्ग या कठिन स्तर (Horny layer)—यह स्तर अधिच्छदीय कोशाओं (एपिथेलिअल सेलों) की कई तहों से बनता है। इसकी कोशाएँ सब से बाहर होने से पीडन और दबाव के कारण कठिन या सींग के समान होती हैं। यह अवस्था पैरों के तलुओं में, हथेलियों में, विशेषतया अंगुलियों की जड़ों के पास के घट्टों में सहज ही में दिखाई देती है। इसलिए यह स्तर शार्ङ्ग या कठिन कहलाता है। जहाँ पर अधिक पीडन होता है, वहाँ पर इसकी मोटाई काफी बढ़ती है। (२) स्वच्छ स्तर (Stratum lucid

um)-इसमें स्वच्छ कोशाएँ होती हैं। इसकी मोटाई बहुत नहीं होती। (३) कणमय स्तर (Stratum granulosum)- इसमें कणयुक्त कोशाओं की दो तीन तहें होती हैं। ये सेलें चपटी और कठिन स्तर तथा माल्पीघिअन स्तर की कोशाओं के बीच की (संक्रमणावस्थिक Transitional) होती हैं। (४) वर्णमय स्तर (Malpighian layer)—यह स्तर कोशाओं की कई तहों से बनता है। ऊपर के स्तर इस स्तर की कोशाओं से बनते हैं। सब से ऊपर के स्तर की कोशाओं का नाश होने पर उनके स्थान पर नीचे की कोशाएँ चली जाती हैं। नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते समय कोशाओं में इस प्रकार का परिवर्तन होता है कि वे कठिन हो जाया करती हैं। ये चारों स्तर मिलकर बाह्य त्वक् (अधिचर्म Epidermis) बनती है। वर्णयुक्त लोगों की त्वचा में वर्णक या रंग द्रव्य होता है, जिसके कारण वे काले या पीले या साँवले दिखाई देते हैं। वर्णक की अधिक राशि माल्पीघिअन स्तर में होती है और उत्तरोत्तर कम होती जाती है परन्तु सब से बाहर के कठिन स्तर में भी रंगद्रव्य होता है और उसमें रंगद्रव्य की न्यूनाधिकता के कारण मनुष्य का वर्ण गोरा या साँवला या काला दिखाई देता है। रंगद्रव्य के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसकी उत्पत्ति चौथे स्तर की कोशाओं में होती है, और वहाँ से ये रंग के साथ सब से ऊपर के स्तर में चलती हैं। इस स्थानान्तर में उनमें कुछ परिवर्तन भी होता है जिससे ये कठिन होती हैं तथा उनकी रंगद्रव्य की राशि कम हो जाती है। चौथे स्तर में रंगद्रव्य अधिक होने से त्वचा का वर्ण अधिक गहरा होगा और कम होने से फीका होगा। परन्तु वर्ण का हमें जो ज्ञान होता है, वह सब से बाहर के स्तर के द्वारा ही होता है। बाह्यत्वचा के इन चार स्तरों में रक्तवाहिनियाँ नहीं होतीं। इनका पोषण लसिका द्वारा होता है। नाड़ियों के तन्तुक (Nerve fibrils) वर्णमय स्तर की सेलों के बीच में फैले हुए रहते हैं। (५) अंकुरमय स्तर (Papillary layer)—इस स्तर में नन्हें नन्हें अंकुर या कंगूरे (Papillae) होते हैं। ये अंकुर तान्तव धातु, रक्तवाहिनियाँ, स्पर्शपिण्ड (Tactile corpuscles) और नाड़ियों के तन्तुकों से बनते हैं। हथेलियों और तलुओं में ये अंकुर मोटे, अधिक संख्या में और एक लकीर में होते हैं। इनके कारण समान्तर मुण्डरें बन जाती हैं। इनके ऊपर ऊपर के स्तर ढले रहते हैं, जिसके कारण बाह्य त्वक् में भी मुण्डरें उत्पन्न होती हैं। अँगुलियों के शंखचक्रादि चिह्न इन्हीं के कारण उत्पन्न होते हैं। आजकल यह बात सिद्ध हो गई है कि एक मनुष्य के हस्ताक्षर दूसरे मनुष्य के हस्ताक्षरों से मिल सकते हैं, परन्तु अँगुलियों के छाप नहीं मिल सकते। अतः मनुष्यों की पहचान करने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। (६) जालिमय स्तर (Reticular layer)—इस स्तर में जालि के समान तन्तु फैले रहते हैं। इसमें रोमकूप, स्वेदग्रंथि, तैलग्रंथि और कुछ मांसतन्तु भी होते हैं। ये मांसतन्तु रोमकूपों से संबंधित होते हैं। इनके सिवाय वृषण, शिश्न और स्तनों की त्वचा में भी मांसतन्तु होते हैं। इस स्तर के नीचे उपत्वचा होती है और उसी में मेद, रक्तवाहिनियाँ और लसिकावाहिनियाँ अवस्थित होकर ऊपर के स्तरों को पोषित करती हैं। अंकुरमय और जालिमय स्तर मिलकर अन्तस्त्वक् (Dermis) होती है। इसकी मोटाई ऊपर के चारों स्तरों (बहिस्त्वक्) की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। प्राचीन और अर्वाचीन स्तरों का संबंध—जैसे जब दो लेखक एक ही वस्तु का वर्णन करते हैं, तब उस वर्णन में कुछ भिन्नता होने पर भी कुछ समता या साम्य स्थल होना अनिवार्य होता है। वैसे ही दो लेखकों के द्वारा यहाँ पर वर्णित त्वचा के विवरण में कुछ भिन्नता होने पर भी कुछ समता होना अनिवार्य है। भिन्नता दृष्टिभिन्नता और साधनभिन्नता के कारण और एकता वस्तु-ऐक्य के कारण होती है। अतः प्राचीन और अर्वाचीन वर्णन में कहाँ तक भिन्नता है और कहाँ तक एकता है इसका विचार किया जायगा। संख्या—चरक और वाग्भट के अनुसार त्वचा के छः और सुश्रुत के अनुसार सात स्तर होते हैं। आधुनिक सूक्ष्म शारीर के अनुसार त्वचा के छः स्तर होते हैं। इसलिए संख्या की दृष्टि से चरक का मत ग्राह्य समझना चाहिए। सुश्रुत ने जो मांसधरा नामक स्तर वर्णन किया है, वह स्तर चरक और वाग्भट ने नहीं दिया है अर्थात् यही स्तर त्वचा के बाहर का मालूम होता है और उसके निम्न कारण हैं। (१) इसके नाम से यह स्तर मांसमय याने पेशीमय (Muscular) मालूम होता है। (२) जो उदाहरण दिया है, उसका विश्लेषण करने पर यही बात स्पष्ट होती है। (३) मांसधरा त्वचा की मोटाई बहुत अधिक है। इतनी अधिक मोटाई त्वचा के किसी भी स्तर की नहीं हो सकती। (४) इस स्तर में जिन रोगों का अधिष्ठान बताया गया है, वे रोग आयुर्वेद में मांसजन्य बतलाये गये हैं—प्रकुपिता दोषाः०—प्रदूष्य गुदवलीर्मांसप्ररोहाञ्जनयन्ति। (सुश्रुत, नि० २)। वायुः प्रकुपितो गुदस्याभितोऽङ्गुले द्व्यङ्गुले वा मांसशोणिते प्रदूष्य पिडकां जनयति। (भगन्दरनिदान ४)। ये दोनों रोग यद्यपि मांस में नहीं होते तथापि त्वचा में भी नहीं होते और मांसल स्तर के साथ घनिष्ट संबंध रखते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। संक्षेप में मांसधरा स्तर त्वचा के बाहर का है और एक विशेष उद्देश्य से (उदरवेधन की दृष्टि से) उसका समावेश सुश्रुत में त्वचा के स्तरों में किया गया है। स्तरों का समन्वय—प्राचीन और अर्वाचीन वर्णन के अनुसार जब स्तरों की संख्या समान हो चुकी है तथा क्रम भी एक है, तब क्रम के अनुसार एक स्तर दूसरे का पर्याय मानने में कोई खास आपत्ति नहीं हो सकती। तथापि यही कार्य प्राचीन स्तरों के लक्षणों की तुलना अर्वाचीन स्तरों के साथ करके किया जाता है। पाँचवीं त्वचा का नाम वेदिनी है। संवेदना का कार्य इस त्वचा से अधिक होने के कारण इसका यह नाम रक्खा गया होगा। आधुनिक खोज के अनुसार स्पर्शपिण्ड तथा नाड़ियों के तन्तुक अंकुरमय स्तर में होने के कारण संवेदना का कार्य इसी स्तर से होता है। दग्ध में जब इसके ऊपर के सब स्तर जल जाते हैं और इसको भी कुछ हानि पहुँचती है (तीसरी अवस्था का दग्ध, प्रथमखण्ड पृष्ठ ६९ देखो), तब अत्यन्त तीव्र स्वरूप की वेदना होती है। इस स्तर में होने वाले जो रोग बताये गये हैं, वे भी इसी स्तर में होते हैं। कुष्ठ के संबंध में लिखा है—

In the earliest skin lesions infiltration of the papillary layer of the corium produces erythe-

matous patches etc *Tropical medicine by Rogers and Megaw*

विसर्प के संबंध में लिखा है—microscopic examination of the skin of the affected part shows that the cutis and subcutaneous tissues are swollen, etc *Taylor's Practice of medicine*

इससे यह स्पष्ट होगा कि वेदिनी त्वचा को Papillary layer का पर्याय मानने में कोई आपत्ति नहीं है। रोहिणी त्वचा वेदिनी के नीचे होने के कारण उसको Reticular layer समझ सकते हैं। इसमें रक्त की अधिकता के कारण (गूढा समस्थिता स्निग्धा रोहिण्य शुद्ध शोणितम्) तथा त्वचा छिल जाने पर या जल जाने पर इसी स्तर से रोहित या रोपित होने के कारण इसका रोहिणी नाम सार्थ है। इसी स्तर में उपत्वचा (Subcutaneous tissue) का भी समावेश करना चाहिए। चौथा स्तर ताम्रा का है। इसमें श्वेतकुष्ठ का अधिष्ठान बताया गया है। श्वेतकुष्ठ तब होता है, जब त्वचागत रंगद्रव्य की उत्पत्ति बंद हो जाती है (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३४४ देखो)। इस रंग का मुख्य स्थान वर्णमय स्तर है। इसलिए ताम्रा स्तर Malpighian layer का पर्याय माना जा सकता है। प्रथम त्वचा अवभासिनी नामक है। इसी से मनुष्य के वर्ण का ज्ञान होता है। यद्यपि रंगद्रव्य सब से अधिक माल्पीघिअन स्तर में होता है तथापि तद्गत रंगद्रव्य का प्रत्यक्ष उसके ऊपर के स्तर अपारदर्शक होने के कारण नहीं हो सकता। सब से बाहर की त्वचा में रंगद्रव्य की जो कुछ भी राशि होती है, उसी से मनुष्य के वर्ण का ज्ञान होता है। इसके सिवाय उदकधरण का उसका जो धर्म वर्णन किया है, वह भी उसकी कठिनता के कारण स्पष्ट होता है। इसलिए अवभासिनी से Horney layer समझना चाहिए। बाकी स्तर बाकी के पर्याय समझने चाहिएँ, जैसे—लोहिता Stratum lucidum का, और श्वेता Stratum granulosum का। अब भिन्नता जो मालूम होती है, वह प्रत्येक स्तर की मोटाई में है। वास्तव में अवभासिनी की मोटाई नीचे के तीनों स्तरों की संयुक्त मोटाई से अधिक होनी चाहिए, परन्तु यहाँ पर वह सब से कम बतलाई है। मोटाई का यह प्रश्न अगर छोड़ दिया जाय तो त्वचा की प्राचीन सूक्ष्म रचना आधुनिक प्रत्यक्ष सूक्ष्म रचना के साथ बहुत कुछ मिलती जुलती है।

त्वचा के प्राचीन और अर्वाचीन स्तरों का तुलनात्मक कोष्ठक

१ अवभासिनी	Horney layer	बाह्य त्वचा Epidermis अधिचर्म
२ लोहिता	Stratum lucidum	
३ श्वेता	Stratum granulosum	
४ ताम्रा	Malpighian layer	
५ वेदिनी	Papillary layer	अन्तस्त्वचा Dermis चर्म
६ रोहिणी	Reticular layer	
७ मांसधरा	Subcutaneous tissue and muscles	

कविराज गणनाथ सेन जी त्वचा के स्तरों के संबंध में प्रत्यक्षशारीर में दो स्थानों में दो मत प्रदर्शित करते हैं—प्राचस्तु सूक्ष्मदृष्ट्या क्षीरस्येव सन्तानिका सप्त षड्वा त्वचो मन्यन्ते। तासु प्रथमा अवभासिनी नाम, तस्याः बाह्यत्वग्भागेनाऽभेदः। अपरासान्तु अन्तस्त्वग्भागेऽनुप्रवेशः॥ (प्रत्यक्षशारीरप्रस्तावना)। इसका मतलब यह है कि प्राचीन अवभासिनी स्तर में आधुनिक चार स्तर समाविष्ट होते हैं और शेष पाँच प्राचीन स्तर आधुनिक शेष दो स्तरों में समाविष्ट होते हैं। फिर प्रत्यक्षशारीर के तीसरे विभाग के इन्द्रिय वर्णन में लिखते हैं—प्राचां मतेन तु अन्तस्त्वच (रक्तशय्यामहिनायाः) पंचधा षोढा वा विभागः। तत्र सुश्रुतमते या लोहिता नाम (चरकमतेऽसृग्धरा), सैव अङ्कुरिणीति सुवचम्। या तु सुश्रुतस्य पञ्चमी वेदिनी नाम सैव चरकस्य षष्ठी (यस्यां छिन्नायां ताम्यति, अन्ध इव तम प्रविशति) वाग्भटस्य च प्राणधरा। सेयं जालिन्या, स्वक्शय्याया वा, अभिन्ना प्रतिभाति, नाडीप्रतानानां स्पर्शाण्डिकादि सहितानां तत्रैव बाहुल्यदर्शनात्। या तु सुश्रुतस्य मांसधरा, साऽपि त्वक्शय्याश एव, रोममूलग्रन्थीनामन्यविधानां वा मांसतन्तूनां तत्र सद्भावात्। अपरास्तु प्राचीनविभागोक्ता त्वचा सूक्ष्मासमञ्जस्येन व्याख्यानन्तु दुःशकमेव चरकसुश्रुतादिषु तत्तत् रूपवर्णनाभावात्॥ इसका अभिप्राय यह है कि सुश्रुत की लोहिता त्वचा, जो चरक की असृग्धरा त्वचा के बराबर है, आधुनिक अंकुरमय स्तर (Papillary layer) की प्रतिनिधि है और सुश्रुत की वेदिनी जालिमय (Reticular) स्तर की प्रतिनिधि है। बाकी स्तरों का वर्णन सूक्ष्म न होने के कारण ठीक निश्चित नहीं किया जा सकता। इस तरह संपूर्ण शरीर को ढाँकने वाली बाह्य त्वचा का वर्णन करके अब शरीरान्तर्गत विविध अंगों को ढाँकने वाली या उनको एक दूसरे से पृथक् करने वाली आभ्यन्तरीय त्वचाओं (कलाओं) का वर्णन करते हैं—

कलाः खल्वपि सप्त संभवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादाः॥४॥

भवन्ति चात्र—

यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते।
तथा धातुर्हि मांसेषु छिद्यमानेषु दृश्यते॥५॥
स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा।
श्लेष्मणा वेष्टिताश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः॥६॥

(कलासंख्या और स्वरूप—) धातुओं के अवस्थान प्रदेशों के दरमियान मर्यादाभूत कलाएँ भी सात ही होती हैं॥४॥ जैसे काष्ठ को छिलने से सार भाग दिखाई देता है, वैसे ही मांस (आवश्यक पदार्थ) को छिलकर निकालने से धातु दिखाई देती है॥५॥ (आचार्य) इन कलाभागों को स्नायु (तन्तुओं) से प्रतिछिन्न, जरायु (सदृश आवरण) से व्याप्त और श्लेष्मा से निर्मित समझते हैं॥६॥

वक्तव्य—चौथे सूत्र में कलाओं की संख्या और व्याख्या वर्णन की है। पाँचवें श्लोक में कलाओं की विशेष तया रक्तधरा कला की अन्तर्निगूढता बतलाई है। छठे श्लोक में कलाओं का स्वरूप वर्णन किया गया है। खलु—यह

---

१ भवन्ति २ भवन्ति चात्र ३ अस्याग्रे—धात्वाशयान्तरेऽस्य य क्लेदस्तत्राभितिष्ठति। देहोष्मणा विपकस्तु सा कलेत्यभिधीयते इति क्वचिदधिक पाठ

अव्यय निश्चयार्थ या नियमार्थ प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रयोग से यह अर्थ निकलता है कि त्वचाओं की संख्या सात है इसलिए कलाओं की संख्या सात नहीं बतलाई गई है, परन्तु वास्तव में ही उनकी संख्या सात है, न इससे कम है न अधिक है। कलाओं के नाम देखकर उनमें मूत्रधरा कला नहीं है, मज्जाधरा कला नहीं है इत्यादि शङ्का उत्पन्न हो सकती है। इसके निराकरण के लिए 'खलु' शब्द प्रयुक्त हुआ है। धात्वाशयान्तरमर्यादाः—दधतीति धातवो रसरक्तमांसादयः, कफपित्तपुरीषाण्यपि प्राक्तनानि स्वकर्मणा दधतीति धातवः, तेषामाशया अवस्थानप्रदेशा धात्वाशयाः, तेषामन्तरेषु मर्यादाः सीमाभूता इत्यर्थः॥ (डल्हण)। अष्टांगसंग्रहटीकाकार इन्दु धातु और आशय पृथक् पृथक् मानते हैं—धातूनां रक्तादीनामाशया यानि स्रोतांसि तेषां द्वयोर्धात्वाशययोर्मध्ये यः क्लेद इत्यादि॥ (इन्दु)। इस तरह यद्यपि अर्थ करने में कुछ भिन्नता मालूम होती है तथापि कला की व्याख्या में कोई विशेष फर्क नहीं होता। दोनों का मतलब यह है कि कला शरीर के धातुओं में या आशयों में पृथक्त्व या विभिन्नता करने वाला शरीरस्थ एक उपांग है। तथा धातुर्हि मांसेषु—यहाँ पर धातु से रक्तधातु का बोध होता है—वृक्षाद्यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत्। मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं संप्रसिच्यते॥ तथापि उससे सब धातु अभिप्रेत हैं। मांस से यद्यपि मांस का बोध होता है तथापि वह काष्ठ का प्रतिनिधि होने से उससे आवरण का अर्थ अभिप्रेत है याने वह पर्याय से कला के लिए प्रयुक्त हुआ है। संक्षेप में इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जैसे वृक्ष का सार याने धारक पोषक पदार्थ देखने के लिए ऊपर का काष्ठ या आवरण निकालना पड़ता है और निकालने के बाद उसका दर्शन होता है, वैसे ही शरीर के धारक पोषक पदार्थों को देखने के लिए उनके ऊपर का आवरण निकालना पड़ता है और निकालने के बाद उनका दर्शन होता है। अर्थात् शरीर के सभी धातुओं के ऊपर आवरण होता है और यही आवरण कला कहलाते हैं। स्नायुभिश्च इत्यादि—इस श्लोक में प्रतिच्छन्न, सन्तत और वेष्टित ये जो तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे पृथक् होने पर भी एक ही अर्थ प्रदर्शित करते हैं और वह है निर्मिति। कलारूप जो आवरण हैं वे स्नायुओं से, जरायुसदृश जाल से या श्लेष्मा से निर्मित हैं याने स्नायु, जरायु और श्लेष्मा ये कला के उपादान कारण हैं। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कला में तीनों उपस्थित हों। कोई कला श्लेष्मा से, कोई स्नायुओं से, कोई जरायु से और कोई इनके मिश्रण से निर्मित होती है। आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार स्नायुप्रतिच्छन्न को Fibrous, जरायुसंतत को Serous और श्लेष्मा से वेष्टित को Mucous कह सकते हैं। संक्षेप में शरीर में जो विविध कलाएँ होती हैं, उनका स्वरूप स्नायवीय, जरायु सम या श्लेष्मल होता है। विदुः—आचार्या इत्यध्याहार्यम्।

अब इसके बाद सात कलाओं के नाम तथा कर्म बतलाये जाते हैं—

तासां प्रथमा मांसधरा नाम; यस्यां मांसे[1] सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति ॥७॥

भवति चात्र—

यथा विसमृणालानि विवर्धन्ते समन्ततः।
भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः ॥८॥

(मांसधरा कला—) इन कलाओं में प्रथमा मांसधरा नामक कला है, जिस मांसधरा के मांस में सिरास्नायु धमनी स्रोतसों की शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं ॥७॥ यहाँ पर श्लोक है—जैसे, कीचड़ युक्त जल में स्थित कमलनाल के तन्तु भूमि में (अधिष्ठान करके कीचड़ में) चारों ओर फैलते हैं, वैसे ही (मांसधरा कला का आधार करके तद्गत) मांस में सिरादि फैलते हैं ॥८॥

वक्तव्य—यस्यां मांसे—यस्यां कलायामधिष्ठिते मांसे सिरादीनां प्रताना विस्तारा भवन्ति। (डल्हण)। भूमौ—भूम्यामिवाधिष्ठाय। (इन्दु)। यथा इत्यादि—सातवें सूत्र का अर्थ विसमृणाल के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है—यहाँ पर विसमृणाल सिरा प्रतानों के लिए, पङ्कोदक मांस के लिए और भूमि मांसधरा कला के लिए हैं। तथा मांसे सिरादयः—इसका अर्थ 'यस्यां मांसे' के समान है। डल्हणाचार्य लिखते हैं—तथा प्रथमकलायां मांसस्थाः सिरादयो भवन्ति। इसका अर्थ 'मांसस्थ सिरादि मांसधरा में फैलते हैं' ऐसा हो सकता है। परन्तु यह अर्थ पूर्व अर्थ का विरोधी है। (हाराणचंद्र)। 'यस्यां मांसे' के स्थान में 'यस्यां मांसगतानाम्' ऐसा पाठ देते हैं। इस पाठ का अर्थ यह होता है कि सिरादि के प्रतान मांसधरा कला में होते हैं। परन्तु कला अल्प होने से तथा 'यथा हि सारः काष्ठेषु' इस दृष्टान्त से सिरादि का विस्तार कला की अपेक्षा तदधिष्ठित मांस में होना उचित मालूम पड़ता है और प्रत्यक्षतया भी स्थिति वैसी ही है, इसलिए यह अर्थ ठीक नहीं है।

द्वितीया रक्तधरा नाम मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति[1]॥९॥

भवति चात्र—

वृक्षाद्यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत्[2]।
मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं संप्रसिच्यते[3] ॥१०॥

(रक्तधरा कला—) दूसरी रक्तधरा नामक है, वह मांस के भीतर होती है; उसमें विशेषतया सिराओं में, और यकृत् तथा प्लीहा में रक्त होता है ॥९॥ यहां पर श्लोक है—जैसे, दूधवाले वृक्ष को प्रहार करने से दूध निकालता है, वैसे ही (मांस पर) क्षत करने से मांस से तुरन्त रक्त निकलता है ॥१०॥

वक्तव्य—मांसस्याभ्यन्तरतः—मांस में जो रक्त रहता है, वह मांसधरा कला में रहता है। शरीर में रक्त का परिभ्रमण बन्द नालियों में से होता है। ये नालियाँ तीन प्रकार की हैं—१ धमनि (Artery), २ सिरा (Vein), और स्रोतस् या केशिका (Capillary)। मांस तक रक्त धमनी द्वारा आता है, मांस से रक्त सिरा द्वारा चला जाता है और मांस के तन्तु तन्तुओं में रक्त केशिकाओं द्वारा फैलता है। अर्थात् मांस के भीतर जो रक्त होता है, उसका आधार केशिकाएँ

---

१ मांसगतानां.

१ स्रवति. २ क्षीरमास्रवेत्. ३ प्रतिरिच्यते.

होती हैं। विशेषतश्च इत्यादि—विशेष स्थानों में सिरा, यकृत् और प्लीहा तीनों का उल्लेख किया है—विशेषतश्च सिरा प्लीहयकृत्सु। (अष्टांगसंग्रह)। सिरा से यहाँ पर रक्तवह नाड़ियाँ याने धमनी और सिरा अभिप्रेत हैं। यकृत्प्लीहोश्च—इन दो अङ्गों का विशेष उल्लेख करने का एक कारण रक्तोत्पत्ति के साथ उनका सम्बन्ध (प्रथमखण्ड पृष्ठ ७७ देखो) है। इसका विचार आगे कला के अर्थ के सम्बन्ध में किया जायगा। दूसरा कारण यह है कि शरीर के अन्य अङ्गों की अपेक्षा इन अङ्गों में रक्त की अधिक राशि रहती है, याने ये अङ्ग रक्त के भाण्डार होते हैं—

The spleen acts as a store house of blood. The power of acting as a store house of blood is probably shared by a number of abdominal organs, e.g The intestine and liver *Halliburton's Physiology*

इन अंगों में रक्त केवल केशिकाओं में नहीं, बड़े बड़े शोणितावकाशों (Sinusoids) में रहता है। क्षीरिण—क्षीरी वृक्ष वे हैं जिनके ऊपर आघात या क्षत करने से दूध के सफेद रस बहने लगता है, जैसे—गूलर, वट इत्यादि। प्रत्येक वृक्ष के ऊपर क्षत करने से उससे रस निकलता है, परन्तु वह पानी के समान होने से उसकी ओर जल्दी ध्यान आकर्षित नहीं होता। क्षीरी वृक्ष पर जरा सा क्षत करने से उससे सफेद रस बहने लगता है जिससे उसकी ओर अधिक ध्यान आकर्षित होता है और इसलिए क्षीरी वृक्ष का दृष्टान्त दिया है। क्षताद्—रक्तधरा कला में क्षत करने से या होने से, रक्तधरा कीला विदीर्ण होने से।

तृतीया मेदोधरा नाम, मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति ॥ ११ ॥

भवति चात्र—

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते।
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ॥१२॥

(मेदोधरा कला—) तीसरी मेदोधरा नामक कला है, मेद सब प्राणियों के उदर में तथा छोटी हड्डियों में होता है, और बड़ी हड्डियों में मज्जा होती है ॥११॥ यहाँ पर श्लोक है—विशेष करके बड़ी हड्डियों के मध्य का आश्रय करके मज्जा होती है और इतर (छोटी) सब हड्डियों में (जो मेद होता है, वह) सरक्त मेद कहलाता है। शुद्ध मांस का जो स्नेह होता है, वह वसा कहलाता है ॥ १२ ॥

वक्तव्य—उदरस्थम्—मनुष्यशरीर में चरबी का न्यूनाधिक सञ्चय हमेशा रहता है। जब मनुष्य स्थूल होने लगता है, तब यही संचय अधिक होता है। यद्यपि स्थूल मनुष्य के प्रत्येक अंग में चरबी अधिक इकट्ठा होती है, तथापि उसकी अधिक राशि उदर, चूतड़ और स्तनप्रदेश में होती है—मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः। अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ (चरक, सू०)। सर्व शरीर में यह संचय अधिकतर त्वचा के नीचे की धातु (Sub- (Subcutaneous tissue) में होता है। उदर में इस स्थान के अतिरिक्त उदरगुहा में उदरावरण के (Peritoneum) एक हिस्से में भी चरबी इकट्ठा होती है। यह हिस्सा वपा (चर्बी) का वहन करने के कारण वपावहन (Omentum) कहलाता है—पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि—क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्त्रं च, वपावहनं चेति। (चरक, शा० ७)। वपावहनं मेद स्थानं तैलवर्तिका। (चक्रपाणिदत्त)। इस तरह उदर में चरबी का सब से अधिक सचय होने के कारण उदर का उल्लेख यहाँ किया गया है। मेद, मज्जा और वसा—बारहवें श्लोक में इनका आपस में भेद प्रदर्शित किया है। मनुष्यशरीर में स्नेह (चरबी) मज्जा में (Bone marrow), त्वचा के नीचे, मांस में और उदर के भीतर वपावहन में उपस्थित रहता है। मज्जा के दो भेद होते हैं—एक पीत मज्जा और दूसरी रक्त मज्जा। आयुर्वेद में शरीरगत स्नेह (चरबी) के लिए मज्जा, वसा, मेद और रक्तमेद इस तरह चार शब्द प्रयुक्त होते हैं। बड़ी हड्डियों में मज्जा होती है, यह मज्जा पीली होती है, इसलिए मज्जा को Yellow marrow कहना चाहिए। छोटी हड्डियों में लाल मज्जा होती है, इसलिए सरक्त मेद से Red marrow समझना चाहिए। शुद्ध मांस अर्थात् केवल मांस का जो स्नेह है वह वसा है, इसलिए वसा से Fat content of the flesh समझना चाहिए। अब मेद जो रहा है, उससे वपावहन और त्वचा के नीचे की चरबी समझ सकते हैं। रासायनिक दृष्टि से विचार किया जाय तो मेद और वसा शुद्ध चरबी के रूप में होते हैं, पीली मज्जा में चरबी का प्रमाण बहुत होता है और सरक्त मेद या लाल मज्जा में चरबी बहुत कम होती है। आयुर्वेद में चतुर्विध स्नेह होता है—सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहोऽप्युक्तश्चतुर्विधः। इसमें मेद का उल्लेख नहीं है, अतः उसका समावेश वसा में किया जाता है। यहाँ पर उदरस्थ मेद के साथ छोटी हड्डियों के भीतर के मेद का जो सम्बन्ध जोड़ दिया है वह वस्तुतः ठीक नहीं है। उदर का मेद शुद्ध चरबी है और छोटी हड्डियों के रक्तमज्जा में चरबी अत्यल्प होती है और उसमें रक्त के लाल कण जिनसे उत्पन्न होते हैं वे रुधिरोत्स्फोट (Erythro blasts) होते हैं, और इन्हीं के कारण उसमें रक्तिमा आ जाती है। श्लोक में इसके लिए सरक्त मेद जो नाम दिया है वह एक दृष्टि से ठीक है।

चतुर्थी श्लेष्मधरा नाम, सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति ॥ १३ ॥

भवति चात्र—

स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते।
सन्धयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥१४॥

(श्लेष्मधरा कला—) चौथी श्लेष्मधरा नामक कला है, जो प्राणियों के सब जोड़ों में होती है ॥ १३ ॥ यहाँ पर श्लोक है-जैसे, अक्ष के ऊपर तैल लगाने से पहिया अच्छी तरह चलता है, वैसे ही (श्लेष्मधरा कला से निकले हुए) श्लेष्मा से लिप्त संधियाँ अच्छी तरह (मुड़ने का) काम करती हैं ॥ १४ ॥

वक्तव्य—साधु प्रवर्तते—अक्ष पर तैल लगाने से चाक में आवाज कम होती है, अक्ष और चाक में घर्षण कम होता है, अक्ष कम घिसता है, अधिक काल तक याने उसकी पूर्ण आयु तक काम देता है और गाड़ी खींचने में कम कष्ट लगता है तथा गाड़ी अधिक तेजी से चलती है। साधु

वर्तते—श्लेष्मधरा कला से निकला हुआ श्लेष्मा जोड़ों के भीतरी अंगों पर लिप्त होने से जोड़ों में गति के समय आवाज नहीं होती, घर्षण नहीं होता, उष्णता नहीं पैदा होती, अंग कम घिसते हैं, अधिक काल तक काम देते हैं, उनको मोड़ने में कम कष्ट होता है और प्राणी तेजी से चल फिर सकता है या हरकत कर सकता है। सर्वसन्धयः—शरीर में दो प्रकार की संधियाँ होती हैं—स्थिर और चेष्टावान्—संधयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्च। (सुश्रुत)। जो स्थिर हैं उनमें गति नहीं होती। इसलिए सर्वसंधियों से सर्वचेष्टावान् संधियों को ग्रहण करना चाहिए।

चेष्टावान् संधियों को खोलने से उनके ऊपर एक आटोपिका (Capsule मिलती है, जिसके भीतरी पृष्ठभाग पर एक पतली चमकदार झिल्ली (*Synovial membrane*) लगी रहती है। इस झिल्ली से एक चिपचिपा सा तरल (Synovial fluid) निकलता है, जो जोड़ में काम करने वाले सभी उपांगों को तर रखता है और वही काम देता है, जो यन्त्रों में या चक्रों में रोगन देता है।

पञ्चमी पुरीषधरा नाम; याऽन्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था ॥ १५ ॥

भवति चात्र—

यकृत्समन्तात् कोष्ठं च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता।
उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला ॥१६॥

(मलधरा कला—) पांचवीं पुरीषधरा नामक कला है जो कोष्ठ के अन्दर पक्वाशय में स्थित हुई मल को पृथक् करती है ॥१५॥ यहां पर श्लोक है—यकृत् और कोष्ठ (स्थ अंगों) के समीपवर्ती आँतों में समाश्रित हुई मलधरा कला उण्डुकस्थित मल को (जल से) विभक्त करती है ॥ १६ ॥

वक्तव्य—अन्त्राणि—इससे स्थूल और क्षुद्र दोनों का ही बोध हो सकता है तथापि मलविभजन का काम केवल स्थूलान्त्र में होने के कारण 'अन्त्राणि' से स्थूलान्त्र का ग्रहण करना चाहिए। उण्डुकस्थं विभजते मलम्—मुखद्वारा सेवन किये हुए अन्न का पाचन तथा सात्म्यभाग का प्रचूषण क्षुद्रान्त्र में होता है। जब तक सात्म्यभाग और मलभाग एकत्र रहता है, तब तक उस द्रव को मल नहीं कह सकते हैं। क्षुद्रान्त्र के अन्त तक सात्म्यभाग का प्रायः सब अंश प्रचूषित होता है और स्थूलान्त्र में केवल मल और जल ये दो ही भाग आते हैं। ऐसी अवस्था में स्थूलान्त्र का कार्य केवल मलस्थित जल को प्रचूषित करने का होता है। यदि स्थूलान्त्र के प्रारम्भ से गुद तक मल उचित समय में पहुँच जाय तो ८० प्रतिशत जल का शोषण हो जाता है। यदि मलावरोध के कारण अधिक देर तक मल आँत में रह जाय तो इससे अधिक पानी का प्रचूषण होकर मल कड़ा हो जाता है और उसकी गांठें बनती हैं। संक्षेप में उण्डुक में पहुँचे हुए मल का विभाग जल से किया जाता है और यह कार्य स्थूलान्त्र के अन्तरावरण से होता है। उण्डुक—पाँचवें अध्याय के छठे सूत्र का वक्तव्य देखो।

षष्ठी पित्तधरा नाम या चतुर्विधमन्नपानमुपभुक्तमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति ॥१७॥

भवति चात्र—

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ॥ १८ ॥

(पित्तधरा कला—) छठी पित्तधरा नामक कला है, जो आमाशय से निकलकर पक्वाशय की ओर जाने के लिए आये हुए उपभुक्त चारों प्रकार के अन्नपान को धारण करती है ॥ १७ ॥ यहाँ पर श्लोक है—मनुष्यों के आँतों में पहुँचा हुआ अशित, खादित, पीत और लीढ (चारों प्रकार का उपभुक्त) अन्न उचित काल में पित्त के तेज (क्रिया) से जीर्ण हो जाता है (तथा) शोषित (भी हो जाता है) ॥ १८ ॥

वक्तव्य—चतुर्विधम्—अशित, खादित, पीत और लीढ। पीत—दूध, पानक इत्यादि पीने के पदार्थ। —लीढ—कुछ गाढे पदार्थ जिनके लिए चाटने की आवश्यकता होती है। यथा—श्रीखण्ड, रबड़ी, अनेक प्रकार के पाक और अवलेह। अशित—पूरी, भात इत्यादि पदार्थ जिनके लिए कुछ चर्वण की आवश्यकता होती है। खादित—लड्डू, मोदक तथा अन्य कठिन पदार्थ जिनके लिए अधिक चर्वण की आवश्यकता होती है। कोष्ठ—इसमें वक्षगुहा और उदरगुहा में होने वाले सभी अंगों का समावेश होता है—स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ (सुश्रुत, चि०)। यद्यपि कोष्ठ की व्याप्ति इतनी अधिक है तथापि उसके प्रयोग के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह प्रायः एक अंग के लिए प्रयुक्त होता है और उस अंग का निश्चय संदर्भ के अनुसार कर लेना चाहिए। यहाँ पर कोष्ठ से क्षुद्रान्त्र अभिप्रेत है। तज्जीर्यति इत्यादि—तच्चतुर्विधमन्नं पित्ततेजसा यथाकालं जीर्यति शोषितं च भवति। जीर्यति—पाचक रसों के कार्य से सेवन किये हुए पदार्थों का अनेक अणुयौगिकों में विश्लेषण होने की क्रिया को जरण या पचन (Digestion) कहते हैं। पित्ततेजसा—पाचक रसों की क्रिया से। पित्त अग्नि रूप होने के कारण तेज शब्द का प्रयोग किया गया है। शोषित—जब अन्न छोटे छोटे यौगिकों में विश्लेषित होता है, तब उसका शोषण (Absorption) आन्त्र की दीवाल के श्लेष्मल स्तर से होता है। यथाकालम्—उचित काल में। साधारणतया सेवन किया हुआ अन्न पाचित और शोषित होकर मल के रूप में स्थूलान्त्र में साढ़े चार घण्टे के बाद आता है। अर्थात् पाचन और शोषण के लिए साढ़े चार घण्टे का औसत काल होता है। आयुर्वेद में पाचन और शोषण का काल ३–६ घंटे का बताया है—याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लंघयेत्। याममध्ये रसोत्पत्तिर्यामयुग्माद्बलक्षयः ॥ (योगरत्नाकर)। पित्तधरा कला का वर्णन अष्टांगसंग्रह में बहुत स्पष्टतया किया है—षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था। सा ह्यन्तरग्नेरधिष्ठानतयाऽऽमाशयात् पक्वाशयोन्मुखमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयति पचति पक्वं च विमुञ्चति। दोषाधिष्ठिता तु दौर्बल्यादाममेव। ततोऽसावन्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणीसंज्ञा। बलं च तस्याः पित्तमेवाग्न्यभिधानमतः साऽग्निनोपस्तब्धोपबृंहितैकयोगक्षेमा शरीरं वर्तयति ॥ (शा० ९)। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि पित्तधराकला की मर्यादा आमाशय से पक्वाशय तक होती है। इसके पश्चात् मलधरा कला की मर्यादा प्रारंभ होती है। कुछ लोग मलधरा

कला की व्याप्ति स्थूलान्त्र और क्षुद्रान्त्र दोनों में समझते हैं परन्तु यह मत ठीक नहीं है। दोनों का क्षेत्र और कार्य भिन्न है और एक का क्षेत्र समाप्त होने के बाद दूसरे का क्षेत्र प्रारम्भ होता है।

सप्तमी शुक्रधरा नाम; या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी ॥ १९ ॥

भवन्ति चात्र—

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षुरसे यथा।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः ॥ २० ॥
द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥ २१ ॥
कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत् सम्प्रवर्तते ॥ २२ ॥

(शुक्रधरा कला—) सातवीं शुक्रधरा नामक कला है जो सब प्राणियों के सर्व शरीर भर व्याप्त रहती है ॥ १९ ॥ यहाँ पर श्लोक है—वैद्य को जानना चाहिए कि जैसे (सम्पूर्ण) दूध में घी और ऊख के रस में गुड़ (व्याप्त) होता है, वैसे ही मनुष्यों के शरीर में शुक्र (व्याप्त) रहता है ॥ २० ॥ बस्ति (मूत्राशय) द्वार के नीचे दो अंगुल दक्षिण (और वाम) पार्श्व में (स्थित शुक्रधरा कला में सञ्चित) पुरुष का शुक्र मूत्रमार्ग के रास्ते से (बाहर) निकलता है ॥ २[१] ॥ प्रसन्नमन तथा स्त्रीसंग करने वाले (पुरुष) का सर्वशरीरव्यापी शुक्र (स्त्रीसंगजन्य) हर्ष के कारण (शुक्रधरा कला से) फेंका जाता है ॥ २२ ॥

वक्तव्य—प्रथम श्लोक में शुक्र का सर्वशरीरव्यापित्व दृष्टान्तों के साथ वर्णन किया गया है इसलिए कि १९वें सूत्र में वर्णित *शुक्रधरा कला का सर्वशरीरव्यापित्व* सहज ही सिद्ध हो जाय। परंतु व्यावहारिक दृष्टि से इसकी अनुपयोगिता को देखकर दूसरे श्लोक में उसका वास्तविक स्थान तथा तत्स्थान से शुक्र का बाहर निकलने का मार्ग बताया गया है, और तीसरे श्लोक में शुक्रधरा कला से शुक्र बाहर आने के कारण बताये गये हैं। सर्वशरीरव्यापिनी—शुक्र के सर्वशरीरव्यापित्व के सम्बन्ध में प्रथम खण्ड के १०–२१वें पृष्ठ पर विस्तृत विवरण किया गया है, उसको देखो। दक्षिणे पार्श्वे—शुक्र इकट्ठा होने का स्थान केवल एक दक्षिण पार्श्व में नहीं है, वामपार्श्व में भी है। इसलिए महामहोपाध्याय गणनाथ सेन जी प्रत्यक्षशारीर में (पृष्ठ ७९ प्रस्तावना) 'द्व्यङ्गुले दक्षिणे वामे' ऐसा पाठ सूचित करते हैं और वह ठीक है। मूत्राशय के पिछले भाग के दोनों पार्श्वों में दो थैलियाँ और दो प्रणालियाँ होती हैं। थैली की भीतर की ओर प्रणाली होती है। थैली को शुक्राशय Vesiculae seminalis और प्रणाली को शुक्रप्रणाली (Vasdeferens) कहते हैं। शुक्रप्रणाली का अन्त शुक्राशय के नीचे वाले नोकीले सिर में होता है। जहाँ पर शुक्राशय और शुक्रप्रणाली मिलती हैं, वहीं से एक नली का प्रारम्भ होता है। इस नली को शुक्रस्रोत (Ejaculatory duct) कहते हैं। यह स्रोत प्रत्येक पार्श्व में एक स्वतन्त्र होता है। मूत्रस्रोतःपथात्—मूत्रस्रोत (Urethra) एव पथ, तस्मात्। दोनों पार्श्वों के शुक्रस्रोत अष्ठीलाग्रन्थि (Prostate) के भीतर घुसकर तद्गत मूत्रस्रोत (Prostatic portion of the urethra) में खुलते हैं। वहाँ से आगे मूत्र का और शुक्र का एक ही मार्ग होता है। हर्षात्तत् सम्प्रवर्तते—शुक्रप्रवर्तन के कारणों का तथा शुद्धि का विचार प्रथमखण्ड के ३०५ पृष्ठ पर किया गया है।

कलाएँ—अब तक कलाओं का सर्वसाधारण विवरण किया गया है। अब कला वास्तव में क्या है? उसमें शरीरगत किस वस्तु का बोध होता है इसका विचार कर्तव्य है। संस्कृत में कला के कई अर्थ होते हैं—कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके। षोडशांशे च चन्द्रस्य कलनाकालमानयोः ॥ (मेदिनीकोष)। ये अर्थ वैद्यक में अप्रस्तुत हैं। आयुर्वेद में कला के मुख्य तीन अर्थ होते हैं, जिनका उल्लेख डल्हणाचार्य 'पुरुषः षोडशकलः' (उत्तरतन्त्र, अ० ६६) इस श्लोक की टीका में करते हैं—यत्केचित् कलाशब्देन पञ्चभूतानि एकादशेन्द्रियाणीति षोडशविकारा इति व्याचक्षते, परमेतन्नायुर्वेदे प्रमाणीकृतम्। अन्ये तु कलाशब्दमङ्गप्रत्यङ्गेष्वामनन्ति—शिरोग्रीवापाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरासीत्यङ्गानि, चिबुकनासौष्ठकर्णाङ्गुल्यङ्गुष्ठनितम्बपिण्डिकागुल्फप्रत्यङ्गानि। स्ववन्ध्यप्रवन्धाभिप्रायानुवर्तिभिराचार्यैः कलाशब्दो गुणवाची पठितः। ते च सर्वभूतचिन्ताशारीरोक्तगुर्वादयो लघ्वादयः रूक्षस्निग्धादयः षोडश गुणानाचक्षते। चतुष्पादं षोडशकलमेतत् चरकाचार्येणोक्तम्, तत्र षोडशकलं षोडशगुणमिति व्याख्यानयन्ति ॥ इनमें से विकार का विचार करने का कारण नहीं है क्योंकि ये विकार शरीर के नहीं हैं, प्रकृति के हैं और आयुर्वेद के जिस विभाग में कला शब्द का प्रयोग हुआ है उस विभाग का शारीरिक विकारों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए कला का अर्थ विकार नहीं हो सकता है। कला का दूसरा अर्थ अङ्ग-प्रत्यङ्ग है। शरीरसंख्याव्याकरण नामक पाँचवें अध्याय में कला का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है—अत ऊर्ध्वं प्रत्यङ्गानि वक्ष्यन्ते—मस्तकोदर०—' 'तस्य पुनः संख्यानं—त्वचः कलाः धातवो मलाः दोषा यकृत्प्लीहानौ फुफ्फुस०—' 'त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त०—चेति समासः'। 'विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्वचोऽभिहिताः कला धातवो मला०—वृक्कौ च ॥ जिस परम्परा में यहाँ पर कलाओं का उल्लेख किया गया है, उस परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि *यकृत्, प्लीहा, हृदय इत्यादि शरीरगत अवयवों के समान कला भी शरीरगत* एक अवयव है जो शवविच्छेद करने के पश्चात् अन्य अंगों के समान प्रत्यक्ष किया जा सकता है और उसकी संख्या भी निश्चित की जा सकती है। कलाओं की मोटाई (Dimention) के सम्बन्ध में निम्न सूत्र मिलते हैं—स्वल्पत्वात् कलानाम् (अष्टांगसंग्रह, शारीर ५)। स्वल्पत्वात्कलानाम् (इन्दु)। अल्पत्वेन कलानामस्तित्वं साधितं भेदे। (डल्हणटीका)। सौक्ष्म्यात् स्वल्पत्वेन न सहसा चक्षुर्विषयीभवति। (हाराणचन्द्रटीका)। इन सूत्रों के आधार पर पं० गंगाधर शास्त्री जोशी अपने 'आयुर्वेदीय शारीर' में लिखते हैं—

It is therefore obvious that the Kalas must be exceedingly minute and invisible to the naked eye, as are the various cells in the human

१ गुडश्चेक्षौ रसे

body. *Charak* also has clearly stated that 'शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेन अपरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वात्, अतिसौक्ष्म्यात्, अतीन्द्रियत्वाच्च' । (चरक, शा० ७) ।

इसका अभिप्राय यह है कि शरीर की सेलों के समान कलाएं भी सूक्ष्म, अव्यक्त, परमाणु स्वरूप होती हैं, जैसे कि चरकाचार्य 'शरीरावयवास्तु' वचन से कहते हैं। चरक के जिस वचन के आधार पर शास्त्री जी कलाओं का सूक्ष्मत्व और अतीन्द्रियत्व सिद्ध करना चाहते हैं वह वचन कलाओं की सूक्ष्मता और अतीन्द्रियता निम्न कारणों से सिद्ध करने में व्यर्थ मालूम होता है। (१) संपूर्ण चरक में कलाओं का निर्देश कहीं भी नहीं मिलता, अर्थात् जिस अध्याय में यह वचन दिया गया है, उस अध्याय में कलाओं का निर्देश नहीं है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए यह वचन कलाओं की दृष्टि से अप्रस्तुत और गैरलागू है। (२) चरक के जिस अध्याय में यह वचन मिलता है, वह अध्याय (शरीरसंख्याशारीर) सुश्रुत के शरीरसंख्याव्याकरण शारीर के टक्कर का है। इसलिए यदि उसमें सुश्रुत के क्रमानुसार त्वचा के नीचे कलाओं का समावेश है ऐसा मान भी लिया जाय तब इस वचन से कलाओं का सूक्ष्मत्व सिद्ध न होकर उनका स्थूलत्व सिद्ध होता है, क्योंकि इस वचन के पूर्व निम्न वचन मिलता है—इति शरीरावयवसंख्या यथास्थूलभेदेनावयवानां निर्दिष्टा । इन दोनों वचनों का समन्वय करने से यह अर्थ होता है कि 'अब तक शरीरावयवों की जो संख्या बतलाई गई है, वह उनके स्थूल रूप के आधार पर बतलाई है। यदि उनके परमाणुओं का विचार किया जाय तो ये अवयव अपरिसंख्येय हो जाते हैं'। यदि ये वचन कलाओं के लिए लागू करने हों तो उनका अर्थ निम्न प्रकार से हो सकता है—'कलाओं की जो सात संख्या बतलाई है वह उनके स्थूल स्वरूप के आधार पर है, यदि उनके परमाणुओं (सेलों) का विचार किया जाय तो कलाएँ अपरिसंख्येय हो जायंगी, क्योंकि कलाओं के परमाणु अतिसूक्ष्म, अतीन्द्रिय और अतिबहु होते हैं'। (३) कलाओं की संख्या नियमित रूप से सात होती है—कलाः खल्वपि सप्त संभवन्ति । इस संख्या से यह स्पष्ट होता है कि कला इन्द्रियग्राह्य अवयव है और उसकी परिगणना निश्चिति से हो सकती है। इन सब बातों का विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि कला शरीरगत एक स्थूल अवयव है और शास्त्रीजी का कथन कला के संबंध में अयथार्थ है, परन्तु कलाओं के परमाणुओं (सेलों) के संबंध में ठीक मालूम पड़ता है। अब कलाओं के सम्बन्ध में जो चार सूत्र ऊपर दिये गये हैं, उनका विचार किया जायगा। संस्कृत में अल्प और स्वल्प ये दोनों शब्द परमाणुस्वरूप सूक्ष्म पदार्थों के लिए प्रयुक्त न होकर स्थूल पदार्थों का थोड़ा परिमाण बताने के लिए प्रयुक्त होते हैं—स्तोकाल्पक्षुल्लकाः। (अमरकोप)। कलाओं के लिए स्वल्प या अल्प शब्द सापेक्ष दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है। अन्य अवयवों के मुकाबले में कला पतली और छोटी होने से वह अल्प या स्वल्प कहलाती है। तीसरे सूत्र में डल्हणाचार्य कला के लिए अव्यक्त शब्द का प्रयोग करते हैं। यह शब्दप्रयोग 'यथा हि सारः काष्ठेषु' इस श्लोक की टीका में मिलता है—धात्वाशयान्तरस्थितत्वेनाप्रत्यक्षाणामस्तित्वं प्रत्युपमानं प्रमाणं निर्दिशन्नाह—भवत इत्यादि । एतेन कलानामपि पृथग्धातूपतम्भकार्यगम्यत्वमेव कलानामस्तित्वं साधितं भवेत् ॥ इससे यह स्पष्ट होगा कि कला की अव्यक्तता यह अन्तर्निगूढ होने के कारण है, सूक्ष्मता के कारण नहीं है। जीवितावस्था में कला की अन्तर्निगूढता के कारण उसकी अव्यक्तता उसके कार्य के द्वारा व्यक्त की जाती है, यही डल्हणाचार्य के वचन का फलितार्थ है। इसमें कला की सूक्ष्मता का तनिक भी संबंध नहीं है। हाराणचन्द्र का वचन मांसधरा कला के संबंध में है, साधारण नहीं है। इसके सिवाय उस वचन का अर्थ यह नहीं होता कि वह कदापि चक्षुर्विषयी नहीं होती। यदि विचार करके उसकी खोज की जाय, उसके लिए प्रयत्न किया जाय तो वह चक्षुर्विषयी हो सकती है। इस तरह कलाओं की सूक्ष्मता और अतीन्द्रियता सिद्ध करने के लिए शास्त्रीजी ने जो जो प्रमाण पेश किये हैं, वे सब सूक्ष्मता को सिद्ध न करके कलाओं की स्थूलता को सिद्ध करते हैं। स्वरूप और आकार—इसका सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस अध्याय में और जिस क्रम में कलाओं का विचार हुआ है, उसके ऊपर ध्यान देना परमावश्यक है। इसके सुखावबोध के लिए प्रासाद का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे किसी प्रासाद का वर्णन करते समय उसके प्राकार का वर्णन प्रथम होता है, पश्चात् उसके व्यवधान भित्तियों (Partition walls) का वर्णन होता है, पश्चात् उन प्राचीरों से बने हुए सभागृह, स्नानगृह, शयनगृह, भाण्डारगृह इत्यादि विविध गृहों का वर्णन होता है, वैसे ही गर्भव्याकरण और शरीरसंख्याव्याकरण इन अध्यायों में शरीर रूप प्रासाद का वर्णन किया है, जिसमें प्राकार के स्थान में प्रथम त्वचा का, अन्तःप्राचीरों के स्थान में कलाओं का और पश्चात् अन्तर्गृहों के स्थान में विविध आशयों और अवयवों का वर्णन किया गया है। इस दृष्टान्त को सामने रखकर यदि 'धात्वाशयान्तरमर्यादा' इस शब्द प्रयोग के ऊपर ध्यान दिया जाय तो उसका अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। संक्षेप में, कला त्वचा के समान आवरण करने वाला शरीर का अवयव है, परन्तु त्वचा बाहर होती है, कला भीतर अतएव अव्यक्त होती है; त्वचा मोटी और विस्तृत (सर्वशरीरव्यापी) होती है-कला तनु और स्वल्प (एकाध अंग को व्यापने वाली) होती है। आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार कला Membrane, Fascia, Septum के स्वरूप की होती है। यदि उसकी रचना का विचार किया जाय तो वह स्नायवीय (Fibrous membrane), जरायुसम (Serous membrane) और श्लेष्मल (Mucous membrane) हो सकती है—स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् संतताश्च जरायुणा । श्लेष्मणावेष्टिताश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः ॥ इस अर्थ से सातों कलाओं का भाषान्तर निम्न प्रकार से होता है—

१ मांसधरा कला—Deep fascia, Intermuscular septa.

२ रक्तधरा कला—Endothelial lining of the blood vessels and sinuses in the liver and spleen.

ia.

४ श्लेष्मधरा कला—Synovial membrane
५ पुरीषधरा कला—Mucous membrane of the colon and rectum
६ पित्तधरा कला—Mucous membrane of the small intestine.
७ शुक्रधरा कला—Mucous membrane of the vasiculae seminalis, vas deferentia, etc

गुण, सगुण या निर्गुण—कला का एक अर्थ गुण (Quality) भी है और डॉ० ग० द० आपटे कला का अर्थ गुण करते हैं—

This biologically active quality of one Dhatu or Ashaya giving birth to one of another sort, is termed by the ancients as Kala. In ordinary language it means a quality *Some Anatomical Concepts*

इस दृष्टि से 'धात्वाशयान्तरमर्यादा' इसका अर्थ (अन्यो धातुर्धात्वन्तरम् , अन्य आशय आशयान्तरम् , तस्य मर्यादा)—'एक धातु से दूसरा धातु और एक आशय से दूसरा आशय उत्पन्न होने का गुण' किया जाता है। परन्तु गुण किसी आधार के सिवा नहीं मिल सकते हैं—अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, कर्मकर्मवन्तौ, सामान्यसामान्यवन्तौ सदैवावस्थानम् । महदादीन् विरहय्यावयव्यादय उपलभ्यन्ते । (चक्रपाणिदत्त)। इस समवायसंबंध से गुणगुणिनो रभेदाभाव माना जाता है। यदि कला का अर्थ गुण करना हो तो उपर्युक्त तत्वों के अनुसार कला में एक धातु से अन्य धातु उत्पन्न करन का गुण जिसमें हो ऐसा शरीरगत अवयव का बोध होता है । संक्षेप में कला सगुण है या निर्गुण इतना ही प्रश्न सामने आता है। निर्गुण में केवल धारण (Merely holding) करने का बोध होता है और सगुण में धारण के अतिरिक्त कला के जो कोई विशेष कार्य होते हैं, उनका बोध होता है। ऊपर कलाओं के जो अंग्रेजी पर्याय नाम दिये हैं, ये महामहोपाध्याय गणनाथ सेन समत हैं। आपके मतानुसार कला निर्गुण याने केवल रक्तमांसादि धारक होती है—कला नाम धातुदेहविशेष , धातुधारणा विधके, न च मांसो धातुर्नापि धातुनिर्माणकः, क्लेदस्य वदयोग्यत्वात् । कला नाम श्लेष्मस्नाय्वपराच्छन्नः शारीरवस्तुविशेषः रक्तादिधातु धारणमात्रार्थं । न च धातुनिर्माणकर्मणि कश्चिदधिकारः ॥ (प्रत्यक्षशारीरविमर्श)। इस मत के समर्थनार्थ दो आधार दिये गये हैं—न तु क्लेदो धातुसारांशो न पूर्वधातूनां नाप्युत्तरधातूनां प्राप्नोति। (इन्दु)। ननु रसानन्तरं रक्तं, ततो मांसं, तस्य प्रागेव मांसधरा पठिता ततो रक्तधरेति ? उच्यते—पोषणे क्रमोऽयं न तु धारणे अन्यत्र यस्मान्मिलितधारत्वेन कला निर्दिष्टा। (डल्हण)। प्रथम इन्दु के वचन का तात्पर्य यह है कि कला स्वयं पूर्वधातु या उत्तरधातु में परिवर्तित नहीं होती। डल्हण के वचन का तात्पर्य यह है कि धातुक्रम के अनुसार कलाओं का क्रम इसलिए नहीं मिलता है कि कला स्वयं धातुपोषण में भाग नहीं लेती, धारण में लेती है। यह कथन बिल्कुल सत्य है, परन्तु कला स्वयं ज्यों कि त्यों रहकर दूसरी किसी चीज को या विशेष काम को नहीं करती, यह अर्थ उपर्युक्त दोनों वचनों से नहीं निकलता है। कलाओं में विशेष गुण (धारण के सिवा) होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है और यदि उपर्युक्त अंग्रेजी पर्याय ठीक हों तो यही बात माननी पड़ेगी। इसके लिए कुछ उदाहरण लिये जाते हैं। शुक्रधरा कला—इसमें शुक्राशय, शुक्रवह स्रोतस और शुक्रप्रणालियों की झिल्ली समाविष्ट है। इसके सम्बन्ध में आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान बताता है कि वह कला शुक्र के तरल भाग को उत्पन्न करती है—

The semen ejaculated through the penis is the secretory product of the testes, epididymis, vesiculae seminalis, and other accessory glands. *Marshall's Introduction to Sexual Physiology* The vas a efferentia and epididymis are lined by columnar cells, some of which are ciliated, while others are devoid of cilia, and probably possess secretory functions *Halliburton, s Physiology* श्लेष्मधरा कला—इसके सम्बन्ध में भी ऐसा ही मत है—It (synovial membrane) is composed of a thin, delicate connective tissue, with branched tissue corpuscles. Its ecretion is thick, viscid, and glairy, like the white of an egg and hence termed synovia. *Grey's Anatomy*

कविराजजी इसमें यह भेद बताते हैं कि यह स्राव श्लेष्मधरा कला का न होकर तद्गत ग्रंथियों का होता है—न च शक्यम् स्रवन्तीति वचनात् श्लेष्मोत्पादकत्व कलानामेवेति । कलावृतेभ्यो ग्रंथिभ्य एव सन्धिषु तादृशश्लेष्मणः सम्भवात्। निर्देशस्तूपचारात्। परन्तु इस तरह का सूक्ष्म भेद करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि वे ग्रंथियाँ भी इस कला की होती हैं। उपर्युक्त ग्रंथ के वचन में उनका इसलिए स्वतन्त्र उल्लेख नहीं किया गया है। इसके सिवाय किसी कला (मेम्ब्रेन) को श्लेष्मल (सायनोवियल) कहना, फिर भी उसमें श्लेष्मा (सायनोविया) उत्पन्न करने की शक्ति का इन्कार करना यह एक विचित्र संबंध मालूम होता है। पित्तधरा कला—इससे क्षुद्रान्त्र का अन्तरावरण लिया जाता है। आधुनिक विद्वान् कहते हैं कि इसमें अग्न्याशय और यकृत् के पाचक रसों को उत्तेजित और धारण करने की, पाचित अन्न के सात्म्य भाग को शोषित करने की तथा आन्त्ररस (Succus entericus) नामक पाचक रस (जिसको पित्त कह सकते हैं) उत्पन्न करने की शक्ति होती है। आन्त्ररस उत्पन्न करने की शक्ति के संबंध में भी श्लेष्मधरा कला के समान आक्षेप किया जा सकता है कि यह रस आन्त्र की विशेष ग्रंथियों से (Crypts of Lieberkuhn) उत्पन्न होता है। इसके संबंध में भी यही उत्तर दिया जा सकता है कि ये ग्रंथियाँ कला की ही होती हैं तथा दोनों का अन्तरावरण एक प्रकार की सेलों से बनता है—

Contained within or belonging to the mucous membrane are the following structures—circular folds, villi, intestinal glands, etc *Grey's Anatomy* इसमें विलोमित शब्द महत्व का है। आन्त्रकला की रचना और ग्रंथियों की रचना—A basement membrane, supporting a single layer of epithe-

lial cells, which throughout the intestine are columnar in character. Their (Glands) wall are thin, consistng of a basement membrane lined by columnar epithelium. *Grey's Anatomy.*

इससे यह स्पष्ट होगा कि आन्त्ररस का निर्माण आन्त्रिक कला से होता है, इसको मानने में कोई वैज्ञानिक आपत्ति नहीं कर सकता है। रक्तधरा कला—रक्तधरा कला में यकृत् और प्लीहा का विशेष उल्लेख किया गया है। आयुर्वेद में रक्तोत्पत्ति का संवन्ध यकृत् और प्लीहा के साथ माना जाता है—स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति। विशेष विवरण के लिए प्रथम खण्ड पृष्ठ ७७ देखो। इसलिए रक्तधरा कला में यकृत्प्लीहा का निर्देश करते समय रक्तधरा कला का कुछ सम्वन्ध रक्तोत्पत्ति के साथ सूचित करने का ग्रंथकार का उद्देश्य होना असंभवनीय वात नहीं है। आधुनिक सूक्ष्म शारीर से यह सिद्ध हुआ है कि यकृत् और प्लीहा की केशिकाओं और शोणितावकाशों का आस्तरण (जो रक्तधरा कला में समाविष्ट है) विशेप प्रकार की कोशाओं से वनता है जो जालिकान्तश्छदीय कोशाएँ (Recticulendolkelial cells) कहलाती हैं—

Others (R. E. cells) are sessile, for example the stellate cells of Kupffer, which constitute an imperfect lining for the hepatic capillaries. Other sessile components of the reticulo-endothelial system are the endothelium of the lumph sinuses and splenic sinuses, etc. *Halliburton's Physiology.*

इन के जो अनेक कार्य हैं, उनमें रक्तोत्पत्ति एक कार्य है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक यकृत् और प्लीहा यह काम करती हैं। पश्चात् रक्तोत्पत्ति का कार्य रक्तमज्जा में चला जाता है।

In the foetus the liver and spleen take part in blood formation, but in the adult it is confined to the redbone marrow. *Halliburton's Physiology.*

मलधरा कला—मलधरा कला मलधारण के कार्य के अतिरिक्त जलशोषण का और वृक्कों के द्वारा अनुत्सृष्ट्य लवणों के उत्सर्जन का कार्य करती है—

The functions of the large intestine are mechanical, absorptive and excretory. The mechanical functions of the large intestine comprise the storage of faeces, and their evacuation at due intervals. The large intestine absorbs chiefly water. *Halliburton's Physiology.*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि कलाएँ केवल गुण (Quality) नहीं हैं, धातूत्पादक सूक्ष्म अवयव (Formative elements पं० गंगाधरशास्त्री जोशी) नहीं हैं, केवल धातुओं के आधार (Mechanical supporters) नहीं हैं, परंतु विशेषगुणयुक्त आवरण (Membranes with special functions) हैं।

गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण, तस्माद्गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते; ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरं चोपचीयमानमपरेत्यभिधीयते; शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधरावभिप्रतिपद्यते, तस्माद् गर्भिण्यः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति २३

गर्भवती स्त्रियों के आर्तववह स्रोतसों के माग गर्भ के द्वारा वंद हो जाते हैं। इसलिए (गर्भाधान के वाद) गर्भवती स्त्रियों में आर्तव (स्राव) नहीं दिखाई देता। तव नीचे की ओर वंद हुआ (इसलिए लौटकर) ऊपर की ओर आया हुआ और उत्तर काल में परिवर्धित हुआ वही आर्तव अपरा कहलाता है। शेष आर्तव और भी ऊपर आकर स्तनो में प्राप्त हो जाता है। इसलिए गर्भिणी के स्तन मोटे और उन्नत हो जाते हैं॥ २३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भिणी का अनार्तव, अपरा की उत्पत्ति और स्तनों की पीनोन्नतता; इनकी उपपत्ति वतलाई गई है। इसके संवंध में यह ध्यान में रखना चाहिए यह उपपत्ति लौकिक परिभाषा में वताई गई है, तथा वतानेकी पद्धति वड़ी रोचक और सूचक है। वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण—गर्भाधान होने पर आर्तवस्राव आप से आप कैसे वंद होता है, इसका ठीक उत्तर देना आज भी वहुत कठिन है। परन्तु एक वात निश्चित है कि गर्भ ही के कारण आर्तवस्राव वंद होता है। आर्तवस्राव का घनिष्ठ संवंध वीजकोप (Ovary) के साथ होता है। इस वीजकोप में दो रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। एक का नाम है ओस्ट्रिन (Oestrin) और दूसरे का है प्रोजेस्टिन (Progestin)। ओस्ट्रिन वीजकोप की आन्तरिक (Interstitial सेलों से वनता है और इसके प्रभाव से गर्भाशय की श्लेष्मल कला का नाश होकर आर्तव का स्राव होता है। दूसरा पदार्थ प्रोजेस्टिन पक्व वीज वाहर पड़ने के वाद उसके स्थान में जो पीतपिण्ड (Corpus luteum) वनता है, उसमें निर्माण होता है। यह द्रव्य गर्भाशय की श्लेष्मल कला को गर्भग्रहण योग्य वनाता है तथा स्तनों को भी परिपुष्ट करता है। जव गर्भग्रहण योग्य गर्भाशय में गर्भ नहीं आता, तव ओस्ट्रिन अपना नाशक कार्य करके आर्तवस्राव उत्पन्न करता है। उसका नाशक कार्य समाप्त होने पर प्रोजेस्टिन अपना रचनात्मक कार्य करता है। इस तरह ये दोनों द्रव्य परस्परविरोधी होने पर भी प्रति मास नियत परन्तु भिन्न समय पर कार्य करके शोणितोत्पत्ति का चक्र जारी रखते हैं। शोणितोत्पत्ति के चक्र में गर्भाशय के भीतर चार अवस्थाएँ होती हैं। प्रथमावस्था प्रोजेस्टिन के कारण होती है। इसमें गर्भाशय की श्लेष्मल कला काफी मोटी होती है, तद्वत रक्तवाहिनियाँ तथा ग्रंथियाँ वढ़ती हैं। संक्षेप में, गर्भ के आगमन और ग्रहण की सव तैयारी होती है। जव गर्भ नहीं वनता है, तव ओस्ट्रिन के परिणाम से रक्तवाहिनियाँ, ग्रंथियाँ और कला स्थान स्थान पर विदीर्ण होकर ये सव मिलकर नीचे की और निकलते हैं ओर यही आर्तव शोणित होता है। यह दूसरी अवस्था है। जव पुरुष के साथ सहवास करने के पश्चात् शुक्राणु का स्त्रीवीज से संयोग होकर वह सफल (Fertilized) होता है और उसके ग्रहण के लिए वनाई हुई श्लेष्मल कला पर वह चिपट जाता है, तव प्रोजेस्टिन का कार्य प्रतिमास की तरह वंद न होकर जारी रहता है और ओस्ट्रिन कार्य प्रतिमास की तरह न होकर वंद रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय की जिस श्लेष्मल कला और रक्तवाहिनियों से आर्तवशोणित वनता है वह गर्भ उस के ऊपर चिपट जाने

से नहीं बनता। संक्षेप में गर्भ अपनी उपस्थिति से और श्लेष्मल कला की मोटाई के कारण आर्तव का मार्ग बंद करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं (९ वें अध्याय के २२वें सूत्र का वक्तव्य भी देखें)। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि गर्भ आर्तवशोणित को बनने के पश्चात् नहीं रोकता, परन्तु आर्तव बनने ही नहीं देता। इसलिए लिखा है—तस्मात् गृहीतगर्भाणां आर्तवं न दृश्यते। तस्मात् के पश्चात् अष्टांगसंग्रह में 'ततः परम्' लिखा है। यह शब्दप्रयोग यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि कल्पना को अधिक स्पष्ट कर देता है। गर्भ का आधान होने पर केवल उस मास के लिए नहीं, जब तक गर्भ गर्भाशय में होता है तब तक आर्तव का दर्शन नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। इसलिए इन्दु अपनी टीका में लिखते हैं—यत्तु कदाचिद् दृश्यते तद्वैकृतम्। गर्भधारणा होने के पश्चात् जो शोणितस्राव होता है वह गर्भपात, बीजवाहिनी में गर्भधारणा, अपरा का गर्भाशय से अलग होना इत्यादि वैकारिक कारणों से होता है, अवैकारिक शोणितस्राव कदापि नहीं होता। यदि किसी स्त्री में गर्भधारणा के पश्चात् प्रतिमास शोणितदर्शन होता तो वह उसमें दूसरे गर्भाशय की उपस्थिति का सूचक (Double uterus) समझना चाहिए। संक्षेप में इन्दु ने जो लिखा है, वह ठीक है—

Rarely will one be deceived who regards a woman menstruating regularly, with all the characters of menstruation, while trusting the contrary opinion, he is exposed to frequent errors. *Stoltz quoted in Jellet's Midwifery.*

अथ प्रविष्टगर्भस्यागतम्—स्वस्थानस्थितम्। प्रतिमास की तरह आर्तव उत्पन्न होने पर स्वस्थान में आने के लिए उसमें किस प्रकार की गतियाँ उत्पन्न होतीं इसका यह शब्द चित्र है, वास्तविक गति का वर्णन नहीं है। अपरम्—भविष्यकाल में, उत्तरकाल में। हाराणचन्द्र इसका अर्थ दूसरा महीना करते हैं—अपरमर्वाचीन द्वितीयमासिकस्त्रैवेत्यर्थः। गर्भाधान के समय से तीसरे महीने के अन्त तक अपरा की उपचीयमानावस्था होती है और पश्चात् वह पूर्ण उपचित होता है। इसलिए 'अपरम्' से भविष्यकाल मानना अधिक उचित है। अपरा—जरायु या अपरा। गर्भ का कोष जिसमें गर्भ गर्भाशय में रहता है। इस कोष के दो भाग होते हैं। एक भाग बहुत पतला और विस्तृत होता है, जो चारों ओर से गर्भ को आवृत करता है। यह गर्भावरण (Foetal membranes) कहलाता है। दूसरा भाग इस आवरण के बाहर उसके एक हिस्से में चिपटा हुआ होता है। यह आकार में दीर्घ गोल, व्यास में ६—७ इञ्च, बीच में एक इञ्च स्थूल और परिसर में पतला, वजन में एक से डेढ़ पौण्ड (दो से तीन पाव) होता है। आवरण की तरफ का इसका पृष्ठभाग चिकना और गर्भाशय की तरफ का पृष्ठभाग खुरदरा होता है। इसको प्लेसन्टा (Placenta) कहते हैं। इसके मध्य में गर्भनाडी लगी रहती है। अपरा से वास्तव में दोनों (Placenta and membranes) का बोध होता है—अथास्यापरापतनस्यानाहाध्मानौ कुरुते। (सुश्रुत)। तस्यास्तु खल्वपरायाः प्रपतनार्थे कर्माणि क्रियन्ते। (चरक)। अथ प्रसूताया न चेदपरा पतति तत्। (वाग्भट)। परन्तु कभी भी अपरा शब्द केवल प्लेसन्टा के लिए भी प्रयुक्त होता है—नाभ्यां ह्यस्य नाडी प्रसक्ता, नाड्यां चापरा, अपरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये, मातृहृदयं ह्यस्य तामपरामभिसंप्लवते सिराभिः स्यन्दमानाभिः। (चरक)। अपरा गर्भस्य नाभिनाडीप्रतिबद्धा 'अमरा' इति लोके ख्याता। (चक्रपाणिदत्त)। जरायु शब्द भी अपरा के समान दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु अधिकतर उससे केवल आवरणों का बोध होता है—जरायुणा मुखे च्छन्ने। (सुश्रुत)। गर्भवेष्टनचर्मपुटक जरायु। (उद्यन)। अतः निश्चित परिभाषा की दृष्टि से अपरा Placenta के लिए और जरायु Membranes के लिए विशेष करके chorion के लिए प्रयुक्त करना उचित है।

अपरा की यहाँ पर जो निरुक्ति बतलाई गई है, उससे यह मालूम होता है कि अपरा शोणित से उत्पन्न हुई है। यह कथन कुछ अंश तक सत्य है। यदि अपरा का छेद किया जाय तो उसमें दो भाग दिखाई देते हैं। गर्भाशय की तरफ जो भाग होता है वह गर्भाशयज अपरा (Placenta uterina) और गर्भ की तरफ जो होता है वह गर्भज अपरा (Placenta foetalis) कहलाता है। गर्भज भाग में आवरण और उनके रसांकुर (Villi) आते हैं और गर्भाशयज भाग में श्लेष्मल कला का हिस्सा (Decidua basalis) और शोणितावकाश, जिनमें माता का रक्त रहता है, होते हैं। गर्भज भाग गर्भ से और गर्भाशयज भाग शोणित से बनता है। यदि गर्भावस्था के प्रारम्भ का विचार किया जाय तो यह कथन अधिक सत्य होता है क्योंकि उस समय गर्भाशयज भाग अधिक होता है—

During the constructive stage the uterus undergoes growth, glandular development and hyperaemia. The changes in a general way are described as being very similar to those which occur at the commencement of pregnancy. *Marshall's Introduction to Sexual Physiology.*

शेषम्—जरायुशेषम्। (अष्टांगसंग्रह)। अपरा की उपचिति के लिए आवश्यक शोणित व्यय होने पर बचा हुआ। हाराणचन्द्र 'शेष' से तीसरे महीने के बाद का आर्तव—शेषं तृतीयादिमासिकम्। वास्तव में आर्तव का और स्तनवृद्धि का कोई संबंध नहीं है। जो द्रव्य (प्रोजेस्टिन) गर्भाशय को गर्भग्रहण योग्य बनाता है तथा गर्भाधान होने पर गर्भाशय में उसके पोषण के लिए आवश्यक परिवर्तन करने में सहायता करता है, वही द्रव्य गर्भजन्म के पश्चात् उसके पोषण के लिए स्तनों की भी वृद्धि करता है। परन्तु स्तनों का कार्य जन्म के पश्चात् होने से उस द्रव्य का प्रथम कार्य गर्भाशय पर होता है और पश्चात् स्तनों पर होता है। अपरा की पूर्णवृद्धि तीसरे महीने के अन्त तक हो जाती है और स्तनगत परिवर्तन तीसरे महीने से प्रारंभ होते हैं, जो प्रसवकाल तक जारी रहते हैं। इनका विवरण तीसरे अध्याय के १४वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। इसलिए शेष का अर्थ अपरा की उपचिति होने के पश्चात् काल का, ऐसा समझना चाहिए।

गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ, शोणितफेनप्रभवः फुफ्फुसः शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः ॥२४॥

असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः।
तं पच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति ॥२५॥
ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते गुदं वस्तिश्च देहिनः।
उदरे पच्यमानानामाध्मानाद्रुक्मसारवत् ॥२६॥
कफशोणितमांसानां सारो जिह्वा प्रजायते।
यथार्थमूष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत् ॥२७॥
अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा।
मेदसः स्नेहमादाय सिरास्नायुत्वमाप्नुयात् ॥२८॥
सिराणां तु मृदुः पाकः स्नायूनां च ततः खरः।
आशय्याभ्यासयोगेन करोत्याशयसंभवम् ॥२९॥

रक्तमेदःप्रसादाद्वृक्कौ; मांसासृक्कफमेदःप्रसादाद्वृषणौ; शोणितकफप्रसादजं हृदयं, यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः; तस्याधो[2] वामतः प्लीहा फुप्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च; तद्धृदयं विशेषेण चेतनास्थानम्, अतस्तस्मिंस्तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति ॥३०॥

भवति चात्र—
पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ॥३१॥

गर्भ के यकृत् और प्लीहा रक्त से, फुप्फुस रक्त के फेन से, और उण्डुक रक्त के मल से बनते हैं ॥२४॥ रक्त और कफ का जो सारतम भाग होता है, पित्त के द्वारा पकते समय उसमें वायु भी आ जाती है ॥२५॥ तत्र उससे आन्त्र, गुद, वस्ति की उत्पत्ति होती है। (अग्नि पर रखकर) धौंकने से (उत्पन्न होने वाले) सोने के सार भाग के समान उदर में (पित्त और वात के द्वारा) पकाये जाते हुए ॥२६॥ कफ, रक्त और मांस का सार भाग जिह्वा उत्पन्न होती है। पित्त से युक्त वायु प्रयोजन के अनुसार स्रोतों को विदीर्ण करती है (उत्पन्न करती है) ॥२७॥ उसी तरह (पित्तयुक्त वायु) मांस में प्रवेश करके उसे पेशियों में विभक्त करती है। और मेद का स्नेह भाग पृथक् करके (मांस को) सिरा और स्नायुओं में परिवर्तित करती है ॥२८॥ (सिरा और स्नायु में फर्क इतना ही है कि उत्पत्ति के समय) सिराओं का पाक मृदु होता है और स्नायुओं का खर होता है। (वैसे ही वायु मांस में) अवस्थान करके और वार वार परिश्रम करके आशयों की उत्पत्ति करता है ॥२९॥ रक्त और मेद के प्रसाद से दोनों वृक्क; मांस, रक्त, कफ और मेद इनके प्रसाद से वृषण (उत्पन्न होते हैं); रक्त और कफ के प्रसाद से हृदय (बनता है), जिसके आश्रय में प्राणवहा धमनियाँ होती हैं; हृदय के नीचे वाईं ओर प्लीहा और फुप्फुस, (नीचे) दाहिनी ओर यकृत् क्लोम (और फुप्फुस) होता है। यह हृदय विशेष करके चैतन्य स्थान है। इसलिए इसके तम द्वारा आच्छादित होने पर संपूर्ण प्राणी सो जाते हैं ॥३०॥ यहाँ पर श्लोक है—अधोमुखकमल (कलिका) के समान हृदय (आकार में) होता है; जागरूक (मनुष्य वा प्राणी) का हृदय विकसित रहता है और निद्रित (प्राणी या मनुष्य) का संकुचित हो जाता है ॥३१॥

वक्तव्य—फुप्फुसः—फेफड़ा (Lungs)। आयुर्वेद में फुप्फुस का उल्लेख एकवचन में होता है। वास्तव में फेफड़े दो होते हैं—एक दाईं ओर और एक बाईं ओर। परंतु ये दोनों फेफड़े कण्ठनलिका की शाखाओं से आपस में इतने निगडित होते हैं कि दोनों एक कहे जा सकते हैं। आयुर्वेद में फुप्फुस का वर्णन बहुत संक्षेप में मिलता है—हृदयनाडिकालयः फुप्फुसः। (डल्हण)। उदानवायोराधारः फुप्फुसः प्रोच्यते बुधैः। (शार्ङ्गधर)। उदानवायोः कण्ठस्थितवायोराधारः। (शार्ङ्गधरदीपिका)। इस वर्णन से भी यह निश्चय हो सकता है कि फुप्फुस वही अंग है, जो पाश्चात्य परिभाषा में लंग्ज कहलाता है। चरक में 'द्वौ श्लेष्मभुवौ' (शा० ७) करके दो अंग उरोविभाग में वर्णन किये हैं। इसकी टिप्पणी में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—श्लेष्मभुवौ कण्ठस्य पार्श्वयोर्व्यवस्थितौ कठिनौ भागौ। इसमें कठिन शब्द फुप्फुस के वर्णन के साथ नहीं मिलता। परंतु इस शब्द के ऊपर अधिक जोर देने का कारण नहीं है। शरीर के जो छप्पन प्रत्यंग वर्णन किये हैं, उनमें जिस सिलसिले में इनका उल्लेख आया है, उससे 'श्लेष्मभुवौ' फुप्फुस के लिए प्रयुक्त हुए हैं, ऐसा मालूम पड़ता है। फुप्फुस शंखाकार होता है, जिसका नीचे का भाग मोटा और अधिक चौड़ा और ऊपर का भाग पतला और नोकीला होता है। यह ऊपर का भाग शिखर (Apex) कहलाता है और गरदन की ओर अक्षकास्थि के पीछे रहता है। नीचे का भाग उदरगुहा की ओर महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के ऊपर स्थित होता है। फुप्फुस ऊपर से चिकने और चमकीले होते हैं और उन पर कुछ चित्तियाँ पड़ी रहती हैं। ये बहुत मृदु और स्थितिस्थापक होते हैं, जिसके कारण स्पर्श करने और दवाने पर ये मुलायम और स्पंज के समान मालूम होते हैं। काटने पर उनमें स्पंज की भाँति असंख्य छिद्र दिखाई देते हैं। ये सब छिद्र वायु से भरे रहने के कारण फुप्फुस जल से हल्के होते हैं और पानी में तैरते हैं। गर्भावस्था में फुप्फुस का रंग गहरा लाल, बालकों में गुलाबी और प्रौढ मनुष्यों में स्लेट का सा नीलापन लिये भूरा सा होता है। काटने पर इससे झागदार लाल तरल निकलता है। यहाँ पर फुप्फुस की उत्पत्ति के संबंध में जो कल्पना की गई है वह शवविच्छेद करके फुप्फुस के उपर्युक्त लक्षणों का अभ्यास करके की गई है, ऐसा मालूम पड़ता है। इन फुप्फुसों में श्वास द्वारा प्राणवायु (वातावरण की अधिक आक्सिजन याने विष्णुपदामृत युक्त वायु) प्रवेश करती है और वहाँ पर रक्त की शुद्धि करके अधिक कार्बन डायोक्साइड युक्त वायु में परिवर्तित होती है। यही वायु प्रश्वास के साथ कण्ठ-नासिका से बाहर आती है और इसी की सहायता से मनुष्य स्वरयन्त्र के द्वारा बोलना, गाना इत्यादि ध्वनि के कार्य करता है—वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक्। उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः। तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते। (सुश्रुत)। तत्र प्राणः कण्ठोरश्चरः। उदान उरस्यवस्थितः कण्ठनासिकानाभिचरो वाक्प्रवृत्तिः। (अष्टांगसंग्रह)। नाभिचर शब्द का अभिप्राय यह नहीं है कि वायु नाभिप्रदेश में भी संचार करता है, परन्तु श्वास-प्रश्वास के समय नाभि के

१ तत्रास्य धमायमानस्य ध्मायमानस्य रुक्मवत्। जिह्वा संजायते सौमी यया वेदयते रसान्। २ तस्य वामतः।

आसपास का भाग भी हिलता है, इसलिए वायु नाभिचर या नाभिस्थ कहलाता है। जिसमें नाभि की गति अधिक होती है, वह नाभिवक्षश्चर (Abdomino-thoracic) श्वसन कहलाता है और जिसमें नाभि की गति कम और वक्ष की अधिक होती है वह वक्षनाभिचर (Thoracico-abdominal) श्वसन कहलाता है। प्रथम प्रकार स्वाभाविकतौर से लिंगनिरपेक्ष बालकों में और प्रौढ़ पुरुषों में तथा दूसरा प्रकार प्रौढ़ स्त्रियों में मिलता है। प्राणवायु शरीर को जीवन देने का भी कार्य करता है—प्राणाश्चाप्यवलम्बते (सुश्रुत)। नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥ पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः। प्रीणयन् देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम्॥ (शार्ङ्गधर)। उपर्युक्त विवरण से यह बात साफ होगी कि आयुर्वेद में, यद्यपि स्पष्ट शब्दों में नहीं तथापि अस्पष्ट रीति से, फुफ्फुस का संबंध श्वास प्रश्वास तथा रक्तशुद्धि के साथ (९ अध्याय में प्राणवह स्रोतस् देखो) जोड़ दिया गया है। प्राणवायु से अनेक वस्तुएँ (दृश्य या अदृश्य, व्यक्त या अव्यक्त) उपलक्षित हो सकती हैं, परन्तु उनमें 'आक्सीजन (Oxygen) या तद्युक्त वायु' यह एक वस्तु है, इसमें संदेह नहीं। वैसे ही उदान वायु से अनेक वस्तुएँ उपलक्षित हो सकती हैं, परन्तु उनमें फुफ्फुसगत परिवर्तित (अधिक कार्बन डायोक्साइड CO_2 युक्त) वायु एक वस्तु है, इसमें भी कोई संदेह नहीं और इसी दृष्टि से फुफ्फुस उदान वायु का आधार माना गया है—उदानवायोराधारः फुफ्फुसः प्रोच्यते बुधैः। (शार्ङ्गधर)। वृक्कौ—गुल्मिगोलकौ। (डल्हण)। वृक्क सदैव द्विवचन में प्रयुक्त होता है और गोलाकार कोष्ठस्थ अंग है। इसके सिवाय शरीर की दृष्टि से (Anatomically) वृक्कों का अधिक वर्णन आयुर्वेद में नहीं मिलता। परन्तु इतना भी वर्णन शारीरदृष्ट्या इनका निश्चय करने के लिए पर्याप्त है। आज कल जिसको गुर्दा या मूत्रपिण्ड (Kidney) कहते हैं, वही वृक्क है। वृक्क शरीर में दो होते हैं—एक दाहिना और दूसरा बायाँ। ये उदर में पिछली दीवार से लगे हुए रीढ़ की दाहिनी और बाईं ओर रहते हैं। वृक्क का आकार लोबिये के बीज के समान होता है। उसकी लम्बाई ४ इंच, चौड़ाई २॥ इंच, और मोटाई १ इंच होती है। ये लम्बाई में रीढ़ के दोनों तरफ रहते हैं। रीढ़ की ओर का किनारा लोबिये के काले तिल वाले किनारे की भाँति बीच में दबा हुआ होता है और दूसरा किनारा बाहर की ओर गोल होता है। वृक्क में असंख्य पतली पतली और लम्बी नालियाँ होती हैं। इन नालियों का एक सिरा गुच्छेदार होता है और दूसरा सिरा अन्य नालियों के साथ मिलता है। इस तरह बड़ी बड़ी नालियों की बनावट होती है। ये बड़ी नालियाँ अलिन्द (Pelvis) में इकट्ठा होती हैं। वहाँ से मूत्रप्रणाली निकलकर उसी तरफ वस्ति के एक कोने में मिलती है। इसी प्रकार दूसरे वृक्क से भी दूसरी प्रणाली बनकर वस्ति में मिलती है। वृक्कों में महाधमनी से दो शाखाएँ आती हैं, जो उनके भीतर अत्यंत सूक्ष्म प्रशाखाओं में विभक्त होती हैं। इनका अन्तिम सिरा मूत्रनलिका के गुच्छेदार सिरे में मिलता है। वहाँ से छोटी छोटी सिराएँ उत्पन्न होती हैं, जो आपस में मिलकर बड़ी बनती हैं। अन्त में सब सिराओं से एक बड़ी सिरा बनती है, जो अधरा महासिरा में मिल जाती है। धमनी के द्वारा वृक्कों में आई हुई कुछ अशुद्धियाँ (यूरिआ, यूरिक अम्ल, फास्फेट) तथा जल छनकर नालियों में चली जाती है और रक्त शुद्ध होकर सिरा द्वारा वापस चला जाता है। वृक्कों का कार्य—वृक्कों में मूत्रोत्पत्ति होती है। असंख्य नालियों से जो मूत्र बनता है, वह वृक्कालिन्द में इकट्ठा होकर मूत्रप्रणालियों (Ureters) द्वारा वस्ति में पहुँचता है। आयुर्वेद में वृक्कों का संबंध मूत्रोत्पत्ति के साथ एक स्थान को छोड़कर और कहीं भी नहीं बतलाया गया है। जिस स्थान में दोनों का कुछ अस्पष्ट संबंध दिखाई देता है, वह स्थान अष्टांगसंग्रह में निम्न प्रकार से मिलता है—सप्ताशया क्रमादसृक्श्लेष्मामपित्तपक्ववायुमूत्राधाराः। तेषु समस्तप्रविभक्तानि कोष्ठाङ्गानि हृदययकृत्प्लीहफुप्फुसोण्डुकवृक्कान्त्रादीनि। (शा० ५)। विशेष विवरण के लिए ग्रन्थकार की 'आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति की कल्पना' नामक अंग्रेजी पुस्तिका देखो। वृषण—शिश्न के दोनों तरफ नीचे लटकने वाले पिण्ड (Testicle or testes) वृषण कहलाते हैं। वृषणग्रंथियों में भी वृक्क के समान छोटी छोटी पतली नालियाँ होती हैं। इनकी संख्या ८००–९०० के लगभग होती है। ये नालियाँ बहुत मुड़ी हुई होती हैं। कई नालियाँ आपस में मिलकर २०–२५ बड़ी नालियाँ बनती हैं, जो ग्रंथि के बाहर निकलती हैं। इन्हीं नालियों से अधिवृषणिका (Epididymis) का सिरा बनता है। वहाँ पर इन नालि[illegible] के संयोग से एक बड़ी नाली बन जाती है, जो शुक्रप्रणा[illegible] कहलाती है यह प्रणाली बहुत मोड़ खाकर और गेंडलि[illegible] मारकर अण्ड के पिछले किनारे के नीचे भाग तक पहुँच[illegible] है। इसी से अधिवृषणिका का शरीर और नीचे का भा[illegible] बनता है। यही शुक्रप्रणाली और मोटी होकर तथा ऊप[illegible] को मुड़कर अधिवृषणिका के पार्श्व से लगी हुई ऊपर [illegible] चढ़ती है और वृषणरज्जु के साथ उदर में प्रविष्ट होक[illegible] शुक्राशय के नीचे के भाग में उसके साथ मिलती है [illegible] वृषणग्रंथि के भीतरी असंख्य नालियों में वीर्य का मुख्[illegible] अवयव शुक्राणु (Spermatozoa) बनते हैं और वहाँ [illegible] आकर अधिवृषणिका की नालियों में इकट्ठा होते हैं [illegible] आयुर्वेद में वृषण के इस कार्य का स्पष्ट परिचय मिलता है [illegible] चरक के स्रोतोविमान में लिखा है—शुक्रवहानां स्रोतस[illegible] वृषणौ मूलम्। (विमान ५)। वीर्यवाहिशिराधारौ वृषण[illegible] पौरुषावहौ। (शार्ङ्गधर)। यहाँ तक शुक्रवह स्रोतस् य[illegible] वीर्यवाही शिरा से (Tubuli seminiferi) अभिप्रेत हैं [illegible] वृक्क और वृषण दोनों नालीदार ग्रंथियाँ हैं और दोनों का ही कार्य अत्यन्त सूक्ष्म है, जो सूक्ष्मदर्शक के सिवा नहीं समझा जा सकता। ऐसी अवस्था में वृषणों के कार्य का स्प[illegible] परिचय मिलता है और वृक्कों के कार्य का नहीं मिलता इसका कारण क्या है? इसका कारण स्थानभिन्नत[illegible] मालूम होता है। वृक्क उदरगुहा के भीतर होने के कारण उसके विकार के या अपघात के परिणाम देखने का अवस[illegible] नहीं मिलता था, जिसके सबब से उसके सम्बन्ध में केवल कल्पना के सिवा ज्ञान प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं था। वृषण शरीर के बाहर का और दृश्य अंग होने के कारण उसके विकारों का तथा अपघातों का परिणाम देखने का अवसर प्राप्त होता था और उनको देखकर वृषणों के कार्य

का ज्ञान प्राप्त हो गया था। क्लैब्य के जो अनेक कारण बताये गये हैं उनमें शस्त्र, क्षार, अग्नि और वृषण का टूट जाना इत्यादि कारण मिलते हैं। शस्त्र, क्षार और अग्नि का सम्बन्ध वृषण के साथ समझना चाहिए, शरीर के अन्य अङ्गों पर नहीं—शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा। (चरक, विमान ५)। चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्। दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः। शुक्रं सदूषयन्त्याशु केचित् क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे। वदन्ति शेफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेन च। (चरक, चि० ३०)। हृदय—शरीर का वह अवयव जो अपने संकोच-विकास से रक्त को सदैव गतिमान् रखता है। संक्षेप में हृदय रक्तपरिचालक यन्त्र याने उदंच (Pump) है। इसको अंग्रेजी में (Heart) कहते हैं और यह शब्द हृत् या हार्दम इन संस्कृत शब्दों से निकला हुआ मालूम पड़ता है। यह अनैच्छिक मांस से निर्मित अंग है। अनैच्छिक कहने का कारण यह है कि उसके संकोच-विकास पर मनुष्यों की इच्छा का पूर्ण अधिकार नहीं है। मानसिक क्रोधादि अवस्थाओं का कुछ असर होता है। यह अङ्ग वक्ष के वामपार्श्व में अवस्थित है। इसकी दाहिनी ओर दाहिना और बाईं ओर बायाँ फुफ्फुस रहता है। उसके सामने उरःफलक और बाईं ओर दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं पसलियाँ होती हैं। उसके पीछे अन्ननलिका और बृहद्धमनी और इनके पीछे रीढ़ होती है। नीचे महाप्राचीरा पेशी होती है, जिस पर हृदय आश्रय लेता है और महाप्राचीरा के नीचे उदरगुहा में हृदय की बाईं ओर प्लीहा और दाहिनी ओर यकृत् होता है। इसके ऊपर से समस्त शरीर को रक्त पहुंचाने वाली बृहद्धमनी निकलती है। इसके सिवा फुफ्फुस को जाने वाली और उससे आने वाली रक्तवाहिनियाँ उत्तरा और अधरा महासिरा भी निकलती हैं। संक्षेप में, समस्त शरीर को प्राण देने वाली वाहिनियाँ हृदय से सम्बन्धित रहती हैं। हृदय के संकोच-विकास से इन वाहिनियों के द्वारा संपूर्ण शरीर को रक्त की रसीद पहुंचती है और शरीर के परमाणु (Cells) सजीव (चैतन्ययुक्त) रक्खे जाते हैं। हृदय का यही सम्बन्ध और कार्य इस सूत्र में संक्षेप में वर्णित हुआ है। धमन्यः प्राणवहाः—शरीर की धातुओं का धारणपोषण तब होता है, जब उनको प्राणवायुयुक्त रक्त (Oxygenated blood) मिलता है। प्राणवायुयुक्त रक्त हृदय से निकलने वाली रक्तवाहिनियों में से बहता है। इस प्रकार की वाहिनी को धमनी (Artery) कहते हैं—ध्मानाद्धमन्यः। (चरक, सू० ३०)। धमनी कहने का कारण तद्गत स्पन्दन है। चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—ध्मानात् पूरणाद्वाहीन रसादिनेत्यर्थः। इसका अभिप्राय यह है कि धमनियों में जो स्पन्दन होता है, वह बार बार रस या रक्त के पूरण से होता है। स्पन्दन एक प्रकार की गति है और गति वायु के सिवा नहीं हो सकती, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक स्पन्दन के समय वायु धमनी में रक्त के साथ जाता है, यह भी एक धमनीस्पन्दन के संबंध में आयुर्वेद का मत है। परंतु यह वायु हवा (Air) न होकर 'तन्त्र-यन्त्र धर' तत्त्व है, जो शरीर में अव्याहत संचार करके शरीर को स्वस्थ रखता है—अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः। वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम॥ (चरक)। आर्टरी शब्द का मूल अर्थ वायु (Air) वाहिनी है क्योंकि प्राचीन ग्रीक लोग आर्टरी को वातपूर्ण समझते हैं। आधुनिक काल में 'हृदय से निकलने वाली रक्तवाहिनी' यह इसका अर्थ निश्चित किया गया है। आयुर्वेद में भी धमनी शब्द प्रायः इसी अर्थ से (आगे नौवें अध्याय को देखो) प्रयुक्त होता है और इसीलिए यहाँ पर लिखा है—यदाश्रयाः। सिराएँ (Veins) और धमनियाँ दोनों ही हृदय के साथ संबंध रखती हैं, परन्तु दोनों का हृदय के साथ संबंध भिन्न प्रकार का है। धमनियों की दृष्टि से हृदय आश्रय है। आश्रय वह कहलाता है जो धारण, पोषण या रक्षण द्वारा आश्रितों का कार्य चलाता है—विनाश्रया न शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः। हृदय ओज का स्थान होने से धमनी ओजोवह होती है—तेन मूलेन महता महामूला मता दश। ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः॥ (चरक)। प्राण का स्थान हृदय होने से धमनियाँ प्राणवह भी कहलाती हैं—धमन्यः प्राणवहाः। रस का स्थान होने से धमनियाँ रसवाहिनी भी होती हैं—तस्य (रसस्य) च हृदयं स्थानम्, स हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्य। (सुश्रुत)। हृदय संकोच-विकास का स्थान होने के कारण संकोच-विकास का भी ग्रहण धमनियों से होता है—करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी। (शार्ङ्गधर)। संक्षेप में ओज, प्राण, रस, स्पन्द इत्यादि सब बातों के लिए धमनियाँ हृदय की आश्रित होती हैं। सिराएँ हृदय-संबंधित होने पर भी उससे किसी चीज का ग्रहण नहीं करतीं, परन्तु हृदय को ही रक्त की रसीद पहुँचाती हैं—हृदो रसः निःसरति तत एव च सर्वतः। सिराभिर्हृदयं चैति तस्माद् हृत्प्रभवाः सिराः॥ (भेलसंहिता)। अर्थात् हृदय रक्त के लिए सिराश्रयी होता है, सिराएँ हृदयाश्रयी नहीं होती हैं। इसलिए यहाँ पर 'यदाश्रय' शब्दप्रयोग से जो रक्तवाहिनी प्रदर्शित की गई है, वह आधुनिक परिभाषा के अनुसार आर्टरी है। तस्याधो वामत इत्यादि—इस सूत्र में हृदयसमीपवर्ती अंगों का उसके साथ स्थानिक संबंध बतलाया गया है। इसमें फुफ्फुस केवल एक तरफ लिखा है, परन्तु वास्तव में वह दोनों तरफ है। इस प्रमाद को दूर करने के लिए गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना में निम्न पाठ सूचित करते हैं—यत्तु 'हृदयस्याधो प्लीहा फुफ्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च' इति सौश्रुतः पाठस्तत्र प्रमाद एव दरीदृश्यते। 'हृदयस्याधो वामतः प्लीहा, दक्षिणतो यकृत्, उभयतः क्लोम फुफ्फुसौ च' इति तु साधीयान् पाठः, अन्यथा न केनापि कथमपि शक्यं समाधातुम्॥ अष्टांगहृदय के शारीरस्थान के तीसरे अध्याय के दसवें श्लोक की टीका में अरुणदत्त निम्न श्लोक हृदय के संबंध में लिखते हैं—कफरक्तप्रसादात् स्याद् हृदयं स्थानमोजसः। तस्य दक्षिणतः क्लोमयकृत्फुफ्फुसमाश्रितम्॥ इस श्लोक के अनुसार दक्षिणपार्श्व में भी फुफ्फुस होना चाहिए और यदि इसके अनुसार प्राचीन पाठ निम्न प्रकार से परिवर्तित किया जाय—तस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम फुफ्फुसश्च—तो प्राचीन आधार के अनुसार पाठ होकर वह प्रत्यक्ष विरोधी भी नहीं होता। यह प्रमाद लेखक के शारीर अज्ञान का परिणाम है। उसने वामपार्श्व में फुफ्फुस लिखा, फिर फुफ्फुस के वास्तविक स्वरूप का ठीक ज्ञान न होने के

कारण दक्षिणपार्श्व में फुप्फुस लिखने की उसे आवश्यकता नहीं मालूम हुई और यही पाठ आगे चलकर रूढ हो गया। परंतु उपर्युक्त श्लोक में प्राचीन वास्तविक पाठ मिलता है, उसी के अनुसार पाठशुद्धि करना उचित है। उदर और वक्ष दोनों मिलकर कोष्ठ होता है। दोनों के बीच में महाप्राचीरा पेशी स्थित है, जो उदरगुहा को वक्षगुहा से पृथक् करती है। हृदय और फुप्फुस वक्षगुहा में हैं और महाप्राचीरा पर उनका नीचे का पृष्ठभाग स्थित होता है। यकृत् और प्लीहा उदरगुहा में स्थित हैं और उनका ऊपर का पृष्ठभाग महाप्राचीरा के साथ लगा हुआ है। क्लोम—इसके अर्थ के संबंध में बहुत मतभिन्नता पाई जाती है। कुछ लोग इसको अग्न्याशय (Pancreas) कुछ कण्ठनाडी (Trachea) और कुछ पित्ताशय (Gall bladder) समझते हैं। प्रत्येक अर्थ के लिए कुछ न कुछ साधक प्रमाण मिलते हैं। एक मत से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। परंतु निम्न कारणों से क्लोम का अर्थ पित्ताशय करना अधिक उचित मालूम होता है। (१) इसकी उत्पत्ति रक्त के किट्ट से मानी गई है—असृजः शोणितज किट्टस्तस्मात्क्लोम च जायते॥ (२) यकृत् का और क्लोम का उल्लेख साथ साथ होता है—क्लोम च यकृच्च। विद्रधि के लक्षणों में भी दोनों की समानता बताई गई है—श्वासो यकृति तृष्णा च पिपासा क्लोमजेऽधिका॥ (३) इसका स्थान यकृत् के नीचे बताया गया है—क्लोम काल खण्डा(यकृता)धस्तात् स्थित दक्षिणपार्श्वस्थ तिलकमिति प्रसिद्धम्॥ (डल्हण)। तिल तु शोणितकिट्टप्रभव दक्षिणाश्रित यकृत्समीपे क्लोमसञ्ज्ञक भवति॥ (आढमल्ल, शार्ङ्गधरदीपिका)। (४) क्लोम हमेशा दक्षिणपार्श्व में बतलाया गया है। अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात् क्लोम तिष्ठति॥ कण्ठनाडी मध्य में होती है और अग्न्याशय मध्य में होकर दोनों पार्श्वों में फैलता है। (५) क्लोम के लिए तिलक शब्द भी पर्याय से प्रयुक्त होता है। यदि यकृत् का नीचे का पृष्ठभाग देखा जाय तो पित्ताशय की आकृति काले तिल के समान यकृत् पर प्रतीत होती है। तिल से छोटापन, तिलाकार और कालापन इन बातों का बोध होता है—

The gall-bladder is a conical or pearshaped (तिलाकृति) musculo membranous sag lodged in a fossa on the under surface of the right lobe of the l ver *Grey's Anatomy*

इसका गोलाकार भी अरुणदत्त ने अपनी टीका में वर्णन किया है—समानवायो प्रध्मानाद्रक्ताद्देहोष्मपाचितात्। किञ्चि दुच्छूनसदृशस्तु जायते क्लोमसञ्ज्ञक॥ (६) क्लोम एक ऐसा अंग बताया गया है कि जो उदराध्मान होने पर हृदय, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस इनके साथ अपना स्थान कुछ बदल सकता है—यदा मोऽन्त्रमूलो गर्भो मूलो बस्तिरिवानत। तेनाधूनाया नायास्तु कुक्षिराधाने भृशम्॥ उत्तिष्ठन्त इवाङ्गानि मूत्रबस्तिश्च सिच्यते। क्लोम प्लीहा यकृच्चैव फुप्फुसं हृत्य तथा। गर्भेण पीडित होनदूर्ध्वं प्रक्रामति स्त्रिया॥ (डल्हणटीका, मूढगर्भनिदान)। तदूर्ध्व विदीर्णेण चेतनास्थानम्—जिसकी उत्पत्ति बताई गई, जिससे प्राणवह धमनियाँ निकलती हैं, जिसके दोनों तरफ फुप्फुस होता है, दाहिनी ओर नीचे यकृत् और क्लोम होता है और बाईं ओर नीचे प्लीहा होती है वही हृदय अन्य चेतनास्थानों की अपेक्षा अधिक महत्व का चेतना स्थान है। शरीर को जिससे चैतन्य प्राप्त होता है, ऐसा स्थान किंवा जिससे चैतन्य Life) का ज्ञान प्राप्त होता है, ऐसा स्थान चेतनास्थान कहा जा सकता है। हृदय ओज का स्थान है, प्राण का स्थान है और चैतन्य का भी स्थान है—हृदि प्राण। प्राणाश्रयस्यौजसोऽर्थे विदवो हृदयाश्रिता॥ तत्परस्यौजस स्थान तत्र चैतन्यसग्रह। (चरक)। अत इस हृदय से समस्त शरीर के समस्त धातुओं को, अंग प्रत्यगों को प्राणयुक्त, ओजयुक्त, चैतन्ययुक्त जीवरक्त मिलता है। अत इसी के कारण सपूर्ण शरीर भी चैतन्ययुक्त हो जाता है। हृदय का एकाध संकोच बन्द होने से याने हृदय एक दो सेकण्ड काम न करने से आँखों के सामने चिनगारियाँ आती हैं, चक्कर आता है, पैरों में कमजोरी आ जाती है, मृत्यु का डर मालूम होता है, सक्षेप में शरीर से प्राण चले जा रहे हैं ऐसा अनुभव होता है और जब हृदय सदा के लिए बंद (Heart-failure) होता है तब मस्तिष्कादि अन्य महत्व के अंग कार्यक्षम और प्राकृत होने पर भी शरीर से चैतन्य नष्ट होता है और कितनी कोशिश क्यों न की जाय, जान वापस नहीं आती है। इन सब बातों का विचार करके आयुर्वेदज्ञ चिकित्सक हृदय को प्राणादि का स्थान (आश्रय) मानने लगे और अन्य अंगों के अपेक्षा उसको अधिक महत्व देने लगे—तस्योपघातान्मूर्च्छाय भेदान्मरण मृच्छति। यद्धि तत् स्पर्शविज्ञान धारि तत्तत्र सश्रितम्॥ तत् परस्यौजस स्थानं तत्र चैतन्यसग्रह। हृदय महदर्थश्च तस्मादुक्त चिकित्सकै॥ (चरक, सू० ३०)। यदि चैतन्य के अस्तित्व की दृष्टि से (Signs of life or vital functions) विचार किया जाय तब भी हृदय ही सबसे महत्व का होता है। स्वस्थावस्था में इस बात की जाँच करने का कारण नहीं होता, परन्तु रोगी की मृत्यु होने पर या मृतसम जन्म लिए हुए बालक में चैतन्य के संबंध में जाँच करके मृत्यु का निर्णय करने के कई प्रसंग आते हैं। चैतन्याभाव का पता शरीर ठंडा पड़ने से—नित्योष्मणो शीतीभाव। (चरक)। श्वास प्रश्वास का कार्य बंद होजाने से, आँखों की स्थिति से—स्य चेचक्षुषी प्रकृतिहीने, विकृतियुक्ते स्यातां तदा परासु रिति विद्यात्। (चरक)। सर्वसाधारण शरीर के रूप से तथा हृदय और धमनियों के स्पन्दाभाव से—सतत स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दन, तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने (मन्ये गलपार्श्वगते धमन्यौ। (चक्रपाणि)। (Carotid arteries) न स्पन्देयातां परासुरिति विद्यात्। (चरक, इन्द्रिय ३)। मालूम होजाता है। इन सब लक्षणों में चैतन्याभाव की दृष्टि से सबसे अधिक विश्वासयोग्य लक्षण हृदय और धमनियों का अस्पन्दन है। हृदय का स्पन्दन या अस्पन्दन स्पर्शन से, श्रवण से और आधुनिक काल में क्ष किरणों से (Fluorescent screen) मालूम होता है। ये पद्धतियाँ उत्तरोत्तर अधिक विश्वासयोग्य होती हैं। कई बार यह देखा गया है कि श्रवण द्वारा हृत्स्पन्दन सुनने में न आने के कारण मृत्यु का प्रमाणपत्र प्राप्त हुए नवजात बालक तथा रोगी कुछ घंटों के बाद फिर से जिंदे होगये हैं। श्रवणयन्त्र से न सुनने पर भी भीतर हृदय का स्पन्दन अखंडित रहने के कारण इस प्रकार की विचित्र घटनाएँ

कभी कभी हुआ करती हैं। कभी कभी पानी में डूबने से या अन्य आकस्मिक घटना से जब मनुष्य की मृत्यु होजाती है तब हृदय के भीतर उपवृक्की (Adrenalin) की सुई देने से मनुष्य कई वार वच जाता है। यदि हृदय के स्पन्दन का खुद विचार किया जाय तो आधुनिक खोज से यह मालूम हुआ है कि हृदय में स्पन्दन की उत्पत्ति आपसे आप होती है, केवल इसका नियन्त्रण नाड़ियों के द्वारा होता है। तत् (हृदयं) संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः। **(उमामहेश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्)—**

The property of rhythmical contraction resides in muscular tissue itself, though during life it is normally controlled and regulated by its nerves. This is expressed by saying that cardiac rhythm is myogenic not neurogenic. *Halliburton's Physiology*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेद में हृदय चैतन्य स्थान माना गया है वह बिलकुल ठीक है। चैतन्य स्थान के संबंध का कुछ अधिक विवरण आगे ३३ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है उसको भी देखो। पुण्डरीकेण—इस श्लोकार्ध में हृदय का स्वरूप संक्षेप में वर्णन किया गया है। तन्त्रान्तरों में हृदय का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णन किया है—कफरक्तप्रसादात्स्याद्धृदयं स्थानमोजसः। मांसपेशीचयोरक्तपद्माकारमधोमुखम्॥ **(अरुणदत्त उद्धृत श्लोक)।** प्रसन्नाभ्यां कफासृग्भ्यां हृदयं पंकजाऽऽकृति। सुषिरं स्यादधोवक्त्रं यकृत्क्लोडान्तरस्थितम्॥ **(टोडरानन्द)।** कमलमुकुलाकारमधोमुखम्। **(डल्हण)।** इस वर्णन के अनुसार हृदय अधोमुख रक्तकमल-कलिका के समान नीचे की ओर नोकीला और ऊपर मोटा मांसपेशी से निर्मित एक पोला अंग होता है। यह वर्णन बहुत सुन्दर है। समीपवर्ती अंगों से इसका संबंध ऊपर वर्णन किया है। अब भीतरी कोष्ठों का कुछ वर्णन दिया जायगा। हृदय के भीतर एक खड़ी दीवाल होती है जिससे उसके दक्षिण और वाम करके दो विभाग होते हैं। इन विभागों का अपास में कोई संबंध नहीं होता। फिर प्रत्येक विभाग आड़ी दीवाल से दो भागों में विभक्त होता है। इस दीवाल में कीवाड़ होते हैं जिनके द्वारा ऊपर का विभाग नीचे के विभाग से संबंध रखता है। परंतु ये कीवाड़ (कपाट valves) इस प्रकार लगे रहते हैं कि ऊपर के विभाग से आया हुआ रक्त नीचे के विभाग में जा सकता है, परंतु नीचे के विभाग का रक्त ऊपर के विभाग में नहीं जा सकता। ऊपर के विभाग को अलिन्द (Auricle) और नीचे के विभाग को निलय (Ventricle) कहते हैं। इस प्रकार दक्षिण अलिन्द और निलय तथा वाम अलिन्द और निलय करके हृदय के चार कोष्ठ होते हैं। दक्षिण के विभागों के बीच में जो किवाड़ होता है वह त्रिपत्रक (Tricuspid) और वाम विभागों के बीच में जो होता है वह द्विपत्रक (Bicuspid or mitral) कपाट कहलाता है। दक्षिणालिन्द में अधरा और ऊर्ध्वा महासिराओं के द्वारा समस्त शरीर का अशुद्ध रक्त आता है। वहाँ से रक्त त्रिपत्रक कपाट के द्वारा दक्षिण निलय में जाता है। वहाँ से फुफ्फुसीया धमनी द्वारा, जिसकी दो फुफ्फुसों के लिए दो शाखाएँ होती हैं, रक्त फुफ्फुस में जाता है। फुफ्फुसीय धमनीद्वार के ऊपर तीन अर्धचंद्राकार कपाट होते हैं जिससे रक्त लौट नहीं सकता। फुफ्फुस में शुद्ध हुआ रक्त प्रत्येक फुफ्फुस से दो सिराओं द्वारा वाम अलिन्द में जाकर वहाँ से द्विपत्रक कपाट में से होकर वाम निलय में जाता है। फिर वहाँ से बृहत् धमनी में जाकर समस्त शरीर में फैलता है और शरीर का पोषण करता है बृहत् धमनीद्वार के ऊपर भी तीन अर्धचन्द्राकार कपाट (Semilunar valves) होते हैं जिससे रक्त लौटकर वामनिलय में नहीं आ सकता। रक्त का शरीर में परिभ्रमण हृदय के संकोच-विकास से होता है। प्रथम दोनों अलिन्द संकुचित होते हैं जिससे तद्गत रक्त दोनों निलयों में चला जाता है। पश्चात् दोनों निलय संकुचित होते हैं जिससे तद्गत रक्त फुफ्फुस में और शरीर में चला जाता है। संकोच के पश्चात् प्रत्येक में विकास या विस्फार होता है जिस समय ये भाग रक्त से भर जाते हैं। वाम निलय की दीवाल सबसे अधिक मोटी होती है क्योंकि उसको संकोच से रक्त समस्त शरीर में फेंकने का कार्य करना पड़ता है। हृदय की संकोच विकास की गति आयु के अनुसार बदलती रहती है। इसके सिवाय गति बदलने के और भी कारण होते हैं जिनका विचार आगे की टिप्पणी में किया गया है। जितना शरीर छोटा होता है उतनी गति अधिक होती है। नीचे वयानुसार गति बतलाई गई है।

जन्म के पूर्व	प्रति मिनट	१५०
जन्म के पश्चात् तुरन्त	„	१४०—१२०
प्रथम वर्ष में	„	१३०—११५
द्वितीय वर्ष में	„	११५—१००
सातवें वर्ष में	„	९०—८५
चौदहवें वर्ष में	„	८५—८०
जवानी में	„	८०—७०
वृद्धावस्था में	„	७०—६०

नाडीज्ञानतरंगिणी में नाडी की गति प्रायः इसी क्रम से वर्णित है। सुखस्मरणार्थ नीचे श्लोक दिये जाते हैं। एक मिनट में ढाई पल होते हैं; इसलिए श्लोक में वर्णित संख्या को ढाईगुना करने से प्रति मिनट संख्या मिल जाती है। शिशोर्हि जन्मकालतः पलावधि प्रकम्पते। धरारसेषुवारकं (५६) निरन्तरं शिशुप्रिये॥ पलादारभ्यवर्षान्तं पलैकेन च नाडिका। नेत्रेषुकृत्व (५२) श्चलति मत्तकुञ्जरगामिनी॥ अब्दादब्दद्वयं नाडी पलैकेन प्रवेपते। वेदाब्धिवारं (४४) लोलाक्षिचलत्कुण्टलशालिनी॥ वर्षद्वयात्त्रिवर्षान्तं पलैकेन च तन्तुकी। खवेदकृत्व (४०) श्चलति पीनोत्तुंगपयोधरे॥ त्रिवर्षात्सप्तवर्षान्तं षट्त्रिंशद्वारकं प्रिये। कम्पते च पलैकेन जीविताज्ञा प्रियंवदे॥ सप्तमान्मनुवर्षान्तं वेदाग्निवारकंधरा। यतश्च त्रिंशद्वर्षान्तं द्वात्रिंशद्वारमेवहि॥ त्रिंशदब्दात्समारभ्य खशराब्दान्तमेव च। खाग्निवारान् (३०) विशालाक्षि जीविताज्ञा प्रकम्पते॥ शतार्धवर्षादारभ्याशीतिवर्षान्तमेवच। चतुर्विंशति वारान्वै कम्पते धमनी प्रिये॥ दाहिने और बायें निलय की समाई १½-१½ छटांक रक्त के लगभग होती है, इसलिए इतना रक्त प्रत्येक संकोच के समय बाहर फेंका जाता है। इस हिसाब से प्रति मिनट निलय ४-६ सेर रक्त बाहर फेंकते हैं। जाग्रत इत्यादि—इस श्लोकार्ध में हृदय में जाग्रतावस्था

में और निद्रितावस्था में क्या फर्क होता है उसका संक्षिप्त स्वरूप वर्णन किया है। हृदय प्राण, ओज, रस इनका स्थान है जो इनको अपनी गति से शरीर के संपूर्ण धातुओं को देकर उनका धारण और पोषण करता है। ये सब वस्तुएँ रक्त के द्वारा संपूर्ण धातुओं को मिलती हैं। शरीर के अंग प्रत्यंग तथा धातुएँ जब काम करती हैं तब उनको अधिक रक्त की आवश्यकता होती है। दिन प्राय काम करने के लिए परमेश्वर रूप भगवान् सूर्यनारायण ने बनाया है और रात्रि आराम पर्याय से निद्रा लेने के लिए बनाई है। प्राय कहने का कारण यह है कि कुछ लोग अपनी प्रकृति से और कुछ लाचार होकर रात्रिंचर बनते हैं और दिन में आराम निद्रा सेवन करते हैं—अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुष दैविके। रात्रि स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामह ॥ (मनु १)। दिन में मनुष्य कितना ही आलसी क्यों न हो कुछ न कुछ किये बगैर नहीं रह सकता—नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवश कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ नहि देह भृता शक्य त्यक्तु कर्माण्यशेषत ॥ (भगवद्गीता)। चलना, फिरना, बैठना, खड़े होना, खाना, पीना, विचार करना इत्यादि कार्य ऐसे हैं कि जिनके बगैर सुस्त से सुस्त मनुष्य का भी गुजर नहीं हो सकता। उद्योगी, परिश्रमी, शौकीन लोग अपनी इच्छा से और गरीब लाचार होकर बहुत अधिक काम करते हैं। प्रत्येक काम के लिए उसकी न्यूनाधिकता के अनुसार न्यूनाधिक रक्त की आवश्यकता होती है। यह सब रक्त हृदय के संकोच विकास से मिलता है। दिन में कार्य करते समय हृदय को एक स्वाभाविक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। मनुष्य दिन में प्राय बैठता या खड़ा होता है। इससे शरीर का आधा हिस्सा हृदय के नीचे और आधा हिस्सा उसके ऊपर होता है। अर्थात् रक्त-संचालन में उसको गुरुत्वाकर्षण (Gravity) के विरुद्ध काम करना पड़ता है। रात के समय कायिक वाचिक मानसिक सब ऐच्छिक कर्म बंद होते हैं जिसके कारण हृदय को शरीर के विविध अंगों को कम से कम रक्त पहुंचाने का काम करना पड़ता है। इसके सिवाय शरीर का ऊपर का तथा नीचे का हिस्सा हृदय समतल (Leval) के बराबर होने के कारण उसको गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध भी काम नहीं करना पड़ता है। संक्षेप में, हृदय को रात में अधिक से अधिक आराम और दिन में अधिक कष्ट होता है। हृदय के कार्य के ऊपर निम्न बातों का असर होता है—वय लिङ्ग, प्रकृति (Temperament), वातावरण का निपीड (Pressure) तथा ताप (Temperature), आसन (Posture), अन्नसेवन, व्यायाम और काल, जैसे पूर्वाह्न, अपराह्न, मध्यरात्रि इत्यादि। सुश्रुत के वचन का तात्पर्य यह है कि अहोरात्र में जो दिन और रात होते हैं उनके रात में हृदय संकुचित और दिन में विकसित होता है। इस दृष्टि से यदि उपर्युक्त बातों का विचार किया जाय तो वय लिङ्ग और वायुभार ये तीन दिनरात में नहीं बदलते, बाकी सब बदलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हृदय को रात की अपेक्षा दिन में कई गुना अधिक काम करना पड़ता है, याने कई गुना अधिक रक्त बाहर फेंकना पड़ता है। आधुनिक खोज से यह मालूम हुआ है कि दिन में आराम के समय हृदय एक मिनिट में ४–६ प्रस्थ (पौने पांच से साढ़े छ सेर) रक्त बाहर फेंकता है और अयत बड़े परिश्रम के समय ३० प्रस्थ (३२ सेर) से अधिक रक्त बाहर फेंक सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि बड़े परिश्रम के समय इसका काम ६–८ गुना अधिक होता है, और यदि रात के आराम का विचार किया जाय तो दसगुना तक बढ़ सकता है। यह कार्य हृदय की गति बढ़ने से या प्रत्येक समय बाहर फेंकने की राशि के बढ़ने से हो सकता है। रक्त की राशि तब बढ़ सकती है जब हृदय की समाई (धारणा शक्ति) बढ़ जायगी। यदि हृदय की गति काम के अनुसार बढ़ेगी तो उसकी समाई बढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। यदि हृदय की समाई काम के अनुसार बढ़ेगी तो उसकी गति बढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। परंतु व्यवहार में यह देखा जाता है कि काम के अनुसार हृदय की गति नहीं बढ़ती। जैसे, जब पाँच या छ गुना काम होता है उस समय हृदय की गति ३५० या ४५० नहीं होती, उससे बहुत कम होती है। साधारणतया हृदय की गति ड्योढ़ी या दुगुनी और क्वचित् तिगुनी होती है, इससे अधिक नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि हृदय अधिक काम की पूर्ति अंशत गति बढ़ाकर और अंशत समाई बढ़ाकर करता है। जब समाई बढ़ती है तब आकार बढ़ना भी क्रमप्राप्त है और समाई कम होने पर आकार कम होना भी वैसा ही क्रमप्राप्त है। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि रात में काम अत्यल्प होने के कारण हृदय की गति तथा समाई बहुत कम होती है जिससे उसका आकार भी छोटा याने संकुचित रहता है। दिन में काम अधिक होने के कारण उसकी गति तथा समाई बढ़ जाती है, जिससे उसका आकार भी बढ़ जाता है, याने विकसित होता है। हृदय के संकोच विकास का मतलब उसके आकार से है, गति से नहीं है यह ध्यान में रखना चाहिए। काम के समय हृदय का आकार बढ़ता (विकसित होता) है और काम समाप्त होने पर वह घट जाता है। हृदय के स्वाभाविक संकोच (Systole) और विकास (Diastole) से इस संकोच विकास (Contraction and dilation) का कोई संबंध नहीं है—

It is probable that dilation of the heart occurs normally during muscular exercise, the effect of this being to increase the output of blood at each beat It is however, quite certain from X-ray evidence that immediately after exercise the heart normally contracts down so as to become slightly smaller than its resting size *Taylor's Practice of Medicine*

हृदय के ऊपर एक आवरण है जो परिहृदय (Pericardium) कहलाता है। इस आवरण की दो तहें होती हैं। एक तह हृदय के ऊपर लगी रहती है। इस तह में लचकीले तन्तु रहते हैं। दूसरी तह प्रथम तह से स्वतन्त्र होती है। इस तह में स्नायुसम तन्तु होते हैं जो तनाव पड़ने पर भी नहीं बढ़ते हैं। इस आवरण के जो अनेक कार्य होते हैं उनमें एक कार्य यह होता है कि परिश्रम के समय हृदय का अति विकसित (Over distended) होने से रोकना—

It has been shown by Biljoma, however, that the pericardium plays an important part in limiting the size of the heart and in preventing it from being overdistended in exercise. *Halliburton's Physiology.*

आयुर्वेद के अनुसार हृदय सदैव कमलकलिका के समान रहता है, कदापि भी कमलपुष्पवत् खिलता नहीं है। फर्क इतना ही होता है कि दिन में उसका आकार कुछ बढ़ता है और रात में कुछ कम होता है और इसी अर्थ से विकास और संकोच ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

चौवीसवें सूत्र से तीसवें सूत्र के पूर्वार्ध तक गर्भ शरीर के विविध अंग कैसे उत्पन्न होते हैं इसका संक्षिप्त विवरण किया है। यह विवरण कुछ आनुमानिक और कुछ तात्त्विक है। यह ध्यान में रखकर उसकी ओर देखना चाहिये। आनुमानिक इसलिए है कि, रुक्मसार, मृदुपाक, खरपाक, क्षीरस्य सन्तानिका इत्यादि दैनिक भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न होने की घटनाओं को देखकर उस प्रकार की घटनाएँ शरीर में भी होती होंगी, इस प्रकार का अनुमान इस विवरण में है। तात्त्विक इसलिए है कि, पंचमहाभूतों से विविध पदार्थ उत्पन्न होने की जो एक विशेष उपपत्ति है उस उपपत्ति का भी इसमें आधार है। यह उपपत्ति पाँचवें अध्याय में निम्न प्रकार से वर्णित है—तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एवं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति। द्रव्योत्पत्ति के संबंध में यही उपपत्ति चरक में वर्णित है—रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः॥ (सू. १)। गर्भवृद्धि की दृष्टि से पाँचभौतिक उपपत्ति का विवरण इस प्रकार का होता है। गर्भ का प्रारम्भ संयुक्त शुक्रशोणित से होता है और माता के रस से प्रारम्भ में जो केवल एक अत्यंत सूक्ष्म विन्दु (Cell) था वही अनेक प्रकार के छोटे बड़े अंगप्रत्यंगयुक्त बालक बन जाता है—बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत्)। इस गर्भावक्रान्ति के मुख्य तीन अंग होते हैं—वृद्धि, विविधता और विभक्ति। वृद्धि में आकार की और संख्या की बढ़ोतरी का समावेश होता है। इसी वृद्धि के कारण मांस संघात उत्पन्न होता है। यह कार्य वायु और आकाश से होता है। विविधता में विविध धातुओं और उपधातुओं की तथा त्वचा कला इत्यादि उपाङ्गों की उत्पत्ति का समावेश होता है। संक्षेप में रूपान्तर प्राप्ति इससे अभिप्रेत होती है। यह कार्य पित्त या तेज के प्रभाव से होता है। एक वस्तु से विविध वस्तुओं की उत्पत्ति पाकभेद होती है, जैसे आँच-भेद से भूमिगत तेल से वेसिलीन, पेट्रोल, केरोसीन इत्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं—सिराणां च मृदुःपाकः स्नायुनां च ततः खरः। विभक्ति में आकार-भेद, एक दूसरे से पृथक्त्व, आशय, धमनी सिरा स्रोतस तथा अन्य नालीदार अवयवों की उत्पत्ति का समावेश होता है। यह कार्य वायु से होता है। गर्भावक्रान्ति के तीनों अंग प्रारंभ से अन्त तक साथ साथ होते रहते हैं जिसके परिणामस्वरूप नौ महीने के पश्चात् सर्वांग परिपूर्ण बालक बन जाता है। अब शरीर के विविध अंगों, उपांगों और धातुओं की विशेष आकार, विशेष स्थानों में अवस्थिति तथा विशेष कार्य कैसे पैदा होते हैं? इसका कारण आयुर्वेद स्वभाव बताता है—अंगप्रत्यंगनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते। सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ। तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः॥ (सुश्रुत)। संक्षेप में माता का रस और शुक्रशोणित इन चीजों से, तेजवायु और आकाश इनकी सहायता से, स्वभाव के अनुसार गर्भ की वृद्धि होती है यह आयुर्वैदिक गर्भविज्ञान का सूत्र है।

आधुनिक काल में मनुष्येतर प्राणियों के भिन्न-भिन्न कालीन गर्भों का तथा मनुष्यों के विभिन्न कालीन उपलब्ध हुए गर्भों का सूक्ष्मदर्शक की सहायता से परीक्षण करके इस विषय का ज्ञान प्राप्त किया गया है। आधुनिक कालिक गर्भविज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणभूत, अत्यंत विस्तृत और अत्यन्त सूक्ष्म है। इसमें भी वृद्धि, विविधता और विभक्ति ये जो तीन अंग ऊपर वर्णन किये हैं उनका विवरण आता है, परन्तु उनके कारणों का विचार नहीं आता है। इस विषय का कुछ विवरण तीसरे अध्याय के १८वें सूत्र से गर्भ के मासानुमासिक में किया गया है। इससे अधिक विवरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आधुनिक काल में गर्भविज्ञान एक स्वतन्त्र और विस्तृत शास्त्र बन गया है।

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति। तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा भवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले; तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे, क्षीणश्लेष्मणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति ॥३२॥

(निद्रा के प्रकार—) वैष्णवी (होती हुई भी) निद्रा को (आचार्य) तामसी कहते हैं। यह निद्रा स्वभाव से ही संपूर्ण प्राणियों को (रात में) अपने वश में लाती है। जब (हृदयस्थित) संज्ञावह स्रोतों में तमोभूयिष्ठ कफ पहुँच जाता है तब बोध (संज्ञा) का नाश करने वाली तामसी नामक निद्रा होती है, वह (शरीर का) लय होने के समय होती है। तमःप्रधान (लोगों) को दिन और रात (दोनों समय निद्रा) होती है। रजःप्रधान (लोगों) को नियम विरहित (निद्रा होती है), सत्त्वप्रधान (लोगों) को आधी रात के समय (होती है) और क्षीणकफ वातभूयिष्ठ शारीरिक तथा मानसिक रोगों से पीड़ितों को (ठीक) नहीं होती है, वह वैकारिकी निद्रा है ॥३२॥

वक्तव्य—तु—विरोध दर्शनार्थ इसका प्रयोग किया है। निद्रा विष्णु की माया होने के कारण वैष्णवी कहलाती है। विष्णु जैसे सृष्टि का धारक पोषक होता है वैसे निद्रा भी शरीर की धारक पोषक होती है—आहारशयनब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः। शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः॥ निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्। वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च॥ (अष्टांगहृदय)। निद्रा विष्णु की माया और शरीर की धारण करने वाली होने पर भी पाप्मा

कहलाती है। पाप्मा—पापी। निद्रा तम से उत्पन्न हुई है और तम निद्रा, प्रमाद, पाप इत्यादि का मूल है, इसलिए निद्रा पाप्मा कहलाती है—"तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ (भगवद्गीता १४)। लोकादिसर्गप्रभवा तमोमूला तमोमयी। यहाँ पर पाप्मा शब्द निद्रा का उत्पत्तिशोधक और गुणबोधक अतएव उसका विशेषण है। इसका अभिप्राय यह है कि निद्रा कितनी ही शरीरधारक क्यों न हो वह पापमूलक होती है। इसका कारण डल्हणाचार्य 'कृत्स्नशुभव्यापारनिरोधात्' बतलाते हैं। चरक और अष्टांगसंग्रह में निद्रा के कारण के अनुसार सात प्रकार वर्णन किये हैं। उसमें तमोभव निद्रा पाप्मा कहलाती है—तमोभवामाहुरघस्य मूलम्। (चरक)। स्वभावत—इसमें 'रात्री' शब्द अध्याहृत समझना चाहिये। रात में तमप्रधानता होने के कारण स्वभाव से ही निद्रा आती है—बाहुल्यात्तमसो रात्रौ निद्रा प्रायेण जायते। (अष्टांगसंग्रह)। रात्रिः स्वभावभूतानाम्। (मनु)। रात में जो निद्रा आती है वही चरक और अष्टांगसंग्रह में काल स्वभाव प्रभवा बतलायी है और उसी से प्राणियों का धारण होता है—कालस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः। (चरक)। जैसे तम से तमोगुण समझा जाता है, वैसे ही अंधेरा भी समझा जाता है। रात में स्वाभाविक अँधेरा होने से नींद भी आती है। अँधेरा नींद की एक स्वाभाविक अनुकूल स्थिति होती है। जब नींद नहीं आती तब रोशनी कम करने से नींद आने में सहायता होती है। संज्ञावहानि स्रोतांसि—चरक और सुश्रुत में स्रोतों के जो विविधप्रकार वर्णन किये हैं उनमें संज्ञावह स्रोतों का उल्लेख नहीं है। परन्तु संज्ञावह स्रोत नाडी या धमनी ये शब्द ग्रन्थों में कई बार आते हैं—यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च। पृथक्पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः॥ (चरक, सूत्र २९)। संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः। तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत्॥ (सुश्रुत, उत्तर ४६)। संज्ञावहेषु स्रोतःसु दोषव्याप्तेषु मानवः। रजस्तम परीतेषु मूढो भ्रान्तेन चेतसा॥ (सुश्रुत-उ. ६१)। डल्हणाचार्य सुश्रुत के इन वचनों की टीका में संज्ञावह स्रोतसों का अर्थ स्पष्ट नहीं करते हैं। चक्रपाणिदत्त चरक (इन्द्रियस्थान अध्याय ९) की टीका में इसका अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं—संज्ञावहानीति संज्ञाहेतुमनोवहानि, मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ्नोक्तानि तथापि 'मनसः केवलमेवेदं शरीरमयनभूतं' इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते॥ इसका मतलब हुआ हृदयस्थित संज्ञावह धमनियाँ—Blood vessels of the heart carrying sensation आधुनिक परिभाषा के अनुसार संज्ञावह स्रोतसों को Blood-vessels of the brain कह सकते हैं। तामसी—यद्यपि तमोमूलक होने के कारण निद्रा तामसी होती है, तथापि यहाँ पर निद्रा की एक विशेष अवस्था (प्रकार) का यह नाम है। अनवबोधिनी—जिसमें एक बार संज्ञानाश या बेहोशी होने पर फिरसे संज्ञाप्राप्ति नहीं होती है। प्रलयकाले—सर्ग के प्रारंभ में जब प्रजापति का दिन प्रारम्भ होता है तब प्रथम अध्याय के तीसरे सूत्र में वर्णित हुए उत्पत्तिक्रम के अनुसार अव्यक्त से संपूर्ण व्यक्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है और कल्प के अन्त में जब प्रजापति की रात्रि प्रारंभ होकर वह निद्रा सेवन करने लगते हैं तब उत्पत्तिक्रम के विरुद्धक्रम से संपूर्ण व्यक्त ब्रह्माण्ड अव्यक्त में लीन होजाता है, अर्थात् उसका पूर्णनाश होजाता है। कल्प के अन्त में ब्रह्माण्ड के नाश के लिए प्रलय शब्द प्रयुक्त होता है—यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्। यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥ (मनु. १, ५२)। अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके (भगवद्गीता. ८, १८)। भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे (१९)। पिण्डब्रह्माण्डन्याय के अनुसार शरीर के भी व्यक्तभाव जब अव्यक्त में लीन होते हैं तब उसका भी नाश होता है, इसलिए मनुष्य शरीर की दृष्टि से प्रलय का अर्थ मृत्यु होता है—यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ (भगवद्गीता १४, १४)। अनिमित्तम्—निद्रा का कोई कारण उपस्थित न होने पर भी रजोभूयि[ष्ठ] लोगों को निद्रा आती है। निद्रा का कारण दूर होने [के] लिए एक विशिष्टकाल की आवश्यकता होती है। जिसे निर्निमित्त निद्रा आती है उसकी निद्रा विशिष्टकाल त[क] रहने की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। अर्थात् अनैमि[त्]तिक निद्रा किसी समय में दिन में या रात में आती और अल्पकाल तक रहती है। संक्षेप में अनिमित्त से निय[म] विरहित समझना चाहिए। अर्धरात्र—मध्यरात्रि के [दो] प्रहर। रात के नौ बजे से सुबह के तीन बजे तक। निद्रा [के] लिए यही उत्तम काल होता है और धर्मशास्त्र में भी यह काल बताया है—प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत्। प्रहरद्वयं शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ (दक्षस्मृति)। नैव—इसमें मुख्यतया निद्रा का अभाव आता है। साधारणतय[ा] शारीरिक और मानसिक विकारों से पीड़ित होने पर निद्[रा] कम होती है, परंतु जब उनमें कफ की क्षीणता और वा[यु] की अधिकता होती है तब निद्रा और भी कम होजाती है। क्योंकि वायु निद्रा-नाश का प्रधान कारण है—त एव च निद्रा[या] निद्रानाशस्य हेतवः। कार्यंकालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च॥ (चरक, सूत्र २१)। विकारग्रहणेनैव वाते लब्धे पुनर्वातग्रहणं विशेषेण वायोर्निद्रापहारकत्वप्रतिपादनार्थम्। (चक्रपाणिदत्त)। नैव से जैसे अभाव का बोध होता है वैसे अल्पता का और अप्राशस्त्य का भी बोध होता है, क्योंकि प्रत्येक शारीरिक और मानसिक विकार में निद्रा का पूरा अभाव न होकर उसकी अल्पता और अप्रशस्ति जरूर हो जाती है।

इस सूत्र में निद्रा के तीन प्रकार बताये गये हैं—तामसी, स्वाभाविक और वैकारिक। चरक और वाग्भट में निद्रा के सात प्रकार वर्णित हैं—तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसंभवा च। आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा॥ परंतु ये प्रकार आखिर में स्वाभाविक, वैकारिक और तामस इन तीनों में ही समाविष्ट किये गये हैं—रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः। तमोभवामाहुरघस्य मूलं शेषाः पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति॥ (चरक, सू. २१)। (१) तामसी निद्रा—इसका वर्णन 'तत्र यदा' से 'प्रलय काले' तक है। वास्तव में यह निद्रा न होकर मृत्युपूर्वकालीन गंभीर संज्ञानाश की स्थिति है। यदि इसकी संप्राप्ति, लक्षण और काल का विचार किया जाय तो यह

स्थिति चरकोक्त संन्यास के साथ मिलती है—यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च। पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥ मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः। प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥ मदमूर्च्छाय संन्यासास्तेषां विद्याद्विचक्षणः ॥ यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः। संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनसंश्रिताः॥ स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः। प्राणैर्वियुज्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यः फलाः क्रियाः॥ (चरक, सूत्र २४)। चरक और वाग्भट में जो तमोभवा निद्रा है उसके लक्षण वहाँ पर वर्णित नहीं हैं, इसलिए तमोभवा निद्रा के संबंध में उनकी क्या कल्पना थी इसके समझने का कोई साधन नहीं है। परन्तु सुश्रुतोक्त तामसी निद्रा चरकोक्त संन्यास के साथ मिलती है इसमें कोई संदेह नहीं है। पाश्चात्य परिभाषा में कोमा (Coma) की जो व्याख्या मिलती है उसको देखकर तामसी निद्रा को कोमा कह सकते हैं—

Coma is a state of unnatural, heavy, deep and prolonged sleep, often accompanied by slow stertorous or irregular breathing and frequently ending in death. *Index of differential Diagnosis by Herbert French*

इस व्याख्या में अनवबोधन, मृत्यु की संभवनीयता और निद्रा का एक प्रकार ये सुश्रुतोक्त तीनों लक्षण आते हैं यह चिन्त्य है। (२) स्वाभाविक निद्रा—इसका वर्णन 'तमोभूयिष्ठानां' से 'अर्धरात्रे' तक किया गया है। यहाँ पर त्रिगुणात्मक प्रकृति के अनुसार निद्रा के समय में जो जो फर्क होता है वह बताया गया है। सत्त्वभूयिष्ठ मनुष्यों के लिए निद्रा का जो काल बतलाया गया है वही वास्तविक काल है। निद्रा का काल वय, व्यवसाय, अभ्यास और प्रकृति के अनुसार बदलता है। बचपन में एक महीने के बालक के लिए २१ घंटे तक, छः महीने के लिए १८ घंटे तक, एक साल के लिए १९ घंटे तक, चार साल के लिए १२ घंटे तक और बारह साल के लिए १० घंटे तक नींद की आवश्यकता होती है। इसके बाद जवानी में नींद का काल पुरुषों के लिए सात और स्त्रियों के लिए आठ घंटे का होता है। वृद्धावस्था में निद्रा इससे भी कम हो जाती है। शारीरिक और मानसिक अधिक परिश्रम करने वालों के लिए अधिक और कम करने वालों के लिए कम निद्रा की आवश्यकता होती है। अभ्यास (Habit) से मनुष्य निद्रा का काल बहुत कम या बहुत अधिक कर सकता है—आहारो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं तु वर्धते। कफ प्रकृति मनुष्य को अधिक, वात प्रकृति को कम और पित्त प्रकृति को मध्यम निद्रा की आवश्यकता होती है—अल्पपित्तबलजीवितनिद्राः। वातिकाः। आर्यो निद्रालुदीर्घसूत्रः कृतज्ञः। श्लेष्मलः। (अष्टांगहृदय)। वय के अनुसार निद्रा के काल में जो फर्क ऊपर बताया गया है वह प्रकृति भेद के अनुसार होता है ऐसा आयुर्वेद का मत है क्योंकि बचपन में श्लेष्मा, जवानी में पित्त और बुढ़ापे में वात की अधिकता होती है—बाले विवर्धते श्लेष्मा, मध्यमे पित्तमेव च। भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत्॥ (सुश्रुत)। वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्। (अष्टांगहृदय) वैकारिकी निद्रा—यह निद्रा अनिद्रा के बराबर है। इसको अँग्रेजी में इन्सोम्निया (Insomnia) कहते हैं। इसमें अपने वय, व्यवसाय, अभ्यास, प्रकृति इत्यादि के अनुसार उचित काल तक नींद न आने से पूर्ण अनिद्रा तक सब दोषों का समावेश होता है। इसके कारणों का विचार आगे ४१वें श्लोक में किया गया है।

भवन्ति चात्र—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम्।
तमोभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥३३॥
निद्राहेतुस्तमः, सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते ॥३४॥

(निद्रा का स्थान और हेतु—) यहाँ पर श्लोक हैं। हे सुश्रुत ! प्राणियों के (शरीर में) चेतना का स्थान हृदय (पहिले ही) कहा गया है। उसके तम द्वारा अभिभूत होने पर निद्रा प्राणी में प्रवेश करती है ॥ ३३ ॥ निद्रा का कारण तम और (निद्रा से) प्रबोधित होने का कारण सत्त्व कहा जाता है। अथवा स्वभाव ही (निद्रा का) अधिक महत्त्व का कारण कहा जा (सक)ता है ॥ ३४ ॥

वक्तव्य—भवन्तिचात्र— भवति चात्र, भवतश्चात्र और भवन्तिचात्र इस प्रकार के शब्द प्रयोग गद्य के पश्चात् आने वाले एक, दो या अनेक श्लोकों के पूर्व चरक, सुश्रुत और अष्टांगसंग्रह में दिखाई देते हैं। इन प्रयोगों के संबंध में भिन्न भिन्न ग्रंथकारों के भिन्न भिन्न मत हैं। (१) चरकाचार्य स्वयं कहते हैं कि गद्योक्त जो अर्थ फिर से श्लोकों द्वारा दिया जाता है वह पूर्वोक्तार्थ स्पष्टीकरणार्थ और सुखग्रहणार्थ दिया जाता है—गद्योक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समनुगीयते। तद्व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तं तन्न गर्ह्यते॥ (निदान० १)। (२) चक्रपाणिदत्त इसी श्लोक की टीका में लिखते हैं—तद्व्यक्तिव्यवसायार्थमित्यत्र तद्व्यक्तिर्गद्योक्तार्थस्य व्यक्तिः प्रसन्नतेति यावत्, व्यवसायोऽध्यवसायो ग्रहणमित्यर्थः, यस्मात् पूर्वोक्तार्थस्पष्टीकरणार्थं पुनः श्लोकेनाभिधानं, तस्मात् प्रयोजनान्तरयुक्तत्वान्न पुनरुक्तिदोष इति भावः। गद्योक्तापेक्षया श्लोकाभिधानं सुखग्रहणं भवतीति लोकप्रसिद्धमेव। अन्यस्थान में भी चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—भवन्ति चात्रेति, तन्त्रकारस्य समयोऽयं, यत् पूर्वव्याख्यातार्थसंग्रहार्थं यदा श्लोकेन वक्तुमारभते तदा 'भवति चात्र' इति करोति॥ (चरक, सूत्र, ५)। (३) डल्हणाचार्य सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय के 'शारीराणां विकाराणामेष वर्गश्चतुर्विधः' इस श्लोक की टीका में लिखते हैं—इदानीं गद्यविस्तरेण प्रतिपादितमर्थं श्लोकैः प्रकटीकुर्वन्नाह—भवन्ति चात्र श्लोका इत्यादि। यद्यपि सुश्रुते भवन्ति चात्रेति विनाऽपि श्लोका भवन्ति, तथाऽपि अत्र मन्दमतीनां गद्यपद्यभेदकथनाय भवन्ति चात्र श्लोका इति कृतं, अन्ये तु वेदादिधर्मसंवादार्थमिति वदन्ति॥ (४) इन्दु अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान के चौथे अध्याय के 'हेमन्ते शिशिरे चाग्र्यं विसर्गादानयोर्बलम्'। इस श्लोक की टीका में लिखते हैं—भवति चात्रेति पद्यारम्भे तन्त्र रीतिः॥ इन वचनों का अभिप्राय यही होता है कि प्रायः गद्य के पश्चात् पद्य प्रारंभ करते समय ग्रंथकार इसका प्रयोग किया करते हैं। श्लोकों में प्रायः गद्योक्त अर्थ संक्षेप में दिया जाता है जिससे उसका स्मरण सुख से होजाय। कुछ लोगों का मत है कि इससे अन्य ग्रंथकारों के आधार वचन दिये जाते हैं। यहाँ पर जो दो श्लोक दिये हैं ये गद्य के पश्चात् आये हैं

और उनमें गद्योक्त अर्थ ही संक्षेप में दिया गया है। अतः—ये श्लोक अन्य किसी ग्रंथ से उद्धृत किये गये हैं या अपने पुष्ट्यर्थ अन्य किसी ग्रन्थ का मत प्रदर्शित करने के लिए बनवाये गये हैं ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अगर थोडी देर के लिए ये श्लोक अन्य प्राचीन ग्रंथों से उद्धृत किये गये हैं ऐसा मान लिया जाय तो भी इनका अभिप्राय पूर्वोक्त गद्यार्थ से विसंवादी नहीं है। 'हृदयं चेतनास्थान' इस श्लोक में हृदय का अर्थ करने की दृष्टि से भवति चात्र इसका इतना ऊहापोह किया गया है। हृदय चेतनास्थानम्—यह वही हृदय है जो रक्त और कफ के प्रसाद से उत्पन्न हुआ है, प्राणवह धमनियाँ जिससे संबंधित हैं, जिसके दोनों ओर फुफ्फुस और नीचे प्लीहा और यकृत् है और विशेष करके चेतनास्थान माना गया है। संक्षेप में यह रक्तपरिचालक, सुषिर, मांसपेशीमय, अधोमुख कमलकलिकाकार यन्त्र है जिसको अँग्रेजी में हार्ट (Heart) कहते हैं। परन्तु महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन इस श्लोकगत हृदय को मस्तिष्क (Brain) और जिस गद्यगत अर्थ के स्पष्टीकरणार्थ तथा सुखस्मरणार्थ यह श्लोक दिया गया है उस गद्य (सूत्र ३०) गत हृदय को हार्ट समझते हैं। प्रत्यक्ष शारीर के तीसरे विभाग में तीसरे पृष्ठ पर 'तत्र च साङ्गोपाङ्गमस्तिष्क सहस्रपद्मदलसादृश्यात् सहस्रारमिति सर्वज्ञानप्रयत्नाकरं मन्यन्ते योगिनः।' इस प्रकार मस्तिष्क का वर्णन करके पाद टिप्पणी में लिखते हैं—यत्तु वैद्यके—'बुद्धेर्निवास हृदयं प्रदूष्य' इत्यादि विरुद्धमाय वचनम्—तन्मस्तिष्कमूलस्थिताऽऽज्ञाचक्राश्रयभूतब्रह्महृदयाभिप्रायेण। योगिनो हि षट् चक्रनिरूपणे मस्तिष्कमूलस्थमाज्ञाचक्रमुपक्रम्य 'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्' इति स्पष्टमाहुः। न च मनोविरहिता बुद्धिरस्ति। श्रुतिश्च—"य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः" इति (तैत्तिरीय उपनिषत्, षष्ठ अनु०)। यच्च सुश्रुतोद्धृतं 'हृदयं चेतनास्थानमित्यादि' प्राचीनवचनं, तदपि एतदभिप्रायिकमेव, 'जाग्रतस्तद्विकसति' इत्यादि निर्देशादिति दिक्। न च मांसमयमेव हृद्यन्त्र तदितिवाच्यं, तद्धि न कथमपि तादृशलक्षणाभिधेयं भवितुमर्हति, असम्भवात्'। और प्रत्यक्ष शारीर की प्रस्तावना में लिखते हैं—यत्तु 'हृदयस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च' इति सौश्रुत पाठः, तत्र लिपिकरप्रमाद एव दरीदृश्यते। 'हृदयस्याधो वामतः प्लीहा, दक्षिणतो यकृत्, उभयतः क्लोमफुफ्फुसौ च' इति तु साधीयान् पाठः। अन्यथा न केनापि कथमपि शक्यं समाधातुम्॥ परंतु इस प्रकार हृदय का अर्थ गद्य में हार्ट (दिल) और उसी गद्य के अनुवाद के लिए बनाये गये श्लोक में ब्रेन (मस्तिष्क) समझना न युक्तियुक्त है, न पथ्य है, न उचित है और न आवश्यक है, परंतु सर्वथैव दोषावह है। हृदय का अर्थ या तो मस्तिष्क होगा या दिल होगा, दो अर्थ कदापि भी नहीं हो सकते हैं। परंतु निम्न कारणों से आयुर्वेद में निरपवाद हृदय से हार्ट ही समझना चाहिये। (१) आयुर्वेद में हृदय सर्वदा एक वचन में आता है—तस्य पुनः सङ्ख्यान—त्वचः सप्त कला सप्त धातवो सप्त दोषा यकृत्प्लीहानौ फुफ्फुस उण्डुको हृदयमाशया। (सुश्रुत)। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर में हृदय केवल एक है। (२) शरीर के जो चार शाखाएँ, सिर और मध्य करके छः अंग होते हैं उनमें से मध्य में (कोष्ठ में) हृदय होता है—पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि, तद्यथा—नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च इत्यादि। (चरक शा० ७)। स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते। (सुश्रुत, चि० २)। पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि, तद्यथा—नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च इत्यादि। (भेलसंहिता, शा० अ० ७)। तेषु साशयु प्रतिबद्धानि कोष्ठाङ्गानि हृदययकृत्प्लीहफुफ्फुसोण्डुकवृक्कान्त्रादीनि। (अष्टांगसंग्रह, शा० ५)। नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातु विष्णुपदामृतम्॥ (शार्ङ्गधर)। नाभिः प्लीहा यकृत् क्लोम हृदवृक्कौ गुदबस्तयः। क्षुद्रान्त्रमथ च स्थूलमामपक्वाशयौ वपा॥ (कोष्ठांगानि। काश्यप संहिता)। (३) रक्तकमलकलिका के समान अधोमुख और अन्तःसुषिर मांसपेशीमय हृदय का स्वरूप वर्णन किया गया है। यह स्वरूप ब्रेन की अपेक्षा हार्ट के स्वरूप के साथ पूर्णतया मिल जाता है। (४) कोष्ठस्थ अन्य उपाङ्गों के साथ उसका जो संबंध वर्णन किया है और जिसके पाठ में गणनाथ सेन जी ने उपर्युक्त परिवर्तन सूचित किया है उस संबंध से भी हृदय से हार्ट का ही बोध होता है, मस्तिष्क का नहीं। (५) मर्मों में हृदय के अतिरिक्त सिर तथा सिरगत अन्य मर्मों का उल्लेख मिलता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि हृदय सिर में नहीं है—दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः। शङ्खौ मर्मत्रयं। (हृदयबस्तिशिरांसि। चक्रपाणिदत्त)। कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्॥ (चरक, सूत्र, २९)। तत्र शाखाश्रितेभ्यो मर्मभ्यः स्कन्धाश्रितानि गरीयांसि, शाखानां तदाश्रितत्वात्; स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृद्बस्तिशिरांसि। (चरक, सिद्धि ९)। मन्याका-न्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठशिरोगुदम्। हृदयं बस्ति नाभी च घ्नन्ति सद्योहतानि तु। (सुश्रुत शा० ६)। सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेषु। मर्माणि बस्तिं हृदयं शिरश्च प्रधानभूतान्यृषयो वदन्ति॥ चेतनास्थानम्—इस शब्द प्रयोग के कारण हृदय का अर्थ मस्तिष्क किया गया है। चेतनास्थान का साधारण अर्थ पीछे ३० वें सूत्र के 'विशेषेणचेतनास्थान' इस पद की टिप्पणी में किया गया है। इसके विशेष अर्थ का विवरण यहाँ पर किया जाता है। पंचमहाभूतात्मक शरीर अचेतन होता है। पुरुष या आत्मा के कारण उसमें चेतना उत्पन्न होती है। आत्मा चेतना का समवायिकारण होता है, इसलिए चेतना शब्द से आत्मा का अर्थ होता है। उसका जो स्थान वह चेतना स्थान—चेतनाशब्देनात्मा गृह्यते चेतनासमवायिकारणत्वात्, तस्य स्थानं चेतनास्थानम्। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आत्मा का निवास स्थान हृदय है। यह केवल कल्पना नहीं है, उपनिषदों में आत्मा का स्थान हृदय ही बताया गया है और हृदय में निवास करने के कारण हृदय का एक अर्थ आत्मा भी होता है—अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। (कठोपनिषद् १, २)। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। (२, ६)। हृदि ह्येष आत्मा। (प्रश्नोपनिषद् ३, ६)। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। (मुण्डकोपनिषद् २)। स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः॥ (तैत्तिरीयोपनिषद् १, ६)। एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्त-

रिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः । (छांदोग्योपनिषद् ४, १४)। स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्धृदयम्। (छांदोग्योपनिषद् ८, ३)। ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता में भी आत्मा का स्थान हृदय ही दिया है— अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि । (ब्रह्मसूत्र २-३-२४)। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (भगवद्गीता १८-६७)। स्मृति में भी हृदय आत्मा का स्थान दिया है— अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम्। ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥ (याज्ञवल्क्य ३-१११)। जिस हृदय में आत्मा रहता है उसका स्वरूप भगवान् श्रीशंकराचार्य 'हृदि ह्येष आत्मा' इस प्रश्नोपनिषद् के वचन की टीका में लिखते हैं—हृदि ह्येष पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयावकाश एष आत्माऽऽत्मना संयुक्तो लिङ्गमात्मा । (छांदोग्योपनिषद् के ८, ६-७) के भाष्य में श्री शंकराचार्य लिखते हैं—हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनस्थानस्य संबन्धिनो नाड्यो हृदयमांसपिण्डात् सर्वतो विनिसृताः । (बृहदारण्यकोपनिषद् २-१-१९) के भाष्य में आचार्य लिखते हैं—हृदयं नाम मांसपिण्डस्तस्मान्मांसपिण्डात् पुण्डरीकाकारात् । इन वचनों से यह सिद्ध होगा कि योगियों का हृदय भले ही सिर में (मस्तिष्क में) हो, वेदान्तशास्त्र के अनुसार आयुर्वेद का हृदय, जैसे कि यहाँ पर वर्णन हुआ है पुण्डरीकाकार और मांसपिण्डमय होता है । अर्थात् आत्मा कोष्ठस्थ हृदय में होता है । आत्मा का अधिष्ठान हृदय में होने के कारण आत्मा के लक्षण याने चैतन्य के लक्षण—इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः। (चरक. शा. १)।—भी हृदय के ऊपर ही आरोपित होते हैं। यही कारण है कि आयुर्वेद में कोष्ठस्थ हृदय मन बुद्धि अहङ्कार का अर्थात् चैतन्य का स्थान माना जाता है— अर्थे दशमहामूलाः समासक्ता महाफलाः । महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः ॥ षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् । आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् ॥ प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते । गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः ॥ तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति । यद्धि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम् ॥ तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः । हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥ (चरक, सूत्र ३०) । दोषाः प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादम्। (चरक, उन्माद निदान) । दोषाः प्रकुपिता रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामन्तरात्मनः श्रेष्ठमायतनं हृदयमुपसृत्य पर्यवतिष्ठन्ते। (चरक, अपस्मार निदान) । रसधात्वादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् । प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥ अति पीतेन मद्येन विहतेनौजसा च तत् । हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः ॥ (चरक, मदात्यय चिकित्सित) । तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य । स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥ (चरक, उन्माद चिकित्सित) । धमनीभिः श्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि । संपीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रांतेन चेतसा ॥ (चरक, अपस्मार चिकित्सित) । तत्र हृदये दश धमन्यः प्राणापानौ मनोबुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्यामपरा इव प्रतिष्ठितानि। (चरक, त्रिमर्मीयासिद्धि) । स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम, तत्रापि सद्य एव मरणम् । (सुश्रुत, मर्मशरीर)। द्वारमाशयस्य च । सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम्। (अष्टाङ्गहृदय, शा. ४)। तच्च सत्त्वादीनां सत्त्वरजस्तमसां तथा विज्ञानस्येन्द्रियाणां चार्थपंचकस्य तथाऽऽत्मनश्चेतसो धाम स्थानम्। (अरुणदत्त)। देहिनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकाशकम्। तत्संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः ॥ (उमामहेश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्) । हृदयं चेतनास्थानं तज्ज्ञात् सुखदुःखयोः तत्संकोचविकासाभ्यां जीवितज्ञा प्रकंपते ॥ (नाडीज्ञानतरंगिणी)। गर्भ वृद्धि के समय गर्भ के किस अंग की प्रथम उत्पत्ति होती है इस विषय के वादविवाद के समय प्रत्येक ऋषि शरीर के प्रत्येक अंग के विशिष्ट गुणों को सामने रखकर उसी की प्रथम उत्पत्ति बतलाते थे। इस गुणप्रदर्शन में हृदय बुद्धि मन और चेतना का स्थान ही बताया गया है—हृदय (पूर्वमभिनिर्वर्तते)मिति काङ्कायनो वाल्हीकभिषक्, चेतनाधिष्ठानत्वात् । (चरक, शा. ६)। हृदय (पूर्वं संभवति)मिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात् । (सुश्रुत, शा. ३)। गर्भ की मासानुमासिक वृद्धि में चौथे महीने में हृदय की प्रगल्भता बताई गई है और उसी से माता में दौहृद उत्पन्न होता है, क्योंकि हृदय इच्छा सुखदुःखादि का स्थान होने के कारण गर्भ में पूर्वकर्मानुसार कुछ इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं जो माता के द्वारा प्रकट होती हैं और वही दौहृद होता है—चतुर्थे ... गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्? तत्स्थानत्वात्, तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते । (सुश्रुत, शा. ३)। द्विहृदयस्य भावाद् द्वैहृदय्यं, मातृहृदयं गर्भहृदयेन संबद्धं हृदयद्वयं भवति । (चक्रपाणिदत्त)। गर्भ के हृदय का और माता के हृदय का संबंध जिस प्रकार वर्णन किया गया है उससे हृदय का अर्थ मस्तिष्क न होकर हार्ट (heart) ही होता है। आगमोऽपि। हृदयं मनसः स्थानमोजसश्चिन्ति तस्य च। मांसपेशीचयोरक्तपद्माकारमधोमुखम्॥ योगिनो यत्र पश्यन्ति सम्यग्ज्योतिः समाहिताः। रसो यः स्वच्छतां यातः स तत्रैवावतिष्ठते। ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते ॥ (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय सूत्र, १२)। और भी कई वचन मिल सकते हैं, परन्तु इतने वचन हृदय का मन बुद्धि इत्यादि से साहचर्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। अब तक हृदय का विचार किया गया । इसके बाद शिर और मस्तिष्क का विचार किया जाता है । 'सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम्' इस व्यावहारिक उक्ति के अनुसार आयुर्वेद में शिर एक प्रधान अंग माना जाता है, परंतु यह प्राधान्य शिर इन्द्रियों का अधिष्ठान होने के कारण दिया गया है, मस्तिष्क का महत्व समझ कर नहीं। यह ध्यान में रखना चाहिये—प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च । यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥ (चरक, सूत्र १७ । शिरः पूर्वमभिनिवर्तते कुमारस्येति कुमारशिरा भारद्वाजः पश्यति, सर्वेन्द्रियाणां तदधिष्ठानमिति कृत्वा। (चरक, शा. ६)। शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि । (चरक, सिद्धि ९)। गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवति इत्याह शौनकः, शिरोमूलत्वात्प्रधानेन्द्रियाणाम्। (सुश्रुत, शा. ३)। सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संस्थिताः। तेन तस्योत्तमांगस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तरस्थान २९)। अब यदि मस्तिष्क या मस्तुलुंग (Brain) का विचार किया जाय

तो इसका उल्लेख बहुत कम होता है और जहाँ पर होता है वहाँ पर आधुनिक शारीर कार्य विज्ञान (Physiology) के अनुसार जितने महत्व के साथ उसका उल्लेख होना चाहिये वैसा नहीं होता—मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः । (चरक, शा ७) । मस्तिष्कं शिरस्थो मज्जा । मस्तिष्कः शिरोगतस्नेहः ॥ (चक्रपाणिदत्त) । अर्ध्यवभेदकशिरसो नस्य मस्तुलुङ्गेऽवतिष्ठते । (चरक) । मस्तुलुङ्गादिना भिन्ने स्थाने मधुसर्पिषी । दत्वा ततो निबध्नीयात् सप्ताहं च पिबेद् घृतम् ॥ (सुश्रुत, चि ३) । शिरसोऽपहृते शल्ये वालवर्ति प्रवेशयेत् । वालवर्त्यामस्ताया मस्तुलुङ्गं व्रणात् स्रवेत् ॥ इत्यादेन ततो वायुस्तस्मादेवमुपाचरेत् । (सुश्रुत, चि २) । मस्तुलुङ्गमिति शिरसो बलाधानं स्त्यानघृताकारं मस्तुलुङ्गमुच्यते । (डल्हण) । स्नेहो हि तस्यामुरस्येकदेशे ष्वस्थिषु च सरक्तः भवति । तदेव च शिरसि कपालप्रतिच्छन्नं मस्तिष्काख्यं मस्तुलुङ्गाख्यं च । (अष्टांगसंग्रह, शा ५) । मस्तुलुङ्गस्रावेऽपादे मस्तिष्कानन्य जीवनात् । (अष्टांगसंग्रह, उत्तर ३१) । मस्तुलुङ्गक्षयाधस्य वायुस्तालुस्थि नामयेत् । (सुश्रुत, शा १०) । मस्तुलुङ्गो विलीन घृताकारो मस्तकस्नेहः । (डल्हण) । मस्तुलुङ्ग संबंधी इन वचनों को देखकर एक बात साफ होगी कि इसके स्वरूप का तथा कार्यों का विवरण कहीं नहीं वर्णित है, केवल मस्तुलुङ्ग कपालास्थियों के भीतर का स्नेह है इतना ही अर्थ निकलता है।

अब महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन हृदय को हार्ट समझने की दृष्टि से जो तीन विरोध बतलाते हैं उनका संक्षेप में फिर से विचार किया जाता है। प्रथम विरोध यह है कि हृदय बुद्धि का स्थान कहा गया है इसलिए वह हृदय हार्ट न होकर ब्रेन (Brain) होना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि आयुर्वेद हार्ट में ही बुद्धि का स्थान मानता है—हृदयमिति कर्मवीर्यं बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात् (सुश्रुत) । यहाँ पर शिर का उल्लेख करने के बाद हृदय का उल्लेख आया है, इस लिए यह हृदय महाहृदय नहीं हो सकता। दूसरा विरोध संकोच विकास का है। इसका उत्तर यह है कि निद्रितावस्था में संकोच और जाग्रतावस्था में विकास हार्ट का भी होता है और इसकी सत्यता आधुनिक खोज से (३१ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) भी सिद्ध होती है। तीसरा विरोध यह है कि मांसमय अंग में इस प्रकार के गुण असंभव हैं। इसका उत्तर यह है कि आत्मा जिस हृदय में रहता है वह मांसमय पिण्ड है, इसका साक्ष्य श्रीशंकराचार्य देते हैं, इसलिए इसमें कोई असंभवनीयता नहीं है। संक्षेप में आधुनिक कल्पना के अनुसार यद्यपि बुद्धि और मन का स्थान हृदय मानने में दोष होता है, तथापि आयुर्वेदिक सिद्धान्तों के अनुसार कोई दोष नहीं है। जिस स्थान में हृदय की मर्यादा नहीं बताई गई है ऐसे स्थान में आधुनिक कल्पना के अनुसार हृदय से मस्तिष्क समझ सकते हैं, परंतु जहाँ पर हृदय की मर्यादा निश्चित है (जैसे—मर्मार्धाम हृदयं स्तनोर मोरःमध्यगम्) वहाँ पर उससे मस्तिष्क नहीं समझ सकते। अतः आयुर्वेद में हृदय से हमेशा हार्ट समझना ही उचित है।

मन का स्थान—हृदय में मन का स्थान होता है इसकी सिद्धता ऊपर चरक सुश्रुतादि के जो वचन प्रमाण दिये हैं उनसे हो चुकी है। परंतु भेलसंहिता में मन का स्थान शिर बताया है—शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रियपरं मनः । तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान् ॥ समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति । तन्मनः प्रभवश्चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम् ॥ कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंस्थितम् । क्रियाणाञ्चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम् ॥ (भेलसंहिता, उन्मादचिकित्सित) परंतु यह स्थान चरकादि के विरुद्ध नहीं है। चरक में शिर सर्व इन्द्रियों का अधिष्ठान माना गया है, मन एक इन्द्रिय है और विशेष करके बुद्धीन्द्रिय है—षडिन्द्रियप्रमाणं मनः । (चरक) । मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति । (भगवद्गीता) । मन अणु, एक और सर्व शरीरचर है जो जहाँ पर जरूरत होती है वहाँ पर झट से पहुँच कर इन्द्रियार्थों के ग्रहण करने में सहायता करता है—ज्ञानायौगपद्यात्कि मनः । (न्यायदर्शन ३-२-५९) । न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ६० ॥ अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ६१ ॥ यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ६२ ॥ मनःपुरःसराणि चेन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति । (चरक सूत्र ८) । तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च ॥ (चरक, विमान ५) । इसका अभिप्राय यह है कि केशनखादि संज्ञाहीन शरीर के उपांगों को छोड़कर मन संपूर्ण शरीर में संचार करके संज्ञा या ज्ञान प्राप्त करता है। शरीर में ज्ञान प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन शिर है क्योंकि वहाँ पर सब इन्द्रियाँ उपस्थित रहती हैं, इसलिए मन भी वहाँ पर अधिक उपस्थित रहता है इसमें कोई संदेह नहीं और इसी दृष्टि से मन का स्थान शिर बताया गया है। संक्षेप में मन का मूलस्थान हृदय, उसका काम करने का मुख्य स्थान (Office head quarter) शिर और उसका हलका संपूर्ण शरीर होता है। हृदय में रहकर मन अपना काम नहीं कर सकता। वह वहाँ से मनोवह स्रोतसों के द्वारा समस्त शरीर में तथा शिर में जाकर हृदयस्थ आत्मा को इन्द्रियार्थों का ज्ञान कराता है। जब पुरुष इन्द्रियार्थों के ज्ञान से पराङ्मुख होना चाहता है तब मन को हृदय में रोकने की आवश्यकता होती है—सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च । मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥ ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ (भगवद्गीता ८-१३) । इस विस्तृत विवरण का तात्पर्य यह है कि हृदय में आत्मा का निवास होने के कारण आयुर्वेद हृदय को ही मन और बुद्धि का स्थान मानता है और हृदय से निकले हुए संज्ञावह, चेतनावह या मनोवह स्रोतसों के द्वारा समस्त शरीर को चैतन्य प्राप्त होता है तथा दोषों के द्वारा हृदय तथा संज्ञावह स्रोतसों की दुष्टि होने से संज्ञा के मन के तथा चेतना के विकार उत्पन्न होते हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो सब जगह मूल का अर्थ सुसंगतिक होता है, एक ही शब्द के दो अर्थ करने की आवश्यकता नहीं होती। आधुनिक कल्पना के साथ मिलने वाली तथा भारतीय अन्य शास्त्र संमत वक्षस्थ और शिरस्थ दो हृदय मानने की कल्पना आयुर्वेदसंमत नहीं है। आयुर्वेद में केवल वक्षस्थ एक हृदय होता है और वही बुद्धि और मन का अधिष्ठान माना गया है। दो हृदयों का प्रतितन्त्र सिद्धान्त आयुर्वेदसंमत

मानने से अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होते हैं। इसका एक उदाहरण यहीं पर देखने के लिए मिला है। दूसरा उदाहरण चरक के अर्थेदशमहामूलीय अध्याय के कुछ श्लोकों में मिलता है। धमनी का अर्थ आर्टरी (Artery) होता है। इसको सिद्ध करने के लिए गणनाथ सेन जी 'तेन मूलेन महता महामूला मता दश। ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः॥' इत्यादि श्लोक उद्धृत करते हैं (संज्ञा-पंचकविमर्श पृष्ठ ५५)। परंतु यह अर्थ तब ठीक हो सकता है जब 'मूल' का अर्थ हार्ट हो। अर्थात् यहां पर आप 'मूल' का अर्थ हार्ट मानने के लिए तैयार हुए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। जहाँ पर आप 'बुद्धेर्निवासः' पढ़कर हृदय को ब्रेन समझने के लिए तैयार हुए, वहाँ पर 'षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपंचकम्। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥' इतना स्पष्ट वर्णन पढ़कर भी आप हृदय को हार्ट मानने के लिए कैसे तैयार हुए हैं यह समझ में नहीं आता है। अनवस्था प्रसंग के तीसरे उदाहरण के लिए सातवें अध्याय के ३६वें श्लोक का वक्तव्य देखो।

निद्राहेतुः—इस श्लोक में नींद कैसी आती है और कैसी खुलती है इसकी उपपत्ति बतलायी है। यह उपपत्ति दर्शन शास्त्रानुसार है। इसको ध्यान में रखना चाहिए। समस्त संसार त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है और पुरुष भी त्रिगुणों में फंस जाने के कारण पंचमहाभूतात्मक शरीर के पिंजरे में बद्ध हुए हैं—सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (भगवद्गीता १४-५)। इसी कारण से कुछ आचार्य निर्गुण पुरुष को भी त्रिगुणात्मक मानते हैं। प्रथम अध्याय का ६वां सूत्र देखो। इस प्रकार त्रिगुणात्मक पुरुष के निवास करने के कारण हृदय त्रिगुणों का भी स्थान माना गया है—सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम्॥ (अष्टांगहृदय, शा० ४)। ये गुण हमेशा आपस में मिले हुए रहते हैं। सत्त्व का परिणाम प्रकाश, निर्मलता, अनालस्य और तम का आलस्य निद्रा होता है—तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्॥ प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ (भगवद्गीता १४)। जब हृदय तम से आवृत होता है तब नींद आती है और जब तम कम होकर सत्त्व प्रबल होता है तब नींद खुल जाती है। इस तरह परस्पर विरोधी गुणों के क्रमिक प्रभाव से नींद और जागरण की अवस्था उत्पन्न होती है। लौकिक दृष्टि से यदि सत्त्व और तम की ओर देखा जाय तो तम से अँधेरा और समलता और सत्त्व से प्रकाश और निर्मलता का बोध होता है। प्रकाश को इन्द्रियार्थों की उपस्थिति का उपलक्षण समझ सकते हैं। अँधेरा इन्द्रियार्थों का अभाव समझ सकते हैं। जब अंधेरा, प्रशान्तगृह इत्यादि उपस्थित होते हैं तब नींद आती है और जब प्रकाश, शोरगुल इत्यादि उपस्थित होते हैं तब नींद खुलती है। संक्षेप में तम से बाह्य उत्तेजक पदार्थों (अर्थों) की अनुपस्थिति और सत्त्व से उनकी उपस्थिति समझ सकते हैं।

इस दार्शनिक उपपत्ति के सिवा आयुर्वेद में निद्रा की और दो उपपत्तियाँ मिलती हैं। एक के अनुसार संज्ञावह स्रोतसों का कफ से अवरुद्ध होना निद्रा का कारण होता है। दूसरे के अनुसार इन्द्रियों की तथा मन की इन्द्रियार्थों से उपरति निद्रा का कारण होती है। यह उपरति ऐच्छिक या अनैच्छिक दोनों प्रकार की हो सकती है। परंतु प्रायः उपरति थकावट के कारण, अतएव अनैच्छिक होती है, इसलिए उसी का निर्देश किया गया है। यदि कोई मनुष्य अपने इच्छाबल से जब चाहे तब उपरति की अवस्था उत्पन्न कर सके तो उसको उसी समय नींद आ जाती है। नेपोलियन बोनापार्ट रणाङ्गण पर जरा-सी फुरसत मिलने पर उतनी ही नींद लेता था। आयुर्वेद में इस तरह नींद के चार कारण माने गये हैं—(१) तम (२) कफ (३) तम और कफ, तथा (४) उपरति—तमोवृतेषु स्रोतःसु श्रमादुपरतेषु च। इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्राविशति देहिनम्॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ९)। यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥ (चरक, सूत्र २१)। निद्रा श्लेष्मतमोभवा॥ (सुश्रुत)। योगशास्त्र में निद्रा उपरति की ही स्थिति मानी गई है—अभावप्रत्ययालंबनावृत्तिर्निद्रा। (योगसूत्र १-१०)।

स्वभाव एव वा हेतुः—प्राणियों को निद्रा प्रतिदिन रात को एक विशिष्ट समय पर आती है तथा विशिष्ट समय पर चली जाती है। निद्रा के समय तम का प्राबल्य होता हो और बोधन के समय सत्त्व का प्राबल्य होता हो, परंतु नियत समय पर इनका अस्तोदय क्यों होता है? यह प्रश्न प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के सामने खड़ा हो सकता है और आयुर्वेद के ऋषियों के भी सामने खड़ा हो गया था और उसी के उत्तर में ऋषियों ने बताया कि तम और सत्त्व निद्रा और बोधन के भले ही कारण हों, परंतु इनसे बढ़कर कारण शरीर का स्वभाव है जो नियत समय पर तम के द्वारा नींद और सत्त्व के द्वारा प्रबोधन उत्पन्न करता है। आधुनिक काल में नींद के संबंध में अन्वेषण करके वैज्ञानिक इसी स्वरूप का मत प्रदर्शित करते हैं—Natural sleep is the normal manifestation of one stage in the rhythmical activity of nerve cells. *Halliburton's Physiology.* स्वभाव दुरतिक्रम होता है वैसी निद्रा भी दुरतिक्रम होती है, चाहे मनुष्य उसको टालने की कितनी भी कोशिश क्यों न करे। अमेरिका के क्लीटमन (Kleitman) और उसके साथियों ने निद्रा न लेने से शरीर पर क्या परिणाम होता है उसकी जाँच २-९ दिन तक निद्रा न लेकर की। तब उनको यह मालूम हुआ कि शरीर के तापक्रम, मूत्र, रक्त, रक्तभार, पचन, भूख इत्यादि बातों में कोई भी खास खराबी नहीं होती है। अगर यह बात सत्य है और इसमें कोई संदेह नहीं तो कौन बुद्धिमान् मनुष्य अपनी आधी जिन्दगी नींद में खराब करेगा? रात में आधी आयु व्यर्थ में नष्ट होती है, यह बात प्राचीन काल से लोगों के मन में खटकती है—आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतम्। (भर्तृहरि)। तब भी आधुनिक वैज्ञानिक क्लीटमन का उपर्युक्त आधार मिलने पर निद्रा को पूर्णतया छोड़कर अपनी आधी आयु का सदुपयोग करने का विचार मनुष्य कार्यरूप में परिणत नहीं कर सकते। इसका कारण अन्न-सेवन करना जैसे शरीर का एक स्वभाव है वैसे ही निद्रा-सेवन एक स्वभाव है और अन्न-सेवन से जैसी शरीर की पुष्टि होती

है वैसी निद्रा से भी शरीर की पुष्टि होती है—देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः। स्वप्नाहारसमुत्थे च स्थौल्यकार्श्ये विशेषतः ॥ निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्। वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥ (चरक, सूत्र० २१)। अन्न के सिवा मनुष्य जितने दिन गुजरान कर सकता है उतने ही दिन के लगभग (३-४ सप्ताह) मनुष्य निद्रा सेवन न करके भी गुजरान कर सकता है, परन्तु वह उसके सिवा रह नहीं सकता—Man can exist without sleep for about the same time that he can do without food, viz, three to four weeks but he cannot live without it *System of clinical medicine by Savill* इन सब बातों का विचार करके सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में निद्रा का समावेश स्वाभाविक व्याधियों में किया गया है—स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः ॥

निद्रा की प्रक्रिया के संबंध में आधुनिक खोज—निद्रा स्वभाव से होती है, परन्तु किस प्रकार से होती है इसका ज्ञान, बहुत कुछ खोज करने पर भी, अत्यल्प है। मध्य-गुहा (Third ventricle) के तल के धूसर भाग में और कंदाधरीय भाग (Hypothalamus) में निद्रा से संबंध रखने वाला कुछ अंश होता है जिसमें खराबी होने से निद्रा तथा तन्द्रा बढ़ती है। प्रत्यक्ष निद्रा उत्पन्न होने की दृष्टि से निम्न मत पाश्चात्य वैद्यक में प्रचलित हैं। (१) होवेल नामक अमेरिकन शास्त्रज्ञ का मत है कि मस्तिष्क में रक्त की कमी और अन्य अंगों में रक्त की अधिकता होने से निद्रा उत्पन्न होती है। भोजन के पश्चात् पचनसंस्थान में रक्ताधिक्य होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से ही भोजनोत्तर मनुष्य को कुछ तन्द्रा या निद्रा मालूम होती है। जाड़ों के दिनों में रात को ओढ़ने के लिए काफी गरम कपड़ा न होने से निद्रा नहीं आती, क्योंकि त्वचा की रक्तवाहिनियां सिकुड़ने से मस्तिष्क में रक्ताधिक्य हो जाता है। प्रतिदिन रात को त्वचागत रक्तवाहिनियाँ विस्तृत होती हैं जिससे मस्तिष्क में रक्त की कमी होकर नींद आती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह अवस्था नींद में होती है, परंतु इससे नींद आती है या नींद के कारण मस्तिष्क में रक्त कम होता है यह प्रश्न फिर भी हल नहीं होता। (२) कुछ शास्त्रज्ञों का यह मत है कि जाग्रतावस्था में शरीर में ऐसे रासायनिक द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो उचित मात्रा में संचित होकर मस्तिष्क पर निद्रा का प्रभाव डालते हैं। वैसे ही निद्रितावस्था में ऐसे द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो निद्रा खोलने का कार्य करते हैं। (३) कुछ तज्ज्ञों का कथन है कि जाग्रतावस्था में मस्तिष्कगत नाड़ीकन्दों (Neurons) के अक्षतन्तु (Dendrites) आपस में भली भाँति मिले रहते हैं जिससे आपस में संवहन होता है जिसका परिणाम संज्ञा है। निद्रितावस्था में ये अक्षतन्तु सिकुड़कर गाँठदार होते हैं जिससे इनका आपस में संबंध टूट जाता है और एक से दूसरे में संवहन नहीं होता। इसका परिणाम संज्ञानाश में होता है। जो इस उपपत्ति के पक्ष में हैं उनका कथन है कि सिकुड़न के कारण निद्रा उत्पन्न होती है। कुछ लोगों का कथन है कि निद्रा के कारण सिकुड़न होती है। (४) पावलोव (Pavlov) नामक सुप्रसिद्ध रशिअन वैज्ञानिक का मत है कि निद्रा सांकेतिक निरोधन (Conditional inhibition) का परिणाम है। प्राणियों के शरीर में कई सहज प्रतिक्षेप क्रियाएँ (Inborn reflexes) होती हैं। अन्नदर्शन से लालास्राव उन्हीं में से एक क्रिया है। यदि किसी कुत्ते को नियत समय पर घटिकावादन के साथ अन्न दिया जाय तो कुत्ता घटिकावादन रूप संकेत का संबंध अन्न के साथ जोड़ देता है जिससे कुछ दिनों के पश्चात् खाली घटिकावादन होने पर उसे लालास्राव होने लगता है। यह कार्य जन्मोत्तर होता है और संकेत के अनुसार होता है इसलिए सांकेतिक प्रतिक्षेप कहलाता है। यदि कुत्ते को कोई दूसरी सूचना बताई जाय जिससे वह अन्न न आने का संकेत समझ सके और उस संकेत का उपयोग अन्न आने के संकेत के पश्चात् किया जाय तो कुछ काल तक लालास्रावरूप प्रतिक्षेप क्रिया का निरोधन (Inhibition) होता है। यह निरोधन का कार्य भी संकेत के अनुसार होता है इसलिए इसको सांकेतिक निरोधन कहते हैं। प्रतिक्षेप तथा निरोधन ये दोनों भी कार्य मस्तिष्क के धूसर वस्तु में होते हैं। प्रत्येक कार्य का स्थान भिन्न भिन्न होता है। एक स्थान में निरोधन का कार्य प्रारंभ होने पर वह अन्य स्थानों पर भी प्रविकिरण (Irradiation) के द्वारा फैलता है। पावलोव का अभिप्राय है कि रात्रि के समय, बिस्तरा इत्यादि निद्रानुकूल संकेतों का निरोधक परिणाम मस्तिष्क के ऊपर होकर प्राणी को आप से आप नींद आ जाती है।

ये सब मतमतान्तर एक दृष्टि से ठीक हैं, परंतु इनसे निद्रा के कारणों का और प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। कुछ भी हो, निद्रा एक शरीर का स्वाभाविक धर्म है और उससे शरीर के हर एक पुर्जे को अधिक से अधिक आराम मिलता है ये आयुर्वेद के सिद्धान्त आधुनिक खोज से भी अविचलित रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं—देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथा निद्रा समासतः ॥ (आत्रेयसंहिता)। यस्मात्तस्मान्निद्रा प्रकीर्तिता ।

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः।
रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान् ॥ ३५ ॥

सोये हुए (मनुष्य) का स्वामी जीवात्मा पूर्वकाल में देह से अनुभव किये हुए शुभाशुभ विषयों का ग्रहण रजोयुक्त मन के द्वारा करता है ॥३५॥

वक्तव्य—इस श्लोक में स्वप्न की उपपत्ति वर्णन की गई है। पूर्वदेहानुभूत—पूर्वजन्म के देह से अनुभव किये हुए तथा इस जन्म में स्वप्नदर्शनकाल के पूर्व इसी देह से अनुभव किये हुए—पूर्वदेहानुभूतानित्यादि। एतच्चोपलक्षणम्, अनेनापि देहेनानुभूतान् ॥ (डल्हण)। ये सब अनुभव पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत और मन से कल्पित या प्रार्थित इस प्रकार के होते हैं। स्वप्न में जो अनुभव आते हैं वे स्मृति के रूप में आते हैं—अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः। (योगसूत्र १-११)। पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो विषय प्रत्यक्षीकृत होते हैं उनको अनुभूत कह सकते हैं, परंतु जो मन से कल्पित या प्रार्थित होते हैं वे विषय वासना के रूप से रहते हैं और उसी की अनुभूति स्वप्न में होती है। बहुतेरे स्वप्न वासनावद्दता के कारण उत्पन्न होते हैं, चाहे

वे वासनाएँ इस जन्म की हों चाहे पूर्वजन्म की हों—जीवो वासनावस्तद्देवान्तः प्रपश्यति ॥ (योगवासिष्ठ ४-१७-२६)। स्वपतः—स्वपतः शारीरचेतनः॥ भूतात्मा—पंचमहाभूतात्मक शरीर में बद्ध हुआ आत्मा जो क्षेत्रज्ञ कहलाता है। रजोयुक्तेन मनसा—ऊपर निद्रा की उपपत्ति बतलाई गई है। उसमें निद्रा का कारण तम बतलाया गया है। मन जब तमोयुक्त होता है तब उसमें अकार्यकरत्व आ जाता है। सृष्टि के प्रारंभ में सब तम से आवृत था। तमावृत होने के कारण समस्त सृष्टि प्रसुप्त याने अकार्यकर थी—आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः। (मनु १-५)। प्रसुप्तमिव सर्वतः। स्वकार्याक्षमसित्यर्थः॥ (कुल्लूकभट्ट)। रजः प्रवर्तक होने के कारण जब मन उसके साथ मिलता है तब वह कार्यक्षम होता है और नाना प्रकार के स्वप्न मनुष्य देखता है। यही अर्थ दूसरी परिभाषा में अगर कहना हो तो यों कह सकते हैं कि जब मन इन्द्रियों के साथ प्रसुप्त याने अकार्यकर होता है तब स्वप्न नहीं होते, परंतु जब केवल इन्द्रियाँ प्रसुप्त होती हैं और मन नहीं होता तब स्वप्न होते हैं—सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोऽनुपरतं यदा। विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यति ॥ (अष्टांगसंग्रह सूत्र ९)। स्वप्न की इस उपपत्ति से यह स्पष्ट होगा कि स्वप्न विरहित निद्रा से जितना आराम शरीर को मिल सकता है उतना स्वप्नयुक्त निद्रा से नहीं मिल सकता। भगवान् शंकराचार्य भी स्वप्न की उपपत्ति इसी प्रकार की ताते हैं—इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि। सेवते विषयानेव देवात् स्वप्नदर्शनम् ॥

करणानां तु वैकल्ये[1] तमसाऽभिप्रवर्धिते।
अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥३६॥

तम द्वारा इन्द्रियों की विकलता बढ़ने पर न सोता हुआ भी जीवात्मा सोता हुआ सा कहा जाता है ॥३६॥

वक्तव्य—आत्मा स्वयं निर्विकार होने के कारण उसके ऊपर न तम का प्रभाव पड़ता है तथा न उसमें निद्रा की विकृति उत्पन्न हो सकती है। परन्तु व्यवहार में आत्मा सोता है इस प्रकार की परिभाषा व्यवहृत होती है। यह परिभाषा एक दृष्टि से ठीक है यह कहने का इस श्लोक का उद्देश्य है। आत्मा जब शरीर में बद्ध होता है तब उसका ज्ञान तथा बोध इन्द्रियों के ऊपर निर्भर होता है। जब इन्द्रियाँ नहीं होतीं तब आत्मा को ज्ञान नहीं होता, जब इन्द्रियाँ विकृत होती हैं तब आत्मा को ठीक ज्ञान नहीं होता। वैसे ही जब इन्द्रियाँ तम द्वारा आवृत होती हैं तब आत्मा प्रसुप्त हो जाता है—आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते ॥ पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम्। यद्वज्जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥ (चरक, शा. १) करणम्—मन और इन्द्रियाँ—करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च। (चरक, शा० १)।

सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्, प्रतिषिद्धेष्वपि तु बालवृद्धस्त्रीकर्शितक्षतक्षीणमद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्तक्षीणानामजीर्णिनां च मुहूर्तं दिवास्वपनमप्रतिषिद्धम्[2]। रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्धमिष्यते दिवास्वपनम्। विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम; तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च, तत्प्रकोपाच्च कासश्वासप्रतिश्याय शिरोगौरवा[3]ङ्गमर्दारोचकज्वराग्निदौर्बल्यानि भवन्ति; रात्रावपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्तास्त एवोपद्रवा भवन्ति ॥३७॥

(दिवास्वप्न और रात्रिजागरण)—ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त सब ऋतुओं में दिन में सोना (वैद्यक शास्त्रानुसार) निषिद्ध है। परन्तु निषिद्ध ऋतुओं में भी बाल, वृद्ध, स्त्रीसंग के कारण थके हुए, क्षतयुक्त, दुर्बल, मद्य नित्य सेवन करनेवाले, गाड़ी में बैठने से, (घोड़ा हाथी इत्यादि पर) सवारी करने से, प्रवास करने से, काम करने से थके हुए, भोजन न किये हुए, मेद, स्वेद, कफ, रस और रक्त जिनमें क्षीण हो गया हो और अपचन से पीड़ित इनको दिन में एक मुहूर्त भर नींद लेना निषिद्ध नहीं है। रात में भी जो (कारणवश) जागरित रहे उनके लिए प्रजागरकाल से आधा काल दूसरे दिन सोना उचित होता है। दिन में सोना विकृति है, दिन में सोने से अधर्म और सर्व दोषों का प्रकोप होता है, दोषों के प्रकोप से खाँसी, श्वास, सर्दी, सर में भारीपन, शरीर में पीड़ा, अरोचक, ज्वर और अग्नि की मन्दता (ये विकार) होते हैं; रात को भी जागरण करने वालों को वात और पित्त के कारण उन्हीं के समान उपद्रव (उत्पन्न) होते हैं ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—ग्रीष्मादन्यत्र—गर्मियों के दिनों में जरा-सा परिश्रम करने पर अधिक थकावट होती है, दिन चढ़े और रात छोटी होती हैं जिनसे दिन भर के परिश्रम के लिए जितना विश्राम रात में निद्रा के रूप में मिलना चाहिए उतना नहीं मिलता। इसलिए दिन में निद्रा-सेवन की विधि बताई गई है—ग्रीष्मे त्वादानरूक्षाणां वर्धमाने च मारुते। रात्रीणां चातिसंक्षेपाद्दिवास्वप्नः प्रशस्यते ॥ (चरक सू० २१)। स्त्रीकर्शित—स्त्रियां और कर्शित याने दुर्बल अथवा स्त्री संग से कर्शित इस तरह इसके दो अर्थ हो सकते हैं। स्त्रियों के लिए दोपहर की निद्रा इसलिए विहित है कि घर की स्त्रियाँ रात को सबके पीछे सोती हैं और सबसे पहले उठती हैं, तथा उनको शारीरिक परिश्रम भी बहुत करना पड़ता है जिसके कारण रात में मिलने वाली निद्रा उनके लिए पर्याप्त नहीं होती। क्षतक्षीण—क्षत याने व्रणयुक्त तथा क्षीण याने धातुक्षययुक्त—क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंक्षयात् ॥ (सुश्रुत उत्तर ४१)। किं वा क्षतक्षीण नामक जो उरःक्षत करके रोग होता है उससे पीड़ित। ये अर्थभेद चरक के निम्न, श्लोक के आधार पर किये गये हैं—गीताध्ययनमद्यस्त्रीकर्मभाराध्वकर्शिताः। अजीर्णिनः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽबलाः ॥ (सूत्र, २१)। यानवाहन—यान और वाहन का वास्तविक अर्थ एक है, परन्तु चूँकि ये दो शब्द पृथक् पृथक् प्रयुक्त हुए हैं इसलिए इनका पार्थक्य निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

१ 'वैगुण्ये'. २ 'स्वपनमप्रतिषिद्धः'. ३ 'गौरवज्वराग्निदौर्बल्यानि'.

यान से गाड़ी और वाहन से स्वयं चलने वाले प्राणी, जिनके ऊपर सवारी की जाती है—समझ सकते हैं। अँग्रेजी में भी आजकल Ride or Drive ये दो शब्द ऐसे ही भिन्नार्थ में प्रयुक्त होते हैं। इसलिए यान से Drive और वाहन से Ride समझना चाहिए। परिश्रान्त—इसका संबंध यान, वाहन, अध्व कर्म इन प्रत्येक शब्दों के साथ है। अभुक्तवताम्—जिनके लिए दिवानिद्रा विहित है उनको भी भोजन के उपरान्त नींद लेना उचित नहीं है—भोजनात्प्राग्दिवास्वाप पाषाणमपि जीर्यति। भोजनान्ते दिवास्वापाद्वातपित्तस्फोद्भव ॥ (योगरत्नाकर)। भुक्त्वा स्वप्न न सेवेत सुखोऽप्यसुखितो भवेत् ॥ (हारीतसंहिता)। इससे पचन में खराबी हो जाती है। यह नियम दिवानिद्रा तथा रात्रिनिद्रा दोनों के लिए लागू है। इसी लिए रात्रि के प्रथम प्रहर में भोजन करके दूसरे प्रहर में नींद लेने का आदेश किया है—रात्रौ तु भोजन कुर्यात् प्रथमे प्रहरान्तरे ॥ (योगरत्नाकर)। यहां पर इस तरह भोजनोत्तर दिवानिद्रा का निषेध किया है और अन्य कई स्थानों में भोजनोत्तर दिवाशयन की विधि बताई है—भुक्त्वा राजवदासीन यावदन्नक्लमो गतः। तत॰ पादशत गत्वा वामपार्श्वेन सविशेद् ॥ (सुश्रुत सूत्र ४६)। भुक्त्वो पविशतस्तन्द्रा शयानस्य तु पुष्टता। आयुश्चङ्क्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावत ॥ (योगरत्नाकर)। भोजन के पश्चात् आराम करने की बहुत आवश्यकता होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। क्योंकि उस समय शरीरगत रक्त की राशि पचन संस्थान की ओर अधिक आकर मस्तिष्क तथा त्वचा की ओर कम होती है। उस समय रक्तवह संस्थान के ऊपर अधिक भार न पड़ना चाहिए। भोजनोत्तर आराम, चहलकदमी करने से, बैठने से या शयन से हो सकता है। शयन से अधिक आराम मिलता है, इसलिए भोजनोत्तर शयन या संवेश की विधि बताई गई है। इस शयन से निद्रा का बोध नहीं ले सकते क्योंकि निद्रा भोजनोत्तर निषिद्ध है। इसलिए शयन से उस आसन का बोध लेना चाहिए जिसमें आराम हो तथा दिवानिद्रा के दोष न हों। इस प्रकार के आसन को आसीन प्रचलायित कहते हैं—अरूक्षम॰ भिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥ (चरक सूत्र २१)। इसका अभिप्राय है बैठे बैठे या लेटे लेटे करवट बदलते रहना। प्रतिदिन भोजन के पश्चात् आराम करने का यही आसन है और यही शरीर की पुष्टि करता है—आसीनप्रचलस्वप्नो निरभिष्यदि बृहण ॥ (खरनाद)। मुहूर्त—अड़तालीस मिनट—त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रम् ॥ (सुश्रुत)। रात्रावपि—एकाध रात को कारणवश जागना पड़े तो जितने घंटे जागरण होजाय उससे आधे घंटे दूसरे दिन निद्रा लेनी चाहिए। परन्तु यह निद्रा भी भोजन के पूर्व लेना जरूरी है—भ्रमात्स्याज्जागरादर्ध प्रात स्वप्यादभुक्तवान् ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र ७)। जागरितकालात्—यह जागरित काल प्रकृतिसापेक्ष और अभ्याससापेक्ष होता है। एक मनुष्य प्रकृति और अभ्यास के कारण स्वल्पनिद्र और दूसरा बहुनिद्र होता है। ये दो मनुष्य अब रात को ग्यारह बजे तक जागरित रहेंगे तब स्वल्पनिद्र को दूसरे दिन, दिन में सोने की आवश्यकता नहीं होगी और बहुनिद्र को होगी। इससे यह स्पष्ट होगा कि जागरित काल घड़ी के ऊपर न होकर प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन कितनी निद्रा लेता है उस (सात्म्यनिद्रा) के ऊपर होगा। सात्म्यनिद्रा का काल आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार आयुर्वेद में ६-९ घंटे का माना जाता है। जिसका सात्म्य निद्राकाल नौ घंटा है उसको अगर रात को दो घंटा जागरण हुआ तो उसको दूसरे दिन भोजन के पूर्व एक घंटा निद्रासेवन करना चाहिए—अतोऽस्माद्द्वेतो कालानतिक्रमेण सात्म्यतो यामद्वय त्रय वा निशि निद्रा भजेत्। असात्म्या ज्जागरादर्धेन स्वप्न इष्यते। असात्म्यग्रहणेनेदं द्योतयति। न सर्वस्य रात्रावसुप्तस्य जागरणकालादर्धेन दिवास्वप्न इष्यते, किं तर्हि यो यावन्त कालमुचित स्वपिति तस्मात्कालाद्यावन्त काल जागृयात् तावतोऽर्धेनासौ स्वप्यात्। कश्चिद्धि स्वल्पनिद्रा॰ स्वभावतो भवन्ति ॥ (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय सूत्र ७-६५)। विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम—यहां पर विकृति शब्द शारीरिक विकार के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है। पहले बताया जा चुका है कि भगवान् सूर्यनारायण के द्वारा दिवस के दिन और रात्रि करके दो विभाग हुए हैं जिनमें दिन कर्म के लिए और रात्रि निद्रा या आराम के लिए होती है। यदि संसार के पशु पक्षियों की ओर देखा जाय तो वे दिन होते ही *अपना काम प्रारंभ करते हैं और रात होते ही अपना* काम छोड़कर आराम करते हैं। अर्थात् दिन में कर्म और रात में निद्रा, यह प्रकृति (Nature) है, और दिन में निद्रा और रात्रि में प्रजागर विकृति (Against nature) है। सर्वदोषप्रकोपणम्—सर्वदोष से यद्यपि तीनों दोषों का बोध होता है, तथापि कफ और पित्त का प्रकोप अधिक समझना चाहिए। दिवास्वाप स्निग्ध होता है और रात्रिजागरण रूक्ष होता है—रात्रौ जागरण रूक्ष स्निग्ध प्रस्वपन दिवा ॥ (चरक, सूत्र २१)। इसलिए दिवानिद्रा से कफ का प्रकोप सबसे अधिक और पित्त का उससे कम, वात का नहीं के बराबर होता है। रात्रि का जागरण रूक्ष होने से उससे वात का प्रकोप सबसे अधिक और पित्त का उससे कम, कफ का नहीं के बराबर होता है। दिवानिद्रा के दोष प्रकोप के संबंध में अष्टांगसंग्रह में लिखा है—ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावत। दिवास्वप्नो हितो ऽन्यस्मिन्कफ पित्तकरो हि स ॥ (सूत्र ७)। रात्रिजागरण का परिणाम वातपित्त प्रकोप में होता है इसका निर्देश यहीं पर सूत्र में किया गया है। त एवोपद्रवा—दिवास्वप्न से जो विकार ऊपर बताये गये हैं वे ही विकार रात्रि जागरण से नहीं हो सकते क्योंकि दोष-प्रकोप-भिन्नता है। अत 'त एव श्वासकासादय एव' यह डल्हण का अर्थ अनुचित मालूम होता है। अष्टांगहृदय के अनुसार रात्रि प्रजागरण से निम्न रोग होते हैं—निद्रानाशादङ्गमर्दशिरोगौरवजृम्भिका। जाड्य ग्लानिभ्रमापक्ति तन्द्रारोगाश्च वातजा। (सूत्र ७)। इसमें श्वासकास प्रतिश्याय ये रोग नहीं है। इसके आधार पर त एव का अर्थ उन्हीं के समान (तेषामिव) करना चाहिए।

भवन्ति चात्र—

तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत् ॥ ३८ ॥

अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः ।
नातिस्थूलकृशः श्रीमान् नरो जीवेत् समाः शतम् ।३९।

यहाँ पर श्लोक है। इसलिए रात को जागरण न करे तथा दिन में निद्रा न सेवन करे। बुद्धिमान (पुरुष) इन दोनों को दोषजनक समझकर (रात में ही) उचित मात्रा में नींद का सेवन करे ॥ ३८ ॥ इस प्रकार (रात्रि में उचित निद्रा सेवन करने) से मनुष्य नीरोग, प्रसन्नचित्त वृष के समान बल और वर्ण से युक्त, न बहुत मोटा न बहुत पतला, (एवं सुगठितदेहशरीर) संपत्तियुक्त होकर सौ वर्ष तक जीता है ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—उचित रीति से—अपनी आवश्यकता के अनुसार उचित दो से तीन पहर। वृषः—इसका अर्थ शुक्र या वीर्यसम्पत्तियुक्त किया गया है; परन्तु यहाँ पर यह अर्थ उचित नहीं मालूम होता। वृष का अर्थ साँड़ के समान बलवान् मनुष्य भी होता है, जैसे—व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः। (रघुवंश १), और यही अर्थ यहाँ पर अधिक युक्त है। इस दृष्टि से 'वृष इव बलवर्णान्वितः' ऐसा अन्वय करना चाहिए।

निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा ।
(दिवा रात्रौ च ये नित्यं स्वप्नजागरणोचिताः ।)
न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वाऽपि जायते ॥४०॥

दिन में अथवा रात में निद्रा को जिन्होंने सात्म्य कर रक्खा है तथा जो दिवास्वप्न और रात्रिजागरण के हमेशा के आदी हो गये हैं उनको (दिन में) सोने से अथवा (रात को) जागने से कोई विकार उत्पन्न नहीं होता ॥ ४० ॥

वक्तव्य—यदि वा—यहाँ पर यदि का कोई अर्थ नहीं है। यदि वा मिलकर 'अथवा' अर्थ होता है—निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु। (भर्तृहरि)। रात्रौ च यदि वा दिवा—दिन में रात में जब जी चाहे तब तथा जब आवश्यकता पड़े तब, संक्षेप में वक्त बेवक्त। प्रथम श्लोकार्ध के अनुसार जो लोग होते हैं उनकी निद्रा का कोई नियत समय नहीं होता। अनुक्रम से बदलने वाली आठ आठ घंटे की काम करने की पारी जिनकी होती है वे लोग इस वर्ग में आते हैं। दूसरे श्लोकार्ध के अनुसार जो लोग होते हैं उनको हमेशा रात में काम करना पड़ता है। स्वप्नजागरणोचिताः—स्वप्नजागरणाभ्यस्ताः। अभ्यास के कारण जो सात्म्य होता है वह ओकसात्म्य कहलाता है—उपशेते यदौचित्यादोकःसात्म्यं तदुच्यते। (चरक सूत्र ६)। औचित्यादभ्यासादित्यर्थः। अपथ्यमपि हि निरन्तराभ्यासाद्विषमिवाशीविषस्य नोपघातकं भवतीति भावः। (चक्रपाणिदत्तटीका)। सात्म्यीकृत अकालशयन ओकसात्म्य का उदाहरण है और अभ्यास से विकृति की प्रकृति (Nature) हो जाती है। अँग्रेजी में भी कहते हैं—Habit is second nature.

निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि ।
संभवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति ॥ ४१ ॥

(निद्रानाश के कारण)—निद्रा का नाश वात से, पित्त से, मानसिक अभिताप से, क्षय से और अभिघात से होता है। विरुद्धचिकित्सा करने से वह शान्त होता है ॥ ४१ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में निद्रानाश के सामान्य कारण तथा उसकी सामान्य चिकित्सा बतलाई है। अनिलात्—वातवृद्धि या वातिक विकार के कारण। सब वातिक रोगों से निद्रानाश नहीं होता। वातिक विकार का एक मुख्य लक्षण जो वेदना या शूल, वह जिन विकारों में होता है, वे सब विकार निद्रानाश उत्पन्न करते हैं। जैसे, पादशूल, पिण्डिकोद्वेष्टन (Cramps) गृध्रसी (गृध्रसीनामकेन शूलेनार्त्तं करोति। चक्रपाणिदत्त। (Sciatica), गुदार्ति, शेफस्तम्भ (Cordee), उदावर्त Flatulence in the stomach or intestine), पक्वाशय, कर्णशूल, अक्षिशूल, शङ्खभेद, ललाटभेद, शिरोरुक्, आक्षेपक (Convulsions), हिक्का (चरक, सूत्र २०), तूनी, प्रतितूनी, मूत्रकृच्छ्र, श्वासकृच्छ्र, पुरीषकृच्छ्र इत्यादि वातिक विकार। इनके सिवा आधुनिक परिभाषा के अनुसार मस्तिष्क के रोग, जैसे—विरंगी मस्तिष्कविकृति, मस्तिष्कशोथ इत्यादि विकार। पित्तात्—ज्वर, शोष, शोथ, दाह, अन्तर्दाह (Inflammations) इत्यादि पित्त विकारों से। मनस्तापात्—चिन्ता, क्रोध, भीति, विचारमग्नता, उन्माद, पागलपन, दुःख इत्यादि मानसिक (Psychical) कारणों से। क्षयात्—शरीर के क्षय से आने दौर्बल्य से अथवा राजयक्ष्मा से। अभिघातात्—नख, दशन, पतन, बन्धन इत्यादि से तथा नाना प्रकार के शस्त्रों के आघात से चोट, घाव, भग्न इत्यादि के कारण। अभिघात से संक्षेप में आगन्तु कारण समझना चाहिए। अभिघात से नींद न आने का मुख्य कारण वेदना या पीड़ा ही होती है। चरक में निद्रानाश के निम्न कारण दिये हैं—कार्यं कालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च। चिन्ता क्रोधस्तथा भयं शोकोऽतिवमनं तथा॥ उपवासोऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्यं तमो जयः। निद्राप्रसंगमहितं वारयन्ति समुत्थितम्॥ एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः। कार्यं कालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च॥ (सूत्र २१)। इसके अनुसार अतीसार, प्रवाहिका, जुकाम, बहुत छींकें आना, आघात, जिसमें बहुत रक्तस्राव हुआ हो, अत्यधिक शारीरिक परिश्रम, भूख, बिस्तरा ठीक मृदु न होना, वेदना जिसमें हो ऐसे सब विकार (विकारो व्याधिः शूलादिः) ये निद्रानाश के कारण होते हैं। प्रत्यनीकैः—कारणविपरीत चिकित्सा करने से। अर्थात् वेदनाहर, मनःशान्तिकर तथा रोगनिवारक उपायों से।

निद्रानाशेऽभ्यङ्गयोगो मूर्ध्नि तैलनिषेवणम् ।
गात्रस्योद्वर्तनं चैव हितं संवाहनानि च ॥ ४२ ॥
शालिगोधूमपिष्टान्नभक्ष्यैरैक्षवसंस्कृतैः ।
भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभिः ॥ ४३ ॥
रसैर्बिलेशयानां च विष्किराणां तथैव च ।
द्राक्षासितेक्षुद्रव्याणामुपयोगो भवेन्निशि ॥ ४४ ॥
शयनासनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च ।
निद्रानाशे तु कुर्वीत तथाऽन्यान्यपि बुद्धिमान् ॥४५॥

(निद्रानाश की चिकित्सा—) निद्रानाश में (शरीर पर) अभ्यङ्ग का उपयोग, सिर पर तैल लगाना, शरीर पर उबटन मलना और मालिश करना हितकर हैं ॥४२॥ (गुड़, शर्करा इत्यादि) ईख के पदार्थों द्वारा संस्कृत चावल, गेहूँ के पिष्टान्न के भक्ष्य पदार्थों का मधुर तथा दूध और मांस-

रसादि से स्निग्ध भोजन (हितकर होता है) ॥४३॥ वैसे ही बिल में रहने वाले और बमेर कर खाने वाले प्राणियों के मांसरसों से (स्निग्ध भोजन भी हितकर होता है)। रात को द्राक्षा खाँड तथा उस के अन्य द्रव्यों का उपयोग (हितकर) होता है ॥ ४४ ॥ निद्रानाश में बुद्धिमान् पुरुष बिछौना, आसन (खटिया, तख्त, पलग इत्यादि तथा कहीं जाना हो तो पाल्की आदि) यान तथा अन्य (वस्त्र प्रावरणादि) को भी मन को सुख देने वाले और मृदु करे ॥ ४५ ॥

वक्तव्य—अभ्यङ्गयोग इत्यादि—इसमें सिर से पैर तक तैल का अभ्यंग और मालिश का उपाय बताया गया है। मूर्ध्नि तैलनिषेवणम्—इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम्। निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नि तैलनिषेवणात् ॥ (चरक, सूत्र ५)। अभ्यङ्ग योग, उद्वर्तन इत्यादि निद्रानाश में वायु-प्रकोप प्रधान होता है और अभ्यङ्ग तथा उद्वर्तन वातशामक होते हैं जिससे निद्रानाश का कारण दूर होकर नींद आती है। इसके सिवाय मर्दन से त्वचा तथा शाखाओं की रक्तवाहिनियां विस्फारित होकर इन अंगों में रक्त की राशि अधिक होकर मस्तिष्क में कम हो जाती है। इससे भी निद्रा में सहायता होती है—स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम्। त्वच्यश्च परमोऽभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः ॥ (चरक, सूत्र ५)। उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोविलापनम्। स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्। सिरामुखविविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्नेश्च तेजनम् ॥ (सुश्रुत, चि० २४)। मनोज्ञ—मनोनुकूल। अन्यान्यपि—इससे प्रावरण, निद्रागृह इत्यादि बातों का बोध लेना चाहिए। वस्त्र प्रावरण गर्मियों के दिनों में हल्के और जाड़े के दिनों में गरम और मोटे होने चाहिएँ। गर्मियों में कमरा हवादार और जाड़े में निवात और गरम हो तथा कमरे में प्रकाश न हो, आसपास शोरगुल न हो। संक्षेप में निद्रा के समय सब विषय मनोनुकूल हों, इन्द्रियों को किसी प्रकार की तकलीफ न हो इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए—प्रवाते सुरभौ देशे सुप्ता शय्या यथोचिते। मनोनुकूला विषयानिर्वृतिः कृतकृत्यता। निद्रा मनोविनृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ९)। वाग्भटाचार्य के इन श्लोकों में शयनासनादि बाह्य कारणों का जैसे विचार किया गया है, वैसे मानसिक कारणों का भी विचार 'निर्वृति, कृतकृत्यता और संतोषतृप्ति' इनमें किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति का अपने देश, धर्म, समाज, स्वामी, कुटुम्ब इत्यादि के प्रति कुछ कर्तव्य होता है और प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति को इस कर्तव्य का पालन करना पड़ता है। यदि प्रतिदिन रात को सोने के समय मनुष्य अपने को इस बात का विश्वास दे सके कि उसने आज के कर्तव्य का पालन यथाशक्ति और यथामति किया है तो एक प्रकार की कृतकृत्यता होती है। और भी कई कार्यों को पूर्ण करने से कृतकृत्यता होती है। इस कृतकृत्यता के कारण मन निर्वृत और संतोषतृप्त होता है और नींद आती है। संक्षेप में नींद आने के लिए शरीर स्वस्थ, बाह्य परिस्थिति प्रशस्त और मन संतोषतृप्त होना चाहिए और इनमें से किसी बात की कमी हो तो उसको दूर करने की कोशिश करनी चाहिए।

निद्रातियोगे वमनं हितं संशोधनानि च।
लङ्घनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च ॥४६॥

(अतिनिद्रा की चिकित्सा—) निद्रा की अधिकता में वमन, (विरेचन, बस्ति, शिरोविरेचन ये) संशोधन, लङ्घन, रक्तमोक्षण तथा मन की शान्ति नष्ट करने वाले उपाय हितकर होते हैं ॥४६॥

कफमेदोविषार्तानां रात्रौ जागरणं हितम्।
दिवास्वप्नश्च तृट्शूलहिक्काजीर्णातिसारिणाम् ॥४७॥

(रात्रिजागरण और दिवास्वप्न के लिए योग्य—) कफ, मेद और विष इनसे पीड़ितों के लिए रात्रिजागरण और तृषा, शूल, हिक्का, अजीर्ण और अतीसार से पीड़ितों के लिए दिवास्वप्न हितकर होता है ॥४७॥

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥४८॥

(तन्द्रा—) इन्द्रियों के (शब्दस्पर्शादि) अर्थों का ग्रहण न होना, (शरीर में) भारीपन, जँभाई लेना, थकावट और निद्रा से पीड़ित हुए के समान चेष्टा ये जिसके होते हैं उसको तन्द्रा है ऐसा समझना चाहिए ॥४८॥

वक्तव्य—इन्द्रियार्थेषु—इन्द्रियार्थाः शब्दादयः, तेषामसंप्राप्तिरग्रहणम्। (डल्हण)। इससे संज्ञानाश का बोध होता है। ईहा—चेष्टा या कर्म। तन्द्रा—यह वैकारिक संज्ञानाश की अवस्था है। निद्रा से इसका भेद निम्न प्रकार से होता है—परं निद्राया प्रबोधितस्य क्लमाभावः, तन्द्राया तु प्रबोधितोऽपि क्लाम्यति, अत एवात्र क्लमग्रहणम्। (डल्हण)। अष्टांगसंग्रह में तन्द्रा का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णित है—कफोल्बणो वायुना द्वौ धमनीः संनिरुध्य तु। कुर्यात् सज्ञापहां तन्द्रां दारुणां मोहकारिणीम् ॥ तमोऽन्विते विनिर्मुक्ते परिवर्धितदारके। भवतस्तत्र नयने सुप्ते लुलितपक्ष्मणी। सर्वेन्द्रियाश्रिता साध्या न सा साध्या तनः परम् ॥ (सूत्र ९)। इससे तन्द्रा के निम्न लक्षण मालूम होते हैं। रोगी क्लान्त और बेहोश रहता है, जगाने की कोशिश करने पर कुछ सचेत होता है परंतु फिर से बेहोश होता है तथा रोगी दारुणावस्था में होता है और मर भी जाता है। इन लक्षणों का विचार करने पर तन्द्रा को अंग्रेजी के stupor या Lethargy का पर्याय समझना चाहिए। It is a condition of deeper sleep from which the patient can be aroused, distinguishing it from coma, from which the pat'ent can not be aroused. *Symptom Diagnosis by Barton anb Yater.* तन्द्रा का यह विशेष अर्थ है जो संदर्भ के अनुसार करना चाहिए। तन्द्रा का सामान्य अर्थ निद्रार्तता, सुस्ती, आलस्य (Drowsiness, Sleepiness) होता है।

इससे यह स्पष्ट होगा कि तन्द्रा सन्यास या तामसी निद्रा का हल्का स्वरूप है और उन्हीं विकारों में मिलता है जिनमें सन्यास पैदा होता है। संन्यास निम्न विकारों में मिलता है—आन्त्रिक ज्वर, आमवातज्ज्वर, कालमेहज्वर (Black water fever), घातक विषमज्वर, फुफ्फुस पाक (न्युमोनिया), मसूरिका इत्यादि सान्निपातिक ज्वरों के अन्त में, सर्व प्रकार के मस्तिष्कावरणशोथ (meningitis), तन्द्रिक मस्तिष्क शोथ (Encephalitis lethargica), मस्तिष्क का अर्बुद या

१ सर्वेन्द्रियाश्रिता तु कुर्यात्।

१ वर्ध्ये।

विद्रधि, मूत्रविषमयता (Ureamia) मधुमेह की अन्तिमावस्था, वैनाशिक पाण्डुरोग (Pernicious anaemia), मस्तिष्काघात, सिर पर आघात, मस्तिष्क में रक्तस्राव या रक्त का जम जाना (Embolism), पक्षाघात, लू लगना (Heat stroke), अत्यधिक रक्तस्राव इत्यादि।

पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृतानन:
यं मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इति संज्ञित: ॥४९॥

(जृम्भा—) उद्वेष्टन के साथ मुख फैलाया हुआ (मनुष्य) वायु के एक उच्छ्वास को लेकर आँखों से पानी के साथ जो (निश्वास) बाहर फेंकता है वह जृम्भा कहलाता है ॥ ४९ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में जँभाई के कर्म का शब्द चित्र वर्णन किया है। जंभाई श्वासप्रश्वास का एक विशिष्ट स्वरूप है जो रक्त में प्रां-द्विजारेय (CO_2) की अधिकता होने से रवार आया करता है। रक्त की खराबी दूर करने के लिए इसमें उच्छ्वास के समय वायु की अधिक राशि ग्रहण की जाती है। संक्षेप में जृम्भा स्वाभाविक अनैच्छिक (Involuntary) और गम्भीर प्रश्वसन का एक प्रकार है जिसमें साँस मुख द्वारा ग्रहण की जाती है। एक—यह संख्यावाचक विशेषण इयत्तादर्शन के लिए प्रयुक्त न होकर असाधारणतादर्शन के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि साधारण श्वास-प्रश्वास के समय जिस तरह से और जितनी लंबी साँस ली जाती है उससे भिन्न तरह की और अधिक लंबी साँस जँभाई में ली जाती है। उद्वेष्टन्—यहाँ पर जंभाई के जितने लक्षण दिये हैं उनमें यह लक्षण सबसे महत्त्व का है। मनुष्य मुख खोल कर और आँखों से पानी के साथ लंबी साँस ले सकता है परन्तु वह कर्म जँभाई नहीं कहा जा सकता। जब उसमें उद्वेष्टन होगा तब वह जँभाई होगी। हाराणचन्द्र उद्वेष्टन का अर्थ 'पृष्ठत: शिरो व्याक्षिपन्' ऐसा करते हैं, परन्तु यह अर्थ अर्थ ठीक नहीं मालूम होता। आयुर्वेद में उद्वेष्टन का अर्थ इस प्रकार कहीं नहीं होता। साधारणतया उद्वेष्टन शब्द पीड़ा या ऐंठन या ऐंठनजन्य पीड़ा (Cramps) इस अर्थ से प्रयुक्त होता है—उद्वेष्टनं मूलविषै: प्रलापो मोह एव च। जृम्भाक्षेपोद्वेष्टन-श्वासा ज्ञेया पत्रविषेण तु ॥ (सुश्रुत, कल्प २)। तत्र दर्वीकर-विषेण हिक्कावायोरूर्ध्वगमनं शूलोद्वेष्टनं तास्ताश्च वातवेदना भवन्ति। (कल्प ४)। हृत्पीडोर्ध्वानिल: स्तम्भ: सिरायामोऽस्थिपर्वरुक्। घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रे श्यावता वातिके विषे ॥ (चरक चि. २३) पादयो: सुप्तता, पिण्डिकयोरुद्वेष्टनं- जानुनो: केवलानां च संधीनां विश्लेषणम्; इति वातज्वरस्य लिङ्गानि स्यु: ॥ (ज्वर निदान)। उद्वेष्टन पेशियों की सख्त सिकुड़न (Contraction) से होता है। यह सिकुड़न अनैच्छिक (Involuntary) होती है। उसके ऊपर मनुष्य की इच्छा का कुछ भी अधिकार या असर नहीं होता। यहाँ पर भी उद्वेष्टन का यही अर्थ है। शरीर में सिराज (Venous) रक्त अधिक होने पर उसकी शुद्धि के लिए जँभाई आती है। उसके आने न आने के ऊपर मनुष्य अपना अधिकार नहीं चला सकता है। जँभाई के समय नीचे का जबड़ा अधिक से अधिक खुलता है यहाँ तक कि कभी कभी हनुसंधि विश्लेष (Dislocation of the lower jaw) हो जाता है। यह कार्य नीचे का जबड़ा खोलने वाली पेशी की सख्त सिकुड़न से होता है। अर्थात् यह एक प्रकार का उद्वेष्टन है, और इसी दृष्टि से यहाँ पर यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। शार्ङ्गधर में इसलिए 'विदीर्ण वदन' शब्द प्रयुक्त किया गया है—चैतन्यशिथिलत्वाद्य: पीत्वैकश्वासमुद्वमेत्। विदीर्णवदन: श्वासं जृम्भा सा कथ्यते बुधै: ॥ मुख कितना खोले कितना न खोले इसके ऊपर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं चल सकता और वह इतना अधिक खुलता है कि समाज में बुरा मालूम होता है। इसलिए आयुर्वेद में समाज में अनावृत मुख रखकर जँभाई लेना निषिद्ध माना गया है—नासंवृत-मुख: कुर्यात्क्षुतिहास्यविजृम्भणम् ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र २)। संक्षेप में 'नीचे का जबड़ा खोलने वाली पेशी की अनैच्छिक और अत्यधिक सिकुड़न से जिसका मुख खुला हुआ है' यह 'उद्वेष्टन् विवृतानन:' का अर्थ है।

योऽनायास: श्रमो देहे प्रवृद्ध: श्वासवर्जित:।
क्लम: स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधक: ॥ ५० ॥

(क्लम—) साँस की कठिनाई (Dyspnea) न होकर बिना परिश्रम के शरीर में जो थकावट (Feeling of tiredness) बढ़ती है और जो इन्द्रियों से (शब्द स्पर्शादि) विषयों के ग्रहण में कठिनाई उत्पन्न करती है वह (थकावट की अवस्था) क्लम (Asthenia) समझना चाहिए ॥ ५० ॥

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दु:खद्वेषणलोलता।
शक्तस्य चाप्यनुत्साह: कर्मस्वालस्यमुच्यते ॥५१॥

(आलस्य—) बलवान् मनुष्य की सुख में आसक्ति, दुःख में द्वेष और भीति तथा काम करने में अनुत्साह इसको आलस्य कहते हैं ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—सुखस्पर्शप्रसंगित्वं—सुख, अनुकूल वेदना; स्पर्श, इन्द्रियार्थों का उपलक्षण जिससे स्पर्श के साथ शब्द रूप रस और गन्ध इन अर्थों का भी ग्रहण होता है। प्रसंगित्वमासक्ति:। मृदुशयन, मुलायम मलमल के वस्त्र, सुगंधित द्रव्य, रुचिकर मधुर भोज्य पदार्थ, श्रुतिमधुर-गान; नयनमनोहर वस्तुओं को देखना इत्यादि अनुकूल संवेदना उत्पन्न करने वाले पदार्थों के संबंध में आसक्ति। दु:खद्वेषणलोलता—प्रतिकूल वेदना उत्पन्न करने वाले विषयों के संबंध में द्वेष तथा डर। शक्तस्य— इसका संबंध केवल अनुत्साह से न होकर सुखस्पर्श प्रसंगित्व और दु:खद्वेषणलोलता इनके साथ भी है। शक्त का अर्थ है स्वस्थ या नीरोग मनुष्य। अनुत्साह— काम करने में मन न लगाना। हौसले के साथ काम न करना। आलसी आदमी भी काम करता है, क्योंकि काम किये वगैर किसी का नहीं चल सकता। परंतु उस काम में उसका दिल नहीं होता और वह जहाँ तक हो सके उसे अधूरा करता है तथा करने की टालमटोल करता है। कर्मसु—कर्तव्य कर्मों में। स्वास्थ्य, धर्म, समाज, कुटुम्ब इनके प्रति मनुष्य का जो कर्तव्य होता है उन कर्तव्यकर्मों में अनुत्साह। जिसमें उसकी आसक्ति होती है, उसमें अनुत्साह नहीं होता। आलस्य—यह कोई वैकारिक अवस्था नहीं है। प्रकृति का परिणाम है।

उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम्।
हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥५२॥

(उत्क्लेश—) अन्न (आमाशय में) उपतप्त होकर बाहर न निकले, प्रसेक (मुख में पानी भरना) और

ष्ठीवन (पानी को थूकने की प्रवृत्ति) को प्रेरित करे तथा हृदय (प्रदेश) पीड़ित हो जावे उसे उत्क्लेश कहते हैं ॥५२॥

वक्तव्य—उत्क्लेश—इसको Heart burn कहते हैं। पचन-संस्थान की विकृति का यह एक लक्षण है। इसमें आमाशय में उदर्नारिक (हैड्रोक्लोरिक) अम्ल की अधिकता या उसकी कमी होने पर दुर्गंधक, धूतिक (ल्याक्टिक ब्यूटिक) इत्यादि सेन्द्रिय अम्लों की उत्पत्ति होती है। ये अम्ल हृदय प्रदेश में उत्क्लेश करते हैं, हृदय में कुछ भी खराबी नहीं होती। आमाशय हृदय के समीप है। उसका ऊपर का द्वार हार्दिक द्वार (Cardiac orifice) कहलाता है। आमाशय के अम्ल इस द्वार को खोलकर कुछ ऊपर आ जाते हैं। इससे हृदय में पीड़ा मालूम होती है, वास्तव में नहीं होती। यह हृदयोत्क्लेश अम्लपित्त, आमाशय का व्रण, अभिस्तरण, (Dilatation), जीर्णशोथ इन विकारों में तथा अपचन अजीर्ण (Dyspepsia) में उत्पन्न होता है।

वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टनं भ्रमः।
न चान्नमभिकाङ्क्षेत्त ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥५३॥

(ग्लानि—) मुह का स्वाद मीठा, तन्द्रा, हृदय में पीड़ा, भ्रम (चक्कर आना) और अन्न सेवन में अनिच्छा (ये लक्षण जिसमें हों) उसमें ग्लानि (है, ऐसा) समझना चाहिए ॥ ५३ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में तीव्र अपचन (Acute dyspepsia or gastritis) के लक्षण वर्णन किये हैं। यह विकृति प्राय अध्यशन या अत्यशन से उत्पन्न होती है। हृदयोद्वेष्ट—यह वही हृदयोत्क्लेश है जो पीछे के श्लोक में वर्णित है। ग्लानि—एक प्रकार की कमजोरी Depression या Languor।

आर्द्रचर्मावनद्धं वा(हि) यो गात्रमभिमन्यते।
तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत् ॥ ५४ ॥

(गौरव—) कोई (मनुष्य जब अपने) शरीर को गीले चमड़े से लिप्त सा और सिर को अत्यन्त भारी समझता है (तब) वह गौरव जानना चाहिए ॥ ५४ ॥

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद्भ्रमः।
तमोवातकफात्तन्द्रा, निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥ ५५ ॥

(मूर्च्छादि की संप्राप्ति—) मूर्च्छा पित्त और तम प्रधान होती है, भ्रम रज, पित्त और वात से होता है तन्द्रा तम और कफ से होती है और निद्रा कफ और तम से होती है ॥ ५५ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में मूर्च्छा, तन्द्रा, भ्रम और निद्रा इनकी संप्राप्ति वर्णन की है। मूर्च्छा—इसकी चरकोक्त संप्राप्ति पीछे ३२वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में तामसी निद्रा की टिप्पणी में दी गई है। मूर्च्छा और संन्यास दोनों में भी संज्ञानाश होता है तथा दोनों की संप्राप्ति में बहुत कुछ समता होती है, इसलिए चरक में दोनों का विचार एक साथ किया गया है। संन्यास का विचार पीछे तामसी निद्रा में तथा तन्द्रा में किया गया है। मूर्च्छा (Syncope or Fainting fit) एकाएक आती है थोड़ी देर के लिए रहती है और प्राय आप से आप ठीक हो जाती है—सेन्द्रियाणां मूर्च्छा चक्रवेगा देहिनाम्। स्वयमेवोपशाम्यन्ति मूर्च्छा या नौषधैर्विना ॥ (चरक, सू० २४)। मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से मूर्च्छा आती है। डरपोक और वातिक (Nervous) प्रकृति के जवान स्त्री-पुरुषों में भीति, दुःख, क्रोध विरह, आनन्द, भयानक दृश्य, शस्त्रकर्म इत्यादि मानसिक उत्तेजनाओं से तथा अत्यंत गरम और जनसंकुल स्थान में रहने से मूर्च्छा उत्पन्न (६ अध्याय के २४वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो) होती है। इसके सिवाय अतिपरिश्रम रोगनिवृत्ति-कालीन दौर्बल्य, अनशन, मर्मों पर आघात (जैसे वृषण), आघात के कारण अत्यधिक रक्तस्राव, शरीर के भीतरी अंगों में (Internal) रक्तस्राव, विविध प्रकार के शूल (जैसे धृकशूल, पित्ताश्मरी शूल, हृच्छूल इत्यादि), विविध प्रकार के रक्तक्षय या पाण्डुरोग, एकाएक उठकर बैठना या खड़े होना, उदरगुहागत भार कम होना (जैसे जलोदर में जल निकालने के बाद या प्रसूति के बाद होता है) और हृदय के विकार ये भी मूर्च्छा के कारण होते हैं। मस्तिष्क में रक्त की कमी निम्न तीन प्रकार से होती है। (१) रक्तस्राव आभ्यन्तरीय या बाह्य। (२) वाहिनीनियन्त्रणाघात (Vasomotor paralysis)—शरीर में स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल द्वारा रक्तवाहिनियों का नियन्त्रण इस प्रकार से होता है कि जहाँ पर अधिक रक्त की आवश्यकता होती है वहाँ की रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर अन्य स्थानों की संकुचित होती हैं। जैसे, भोजन के पश्चात् पचन-संस्थान में अधिक रक्त की आवश्यकता होती है तब उदर में रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर त्वचा तथा मस्तिष्क की संकुचित होती हैं जिससे सर्दी और सुस्ती मालूम होती है। जब इस नियन्त्रणसंस्थान का घात, दौर्बल्य या अस्थैर्य हो जाता है तब आवश्यकतानुसार शरीर में रक्त का विभजन नहीं होता और रक्त शरीर में कहीं पर इकट्ठा होता है। मूर्च्छा प्राय इस प्रकार की विकृति से होती है। (३) हृदय की कमजोरी—हृदय अपनी विकृति से या अन्य कारण से कमजोर होने पर मस्तिष्क में रक्तविक्षेप करने में असमर्थ होता है। इससे भी मूर्च्छा आ जाती है। रक्तक्षयी, रोगनिवृत्त, हृद्रोगी, उपवासी, थके हुए इनमें उठने या खड़े होने पर जो मूर्च्छा आती है वह इस प्रकार से आती है। मानसिक क्रोधादि विकारों से तथा विविध भयकर या घृणाजनक दृश्य देखने पर जो मूर्च्छा आती है, वह दूसरे प्रकार से आती है। इसमें मृत्यु का डर नहीं होता। जो मूर्च्छा हृदय की विकृति से आती है, उससे मृत्यु होने का डर रहता है। भ्रम—चक्रवद्भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा। भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः ॥ (माधवनिदान)। भ्रम (Vertigo) विकार हमेशा कान के कान्तारक (Labyrinth) की या श्रुतिनाडी की कुण्डलिकाभिगा शाखा (Vestibular nerve) की विकृति से या अनुमस्तिष्क (Cerebellum) की विकृति से होता है।

गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्मानिनिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति ॥ ५६ ॥

भवन्ति चात्र—

तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम्।
तदाधमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥ ५७ ॥
ऊष्मणा सहितश्चापि दारयत्यस्य मारुतः।
ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांस्यपि यथा तथा ॥ ५८ ॥

(गर्भवृद्धि के कारण—) सच पूछिए तो गर्भ की परिवृद्धि (माता के आहार) रस के कारण तथा वायु के आध्मान के कारण होती है ॥ ५६ ॥ यहाँ पर श्लोक हैं—गर्भ की नाभि के भीतर (उदरगुहा में) अग्नि का स्थान निश्चय से होता है। वायु (उस स्थान की) अग्नि को प्रध्मापन से प्रदीप्त करती है, जिससे शरीर परिवर्धित होता है ॥ ५७ ॥ (उस ज्योतिःस्थान की) अग्नि से संयुक्त हुई वायु (गर्भ के मांसल पिण्ड में प्रधमापन से) जैसी जैसी ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में स्रोतसों को विदारण (करके उत्पन्न) करती है, वैसे वैसे (उस गर्भ की वृद्धि होती है) ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—प्रथम सूत्र में गर्भवृद्धि के दो कारण बताये हैं। इनमें माता का आहाररस गर्भवृद्धिरूप इमारत का मसाला है। जैसे, माता का शरीर उसके आहार पर पारवर्धित होता है वैसे ही उसके शरीर पर बाँदे की तरह लगा हुआ गर्भ उसी के आहाररस पर परिवर्धित होता है। इसलिए रस गर्भशरीर का उपादान कारण है। वायु और उसके साथ पित्त या तेज ये उस आहाररस से गर्भशरीर में विविध अंग, विविध धातु उत्पन्न करते हैं, इसलिए ये निमित्त कारण हैं। अन्तरेण नाभेस्तु—उदर त्वचा के मध्य में जो निम्नमध्य भाग होता है और जहाँ पर गर्भ की नाल लगी रहती है वह स्थान नाभि (Umbilicus) है, उसके मध्य में। इसका मतलब यह नहीं है कि नाभि का जो एक या दो वर्ग इंच क्षेत्र होता है, उसमें ज्योतिःस्थान होता है। नाभि केवल नाड़ी के लिए प्रवेशद्वार है। नाभि के पीछे उदरगुहा में जहाँ पर यकृत्, प्लीहा, हृदय, आमाशय इत्यादि पित्त के स्थान होते हैं वहां पर। ज्योतिःस्थान—अग्नि या तेज अर्थात् पित्त का स्थान। शरीर में उष्णता रूप जो शक्ति होती है, उसे अग्नि या ज्योति कहते हैं। इसका स्थान नाभि और हृदय के मध्य में होता है—ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः । (अष्टांगहृदय) । तदाधमति इत्यादि—वायु ज्योतिःस्थान के पित्त को प्रज्वलित करती है। पित्त के द्वारा आहाररस का पचन होकर उसका परिवर्तन शरीर के विविध धातुओं में होकर गर्भ का पिण्ड बनता है। परन्तु पित्त या अग्नि स्वयं पङ्गु है, वायु की सहायता के विना वह कुछ नहीं कर सकता—नमीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य । (कुमारसम्भव ३)। पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥ (शार्ङ्गधर) । स्रोतांसि—शरीरगत धातुओं का वृद्धि स्रोतसों के विना नहीं हो सकती है। कुछ आचार्य, पुरुष को स्रोतसों का समुदाय मानते हैं—सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते । अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति ॥ (चरक, विमान ५)। अर्थात् समस्त शरीर में स्रोतसों की उत्पत्ति गर्भवृद्धि के लिए बहुत आवश्यक है। ये स्रोतस वायु पित्त के साथ मिलकर गर्भ के मांसपिण्ड में प्रधमन के द्वारा उत्पन्न करती है। जैसे उष्णता से पिघले हुए कांचपिण्ड में वायु के प्रधमन से नालियां अवकाश इत्यादि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही पित्त के द्वारा पाचित हुए गर्भपिण्ड में वायु के प्रधमन से ऊपर, नीचे, इधर-उधर स्रोतस बन जाते हैं। यथा तथा—गर्भवृद्धि की दृष्टि से यदि इस शब्द-समूह का विचार किया जाय और जो विचार यहाँ पर सन्दर्भ के अनुसार अधिक प्रशस्त है तो इसका अर्थ निम्न प्रकार से होता है—अग्नियुक्त वायु गर्भशरीर में इधर उधर जैसी जैसी स्रोतसों का विदारण करती जाती है वैसी वैसी गर्भ की अधिकाधिक वृद्धि होती है। यदि स्रोतसों की उत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाय तो इसका अर्थ निम्न प्रकार का होता है—अग्नियुक्त वायु गर्भशरीर में इधर उधर प्रधमन के द्वारा जैसे विदार उत्पन्न करती है, वैसे छोटे मोटे स्रोतस उत्पन्न होते हैं। रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता—गर्भ की वृद्धि नाभिनाडी के द्वारा होती है—मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति, तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति । यदि नाभिनाडी की रचना की दृष्टि से उपर्युक्त वचन का अर्थ करना हो तो रसनिमित्ता से सिरा (Vein) और मारुताध्माननिमित्ता से धमनी Artery) ये दोनों नाभिनाड़ी में होते हैं, यह स्पष्ट होता है। संक्षेप में नाभिनाड़ी में सिरा और धमनी दोनों ही होते हैं।

दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदाचन[1]।
ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥ ५९ ॥
शरीरे क्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौ सदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः ॥६०॥

दृष्टि और रोमकूप कभी भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होते। मनुष्यों के ये अंग अचल होते हैं, ऐसा धन्वन्तरि का मत है ॥५९॥ शरीर के क्षीण होते हुए भी नख और केश ये दोनों स्वभाव को कारण करके सदा बढ़ते ही रहते हैं, ऐसी (वास्तविक) स्थिति है ॥ ६० ॥

वक्तव्य—दृष्टि—इसके तीन अर्थ हो सकते हैं। (१) दृग्गोचर क्षेत्र (Sight), (२) दृष्टिमण्डल (Pupil)—कृष्णात्सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः ॥ (३) दृष्टिवितान (Retina) जिसके ऊपर प्रकाशकिरण पड़ने से बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है। रोमकूपाः— Hair follicles । न वर्धन्ते—जन्म के पश्चात् शरीर की वृद्धि होते हुए भी इनकी वृद्धि नहीं होती। ये अंग मोटाई में जन्मकालीन रहते हैं। जन्म के समय बालक की लम्बाई १९–२० इंच के लगभग होती है, जो जवानी में ४–५ गुना हो जाती है। वजन ६ पौण्ड के करीब होता है, जो पचीसगुना अधिक हो जाता है। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो दृष्टि और रोमकूप ध्रुव निश्चल मालूम होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा—स्वभावं कारणं कृत्वा। शरीर का क्षय होने पर भी शरीरगत नखों और केशों की वृद्धि होना यह एक आश्चर्यजनक बात मालूम होती है। अर्थात् इसका कारण स्वभाव के सिवा और कोई नहीं हो सकता।

सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथक्, द्विशः, समस्तैश्च ॥ ६१ ॥

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ॥ ६२ ॥

(प्रकृति—) सात प्रकृतियाँ होती हैं—पृथक् पृथक् दोषों से (तीन), दो दोषों से (तीन) और सब दोषों

[1] कथंचन।

से (एक) ॥ ६१ ॥ शुक्र और शोणित के संयोग में जो दोष प्रबल होता है, उसी से (पुरुष की) प्रकृति उत्पन्न होती है। मुझसे उसके लक्षण सुनो ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—दोषैः पृथक्—वातप्रकृति, पित्तप्रकृति और कफप्रकृति। द्विशः—वातपित्तप्रकृति, वातकफप्रकृति और पित्तकफप्रकृति। समस्तैः—वातपित्तकफप्रकृति। त्रिदोषज प्रकृति में तीनों दोष समप्रबल होते हैं, इसलिए उसको समप्रकृति कहते हैं। और प्रकार की प्रकृतियों में एक या दो दोषों का प्राबल्य होता है इसलिए त्रिदोषज प्रकृति स्वस्थ, और एक या दो दोषज प्रकृति अस्वस्थ होती है—समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादिमानवाः। दृश्यन्ते वातलाः केचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा॥ तेषामनातुराः पूर्वे, वातलाद्याः सदातुराः। दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते॥ (चरक, सूत्र ७)। दोषज प्रकृति के मनुष्य यद्यपि देखने में स्वस्थ होते हैं, परन्तु उनको अपने स्वास्थ्य रक्षण के लिए परहेज़ रखना पड़ता है—एतेन वातलादीनां मुख्यं स्वास्थ्यं नास्ति, किं तर्हि उपचारस्वस्था एते इति दर्शयति। (चक्रपाणिदत्त)। इन दोषज प्रकृतियों में कफप्रकृति श्रेष्ठ, पित्तप्रकृति मध्यम, वातप्रकृति कनिष्ठ और द्विदोषज प्रकृतियाँ निंद्य होती हैं—तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्। समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा निन्द्या द्विदोषजाः ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र १)

अब यहाँ पर सुश्रुताचार्य प्रकृति के सात भेद बताते हैं। इनमें से समप्रकृति के संबंध में कुछ आचार्यों का कथन है कि उस प्रकार की प्रकृति असंभवनीय है क्योंकि मनुष्य का आहार हमेशा विषम होता है और आहार विषम होने के कारण शरीरगत त्रिदोष भी विषम हो जाते हैं—तत्र केचिदाहुः—न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति, विषमाहारोपयोगित्वान्मनुष्याणाम्, तस्माच्च वातप्रकृतयः केचित्, केचित् पित्तप्रकृतयः, केचित् पुनः श्लेष्मप्रकृतयो भवन्तीति॥ (चरक, विमान ६)। विषमाहारोपयोगित्वादिति नाय पुरुषस्तुलाधारधृतमिवाहारमुपयुङ्क्ते, तेनावश्यमत्र वातादिष्वन्यतमोऽपि दोषो विकृतो भवतीति भावः ॥ (चक्रपाणिदत्तटीका)। इस पर आत्रेयजी का कथन है कि, मनुष्य स्वस्थ होते हैं और स्वास्थ्य त्रिदोषसाम्य के सिवा नहीं हो सकता। इसलिए समप्रकृति होती है, परंतु प्रकृति के जो अन्य भेद बतलाये गये हैं उनके लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं है क्योंकि दोषाधिक्य होने के कारण वह विकृति है। अतः वातप्रकृति कहने की अपेक्षा वातल, पित्तल इत्यादि कहना उचित है—तच्चानुपपन्नं कस्मात्कारणात्? समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः। यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः सा चेष्टरूपा, तस्मात् सन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः। न खलु सन्ति वातप्रकृतयः, श्लेष्मप्रकृतयः, पित्तप्रकृतयो वा। तस्य तस्य किल दोषस्याधिक्यात्, सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणाम्, न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते, तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति, सन्ति तु खलु वातलाः पित्तलाः श्लेष्मलाश्च, अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः। ते त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाम् ॥ (चरक, विमान ६)। शुक्रशोणितसंयोगे—प्रकृति की उत्पत्ति का यह एक कारण है। पुरुष का शुक्र और स्त्री का शोणित, जिनके संयोग से गर्भ उत्पन्न होता है, वात-पित्त-कफ-युक्त होते हैं। प्रत्येक में दोषों की कुछ न्यूनाधिकता हो सकती है। जब दोनों का संयोग (Fusion) होता है तब दोनों के भीतरी त्रिदोषों का भी संयोग होकर वात वात में, पित्त पित्त में, और कफ कफ में मिलकर गर्भ का त्रिदोष बनता है। इस त्रिदोष में संयोगवश तीनों की जब समता होगी तब समप्रकृति बनेगी और गर्भ की वृद्धि तथा प्रकृति भी यथोचित और स्वस्थ रहेगी। परंतु इस प्रकार समता होना बहुत कठिन काम है, प्रायः कोई न कोई दोष प्रबल हो जाता है और उसी के अनुसार वातल, पित्तल इत्यादि प्रकृतियाँ बन जाती हैं। जब दो दोषों की प्रबलता होती है, तब द्विदोषज प्रकृतियाँ बनती हैं। उत्कट—यह उत्कटता संयोग के पश्चात् उत्पन्न होने वाली है। माता में या पिता में एक आध दोष की उत्कटता होने से बालक में उसकी उत्कटता होना आवश्यक नहीं है। यदि पिता में वात की उत्कटता है और माता में उसकी क्षीणता है तब बालक में न वात की उत्कटता मिलेगी, न क्षीणता मिलेगी परंतु समता होगी। यदि माता में और पिता में वात की उत्कटता हो तो बालक में वात की उत्कटता माता पिता से भी अधिक होगी। संक्षेप में, गर्भ-प्रकृति में दोष की जो उत्कटता होती है वह पिता माता के शुक्रशोणितगत त्रिदोषों के पृथक् पृथक् परिमाण के जोड़ का परिणाम होता है। पाश्चात्य वैद्यक में माता पिता से प्राप्त रोगों के संबंध में इसी प्रकार की कल्पना होती है—The tendency to disease in one parent may either be neutralised by opposing characters in the other parent, or it may be reinforced if identical peculiarities exist on both sides *Manual of Pathology by Green* प्रकृति—त्रिदोषसाम्य (Normality) यह जो प्रकृति का अर्थ (साम्यं प्रकृतिरुच्यते) है वह यहाँ पर अभिप्रेत नहीं है। प्रकृतिः शरीरस्वरूपम्। (अरुणदत्त)। प्रकृतिमिति स्वभावम्। (चक्रपाणिदत्त)। स्वभाव या शरीर-स्वरूप यह अर्थ यहाँ पर अभिप्रेत है। स्वभाव आदिबल-प्रवृत्त (Hereditary) होता है। प्रकृति के लिए अंग्रेजी में Nature, character या Temperament कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार अंग्रेजी में भी नेचर के Nervous (वातिक), Lymphatic (श्लेष्मल) और Sanguine (पित्तल) करके विभाग किये जाते हैं। यहाँ पर प्रकृति की उत्पत्ति का एक कारण दिया है। चरक और अष्टांग-हृदय में और भी कारण दिये हैं जिनका विचार आगे ७७-७९वें श्लोकों के वक्तव्य में किया जायगा।

तत्र यः प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गान्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः क्राथी दन्तनखखादी च भवति ॥६३॥

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः
कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी ।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा
वियति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः ॥६४॥

अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टि-
र्मन्दरत्नधनसंचयमित्रः ।
किंचिदेव विलपत्यनिबद्धं
मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः ॥ ६५ ॥

वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुनां तथा।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ॥ ६६ ॥

(वातप्रकृति के लक्षण—) इन प्रकृतियों में जो प्रजागरूक, शीत का द्वेष करने वाला, कुरूप, चोर (दूसरे का) मत्सर करने वाला, असभ्य (अशिष्ट, गँवार), संगीतप्रेमी, जिसके हाथ पैर फटे रहते हों ऐसा, जिसकी दाढ़ी (मूँछें) नख और केश अत्यन्त रूक्ष हों ऐसा, तेजमिजाज, (क्रोध से या नींद में) दाँतों को कटकटाने वाला तथा नाखूनों को दाँतों से खाने वाला होता है ॥ ६३ ॥ धैर्यरहित, जिसकी मैत्री दृढ़ (टिकाऊ और गाढ़ी) न हो ऐसा, कृतघ्न, कृश (पतले शरीर का), रूक्ष शरीर का, जिसका शरीर (उभरी हुई) सिराओं से भरा हो ऐसा, बातूनी (बकवादी), तेजी से चलने वाला, (हमेशा) भटकने वाला, चञ्चलचित्त और सोने पर नींद ठीक न आने के कारण जो आकाश में संचार करने के स्वप्न देखता है ॥ ६४ ॥ अस्थिरबुद्धि, चञ्चलदृष्टि, जिसके पास सोना चाँदी रत्न अल्प हों तथा जिसके मित्र थोड़े हों, जो असम्बद्ध ही कुछ बकता हो वह मनुष्य वातप्रकृति होता है ॥६५॥ वातिक मनुष्य बकरी, गीदड़, खरगोश, चूहा, ऊँट, कुत्ता तथा गीध, कौआ, गधा इत्यादि के स्वभाव के (समान स्वभाव में) कहे जाते हैं ॥ ६६ ॥

वक्तव्य—प्रजागरूकः—जिसको नींद बहुत कम आती हो या जो नींद में भी बड़ा सावधान होता हो। दुर्भगः—अमनोरमाकारः । (डल्हण) । शीतद्वेषी—वायु स्वयं शीत होने के कारण वातिक मनुष्य शीत से डरता है तथा वह उसको सहन नहीं कर सकता—शैत्यात् शीतासहिष्णवः। (चरक, विमान ८)। गान्धर्वचित्तः—गन्धर्वों की कला जो संगीत, उसमें दिलचस्पी लेने वाला। धमनीततः—सिरासंततगात्रः। धमनी शब्द यहाँ पर सिरा (Vein) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आगे ९ वें अध्याय के दूसरे सूत्र का वक्तव्य भी देखो । अव्यवस्थितमतिः—सारासार विचार करके पश्चात् विनिश्चय करना यह बुद्धि का कार्य होता है। इस प्रकार का विनिश्चयात्मक काम करने में जिसकी बुद्धि असमर्थ है, ऐसा मनुष्य । अनूकैः—अनूकं स्वभावः स्वरूपचेष्टानुकरणम्। (अरुणदत्त) । वातिक मनुष्य के स्वभाव में अजादि प्राणियों के स्वभावों का संमिश्रण मिलता है, यह अन्तिम श्लोक का अभिप्राय है। इन लक्षणों के सिवाय अष्टांगहृदय में निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—नास्तिक, अधिक भोजन करने वाले, मधुराम्लपटूष्णसात्म्यकांक्षी। नेत्राणि चैषां खरधूसराणि वृत्तान्यचारूणि मृतोपमानि । उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्ते ॥ चरक में निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—रौक्ष्याद्वातला रूक्षापचितात्पशरीराः प्रततरूक्षक्षामसन्नसक्तजर्जरस्वराः, शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः शीघ्रत्रासरागविरागाः श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च, प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाल्पधनाश्च भवन्ति ॥ (विमान, अ० ८)।

स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो वलिपलितखालित्यजुष्टो बहुभुगुष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यमबलो मध्यमायुश्च भवति ॥ ६७ ॥

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता
तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः ।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान्
संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ॥६८॥
न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः
प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः ।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः
स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥६९॥
भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः ।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः ॥७०॥

(पित्तप्रकृति के लक्षण—) जिसे बहुत पसीना आता हो; जिसके शरीर से दुर्गंध आती हो; जिसका शरीर पीला और शिथिल हो; जिसके नख, नेत्र, तालु, जीभ, होंठ, हथेलियाँ और तलुवे ताम्रवर्ण हों; कुरूप, शरीर पर झुर्रियाँ हों; बाल सफेद हों और गिर जाते हों; बहुत खाने वाला; गरमी से द्वेष करने वाला; जो जल्दी ही क्रुद्ध और शान्त हो जाता हो; मध्यम बल का और मध्यम आयु वाला (मनुष्य पित्त प्रकृति का) होता है ॥६७॥ उत्तम धारणाशक्ति का, कुशाग्रबुद्धि का, प्रतिवादी का पक्ष तोड़कर बोलने वाला, तेजस्वी, संग्राम में दुर्दमन वीर्य का (पित्त प्रकृति का मनुष्य), सोने पर सुवर्ण, पलाश, कर्णिकार, अग्नि, बिजली, उल्कापात को देखता है ॥६८॥ भय दिखाने से दबता नहीं, नम्र न होने वालों के लिए कठोर वृत्ति का, नम्र होने वालों के लिए सान्त्वना देने की इच्छा करने वाला, जो हमेशा (फोड़े, फुन्सियाँ, मुखपाक इत्यादि के कारण) पीड़ितमुख होता है वह संसार में पित्तप्रकृति का होता है ॥६९॥ पैत्तिक मनुष्य (स्वभाव में) सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यक्ष, बिल्ली, बन्दर, शेर, रीछ और नेवला के स्वभाव के समान होते हैं ॥७०॥

वक्तव्य—बहुभुक्—पित्ताधिक्य के कारण अधिक खाने वाला—तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णाग्नयः प्रभूताशनपानाः। (चरक)। उष्णद्वेषी—उष्ण सहन न करने वाला—औष्ण्यात् पित्तला भवन्त्युष्णासहाः। (चरक)। दुर्गन्धः—विस्रत्वात् प्रभूतपूतिकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः। (चरक)। मेधावी—मेधा—ग्रंथधारणाशक्ति से युक्त—मेधाधारणेन परीक्षेत (चरक)। विगृह्य वक्ता—विगृह्य संभाषापद्धति के अनुसार सभा-समितियों में भाषण करने वाला। विगृह्यसंभाषक अपने पक्ष का स्थापन और मण्डन तथा प्रतिपक्ष का दूषण और खण्डन, छल, जाति, निग्रह स्थान इन उपायों के द्वारा इस प्रकार करता है कि प्रतिवादी हार जाता है। निग्रह के कुछ उपाय—श्रुतहीनं महता सूत्रपाठेनाभिभवेत्, विज्ञानहीनं पुनः कष्टशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमाविद्धदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः, प्रतिभाहीनं पुनर्वचनेनैकविधेनानेकार्थवाचिना, वचनशक्तिहीनमर्धोक्तस्य वाक्यस्याक्षेपेण, अविशारदमपत्रपणेन, कोपनमायासनेन, भीरुं वित्रासनेन, अनवहितं नियमनेनेति । एवमेतैरुपायैः परमवरमभिभवेच्छीघ्रम् ॥ (चरक, विमान ८)। व्यथितास्यगतिः—औष्ण्यादुष्णमुखाः प्रभूतविप्लुव्यङ्गतिलपिडकाः। (चरक)। समितिषु—समिति का अर्थ यहाँ पर सभा नहीं है, यह अर्थ ऊपर विगृह्य वक्ता में आ गया है। यहाँ पर समिति से युद्ध संग्राम अर्थ लेना चाहिए—अथ

समरे, मो सभाया मतिरिति । (अमरकोश)। दुर्निवारवीर्य — प्रारब्ध कार्य की दुष्करता देखकर भी उसमें बाज न आना यह वीर्य का अर्थ है—वीर्यमारब्धदुष्करकार्येष्वव्यावृत्तिर्मनसः । (चक्रदत्त टीका, चरक, विमान ८।८)। समर में शत्रु का अधिक बल देखने पर या युद्ध प्रारंभ होने के पश्चात् अपनी हार होने का समय आने पर धीरज न छोड़कर लड़ने वाला, तथा प्रसंग आने पर मर मिटने के लिए तैयार होने वाला। इन लक्षणों के सिवा अष्टांगहृदय में पित्त प्रकृति के निम्न लक्षण मिलते हैं—दयितमाल्यविलेपनमण्डनः सुचरितः शुचिराश्रितवत्सलः ॥ नारीणामनभिमतोऽल्पशुक्रकामः । धर्मद्वेषी । तनूनि पिङ्गानि चलानि चैषां तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि। क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि ॥

दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टकशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति ॥७१॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनीलकेशो
लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गसिंहघोषः ।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्
संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान् ॥७२॥
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः
स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः ।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां
ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः ॥ ७३ ॥
दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः
परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु ।
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं
गुरुमानकरश्च भवेत् स सदा ॥ ७४ ॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः ।
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ॥७५॥

(श्लेष्मप्रकृति के गुण—) दूर्वा, नील कमल, तलवार, कोमल नीम की पत्ती, सरकण्डा इनमें से किसी एक के वर्ण का, सुडौल, प्रियदर्शन, मधुर पदार्थों को पसंद करने वाला, कृतज्ञ, धीर, सहन करने वाला, लालच से रहित, बलवान् और वैर को अधिक काल तक पकड़ने वाला होता है ॥७१॥ सफेद नेत्रों का; स्थिर घुंघराले बहुत और काले केश वाला, धनसंपन्न मेघ, मृदङ्ग और सिंह के (समान गंभीर) ध्वनि वाला (श्लेष्मप्रकृति का मनुष्य) सोने पर कमल हंस चक्रवाक युक्त सुंदर सरोवरों को (स्वप्न में) देखता है ॥७२॥ नेत्रों के प्रान्त भागों में लाली होने वाला, (व्यायाम के कारण यथाप्रमाण शरीर की वृद्धि होने से) सुडौल शरीर का, स्निग्धकान्ति वाला, सत्त्वगुणयुक्त, क्लेश सहन करने वाला, (माता पिता गुरु तथा अन्य वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध) आदरणीय मनुष्यों का मान करने वाला मनुष्य कफप्रकृति का जानना चाहिए ॥७३॥ यह (कफप्रकृति का मनुष्य) शास्त्रों में दृढ़ विश्वास करने वाला, मित्र और धन को स्थिर रखने वाला, बहुत देर तक सोच विचार करके बहुत दान देने वाला, हमेशा निश्चित बात कहने वाला तथा गुरुओं का सम्मान करने वाला होता है ॥७४॥ कफप्रकृति के मनुष्य ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, सिंह, घोड़ा, हाथी, गौ, बैल, गरुड़ और हंस इनके समान स्वभाव में होते हैं ॥७५॥

वक्तव्य—निस्त्रिंश—तलवार। यह शस्त्र का उपलक्षण है। जिसके वर्ण में शस्त्र का तेज हो, ऐसा। कृतज्ञ—कृतं जानातीति कृतज्ञः । चिरग्राही दृढवैरश्च—ये दोनों मिलाकर अर्थ करना चाहिए—प्रसह्य न वहति दृढं चिरं च वैरम्। (अष्टांगहृदय)। One who can forgive but cannot forget. अतिनीलकेश —अति नील का विशेषण न समझकर केश का स्वतन्त्र विशेषण माना जाय—अतिनीलकेश। जिसके केश संख्या में बहुत और नीलापन लिये काले हों। अष्टांगहृदय में श्लेष्मप्रकृति के निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—श्लेष्मा सोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो... । क्षमावान्... वदति न निष्ठुरं च जातु। समदृढिरिन्द्रतुल्यधारः । स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो न च बाल्येऽप्यतिरोदनः । तिक्तकषायकटूष्णरूक्षमल्पं स भुङ्क्ते बलवांस्तथापि। दीर्घदर्शी। शाद्वो गंभीरस्थूललक्षः क्षमावानार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः। (शारीर ३)। आयुष्मन्तश्च भवन्ति। (चरक)।

द्वयोर्वा तिसृणां वाऽपि प्रकृतीनां तु लक्षणैः ।
ज्ञात्वा संसर्गजा वैद्यः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत् ॥ ७६ ॥

(मिश्रप्रकृति—) दो या तीनों प्रकृतियों के लक्षणों से (युक्त) प्रकृतियों को मालूम करके वैद्य (उन्हें) संसर्गज (मिश्र) निर्दिष्ट करे ॥७६॥

प्रकोपो वाऽन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते ।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥७७॥

(प्रकृति की निश्चलता—) प्रकृतियों का प्रकोप, अन्यथाभाव या क्षय स्वभाव से नहीं होता, परन्तु आयुष्य समाप्त होने वाले की प्रकृति का होता है ॥७७॥

वक्तव्य—प्रकोप—तरतमभेद से वृद्धि। जैसे, अगर किसी की प्रकृति साधारण वातिक हो तो तीव्र वातिक होना। अन्यथाभाव—विषमप्रकृति का परावर्तन समप्रकृति में, वातप्रकृति का पित्त या कफप्रकृति में, एकदोषज प्रकृति का द्विदोषज प्रकृति में, इस प्रकार प्रकृत्यन्तर होना। क्षय—तरतमभेद से कम होना। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि गर्भारंभ के समय त्रिदोषों के जिस साँचे में गर्भ की प्रकृति ढल जाती है, वही साँचा जन्म से मृत्यु के समय तक बना रहता है, उसमें कुछ भी फर्क नहीं होता और जब प्रकृति में फर्क होता है, तब यह अरिष्ट मरणसूचक चिह्न माना जाता है—शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत्। तत्त्वारिष्टं समासेन व्यासतस्तु निबोध मे ॥ (सुश्रुत, सूत्र० ३०)। शरीरं यस्य दीयते यस्य प्रकृतिः परिहीयते। सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ॥ (चरक, इन्द्रिय ६)। प्रकृतिः स्वभावः... ॥ (चक्रपाणिदत्त)। अर्थात् जिस मनुष्य की जो प्रकृति होती है, वह जन्म से मृत्यु तक एक-सी रहती है, उसमें परिवर्तन नहीं होता— मरक

१ शीघ्रस्वभावः ।

वातप्रकृतिर्न भवति, वातप्रकृतिः पित्तप्रकृतिर्न भवति समप्रकृतिर्वा ॥ (चक्रपाणि, चरक, सूत्र ७-४०)। अब प्रश्न यह उठता है कि जिनके आधार पर मनुष्यों की प्रकृति बनती है, वे त्रिदोष तथा जिनके आधार पर मनुष्यों का स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य निर्भर होता है वे त्रिदोष, एक है या भिन्न हैं ? इसका उत्तर यह है कि प्रकृतिदर्शक और स्वास्थ्यदर्शक त्रिदोष स्वरूप की दृष्टि से यद्यपि एक हैं तथापि निम्न कारणों से शरीर में इन दो अवस्थाओं को दर्शाने वाले त्रिदोष स्वतन्त्र होते हैं । (१) प्रकृतिगत त्रिदोष माता-पिता से मनुष्य में आते हैं, अर्थात् ये त्रिदोष आदिवलप्रवृत्त (Hereditary) होते हैं । स्वास्थ्यदर्शक त्रिदोष जन्म के पश्चात् सेवन किये हुए आहार-विहार से उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये त्रिदोष जन्मोत्तर होते हैं । (२) प्रकृति के वातादि दोष गर्भारम्भ से मृत्यु के समय तक स्थिर रहते हैं। इनके स्वभाव में कोई भेद नहीं होता, जिसके कारण प्रकृति भी जीवनभर एक-सी रहती है । स्वास्थ्यदर्शक वातादि दोष आहार-विहार, दिनमान और ऋतुमान के कारण हमेशा बदलते रहते हैं –वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् । (अष्टांगहृदय, सू० १) एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात् ॥ (सुश्रुत, सू० ६)। (३) स्वास्थ्यदर्शक दोषों की क्षयवृद्धि होकर रोग उत्पन्न होते हैं । परन्तु इनकी क्षयवृद्धि का परिणाम प्रकृतिगत दोषों पर नहीं दिखाई देता । जैसे, वात का चय किसी वातल प्रकृति के शरीर में होने पर उसमें वातक्षय के लक्षण दिखाई देते हैं, परन्तु उसकी वातल प्रकृति समप्रकृति नहीं होती । (४) जब किसी की प्रकृति में एक दोष का आधिक्य होता है, तब उसका स्वास्थ्य कुछ खराब रहता है—वातलाद्याः सदातुराः । और इनको अपना स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए जीवनभर उस दोष की दृष्टि से आहार-विहार रखकर रहना पड़ता है। परन्तु जब आहार-विहार के हीनमिथ्यातियोग से शरीरगत एकाध दोष वर्धित होकर रोग उत्पन्न होता है, तब उसके क्षयार्थ आहारविहारौषधियों का उचित उपयोग कुछ काल तक करने से धातुसाम्य अर्थात् आरोग्य प्राप्त हो जाता है और पश्चात् उस आहारविहारौषधि सेवन की आवश्यकता नहीं होती। (५) प्रकृतिगत वातादि दोष शरीर के उपादान कारण नहीं होते, परन्तु स्वास्थ्यजनक त्रिदोष शरीर के उपादान कारण होते हैं। चक्रपाणि चरक की टीका में इन सब बातों का समारोप निम्न प्रकार से करते हैं—दोषानुशायिना उल्वणवातादिभाविताऽव्यभिचारिणीति यावत् । देहप्रकृतिर्देहस्वास्थ्यमिति यावत् । एतेनैतेषां वातलादीनां मुख्यं स्वास्थ्यं नास्ति, किन्तर्हि उपचारस्वस्था एत इति दर्शयति । ननु गर्भादीयनेन शुक्रशोणितजीवानां संसर्गे यथाभूता वातादयः समा विकृता वा तथाभूतैव प्रकृतिर्भवति, सा च प्रकृतिर्यावज्जीवमनुवर्तते रिष्टं विना । तत्र यदा समप्रकृतेर्वातप्रकृतेर्वाऽऽक्षेपकादिर्वातविकारो भवति तदा वातस्य प्रकृतिभूतस्याधिक्यं भवत्येव, यदा च वातप्रकृतेः पित्तविकारो भवति, तदा वातप्रकृतेरन्यथाभावः पित्तप्रकृतिरेव भवति, यदा तु समप्रकृतेरन्यतरदोषक्षयो भवति प्राकृतस्वकर्महानिलक्षणस्तदासौ प्रकृतिक्षयो भवति । यदुक्तं दोषक्षयलक्षणे— कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम् । इति । अत्रोच्यते—प्रकृतिसमानरोगोत्पत्तौ न प्रकृतिभूतस्य वृद्धिः, किन्तर्हि हेत्वन्तरजनितस्य वातादेस्तत्र विकारकारित्वम् । प्रकृतिभूतस्तु दोषस्तत्रोपदर्शको भवति । यदुक्तम्—कालदूष्यप्रकृतिर्दोषतुल्यो हि सन्ततम् । निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ॥ इति । वातप्रकृतेस्तु पित्तविकारोत्पत्तौ वातः प्रकृतिभूतस्तथैव करचरणस्फुटनादिकं कुर्वन्नास्ते, न तस्यागन्तुना पित्तविकारेण किञ्चित् क्रियते, वातादीनां तु स्वमानात्क्षयः प्राकृतकर्महानिलक्षणो न शुक्रशोणितसंसर्गकालजस्य प्रकृतिभूतस्य दोषस्य बीजभूतस्य क्षयमावहतीति न प्रकृतिभूतदोषक्षयः । यदि वा, प्रकृतेः प्रकोपान्यथाभावक्षया न भवन्तीति प्रकृतित्वेनेति ब्रूमः । तेन समप्रकृतिर्वातप्रकृतिर्न भवति, वातप्रकृतिः पित्तप्रकृतिर्न भवति समप्रकृतिर्वा; विकारावस्था तु हीनाधिकवातत्वादिलक्षणा भवतीत्यर्थः ॥ (चरक, सूत्र ७।४०)।

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ।
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥ ९८ ॥

विष से उत्पन्न हुआ कीड़ा जैसे (अपने शरीरगत) विष से बाधायुक्त नहीं होता, वैसे ही (शरीरगत) प्रकृतियाँ मनुष्य को बाधाएँ नहीं पहुँचा सकतीं ॥ ७८ ॥

वक्तव्य—विषजातः—विषकृमिजातः । विषैले कृमि से उत्पन्न हुआ अर्थात् विषैला कीड़ा—विषैरेव विषकृमेः । (अष्टांगहृदय, सूत्र १)। कुछ लोग अश्ववैद्यक के निम्न-श्लोकाधार पर—सर्वान् प्राणभृतो हन्ति नूनं कायगतं विषम् । अस्मिंश्चापि समुत्पन्ना दृश्यन्ते कृमयो यथा । तथाच विषमो दोषः प्रकृतिं नातिबाधते ॥ विषजात का अर्थ 'विषमय द्रव्य में उत्पन्न हुआ' (Bred in a poisonous medium) ऐसा करते हैं, परंतु यह अर्थ अनुचित है। विपद्यते—विपत्तियुक्त या शारीरिक मानसिक पीड़ायुक्त होना। इससे मृत्यु का अर्थ अभिप्रेत नहीं है। न बाधितुम्- महर्षि सुश्रुत के अनुसार दोषोत्कटता होने पर भी सातों प्रकृतियाँ (विकृतियाँ नहीं) होती हैं । इसलिए इस पदसमूह का अर्थ 'कुछ भी पीड़ाएँ नहीं कर सकतीं' ऐसा किया गया है। परन्तु चरकाचार्य समत्रिदोष प्रकृति के सिवा सब को आतुर समझते हैं—वातलाद्याः सदातुराः । दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥ (चरक, सूत्र ७)। इस वचन के आधार पर इस पदसमूह का अर्थ 'किंचित् या ईषत् (जरा-सी) पीड़ा देते हैं' ऐसा अर्थ किया जा सकता है और डल्हणाचार्य भी अपनी टीका में ऐसा ही अर्थ करते हैं—वातादिहेतुजाः प्राणिकाया वातादिजेन स्फुटितकरचरणादिकेन दोषेण स्वेददौर्गन्ध्यादिना च किञ्चिदेव बाध्यन्ते ॥ इस श्लोक का यह अर्थ, प्रकृतिगत दोषों की उत्कटता का जन्म के पश्चात् स्वास्थ्य पर क्या परिणाम होता है, इस दृष्टि से किया गया है। इस श्लोक का और एक अर्थ, गर्भारंभ पर प्रकृतिगत दोषोत्कटता का क्या परिणाम होता है, इस दृष्टि से किया जा सकता है और वही अर्थ वाग्भटाचार्य, अरुणदत्त, इन्दु, चक्रपाणिदत्त अपने ग्रंथ में करते हैं। उसका अभिप्राय यह है। 'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते' यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है, और इसी के अनुसार केवल समत्रिदोष शुक्रशोणित संयोग गर्भ में परिणत हो सकता है। और दोषोत्कट संयोग वैकारिक होने के कारण गर्भ में परिणत नहीं हो सकता । परन्तु यहाँ पर जो सात

प्रकार की प्रकृतियाँ वर्णन की गई हैं, उनमें छः प्रकृतियों में दोषोत्कटता होती है। इसका अर्थ यह है कि शुक्र-शोणित संयोग में दोषोत्कटता होने पर भी उसका वैकारिक परिणाम गर्भ पर बहुत कम होता है। आयुर्वेदसिद्धान्तविरोधी यह कार्य कैसे होता है, इसको समझाने के लिए विषकृमि का दृष्टान्त इस श्लोक में दिया गया है। इस दृष्टान्त के अनुसार भी दोषोत्कटता में गर्भोत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न दो मत मिलते हैं। (१) इसका अभिप्राय यह है कि सर्प, वृश्चिकादि विषमय प्राणियों के बीज में विषांश होने पर भी उनकी उत्पत्ति में कोई विकृति नहीं उत्पन्न होती, वैसे ही माता-पिता के शुक्रशोणित संयोग में उनकी प्रकृति से आये हुए दोषों की उत्कटता से गर्भ की वृद्धि पर कुछ भी घातक परिणाम नहीं होता, केवल दोषाधिक्य के अनुसार गर्भ की प्रकृति बनती है, क्योंकि 'यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते'। (चरक, शा० ३) यह भी आयुर्वेद का एक सिद्धान्त है—गर्भो तु श्च यथैवाशङ्क्य समादधाति। यथा—ननु, स्वभावत शुद्ध बीज कर्मणा वा समाधातु गर्भं निष्पादयति, अनिलादिदोषदुष्ट तु गर्भजननाय न समर्थमिति शुक्रशोणितशुद्धावुक्तम्, तत्कथमुत्कटेन दोषेण प्रकृतिरिति? उच्यते—न हि सर्वमेव बीजं दूषितं किं तर्हि बीजावयवो दूषित, न च अवयवगतदोषेण गर्भप्रतिबन्धो जात्यन्धमूकादेर्गर्भस्य दर्शनात्, तस्माद् यदांशो बीजस्य दुष्टो भवति तत्कार्यस्यैव गर्भावयवस्य विकृतिरभावो वा भवति, यथा दृष्टया रम्भके बीजभागे दुष्टे जात्यन्धो गर्भो भवति न तु गर्भ एव न भवति, तथा दोषाख्ये बीजभागे दुष्टे तत्कार्यस्यैव गर्भशरीरभागस्य समधातोरपेक्षया विकृति स्फुटितकरचरणादिलक्षणा भवति न तु गर्भव्याघात। तदुक्तम्— शुद्ध स्वभावकमभ्या वाताद्यैर्दुष्टमशन। दुष्ट बीजार्थकृद्बीज तत्र प्रकृतिरुत्तरम्।' इति। (सुश्रुत, डल्हण टीका, शा० ४-६३)। (२) इसका अभिप्राय यह है कि दोषोत्कटता गर्भजन्म के समय से याने सहज होने के कारण घातक नहीं होती, जैसे विषकृमि का विष सहज होने के कारण उसके घातक नहीं होता है—न च वाच्य प्रकृतिभूताना वातादीना दूषणात्मकाना कथ न शरीरबाधकत्वम्, सहजातत्वेन तथाविधविनाशविकाराजनकत्वात्। तदुक्त सुश्रुते—विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते। तद्वत् प्रकृतिभिर्देहस्तज्जातत्वान्न बाध्यते॥ इति। (चक्रपाणि, चरक, सूत्र ७-४०)। इन दो मतों के सिवा और दो मत मिलते हैं जिनका संबंध इस श्लोक के दृष्टान्त के साथ नहीं है, परन्तु जो दोषोत्कटता होने पर भी गर्भोत्पत्ति का समर्थन करते हैं। (१) डल्हण का मत है कि दोषोत्कटता प्राकृत और वैकृत करके दो प्रकार की होती है। प्रकृति की उत्पत्ति में प्राकृत उत्कटता होती है इसलिए गर्भ का घात नहीं होता—द्विविधा ह्युत्कटा वातादय प्राकृता वैकृताश्च, तत्र प्राकृता सप्तविधाया प्रकृतेर्हेतुभूता शरीरैकजन्मान वैकृताश्च गर्भव्याघातका। शा० ४।६३)। वाग्भटाचार्य भी अष्टांगसंग्रह (शा० ८) में अन्य आचार्यों का यही मत उद्धृत करते हैं। (२) चक्रपाणिदत्त लिखते हैं कि उत्कटता हीन मध्योत्तम करके तीन प्रकार की होती है। प्रकृति के समय जो उत्कटता होती है वह हीन होने के कारण गर्भ की घातक नहीं होती—वातादिप्रकोपाणामेव हीन मध्योत्तमाना नानाशक्तित्वात् प्रबला वातादयो विनाशयन्ति, हीनास्तु विकृतिमात्र जनयन्ति। (चरक, सू० ७-४०)।

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः ॥७९॥

(पांच भौतिक प्रकृतियाँ—) कई आचार्य आयुर्वेद में मनुष्यों की प्रकृति को भौतिक (भी) कहते हैं। वायु, अग्नि और जल से तीन (प्रकृतियाँ होती हैं), परन्तु वे (ऊपर वात, पित्त और कफ प्रकृति में) वर्णित हो चुकी हैं। (शेष जो दो प्रकृतियाँ उस पर वर्णित नहीं हुई हैं उनमें से) पार्थिव (प्रकृति का मनुष्य) मजबूत और बड़े शरीर का तथा क्षमाशील होता है और नाभस (प्रकृति का मनुष्य) पवित्र (आचरण का), दीर्घायु (और मुख-नासादि) बड़े छिद्रों का होता है ॥ ७९ ॥

वक्तव्य—भौतिकी—आकाशादि पंच महाभूतों की उत्कटता के अनुसार पार्थिव, नाभस, आप्य इत्यादि प्रकार की। यहाँ पर केवल पाँच प्रकार वर्णन किये हैं, परन्तु दोषों के अनुसार इनकी संमिश्र प्रकृतियाँ हो सकती हैं—अन्ये तु सा चैकशो द्विशस्त्रिशश्चतुर्भिर्वा भूतै प्रवर्तमाना बहुधा सजायते इति वदन्ति—'एकैकेन वदन्ति पंच, दश तु द्वाभ्यां, त्रिभिस्तावती भूतै पञ्च चतुर्भिरेव भिषजस्त्वेका समस्तैरपि। एकत्रिंशतमत्र भूमिसलिलस्वाहाप्रियस्पर्शनाकाशैश्च प्रकृतीर्गुणैरपि पुन प्राहु स्म सप्ताऽपरा' इति। (डल्हण)।

त्रिदोष और पंच महाभूतों के अनुसार प्रकृतियों का निवरण करके अब त्रिगुणों के अनुसार प्रकृतियों का विवरण किया जाता है। त्रिगुणों में सत्त्व उत्तम, रजस मध्यम और तम हीन होता है—तत्र शुद्धम् (सत्त्वम्) अदोषमाख्यात कल्याणांशत्वात्। राजस सदोषमाख्यात रोषांशत्वात्। तामसमपि सदोषमाख्यात मोहांशत्वात्॥ (चरक, शा० ४)। त्रिगुणों के अनुसार भी प्रकृति के अनेक भेद होते हैं। पीछे प्रथम अध्याय के १९ वें सूत्र में त्रिगुणों के जो धर्म बताये गये हैं वे ही धर्म तद्गुणविशिष्टप्रकृति में मिलते हैं और उनके संसर्ग से मिश्रगुण प्रकृतियां बन जाती हैं। इसलिए यहां पर उनका वर्णन नहीं किया गया है। यहां पर केवल सात्त्विकादि प्रकृति के कुछ विशेष प्रकार (Types) वर्णन किये जा रहे हैं—तेषा तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसङ्ख्येय तरतमयोगाच्छरीरयोनिविशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च। तस्मात् कतिचित् सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्याम। (चरक, शा० ४)। अब प्रथम सात्त्विक प्रकृति के सात प्रकार वर्णन करते हैं।

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम्।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥ ८० ॥

(ब्रह्मकाय के लक्षण—) पवित्रता, आस्तिकबुद्धि, वेदों का अभ्यास करना गुरुजनों का पूजन, अतिथियों का सत्कार करना और यज्ञ करना ये ब्रह्मकाय के लक्षण हैं ॥ ८० ॥

माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥ ८१ ॥

(माहेन्द्रकाय के लक्षण—) बड़प्पन, शूरता, आज्ञा (करने का स्वभाव), हमेशा शास्त्रानुसार आचरण करने की बुद्धि, नौकरों का पालनपोषण (करने का शील) ये

माहेन्द्रकाय के लक्षण हैं ॥ ८१ ॥

शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥ ८२ ॥

(वारुणकाय के लक्षण—) ठंडे पदार्थों के सेवन में प्रेम, सहन करने की शक्ति, नेत्रों का भूरापन, केश कपिल वर्ण के होना और मधुरभाषण करने का स्वभाव ये वारुणकाय के लक्षण हैं ॥ ८२ ॥

मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसंचया।
महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं कायलक्षणम् ॥ ८३ ॥

(कौबेरकाय के लक्षण—) मध्यस्थता (हर एक काम में पक्षविरहित Impartial) होकर बोलना या काम करना, किं वा—हर एक बात में मध्यम मार्ग (golden mean) का अवलम्बन करने का स्वभाव, किं वा—जहाँ पर आवश्यक हो वहाँ पर मध्यस्थ (arbiarator) का काम करने का स्वभाव, किं वा—सुखदुःखादि द्वन्द्वों से दूर (indifferent) रहने का स्वभाव), सहिष्णुता, धनोपार्जन और संचय (करने का स्वभाव), महाप्रसवशक्तिसंपन्नता (किसी काम) के पड़ने पर उसमें सफलता प्राप्त किये बगैर न छोड़ना, किं वा—(अधिक प्रजोत्पत्ति की शक्ति होना) ये कौबेरकाय के लक्षण हैं ॥ ८३ ॥

गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता।
विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम् ॥ ८४ ॥

(गान्धर्वकाय के लक्षण—) सुगन्धी पुष्पमाला (तथा तेल, इत्र इत्यादि) का शौक, नाच, गाना बजाना इत्यादि में प्रवीणता और भ्रमणशीलता ये गान्धर्व काय के लक्षण हैं ॥ ८४ ॥

प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमान् शुचिः।
रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥ ८५ ॥[1]

(याम्यकाय के लक्षण—) युक्त कार्य करने वाला, अश्रान्त उत्साह का (of indefatigable energy), निर्भय, (उत्तम) स्मरणशक्ति का, स्वच्छ रहने वाला, राग, मोह, मद, द्वेष इन से विमुक्त (मनुष्य) याम्यसत्त्व का होता है ॥ ८५ ॥

जपव्रतब्रह्मचर्यहोमाध्ययनसेविनम्।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः ॥ ८६ ॥

(ऋषिकाय के लक्षण—जप, व्रत, ब्रह्मचर्य, होम (अग्निहोत्र), अध्ययन (स्वाध्याय) सेवन करने वाले और आत्मज्ञान और विज्ञान से संपन्न मनुष्य को ऋषिसत्त्व जानते हैं ॥ ८६ ॥

सप्तैते सात्त्विकाः काया, राजसांस्तु निबोध मे ॥ ८७ ॥

ये (ब्रह्मकाय से लेकर ऋषिकाय तक) सात काय सात्त्विक होते हैं। अब राजसकाय मुझसे समझ लो ॥ ८७ ॥

वक्तव्य—सात्त्विक—इन सातों में शुद्धता और कल्याणांश होने के कारण ये सात्त्विक कहलाते हैं। इनमें ब्राह्मकाय सर्वश्रेष्ठ है—इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं विद्यात् कल्याणांशत्वात्; तत्संयोगात्तु ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत् ॥ (चरक)

ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शूरं चण्डमसूयकम्।
एकाशिनं चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम् ॥ ८८ ॥

(आसुरकाय के लक्षण—) ऐश्वर्ययुक्त, भयङ्कर, शूर, क्रोधी, असूयक, अकेला खाने वाला, और औदरिक इस प्रकार के सत्त्व को आसुर जानना चाहिए ॥ ८८ ॥

वक्तव्य—असूयक—दूसरे का उत्कर्ष सहन न करने का जिसका स्वभाव हो ऐसा; किं वा—दूसरे के गुणों पर भी दोषारोप करने वाला—असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि। (अमरकोश)। एकाशी—औरों को न देकर अकेला खाने वाला। औदरिक—जिस के मन में खाने के सिवा और कोई विषय होता ही नहीं, अर्थात् पेटू या घस्मर—सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः। (विक्रमोर्वशीय ३)।

तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा।
विहाराहारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ॥ ८९ ॥

(सर्पकाय के लक्षण—) तीक्ष्ण (घातक), परिश्रमी, (अक्रुद्धावस्था में) डरपोक, क्रोधी, कपटी, विहार और आहार में चपल मनुष्य को सर्पसत्त्व जानते हैं ॥ ८९ ॥

वक्तव्य—भीरु—अक्रुद्धावस्था में डरपोक और क्रुद्धावस्था में शूर—क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुम्। (चरक)। अक्रुद्धावस्था में सर्प की भीरुता और क्रुद्धावस्था में शूरता सुप्रसिद्ध है—व्याघ्रे च महदाक्तत्वं सर्पे चैव महद्भयम्। पिशुने चैव दारिद्र्यं तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ (सुभाषित)। ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते। प्रायः स्वमहिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते जन्तुः ॥ (शाकुन्तल)। विहाराहारचपलम्—इस के बदले 'विहाराचारचपलम्' ऐसा भी पाठभेद है। यह पाठभेद अच्छा है। सर्प के बारे में आचार का कोई संबंध नहीं होता। आहार का संबंध जरूर होता है। साँप घूमने फिरने में तथा खाने में बड़ा तेज होता है, इस में कोई संदेह नहीं है। चरक में भी सार्पकाय के वर्णन में 'विहाराहारपर' ऐसा शब्द-प्रयोग मिलता है।

प्रवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च।[1]
अमर्षणोऽनवस्थाय्यं शाकुनं कायलक्षणम् ॥ ९० ॥

(शाकुनकायलक्षण—) अत्यन्त मैथुनपरायण, निरन्तर खाने वाला, असहिष्णु, चंचल चित्त वाला ये पक्षिकाय के लक्षण है ॥ ९० ॥

वक्तव्य—कामपरायणता, उदरपरायणता और असहिष्णुता इन गुणों का पता चिड़ियों या कबूतरों के ऊपर ध्यान देने से झट से लग जाता है। भर्तृहरि लिखते हैं—सिंहो बली द्विरदशूकरमांसभोजी संवत्सरेण रतिमेति किलैकवारम्। पारावतः खरशिलाकणमात्रभोजी कामी भवत्यनुदिनं वद कोऽत्र हेतुः ॥ यहाँ पर पारावतशब्द व्यापकदृष्टि से पक्षिजाति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता।
भृशमात्मस्तवश्चापि राक्षसं कायलक्षणम् ॥ ९१ ॥[2]

(राक्षसकाय के लक्षण—) एकान्तग्राहिता, भीषणता, असूया, अधर्माचरण, अत्यन्त आत्मश्लाघा ये राक्षसकाय के लक्षण हैं ॥ ९१ ॥

वक्तव्य—एकान्तग्राहिता—शत्रु अकेला होने पर उस पर आक्रमण करके पकड़ने का स्वभाव, किंवा किसी विषय का पूर्ण विचार न करके अपने मत को पकड़कर रहने का स्वभाव। असूया—परोत्कर्ष असहिष्णुता, किंवा परगुण

१ रागमोहभयद्वेषैर्वर्जितो यमसत्त्ववान्।

१ अवद्धकामसेवी। २ भृशमात्मं तमश्चापि।

असहिष्णुता—असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि। (अमरकोश)।

उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा।
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम्॥ ९२॥

(पैशाचकाय के लक्षण—) उच्छिष्टाहार सेवन (का स्वभाव), क्रोध, साहस करने का शौक, स्त्रीलम्पटता, निर्लज्जता ये पैशाचकाय के लक्षण हैं॥ ९२॥

वक्तव्य—साहसप्रियता—चौर्य, हत्या इत्यादि पातक कर्म करने का शौक।

असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम्।
लोलुपं चाप्यदातारं प्रैतसत्त्वं विदुर्नरम्॥ ९३॥

(प्रेतसत्त्व के लक्षण—) विभाग न करने वाला, आलसी, दुःख करने वाला, असूया करने वाला, लोभी, दान न करने वाला, (ऐसे) मनुष्य को प्रेतसत्त्व समझते हैं॥ ९३॥

वक्तव्य—असंविभाग—जो अपनी कोई चीज दूसरे को देने के लिए तैयार नहीं होता है, ऐसा। प्रेत—पिशाच जाति की एक योनि।

षडेते राजसाः कायाः, तामसांस्तु निबोध मे॥ ९४॥

ये (आसुर से प्रेतकाय तक) राजस काय हैं। अब तामसकाय मुझसे श्रवण करो॥ ९४॥

दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता।
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः॥ ९५॥

(पशुकाय के लक्षण—) बुद्धिहीनता, (बुद्धि की) मन्दता (किंवा कुटिलता), नींद में नित्य कामुक स्वप्न-दर्शन और निराकरिष्णुता ये पाशवी (काय के) गुण हैं॥ ९५॥

वक्तव्य—निराकरिष्णुता—दूसरे के रास्ते में विघ्न उत्पन्न करने की प्रवृत्ति, किंवा दूसरे की चीज छीन लेने की प्रवृत्ति, किंवा स्मृतिहीनता।

अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता।
परस्पराभिमर्दश्च मात्स्यसत्त्वस्य लक्षणम्॥ ९६॥

(मत्स्यसत्त्व के लक्षण—) चञ्चलता, मूर्खता, भीरुता, जल से प्रेम, आपस में लड़ना-झगड़ना ये मत्स्यसत्त्व के लक्षण हैं॥ ९६॥

एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः।
वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः॥ ९७॥

(वानस्पत्यकाय के लक्षण—) एक स्थान में रहने की इच्छा करने वाला, नित्य खाने पीने में लगा हुआ, सत्त्व, धर्म, काम और अर्थ इनसे विरहित मनुष्य वानस्पत्य होता है॥ ९७॥

वक्तव्य—सत्त्वधर्मकामार्थवर्जित—सत्त्वगुण से मोक्ष मिलता है—ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था। (गीता)। इसलिए सत्त्व शब्द मोक्षपर समझना उचित है। सत्त्वादिवर्जित का अभिप्राय यह है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये जो मनुष्यों के चार पुरुषार्थ होते हैं इनको प्राप्त करने की आकांक्षा जिसमें न हो, ऐसा मनुष्य।

इत्येते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता वै तामसास्तथा।
कायानां प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत्॥ ९८॥

इस तरह ये तीन प्रकार के तामसकाय भी वर्णन किये हैं। (रोगियों में उपर्युक्त) कायों की प्रकृति को (लक्षणों से) देखकर उसके अनुसार (वैद्य) चिकित्सा करे॥ ९८॥

महाप्रकृतयस्त्वेता रजः सत्त्वतमः कृता।
प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग्भिषक् ताश्च विभावयेत्॥ ९९॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भव्याकरणं शारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

सत्त्व, रज और तमोगुण से बनी हुई ये महाप्रकृतियाँ लक्षणों के साथ भली भाँति वर्णन की गई हैं। (चिकित्सा के समय) वैद्य इन (प्रकृतियों) का सूक्ष्मता से विचार (करके चिकित्सा) करे॥ ९९॥

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने गर्भव्याकरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः॥ ४॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथातः शरीरसंख्याव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ १॥

अब इसके बाद शरीरसंख्याव्याकरण नामक शारीर का विवरण करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था॥ १॥

वक्तव्य—शरीरसंख्याव्याकरण—शरीर के संपूर्ण अंग-प्रत्यंगों की संख्या का विवरण या विस्तार जिसमें किया गया है, वह अध्याय। प्रथम चार और अन्तिम पाँच अध्याय शारीरस्थान के अध्याय होने के कारण यद्यपि शारीरिक कहलाते हैं तथापि आधुनिक परिभाषा में जिसको शारीरविज्ञान या अनाटोमी (Anatomy) कहते हैं उसका विवरण चतुर्थ अध्याय के प्रारंभिक भाग को छोड़कर और किसी अध्याय में नहीं किया गया है। अनाटोमी का योगार्थ है विच्छेदन, और रूढार्थ है शवविच्छेदन से प्राप्त हुआ शरीर के अंग-प्रत्यंगों का ज्ञान। इस अध्याय में शवविच्छेदन (Dissection) का महत्त्व वर्णन करके उसके आधार पर प्राप्त हुआ शरीर के अंग प्रत्यंगों का विवरण मिलता है, इसलिए शरीरसंख्याव्याकरण का अंग्रेजी उल्था Anatomy of the body कर सकते हैं। इस अध्याय में वर्णन किया हुआ मर्त्यशरीर का ज्ञान अत्यन्त संक्षिप्त और एक दृष्टि से अपर्याप्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसका एक कारण यह है कि आयुर्वेदज्ञ ऋषि उस समय के ज्ञानविज्ञान की स्थिति के अनुसार शरीर के तत्त्व, आत्मा, मन इत्यादि अवान्तर विषयों को शारीरविज्ञान में अधिक महत्त्व देते थे। चरक-संहिता के शारीरस्थान के प्रारंभिक छः अध्यायों में इन्हीं विषयों का विवरण किया गया है। सुश्रुतसंहिता के शारीर की स्थिति अनाटोमी की दृष्टि से चरक से बहुत कुछ अच्छी है। इसलिए सुश्रुत शारीर में श्रेष्ठ (शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः) माना गया है। दूसरा कारण यह है कि प्राचीन काल में ग्रंथ सूत्ररूप में लिखने की पद्धति थी और अधिक ज्ञान गुरु से प्राप्त किया जाता था। भारतवर्ष में जब शवविच्छेदन की प्रथा जारी थी, तब आयुर्वेद के विद्यार्थियों का शारीर का ज्ञान इस ग्रंथ को पढ़कर प्राप्त हुए शारीरज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक और अच्छा था। शवविच्छेदन की परंपरा नष्ट होने पर शारीरज्ञान भी कम हुआ तथा ग्रंथ में शारीरज्ञानाभाव के कारण कई दोष भी प्रविष्ट हो गये।

इसलिए इन ग्रंथों के आधार पर प्राचीन काल के शारीर ज्ञान की इयत्ता निश्चित करना उचित नहीं है।

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते। तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति; एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा 'शरीरम्' इति संज्ञां लभते। तच्च षडङ्गं—शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति ॥२॥

(गर्भ और शरीर—) गर्भाशय में स्थित, आत्मा, प्रकृति और विकारों से युक्त शुक्र और शोणित 'गर्भ' कहलाता है। चेतनायुक्त उस गर्भ में वायु विभजन पैदा करती है, तेज पाचन करता है, जल क्लिन्नता पदा करता है, पृथिवी कठिनता करती है और आकाश आकारवृद्धि करता है। इस प्रकार परिवर्धित हुआ वह गर्भ जब हाथ, पाँव, जिह्वा, कान, नितम्ब इत्यादि अंगों से युक्त होता है तब 'शरीर' संज्ञा प्राप्त करता है। वह शरीर षडंग होता है। जैसे—चार शाखाएँ, पाँचवाँ धड़ और छठा शिर ॥२॥

वक्तव्य—आत्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितम्—पुरुष, अष्ट प्रकृतियाँ और षोडश विकार इनसे अभिव्याप्त। वायुर्विभजति इत्यादि—वालाग्रदशसहस्रांशसम सूक्ष्म जीव शरीर में कैसे परिवर्धित होता है, इसकी प्रक्रिया इस सूत्र में वर्णन की गई है। इसकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—तं वायुर्विभजति दोषधातुमलाङ्गप्रत्यङ्गविभागेन, तेज एनं पचति रूपाद्रूपान्तरेणावस्थानं प्रापयति, आपः क्लेदयन्ति, विभागपरिणामकारिणोरनिलानलयोः शोषणेऽप्यार्द्रतां जनयन्ति, पृथिवी संहन्ति, अद्भिः क्लिन्नमपि कठिन मूर्तिमत् करोति, आकाशं विवर्धयति अनिलानलविदारितस्रोतसामाध्मापनेनोर्ध्वमधस्तिर्यग्विवर्धितमवकाशदानेन विवर्धयति॥ आधुनिक परिभाषा के अनुसार इस प्रक्रिया का वर्णन निम्न प्रकार से कर सकते हैं—संयुक्त शुक्रशोणित प्रारम्भ में केवल एक कोशा होती है। इस कोशा से विभाजन के (Segmentation) द्वारा अनन्त कोशाओं का मनुष्यशरीर बनता है। इन से पोषक स्तर (Trophoblast), बाह्यस्तर (Ectoderm), मध्यस्तर (Mesoderm), अन्तःस्तर (Entoderm) ये स्तर उत्पन्न होते हैं। यह विभाजन का कार्य वायु के द्वारा होता है। पश्चात् इन तीन स्तरों से शरीर के विविध प्रत्यंग और धातु बनते हैं। यह कार्य तेज करता है। इनमें जल का संचय लसिका की उत्पत्ति और आर्द्रता जल के द्वारा उत्पन्न होती है। उत्पन्न होने वाले विविध धातुओं और प्रत्यंगों में कठिनता या मूर्तता पृथिवी के द्वारा होती है और आशय, स्रोत, वाहिनियाँ इत्यादि शरीर के भीतर जो अवकाश या रिक्त स्थान होते हैं वे आकाश के कारण होते हैं। हस्तपाद इत्यादि—इसका अभिप्राय यह है कि जब गर्भ में इन विविध अंगों की उत्पत्ति होकर उसको मनुष्य का आकार प्राप्त होता है, तब। शिर—ग्रीवा के साथ शिर। गर्भ और शरीर—गर्भाधान से प्रसूति के समय तक गर्भाशय में जो जीव होता है, उसके लिए वृद्धि के अनुसार ये दो नाम दिये गये हैं। गर्भ तब तक कहना चाहिए, जब तक उसमें मनुष्य का आकार प्राप्त न हुआ हो। इसकी मर्यादा तीन महीने की होती है—तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति। (सुश्रुत, शा० ३)। इसका अभिप्राय यह है कि तीन महीने तक गर्भाशयस्थ जीव को 'गर्भ' कहना चाहिए और चौथे महीने से उसको 'शरीर' कहना चाहिए। व्यवहार में इस परिभाषा का उपयोग बहुत कम होता है। प्रायः सभी अवस्थाओं के लिए गर्भशब्द का ही प्रयोग होता है। अँग्रेजी में भी इस प्रकार एम्ब्रिओ (Embryo) और फीटस (Foetus) करके दो शब्द प्रचलित हैं, जिनमें एम्ब्रिओ तीन महीने तक और फीटस चौथे महीने से पश्चात् प्रयुक्त होता है—The term foetus is usually applied to the embryo after it has acquired something of its final shape, that is, at about the third month. *Introduction to sexual physiology by Marshall.* जिस लक्षण के ऊपर एम्ब्रिओ फीटस कहलाता है, उसी लक्षण के आधार पर आयुर्वेद में गर्भ शरीर कहलाता है, यह चिन्त्य है। इसलिए गर्भ का पर्याय एम्ब्रिओ और शरीर का पर्याय फीटस समझना उचित है।

अतः परं प्रत्यङ्गानि वक्ष्यन्ते—मस्तकोदरपृष्ठनाभिललाटनासाचिबुकबस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः। कर्णनेत्रभ्रूशङ्खांसगण्डकक्षस्तनवृषणपार्श्वस्फिग्जानुबाहूरुप्रभृतयो द्वे द्वे, विंशतिरङ्गुलयः, स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि, एष प्रत्यङ्गविभाग उक्तः ॥३॥

(प्रत्यङ्गविभाग—) इसके पश्चात् प्रत्यङ्ग कहे जाते हैं—सिर, उदर, पीठ, नाभि, माथा, ठोड़ी, मूत्राशय, ग्रीवा ये एक एक; कान, आँख, भौंह, कनपटी, कन्धा, गाल, काँख, स्तन, वृषण, पार्श्व, नितम्ब, घुटना, बाहु, जाँघ इत्यादि दो दो; बीस अंगुलियाँ; आगे कहे जाने वाले स्रोतस यह प्रत्यङ्गों का विभाग कहा गया है ॥३॥

वक्तव्य—प्रत्यङ्ग—दूसरे सूत्र में शरीर के छः बड़े विभाग या अंग बताये गये थे। इस सूत्र में उन अंगों के छोटे छोटे अवयव बताये जा रहे हैं। इसलिए ये छोटे अवयव प्रत्यंग कहलाते हैं—अवयवमवयवं प्रति योऽयवस्तत्प्रत्यङ्गमुच्यते। (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय, शारीर ३)। ये सब प्रत्यङ्ग शरीर बाह्यभागस्थ विभाग हैं, इसको ध्यान में रखना चाहिए। इनसे आभ्यन्तरीय अङ्गों का बोध नहीं होता है। अंग्रेजी में इस प्रकार के प्रत्यङ्ग Surface regions कहलाते हैं। मस्तक—सिर का उच्च मण्डलाकार भाग, जो टोप या पगड़ी से ढक जाता है Roof of the head। उदर—पेट (Stomach) के सामने का पृष्ठभाग Gastric region। नाभि—नाभि के आसपास का कुछ विभाग Umbilical region। ललाट—आँखों के ऊपर का केशमर्यादा तक का केशविरहित भाग Forehead जहां पर प्रत्येक व्यक्ति का भविष्य लिखा रहता है, ऐसी कल्पना है—लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः॥ (हितोपदेश)। बस्ति—बस्तिप्रदेश Umbilical region। स्तन—स्तनप्रदेश Mammary region। पार्श्व—पार्श्वप्रदेश Lateral regions। स्फिग्—नितम्बप्रदेश Gluteal region। स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि—स्रोतस का अर्थ नौवें अध्यायोक्त प्राणोदकान्न-

वाही स्रोतस किया जाता है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है यहाँ पर प्रत्यङ्गों में केवल शरीर के बाह्य भाग पर स्थित प्रत्यङ्गों का ही उल्लेख है, भीतरी प्रत्यङ्गों का नहीं। इसलिए ये वक्ष्यमाण स्रोतस इस प्रकार के ही होने चाहिएँ। इस अध्याय में आगे नौवें सूत्र में श्रवण नयनादि बहिर्मुख स्रोतस वर्णन किये हैं। ये स्रोतस यहां पर अभिप्रेत हैं। स्रोतस का अर्थ द्वार या छिद्र भी होता है—स्रोतांसि द्वाराणि छिद्राणि। (राजनिघण्टु)। इसके अनुसार 'स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि' का अर्थ 'आगे इसी अध्याय के नौवें सूत्र में कहे जाने वाले शरीर के श्रवणनयनादि नवद्वार' ऐसा करना चाहिए।

तस्य पुनः संख्येयानि—त्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयमाशया अन्त्राणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि कूर्चा रज्जवः सेवन्यः सङ्घाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च ॥ ४ ॥

फिर उस (प्रत्यङ्गविभाग) के गणनीय (अवयव ये हैं) त्वचाएँ, कलाएँ, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय, आशय, अन्त्र, वृक्क, स्रोतस, कण्डरा, जाल, कूर्चा, रज्जु, सेवनी, संघात, सीमन्त, अस्थियाँ, सन्धियाँ, स्नायु, पेशियाँ, मर्म, सिराएँ, धमनियाँ और योगवह स्रोतस्॥४॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में शरीर के पृष्ठभाग के विविध विभाग बतलाये गये हैं। इस सूत्र में इन विभागों के पिछे शरीर के भीतर जो अवयव मिलते हैं, उनकी गणना कर रहे हैं। पिछले सूत्र में वर्णित प्रत्यङ्गों को बाहर से देख सकते हैं, परन्तु इस सूत्रगत अवयवों को देखने के लिए शवच्छेदन की आवश्यकता होती है। तस्य—प्रत्यङ्गविभागस्य। संख्येय—गणना करने योग्य अर्थात् नामनिर्देश करने योग्य या महत्त्व के योग्य। इनके अतिरिक्त शरीर में और भी अवयव हो सकते हैं। स्रोतस—इस सूत्र में स्रोतस् दो बार आये हैं। प्रथम स्रोतस् शब्द श्रवणनयनादि बहिर्मुख स्रोतसों के लिए और दूसरा योगवाही स्रोतस शब्द नौवें अध्यायोक्त प्राणोदकवाही स्रोतसों के लिए है। योगवहानि—योगान् द्रव्यान् वहन्ति इति योगवहानि। योग का अर्थ यहाँ पर द्रव्य है—योगोऽपूर्वार्थसंप्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु। वपुःस्थैर्ये प्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे। विश्रब्धघातके द्रव्योपायसन्नहनेष्वपि॥ (मेदिनी)। रसरक्तादि धातुरूप द्रव्यों का वहन स्रोतस् करते हैं, इसलिए योगवह कहलाते है—स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन। (चरक, विमान ५)। पं० हरिप्रपन्नजी योगवाही स्रोतसों का अँग्रेजी पर्याय Autonomic (Sympathetic) nervous system देते हैं। आगे के सूत्र में इन स्रोतसों की संख्या बाईस बतलाई है। उससे तथा सन्दर्भ से ये धमनी व्याकरण अध्याय में वर्णित स्रोतस् हैं, इसमें सन्देह नहीं है। वहां पर जो प्राणवहादि स्रोतस् वर्णन किये हैं उनका स्वतन्त्र नाडीसंस्थान (Autonomic Nervous system) से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा उन स्रोतसों के जो अँग्रेजी पर्याय रसयोगसागर में दिये हैं, उनमें भी कोई नाडीसंस्थान का पर्याय नहीं मिलता। इसलिए योगवह स्रोतसों से स्वतन्त्र नाडीसंस्थान समझना अयुक्तियुक्त मालूम होता है।

त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त, धातवः सप्त, सप्त सिराशतानि, पञ्च पेशीशतानि, नव स्नायुशतानि, त्रीण्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे सन्धिशते, सप्तोत्तरं मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्धमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, (षोडश कण्डराः, षोडश जालानि, षट् कूर्चाः, चतस्रो रज्जवः, सप्त सेवन्यः, चतुर्दश सङ्घाताः, चतुर्दश सीमन्ताः, द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यन्त्राणि) चेति समासः ॥ ५ ॥

(आभ्यन्तरीय अवयवों की संख्या—) त्वचाएँ सात, कलाएँ सात, आशय सात, धातु सात, सिराएँ सात सौ, पेशियां पांच सौ, स्नायु नौ सौ, अस्थियाँ तीन सौ, संधियाँ दो सौ दस, मर्म एक सौ सात, धमनियाँ चौबीस, दोष तीन, मल तीन, स्रोतस् नौ, (कण्डराएँ सोलह, जालक सोलह, कूर्च छः, रज्जु चार, सेवनी सात, संघात चौदह, सीमन्त चौदह, योगवह स्रोतस् बाईस, और आँतें दो) इस प्रकार संक्षिप्त गणना है ॥ ५ ॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में गणना करने योग्य अवयवों के नाम देकर इस सूत्र में उनकी संख्या बताई गई है। द्विकान्त्राणि—स्थूल (Large) और क्षुद्र (Small) आन्त्र (Intestine)। आयुर्वेद में आन्त्र शब्द एकवचन और अनेक वचन में आता है। दो प्रकार का आन्त्र मालूम होने पर भी द्विवचन में प्रयुक्त नहीं होता है। अनेकवचन में जब आन्त्र का प्रयोग होता है, तब प्रायः दोनों प्रकार की आँतें उससे अभिप्रेत होती हैं, और जब एकवचन में होता है तब क्षुद्रान्त्र या स्थूलान्त्र या आन्त्र का एक देश (A portion) अभिप्रेत होता है। जैसे—अभिन्नमन्त्रं निष्कान्तं प्रवेश्यं नान्यथा भवेत्। (सुश्रुत, चि० २)।

विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्वचोऽभिहिताः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च ॥ ६ ॥

अब इसके पश्चात् (उन त्वचादि अवयवों का) विस्तार (पूर्वक वर्णन किया जाता है—) त्वचा, कला, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय और वृक्क इनका वर्णन हो चुका है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—दोष, धातु और मल इनका विवरण सूत्र स्थान के १४, १५ और २१ वें अध्याय में तथा वायु का विवरण निदान के प्रथम अध्याय में किया गया है। शेष अवयवों का विवरण पिछले अध्याय में किया गया है। जिनका विवरण बहुत संक्षेप से हुआ है तथा टिप्पणी में विस्तार नहीं किया गया है, उनका विवरण यहां पर किया जाता है। यकृत्प्लीहानौ—आयुर्वेद में इन दो अवयवों का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है और एक दृष्टि से यह ठीक भी है। इसलिए ये दोनों अवयव एक साथ द्विवचन में (जैसे, यहां पर हैं) या साथ साथ (जैसे, यकृच्च प्लीहा च चरक, शा० ७। किंवा नाभिपक्वल्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मातृजानि। सुश्रुत, शा० ३।) निर्दिष्ट किये जाते हैं। यकृत्—शरीर भर में यह सब से बड़ी ग्रंथि है। इसका औसत भार

पौने दो सेर के लगभग होता है। शरीर भार के साथ इसका प्रमाण १ : : ४० होता है। गर्भावस्था में तथा नवजात बालक में यह ग्रंथि सापेक्षतया बहुत बड़ी होती है, जिससे शरीरभार के साथ इसका प्रमाण १ : : २० होता है। इसका रंग कुछ लालपन और भूरापन लिये काला (Dark reddish brown) होता है। इसके भार और रंग के कारण यकृत् 'कालखण्ड' कहलाता है। यकृत् उदरगुहा के ऊपर के भाग में महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के नीचे पसलियों की आड़ में रहता है। इसका अधिकांश दाहिनी ओर और कौड़ी प्रदेश में रहता है। शेष भाग दाईं ओर आमाशयिक प्रदेश में उसके सामने रहता है। यकृत् के ऊपर, परन्तु महाप्राचीरा पेशी से विभक्त, दाहिना फुफ्फुस और हृदय रहता है। स्वस्थावस्था में सब का सब यकृत् पसलियों की आड़ में रहता है। विकारों के कारण जब उसका आकार बढ़ता है, तब वह पसलियों के नीचे उतर आता है और स्पर्शलभ्य (Palpable) होता है। यकृत् के पाँच पृष्ठ (Surface) होते हैं। दाहिना, पार्श्विक, ऊपर का, पीछे का और सामने का। ये पृष्ठ कुछ उभरे हुए होते हैं तथा महाप्राचीरा पेशी से संबद्ध रहते हैं। नीचे का पृष्ठ उत्खात (Uneven) और निम्नमध्य होता है। इसमें पाँच खात (गढहे Fossae) होते हैं। एक में पित्ताशय (Gall-bladder) होता है, एक में यकृत् का गोल बन्धन (Round ligament) होता है, एक में अधरा महासिरा होती है, एक में गर्भावस्था की नाभिनाड़ी का सूखा भाग (Ligamentum venosum) रहता है और एक में, जो यकृत् द्वार (Porta hepatis) कहलाता है, यकृत् की धमनी, सिरा, नाडियाँ (Nerves) और पित्त-वाहिनी रहती हैं। यकृत् का यह पृष्ठ आमाशय, वृक्क, अधिवृक्क और ग्रहणी इन अंगों के साथ संबंधित रहता है। अतः उनके दबाव से यकृत् के इस पृष्ठभाग पर उनके निशान मिलते हैं। यकृत् में चार पिण्ड (Lobes) होते हैं। इनमें दक्षिणपिण्ड सब से मोटा, वाम पिण्ड उससे छोटा और दूसरे दो पिण्ड अत्यन्त छोटे होते हैं। यकृत् के कार्य—यकृत् शरीर का एक बहुत महत्त्व का अवयव है। इसके द्वारा शरीर में अनेक कार्य होते हैं, जिनमें निम्न महत्त्व के हैं। (१) रक्तोत्पत्ति—गर्भावस्था में यकृत् रक्तोत्पत्ति के लिए महत्त्व का अवयव होता है और इसी कारण से गर्भावस्था में उसका सापेक्ष तोल जन्मोत्तर काल की अपेक्षा दुगुना अधिक होता है। जन्म के पश्चात् यद्यपि रक्तोत्पत्ति में यकृत् साधारण स्थिति में भाग नहीं लेता तथापि आवश्यकता पड़ने पर वह कार्य भी यकृत् करता है। इसके सिवाय यह भी सिद्ध हुआ है कि जन्मोत्तर काल में उसमें रक्तोत्पत्ति के लिए आवश्यक एक पदार्थ संचित होता है। इसलिए सब प्रकार के रक्तक्षयों में, विशेष करके वैज्ञानिक (Pernicious) रक्तक्षय में, यकृत् सेवन फ़ायदेमन्द होता है। आयुर्वेद में यकृत् रक्तोत्पत्ति का स्थान माना गया है—स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति। (सूत्र १४)। तस्यां (मांसधरा कला) शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति। (शा० ४)। और उसी आधार पर उसका उपयोग रक्तपित्त में किया गया है—यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्। (सुश्रुत, उत्तर ४५)। (२) जीवतिक्ति द्रव्यसंचय—यकृत् में जीवतिक्ति द्रव्यों (Vitamines) का भी संचय होता है। काड, हेलिबट मछलियों के यकृत् में इनकी राशि बहुत होती है जिसके कारण उनके यकृत् के तेलों में ये द्रव्य अधिक मात्रा में मिलते हैं। अन्य द्रव्यों की अपेक्षा 'ए' द्रव्य यकृत् में अधिक होता है। रतौंधी के जो अनेक कारण हैं, उनमें 'ए' जीवनीय द्रव्याभाव एक महत्त्व का कारण है। इस रोग में 'ए' द्रव्ययुक्त पदार्थ देने से आराम होता है। यह एक आश्चर्य की तथा संतोष की बात है कि आयुर्वेद में रतौंधी की चिकित्सा में यकृत् सेवन का उपदेश किया गया है—तथा यकृच्छागभवं हुताशने विपाच्य सम्यङ्मगधासमन्वितम्। प्रयोजितं पूर्ववदाशसंशयं जयेत नाक्तान्ध्यं सकृदञ्जनान्नृणाम्॥ प्लीहायकृच्चाप्युपभर्जिते उभे प्रकल्प्य शूल्ये घृततैलसंयुते। ते सार्षपस्नेहसमायुतेऽञ्जनं नक्तान्ध्यमाश्वेव हतः प्रयोजिते॥ (सुश्रुत, उत्तर १७)। खादेच्च प्लीहयकृती माहिषे तैलसर्पिषा। (अष्टांग-हृदय, उत्तर १४)। (३) पित्तोत्पत्ति—यकृत् में सततपित्त की उत्पत्ति रक्तगत द्रव्यों से होती रहती है। यह पित्त पाचकरस है, जो स्निग्ध पदार्थों के पाचन में अधिक उपयोगी होता है। (४) निर्विषीकरण। (Detoxifying function)—आन्त्र से जो कुछ भी विषैले पदार्थ शरीर में शोषित होते हैं, वे यकृत् के द्वारा निर्विष किये जाते हैं। (५) रक्त का भाण्डार—यकृत् में रक्त की बहुत राशि हमेशा संचित रहती है और आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग किया जाता है। आगे आशयों में भी देखो। (६) मधुजन का संचय और उत्पादन करना—शरीर को शक्ति प्रांगोदीय (Carbohydrates) पदार्थों से मिलती है। ये पदार्थ शरीर में मधुजन (ग्लैकोजन) के रूप में संचित होते हैं और संचय तथा उत्पादन का कार्य यकृत् के द्वारा होता है। (७) ग्रोभूजिन और स्निग्ध पदार्थों के पाचन, सात्म्यीकरण और उत्सर्जन इन कार्यों में भी यकृत् का बड़ा भारी भाग होता है। (८) कुछ तज्ज्ञों की यह राय है कि यकृत् अन्तःस्रावी ग्रंथि (Endocrine gland) भी है, जो अपने अन्तःस्राव (Internal secretion) से अन्य ग्रंथियों को अपने काम में सहायता करती है। इनके सिवा और भी कुछ कार्य यकृत् करता है। प्लीहा—यह अवयव उदरगुहा के बायें भाग के ऊपर के हिस्से में रीढ़ के पास आमाशय के पीछे और पसलियों की आड़ में रहता है। स्वस्थावस्था में यह अवयव स्पर्शलभ्य नहीं होता। इसके ऊपर महाप्राचीरा पेशी से विभक्त बायाँ फुफ्फुस होता है। इसका रंग बैंगनी होता है। इसका भार तीन छटाँक के लगभग होता है। इसकी लम्बाई ४–५ इंच होती है। इसके दो पृष्ठ होते हैं। एक पृष्ठ महा-प्राचीरा के साथ संबंधित होता है, जो चिकना और उभरा हुआ रहता है। दूसरा आमाशय, वृक्क, स्थूलान्त्र के साथ संबंधित होता है, जिस पर इन अंगों के खात बनते हैं। वय और स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य के अनुसार प्लीहा के परिमाण में बहुत फ़र्क मालूम होता है। नवजात बालक में प्लीहा के भार का उसके शरीर के भार से प्रमाण १ : : ३५० होता है। युवावस्था में भी सापेक्ष प्रमाण करीब करीब इतना ही रहता है। वृद्धावस्था में इसका भार शरीरक्षय के प्रमाण से अधिक कम होता है, जिससे उसका

वाही स्रोतस किया जाता है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है यहां पर प्रत्यङ्गों में केवल शरीर के बाह्य भाग पर स्थित प्रत्यङ्गों का ही उल्लेख है, भीतरी प्रत्यङ्गों का नहीं। इसलिए ये वक्ष्यमाण स्रोतस इस प्रकार के ही होने चाहिएँ। इस अध्याय में आगे नौवें सूत्र में श्रवण नयनादि बहिर्मुख स्रोतस वर्णन किये हैं। ये स्रोतस यहां पर अभिप्रेत हैं। स्रोतस का अर्थ द्वार या छिद्र भी होता है—स्रोतांसि खानि छिद्राणि। (राजनिघण्टु)। इसके अनुसार 'स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि' का अर्थ 'आगे इसी अध्याय के नौवें सूत्र में कहे जाने वाले शरीर के श्रवणनयनादि नवद्वार' ऐसा करना चाहिए।

तस्य पुनः संख्येयानि—त्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयमाशया अन्त्राणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि कूर्चा रज्जवः सेवन्यः सङ्घाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च ॥ ४ ॥

फिर उस (प्रत्यङ्गविभाग) के गणनीय (अवयव ये हैं) त्वचाएं, कलाएँ, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय, आशय, अन्त्र, वृक्क, स्रोतस, कण्डरा, जाल, कूर्चा, रज्जु, सेवनी, सघात, सीमन्त, अस्थियाँ, सन्धियाँ, स्नायु, पेशियां, मर्म, सिराएँ, धमनियाँ और योगवह स्रोतस॥४॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में शरीर के पृष्ठभाग के विविध विभाग बतलाये गये हैं। इस सूत्र में इन विभागों के पिछे शरीर के भीतर जो अवयव मिलते हैं, उनकी गणना कर रहे हैं। पिछले सूत्र में वर्णित प्रत्यङ्गों को बाहर से देख सकते हैं, परन्तु इस सूत्रगत अवयवों को देखने के लिए शवच्छेदन की आवश्यकता होती है। तस्य—प्रत्यङ्गविभागस्य। सख्येय—गणना करने योग्य अर्थात् नामनिर्देश करने योग्य या महत्व के योग्य। इनके अतिरिक्त शरीर में और भी अवयव हो सकते हैं। स्रोतस—इस सूत्र में स्रोतस् दो बार आये हैं। प्रथम स्रोतस् शब्द श्रवणनयनादि बहिर्मुख स्रोतसों के लिए और दूसरा योगवाही स्रोतस शब्द नौवें अध्यायोक्त प्राणोदकवाही स्रोतसों के लिए है। योगवहानि—योगान् द्रव्यान् वहन्ति इति योगवहानि। योग का अर्थ यहां पर द्रव्य है—योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु। वपुःस्थैर्ये प्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे। विश्रब्धघातके द्रव्योपायसन्नहनेष्वपि॥ (मेदिनी)। रसरक्तादि धातुरूप द्रव्यों का वहन स्रोतस् करते हैं, इसलिए योगवह कहलाते है—स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन। (चरक, विमान ५)। पं० हरिप्रपन्नजी योगवाही स्रोतसों का अँग्रेजी पर्याय Autonomic (Sympathetic) nervous system देते हैं। आगे के सूत्र में इन स्रोतसों की सख्या बाईस बतलाई है। उसमें तथा सन्दर्भ से ये धमनी व्याकरण अध्याय में वर्णित स्रोतस् हैं, इसमें सन्देह नहीं है। यहां पर जो प्राणवहादि स्रोतस् वर्णन किये हैं उनका स्वतन्त्र नाडीसंस्थान (Autonomic Nervous system) से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा उन स्रोतसों के जो अँग्रेजी पर्याय रसयोगसागर में दिये हैं, उनमें भी कोई नाडीसंस्थान का पर्याय नहीं मिलता। इसलिए योगवह स्रोतसों से स्वतन्त्र नाडीसंस्थान समझना अयुक्तियुक्त मालूम होता है।

त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त, धातवः सप्त, सप्त सिराशतानि, पञ्च पेशीशतानि, नव स्नायुशतानि, त्रीण्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे सन्धिशते, सप्तोत्तरं मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्धमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, (षोडश कण्डराः, षोडश जालानि, षट् कूर्चाः, चतस्रो रज्जवः, सप्त सेवन्यः, चतुर्दश सङ्घाताः, चतुर्दश सीमन्ताः, द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यन्त्राणि) चेति समासः ॥ ५ ॥

(आभ्यन्तरीय अवयवों की संख्या—) त्वचाएँ सात, कलाएँ सात, आशय सात, धातु सात, सिराएँ सात सौ, पेशियां पांच सौ, स्नायु नौ सौ, अस्थियाँ तीन सौ, सन्धियाँ दो सौ दस, मर्म एक सौ सात, धमनियाँ चौवीस, दोष तीन, मल तीन, स्रोतस् नौ, (कण्डराएँ सोलह, जालक सोलह, कूर्चस् छ, रज्जु चार, सेवनी सात, सघात चौदह, सीमन्त चौदह, योगवह स्रोतस् बाईस, और आँतें दो) इस प्रकार सक्षिप्त गणना है॥ ५ ॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में गणना करने योग्य अवयवों के नाम देकर इस सूत्र में उनकी सख्या बताई गई है। द्विकान्यन्त्राणि—स्थूल (Large) और क्षुद्र (Small) आन्त्र (Intestine)। आयुर्वेद में आन्त्र शब्द एकवचन और अनेक वचन में आता है। दो प्रकार का आन्त्र मालूम होने पर भी द्विवचन में प्रयुक्त नहीं होता है। अनेकवचन में जब आन्त्र का प्रयोग होता है, तब प्रायः दोनों प्रकार की आँतें उससे अभिप्रेत होती हैं, और जब एकवचन में होता है तब क्षुद्रान्त्र या स्थूलान्त्र या आन्त्र का एक देश (A portion) अभिप्रेत होता है। जैसे—अभिन्नमन्त्रं निष्क्रान्तं प्रवेश्यं नान्यथा भवेत्। (सुश्रुत, चि० २)।

विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्वचोऽभिहिताः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च ॥ ६ ॥

अब इसके पश्चात् (उन त्वचादि अवयवों का) विस्तार (पूर्वक वर्णन किया जाता है—) त्वचा, कला, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय और वृक्क इनका वर्णन हो चुका है॥ ६ ॥

वक्तव्य—दोष, धातु और मल इनका विवरण सूत्रस्थान के १४, १५ और २१ वें अध्याय में तथा वायु का विवरण निदान के प्रथम अध्याय में किया गया है। शेष अवयवों का विवरण पिछले अध्याय में किया गया है। जिनका विवरण बहुत संक्षेप से हुआ है तथा टिप्पणी में विस्तार नहीं किया गया है, उनका विवरण यहां पर किया जाता है। यकृत्प्लीहानौ—आयुर्वेद में इन दो अवयवों का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है और एक दृष्टि से यह ठीक भी है। इसलिए ये दोनों अवयव एक साथ द्विवचन में (जैसे, यहां पर हैं) या साथ साथ (जैसे, यकृच्च प्लीहा च चरक, शा० ७। शिरानाभिर्यकृत्प्लीहान्त्रगुदमभूनि मर्माणि। सुश्रुत, शा० ३।) निर्दिष्ट किये जाते हैं। यकृत्—शरीर भर में यह सब से बड़ी ग्रंथि है। इसका औसत भार

of carbon monoxide, haemorrhage, exercise etc, it is capable of contracting sufficiently to increase the circulating volume by 10 to 12 per-cent. Spleen can modify both the volume and quality of blood in a mechanical way. Bancroft has designated this as the reservoir function of the spleen. Contraction of the spleen to one half its normal size not only increases the total blood volume considerably but also augments red cell counts by 250,000 per c. mm, *Physiology in Health and Disease by Carl. j. Wiggers.* यकृत् के संबंध में भी ऐसी ही स्थिति (पीछे यकृत् का ९वाँ कार्य देखो) होती है। संक्षेप में शरीर के भीतर यकृत् और प्लीहा के अतिरिक्त और कोई ऐसे अवयव नहीं हैं जहाँ पर रक्त संचित रहता है और जो आवश्यक समय पर शरीर को रक्त दे सकते हैं। इसलिए रक्ताशय से यकृत् प्लीहा समझना अधिक उचित है। (२) रस और रक्त का अभेद मानने से हृदय भी रक्ताशय माना जा सकता है—आहारस्य यः सारः स रस इत्युच्यते। तस्य च हृदयं स्थानम्॥ (सुश्रुत, सूत्र १४)। आशय में उस द्रव्य का अवस्थान कुछ काल तक होना जरूरी है। हृदय में रक्त क्षण-भर भी ठहरता नहीं है। इसलिए हृदय को रक्ताशय मानना उचित प्रतीत नहीं होता। (३) हाराणचन्द्र रक्ताशय से त्वचादि अवयव मानते हैं—'शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ' इति विधानेऽपि रक्ताशयशब्देनेह त्वगादय एवाभिप्रेयन्ते पारिशेष्यात् 'रक्तस्याशः क्रमात् परे' इति तन्त्रान्तरीयाच्च। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ७०) में इन आशयों के संबंध में पुनरुक्तिदोष बताते हैं तथा रक्ताशय से हृदय मानते हैं—आशयपदार्थाऽज्ञानादर्थव्याकुलीभावश्च प्रतिसंस्कर्तृकृतः प्रसङ्गाद् यथा, 'तस्य पुनः संस्थानम्' इत्याद्युपक्रम्य तत्रैव 'आशयास्तु—वाताशय···' इति' पुनरुक्तौ। इह हि. हृदयफुफ्फुसान्त्रादिभ्यः पृथङ् न सन्ति रक्ताशयश्लेष्माशयपक्वाशयाद्या आशयाः क्वचिदपि लभ्यमानवैद्यके, प्रत्यक्षदर्शने वेति नूनमर्थाऽज्ञानमूलोऽयं पृथङ्निर्देशः। यदि ऊपर बताये हुए दृष्टिकोण से आशयों की ओर देखा जाय तो पुनरुक्ति होने पर भी उसका दोष दूर होता है। यकृत् और प्लीहा के संबंध में ऊपर जो उपलब्ध वैद्यक ग्रंथों के उद्धरण दिये गये हैं, उनसे शरीर में हृदय के अतिरिक्त रक्त का आशय होता है यह भी सिद्ध है। इसलिए रक्ताशय से यकृत् प्लीहा मानने में न स्वतन्त्र विरोध है, न परतन्त्र विरोध है, न प्रत्यक्ष विरोध होता है। शार्ङ्गधर के आशय वर्णन की टीका में आढमल्ल स्पष्ट लिखते हैं—जीवरक्ताशय इति—जीवतुल्यं रक्तम्, तस्य आशयः स्थानं तच्च प्लीहा इति प्रसिद्धं हृदयस्य वामभागाश्रितं भवति। आमाशय—आमानामन्नानामाशयः। जठर (Stomach) जहाँ पर सेवन किया हुआ अपक्व अन्न रहता है। आमाशय की ऊपर और नीचे की मर्यादाएँ इस प्रकार वर्णित है—नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय उदाहृतः॥ आमाशय की नीचे की मर्यादा नाभि से भी नीचे उसके स्थायी अभिस्तरण (Dilatation) में होती है। पक्वाशय—जहाँ पर अन्न का पचन होता है, वह महास्रोत का भाग अर्थात् आन्त्र (Intestines)। इसमें स्थूल और क्षुद्र दोनों का समावेश होता है। पक्वाशय से साधारणतया स्थूलान्त्र का बोध होता है तथापि कई बार संदर्भ के अनुसार उससे दोनों आन्त्र अभिप्रेत होते हैं। यथा—परंतु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥ पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः॥ (चरक, चिकित्सा १५)। मूत्राशय—इसको वस्ति भी कहते हैं (Urinary bladder)। इसका विवरण निदान स्थान के तीसरे अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ ३३६-३३७ देखो) तथा छठे अध्याय के ३३ वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। स्त्रीणाम्—स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा कुछ आशय अधिक होते हैं। यहाँ पर तथा अष्टांगहृदय और संग्रह में केवल गर्भाशय का उल्लेख है, परंतु शार्ङ्गधर में और दो स्तन्याशय बतलाये गये हैं—पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारीणामाशयास्त्रयः। धरागर्भाशयः प्रोक्तः स्तनौ स्तन्याशयौ मतौ॥ शार्ङ्गधर का यह कथन भी ठीक है। स्तन पुरुष और स्त्री दोनों में होने के कारण उनका उल्लेख सुश्रुत में नहीं किया होगा। परंतु पुरुषों में स्तन होने पर भी वे स्तन्याशय नहीं हो सकते केवल स्त्रियों के स्तनों में स्तन्याशय में परिवर्तित होने की शक्ति होती है। पुरुषों के स्तन आयु भर अल्प विकसित (Rudimentary) ही रहते हैं। स्त्रियों के स्तन यौवन में पदार्पण करने के समय बढ़ते हैं। जब स्त्री गर्भवती होती है, तब स्तन और भी बढ़ जाते हैं। यह वृद्धि दुग्धग्रंथियों और स्रोतसों के बढ़ने से होती है और इसी अवस्था में ये स्तन्याशय कहे जाते हैं। स्तन्याशय छाती पर दोनों तरफ दो होते हैं। ये छाती की पेशियों पर होते हैं। आकार में ये कुछ अर्धगोलाकार होते हैं। ये दूसरी पसली से छठी पसली तक और उरःफलक के किनारे से कक्षामध्य रेखा तक फैले रहते हैं। इनके मध्य में एक उभार होता है, जो चूचुक या स्तनवृन्त (Nipple) कहलाता है। इसमें दुग्धस्रोतों के कई छिद्र होते हैं (आगे नौवें सूत्र में देखो), जिनमें से चूसने पर दूध बाहर निकलता है। चुचूक के चारों ओर गहरे रंग का एक घेरा होता है, जो स्तनमण्डल (Areola) कहलाता है। गर्भाशय और स्तन्याशयों का बड़ा भारी संबंध होता है।

इसलिए गर्भ का आधान होने पर उनके आकार और स्वरूप में फर्क होने लगता है। इसका विवरण तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। शिशु को दूध पिलाने के समय में स्तन्याशय काफी बड़े हो जाते हैं। प्रजोत्पादन बंद होने पर ये कुछ सिकुड़ जाते हैं। स्तनों में दुग्धोत्पत्ति की प्रक्रिया का विचार स्तनरोगनिदान (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३७४, ३७५) में तथा आगे १०वें अध्याय के १३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। गर्भाशय—शरीर का वह अवयव, जीसमें गर्भ आश्रय करता है (Uterus)। इसके स्वरूप का वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है। यहाँ पर केवल उसके स्थान का कुछ विवरण किया जाता है। गर्भाशय श्रोणिगुहागत अवयव है। कुमारी में इसकी लम्बाई तीन इञ्च, चौड़ाई दो इञ्च और मोटाई एक इञ्च के लगभग होती है। प्रजाता

और शरीरभार का प्रमाण १ : ७०० हो जाता है। भोजनपचन के समय इसका परिमाण बढ़ता है और भोजन का पचाव समाप्त होने पर यह अपने पूर्व परिमाण पर आ जाता है। पर्याप्त मात्रा में भोजन मिलने वालों की अपेक्षा अपर्याप्त मात्रा में भोजन मिलने वालों अर्थात् गरीबों की प्लीहा परिमाण में छोटी होती है। प्लीहा के कार्य—(१) रक्तोत्पत्ति—गर्भावस्था में यकृत् के साथ प्लीहा भी रक्तोत्पत्ति का काम करती है। पश्चात् साधारण अवस्था में प्लीहा से रक्तोत्पत्ति का कार्य नहीं होता, परन्तु रक्तक्षय की तीव्रावस्था में यह कार्य भी प्लीहा कर सकती है। आयुर्वेद में यकृत् और प्लीहा, इसलिए, रंजक पित्त के स्थान माने गये हैं। (२) रक्तसंचय—प्लीहा में संकोच और विकास काफी और तुरन्त होता है और विकास के समय उसमें काफी रक्त का संचय होता है। विशेष विवरण आगे आशयों में भी होगा। (३) लाल कणों का नाश—जो लाल कण अपना काम करके दुर्बल हो गये हैं, उनका नाश करने का कार्य प्लीहा करती है। प्लीहा में प्रविष्ट हुए रक्त के लाल कणों में जो दुर्बल होते हैं वे वहाँ पर नष्ट होते हैं और केवल सबल कण बाहर आते हैं। संक्षेप में प्लीहा अधिकोष (बैंक) का काम करती है, जहाँ पर गये हुए रुपयों की ठीक जाँच होकर नकली रुपये तोड़ दिये जाते हैं और केवल असली रुपये बाहर आते हैं। (४) श्वेतकणों की उत्पत्ति—प्लीहा में श्वेतकणों की उत्पत्ति विशेष करके (लिम्फोसाइट) लसकायाणुओं की उत्पत्ति होती है। उण्डुक—आयुर्वेद में इसका वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार का मिलता है—हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते। उण्डुकस्थ विभजते मलं मलधरा कला॥ (सुश्रुत)। उण्डुकं पोट्टलक इति लोके। चरके च पुरीषाधारशब्देनाण्डुकं प्रतिपादितं। (डल्हण, सुश्रुत, शा० ४-१७)। उण्डुको मलाधारः। (इन्दु)। इससे उण्डुक के स्वरूप का निर्णय करके आधुनिक परिभाषा में उसका पर्याय देना कठिन है। तथापि निम्न प्रमाणों पर उण्डुक को सीकम (Caecum) कह सकते हैं। (१) उण्डुक का स्वरूप पोटली के समान होता है। सीकम का अर्थ भी वही है और उसका स्वरूप भी वैसा ही है—The caecum, the commencement of the large intestine, is the large blind pouch situated below the colic valve *Grey's Anatomy* (२) मलधरा कला में उण्डुक का स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि मलविभजन का कार्य सम्पूर्ण पक्वाशय में होता है तथापि उण्डुक में विशेष होता है। आधुनिक खोज से भी यही सिद्ध हुआ है कि मलस्थित जल तथा अन्य पोषक द्रव्य का शोषण अधिकतर उण्डुक में ही हुआ करता है—During its passage along the large intestine, these are absorbed and most absorption appears to occur in the caecum *Halliburton's physiology* उण्डुक एक थैली जैसा होता है। उसका बंद मुख अधिक चौड़ा होता है। उसके तंग तथा खुले मुख से एक लम्बी पतली नली लगी रहती है। इसको उण्डुकपुच्छ या आन्त्रपुच्छ (Appendix) कहते हैं। इसी में कभी कभी शोथ या विद्रधि (Appendicitis) उत्पन्न हो जाती है। सीकम के साथ आरोही बृहदन्त्र (Ascending colon) लगा रहता है। हाराणचन्द्र उण्डुक का वर्णन निम्न प्रकार से करते हैं—उण्डुकस्तु स्थूलक्षुद्रान्त्रयोरन्तसीमासन्निविष्टो मलोद्गमप्रतिबन्धिनाऽनुलोमसन्निविष्टेन कपाटद्वितयेनानुविद्धः पार्श्वे द्वितयैकद्वारया प्रायः षडङ्गुलिमितयाऽनुभूतक्रियया नाड्या समेतः पुरीषविभाजको गोलो यन्त्रभेदः॥ चरकसंहिता में उण्डुक शब्द नहीं मिलता।

आशयास्तु—वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशयः, आमाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति॥ ७॥

(आशय—) आशय तो वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय, रक्ताशय, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय और स्त्रियों का आठवाँ गर्भाशय हैं॥ ७॥

वक्तव्य—आशयास्तु—इसका अभिप्राय यह है कि शारीर पारिभाषिक संज्ञाओं में आशय शब्दसामान्य जिनमें है, वे ये सात शब्द हैं। इन आशयों की न आपस में भिन्न होने की आवश्यकता है, न पूर्वोक्त अवयवों से भिन्न होने की आवश्यकता है। ऊपर चौथे सूत्र में जो संख्येय अवयव निर्दिष्ट किये हैं वे इस दृष्टि से नहीं दिये हैं कि एक बार निर्दिष्ट किया गया अवयव फिर दूसरी बार निर्दिष्ट न होने पावे। वहाँ पर शरीरस्थ अवयवों का वर्गीकरण कार्यसामान्य, शब्दसामान्य और स्वरूपसामान्य के आधार पर किया गया है। जिस अवयव में कार्यभिन्नता, स्वरूपभिन्नता और शब्दभिन्नता होती है, वह अवयव अनेक वर्गों में आ जाता है। जैसे, मर्मत्व के आधार पर किये हुए वर्ग में प्रायः शरीर के सभी अवयव आ जाते हैं, जो पहले बताये जा चुके हैं। इसलिए वर्णन में पुनरुक्तिदोष मानना उचित नहीं है। आशय अधिष्ठान। वाताशय—शरीर में वात दो स्थानों में हो सकता है—फुप्फुस—उदानवायोराधार फुप्फुसं प्रोच्यते बुधैः। (शार्ङ्गधर)। किंवा पक्वाशय—न पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्। (चरक, सूत्र २०)। पक्वा से कोलन (Colon) समझना चाहिए। वायु का स्व ऊपर उठने का होने के कारण वह पक्वाशय के अनु (Transverse) विभाग में अधिक मिलता है। पित्ताश ग्रन्थप्रामाण्य के अनुसार पित्ताशय आमाशय (पे समझना चाहिए—तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानं (चरक)। यदि आधुनिक दृष्टियुक्त अर्थ से देखा जाय पित्ताशय से पित्ताशय (Gall bladder) युक्त यकृत् व अग्न्याशय (Pancreas) समझना चाहिए, क्योंकि पा पित्त जो अन्य प्रकारों से श्रेष्ठ माना गया है वह इन ग्रंथियों का उद्रेक होता है। श्लेष्माशय—श्लेष्मा का मु स्थान उर माना गया है—तत्रापुरो विशेषेण श्लेष्मस्थानं (चरक)। श्लेष्माशयः स्यादुरसि। (शार्ङ्गधर)। उर उर स्थित फुप्फुस समझना उचित है। आयुर्वेद में कभी क उर शब्द फुप्फुस के लिए भी प्रयुक्त होता है। रक्ताशय—इससे निम्न अवयव समझ सकते हैं। (१) यकृत् और प्ली आयुर्वेद में रक्त का स्थान माना गया है—शोणितस्य स्था यकृत्प्लीहानौ। (सुश्रुत, सूत्र २१)। आधुनिक दृष्टि यदि देखा जाय तब भी यकृत् प्लीहा शरीरगत रक्त भाण्डार (Blood depot या Reservoir) माने गये हैं—The reservoir function of the spleen plays considerable role As a result of various influences such as phychic disturbances, inhalatio

of carbon monoxide, haemorrhage, exercise etc, it is capable of contracting sufficiently to increase the circulating volume by 10 to 12 per-cent. Spleen can modify both the volume and quality of blood in a mechanical way. Bancroft has designated this as the reservoir function of the spleen. Contraction of the spleen to one half its normal size not only increases the total blood volume considerably but also augments red cell counts by 250,000 per c. mm, *Physiology in Health and Disease by Carl. j. Wiggers.* यकृत् के संबंध में भी ऐसी ही स्थिति (पीछे यकृत् का ९वाँ कार्य देखो) होती है। संक्षेप में शरीर के भीतर यकृत् और प्लीहा के अतिरिक्त और कोई ऐसे अवयव नहीं हैं जहाँ पर रक्त संचित रहता है और जो आवश्यक समय पर शरीर को रक्त दे सकते हैं। इसलिए रक्ताशय से यकृत् प्लीहा समझना अधिक उचित है। (२) रस और रक्त का अभेद मानने से हृदय भी रक्ताशय माना जा सकता है—आहारस्य यः सारः स रस इत्युच्यते। तस्य च हृदयं स्थानम् ॥ (सुश्रुत, सूत्र १४)। आशय में उस द्रव्य का अवस्थान कुछ काल तक होना जरूरी है। हृदय में रक्त क्षण-भर भी ठहरता नहीं है। इसलिए हृदय को रक्ताशय मानना उचित प्रतीत नहीं होता। (३) हाराणचन्द्र रक्ताशय से त्वचादि अवयव मानते हैं—'शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ' इति स्थितेऽपि रक्ताशयशब्दे-नेह त्वगादय एवाभिप्रेयन्ते पारिशेष्यात् 'रक्तस्याद्यः क्रमात् परे' इति तन्त्रान्तरीयाच्च। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। महामहो-पाध्याय कविराज गणनाथ सेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ७०) में इन आशयों के संबंध में पुनरुक्तिदोष बताते हैं तथा रक्ताशय से हृदय मानते हैं—आशयपदार्थाऽज्ञानाद-र्थव्याकुलीभावश्च प्रतिसंस्कर्तृकृतः प्रसङ्गाद् यथा, 'तस्य पुनः संख्यानम्' इत्याद्युपक्रम्य तत्रैव 'आशयास्तु—वाताशय··· इति' पुनरुक्तौ। इह हि हृदयफुफ्फुसान्त्रादिभ्यः पृथङ् न सन्ति रक्ताशयश्लेष्माशयपक्वाशयाद्या आशयाः क्वचिदपि लभ्यमानवैद्यके, प्रत्यक्षदर्शने वेति नूनमर्थाऽज्ञानमूलोऽयं पृथङ्निर्देशः। यदि ऊपर बताये हुए दृष्टिकोण से आशयों की ओर देखा जाय तो पुनरुक्ति होने पर भी उसका दोष दूर होता है। यकृत् और प्लीहा के संबंध में ऊपर जो उपलब्ध वैद्यक ग्रंथों के उद्धरण दिये गये हैं, उनसे शरीर में हृदय के अतिरिक्त रक्त का आशय होता है यह भी सिद्ध है। इसलिए रक्ताशय से यकृत् प्लीहा मानने में न स्वतन्त्र विरोध है, न परतन्त्र विरोध है, न प्रत्यक्ष विरोध होता है। शार्ङ्गधर के आशय वर्णन की टीका में आढमल्ल स्पष्ट लिखते हैं—जीवरक्ताशय इति—जीवतुल्यं रक्तम्, तस्य आशयः स्थानं तच्च प्लीहा इति प्रसिद्धं हृदयस्य वामभागाश्रितं भवति। आमाशय—आमानामन्नानामाशयः। जठर (Stomach) जहाँ पर सेवन किया हुआ अपक्व अन्न रहता है। आमाशय की ऊपर और नीचे की मर्यादाएँ इस प्रकार वर्णित है—नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय उदाहृतः ॥ आमाशय की नीचे की मर्यादा नाभि से भी नीचे उसके स्थायी अभिस्तरण (Dilatation) में होती है। पक्वाशय—जहाँ पर अन्न का पचन होता है, वह महास्रोत का भाग अर्थात् आन्त्र (Intestines)। इसमें स्थूल और क्षुद्र दोनों का समावेश होता है। पक्वाशय से साधारणतया स्थूलान्त्र का बोध होता है तथापि कई वार संदर्भ के अनुसार उससे दोनों आन्त्र अभिप्रेत होते हैं। यथा—परंतु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥ पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः। (चरक, चिकित्सा १९)। मूत्राशय—इसको वस्ति भी कहते हैं (Urinary bladder)। इसका विवरण निदान स्थान के तीसरे अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ ३३६–३३७ देखो) तथा छठे अध्याय के ३३ वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। स्त्रीणाम्—स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा कुछ आशय अधिक होते हैं। यहाँ पर तथा अष्टांगहृदय और संग्रह में केवल गर्भाशय का उल्लेख है, परंतु शार्ङ्गधर में और दो स्तन्याशय बतलाये गये हैं—पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारी-णामाशयास्त्रयः। धरागर्भाशयः प्रोक्तः स्तनौ स्तन्याशयौ मतौ ॥ शार्ङ्गधर का यह कथन भी ठीक है। स्तन पुरुष और स्त्री दोनों में होने के कारण उनका उल्लेख सुश्रुत में नहीं किया होगा। परंतु पुरुषों में स्तन होने पर भी वे स्तन्याशय नहीं हो सकते केवल स्त्रियों के स्तनों में स्तन्याशय में परिवर्तित होने की शक्ति होती है। पुरुषों के स्तन आयु भर अल्प विकसित (Rudimentary) ही रहते हैं। स्त्रियों के स्तन यौवन में पदार्पण करने के समय बढ़ते हैं। जब स्त्री गर्भवती होती है, तब स्तन और भी बढ़ जाते हैं। यह वृद्धि दुग्धग्रंथियों और स्रोतसों के बढ़ने से होती है और इसी अवस्था में ये स्तन्याशय कहे जाते हैं। स्तन्याशय छाती पर दोनों तरफ दो होते हैं। ये छाती की पेशियों पर होते हैं। आकार में ये कुछ अर्धगोलाकार होते हैं। ये दूसरी पसली से छठी पसली तक और उरःफलक के किनारे से कक्षामध्य रेखा तक फैले रहते हैं। इनके मध्य में एक उभार होता है, जो चूचुक या स्तनवृन्त (Nipple) कहलाता है। इसमें दुग्धस्रोतों के कई छिद्र होते हैं (आगे नौवें सूत्र में देखो), जिनमें से चूसने पर दूध बाहर निकलता है। चुचूक के चारों ओर गहरे रंग का एक घेरा होता है, जो स्तनमण्डल (Areola) कहलाता है। गर्भाशय और स्तन्याशयों का बड़ा भारी संबंध होता है। इसलिए गर्भ का आधान होने पर उनके आकार और स्वरूप में फर्क होने लगता है। इसका विवरण तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। शिशु को दूध पिलाने के समय में स्तन्याशय काफी बढ़े हो जाते हैं। प्रजोत्पादन बंद होने पर ये कुछ सिकुड़ जाते हैं। स्तनों में दुग्धोत्पत्ति की प्रक्रिया का विचार स्तनरोगनिदान (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३७४, ३७५) में तथा आगे १०वें अध्याय के १३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। गर्भाशय—शरीर का वह अवयव, जीसमें गर्भ आश्रय करता है (Uterus)। इसके स्वरूप का वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है। यहाँ पर केवल उसके स्थान का कुछ विवरण किया जाता है। गर्भाशय श्रोणिगुहागत अवयव है। कुमारी में इसकी लम्बाई तीन इञ्च, चौड़ाई दो इञ्च और मोटाई एक इञ्च के लगभग होती है। प्रजाता

स्त्रियों में इसका आकार कुछ बड़ा हो जाता है। इसका नीचे का भाग योनि से जुदा रहता है, जिसमें एक छिद्र होता है और उसी से आर्तव प्रत्येक महीने में बाहर आता है। यह छिद्र गर्भाशयमुख (Os-uteri) में होता है और इसी का उल्लेख आगे नौवें सूत्र में 'रक्तवह' स्रोत करके किया गया है। इसके दोनों तरफ दो चौड़े बंधन (Broad ligaments) होते हैं, जिनमें बीजकोष (Ovary) और ऊपर बीजवाहिनियाँ (Fallopian tube) होती हैं। गर्भाशय के सामने मूत्राशय और पीछे पक्वाशय का अन्तिम हिस्सा उत्तरगुद या मलाशय होता है। इसका विचार आगे ६१वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

सार्धत्रिव्याममान्यन्त्राणि पुंसां, स्त्रीणामर्धव्याम-हीनानि ॥८॥

(आन्त्र की लम्बाई—) पुरुषों का आँतें साढे तीन व्याम और स्त्रियों की आधा व्याम कम (लम्बी) होती है ॥८॥

वक्तव्य—व्याम—व्यामो बाह्वोः सकरयोस्तनयोस्तिर्यगन्तरम् ॥ (अमरकोश)। दोनों हाथ दोनों कन्धों की रेखा में शरीर से दूर फैलाने पर जो अन्तर होता है, वह। यदि सूत्रस्थान के ३५वें अध्याय में (प्रथम खण्ड पृष्ठ १६४) बताये हुए प्रमाण पुरुष Standard के अनुसार व्याम की लम्बाई अँगुलियों में देखी जाय तो वह १२० अँगुलियाँ होती हैं। आधुनिक नाप के अनुसार यह लम्बाई ७ फुट के करीब होती है। इससे पुरुष में आँतें २४॥ फुट लंबी और स्त्रियों में २१ फुट लम्बी होगी। आधुनिक काल में आन्त्र की लम्बाई का प्रमाण निम्न प्रकार का दिया गया है। क्षुद्रान्त्र की औसत लम्बाई साढे बाईस होती है। इसकी अधिक से अधिक लम्बाई बत्तीस फुट और कम से कम साढे पन्द्रह फुट होती है। स्थूलान्त्र की लम्बाई पाँच फुट होती है। इसमें बहुत फर्क नहीं होता है। ट्रीवज् नामक शास्त्रज्ञ ने सौ शवों की आँतों का नाप करके यह औसत निकाली है। उसका कथन है कि जवानी प्राप्त होने के पश्चात् मनुष्य की आँत की लम्बाई उसका आयाम, भार और आयु के निरपेक्ष होती है। स्त्रियों के आन्त्रायाम के संबंध में आधुनिक शल्यविदों का वचन प्राचीनों के विरुद्ध है। ट्रीवज् का कथन है कि स्त्रियों में छोटी आँत पुरुषों की अपेक्षा एक फुट अधिक लम्बी होती है। अर्थात् सम्पूर्ण आंत पुरुष की अपेक्षा कदापि कम नहीं होगी, परंतु अधिक होगी। यह भूल कैसे हुई? इसके दो कारण हो सकते हैं। (१) प्रत्यक्ष प्रमाण—एक स्त्री की आँत एक पुरुष की आँत की अपेक्षा कम हो सकती है। यदि संयोगवश ऐसे ही स्त्री-पुरुष की आँत देखी गई होगी तो यह भूल हो सकती है। (२) अनुमान प्रमाण—स्त्रियों के शरीर के हृदय, मस्तिष्कादि सभी अंग पुरुषशरीरगत अंगों की अपेक्षा आयाम, भारादि में कम होते हैं, यह प्रत्यक्ष है। अतः उनकी आँत भी पुरुष की अपेक्षा लम्बाई में कम होगी, इस कल्पना के आधार पर यह वचन लिखा होगा।

श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहं च ॥ ९ ॥

शरीर के द्वार—) (दो) कान, (दो) आँखें, मुख, (दो) नाक, गुद और शिश्न ये पुरुषों के बहिर्मुख नौ स्रोतस होते हैं। ये ही स्त्रियों के भी (होते हैं परंतु उनमें) और भी तीन होते हैं, दो स्तनों में और एक नीचे आर्तववह ॥ ९ ॥

वक्तव्य—घ्राण—दो नासापुट या नासाद्वार। गुद—गुदद्वार (Anus)। मेढ्र—पौरुषदर्शक शिश्नवाचक (Penis) यह शब्द नहीं है। इससे मूत्रद्वार अभिप्रेत है, क्योंकि यह स्रोतस स्त्रियों में भी बतलाया गया है। पुरुषों में इसी द्वार से शुक्र बाहर आता है, इसलिए शुक्रवह स्रोतस का अलग उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं रही। द्वे स्तनयोः—स्तनों में जो चूचुक होते हैं, उनमें दुग्धस्रोतों के द्वार खुलते हैं, उनका उल्लेख यहाँ किया गया है। आर्तववह—आर्तव गर्भाशयमुख से बाहर आता है। इसलिए आर्तववह स्रोतस से गर्भाशयद्वार (External os) समझना चाहिए। स्त्रियों में आर्तववहन और मूत्रवहन स्वतन्त्र मार्गों से होता है। इसलिए आर्तववह स्रोतस का स्वतन्त्र उल्लेख करने की आवश्यकता रही। स्रोतस—यह शब्द यहाँ पर नालीवाचक न होकर मुख, द्वार या छिद्रवाचक है। शरीर की बाह्य त्वचा में जो स्वाभाविक बड़े द्वार होते हैं, वे स्रोतस से अभिप्रेत हैं। बहिर्मुखानि—यदि यहाँ पर द्वार शब्द का प्रयोग होता तो बहिर्मुख शब्द का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। शरीर में और भी अनेक प्रकार के स्रोतस होते हैं, जिनका स्वरूप नालीदार और जो अन्तर्मुख या अन्तर्गत होते हैं। उन स्रोतसों से (९ अध्याय का ११वाँ सूत्र देखो) पार्थक्य करने के लिये बहिर्मुख शब्द का प्रयोग किया है। नव—पुरुषों के शरीर में नौ और स्त्रियों के शरीर में बारह द्वार होते हैं। संसार में आधी स्त्रियाँ और आधे पुरुष होते हैं। यह सब कुछ होते हुए भी साहित्यनिर्माण पुरुषों के हाथों में होने के कारण मनुष्य-शरीर नवद्वारयुक्त वर्णन करने की प्रथा पड़ गई है—सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ (भगवद्गीता ५–१३)। मनो नवद्वारनिषिद्ध वृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्। यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥ (कुमारसंभव ३–५०)। आगे ६१ वें सूत्र के वक्तव्य में 'पुरुष' की टिप्पणी देखो।

षोडश कण्डराः—तासां चतस्रः पादयोः, तावत्यो हस्तग्रीवापृष्ठेषु, तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखाः (अग्र) प्ररोहाः, ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनामधोभागगतानां मेढ्रं, श्रोणिपृष्ठनिबन्धिनीनामधोभागगतानां बिम्बं, मूर्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादीनां च ॥१०॥

(कण्डरा और उनके प्ररोह—) सोलह कण्डराएँ हैं। उनमें से चार पैरों में और उतनी ही हाथ, ग्रीवा और पीठ में। हाथों और पैरों में स्थित कण्डराओं के प्ररोह नख होते हैं। ग्रीवा और हृदय को बाँधने वाली कण्डराओं के नीचे की ओर गये हुए प्रांत का प्ररोह मेढ्र है। श्रोणी और पृष्ठ को बाँधने वाली कण्डराओं के नीचे की ओर गये हुए प्रांत का प्ररोह बिम्ब है। (इन कण्डराओं के ऊपर गये हुए प्रांत के प्ररोह) मस्तक, ऊरु, वक्ष और अंसपिण्ड हैं ॥ १० ॥

वक्तव्य—कण्डरा—महत्यः स्नायवः प्रोक्ताः कण्डरास्तास्तु षोडश। (भावप्रकाश)। (Tendons)। षोडश—एक एक पैर में दो, एक एक हाथ में दो, पीठ में चार और ग्रीवा में चार। प्ररोह—अग्रप्ररोह, अन्तिम भाग जिससे वे चिपट जाते हैं। नखाः प्ररोहाः—नखों का प्रांत, जिसमें ये निविष्ट (Insert) होते हैं। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि हाथों और पैरों के कण्डराओं का नीचे का निवेश (Insertion) नखों के पास होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन कण्डराओं के अन्तिम भाग से नख उत्पन्न होते हैं। मेढ्रम्—शिश्नवाचक यह शब्द नहीं है, जननेन्द्रियवाचक है, जिसका अर्थ गुह्य प्रदेश (Pubic region); ग्रीवादि स्थानों की कण्डराओं का निवेश गुह्य प्रदेश में होता है। बिम्बम्—श्रोणिबिम्बम्। इसी को श्रोणिचक्र (Pelvis) भी कहते हैं। हाराणचन्द्र 'बिम्बं' के बदले बिम्बः, ऐसा पाठ लेकर उसका अर्थ सच्छिद्र त्रिकास्थि करते हैं। श्रोणी और पीठ की कण्डराओं का निवेश श्रोणिचक्र में होता है। मूर्धोरु इत्यादि—इस अन्तिम वाक्य का अर्थ ठीक से नहीं निकलता है। हाराणचन्द्र इसका पाठ निम्न प्रकार से लेते हैं—उरुवक्षोऽसपिण्डाश्रितानां च मूर्धा। यह पाठभेद अनुचित मालूम होता है। इसलिए कि इस सूत्र में हाथ, पैर, ग्रोवा और पीठ इनकी कण्डराओं का वर्णन हो रहा है, छाती और नेत्रपिण्ड इनकी कण्डराओं का नहीं हो रहा है। डल्हणाचार्यसंमत पाठ (वही ऊपर दिया है) और उन्हीं का दूरान्वय करके किया हुआ अर्थ कुछ ठीक मालूम होता है और उन्हीं के अनुसार ऊपर अनुवाद किया है। डल्हणाचार्य लिखते हैं—मूर्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादीनां चेति पूर्ववाक्यात् बिम्बमनुवर्तते, तेन मस्तकस्य यद् बिम्बं मण्डलं तद्ग्रीवाश्रितानां प्रागुक्तानामेव चतसृणामुपरि गतानां कण्डराणामग्रप्ररोहः। तथा पादगतानां चतसृणामुपरिगतानामूरुमण्डलमग्रप्ररोहः। तथा पृष्ठगतानां चतसृणां कण्डराणामुपरिगतानां वक्षोमण्डलम्। आदिशब्दगृहीतस्य स्तनस्य च मण्डलमग्रप्ररोहः। हस्तगतानां चतसृणामुपरिगतानामंसपिण्डो बाहुशिरोऽग्रप्ररोह इति। इसका तात्पर्य यह है कि ग्रीवाश्रित कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह मस्तक है। हाथों की कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह बाहुशिर है। पैरों की कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह ऊरुमण्डल (श्रोणिमण्डल) है। पृष्ठाश्रित कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह वक्षमण्डल है। उपरिगत प्ररोह से उद्गम (Origin) समझ सकते हैं।

मांससिरास्नाय्वस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि, तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि परस्परनिबद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि परस्परगवाक्षितानि चेति, यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम्॥ ११॥

(जाल—) मांस, सिराएँ, स्नायु और अस्थियाँ इनके प्रत्येक के जाल चार चार हैं। ये मणिबन्ध और गुल्फ (टखना) में आश्रित हैं और परस्पर बँधे हुए, परस्पर जुड़े हुए और परस्पर गवाक्षित हैं। इन्हीं से यह (समस्त) शरीर गवाक्षित हुआ है॥ ११॥

वक्तव्य—मणिबन्ध—मणिर्बध्यतेऽत्र मणिबन्धः। जहां पर मणि या घड़ी या चूड़ी या वलय पहना जाता है, वह भाग। कलाई, पहुँचा (Wrist), 'अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात् कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥ (शाकुन्तल ३)। परस्परगवाक्षितानि—ये मांस, सिराएँ, स्नायु और अस्थियाँ आपस में इस तरह अनुप्रविष्ट होती हैं कि जहाँ पर इनका संयोग होता है, वह स्थान छिद्रित हो जाता है। गवाक्षितमिदं शरीरम्—इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि दो मणिबंध और दो टखने जालों के स्थान बताये गये हैं तथापि संपूर्ण शरीर जाल के समान होता है क्यों कि सिरा स्नाय्वादि अंग आपस में हमेशा इस तरह अनुप्रविष्ट होते हैं कि वह स्थान जालीदार हो जाता है।

षट् कूर्चाः, ते हस्तपादग्रीवामेढ्रेषु; हस्तयोर्द्वौ, पादयोर्द्वौ, ग्रीवामेढ्रयोरेकैकः॥ १२॥

(कूर्चा—) छः कूर्च हैं। ये हाथ, पैर, ग्रीवा और मेढ् में हैं; हाथ में दो, पांव में दो, ग्रीवा में एक और मेढ् में एक॥ १२॥

वक्तव्य—कूर्चा—पेशी, स्नायु, धमनी या सिरा इनका सन्निपात जो कूँचे (Brush) के समान दिखाई देता है। कूर्चा नाम स्नायुधमनीसन्निपातास्तेष्वेकैकाः स्नायुसन्निपाताः पञ्च तु ग्रीवाकपादवद्धरुमार्गेष्वेकश्च धमनीसन्निपातो मेढ्रे दृश्यत इत्युच्यते पठिति। (हाराणचन्द्र)।

महत्यो मांसरज्जवश्चतस्रः—पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे बाह्ये, आभ्यन्तरे च द्वे॥ १३॥

(मांसरज्जु—) बड़ी मांसरज्जुएँ चार हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर पेशियों को बाँधने के लिए दो भीतर और दो बाहर॥ १३॥

वक्तव्य—मांसरज्जु—रज्जुसम जिनमें तन्तुओं की रचना हो, वे मांसरज्जु हैं। इस प्रकार के मांसरज्जु पृष्ठवंश के दोनों तरफ Longissimus, spinalis और Ilio-costalis इन पेशियों की रचना में दिखाई देते हैं।

सप्त सेवन्यः[१]; शिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वाशेफसोरेकैका; ताः परिहर्तव्याः शस्त्रेण॥ १४॥

(सेवनी—) सात सीवन हैं; सिर में पांच अलग अलग और जिह्वा तथा शिश्न (के निचले भाग) में एक एक; (शस्त्रकर्म के समय) शस्त्र से उनको बचाना चाहिए॥ १४॥

वक्तव्य—सीवन—सिलाई के द्वारा मिलाये हुए भाग के समान जो रचना होती है, वह सीवन कहलाती है। सीवन त्वचा, श्लेष्मल त्वचा और अस्थियाँ इनमें मिलती हैं। शिश्न की सेवनी त्वचा की, जिह्वा की श्लेष्मल त्वचा की और सिर की अस्थियों की है। अंग्रेज़ी में त्वचा तथा श्लेष्मल त्वचा की सेवनी को रयाफी या रिज (Raphe or Ridge) कहते हैं; और अस्थियों की सीवन को सूचर (Suture) कहते हैं। जिह्वासेवनी—यह सेवनी जिह्वा के अधस्तल पर उसके अग्र से मूल तक होती है। यह सेवनी फ्रेन्यूलम लिंग्वी (Frenum linguæ) कहलाती है। शेफससेवनी—वास्तव में यह सेवनी शिश्न पर नहीं होती। इसका प्रारंभ शिश्न के नीचे उसके मूल से होता है और वृषणकोष पर से होकर गुदद्वार तक चली जाती है। फिर गुदद्वार के उस पार से वह अनुत्रिक (Coccyx)

१ सीवन्यः.

के अंत तक पहुँचकर वहाँ पर समाप्त होती है। गुदद्वार तक का पूर्वभाग वृषण सीवनी (Raphe of the Scrotum) और पीछे का भाग गुदानुत्रिक सेवनी (Ano-coccygeal raphe) कहलाता है। सिर सेवनी—ये सीवन कपालास्थियों के संयोग पर होती हैं। यदि संपूर्ण कपालास्थियों के संयोगों का विचार किया जाय तो सीवनों की संख्या बहुत अधिक होगी। यहाँ पर केवल पाँच संख्या बताई है। इससे यह मालूम होता है कि करोटी Skull हाथ में लेने पर उसके ऊपर के भाग (Roof) पर जो सीवनें साफ साफ दिखाई देती हैं, वही यहाँ पर निर्दिष्ट हैं। ये सीवनें पाँच ही होती हैं। (१) गूढसीवनी (Frontal) या Metopic Suture)—यह सीवनी पुरःकपाल के मध्य में बचपन में मिलती और और आगे चलकर नष्ट होती है, परंतु कभी कभी यह जिन्दगी भर कायम रहती है। (२) पुरःसीवनी (Coronal suture —यह सीवनी पुरःकपाल और पार्श्वकपालों के बीच में होती है। (३) पश्चिम सीवनी (Lambdoid suture)—यह सेवनी पश्चिम कपाल और पार्श्वकपालों के बीच में होती है। (४) मध्यसीवनी (Sagittal suture)—यह सीवनी दो पार्श्वकपालों के बीच में सिर के मध्य में गूढसीवनी की रेखा में होती है। (५) पार्श्वसीवनी (Temporal या squamosal suture)—यह सेवनी पुर, पार्श्व और पश्चिम कपालों के नीचे की अस्थियों के संयोग स्थान पर होती है। अस्थियों की सीवन को सीमन्त भी कहते हैं। आगे १६वें सूत्र में देखो। सिर के सीमन्त या सीवनी बाहर से नहीं दिखाई देती—सीमन्त सीवन्यश्च बहिस्त्वच शिरसि न दृश्यते। (इन्दु)।

चतुर्दशास्थ्नां संघाताः तेषां त्रयो गुल्फजानुवङ्क्षणेषु, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, त्रिकशिरसोरेकैकः ॥ १५ ॥

(संघात—) हड्डियों के संघ चौदह हैं। इनमें से टखना, जानु और वङ्क्षण में तीन, इससे दूसरे पैर का और (दोनों हाथों) का भी व्याख्यान हो गया। त्रिक पर एक और शिर पर एक ॥ १५ ॥

वक्तव्य—संघात—प्रायः दो से अधिक अस्थियों के सम्मेलन को संघात कहते हैं। गुल्फ—इसमें गुल्फसंधि तथा उसकी समीपवर्ती हड्डियाँ आती हैं। इसमें ७ हड्डियाँ पैर की कमान (Tarsal) की और २ जंघा की, इस प्रकार ९ हड्डियाँ होती हैं। जानु—इसमें जंघा की दो, ऊरु की एक और जानुकपाल एक, इस प्रकार चार हड्डियाँ होती हैं। वङ्क्षण—इसमें ऊरु की एक और श्रोणिफलक की तीन, इस तरह चार हड्डियाँ होती हैं। मणिबंध—इसमें पहुँचे की आठ (Carpal bones) और अग्रबाहु की दो, इस प्रकार दस हड्डियाँ होती हैं। कूर्पर—इसमें अग्रबाहु की दो और बाहु की एक, इस प्रकार तीन होती हैं। कक्षा—इसमें सिर्फ दो होती हैं। त्रिक (Sacrum —यह अस्थि पृष्ठवंश के नीचे होती है। यह अस्थि पाँच मोहरों के आपस में जुड़ जाने से बनती है, अर्थात् त्रिक में पाँच हड्डियाँ होती हैं। शिर—इसमें पंद्रह हड्डियाँ होती हैं। आगे ३३वें श्लोक का वक्तव्य देखो।

चतुर्दशैव सीमन्ताः, ते चास्थिसङ्घातवद्गणनीयाः, यतस्तैर्युक्ता अस्थिसङ्घाता, ये ह्युक्ता। सीमन्तास्तु खल्वष्टादशैकेषाम् ॥ १६ ॥

(सीमन्त—) सीमन्त भी चौदह हैं। उनको अस्थिसंघात के समान ही गिनना चाहिए, क्योंकि जो अस्थिसंघात अभी कहे हैं, उन्हीं से युक्त (सीमन्त) होते हैं। कई आचार्यों के मत से सीमन्त अठारह होते हैं ॥ १६ ॥

वक्तव्य—सीमन्त—सन्धावा सीविता येन् सीमन्तास्तान् प्रचक्ष्महे ॥ (भोज)। सीवन और सीमन्त एक है। एकेषाम्—सीमन्ताद् द्विगुणा नव। (अष्टांगहृदय) तद्वत् सीमन्ता। ते तु पञ्च शिरसि इत्यष्टादश। (अष्टांगसंग्रह)। इसका अभिप्राय यह है कि सिर के एक संघात के बदले पाँच सीमन्त लेकर बाकी तेरह संघात पहले की तरह लेना—सीमन्ताः पञ्च मूर्ध्नि स्युर्गुल्फादिष्वस्थिसंघवत् ॥ (अरुणदत्त टीका)। डल्हणाचार्य 'यतस्तैर्युक्ता अस्थिसंघाता, ये ह्युक्ताः सघातास्ते खल्वष्टादशैकेषाम्।' इस पाठ को देकर उसका अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं—परमतमाह—ये ह्युक्ता इत्यादि। एकेषामाचार्याणां मते संघाता अष्टादश यथा—पूर्वोक्ताश्चतुर्दश, श्रोणिवृषणाण्डमुपर्येक, वक्ष उपर्येक, उरोर संघाने एक, अस कूटमुपर्येक, एवमष्टादश ॥

त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते, शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि। तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते ॥ १७ ॥

(अस्थि और उनकी संख्या—) वेदवादी (मुनिशरीर में) ३६० हड्डियाँ (होती हैं ऐसा) कहते हैं, परंतु शल्यतन्त्र में केवल ३०० (हड्डियाँ होती हैं)। इनमें से शाखाओं में १२०, श्रोणी, पार्श्व, पृष्ठ और छाती, इनमें ११७, ग्रीवा से ऊपर ६३, इस प्रकार हड्डियों के तीन सौ पूरे होते हैं ॥ १७ ॥

वक्तव्य—वेदवादिन—वेद का अनुवाद करने वाले। अथर्ववेद में अस्थियों की संख्या ३६० बताई है—द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥ (१०-८-४)। इसके अनुसार याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में यही संख्या देते हैं—तस्य षोढा शरीराणि षट् त्वचो धारयन्ति च। षडङ्गानि, तथास्थ्नां च सह षष्ट्या शतत्रयम्॥ (३-८४)। त्रीणि सषष्टीनि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखेन। (चरक, शा० ७)। त्रीणि षष्ट्यधिकान्यस्थिशतानि। (अष्टांगसंग्रह)। काश्यपसंहिता के शरीरविचयशारीराध्याय में प्रत्यंगों की हड्डियों की जो संख्या बताई गई है, वह ठीक ठीक चरक के साथ मिलती है, अर्थात् उसके अनुसार भी हड्डियों की संख्या ३६० होती है। शल्यतन्त्रे—सुश्रुतसंहिता में। सुश्रुत का अनुवाद भेलसंहिता में भी किया गया है। आधुनिक पाश्चात्य शल्यचिकित्सकों के अनुसार शरीर में अस्थियों की संख्या कान की अस्थियों को छोड़कर दो सौ और उनके साथ दो सौ छः होती है। इस मतभेद के निम्न कारण हो सकते हैं। (१) अस्थि के साथ किसी प्रकार से न मिलने वाले पदार्थों को हड्डी में

१ कण्डराविनानि

गिनना। जैसे—नख। नखों का समावेश अस्थि में चरक में किया गया है, सुश्रुत में नहीं। (२) अस्थि के साथ मिलने वाले पदार्थों को, परन्तु जो वास्तव में अस्थि नहीं है, अस्थि में गिनना। जैसे—तरुणास्थि या कास्थि (Cartilage) और दाँत। आधुनिक काल में सूक्ष्मदर्शक (आगे २२वें सूत्र का वक्तव्य देखो) द्वारा प्रत्येक वस्तु की सूक्ष्म रचना का ज्ञान होने पर ये दोनों चीजें अस्थि से पृथक् सिद्ध हुई हैं। पचास साल पहले पाश्चात्य शल्यशास्त्रज्ञ भी दाँतों को अस्थियों में गिना करते थे। (३) जिनका वास्तव में स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उनका अस्तित्व मानना। जैसे—दांतों के उलूखल (sockets)। ये चरक के अनुसार स्वतन्त्र माने गये हैं, सुश्रुत में नहीं। (४) जो अस्थियाँ वास्तव में हैं नहीं, उनको भी गिनना अर्थात् काल्पनिक परिगणना। जैसे—पसलियों की संख्या प्रत्येक पार्श्व में ३६ बताई है और उनकी गणना १२ पसलियाँ, बारह अर्बुद और बारह स्थालक इस प्रकार की गई है—पार्श्वे षट्त्रिंशदेवमेकस्मिन्। (सुश्रुत)। इसका विवरण चरक में इस प्रकार है—द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पर्शुकाः, तावन्ति स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि। (शारीर ७)। यहाँ पर प्रत्येक पसली के तीन भाग माने गये हैं—पसली, स्थालक और अर्बुद। इनमें अर्बुद पसली का ही भाग है, उसे पसली से अलग गिनने की आवश्यकता नहीं है। स्थालक कशेरुका (Vertebra) का भाग है, जिसे पसलियों में गिनना उचित नहीं। परन्तु यदि सुभीते के लिए या अपनी विशेष गणनापद्धति के अनुसार इनको अलग भी गिना जाय तथापि अन्तिम दो पसलियों के लिए न अर्बुद होते हैं, न स्थालक। इसलिए प्राचीन गणनापद्धति के अनुसार भी पार्श्व-अस्थियों की संख्या ७२ न होकर ६४ होगी। (५) अस्थियों के उभारों को पृथक् पृथक् अस्थि मानना। जैसे, ऊपर के पसलियों के उभार; इसके सिवा पीठ की कशेरुकाओं के प्रवर्धन (Transverse process)। वास्तव में ये स्वतन्त्र न होकर एक होते हैं। (६) सामान्य करण (Generalization) की पद्धति। जैसे, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ। एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश। इससे यद्यपि अस्थियों की संख्या में फर्क नहीं पड़ता तथापि वास्तविक संख्या का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। जैसे, पादकूर्चास्थियों की (Tarsal bones) संख्या करकूर्चास्थियों (Carpal bones) से वास्तव में भिन्न है, परन्तु इस सामान्य करणपद्धति से वह एक हो जाती है। प्रत्येक अंगुलि में तीन हड्डियाँ और अँगूठे में केवल दो ही होती हैं। परंतु अंगुलियों में अंगूठे की गिनती करने के कारण उनकी कुल संख्या चौदह के बदले पन्द्रह हो जाती है। (७) अस्थियों के ऊपर के निशान देखकर उसके अनुसार एक एक अस्थि की कई अस्थियाँ मानना—जैसे, वक्षोस्थि और श्रोण्यस्थि। (८) गणना करने की पद्धति में भेद होने के कारण एक ही अंग की हड्डियों की संख्या भिन्न भिन्न होती है। जैसे, सुश्रुत में पीठ की अस्थियों की संख्या ३० और चरक में ४५ बतलाई है। वैसे ही सुश्रुत में सिर की अस्थियों की संख्या ४ और सुश्रुत में ६ बताई गई है। (९) उत्तरकालीन शारीरज्ञानाभाव—शवविच्छेद की प्रथा बंद होने के पश्चात् शारीर का प्रत्यक्ष ज्ञान मिलने का मार्ग बंद हो गया। इसलिए उत्तरकालीन ग्रंथकार, टीकाकार तथा पुराने ग्रंथों के लेखक शारीर के संबंध में अनुमान से अधिक काम लेने लगे। इसका परिणाम यद्यपि अस्थियों की कुल संख्या पर नहीं हुआ तथापि भिन्न भिन्न अंगों की अस्थिसंख्या पर जरूर हुआ, जिससे 'एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि इति पञ्चदश' इस प्रकार के प्रमाद या विकृत पाठभेद ग्रंथ में प्रविष्ट हो गये। मतभिन्नता के इतने कारण होने पर भी अनस्थियों को अस्थियों में गिनना और अस्थियों के उभारों की स्वतन्त्र परिगणना करना ये ही अस्थिसंख्याभिन्नता के मुख्य दो कारण हैं। आयुभिन्नता भी एक कारण माना जाता है। इसका विचार आगे ६९वें सूत्र के वक्तव्य के 'पुरुष' की टिप्पणी में किया गया है, उसे देखो। शाखासु—दो ऊर्ध्व और दो अधोशाखाओं की संख्या एक सौ बीस है। यह संख्या आधुनिक संख्या के साथ मिलती है। इसका तात्पर्य यह है कि शाखाओं की अस्थिगणना में एकाध अस्थि को छोड़कर और कोई मदभेद नहीं है। चरक में नखों का समावेश अस्थियों में करने के कारण यह संख्या कुछ अधिक (१२८) हो गई है। अष्टांगसंग्रह चरकमतानुसारी होने पर भी अगों की संख्या में चरक से विभिन्नता रखता है। उसके अनुसार शाखाओं की अस्थिसंख्या एक सौ चालीस है—तेषां चत्वारिंशच्छतं शाखासु॥ श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु—आधुनिक गणना के अनुसार इस विभाग की अस्थियों की संख्या केवल ५० होती है। चरक के अनुसार यह संख्या १४१ और अष्टांगसंग्रह के अनुसार १२० होती है—सविंशच्छतमन्तराधौ॥ ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वम्—इस विभाग में आधुनिक मतानुसार केवल ३६ अस्थियाँ होती हैं। चरक के अनुसार इसमें ९१ और अष्टांगसंग्रहानुसार १०० अस्थियाँ होती हैं—शतमूर्ध्वमिति।

अब षडंगों की पृथक् पृथक् अस्थियों की गणना बताई जाती है—

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पार्ष्ण्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूराविति, त्रिंशदेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ॥ १९॥

(शाखाओं की अस्थियाँ—) पैर की एक एक अंगुली में तीन तीन (हड्डियाँ होती हैं, इस प्रकार सब मिलकर अंगुलियों में) वे पंद्रह (होती हैं)। तल, कूर्च और गुल्फ संश्रित हड्डियाँ दस, पार्ष्णि में एक, जङ्घा में दो, जानु में एक, ऊरु में एक; (इस प्रकार) एक टांग में तीस हड्डियाँ होती हैं। इसी से ही दूसरी टांग तथा दोनों बाहुओं (की हड्डियों) का वर्णन हो गया है॥ १९॥

वक्तव्य—तानि पञ्चदश—प्रत्येक अंगुलि में तीन तीन हड्डियाँ होती हैं, परंतु अँगूठे में तीन न होकर केवल दो ही होती हैं; अतः यह संख्या पंद्रह न होकर चौदह होनी चाहिए। परन्तु इस आक्षेप के ऊपर एक उत्तर यह हो सकता है कि अन्य अंगुलियों की जैसी गतिमर्यादा होती है, वैसी गतिमर्यादा अँगूठे के बारे में न होने के कारण उसके तल की अस्थि (शलाका) उसके साथ हिलती है।

अत अँगूठे की अस्थिगणना में उसकी तलास्थि उसके साथ गिनी गई है। यह समाधान बहुत ठीक और युक्तियुक्त (रसयोगसागर, उपोद्घात पृष्ठ १७२) है, उसमें संदेह नहीं, परन्तु निम्न दो कारणों से उसका ग्रहण सुश्रुत पाठ के समर्थन के लिए नहीं किया जा सकता। (१) यदि यह विचारसरणि प्राचीन काल में भी मान्य होती तो अँगुलितल की शलाकाओं की संख्या चार होना जरूर था, परन्तु वह संख्या पाँच ही बताई गई है—तले पादतले पञ्च शलाकाः। (डल्हण)। अष्टाङ्गसंग्रह में भी ऐसा ही वर्णन है—प्रत्येकमङ्गुल्या त्रीण्यस्थीनि तानि पञ्चदश। पञ्च पादशलाकाः। अरुणदत्त भी अष्टाङ्गहृदय की टीका में इसी प्रकार लिखते हैं—पञ्चपादनखासन्निश्रितमङ्गुल्यस्थित्रयम्। एवं पञ्चदशैतानि शलाकाः पञ्च तु स्मृताः (२) यह कारण विशेष महत्त्व का है क्योंकि यह सुश्रुतान्तर्गत है। अंगुलियों की संधियों का वर्णन करते समय प्रत्येक अँगुलि में तीन और अँगूठे में दो ही संधियाँ बतलाई हैं—एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयः, द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्दश। यदि अँगूठे में तीन अस्थियाँ अन्य अंगुलियों के समान होतीं तो संधियाँ भी उनके समान तीन होना जरूरी था, परन्तु दो ही सन्धियाँ लिखी हैं। इस लिए अँगूठे में दो ही अस्थियाँ मानना उचित है। तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश—पादतल, पादकूर्च और गुल्फ इन तीन समूह की अस्थियाँ इसमें शामिल हैं। पादतल की अस्थियों को शलाका भी कहते हैं। इनकी संख्या पाँच होती है। यदि अंगुल्यस्थियों की संख्या पन्द्रह ही रक्खी जाय तो इनकी संख्या चार माननी पड़ेगी। पादकूर्च—इनमें पाँच अस्थियाँ होती हैं। ये बहुत छोटी छोटी हैं। गुल्फ—जंघास्थियों के साथ मिलने वाली हड्डी। यह एक है। इस प्रकार ये दश और यदि पादाङ्गुलियाँ चौदह हों तो ग्यारह होती हैं। जङ्घायां द्वे—जंघा में दो हड्डियाँ होती हैं—एक बाहर और एक भीतर। भीतर की मोटी और बाहर की पतली होती है। जानुन्येकम्—घुटने के सामने होने वाली यह पतली चपटी हड्डी है। अधोशाखा की हड्डियों के अंग्रेजी नाम—अँगुलि की अस्थियाँ—Phalanges, शलाका—Metatarsal bones, कूर्चास्थि—Tarsal bones गुल्फास्थि—Talus पार्ष्ण्यस्थि—Calcaneus, पाश्चात्य शारीर में गुल्फ और पार्ष्णि कूर्चास्थि (Tarsal bones) में समाविष्ट करते हैं और इस तरह पादकूर्चास्थियों की संख्या ७ होती है; अन्तर्जङ्घास्थि—Tibia, बहिर्जङ्घास्थि—Fibula जान्वस्थि—Patella, ऊर्वस्थि—Femur। इस प्रकार अधोशाखा में कुल ३० हड्डियाँ होती हैं। ऊर्ध्व शाखा की हड्डियों के नाम अंगुल्यस्थियाँ—Phalanges, हस्तशलाकाएँ—Metacarpal bones हस्तकूर्चास्थियाँ—Carpal bones हस्तगुल्फ—Lunate and Navicular of the carpal bones, पाश्चात्य शारीर के अनुसार हस्तकूर्चास्थियों की संख्या ८ होती है, जिसमें गुल्फ की दो अस्थियों का भी समावेश होता है। यदि अंगुलियों की अस्थियों की संख्या पंद्रह मानी जाय तो हस्ततलकूर्च गुल्फसंश्रित अस्थियों की संख्या बारह होनी चाहिए। यहाँ पर हाथ के लिए जो दश संख्या बताई गई है, यह ठीक नहीं है। पैर की जङ्घा के समान ऊर्ध्वशाखा का जो भाग होता है, उसको अरत्नि या प्रकोष्ठ कहते हैं। इसमें भी जङ्घा के समान बाहर और भीतर की दो अस्थियाँ होती हैं। अन्तःप्रकोष्ठास्थि—Ulna, बहिःप्रकोष्ठास्थि—Radius, बाह्वस्थि या प्रगण्डास्थि—Humerus, हाथ में जान्वस्थि के समान कोई हड्डी नहीं है, परन्तु 'एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ' इसके अनुसार जान्वस्थि का प्रतिनिधि कूर्परास्थि हाथ में माना जाता है। वास्तविक यह स्वतन्त्र अस्थि न होकर अन्तःप्रकोष्ठास्थि का ऊपर का सिरा है। इसको कूर्परकूट (Olecranon) या जानुकपाल के अनुसार कूर्परकपाल कहते हैं। अन्तःप्रकोष्ठास्थि का यह सिरा उसके साथ सोलह साल की आयु में पूर्णतया जुड़ जाता है। शाखास्थियों के सम्बन्ध में हाराणचन्द्र का पाठ निम्न प्रकार का है—तेषामष्टादशोत्तरं शतं शाखासु। एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि, अङ्गुष्ठे द्वे, तानि चतुर्दश। तलकूर्चगुल्फसंश्रितान्येकादश। पार्ष्ण्यामेकम्। जङ्घायां द्वे। एकमूरावित्येवं त्रिंशदेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति। द्वितीयेऽप्येवम्। एतेनैव जानुवर्जेन बाहू च व्याख्यातौ। हाराणचन्द्र का यह कथन भी सदोष है क्योंकि यद्यपि बाहु में जान्वस्थि की तरह कूर्परास्थि नहीं होती तथापि हस्तकूर्चास्थियों में एक अस्थि अधिक होती है, जिससे टांग की अस्थिसंख्या के बराबर हाथ की अस्थि संख्या हो जाती है।

श्रोण्यां पञ्च, तेषां गुदभगनितम्बेषु[1] चत्वारि त्रिकसंश्रितमेकं पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येवं, पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टावुरसि, द्वे[2] अंसफलके ॥२०॥

(धड़ की अस्थियाँ—) श्रोणी में पाँच, इनमें से गुद भग और नितम्ब में चार, त्रिकाश्रित एक, एक पार्श्व में छत्तीस, दूसरे में भी इतनी ही (छत्तीस), पीठ में तीस, छाती में आठ, दो अंसफलक ॥ २० ॥

वक्तव्य—मध्य और सिर की अस्थिगणना में बहुत भिन्नता है, जिसका समन्वय करना कठिन है। श्रोण्यां पञ्च—आधुनिक गणना के अनुसार दोनों तरफ दो श्रोणिफलक (Os innominatum or hip bone) होते हैं। प्रत्येक श्रोणिफलक तीन अस्थियों के संयोग से बनता है। उनके नाम हैं जघनकपाल (Ileum, कुकुन्दरास्थि (Ischium) और भगास्थि (Pubes)। ये तीनों अस्थियाँ आपस में जुड़ी रहती हैं, इसलिए नव्यगणना में वे एक समझी जाती हैं। अष्टांगसंग्रह में नितम्ब की हड्डियाँ दो ही बतलाई हैं—नितम्बयोर्द्वे। चरक और काश्यप संहिता में श्रोणिफलक दो ही बतलाये हैं, परन्तु भगास्थि उससे पृथक् गिनी है—द्वे श्रोणिफलके एकं भगास्थि। श्रोणी की पाँच हड्डियों का ठीक समर्थन करना कठिन है। त्रिक—तीनों के सन्धानस्थान को त्रिक कहते हैं। यह शब्द अधिकतर पृष्ठवंश और दोनों नितम्बास्थियों के संयोग स्थान के लिए प्रयुक्त होता है—पृष्ठवंशास्थ्नोर्यत्र संनिवेशस्तत् त्रिकं मतम्॥ कभी कभी त्रिकशब्द पृष्ठवंश और अंसफलकों की संधि के लिए भी प्रयुक्त होता है—[illegible] करोति। (सुश्रुत, सूत्र २१)। 'त्रिकसंश्रितमेकम्' से

---

१ भगगुदनितम्बेषु २ द्वे एव मते

नीचे के त्रिकस्थान में आश्रित एक हड्डी अर्थात् त्रिकास्थि (Sacrum) समझ सकते हैं। यह अस्थि पाँच मोहरों के आपस में जुड़ जाने से बनी है। इसके दोनों पार्श्वों से श्रोणिफलक जुड़े रहते हैं। नीचे गुदास्थि या अनुत्रिकास्थि (Coccyx) जुड़ी रहती है। ऊपर से कटि का अन्तिम मोहरा मिला रहता है। इसकी शक्ल कुछ तिकोनी होती है और यदि गुदास्थि को इसके साथ मिलाया जाय तो पूरी तिकोनी बन जाती है। गुदास्थि—पृष्ठवंश की यह अन्तिम अस्थि है। चार छोटी छोटी अस्थियों के जुड़ जाने से यह बनती है। सपुच्छ प्राणियों में इसी से पुच्छ निकलता है तथा उनमें ये अस्थियाँ अलग अलग और अधिक संख्या में होती हैं। इसकी भी शक्ल तिकोनी है। गुदद्वार के पीछे दबाने पर इसकी नोक को हम स्पर्श कर सकते हैं। श्रोणी की पाँच हड्डियों की संख्या अगर कायम करना हो तो निम्न प्रकार से कर सकते हैं—१ भगास्थि (इसमें दोनों तरफ के भगास्थियों के संयोग को पृथक् माना है), २ नितम्बास्थि, गुदास्थि और १ त्रिकास्थि। पार्श्वे षट्त्रिंशत्—पार्श्व की पसलियों (Ribs) की संख्या ३६ होती है। वास्तव में पर्शुकाएँ प्रत्येक पार्श्व में बारह होती हैं। परन्तु यहां पर उनके उभार (Tubercle) तथा स्थालक (पीठ के मोहरों के प्रवर्धन, जिनके साथ पसलियां मिलती हैं) अलग माने गये हैं। इसलिए उनकी संख्या तिगुनी हो गई है—पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पर्शुकाः, तावन्ति स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि। (चरक)। स्थालकानीति पर्शुकानां मूलस्थानलग्नानि, स्थालकार्बुदानि तु पर्शुकामूलान्यर्बुदाकाराण्यस्थीनि। (चक्रपाणिदत्त)। पृष्ठे त्रिंशत्—पृष्ठवंश (Vertebral column) के पृष्ठ और कटि विभाग की अस्थियों की अर्थात् रीढ़ के मोहरों की संख्या। इसके सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। चरक में इसकी संख्या ४५ बताई है। पर्शुकाओं की ३६ या ७२ संख्या के सम्बन्ध में संहिता में तथा टीका में जैसा स्पष्टीकरण मिलता है, वैसा स्पष्टीकरण पृष्ठ की संख्या के सम्बन्ध में नहीं मिलता। अतः इसके स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में प्रत्येक अपनी बुद्धि से काम लेता है। वास्तव में पृष्ठ के मोहरे १२ और कटि के ५ मिलकर पीठ में १७ अस्थियाँ होती हैं। यहाँ पर जो तीस संख्या बतलाई गई है, उसके सम्बन्ध में एक पक्ष का मत है कि वास्तव में यह संख्या सम्पूर्ण पृष्ठवंश की अस्थियों की है। दूसरे का मत है कि, जैसे पर्शुकाओं में उनके उभार और स्थालक स्वतन्त्र गिने गये हैं, वैसे ही पृष्ठवंश में मोहरों के प्रवर्धन (Processes) अलग गिने गये हैं। इन दोनों के साथ तीसरा भी एक पक्ष सूचित किया जाय तो अप्रस्तुत नहीं होगा। वह तीसरा पक्ष इस प्रकार का है। पृष्ठवंश के मोहरे आपस में सीधे नहीं मिलाये गये हैं। उनके बीच में शणसूत्रसंतततरुणास्थि के वलय (Intervertebral fibrocartilages) होते हैं। ये वलय काफी मोटे होते हैं। यहाँ तक कि सब मिलकर पृष्ठवंश की लम्बाई की चौथाई के लगभग हो जाते हैं। अतः यह बहुत सम्भवनीय है कि पृष्ठ की अस्थियों में इनकी गणना की गई हो। नवीन गणना के अनुसार पीठ में १७ मोहरे और १७ अन्तःकशेरुवलय अर्थात् दोनों मिलकर ३४ अस्थियाँ हो सकती हैं। अष्टावुरसि—इसमें उरःफलक (Sternum) और दो अक्षक (Clavicles) मिलकर तीन अस्थियाँ होती हैं। अक्षक—इसी को हँसली भी कहते हैं। यह लम्बी हड्डी है, जिसका एक सिरा उरःफलक के ऊपर के हिस्से के साथ और दूसरा सिरा अंसफलक के कूट के साथ मिला रहता है। यह हड्डी दो जगह कुछ मुड़ी हुई है। राजयक्ष्मी—दुर्बल और कृश मनुष्यों में यह अधिक उभरी हुई दिखाई देती है क्योंकि इसके ऊपर और नीचे कुछ गढ़ा-सा बन जाता है। उरःफलक या वक्षोऽस्थि—यह अस्थि चपटी और लम्बी है, जो ग्रीवा के नीचे के भाग से प्रारम्भ होकर उदर के कौड़ीप्रदेश तक रहती है। इस अस्थि के तीन खण्ड होते हैं। ऊपर का चौड़ा और छोटा (Manubrium) भाग, जिसके ऊपर के सिरे में कण्ठकूप (Sternal notch) करके एक गढ़ा होता है। मध्यखण्ड लम्बा होता है। इसमें चार अस्थियाँ जुड़ी रहती हैं। तीसरा अग्रपत्र (Xiphoid process) जो कौड़ीप्रदेश में दबाने पर स्पर्शलभ्य होता है। इस तरह वक्षोस्थि में छः अस्थियाँ होती हैं। सोलह साल के पूर्व वे सब अस्थियाँ स्वतन्त्र होती हैं। इसके पश्चात् २५ साल की उमर तक मध्यखण्ड के चारों विभाग आपस में जुड़ जाते हैं। ऊपर की और नीचे की अस्थियाँ मध्य के साथ अधेड़ उमर के बाद मिलती हैं। द्वे अंसफलके—अंसफलक (Scapula) प्रत्येक पार्श्व में पीछे की ओर एक होता है। इसका आकार कुछ तिकोना होता है। यह चपटी हड्डी है, परन्तु इसमें कई उभार होते हैं। इसका चौड़ा भाग खवे में और मोटा भाग कंधे में रहता है। इस मोटे भाग में अंसपीठ (Glenoid cavity) नामक गढ़ा रहता है, जिसमें बाहु की अस्थि का सिरा मिला और बँधा रहता है। चौड़े भाग के दो पृष्ठ होते हैं। एक पसलियों के समीप का और दूसरा पिछला, जो स्पर्श किया जा सकता है। पिछले पृष्ठ पर तलवार की तरह एक टेढ़ा नीचे से ऊपर की ओर जाने वाला उभार होता है, जिसे अंसप्राचीरक (Spine) कहते हैं। कंधे की ओर इसका सबसे ऊँचा जो भाग होता है, उसे अंसकूट कहते हैं। इसी के साथ अक्षक लगा रहता है। इस अस्थि के तीन किनारे होते हैं—एक पृष्ठवंश की ओर का जो सब से लम्बा होता है, दूसरा कक्षा की ओर का और तीसरा ऊपर का होता है। कक्षा की ओर का सब से मोटा और ऊपर की ओर का सब से छोटा रहता है। ऊपर के किनारे के पास अंसतुण्ड (Cora-coid process) नामक मुड़ा हुआ उभार होता है।

ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः; दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसीति ॥ २१ ॥

(शिर और ग्रीवा की हड्डियाँ—) ग्रीवा में नौ, कण्ठनाड़ी में चार, हनु के दो, दाँत बत्तीस, नाक में तीन, तालु में एक, गण्ड, कर्ण और शङ्ख में एक एक, शिर में छः॥२१॥

वक्तव्य—ग्रीवायां नव—ग्रीवा में वास्तव में सात मोहरे होते हैं। पहले और दूसरे मोहरों को छोड़कर बाकी मोहरे एक से होते हैं। नीचे वाले मोहरे ऊपर वालों की अपेक्षा कुछ बड़े रहते हैं। पहला मोहरा वलयाकार होता है, इसलिए यह चूडावलया (Atlas) कहलाता है। दूसरे में

अतः अँगूठ की अस्थिगणना में उसकी तलास्थि उसके साथ गिनी गई है। यह समाधान बहुत ठीक और युक्तियुक्त (रसयोगसागर, उपोद्घात पृष्ठ १५२) है, उसमें संदेह नहीं, परन्तु निम्न दो कारणों से उसका ग्रहण सुश्रुत पाठ के समर्थन के लिए नहीं किया जा सकता। (१) यदि यह विचारसरणि प्राचीन काल में भी मान्य होती तो अंगुलितल की शलाकाओं की संख्या चार होना जरूर था, परन्तु वह संख्या पाँच ही बताई गई है—तले पादतले पञ्च शलाका। (डल्हण)। अष्टांगसंग्रह में भी ऐसा ही वर्णन है—प्रत्येकमङ्गुल्यां त्रीण्यस्थीनि तानि पञ्चदश। पञ्च पादशलाका। अरुणदत्त भी अष्टांगहृदय की टीका में इसी प्रकार लिखते हैं—पञ्चपादनखासन्निभमत्यङ्गुल्यास्थित्रयम्। एवं पञ्चदशैतानि, शलाका पंच तु स्मृता। (२) यह कारण विशेष महत्त्व का है क्योंकि यह सुश्रुतान्तर्गत है। अंगुलियों की संधियों का वर्णन करते समय प्रत्येक अंगुलि में तीन और अंगूठे में दो ही संधियाँ बतलाई हैं—एकैकस्या पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रय, द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्दश। यदि अँगूठ में तीन अस्थियाँ अन्य अंगुलियों के समान होतीं तो संधियां भी उनके समान तीन होना जरूरी था, परतु दो ही सन्धियां लिखी हैं। इस लिए अँगूठे में दो ही अस्थियाँ मानना उचित है। तलकूर्च गुल्फसंश्रितानि दश—पादतल, पादकूर्च और गुल्फ इन तीन समूह की अस्थियाँ इसमें शामिल हैं। पादतल की अस्थियों को शलाका भी कहते हैं। इनकी संख्या पाँच होती है। यदि अंगुल्यस्थियों की संख्या पन्द्रह ही रक्खी जाय तो इनकी संख्या चार माननी पड़ेगी। पादकूर्च—इनमें पाँच अस्थियाँ होती हैं। ये बहुत छोटी छोटी हैं। *गुल्फ—जंघास्थियों के साथ मिलने वाली हड्डी।* यह एक है। इस प्रकार ये दश और यदि पादाङ्गुलियाँ चौदह हों तो ग्यारह होती हैं। जङ्घाया द्वे—जंघा में दो हड्डियाँ होती हैं—एक बाहर और एक भीतर। भीतर की मोटी और बाहर की पतली होती है। जानुयेकम्—घुटने के सामने होने वाली यह पतली चपटी हड्डी है। अधोशाखा की हड्डियों के अंग्रेजी नाम—अँगुलि की अस्थियाँ—Phalanges, शलाका—Metatarsal bones, कूर्चास्थि—Tarsal bones गुल्फास्थि—Talus पार्ष्ण्यस्थि—Calcaneus, पाश्चात्य शारीर में गुल्फ और पार्ष्णि कूर्चास्थि (Tarsal bones) में समाविष्ट करते हैं और इस तरह पादकूर्चास्थियों की संख्या ७ होती है; अन्तर्जङ्घास्थि—Tibia, बहिर्जङ्घास्थि—Fibula जान्वस्थि—Patella, ऊर्वस्थि—Femur। इस प्रकार अधोशाखा में कुल ३० हड्डियाँ होती हैं। ऊर्ध्व शाखा की हड्डियों के नाम—अगुल्यस्थियाँ—Phalanges हस्तशलाकाएँ—Metacarpal boneso हस्तकूर्चास्थियाँ—Carpal bone हस्तगुल्फ—Lunate and Navicular *of the carpal bone* पाश्चात्य शारीर के अनुसार हस्तकूर्चास्थियों की संख्या ८ होती है, जिसमें गुल्फ की दो अस्थियों का भी समावेश होता है। यदि अंगुलियों की अस्थियों की संख्या पंद्रह मानी जाय तो हस्ततलकूर्च गुल्फसंश्रित अस्थियों की संख्या बारह होनी चाहिए। यहाँ पर हाथ के लिए जो दश संख्या बताई गई है, वह *ठीक नहीं है। पैर की जङ्घा के समान ऊर्ध्वशाखा का जो* भाग होता है, उसको अरत्नि या प्रकोष्ठ कहते हैं। इसमें भी जङ्घा के समान बाहर और भीतर की दो अस्थियां होती हैं। अन्तःप्रकोष्ठास्थि—*Ulna*, बहिःप्रकोष्ठास्थि—Radius, बाह्वस्थि या प्रगण्डास्थि—Humerus। हाथ में जान्वस्थि के समान कोई हड्डी नहीं है, परन्तु 'एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ' इसके अनुसार जान्वस्थि का प्रतिनिधि कूर्परास्थि हाथ में माना जाता है। वास्तविक यह स्वतन्त्र अस्थि न होकर अन्तःप्रकोष्ठास्थि का ऊपर का सिरा है। इसको कूर्परकूट (Olecranon) या जानुकपाल के अनुसार कूर्परकपाल कहते हैं। अन्तःप्रकोष्ठास्थि का यह सिरा उसके साथ सोलह साल की आयु में पूर्णतया जुड़ जाता है। शाखास्थियों के सम्बन्ध में हाराणचन्द्र का पाठ निम्न प्रकार का है—तेषामष्टादशोत्तरं शतं शाखासु। एकैकस्या पादाङ्गुल्या त्रीणि त्रीणि, अङ्गुष्ठे द्वे, तानि चतुर्दश। तलकूर्चगुल्फसंश्रितान्येकादश। पार्ष्ण्यामेकम्। जङ्घाया द्वे। एकमूरावित्ति त्रिंश *देकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति। द्वितीयेऽप्येवम्। एतेनैव जानुवर्जेन बाहू च* व्याख्यातौ। हाराणचन्द्र का यह कथन भी सदोष है क्योंकि यद्यपि बाहु में जान्वस्थि की तरह कूर्परास्थि नहीं होती तथापि हस्तकूर्चास्थियों में एक अस्थि अधिक होती है, जिससे टांग की अस्थिसंख्या के बराबर हाथ की अस्थि संख्या हो जाती है।

श्रोण्यां पञ्च, तेषां गुदभगनितम्बेषु[1] चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेकं पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येवं, पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टावुरसि, द्वे अंसफलके॥२०॥

(धड़ की अस्थियाँ—) श्रोणी में पाँच, इनमें से गुद भग और नितम्ब में चार, त्रिकाश्रित एक, एक पार्श्व में छत्तीस, दूसरे में भी इतनी ही (छत्तीस), पीठ में तीस, छाती में आठ, दो अंसफलक॥ २०॥

वक्तव्य—मध्य और सिर की अस्थिगणना में बहुत भिन्नता है, जिसका समन्वय करना कठिन है। श्रोण्यां पञ्च—आधुनिक गणना के अनुसार दोनों तरफ दो श्रोणिफलक (Osinnominatum or hip bone) होते हैं। प्रत्येक श्रोणिफलक तीन अस्थियों के संयोग से बनता है। उनके नाम हैं जघनकपाल (Ileum, धूकुन्दरास्थि (Ischium) और भगास्थि (Pubes)। ये तीनों अस्थियाँ आपस में जुड़ी रहती हैं, इसलिए नव्यगणना में वे एक समझी जाती हैं। अष्टांगसंग्रह में नितम्ब की हड्डियाँ दो ही बतलाई हैं—नितम्बयोर्द्वे। चरक और काश्यप संहिता में श्रोणिफलक दो ही बतलाये हैं, परन्तु भगास्थि उससे पृथक् गिनी है—द्वे श्रोणिफलके एकं भगास्थि। श्रोणी की पाँच हड्डियों का ठीक समर्थन करना कठिन है। त्रिक—तीनों के सन्धानस्थान को त्रिक कहते हैं। यह शब्द अधिकतर पृष्ठवंश और दोनों नितम्बास्थियों के संयोग स्थान के लिए प्रयुक्त होता है—स्फिक्सक्थ्नो पृष्ठवंशस्थ्नोश्च सन्धिस्तत् त्रिकं मतम्। कभी कभी त्रिकशब्द पृष्ठवंश और अंसफलकों की संधि के लिए भी प्रयुक्त होता है—उरः स्थलत्रिकसंधारणमार्गेर्यान्तरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति। (सुश्रुत, सूत्र २१)। 'त्रिकसंश्रितमेकम्' से

१ भगगुदनितम्बेषु २ द्वे अक्षके

नीचे के त्रिकस्थान में आश्रित एक हड्डी अर्थात् त्रिकास्थि (Sacrum) समझ सकते हैं। यह अस्थि पाँच मोहरों के आपस में जुड़ जाने से बनी है। इसके दोनों पार्श्वों से श्रोणिफलक जुड़े रहते हैं। नीचे गुदास्थि या अनुत्रिकास्थि (Coccyx) जुड़ी रहती है। ऊपर से कटि का अन्तिम मोहरा मिला रहता है। इसकी शक्ल कुछ तिकोनी होती है और यदि गुदास्थि को इसके साथ मिलाया जाय तो पूरी तिकोनी बन जाती है। गुदास्थि—पृष्ठवंश की यह अन्तिम अस्थि है। चार छोटी छोटी अस्थियों के जुड़ जाने से यह बनती है। सपुच्छ प्राणियों में इसी से पुच्छ निकलता है तथा उनमें ये अस्थियाँ अलग अलग और अधिक संख्या में होती हैं। इसकी भी शक्ल तिकोनी है। गुदद्वार के पीछे दबाने पर इसकी नोक को हम स्पर्श कर सकते हैं। श्रोणी की पाँच हड्डियों की संख्या अगर कायम करना हो तो निम्न प्रकार से कर सकते हैं—१ भगास्थि (इसमें दोनों तरफ के भगास्थियों के संयोग को पृथक् माना है), २ नितम्बास्थि, गुदास्थि और १ त्रिकास्थि। पार्श्वे षट्त्रिंशत्—पार्श्व की पसलियों (Ribs) की संख्या ३६ होती है। वास्तव में पर्शुकाएँ प्रत्येक पार्श्व में बारह होती हैं। परन्तु यहां पर उनके उभार (Tubercle) तथा स्थालक (पीठ के मोहरों के प्रवर्धन, जिनके साथ पसलियां मिलती हैं) अलग माने गये हैं। इसलिए उनकी संख्या तिगुनी हो गई है—पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पर्शुकाः, तावन्ति स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि। (चरक)। स्थालकानीति पर्शुकानां मूलस्थानलग्नानि, स्थालकार्बुदानि तु पर्शुकामूलान्यर्बुदाकाराण्यस्थीनि। (चक्रपाणिदत्त)। पृष्ठे [त्रिं]शत्—पृष्ठवंश (Vertebral column) के पृष्ठ और कटि [वि]भाग की अस्थियों की अर्थात् रीढ़ के मोहरों की संख्या। [इ]सके सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। चरक में इसकी संख्या [४]५ बताई है। पर्शुकाओं की ३६ या ७२ संख्या के सम्बन्ध में संहिता में तथा टीका में जैसा स्पष्टीकरण मिलता है, वैसा स्पष्टीकरण पृष्ठ की संख्या के सम्बन्ध में नहीं मिलता। अतः इसके स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में प्रत्येक अपनी बुद्धि से काम लेता है। वास्तव में पृष्ठ के मोहरे १२ और कटि के ५ मिलकर पीठ में १७ अस्थियाँ होती हैं। यहाँ पर जो तीस संख्या बतलाई गई है, उसके सम्बन्ध में एक पक्ष का मत है कि वास्तव में यह संख्या सम्पूर्ण पृष्ठवंश की अस्थियों की है। दूसरे का मत है कि, जैसे पर्शुकाओं में उनके उभार और स्थालक स्वतन्त्र गिने गये हैं, वैसे ही पृष्ठवंश में मोहरों के प्रवर्धन (Processes) अलग गिने गये हैं। इन दोनों के साथ तीसरा भी एक पक्ष सूचित किया जाय तो अप्रस्तुत नहीं होगा। वह तीसरा पक्ष इस प्रकार का है। पृष्ठवंश के मोहरे आपस में सीधे नहीं मिलाये गये हैं। उनके बीच में [अन्तः]कशेरुकान्तरतरुणास्थि के वलय (Intervertebral fibrocartilages) होते हैं। ये वलय काफी मोटे होते हैं। यहाँ तक कि सब मिलकर पृष्ठवंश की लम्बाई की चौथाई के लगभग हो जाते हैं। अतः यह बहुत सम्भवनीय है कि पृष्ठ की अस्थियों में इनकी गणना की गई हो। नवीन गणना के अनुसार पीठ में १७ मोहरे और १७ अन्तःकशेरुकवलय अर्थात् दोनों मिलकर [३४] अस्थियाँ हो सकती हैं। [illegible]

उरःफलक (Sternum) और दो अक्षक (Clavicles) मिलकर तीन अस्थियाँ होती हैं। अक्षक—इसी को हँसली भी कहते हैं। यह लम्बी हड्डी है, जिसका एक सिरा उरःफलक के ऊपर के हिस्से के साथ और दूसरा सिरा अंसफलक के कूट के साथ मिला रहता है। यह हड्डी दो जगह कुछ मुड़ी हुई है। राजयक्ष्मी—दुर्बल और कृश मनुष्यों में यह अधिक उभरी हुई दिखाई देती है क्योंकि इसके ऊपर और नीचे कुछ गढ़ा-सा बन जाता है। उरःफलक या वक्षोऽस्थि—यह अस्थि चपटी और लम्बी है, जो ग्रीवा के नीचे के भाग से प्रारम्भ होकर उदर के कौड़ीप्रदेश तक रहती है। इस अस्थि के तीन खण्ड होते हैं। ऊपर का चौड़ा और छोटा (Manubrium) भाग, जिसके ऊपर के सिरे में कण्ठकूप (Sternal notch) करके एक गढ़ा होता है। मध्यखण्ड लम्बा होता है। इसमें चार अस्थियाँ जुड़ी रहती हैं। तीसरा अग्रपत्र (Xiphoid process) जो कौड़ीप्रदेश में दबाने पर स्पर्शलभ्य होता है। इस तरह वक्षोस्थि में छः अस्थियाँ होती हैं। सोलह साल के पूर्व वे सब अस्थियाँ स्वतन्त्र होती हैं। इसके पश्चात् २५ साल की उमर तक मध्यखण्ड के चारों विभाग आपस में जुड़ जाते हैं। ऊपर की और नीचे की अस्थियाँ मध्य के साथ अधेड़ उमर के बाद मिलती हैं। द्वे अंसफलके—अंसफलक (Scapula) प्रत्येक पार्श्व में पीछे की ओर एक होता है। इसका आकार कुछ तिकोना होता है। यह चपटी हड्डी है, परन्तु इसमें कई उभार होते हैं। इसका चौड़ा भाग खवे में और मोटा भाग कंधे में रहता है। इस मोटे भाग में अंसपीठ (Glenoid cavity) नामक गढ़ा रहता है, जिसमें बाहु की अस्थि का सिरा मिला और बँधा रहता है। चौड़े भाग के दो पृष्ठ होते हैं। एक पसलियों के समीप का और दूसरा पिछला, जो स्पर्श किया जा सकता है। पिछले पृष्ठ पर तलवार की तरह एक टेढ़ा नीचे से ऊपर की ओर जाने वाला उभार होता है, जिसे अंसप्राचीरक (Spine) कहते हैं। कंधे की ओर इसका सबसे ऊँचा जो भाग होता है, उसे अंसकूट कहते हैं। इसी के साथ अक्षक लगा रहता है। इस अस्थि के तीन किनारे होते हैं—एक पृष्ठवंश की ओर का जो सब से लम्बा होता है, दूसरा कक्षा की ओर का और तीसरा ऊपर का होता है। कक्षा की ओर का सब से मोटा और ऊपर की ओर का सब से छोटा रहता है। [ऊपर के] किनारे के पास अंसतुण्ड (Cora-coid process) [illegible] मुड़ा हुआ उभार होता है।

ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां [illegible] दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां [illegible] गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसि [illegible] [प]ाँच

(सिर और ग्रीवा की [illegible] भाग, कण्ठनाड़ी में चार, [illegible] आकार की तालु में एक, गण्ड, कर्ण और [illegible] सिर के पछ[illegible] [illegible]कारी हड्डियों की

वक्तव्य—ग्रीवा [illegible] मोहरे होते हैं। [illegible] इसलिए कपाल से [illegible] [क]पालास्थियों को चपटी मोहरे एक [illegible] हैं। जहाँ पर पेशियों [illegible] लिए अधिक स्थान की [illegible]

दाँत के समान एक उभार होता है, इसलिए यह दन्तचूडा (Epistrophius) कहलाता है। इसके दाँत के ऊपर पहला बैठता है और दोनों नरमादगी (Pivot Joint) की तरह संधित होते हैं। इसके कारण सिर में इधर उधर घुमाव काफी हो सकता है। अष्टांगसंग्रह में ग्रीवास्थियों की संख्या १३ और चरक में १५ बतलाई है। ग्रीवा की अस्थियों के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कण्ठनाड्यां चत्वारि—ये प्रायः स्वरयन्त्र की तरुणास्थियाँ मालूम होती हैं। ये तरुणास्थियाँ तीन अकेली और तीन दो दो करके नौ होती हैं। यदि कण्ठनाडी (Trachea) के छल्लों का विचार किया जाय तो ये संख्या में १६-२० होते हैं। द्वे हन्वो—इससे वाम और दक्षिण तरफ की हनु के दो विभाग समझने चाहिएँ। वास्तव में हनु की हड्डी एक होती है। यह हड्डी आधुनिक परिभाषा में अधोहन्वस्थि (Mandible) कहलाती है। परन्तु बचपन में दो साल की उमर तक इसके दो विभाग साफ साफ दिखाई देते हैं। चरक में हनु और हनुमूलबंधन करके हनु की तीन हड्डियाँ बताई हैं। नासायां त्रीणि—दोनों तरफ की नासा की दो हड्डियाँ (Nasal bones) और नासा के पर्दे की एक। इसमें Vomer और Ethmoid दोनों का संबंध आता है। एकं तालुनि—ये वास्तव में दो होती हैं, परंतु एक मानी गई है। चरक और काश्यपसंहिता में ये दो ही बताई गई हैं—द्वे तालुके। (चरक)। द्वे द्वे श्रोणी तालुनि तथा। (काश्यपसंहिता)। गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं—एक हड्डी एक तरफ, इस तरह ये छः हड्डियाँ होती हैं। इनकी मर्यादा कहीं पर नहीं बताई गई है, परंतु यदि करोटी एक तरफ से देखी जाय तो इनसे निम्न अस्थियों का बोध होता है। गण्डास्थि—इसमें Maxilla और Malar (ऊर्ध्वहन्वस्थि और गण्डास्थि) का समावेश कर सकते हैं। कर्णास्थि—इससे Mastoid portion of the temporal (कर्णमूलपिण्ड) समझ सकते हैं। शङ्खास्थि—इसमें Sphenoid (जतूकास्थि) और Squama of the temporal (शङ्खास्थि का शल्कखण्ड) का समावेश कर सकते हैं। षट् शिरसि—शिरस् से यहाँ शिरःपटल (Roof or vault) का अर्थ लेना चाहिए। पटल में वास्तव में चार अस्थियाँ होती हैं। पुरःकपाल एक, पार्श्व कपाल दो और पश्चिम कपाल एक। चरक और काश्यपसंहिता में सिर की चार हड्डियाँ बतलाई हैं। यहाँ पर छः कहने का कारण यह मालूम होता है कि बचपन में प्रायः छः साल तक पुरः और पश्चिम कपाल दो भागों में विभक्त रहता है। अतः प्रत्येक की दो दो हड्डियाँ होने से कुल संख्या छः हो जाती है। नवीन गणना के अनुसार सिर की अस्थियों में ग्रीवा के मोहरों का समावेश नहीं किया जाता और मुख के साथ सिर की हड्डियाँ बाईस होती हैं। इनके अँग्रेजी तथा सद्यःप्रचलित संस्कृत नाम दिये जाते हैं। पुरःकपाल—Frontal, पार्श्वकपाल—Parietal, पश्चिमकपाल—Occipital, शंखकास्थि—Temporal, जतूकास्थि—Sphenoidal, झर्झरास्थि—*Ethmoidal*, नासास्थि—*Nasal*, ऊर्ध्वहन्वस्थि—Maxilla, अश्रुपीठास्थि—Lachrymal गंडास्थि—Malar or zygomatic, तात्वस्थि—Palatine, शुक्तिकास्थि—Inferior nasal conchae, सीरिकास्थि—Vomer

अब इसके बाद चरक, सुश्रुत और नवीन अस्थिसंख्या का तुलनात्मक कोष्ठक दिया जाता है, जिससे तीनों के साम्य और वैषम्य के स्थान तुरन्त ध्यान में आ जायँगे।

अस्थिसंख्यातुलनात्मक कोष्ठक

चरक		सुश्रुत		नवीन	
नख	२०	—		—	
पाद—अंगुलियाँ	३०	,,	३०	Phalanges	23
,, शलाकाएँ	१०	तल	१०	Metatarsals	10
,, अधिष्ठान	२	कूर्च } गुल्फ }	१०	Tarsus	12
,, गुल्फ	४			Os calcis	2
,, पार्ष्णि	२	,,	२	Phalanges	28
हस्त—अंगुलियाँ	३०	,,	३०	Metacarpals	10
,, शलाकाएँ	१०	तल	१०	Carpus	16
,, अधिष्ठान	२	कूर्च } मणिक }	१२		
,, मणिक	२				
अन्तर्जंघास्थि	२	,,	२	Tibia	2
बहिर्जंघास्थि	२	,,	२	Fibula	2
जानुकपालिका	२	,,	२	Patella	2
जानु	२	—		—	
ऊरु, नलक	२	,,	२	Femur	2
[illegible] { अन्तःप्रकोष्ठास्थि	२	,,	२	Ulna	2
{ बहिःप्रकोष्ठास्थि	२	,,	२	Radius	2
कूर्परास्थि	—	,,	२	—	
बाहुनलक	२	,,	२	Humerus	2
	१२८		१२०		120

धड़ (अन्तरार्ध)

चरक		सुश्रुत		नवीन	
श्रोणिफलक	२	श्रोणी	४	Os innominatum	2
भगास्थि	१			Sacrum	1
त्रिक	—		१	Coccyx	1
अनुत्रिक	—		—	Thoracic, lumbar Vertebrae	17
पृष्ठ की अस्थियाँ	४५		३०		
पर्शुक	२४	,,	२४	Ribs	24
,, अर्बुद	२४	,,	२४		
,, स्थालक	२४	,,	२४	—	
उरस की अस्थियाँ	१४	,,	८	Sternum	1
अक्षक	२	,,	२	Clavical	2
अंस	२	—		—	
अंसफलक	२	,,	२	Scapula	2
	१४०		११७		50

शिर, ग्रीवा

चरक		सुश्रुत		नवीन	
ग्रीवा की अस्थियाँ	१५	,,	९	Cervical vertebra	7
जत्रु	१	कण्ठनाडी	४	—	
हन्वस्थि	१	,,	२	Mandible	1
हनुमूलबंधने	२	—		—	
शिरःकपाल	४	,,	६	Frontal	1
				Parietal	2
				Occipital	1
ताल्वस्थियाँ	२	,,	१	Palatines	2
शंखास्थियाँ	२	,,	२	Temporal	2
नासास्थि		,,	३	Nasals	2
गण्डकूट	१	,,	२	Malar	2
ललाट		—		—	
कर्णास्थियाँ	—	—	२	Auditory ossicles	6
दाँत	३२	,,	३२	—	
,, उलूखल	३२	—		—	
जतुकादि अन्य अस्थियाँ अनिर्दिष्ट या अनिर्णीत	—	—		Sphenoidal and other bones	10
	९२		६३		36

एतानि पञ्चविधानि भवन्ति; तद्यथा—कपाल-रुचकतरुणवलयनलकसंज्ञानि। तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि, दशनास्तु रुचकानि, घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि, पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि, शेषाणि नलकसंज्ञानि ॥२२॥

(अस्थियों के प्रकार—) ये (शरीरगत अस्थियाँ) पाँच प्रकार की होती हैं। जैसे—कपाल, रुचक, तरुण, वलय और नलकसंज्ञक। इनमें से जानु, नितम्ब, अंस, गण्ड, तालु, शङ्ख और सिर (पटल इन स्थानों) में कपाल (संज्ञक अस्थियाँ होती हैं); दाँत तो रुचक (संज्ञक अस्थि हैं;) घ्राण, कर्ण, ग्रीवा और अक्षिकोष में तरुण (संज्ञक अस्थियाँ होती हैं); पार्श्व, पृष्ठ और उर में वलय (संज्ञक अस्थियाँ होती हैं); शेष अस्थियाँ नलकसंज्ञक होती हैं ॥२२॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शरीर के भीतर मिलने वाली सब अस्थियों के संगठन और आकार के अनुसार पाँच प्रकार बतलाये गये हैं। कपाल—मिट्टी के घड़े का भाग, खपड़ा या खप्पर। शरीर की कुछ हड्डियाँ इस आकार की होती हैं, इसलिए वे कपाल कहलाती हैं। सिर के पटल की हड्डियाँ कपाल के साथ अन्य कपालाकारी हड्डियों की अपेक्षा अधिक मिलती जुलती हैं। इसलिए कपाल से खोपड़ी का भी बोध होता है। कपालास्थियों को चपटी हड्डियाँ (Flat bones) कहते हैं। जहाँ पर पेशियों के निर्बंधन (Attachment) के लिए अधिक स्थान की

आवश्यकता होती है या भीतरी अंग की रक्षा करने की आवश्यकता होती है, वहाँ पर चपटी हड्डियाँ रहती हैं। चपटी हड्डियों के दोनों पृष्ठ बड़े मजबूत होते हैं और बीच में जो अवकाश रहता है, उसमें सुषिर धातु (Spongy tissue) होती है। रुचक—नमक का टुकड़ा—सौवर्चलं स्याद्रुचकं मध्यपाकश्च तन्मतम्। रुचकं रोचनं भेदि दीपनं पाचनं परम्॥ (भावप्रकाश)। सौवर्चल लवण के टुकड़े के समान दिखाई देते हैं, इसलिए दांत रुचक कहलाते हैं तथा उसके समान वे भंगुर भी होते हैं—स्फुटंति रुचकानि तु। (सुश्रुत, निदान १६)। रुचक कहने का और भी एक कारण हो सकता है। रुचि उत्पन्न करने वाले पदार्थों को भी रुचक कहते हैं। जैसे—सौवर्चल लवण, मातुलुंग इत्यादि। भोजन भी जब दाँतों के द्वारा खूब चबाया जाता है, तब रुचिकर होता है। इसलिए भी दाँत रुचक कहलाते होंगे। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में रुचक का अर्थ दूसरा करते हैं—रुचकानि रुचकाकारत्वात्। रुचक नाम बहुविधा कण्ठी चिरयोनि भाव। तरुण—जिन हड्डियों में अस्थिभवन (Ossification) का कार्य पूर्ण नहीं हुआ है, ऐसी हड्डियां। जन्म के समय शरीर की कुछ हड्डियां पूर्ण अस्थिभूत होती हैं और कुछ अपूर्ण अस्थिभूत होती हैं। अस्थिभवन होने से पूर्व हड्डियों के स्थान में जो चीज होती है, वह सफेद या पीले रंग की चिकनी, चमकदार और लचकदार रहती है। इसी को कास्थि या तरुणास्थि (Cartilage) कहते हैं। डेढ़ महीने के गर्भ के शरीर में कहीं भी अस्थि नहीं मिलेगी। अस्थि बनने का काम इसके बाद शुरू होता है और जवानी तक प्रायः सभी तरुणास्थियाँ परिपूर्ण अस्थि में परिवर्तित होती हैं। शरीर में कुछ तरुणास्थियाँ ऐसी हैं कि जो जीवन भर तरुण ही तरुण रहा करती हैं। जैसे—स्वरयन्त्र, टेंटुवे, कान, नाक इत्यादि अंगों की। तथापि इनमें से कुछ तरुणास्थियाँ, विशेष करके स्वरयन्त्र और टेंटुवे (कण्ठनाडी) की, बुढ़ापे में अस्थिभूत हो जाती हैं। आयुर्वेद में कण्ठनाडी की तरुणास्थियाँ हड्डियों में गिनने का यही कारण हो सकता है—The thyroid, cricoid and the greater part of the arytenoids consist of hyaline cartilage, and become more or less ossified as age advances By the sixty fifth year the cartilages may be completely converted into bone *Grey's Anatomy* इस तरह शरीर में तरुणास्थियाँ दो प्रकार की होती हैं एक वह जो स्वभाव से ही उचित आयु में पूर्ण अस्थि बन जाती हैं और दूसरी वह जो स्वभाव से ही प्रायः तरुणावस्था में रहती हैं। वलय—वलय या गोल आकार की। यहाँ पर हड्डियों के जो पाँच प्रकार किये गये हैं, उनमें शरीर की समस्त हड्डियाँ आ जाती हैं। रुचक प्रकार केवल दाँतों के लिए परिमित है। तरुण प्रकार अस्थिवृद्धि की दृष्टि से किया गया है। शेष जो तीन प्रकार रहे हैं, उनमें आकार की दृष्टि से शरीर की समस्त अस्थियाँ आ जाती हैं। कपालास्थियाँ वे हैं जिनमें लम्बाई चौड़ाई काफी होती है, मोटाई बहुत कम होती है और जो चपटी रहती है। नलकास्थियाँ वे हैं जिनमें लम्बाई काफी होती है, चौड़ाई और मोटाई प्रायः बराबर होती है और जो नलिका के आकार की गोल होती हैं। इन दो विभागों में जो अस्थियाँ नहीं आतीं वे सब वलय-विभाग में आती हैं। पाश्चात्य शारीर में आकार के अनुसार अस्थियों के चार प्रकार किये जाते हैं—१ चपटी (Flat) २ लम्बी (Long) ३ छोटी Short), और ४ विषम (Irregular)। आयुर्वेद में आकार के अनुसार केवल तीन प्रकार होते हैं, जिनमें से चपटी और लम्बी हड्डियाँ कपाल और नलक हड्डियों के साथ मिलती हैं। शेष केवल वलय प्रकार रहता है अर्थात् इस प्रकार में पाश्चात्य के विषम और छोटा ये दो प्रकार आ जाते हैं। इसलिए वलय प्रकार में Short and Irregular bones का समावेश करना चाहिए। छोटी हड्डियों में हाथ पैर की कूर्चास्थियाँ (Carpal and Tarsal bones) और विषमास्थियों में पीठ के मोहरे आ जाते हैं। वलय में, अतः, इनका समावेश करना उचित है। भावप्रकाश में इनका समावेश किया गया है—पाण्योः पार्श्वयोः पृष्ठे वक्षोजठरपायुषु। पादयोर्वलयानि स्युः॥ आगे वलयास्थियों का जो सूत्र है, उसमें 'पाणिपादपृष्ठोरःसु वलयानि' ऐसा एक पाठभेद मिलता है। यह पाठभेद समीचीन है। इसमें पाणिपाद की कूर्चास्थियां अभिप्रेत हैं। हाराणसमत यही पाठ है। कुछ लोग इस पाठभेद को समीचीन नहीं समझते—पाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरःसु वलयानि इति पाठस्तु न समीचीनः टीकायामुक्तेन भोजवचनेन सह विरोधात् प्रत्यक्ष विरोधाच्च। (निर्णयसागर सुश्रुतसंहिता पादटिप्पणी) भोज का वचन नलकास्थियों के निर्देश के लिए है
हस्तपादाङ्गुलितलेषु कूर्चेषु मणिबन्धयोः। बाहुजङ्घाद्वये च जानीयान्नलकानि तु॥ (सुश्रुतटीका में डल्हण से उ[द्धृत] भोजवचन)। इस वचन में कूर्च का समावेश नलकास्थि[यों] में किया है, इसलिए 'पाणिपादपृष्ठोरःसु वलयानि' यह [पाठ] समीचीन नहीं मालूम होता। हाथ और पैर की जो छो[टी] छोटी अस्थियां (Carpal and tarsal) होती हैं, उन[को] कोई विचारी मनुष्य नलकास्थियों में नहीं गिनेगा। इस[का] समावेश गोल अस्थियों में ही हो सकता है। इसलि[ए] उपर्युक्त भोजवचन का अर्थ निम्न प्रकार का होता है: हाथ पैर की अंगुलियों में (Phalanges) उनके तल (शलाकाएँ Meta carpals and meta tarsals) प्रकोष्ठ (मणिबन्ध) में, दोनों बाहु और जङ्घा में नलकस[ंज्ञक] अस्थियाँ जानना चाहिए। इस प्रकार अर्थ करने से उपर्यु[क्त] पाठभेद का तथा भोजवचन का उचित मतलब निकल[ता] है। नलक—लम्बी और भीतर से नालीदार। इस प्रक[ार] की अस्थियां शाखाओं में मिलती हैं। इसके दो भाग हो[ते] हैं—प्रांत (Epiphysis) और शरीर (Diphysis)। शरी[र] बेलनाकार (Cylindrical) होकर उसके मध्य में ए[क] नाली होती है, जिसमें मज्जा (Marrow) होती है। इ[स] नाली के आस पास का भाग सुषिर रहता है। इसमें र[क्त] मज्जा रहती है। सब से ऊपर कठिन भाग रहता है। प्रां[त] भाग शरीर की अपेक्षा कुछ मोटे होते हैं क्योंकि ये दूस[री] अस्थियों से संधित होते हैं तथा इनके ऊपर स्नायु औ[र] पेशियों की कण्डराएँ लगी रहती हैं।

संगठन की दृष्टि से इन पांच प्रकार के तीन भेद होत[े]

हैं। अतः उनका संगठन नीचे दिया जाता है। अस्थि का संगठन—अस्थियाँ दो प्रकार के पदार्थों से बनी हैं—१ सेन्द्रिय, और २ निरिन्द्रिय या खनिज। ये दोनों पदार्थ अयस्संघात (Reinforced concrete) की तरह आपस में मिले रहते हैं । खनिज पदार्थों से अस्थियों में दृढ़ता आती है और सेन्द्रिय पदार्थों से उनमें लचक आती है। अस्थि को भट्टी में जलाने से उसके सेन्द्रिय पदार्थ जल जायँगे और वह स्पंज के समान जालीदार दिखाई देगी। इस जाली के तार खनिज पदार्थ से बनते हैं। अतः उसका लचकीलापन नष्ट होकर वह भुरभुरी (भंगुर Friable) बन जाती है और दबाने पर उसका चूरा बन जाता है। तोल में ये खनिज पदार्थ ⅔ होते हैं। इन खनिज पदार्थों में कैलसिअम फोस्फेट सब से अधिक (५१ प्रतिशत) होता है। इसके सिवाय कैलसिअम कार्बोनेट (११ प्रतिशत), कैलसियम क्लोराइड, मगनेशिअम फोस्फेट, और सोडिअम क्लोराइड (खाने का नमक) ये लवण भी होते हैं। यदि अस्थि को जलमिश्र नमक के, गंधक के या शोरे के तेजाब में कुछ देर रक्खा जाय तो खनिज-पदार्थ घुल जायँगे और केवल सेन्द्रिय पदार्थ बचे रहेंगे । खनिज-पदार्थ-विरहित अस्थि तान्तव धातु (Fibrous tissue) और कोशाओं से बनती है। यह बहुत मुलायम हो जाती है। इसको मोड़ने की कोशिश की जाय तो वह मुड़ सकती है तथा लम्बी हो तो उसमें गाँठ भी लगाई जा सकती है। जब खाद्य पेय द्रव्यों में चूने की कमी होती है या उसके सात्म्यीकरण के लिए आवश्यक जीवद्रव्य 'डी' (Vitamine. D) की कमी होती है, तब हड्डी के सेन्द्रिय भाग में चूने का संचय ठीक तौर से नहीं होता और हड्डी में दृढ़ता कम होती है, जिससे वह टेढ़ी हो जाती है। इस अवस्था को अस्थिफक्क या वक्रता (Rickets) कहते हैं और यह अवस्था बच्चों में पाई जाती है (१० अध्याय के ४२वें श्लोक के वक्तव्य में 'फक्क' देखो)। अस्थि की सूक्ष्म रचना—अस्थि नालियों के एक पूल (बन्डल) की तरह होती है। ये नालियाँ हावर्सिअन नालियाँ (Haversian canals) कहलाती हैं । इनमें रक्तवाहिनियाँ और नाड़ियाँ (Nerves) होती हैं । इन नालियों के चारों ओर सूत्रों के कई घेरे होते हैं। इन घेरों के बीच में अस्थि की खास कोशाएँ होती हैं। इनकी शक्ल मकड़ी जैसी होती है। कोशाओं के घरों से बहुत सी सूक्ष्म नालियाँ (Canaliculi) निकली रहती हैं, जो आस पास की नालियों से मिली रहती हैं। इन नालियों में रक्त का पोषक भाग बहता है और कोशाओं और सूत्रों का पोषण करता है। कोशाओं और सूत्रों के बीच में चूने के लवण संचित होते हैं। कास्थि या तरुणास्थि की सूक्ष्म रचना—तरुणास्थि दो प्रकार की होती है—सूत्रमय और सूत्रविहीन। सूत्रमय में उसकी खास कोशाओं के अतिरिक्त सूत्र होते हैं। सूत्र के रंग के अनुसार इसके दो भेद किये गये हैं—पीत सूत्रमय और श्वेत सूत्रमय । पीत सूत्रमय तरुणास्थि में लचकीलापन अधिक होता है। विशुद्ध तरुणास्थि (अस्थिभवन होने से पूर्व) केवल सेन्द्रिय द्रव्यों से बनी रहती है। बहुत सी अस्थियों की जगह पहले तरुणास्थियाँ होती हैं। धीरे धीरे इनमें अस्थिविकासकेन्द्र (Centres of ossification) उत्पन्न होकर उनके चारों ओर अस्थि बनने का कार्य प्रारंभ होता है, जिससे चूने के तथा अन्य लवण उनमें इकट्ठे होने लगते हैं और कास्थि की कोशाओं की जगह अस्थि की कोशाएँ बनने लगती हैं। प्रत्येक अस्थि में कई केन्द्र प्रायः हुआ करते हैं। लम्बी अस्थियों में सब से पहले गात्रों में अस्थि बनना प्रारंभ होता है। किसी में एक, किसी में अनेक केन्द्र होते हैं । अस्थिविकासकेन्द्र नियत समय पर उदय हुआ करते हैं और तरुणास्थियों से अस्थियों की पूर्णता होने की आयु भी निश्चित रहती है । दाँतों की रचना और संगठन—प्रत्येक दाँत के तीन विभाग होते हैं। (१) दंताग्र या शिखर—यह वह भाग है जो श्वेत और चमकदार होता है तथा दन्तमांस से ऊपर निकला रहता है । इसी चमक (रुचकता—चमक—रुचदासु यत्र च रुचकतां गताः। शिशुपालवध १३-५३) के कारण संस्कृत में दाँत रुचक कहलाते हैं। दाँतों का यही भाग हमेशा देखने में आता है । (२) दंतग्रीवा—शिखर से नीचे जो किंचित् संकुचित भाग रहता है, उसको दंतग्रीवा कहते हैं। (३) दंतमूल—ग्रीवा के नीचे जबड़े के गड्ढे (दंत उलूखल) में गड़ा हुआ जो भाग होता है, वह दन्तमूल कहलाता है। कुछ दाँतों में एक, कुछ दाँतों में दो और कुछ दाँतों में तीन मूल होते हैं। दाँत का अगर व्यत्यस्त छेद लिया जाय तो उसमें तीन तहें मिलती हैं । सब से बाहर श्वेत और चमकदार तह होती है । यह तह केवल दंतमांस से ऊपर के हिस्से पर होती है । यह स्तर दंतवल्क या कवच (Enamel) कहलाता है। शरीर के सब पदार्थों में यह कठिनतम (निदान १६-३३) पदार्थ है। इसमें सेन्द्रिय पदार्थ अत्यल्प मात्रा में होते हैं। कुल निरिन्द्रिय पदार्थों की राशि ९६% के लगभग होती है। अस्थि में जो लवण होते हैं, वे ही लवण इसमें भी होते हैं, परंतु फर्क इतना ही होता है कि कैलसिअम फोस्फेट की राशि अधिक (८९% के लगभग) होती है। इस कवच के नीचे जो दूसरी चीज होती है, वह दन्ती (Dentine) कहलाती है। यह भी बहुत कठिन होती है, परंतु कवच से नरम रहती है। इसका रासायनिक संगठन अस्थि के संगठन से बहुत कुछ मिलता है। दन्तमूल के सार के ऊपर कवच न होकर उसकी जगह एक और चीज होती है, जो वास्तविक अस्थि के समान होती है। इसको दन्तप्रस्तर (Crusta Petrosa or Cement) कहते हैं। सब से भीतर दाँत का खोखला भाग होता है जिसके भीतर सूक्ष्मतन्तु, रक्तवाहिनियाँ और नाडीसूत्र होते हैं। इसको दन्तमज्जा कहते हैं। रक्तवाहिनियाँ और नाडीसूत्र दन्तमूलगत एक छिद्र में से भीतर प्रवेश करते हैं।

दाँत और तरुणास्थियाँ अस्थियों के साथ गिनने की पद्धति कहाँ तक युक्तियुक्त है?—दाँतों और तरुणास्थियों की सूक्ष्म रचना अस्थियों से विभिन्न है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सूक्ष्मरचनाविज्ञान सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के आविष्कार के पश्चात् उत्पन्न हुआ वैद्यक का एक विभाग है। इसके आधार पर अर्वाचीन काल में किये वर्गीकरण की दृष्टि से प्राचीन काल में मोटी मोटी बातों के आधार पर किये हुए वर्गीकरण को देखना उचित नहीं है । यदि अर्वाचीन विज्ञानसंमत कुछ अन्य पहलुओं से प्राचीन वर्गीकरण की

ओर देखा जाय तो यह वर्गीकरण वैज्ञानिक मालूम होता है। दाँतों का विचार कीजिए। यदि रासायनिक संगठन की दृष्टि से दाँत और अस्थि की ओर देखा जाय तो, जैसे शारीरगत अस्थियाँ कार्य-भिन्नता के कारण विविध आकार की होती हैं, कोई अधिक कठिन होती है, कोई कुछ नरम रहती है, बाहर का भाग कठिन होता है, भीतर का भाग सुषिर होता है परंतु आखिर में सब अस्थियाँ ही होती हैं, वैसे ही दाँत शरीर के बाहर अनावृत Exposed) होने के कारण तथा चबाने के कार्य के होने के कारण कवच में अधिक कठिन, सार में अस्थि सम और प्रस्तर में वास्तविक अस्थि के समान बनाये गये हैं, परंतु उनका रासायनिक संगठन अस्थि के समान ही होता है। अत दाँतों को कार्य भिन्नता के कारण उत्पन्न हुआ अस्थियों का ही विशेष स्वरूप मानने में कोई असामञ्जस्य नहीं हो सकता— Enamel is the hardest substance in the body It is made up of minute prisms of the same salts as th se of bone. The dentine resembles bone in chemical composition. Sheathing the portion of dentine which is b neath the level of the gum is a layer of true bone called the cement or crusta petrosa. *Ha lıburton's Physiology* आगे १०व अध्याय के २२वें सूत्र के वक्तव्य में दन्तच्छेद का टिप्पणी देखो।

अब तरुणास्थियों का विचार कीजिए। यदि शरीरगत स्नायु, सिरा, पेशियाँ इत्यादि मृदु (वल्ली के समान जो स्वय खड़े नहीं हो सकते) पदार्थों को आश्रय या आधार देने की दृष्टि से अस्थि और तरुणास्थि का विचार किया जाय तो ये दोनों भी समानरूपेण इन मृदु पदार्थों को आधार देते हैं। अत शरीर के सार (Frame work में आज भी दोनों का वर्गीकरण एक ही होता है। इसलिए अस्थियों के साथ तरुणास्थियों को गिनने के प्राचीन वर्गीकरण में कोई विशेष असामञ्जस्य नहीं है—the skeleton This is the frame work on which soft parts are built It consists of bones and cartilages which are bound together by ligaments of fibrous tissues. Serving a similar supporting function in the body as bone, cartilage is popularly known as gristle *Halliburton's physiology* नासा—नासा की तीन दीवालें होती हैं, एक भीतर का पर्दा और दो बाहर की। इनका ऊपर का भाग कठिन होता है, जो अस्थि का बनता है। नीचे का भाग मुलायम रहता है। इसमें तरुणास्थियाँ होती हैं। ये तरुणास्थियाँ जीवनभर तरुण रहती हैं। कर्ण—कान का जो बाह्य भाग होता है, उसके शष्कुली (Pi na) में तथा कुहर (Extern al auditory meatus के बाहरी ⅓ भाग में तरुणास्थियाँ होती हैं। यह तरुणास्थियाँ भी जीवनभर तरुण ही रहती हैं। ग्रीवा—ग्रीवा प्रदेश स्थित कण्ठनाडी याने टेंटुवा और स्वरयन्त्र। टेंटुवा और उसकी शाखा-प्रशाखाएँ (Trachea, Bronchi and bronchioles) तथा स्वरयन्त्र ये अङ्ग तरुणास्थियों से बने हुए हैं। टेंटुवा और उसकी शाखा-प्रशाखाओं की तरुणास्थियाँ छल्लेदार होती हैं। इन छल्लों के मुँह पीछे से खुले रहते हैं। कहीं कहीं ऊपर और नीचे के छल्ले कुछ अंश तक एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। सब छल्ले आपस में तान्तव धातु के द्वारा बंधे रहते हैं। स्वरयन्त्र की तरुणास्थियों का विवरण पीछे २१ वें सूत्र के वक्तव्य में कुछ किया है। टेंटुवे और कण्ठनाडी की तरुणास्थियों में बुढ़ापे में अस्थि-भवन की कुछ प्रवृत्ति होती है। अक्षिकोष—आँखों को ढाकने वाली चीज, अर्थात् वर्त्म या पल्क। पल्कों के मध्य में तन्तुनिर्मित एक दृढ पट्टी (Tarsus) होती है, जिसके कारण पल्क में कुछ दृढ़ता आ जाती है और उसका आकार स्थिर रहता है। ये पट्टियाँ न अस्थि है, न तरुणास्थि हैं, परन्तु तान्तव धातु (Fibrous tissue) की बनी हैं। पार्श्वपृष्ठोर सु—इसके बदले 'पाणिपादपार्श्वपृष्ठोर सु वलयानि' यह पाठ अधिक अच्छा है। पाणिपाद से अंगुलि और तल छोड़कर हाथ पैर की शेष अस्थियाँ लेनी चाहिए, पृष्ठ से पृष्ठवंश के मोहरे तथा उनके बीच में मिलने वाली वलयाकार तरुणास्थियाँ लेनी चाहिए। शेषाणि—शरीर की जो सम्पूर्ण अस्थियाँ हैं, उनमें से जिनका निर्देश ऊपर इस सूत्र में नहीं किया गया है वे सब, जैसे—बाहु की, अरत्नि की, ऊरु की, जङ्घा की इत्यादि।

भवन्ति चात्र—

अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥२३॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम्।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम्॥२४॥
मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥२५॥

(अस्थियों का कार्य—) जैसे कि वृक्ष (अपने शरीर के) अन्तर्गत (काष्ठरूप) सार (के सहारे) से खड़े रहते हैं, वैसे ही प्राणियों के देह निश्चिति से अस्थि (रूप) सार के सहारे से धारण किये जाते हैं ॥२३॥ इसलिए प्राणियों की त्वचा मांस (तथा शरीर की अन्य अस्थिविरहित मृदु धातुएँ) देर से नष्ट होने पर भी हड्डियाँ नष्ट नहीं होतीं, (क्योंकि) ये प्राणियों के (शरीरों में) सार हैं ॥ २४ ॥ (प्राणियों के शरीर में) अस्थियों का अवलम्बन करके सिराओं और स्नायुओं के द्वारा मांस अस्थियों में बँधा रहता है; (अतएव वह) न अस्त-व्यस्त होता है न गिरता है ॥ २५ ॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में अस्थियों का कार्य वर्णन किया है। सारैः—वृक्षों की दृष्टि से काष्ठसार। अस्थिसार—skeleton या Frame work of bones। तस्माच्चिरविनष्टेषु इत्यादि—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। (१) मनुष्य बीमार होने पर उसकी त्वचा, पेशियाँ इत्यादि अङ्ग क्षीण और पतले हो जाते हैं, परन्तु हड्डियाँ क्षीण नहीं होतीं, जिससे रुग्णोत्तर अवस्था में अस्थियों का मोटापन तथा शरीर की लम्बाई रुग्णपूर्व अवस्था के समान ही रहा करती है। (२) मृत्यु के पश्चात् जब शरीर रक्खा जाता है या जमीन में गाड़ा जाता है, तब त्वङ्मांसादि अङ्ग बहुत जल्दी गल जाते हैं और उनके गल जाने के पश्चात् बहुत काल तक

हड्डियाँ ज्यों की त्यों रह जाती हैं। अत्र—अस्थियों में। सिराभिः—इस पद का अर्थ निम्न दो प्रकार से कर सकते हैं। (१) सिरा से रज्जु या कण्डरा (स्नायु का ही एक विशेष रूप) समझना। इस अर्थ से कभी कभी आयुर्वेद में सिरा शब्द का प्रयोग होता है—अंसदेशस्थितो वायुः शोषयित्वांऽसबन्धनम्। सिरास्त्वाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयत्यववाहुकम्॥ (सुश्रुत, निदान १)। गृहीत्वार्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूविशोष्य च। पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान् विमोचयन्॥ (अष्टांगसंग्रह, निदान १५)। (२) किंवा सिरा से रक्तवाहिनी समझकर उसी में स्नायु के गुणों का अन्तर्भाव करना। मांसपेशियों में जो रक्तवाहिनियाँ होती हैं, उनमें से एकाध वाहिनी अस्थि में उसके पोषण के लिए (Nutrient artery) जाती है, तथा एकाध सिरा उसमें से बाहर निकल आती है। इन वाहिनियों का सम्बन्ध पेशीनिबन्धन के लिए माना गया हो तो उसमें आश्चर्य नहीं है। शार्ङ्गधर में स्पष्ट लिखा है—संधिबन्धनकारिण्यो दोषधातुवहाः सिराः॥ इस दृष्टि से उपर्युक्त अष्टांगसंग्रह और सुश्रुत के वचन का तथा प्रस्तुत श्लोक का अर्थ कर सकते हैं। स्नायुभिः—पेशियों की कण्डराएं, वितान तथा बंधन के काम में उपयोगी शणसूत्रसंनिभ शरीरगत धातु (Fibrous tissue in general and ligaments in particular) मांसानि—मांस शब्द यहाँ पर उपलक्षण है। इससे जैसे पेशियों का बोध होता है, वैसे शरीरगत अन्य अंगों का भी बोध होता है, जो अस्थियों के सहारे एक विशिष्ट स्थान पर अवस्थित हैं। अस्थियों के कार्य—(१) शरीर को खड़ा करना अर्थात् एक विशेष प्रकार की आकृति बनाना। (२) दबाव, चोट इत्यादि से त्वङ्मांसादि का नाश होने पर भी अंगों की आकृति में विशेष अन्तर न आने देना। (३) शरीर के कोमल अंगों को सहारा देना अर्थात् उनकी रक्षा करना। (४) मांसपेशियों के निबंधन से शरीर में विविध प्रकार की गतियाँ उत्पन्न करना।

अब संधियों का वर्णन करते हैं—

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः, स्थिराश्च ॥२६॥
शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः।
शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥२७॥

(संधियों के प्रकार और उनके स्थान—) जोड़ दो प्रकार के होते हैं—चल और स्थिर ॥२६॥ बुद्धिमान् शाखा, हनु और कटि में चेष्टायुक्त संधियाँ जाने और शेष (स्थानों की) संपूर्ण संधियाँ स्थिर जाने ॥२७॥

वक्तव्य—द्विविधाः—यहाँ पर गति के विचार से प्रकार किये गये हैं। सन्धि में गति होती है या नहीं, इस दृष्टि से सन्धियाँ दो प्रकार की ही हो सकती हैं। चेष्टावन्तः—जिन संधियों में गति हो सकती हैं वे चेष्टावन्त या चल कहलाती हैं। जैसे—कंधा, कोहनी, कलाई, हाथ पैर की अंगुलियाँ इत्यादि। बहुत सी चल संधियों में गति भली प्रकार होती है। जैसे, हाथ पैर की संधियाँ, सिर और पृष्ठवंश की संधियाँ इत्यादि। कुछ चल संधियों में गति थोड़ी सी हो सकती है; जैसे, पृष्ठवंश की संधियाँ, अक्षक और स्कन्धास्थि तथा अक्षक और वक्षोस्थि इत्यादि। पाश्चात्य परिभाषा में गति की अल्पता और अधिकता के अनुसार चल संधियों के बहुचेष्ट (Diarthroses, freely movable) और अल्पचेष्ट (Amphiarthroses, slightly movable) करके दो भेद किये गये हैं। बहुचेष्ट संधियों की संख्या बहुत अधिक है। इन संधियों में संधित होने वाली अस्थियों के सिरों के बीच में कुछ अन्तर रहता है, संधित होने वाले पृष्ठभाग पर सूत्रविहीन तरुणास्थि की पतली चिकनी तह चढ़ी रहती है और उनके ऊपर एक आटोपिका (Capsule) भी रहती है। कहीं कहीं दोनों सिरों के दर्मियान संधान चक्रिका (Articular disk) भी रहती है। अल्पचल संधियों की अस्थि सिरों के दर्मियान कहीं पर संधान चक्रिकाएं होती हैं (जैसे, पृष्ठवंश मोहरों की आपस की संधियाँ) और कहीं पर आन्तरास्थिक स्नायु (Interosseous ligament) होती हैं। अचल या स्थिर संधि—इस प्रकार की संधियों में जरा सी भी गति नहीं हो सकती क्योंकि इनका संधान इस तरह का बना रहता है कि गति असंभव होती है। इस प्रकार की संधियाँ खोपड़ी में मिलती हैं। यहाँ पर दोनों अस्थियाँ आपस में बिलकुल जुड़ी रहती हैं, कहीं पर जोड़ने वाली चीज तरुणास्थि और कहीं पर तान्तव धातु होती है। संस्कृत भाषा के अनुसार 'अ' का अर्थ अभाव और ईषत् दोनों प्रकार का होता है। इसलिए स्थिर या अचेष्ट संधियों में जिनमें बिलकुल गति नहीं होती, ऐसी संधियाँ तथा जिनमें जरा-सी गति हो सकती है, ऐसी संधियाँ समाविष्ट होती हैं। यहाँ पर चेष्टावन्त और स्थिर संधियों के जो उदाहरण श्लोक में दिये हैं, उनसे यही अर्थ निकलता है कि चेष्टावन्त संधियाँ वे हैं, जिनमें बहुचेष्टा होती है; और स्थिर संधियाँ वे हैं, जिनमें बिलकुल चेष्टा नहीं होती (अचल) तथा जिनमें जरा-सी चेष्टा हो सकती (अचल) है। संधियों की रचना—जहाँ पर जोड़ होता है, वहाँ पर कमजोरी आ जाती है तथा गति के कारण रगड़ उत्पन्न होती है। अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधित हड्डी में ये दो दोष उत्पन्न होते हैं। यदि ये दोनों दोष दूर किये जायँ तो अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधि शरीर के लिए अधिक उपयोगी हो जाती है। शरीर में ऐसा ही किया गया है। अचल संधियों के जोड़ रचनाविशेष से बिलकुल बेजोड़ किये गये हैं। आगे ३२वें सूत्र के वक्तव्य में तुन्नसेवनी की टिप्पणी देखो। अल्पचेष्ट और बहुचेष्ट संधियों में संधित होने वाले हड्डियों के सिरे चारों ओर से रज्जु या पट्टबंधनों के द्वारा इस तरह बंधे रहते हैं कि यदि एक मर्यादा से अधिक दबाव या आघात न हो, संधि में कुछ भी कमजोरी नहीं होती। ये बंधन स्नायु कहलाते हैं। इनका विशेष विवरण आगे ३४वें सूत्र से संधियों के पश्चात् किया गया है। जहाँ पर गति अधिक होती है, वहाँ पर घर्षण से बचाने के लिए संधियों में एक श्लेष्मल कला रक्खी रहती है, जिसकी कोशाओं से एक चिकनाईदार तरल निकलता रहता है। इस तरल से कला तथा अस्थियों के सिरे सदा तर रहते हैं। यह तरल वही काम देता है, जो यन्त्र में तेल। यन्त्र में तेल देने से रगड़ नहीं होती, उसके पुरजे जल्दी नहीं घिसते और गति भी अच्छी तरह होती है। वैसे ही इस तरल से संधियों में बिना रगड़ के गति भली भाँति होती है तथा अस्थियों के सिरे नहीं घिसते। जिस कला से यह तरल निकलता है,

ओर देखा जाय तो यह वर्गीकरण वैज्ञानिक मालूम होता है। दाँतों का विचार लीजिए। यदि रासायनिक संगठन की दृष्टि से दाँत और अस्थि की ओर देखा जाय तो, जैसे शारीरगत अस्थियाँ कार्य-भिन्नता के कारण विविध आकार की होती हैं, कोई अधिक कठिन होती है, कोई कुछ नरम रहती है, बाहर का भाग कठिन होता है, भीतर का भाग सुषिर होता है परंतु आखिर में सब अस्थियाँ ही होती हैं; वैसे ही दाँत शरीर के बाहर अनावृत Exposed) होने के कारण तथा चबाने के कार्य के होने के कारण कवच में अधिक कठिन, सार में अस्थि सम और प्रस्तर में वास्तविक अस्थि के समान बनाये गये हैं; परंतु उनका रासायनिक संगठन अस्थि के समान ही होता है। अतः दाँतों को कार्य भिन्नता के कारण उत्पन्न हुआ अस्थियों का ही विशेष स्वरूप मानने में कोई असामञ्जस्य नहीं हो सकता—Enamel is the hardest substance in the body It is made up of minute prisms of the same salts as th se of bone. The dentine resembles bone in chemical composition. Sheathing the portion of dentine which is beneath the level of the gum is a layer of true bone, called the cement or crusta petrosa *Ha lıburton's Physıology* आगे १०वें अध्याय के ५२वें सूत्र के वक्तव्य में दन्तोद्भेद की टिप्पणी देखो।

अब तरुणास्थियों का विचार लीजिए। यदि शरीरगत स्नायु, सिरा, पेशियाँ इत्यादि मृदु (वल्ली के समान जो स्वयं खड़े नहीं हो सकते) पदार्थों को आश्रय या आधार देने की दृष्टि से अस्थि और तरुणास्थि का विचार किया जाय तो ये दोनों भी समानरूपेण इन मृदु पदार्थों को आधार देते हैं। अत शरीर के सार (Frame work में आज भी दोनों का वर्गीकरण एक ही होता है। इसलिए अस्थियों के साथ तरुणास्थियों को गिनने के प्राचीन वर्गीकरण में कोई विशेष असामञ्जस्य नहीं है—The skeleton This is the frame work on which soft parts are built It consists of bones and cartilages which are bound together by ligaments of fibrous tissues. Serving a similar supporting function in the body as bone, cartilage is popularly known as qristle *Halliburton's physıology* नासा—नासा की तीन दीवालें होती हैं, एक भीतर का पर्दा और दो बाहर की। इनका ऊपर का भाग कठिन होता है, जो अस्थि का बनता है। नीचे का भाग मुलायम रहता है। इसमें तरुणास्थियाँ होती हैं। ये तरुणास्थियाँ जीवनभर तरुण रहती हैं। कर्ण—कान का जो बाह्य भाग होता है, उसके शष्कुली (Pinna) में तथा कुहर (External auditory meatus के बाहरी ⅓ भाग में तरुणास्थियाँ होती हैं। यह तरुणास्थियाँ भी जीवनभर तरुण ही रहती हैं। ग्रीवा—ग्रीवा प्रदेश स्थित कण्ठनाडी याने टेंटुवा और स्वरयन्त्र। टेंटुवा और उसकी शाखा-प्रशाखाएँ (Trachea, Bronchi and bronchioles) तथा स्वरयन्त्र ये अङ्ग तरुणास्थियों से बने हुए हैं। टेंटुवा और उसकी शाखा-प्रशाखाओं की तरुणास्थियाँ छल्लेदार होती हैं। इन छल्लों के मुँह पीछे से खुले रहते हैं। कहीं कहीं ऊपर और नीचे के छल्ले कुछ अंश तक एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। सब छल्ले आपस में तान्तव धातु के द्वारा बँधे रहते हैं। स्वरयन्त्र की तरुणास्थियों का विवरण पीछे २१ वें सूत्र के वक्तव्य में कुछ किया है। टेंटुवे और कण्ठनाडी की तरुणास्थियों में बुढ़ापे में अस्थि-भवन की कुछ प्रवृत्ति होती है। अक्षिकोष—आँखों को ढाकने वाली चीज, अर्थात् वर्त्म या पलक। पलकों के मध्य में तन्तुनिर्मित एक दृढ़ पट्टी (Tarsus) होती है, जिसके कारण पलक में कुछ दृढ़ता आ जाती है और उसका आकार स्थिर रहता है। ये पट्टियाँ न अस्थि हैं, न तरुणास्थि हैं, परन्तु तान्तव धातु (Fibrous tissue) की बनी हैं। पार्श्वपृष्ठोरःसु—इसके बदले 'पाणिपादपार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि' यह पाठ अधिक अच्छा है। पाणिपाद से अंगुलि और तल छोड़कर हाथ पैर की शेष अस्थियाँ लेनी चाहिए, पृष्ठ से पृष्ठवंश के मोहरे तथा उनके बीच में मिलने वाली वलयाकार तरुणास्थियाँ लेनी चाहिएँ। शेषाणि—शरीर की जो सम्पूर्ण अस्थियाँ हैं, उनमें से जिनका निर्देश ऊपर इस सूत्र में नहीं किया गया है वे सब, जैसे—बाहु की, अरत्नि की, ऊरु की, जङ्घा की इत्यादि।

भवन्ति चात्र—

अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥२३॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम्।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम्॥२४॥
मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥२५॥

(अस्थियों का कार्य—) जैसे कि वृक्ष (अपने शरीर के) अन्तर्गत (काष्ठरूप) सार (के सहारे) से खड़े रहते हैं, वैसे ही प्राणियों के देह निश्चित से अस्थि (रूप) सार के सहारे से धारण किये जाते हैं ॥२३॥ इसलिए प्राणियों की त्वचा मांस (तथा शरीर की अन्य अस्थिविरहित मृदु वस्तुएँ) देर से नष्ट होने पर भी हड्डियाँ नष्ट नहीं होतीं, (क्योंकि) ये प्राणियों के (शरीरों में) सार हैं ॥ २४ ॥ (प्राणियों के शरीर में) अस्थियों का अवलम्बन करके सिराओं और स्नायुओं के द्वारा मांस अस्थियों में बँधा रहता है, (अतएव वह) न अस्त-व्यस्त होता है, न गिरता है ॥ २५ ॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में अस्थियों का कार्य वर्णन किया है। सारैः—वृक्षों की दृष्टि से काष्ठसारैः। अस्थिसार—Skeleton या Frame work of bones। तस्माच्चिरविनष्टेषु इत्यादि—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। (१) मनुष्य बीमार होने पर उसकी त्वचा, पेशियाँ इत्यादि अङ्ग क्षीण और पतले हो जाते हैं, परन्तु हड्डियाँ क्षीण नहीं होतीं, जिससे रुग्णोत्तर अवस्था में अस्थियों का मोटापन तथा शरीर की लम्बाई रुग्णपूर्व अवस्था के समान ही रहा करती है। (२) मृत्यु के पश्चात् जब शरीर रक्खा जाता है या जमीन में गाड़ा जाता है, तब त्वङ्मांसादि अङ्ग बहुत जल्दी गल जाते हैं और उनके गल जाने के पश्चात् बहुत काल तक

हड्डियाँ ज्यों की त्यों रह जाती हैं। अत्र—अस्थियों में। सिराभिः—इस पद का अर्थ निम्न दो प्रकार से कर सकते हैं। (१) सिरा से रज्जु या कण्डरा (स्नायु का ही एक विशेष रूप) समझना। इस अर्थ से कभी कभी आयुर्वेद में सिरा शब्द का प्रयोग होता है—अंसदेशस्थितो वायुः शोषयित्वांऽसबन्धनम्। सिरास्त्वाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयत्यवबाहुकम्॥ (सुश्रुत, निदान १)। गृहीत्वार्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च। पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान् विमोक्षयन्॥ (अष्टांगसंग्रह, निदान १५)। (२) किंवा सिरा से रक्तवाहिनी समझकर उसी में स्नायु के गुणों का अन्तर्भाव करना। मांसपेशियों में जो रक्तवाहिनियाँ होती हैं, उनमें से एकाध वाहिनी अस्थि में उसके पोषण के लिए (Nutrient artery) जाती है, तथा एकाध सिरा उसमें से बाहर निकल आती है। इन वाहिनियों का सम्बन्ध पेशीनिबन्धन के लिए माना गया हो तो उसमें आश्चर्य नहीं है। शार्ङ्गधर में स्पष्ट लिखा है—संधिबन्धनकारिण्यो दोषधातुवहाः सिराः॥ इस दृष्टि से उपर्युक्त अष्टांगसंग्रह और सुश्रुत के वचन का तथा प्रस्तुत श्लोक का अर्थ कर सकते हैं। स्नायुभिः—पेशियों की कण्डराएं, वितान तथा बंधन के काम में उपयोगी शणसूत्रसंनिभ शरीरगत धातु (Fibrous tissue in general and ligaments in particular) मांसानि—मांस शब्द यहाँ पर उपलक्षण है। इससे जैसे पेशियों का बोध होता है, वैसे शरीरगत अन्य अंगों का भी बोध होता है, जो अस्थियों के सहारे एक विशिष्ट स्थान पर अवस्थित हैं। अस्थियों के कार्य—(१) शरीर को खड़ा करना अर्थात् एक विशेष प्रकार की आकृति बनाना। (२) दबाव, चोट इत्यादि से त्वङ्मांसादि का नाश होने पर भी अंगों की आकृति में विशेष अन्तर न आने देना। (३) शरीर के कोमल अंगों को सहारा देना अर्थात् उनकी रक्षा करना। (४) मांसपेशियों के निबंधन से शरीर में विविध प्रकार की गतियाँ उत्पन्न करना।

अब संधियों का वर्णन करते हैं—

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः, स्थिराश्च ॥२६॥
शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः।
शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥२७॥

(संधियों के प्रकार और उनके स्थान—) जोड़ दो प्रकार के होते हैं—चल और स्थिर ॥२६॥ बुद्धिमान् शाखा, हनु और कटि में चेष्टायुक्त संधियाँ जाने और शेष (स्थानों की) संपूर्ण संधियाँ स्थिर जाने ॥२७॥

वक्तव्य—द्विविधाः—यहाँ पर गति के विचार से प्रकार किये गये हैं। सन्धि में गति होती है या नहीं, इस दृष्टि से सन्धियाँ दो प्रकार की ही हो सकती हैं। चेष्टावन्तः—जिन संधियों में गति हो सकती हैं वे चेष्टावन्त या चल कहलाती हैं। जैसे—कंधा, कोहनी, कलाई, हाथ पैर की अंगुलियाँ इत्यादि। बहुत सी चल संधियों में गति भली प्रकार होती है। जैसे, हाथ पैर की संधियाँ, सिर और पृष्ठवंश की संधियाँ इत्यादि। कुछ चल संधियों में गति थोड़ी सी हो सकती है; जैसे, पृष्ठवंश की संधियाँ, अक्षक और स्कन्धास्थि तथा अक्षक और वक्षोस्थि इत्यादि। पाश्चात्य परिभाषा में गति की अल्पता और अधिकता के अनुसार चल संधियों के बहुचेष्ट (Diarthroses, freely movable) और अल्पचेष्ट (Amphiarthroses, slightly movable) करके दो भेद किये गये हैं। बहुचेष्ट संधियों की संख्या बहुत अधिक है। इन संधियों में संधित होने वाली अस्थियों के सिरों के बीच में कुछ अन्तर रहता है, संधित होने वाले पृष्ठभाग पर सूत्रविहीन तरुणास्थि की पतली चिकनी तह चढ़ी रहती है और उनके ऊपर एक आटोपिका (Capsule) भी रहती है। कहीं कहीं दोनों सिरों के दर्मियान संधान चक्रिका (Articular disk) भी रहती है। अल्पचल संधियों की अस्थि सिरों के दर्मियान कहीं पर संधान चक्रिकाएं होती हैं (जैसे, पृष्ठवंश मोहरों की आपस की संधियाँ) और कहीं पर आन्तरास्थिक स्नायु (Interosseous ligament) होती हैं। अचल या स्थिर संधि—इस प्रकार की संधियों में जरा सी भी गति नहीं हो सकती क्योंकि इनका संधान इस तरह का बना रहता है कि गति असंभव होती है। इस प्रकार की संधियां खोपड़ी में मिलती हैं। यहाँ पर दोनों अस्थियाँ आपस में बिलकुल जुड़ी रहती हैं, कहीं पर जोड़ने वाली चीज तरुणास्थि और कहीं पर तान्तव धातु होती है। संस्कृत भाषा के अनुसार 'अ' का अर्थ अभाव और ईषत् दोनों प्रकार का होता है। इसलिए स्थिर या अचेष्ट संधियों में जिनमें बिलकुल गति नहीं होती, ऐसी संधियाँ तथा जिनमें जरा-सी गति हो सकती है, ऐसी संधियाँ समाविष्ट होती हैं। यहाँ पर चेष्टावन्त और स्थिर संधियों के जो उदाहरण श्लोक में दिये हैं, उनसे यही अर्थ निकलता है कि चेष्टावन्त संधियाँ वे हैं, जिनमें बहुचेष्टा होती है; और स्थिर संधियाँ वे हैं, जिनमें बिलकुल चेष्टा नहीं होती (अचल) तथा जिनमें जरा-सी चेष्टा हो सकती (अचल) है। संधियों की रचना—जहाँ पर जोड़ होता है, वहाँ पर कमजोरी आ जाती है तथा गति के कारण रगड़ उत्पन्न होती है। अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधित हड्डी में ये दो दोष उत्पन्न होते हैं। यदि ये दोनों दोष दूर किये जायं तो अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधि शरीर के लिए अधिक उपयोगी हो जाती है। शरीर में ऐसा ही किया गया है। अचल संधियों के जोड़ रचनाविशेष से बिलकुल बेजोड़ किये गये हैं। आगे ३२वें सूत्र के वक्तव्य में तुन्नसेवनी की टिप्पणी देखो। अल्पचेष्ट और बहुचेष्ट संधियों में संधित होने वाले हड्डियों के सिरे चारों ओर से रज्जु या पट्टबंधनों के द्वारा इस तरह बंधे रहते हैं कि यदि एक मर्यादा से अधिक दबाव या आघात न हो, संधि में कुछ भी कमजोरी नहीं होती। ये बंधन स्नायु कहलाते हैं। इनका विशेष विवरण आगे ३४वें सूत्र से संधियों के पश्चात् किया गया है। जहाँ पर गति अधिक होती है, वहाँ पर घर्षण से बचाने के लिए संधियों में एक श्लेष्मल कला रक्खी रहती है, जिसकी कोशाओं से एक चिकनाईदार तरल निकलता रहता है। इस तरल से कला तथा अस्थियों के सिरे सदा तर रहते हैं। यह तरल वही काम देता है, जो यन्त्र में तेल। यन्त्र में तेल देने से रगड़ नहीं होती, उसके पुरजे जल्दी नहीं घिसते और गति भी अच्छी तरह होती है। वैसे ही इस तरल से संधियों में बिना रगड़ के गति भली भाँति होती है तथा अस्थियों के सिरे नहीं घिसते। जिस कला से यह तरल निकलता है,

वह कला संधिश्लेष्मधरा कला (Synovial membrane) और वह तरल संधिश्लेष्मा या श्लेषक (Synovia) कहलाता है—संधिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसंधिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति ॥ (सुश्रुत)। पर्वस्थोऽस्थिसंधिश्लेषणात् श्लेषक इति । (अष्टांगसंग्रह)। तथा चतुर्थ अध्याय में श्लेष्मधरा कला भी देखो। इस श्लेष्मधरा कला में कभी कभी सूजन उत्पन्न होती है, उसको संधिश्लेष्मकलाशोथ (Synovitis) कहते हैं। इसमें संधियों में सूजन, पीड़ा और गतियों में रुकावट होती है। कभी कभी दबाव के कारण संधिस्नायु ज़ोर से खिंच जाते हैं और कुछ सूत्र भी टूट जाते हैं, परंतु पूरी स्नायु कर्महीन नहीं होतीं। इस अवस्था को मोच आना (Sprain) कहते हैं। इसमें अधिक खींचने से या एक विशिष्ट दिशा में गति करने से संधि में थोड़ा बहुत दर्द होता है। जब अधिक ज़ोर पड़ने से या चोट लगने से संधिबंधन टूट जाते हैं, तब संधित अस्थियाँ अपने स्वाभाविक स्थान से हटकर एक दूसरे से अलग हो जाती हैं। इस अवस्था को संधिभग्न या संधिविश्लेष (Dislocation) कहते हैं। निदानस्थान के १५वें अध्याय का तीसरा सूत्र देखो।

सङ्ख्यातस्तु दशोत्तरे द्वे शते; तेषां शाखास्वष्टषष्टिः; एकोनषष्टिः कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्र्यशीतिः ॥२८॥

(संपूर्ण शरीर की तथा षडंगों की संधिसंख्या—) संख्या (की दृष्टि) से तो ये दो सौ दस हैं। इनमें से शाखाओं में अड़सठ, मध्यशरीर में उनसठ और ग्रीवा से ऊपर तिरासी ॥ २८ ॥

एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयः, द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्दश; जानुगुल्फवङ्क्षणेष्वेकैकः, एवं सप्तदशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥ २९ ॥

(शाखाओं की पृथक् पृथक् संधियाँ—) पाँव की प्रत्येक अंगुलि में तीन तीन, अँगूठे में दो; (इस प्रकार प्रत्येक पाँव की अँगुलियों में) ये चौदह, जानु, गुल्फ, वंक्षण में एक एक, इस प्रकार एक टाँग में सत्रह संधियाँ होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो जाता है ॥ २९ ॥

त्रयः कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोः, उरस्यष्टौ ॥ ३० ॥

(मध्यशरीर की संधियाँ—) श्रोणिफलकों में तीन, पृष्ठवंश में चौबीस, उतनी ही पार्श्वों में और वक्ष में आठ ॥३०॥

तावन्त एव ग्रीवायां, त्रयः कण्ठे, नाडीषु[1] हृदयक्लोमनिबद्धास्वष्टादश, दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु, एकः काकलके नासायां[2] च, द्वौ वर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकः, द्वौ हनुसन्धी, द्वावुपरिष्टाद्भ्रुवोः शङ्खयोश्च, पञ्च शिरःकपालेषु, एको मूर्ध्नि ॥ ३१ ॥

(ग्रीवा के ऊपर की संधिसंख्या—) ग्रीवा में उतनी ही (आठ), कण्ठ में तीन, हृदयक्लोमसंबद्ध नाड़ी में अठारह; दाँतों की जड़ों में दाँतों के बराबर (बत्तीस), काकलक और नासा में एक एक, नेत्राश्रित वर्त्ममण्डल में दो, गण्ड, कर्ण और शङ्ख इनमें (प्रत्येक तरफ) एक एक, दो हनु संधियाँ, भौंहों और शङ्खों के ऊपर दो, शिरःकपालों में पाँच, मूर्धा में एक ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—तावन्त एव—उरस में जितनी हैं, उतनी। नाडीषु इत्यादि—यहाँ पर 'फुफ्फुसक्लोमनिबद्धासु' ऐसा भी पाठ है। इसका मतलब इतना ही है कि यहाँ पर नाड़ी से कण्ठनाड़ी (Trachea) अभिप्रेत है। हाराणचन्द्र इसके बदले निम्न पाठ देते हैं—फुफ्फुसनिबद्धायां कण्ठस्थनाड्यां विंशतिः ॥ अठारह या बीस संख्या कण्ठनाडीगत छल्लों की अर्थात् उनके आपस के जोड़ों की है। दन्तमूलेषु—यहाँ पर दन्तमूल और उलूखल इनके जोड़ों की संख्या अभिप्रेत है। काकलक—डल्हण के अनुसार 'काकलक गलनर्माणं, घण्टिकेति लोके।' चरक और चक्रपाणिदत्त के अनुसार तालुमूल—यस्य श्लेष्मा प्रकुपितः काकले व्यवतिष्ठते। आशु संजनयेच्छोफं करोति गलशुण्डिकाम् ॥ (चरक, सूत्र १८)। काकलं तालुमूलम् । (चक्रपाणिदत्त)।

त एते सन्धयोऽष्टविधाः—कोरोलूखलसामुद्गप्रतरतुन्नसेवनीवायसतुण्डमण्डलशङ्खावर्ताः। तेषामङ्गुलिमणिबन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः सन्धयः, कक्षावङ्क्षणदशनेषूलूखलाः, अंसपीठगुदभगनितम्बेषु[1] सामुद्गाः, ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतराः, शिरःकटीकपालेषु तुन्नसेवन्यः, हनोरुभयतस्तु वायसतुण्डः, कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाडीषु मण्डलाः, श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शङ्खावर्ताः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥ ३२ ॥

(संधियों की रचना के प्रकार—) ये जोड़ आठ प्रकार के होते हैं—कोर, उलूखल, सामुद्ग, प्रतर, तुन्नसेवनी, वायसतुण्ड, मण्डल, शङ्खावर्त। इनमें से अंगुलि, कलाई, गुल्फ, जानु, कूर्पर में कोर संधि होते हैं; कक्षा, वंक्षण और दाँतों में उलूखल, अंसपीठ, गुद, भग तथा नितम्ब में सामुद्ग, ग्रीवा, पृष्ठवंश में प्रतर; शिर और कटि के कपालों में तुन्नसेवनी, हनु के दोनों ओर वायसतुण्ड; कण्ठ-हृदय-नेत्र-क्लोमनाड़ी में मण्डल, श्रोत्रशृङ्गाटक में शङ्खावर्त। इनके नाम से ही प्रायः इनकी आकृति वर्णित होती है ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—पीछे २६वें सूत्र में गति के आधार पर संधियों के दो भाग किये गये थे। इस सूत्र में संधियों की रचना के अनुसार आठ विभाग किये गये हैं। इनमें से मण्डल और शङ्खावर्त वास्तव में सन्धि नहीं हैं; तुन्नसेवनी स्थिर सन्धि है और बाकी पाँच चल सन्धियों के भेद हैं। कोर—किवाड़ या सन्दूक में जड़े जाने वाले लोहे या पीतल के बने हुए दो टुकड़े, नरमादगी या कब्जा (Hinge), इसके समान जिसकी रचना होती है, वह कोरसंधि (Hinge-joint or Ginglymus) कहलाता

---

[1] नाडीषु फुफ्फुसक्लोमनिबद्धासु. त्रय कण्ठे, त्रय. कण्ठनाड्या, हृदयक्लोमनिबद्धासु नाडीष्वष्टादश. [2] नासायां चैव, द्वौ द्वावेव द्वौ नेत्रयोः, द्वौ शंखयोः...

[1] अंसपीठगुदपार्श्वनितम्बेषु. २ ६०४।

है। यहाँ पर कोरसंधि के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें से अंगुलिपर्वों की संधियाँ (Interphalangeal joints) और कूर्परसंधियाँ ठीक इस प्रकार की हैं। गुल्फसंधियाँ (Talocrural or ankle joint) भी इसी स्वरूप की हैं यद्यपि वे ऐसी मालूम नहीं होतीं। कोरसंधियों में गति केवल एक अक्ष पर (Uniaxial) अर्थात् किवाड़ की तरह आगे पीछे होती है। गुल्फ में दोनों पार्श्वों में भी कुछ गति होती है, परंतु वह संधि के कारण न होकर बंधनशिथिलता के कारण होती है। कोरसंधियों में जो मणिबंध संधि है, वह वास्तविक कोर न होकर उसका एक प्रकार मान सकते हैं। इसको खल्लकोर (Condyloid articulation) कहते हैं। इसमें दीर्घ गोलाकार बहिर्भूत भाग (Condyle) का वैसे गढ्ढेदार भाग से सन्धान होता है। इस प्रकार के जोड़ में आकुञ्चन, प्रसारण, आकर्षण (Adduction), अपकर्षण (Abduction) और परिकर्षण (Circumduction) ये गतियाँ होती हैं, परन्तु कोरसन्धि के समान अक्षभ्रमण (Axial rotation) नहीं होता। अङ्गुलियों में और भी एक प्रकार की सन्धि होती है, जिसमें दीर्घ गोल के बदले उन्नत गोल और नत गोल न्युदुब्ज (Concavo-convex) पृष्ठभाग होते हैं। इसमें भी उपर्युक्त प्रकार की गतियाँ होती हैं। इस सन्धि को परस्पर कोर (Saddle articulation) कहते हैं। इसका उदाहरण अङ्गुष्ठमूलसन्धि (Carpo-metacarpal joint of the thumb) है। उलूखल—इसमें अस्थि का एक सिरा ऊखल के समान गढ्ढेदार होकर उसमें दूसरी अस्थि का गोल सिरा सन्धित होता है। इसलिए यह सन्धि उलूखलसन्धि (Enarthrosis, ball and socket joint) कहलाती है।

इस सन्धि में सब प्रकार की गतियाँ होती हैं। इसके उदाहरण कक्षासन्धि (Shoulder joint) और वङ्क्षणसन्धि (Hip-joint) हैं। यहाँ पर दाँतों की संधि का जो उदाहरण दिया है, वह इस वर्ग का नहीं; स्थिर सन्धि का है। उसमें जरा सी भी गति नहीं होती। इस प्रकार की सन्धि को दन्तोलूखल (Gomphosis) कहते हैं। सामुद्ग—जहाँ पर जुड़ने वाली अस्थियों के दोनों सिरे गढ्ढेदार होने के कारण उनके सन्धान से सम्पुट या डिब्बी के समान आकृति होती है, उस प्रकार की सन्धि। इसकी रचना ही ऐसी होती है कि उससे जरा सी गति हो सकती है। इस प्रकार की सन्धि अल्पचेष्ट सन्धि (Amphiarthrodia) कहलाती है। यहाँ पर इसके जो उदाहरण दिये हैं, उनमें अंसपीठ की सन्धियाँ इस प्रकार की नहीं होतीं। यदि उसके बदले 'वंशपीठगुदभगनितम्बेषु' ऐसा पाठ कर दिया जाय तो वह ठीक हो जाता है क्योंकि पीठ के मोहरों के गात्रों की (Bodies of vertebrae) सन्धियाँ इस प्रकार की होती हैं। इसके सिवा दोनों भगास्थियों की सन्धि, गुदास्थि और त्रिकास्थि की सन्धि, त्रिक और श्रोणीफलक तथा पृष्ठवंश की सन्धि, इसी स्वरूप की होती हैं। म० म० गणनाथसेनजी 'असकृत्गुदभगनितम्बेषु' ऐसा पाठ लेते हैं। प्रतर—इस प्रकार की सन्धि में प्रतरण याने फिसलने के समान कुछ गति (Gliding movement) होती है। इस को प्रतर सन्धि (Arthrodia) कहते हैं। यह सन्धि ग्रीवा और पृष्ठ के मोहरों के प्रवर्धनों (Processes) के बीच में होती है। तुन्नसेवनी—दर्जी की सीवन के समान जो सन्धि होती है, वह तुन्नसेवनी (Suture) कहलाती है। सेवनी कई प्रकार की होती है। एक प्रकार में हड्डियों के किनारे दन्तुर (Sutura Serrata) होते हैं। दूसरे प्रकार में दोनों सीधे मिल जाते (S. harmonia) हैं। तीसरे प्रकार में एक का किनारा दूसरे के ऊपर कुछ चढ़ता (S. squamosa) है। वायसतुण्ड—काकमुख। हनु का सन्धान संयुक्त प्रकार का है, जिसमें प्रतर और कोर दोनों प्रकार से गति का काम (Ginglymoarthrodial joint) होता है। मण्डलशंखावर्त—ये संधियाँ अस्थियों की नहीं हैं। आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा में, अतएव, इनका समावेश सन्धियों में नहीं होता। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः—इनकी आकृतियों के संबन्ध में प्राचीन और अर्वाचीन टीकाकारों के मत निम्न प्रकार के हैं—कोरो नाम गर्तस्तदाकृतयः कोराः; कोरः कलिका, तदाकृतय इत्यन्ये। उलूखलस्तण्डुलकण्डनोपयोगी, तदाकृतयः सन्धयोऽप्युलूखलाः। समुद्गः सम्पुटस्तदाकृतौ भवाः सामुद्गाः। प्रतरत्यनेनेति प्रतरो मेलकः, तदाकृतयः प्रतराः। मण्डलो मण्डलाकृतिः। (डल्हण)। कोरो नाम कपाटादिनिबन्धनार्थो यन्त्रभेदः 'कब्जा' इत्याख्यायते। उलूखलशब्देनेह मुसलस्यापि परिग्रहः क्रियते; धनुर्धरेति धनुःशब्देन बाणस्यापि परिग्रहवत्। छिन्नानामल्पं सेवनं तुन्नसेवनी। शङ्खावर्तः शङ्खभ्रमः; सन्धिषु च शब्दानामेषां तत्तत्सात्म्याद्व्यपदेशः, सिंहो माणवक इतिवत्। सम्पुटाकारेण निर्वृत्तः सामुद्गः। चिङ्गटा नाम मत्स्याः प्रकर्षेण तरन्त्यनेनेति प्रतरः, स इवास्थिविशेषोऽस्त्यस्येति व्युत्पत्त्या प्रतरशब्दोऽस्मिन् शास्त्रे 'चिङ्गरी' इति प्रसिद्धेषु मत्स्येषु मध्ये वृहच्छरीरस्य शिरःकण्टकवदुद्गतास्थिमतिसन्धौ रूढ इति गम्यते, प्रतरसंज्ञया विवक्षितानां ग्रीवादिसंधीनां तथात्वात्। अथापि चेत् केषाञ्चित् श्रद्धामनुरुध्यमाना मत्स्यस्यास्य शिरो हित्वा ग्रीवादिभागमेव प्रतरणसाधनत्वेनोरीकृत्य प्रतरशब्दवाच्यमभ्युपगच्छेम तदापि नानुपपत्तिस्तदनूकत्वात् तेषां तेषां संधीनाम्। (हाराणचन्द्र) तत्र कोरा नाम सन्धयो बहुचेष्टाः, उत्तानकोरगर्भेष्वस्थिप्रान्तेषु उत्सेधवतामस्थिभागानां संधानरूपाः। ते चतुर्विधाः—खल्लकोरः, परस्परकोरः, चक्रकोरः, संदंशकोरश्चेति। उदूखला नाम सन्धयोऽपि बहुचेष्टाः, उदूखलवद् गम्भीरप्रायेष्वस्थिभागेषु इतरास्थिमुण्डानां सन्धानरूपाः। तेषु हि स्वोदूखलानाश्रित्य अभितो विवर्तन्ते तानि तान्यस्थीनि, यथा—कक्षावङ्क्षणसन्धिषु। दशनोदूखलास्तु स्थिराः सन्धयः पृथगेव मन्तव्याः। सामुद्गा नाम समुद्गनिर्मापकाः इव सन्धयः अल्पचेष्टाः। ते श्रोणिचक्रांसचक्रादिषु दृश्याः। प्रातरा नाम प्रतरणशीलैरीषच्चलैः समतलांशाभ्यां परस्परसंहितैरस्थिखण्डैर्निर्मिताः सन्धयः। तुन्नसेवन्यो नाम परस्परापीडनैर्दन्तुरधारादिभिर्निर्मिताः कपालान्तरालाः संधयः। ते शिरःकपालेषु दृश्याः कटिकपालेषु च प्राग्यौवनात्। वायसतुण्डाख्यस्तु सन्धिः अधोहनोर्मुण्डयोः शङ्खास्थिगताभ्यां हनुसंधिस्थालकाभ्यां संधानात्मुखव्यादानादिसम्पादकः। स तु कोरसंधेरेव खल्लकोराख्यो भेदो युग्मरूपः, तस्य कोरग्रहणेनैव ग्रहणादिति सूक्ष्मदृशः। मण्डलशङ्खावर्ताः पुनः क्रमात् श्वासपथकर्णशष्कुलीगतास्तरुणास्थिसन्धयः, तेषां नेह ग्रहणम्। (म० म० गणनाथसेन, प्रत्यक्षशारीर)। अब नीचे प्राच्य और प्रतीच्य संधि प्रकारों की तुलनात्मक सारणी दी जाती है—

सन्धियों का वर्गीकरण

	प्राच्य	प्रतीच्य	
चल	कोर	Pivot, Saddle, Condyled, Hinge	Diarthroses
	वायसतुण्ड, प्रतर	Arthrodia, Enarthrosis	
अचल	उदूखल	Gomphoses	Synarthroses
	तुन्नसेवनी	Sutures	
	सामुद्ग	Amphiarthroses	

अस्थ्नां तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्तिताः।
पेशीस्नायुसिराणां तु सन्धिसङ्ख्या न विद्यते ॥२३॥

ये (उपर्युक्त) सधियाँ केवल हड्डियों की वर्णन की गई हैं। पेशी, स्नायु और सिरा इनकी सधियों की सख्या ही नहीं हो सकती है ॥२३॥

वक्तव्य—सन्धि—शरीर में एक प्रकार की दो वस्तुओं के स्थान को सधि कहते हैं। जैसे—अस्थिसधि, सिरासधि, पेशीसंधि इत्यादि। इनमें से अस्थिसंधियों का ज्ञान विशेष उपयोगी होने के कारण उन्हीं का विवरण किया गया, शेष सधियों का यहाँ पर केवल निर्देश किया है। सधि से यद्यपि शरीरगत सब वस्तुओं के मिलने के स्थान का बोध होता है तथापि उपर्युक्त कारण से विशेष निर्देश न होने पर प्राय अस्थिसधि को ही सधि Joint या Articulation कहते हैं, पेशी या अन्य अंगों के सधि को सधि नहीं कहते। केवला —सिर्फ हड्डियों की ही, किंवा स्थूलरूप से। यहाँ पर जो अस्थिसधिसंख्या बतलाई गई है, वह वास्तविक सख्या से बहुत कम है। अस्थियों की गणना के समय जो अधिकता हुई है, उसकी क्षति अस्थिसधि गणना के समय की गई है ऐसा मालूम होता है। यदि अस्थि और अस्थिसधिसख्या की अदल-बदल की जाय तो यह संख्या आधुनिक गणना के साथ बहुत कुछ मिल जाती है। जैसे, कुल सख्या के बारे में है, वैसे ही कुछ प्रत्यगों की संख्या के बारे में सही है। यथा—पादांगुलियों की, पृष्ठवंश की, पार्श्व की सधिसख्या अस्थियों के लिए अधिक योग्य होती है। आधुनिक गणना के अनुसार शरीरगत कुल सधियों की संख्या तीन सौ से अधिक है। प्राचीनकालीन संधिसंख्या कम होने के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें एक कारण यह मालूम होता है कि प्राचीन गणना में अनेक अस्थियों की संधियाँ एक और स्वतन्त्र मानी जाती थीं। पीछे १२ वें सूत्र में अस्थिसंघात और उनका वक्तव्य देखो।

अब इसके पश्चात् स्नायुओं का वर्णन करते हैं—

नव स्नायुशतानि। तासां शाखासु षट्शतानि, द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्ततिः ॥२४॥

(स्नायुसख्या—) स्नायुएँ नौ सौ हैं। इनमें से शाखाओं में छः सौ, मध्यशरीर में दो सौ तीस, और ग्रीवा से ऊपर सत्तर ॥२४॥

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां षट् निचिताः, तास्त्रिंशत्, तावत्य एव तलकूर्चगुल्फेषु, तावत्य एव जङ्घायां, दश जानुनि, चत्वारिंशदूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमध्यर्धमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥२५॥

(शाखागत स्नायु—) पैर की एक एक अंगुलि में छः स्नायुएँ लगी रहती हैं (इस प्रकार पाँच अंगुलियों में) वे तीस होती हैं। पादतल, कूर्च और गुल्फ (इन तीनों स्थानों) में उतनी ही, जङ्घा में उतनी ही, जानु में दस, ऊरु में चालीस, वङ्क्षण में दस, इस प्रकार एक टाँग में १५० स्नायुएँ होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं (की कुल तथा पृथक् पृथक् स्नायुओं की सख्या) का विवरण हो जाता है ॥२५॥

षष्टिः कट्यां, पृष्ठेऽशीतिः, पार्श्वयोः षष्टिः, उरसि त्रिंशत् ॥२६॥

(मध्य शरीर की स्नायु—) कटि में साठ, पीठ में अस्सी, पार्श्वों में साठ, छाती में तीस ॥२६॥

षट्त्रिंशद्ग्रीवायां, मूर्ध्नि चतुस्त्रिंशत्; एवं नव स्नायुशतानि व्याख्यातानि (भवन्ति) ॥२७॥

(ऊर्ध्वजत्रुगत स्नायु—) ग्रीवा में छत्तीस, सिर में चौंतीस; इस प्रकार स्नायुओं के नौ शत वर्णन किये गये हैं ॥२७॥

भवन्ति चात्र—

स्नायूश्चतुर्विधा विद्यात्तास्तु सर्वा निबोध मे।
प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुषिरास्तथा ॥३८॥
प्रतानवत्यः शाखासु सर्वसन्धिषु चाप्यथ।
वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेयाः कुशलैरिह ॥३९॥
आमपक्वाशयान्तेषु बस्तौ च शुषिराः खलु।
पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ ॥४०॥

(स्नायुओं के प्रकार और उनके स्थान—) स स्नायुएँ चार प्रकार की होती हैं, उन्हें मुझसे सुनो प्रतानवती, वृत्त, पृथुल और सुषिर ॥३८॥ प्रतानवती स्नायुएँ शाखाओं में तथा सब सन्धियों में होती हैं। या (स्नायुविभाग में) बुद्धिमानों को गोल स्नायुएँ कण्ड समझना चाहिए, (ये भी शाखाओं और सन्धियों में होती हैं ॥३९॥ आमाशय, पक्वाशय तथा बस्ति में सुषि स्नायुएँ होती हैं। पार्श्व, छाती तथा पीठ और सिर में पृथुल स्नायुएँ होती हैं ॥४०॥

वक्तव्य—स्नायु—इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में भी कुछ मतभेद प्रचलित हैं। पं० गंगाधर शास्त्री जोशी स्नायु से पेशी (Muscle) समझते हैं। मराठी भाषा में भी स्नायु शब्द पेशी के लिए ही प्रयुक्त होता है। परंतु इसका वास्तविक अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्नायु का स्वरूप निम्न प्रकार से ग्रंथों में वर्णित है—[illegible] दुर्दर्शा (मन्ना)। (सुश्रुत, सूत्र ३३)। स्नायुरिति [illegible], येन [illegible] नह्यते। (डल्हण, सुश्रुत, सूत्र ११)। भीषज के द्रव्यों में स्नायु का उल्लेख है—[illegible]

१ षट् षट् २ परस्थाने

कस्य वा। शणक्षौमसूत्राभ्यां स्नाव्ना वालेन वा पुनः॥ (सुश्रुत, सूत्र २५)। स्थिते रक्ते यथार्हं सूच्योपहतेन स्नायुसूत्रबालानामन्यतमेन सीव्येत। (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३९)। स्नायु का कार्य—मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा। आगे ४२वाँ श्लोक देखो। स्नायवो बन्धनं प्रोक्ता देहे मांसास्थिमेदसाम्। (शार्ङ्गधर)। इससे यह स्पष्ट है कि स्नायु शरीरगत श्वेत सूत्रमय मजबूत उपधातु है, जो संधि और मांस (पेशी Muscle) बंधन के काम में आती है और आकार के अनुसार उसको भिन्न भिन्न नाम दिये जाते हैं। प्रत्यक्ष शारीर में उसका जो वर्णन दिया है, वह यथार्थ है—स्नायवो नाम सान्द्रमसृणशणगुच्छसमाकाराः संधिबन्धनार्थाः प्रायेण। स्नायुशब्दश्चेह द्वयोरर्थयोर्दृश्यते प्रयुक्तः—स्नायुसंहतिषु (Ligaments) स्नायुव्यक्तिषु (Fibrous tissue)। तत्र प्रथमः अस्थिसंधिबन्धनरूपोऽर्थः, स मुख्यः–'प्रतानवतीभिर्हि स्नायुभिर्दृढोक्ताः सन्धयः' इति पूर्वाचार्योक्तेः। अथ द्वितीयः स्नायुव्यक्तिरूपोऽर्थः, स गौणः। तेन स्नायुशब्दः क्वचित् शणसूत्रवद् दृढशुभ्रसूक्ष्मसूत्राण्यभिधत्ते। तथाहि कलासु कण्डरासु पार्श्वपृष्ठोरःपेश्यन्तेषु आमाशयपक्वाशयवस्त्यन्तभागेषु च दृश्यते यः स्नायुशब्दः प्रयुक्तः पूर्वैः, सोऽस्मिन्नेवार्थे। इसमें सन्देह नहीं है कि आयुर्वेद में पेशी (Muscle) के अर्थ में स्नायु शब्द प्रयुक्त होता है। (१) इसका एक कारण है वास्तविक पेशी को स्नायु समझना। इसका उदाहरण सुषिर स्नायु का है। सुषिर स्नायु वास्तव में गोलाकार पेशियाँ (Sphincters and valvular bands of muscles) हैं। इनका स्वरूप स्नायु के साथ कुछ मिलता है। इसलिए ये पेशियाँ स्नायु मानी गई हैं। (२) शरीर की पेशियों का अन्तिम भाग स्नायु सूत्रों (Fibrous structures) से बनता है। स्नायुसूत्र जब गोल रस्सी के रूप में होते हैं, तब कण्डरा (Tendons) कहलाते हैं। जब रस्सी के आकार के न होकर अधिक फैले हुए एक पतली तह बनाते हैं, तब पृथुल स्नायु (Aponeurosis) कहलाते हैं। ये स्नायुसूत्र पेशीसूत्रों से अवर्द्धित मिले रहते हैं। आकुंचन और प्रसारण का गुण स्नायुसूत्रों में न होकर पेशीसूत्रों में होता है। परन्तु इन दोनों का अत्यन्त घनिष्ट संबंध होने के कारण आयुर्वेद में संकोच-प्रसार का कार्य पेशीगत स्नायु-विभाग का ही मना गया है। परन्तु इसका उल्लेख कहीं भी स्वतन्त्रतया न होकर विकृतावस्था में मिलता है। यही कारण है कि शल्यविज्ञान में पेशी या मांसगत शल्य के लक्षणों में संकोच का उल्लेख न होकर स्नायुगत शल्य के लक्षणों में उसका उल्लेख मिलता है—आक्षेपः स्नायुजालस्य संरम्भः स्तम्भ वेदना। स्नायुगे। (अष्टांगहृदय)। स्नायुगते स्नायुजालोत्क्षेपणं संरंभश्चोग्रा रुक् च (सुश्रुत, सूत्र २६)। स्नायुविद्ध लक्षणों में भी इसी तरह संकोच का उल्लेख है—कौब्जं शरीरावयवावसादः क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च। तं स्नायुविद्धं मनुजं व्यवस्येत्॥ (सुश्रुत, सूत्र २५)। क्रियास्वशक्तिरिति, क्रियाश्चात्रोत्क्षेपणावक्षेपणप्रसारणाकुंचनलक्षणाः। (डल्हण)। स्नायुवेध और स्नायुशल्य में संकोच और उत्तेजन का जो विशेष उल्लेख किया गया है, उसमें कुछ तथ्य मालूम होता है क्योंकि आधुनिक खोज से यह मालूम होने लगा है कि संवेदनिक तथा अन्य प्रकार के नाडियों के अग्र पेशिकण्डरा संयोग में तथा कण्डरा में होते हैं—The nerve terminations are found in tendon and muscles. The neuro-muscular spindles are principally found in muscles in the neighbourhood of tendons and aponeuroses. Of recent years more and more importance has been attached to the tendon organs. It is considered that tendon organs are concerned in the tendon stretch reflexes. *Halliburton's Physiology.* वैसे ही अपतानक में जहां पेशियों में संकोच होता है, वहाँ पर पेशियों के लिए स्नायुशब्द का प्रयोग किया गया है—अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः। स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान्। तदाऽस्यायम्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली। बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च॥ (सुश्रुत, निदान १)। (३) स्नायु पेशियों का ही एक भाग होने के कारण 'नामैकदेशे नामग्रहणम्' इस न्याय से भी कहीं कहीं पेशियों के लिए स्नायु शब्द प्रयुक्त होता है—गृहीत्वार्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायुर्विशोष्य च। पक्षमन्यतमं हन्ति संधिबंधान् विमोक्षयन्॥ (अष्टांगहृदय)। इस तरह यद्यपि कहीं कहीं स्नायु शब्द पेशी या मांस (Muscle) के अर्थ में प्रयुक्त होता है तथापि उसका वास्तविक अर्थ शणसूत्रसन्निभ शरीरगत उपधातु है (Fibrous tissue) और मांस से स्नायु हमेशा पृथक् माना जाता है—मांसानि अत्र निबद्धानि स्नायुभिः। त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसंधिकोष्ठमर्माण्यष्टौ व्रणवस्तुनि। (सुश्रुत)। स्वल्पं स्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गोः श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधाशान्तये। (नीतिशतक)। अब यहाँ पर स्नायु के जो चार प्रकार बतलाये गये हैं उनके आधुनिक पर्याय—(१) प्रतानवती स्नायु—संधिबंधन Ligaments; (२) वृत्तस्नायु—कण्डरा, Tendons; (३) सुषिरस्नायु—गोल या सच्छिद्र पेशियाँ Sphincter muscles or valvular bands of muscles; (४) पृथुलस्नायु—चपटा स्नायु Flattened or ribbon shaped tendons or Aponeuroses: इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि स्नायु-वर्णन के प्रारंभ में जो इनकी संख्या बतलाई है, उसमें संधिबंधन (Ligaments) और पेशियों के बंध (Tendons and aponeuroses) अधिक संख्या में तथा कुछ पेशियाँ भी शामिल हैं।

नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता॥ ४१॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः॥ ४२॥

(स्नायुओं का कार्य—) जिस प्रकार बहुत से बंधनों से युक्त, मनुष्य (बढ़ई) के द्वारा भली भाँति जोड़ी हुई फलकों (तख्तों) की नौका पानी में भार को उठाने में समर्थ होती है॥ ४१॥ इसी प्रकार इस शरीर में जितनी संधियाँ हैं वे बहुत सी स्नायुओं द्वारा बँधी हुई हैं, जिससे मनुष्य (शरीररूप प्लव) भार को उठाने में समर्थ होते हैं॥ ४२॥

वक्तव्य—नृयुक्ता—इसका एक अर्थ ऊपर दिया है। उसके सिवा 'नाव में बैठने वाले मनुष्यों से युक्त' किंवा 'नाविक से युक्त' ये भी इसके दो अर्थ हो सकते हैं। स्नायु—यहां पर नाव का जो दृष्टान्त दिया है, उससे स्नायु का अर्थ केवल Ligaments होता है।

न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च सन्धयः ।
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणाम् ॥४३॥

(शरीर में स्नायु का महत्व—) पीड़ित हुई स्नायु जैसे [illegible]

स्नायु विकृत या पीड़ित (Injured or hurt) होने पर मनुष्य को बहुत तक्लीफ होती है । उतनी तकलीफ अस्थि आदि से नहीं होती । मोच (Sprain) का उदाहरण लीजिए । बहुत सरल बीमारी है परन्तु सब कुछ करने पर भी महीनों तक तंग करती है और कभी कभी यहाँ तक देखा जाता है कि एक बार जिस अंग में सख्त मोच आ जाती है, उस अंग से जिन्दगी-भर भार सहन करने का काम नहीं होता । अर्थात् यह कथन एक मर्यादा तक सत्य है । इसलिए 'व्यापादित' का अर्थ 'पूर्णतया नष्ट न करके' 'कुछ पीड़ित' (Injured or hurt) ऐसा करना चाहिए, और 'हन' का अर्थ 'मार डालना' ऐसा न करके 'विकृत या अड़चन पैदा करना' (*Obstruct, Hinder*) ऐसा करना चाहिए ।

यः स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा ।
स गूढं शल्यमाहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ॥ ४४ ॥

(स्नायुविज्ञान का महत्व—) जो बाह्य और आभ्यन्तर (उत्तान और गंभीर) स्नायुओं को भली भाँति जानता है, वह बहुत दूर तक अन्दर गये हुए शल्य को मनुष्यों के शरीर से निकालने में समर्थ होता है ॥ ४४ ॥

अब इसके बाद पेशियों का विवरण करते हैं—

पञ्च पेशीशतानि भवन्ति । तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत् ॥४५॥

(पेशियों की संख्या-) पाँच सौ पेशियाँ (शरीर में होती) हैं । इनमें से शाखाओं में छियासठ, गर्दन के ऊपर चौंतीस ॥४५॥

वक्तव्य—यहाँ पर पेशियों की जो कुल संख्या बताई है वह आधुनिक संख्या के साथ बहुत कुछ मिलती है, परन्तु प्रत्यंगों की संख्या में बहुत फर्क होता है । प्रत्येक अंग और प्रत्यंगों की पेशियों की तुलना करने में कोई स्वारस्य नहीं है इसलिए षडंगों की पेशियों की संख्या की तुलनात्मक सारणी नीचे दी जाती है ।

पेशीसंख्यातुलना

अंग का नाम	प्राचीन संख्या	अर्वाचीन संख्या
शाखाएँ	१०० × ४=४००	५९ × ४ = २३६
धड	६६	१३५
ग्रीवा और सिर	३४	१४८
	५००	५१९

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव, दश *गुल्फतलयोः, गुल्फजान्वन्तरे* विंशतिः, पञ्च जानुनि, विंशतिरूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमेवमेकस्मिन् *सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि* बाहू च व्याख्यातौ ॥ ४६ ॥

(शाखागत पेशियाँ—) पाँव की एक एक अंगुलि में तीन तीन, ये पंद्रह; पाँव के अग्रभाग में दस, पाँव के ऊपर कूर्च में स्थित उतनी ही (दस), गुल्फ और पादतल में दस, गुल्फ और जानु के बीच में बीस, जानु में पाँच, ऊरु में बीस, वङ्क्षण में दस, इस प्रकार एक टाँग में सौ पेशियाँ होती हैं । इसी से दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं (की पेशियों) का व्याख्यान हो जाता है (इस प्रकार चारों शाखाओं में चार सौ पेशियाँ होती हैं) ॥४६॥

तिस्रः पायौ, एका मेढ्रे, सेवन्यां चापरा, द्वे वृषणयोः, स्फिचोः पञ्च पञ्च, द्वे बस्तिशिरसि, पञ्चोदरे, नाभ्यामेका, पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः, षट् पार्श्वयोः, दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रतिसमन्तात् सप्त, द्वे हृदयामाशययोः, षट् यकृत्प्लीहोण्डुकेषु ॥ ४७ ॥

(कोष्ठगत मांसपेशियाँ—) गुदा में तीन, शिश्न में एक, सेवनी में दूसरी (अर्थात् एक), वृषणों में दो, चूतड़ों में पाँच पाँच, *बस्तिशिर में दो, उदर में पाँच, नाभि* में एक, पृष्ठ के ऊर्ध्वभाग में स्थित (प्रत्येक तरफ) पाँच पाँच दीर्घ (पेशियाँ), दोनों पार्श्वों में छः, छाती में दस, अक्षक और कंधे के आसपास सात, हृदय और आमाशय में दो, यकृत्, प्लीहा और उण्डुक में छः (इस प्रकार कोष्ठ में सड़सठ पेशियाँ होती हैं) ॥ ४७ ॥

ग्रीवायां चतस्रः, अष्टौ हन्वोः, एकैका काकलकगलयोः, द्वे तालुनि, एका जिह्वायाम्, ओष्ठयोर्द्वे, नासायां द्वे, द्वे नेत्रयोः, *गण्डयोश्चतस्रः*, कर्णयोर्द्वे, चतस्रो ललाटे, एका शिरसीति, एवमेतानि पञ्च पेशीशतानि ॥ ४८ ॥

(ग्रीवा और सिर की पेशियाँ—) ग्रीवा में चार, हनु में आठ, काकलक (कौवा) और गले में एक एक, तालु प्रदेश में दो, जिह्वा में एक, ओठों में दो, नाक में दो, आँखों में दो, कपोल में चार, कानों में चार, ललाट में चार, शिर में एक, इस प्रकार (सिर और ग्रीवा की पेशियाँ चौंतीस होती हैं तथा संपूर्ण शरीर की) पाँच सौ पेशियाँ हैं ॥४८॥

वक्तव्य—तुलना के लिए सिर और ग्रीवा की पेशियों की आधुनिक संख्या यहाँ पर दी जाती है । ग्रीवा--इसमें एक तरफ बाईस और दूसरी तरफ बाईस करके कुल चौवालीस पेशियाँ होती हैं । हनु—इससे यदि चर्वण की *पेशियाँ ग्रहण की जाय तो* आठ संख्या ठीक है । काकलक—गलशुण्डिका (पीछे ३१वें सूत्र का वक्तव्य देखो), इसमें एक छोटी-सी पेशी होती है (Musculus uvulae), परन्तु आधुनिक गणना में यह दो गिनी जाती है । गला—ग्रसनिका (Pharynx) । इसमें एक तरफ पाँच और दूसरी तरफ पाँच करके कुल दस पेशियाँ होती हैं । तालु—तालु प्रदेश में चार चार करके कुल आठ पेशियाँ होती हैं । जिह्वा—संपूर्ण जिह्वा एक पेशी मानी गई है । इसलिए जिह्वा में एक पेशी बताई है । आधुनिक गणना के अनुसार चार चार करके

१ हनुसमाल्यै. २ जिह्वायां द्वे. ३ चतस्रो नेत्रयोः. ४ षट् शिरसि.

जिह्वा में कुल आठ पेशियाँ होती हैं। होंठ—इनके साथ संबंध रखने वाली पेशियाँ एक तरफ आठ और दूसरे तरफ आठ करके सोलह होती हैं। नासा—इसकी पांच पाँच करके दस होती हैं। नेत्र—ऊपर के पलक के साथ आँखों की पेशियों की संख्या सात और सात करके चौदह होती हैं। कपोल—इसकी केवल दो ही पेशियाँ हैं। कान—इसमें बाह्यकर्ण की छः और छः करके बारह और मध्यकर्ण की दो दो करके चार, इस तरह कुल सोलह पेशियाँ होती हैं। ललाट और सिर—इनमें कुल छः पेशियाँ होती हैं। इनके सिवाय स्वरयन्त्र में दस पेशियाँ होती हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन गणना में नहीं है।

भवति चात्र—

सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥ ४६ ॥

(पेशियों का कार्य—) शरीरधारियों की सिराएँ, स्नायुएँ, अस्थिपर्व और संधियाँ पेशियों से ढकी रहती हैं; अतएव वे बलवती होती हैं ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—पेशी- पं० गंगाधर शास्त्री जोशी पेशी से आवरण (Coverings like facias, sheaths and serous membranes) समझते हैं। परन्तु यह मत बिलकुल निराधार है। पेशी का स्वरूप आयुर्वेदिक तथा अन्य ग्रंथों में निम्न प्रकार से वर्णित है—अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा। (सुश्रुत, शा० ४)। इसकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—वायुः पिशितं मांसमनुप्रविश्य पेशीर्विभजते। पेशी मांसखण्डम् ॥ इसी अध्याय के ४४वें सूत्र की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—मांसावयवसंघातः परस्परविभक्तः पेशीत्युच्यते ॥ इन्दु अष्टांगसंग्रह की टीका में लिखते हैं—पेश्यः पुनः स्नाय्वाकृतयो मांसमय्यः ॥ (शा० ५) । म० म० गणनाथ सेन 'स्नाय्वाकृतयः' के बदले 'स्नाय्वावृतयः' पाठभेद सूचित (संज्ञापंचकविमर्श पृष्ठ ३) करते हैं, परन्तु इस प्रकार पाठ में परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'स्नाय्वाकृतयः' का अभिप्राय यह है कि जैसे स्नायुएँ गोल, चपटी, प्रतानवती इत्यादि विविध आकृति की होती हैं, वैसे ही पेशियाँ भी होती हैं और यह कथन ठीक भी है। आगे ५२वाँ सूत्र देखो। दोनों में फर्क केवल यही है कि स्नायु स्नायुमय (Fibrous) और पेशी मांसमय (Fleshy) होती है। चक्रपाणिदत्त चरक की टीका में लिखते हैं—पेशी दीर्घमांसपेश्याकारा। (शा० ४)। मांसपेश्यो बलाय स्युरवष्टम्भाय देहिनाम्। (शार्ङ्गधर)। इस श्लोक की टीका में आढमल्ल लिखते हैं—मांसावयवसंघाताः परस्परं विभक्ताः पेश्य इत्युच्यन्ते। याज्ञवल्क्यस्मृति में भी पेशियों की संख्या पाँच सौ बतलाई है। उसकी टीका में विज्ञानेश्वर लिखते हैं—पेश्यः पुनर्मांसलाकारा ऊरुपिण्डकाद्यङ्गप्रत्यंगसंधिस्थः पञ्चशतानि भवन्ति। (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१००)। पेशीस्वरूप के संबंध में विज्ञानेश्वर तथा अन्य ग्रंथकारों के वचन इतने स्पष्ट हैं कि मसल (Muscle) के सिवा पेशी का दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता। अर्थात् शरीर में लाल रंग की रेशादार आकुञ्चन-प्रसारणशील जो धातु होती है, उसके पिण्ड को पेशी कहते हैं। पेशियों का कार्य—इस श्लोक में जो 'संवृतानि' शब्द है तथा अष्टांगसंग्रह 'प्रच्छादितानि' शब्द (ताभिहि सन्ध्यस्थिसिरास्नावानि प्रच्छादितानि। शा० ५) आता है, उसको देखकर पं० गंगाधर शास्त्री जोशी संवरण और प्रच्छादन पेशियों का कार्य समझते हैं—पेशीनां कार्याणि—'प्रच्छादकत्वं, संवरकत्वम्, आवरकत्वं च।' परन्तु यह अर्थ गलत है। संवृतादि शब्द (४२वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो) अस्थ्यादि अंगों के साथ पेशियों का संबंध प्रदर्शित करते हैं; अर्थात् इनका अभिप्राय यह है कि अस्थ्यादि अंग चारों ओर से पेशियों द्वारा घिरे हुए हैं। पेशियों का कार्य बल और आधार देने का है। इसका स्पष्ट उल्लेख उपर्युक्त शार्ङ्गधर के श्लोकार्ध में तथा यहाँ पर भी बलवन्ति शब्द से किया गया है। शार्ङ्गधर की गूढार्थदीपिका में वैद्य काशीराम लिखते हैं—अथ मांसपेश्यः। पञ्चशतानि भवन्तीत्युक्त तेषां प्रयोजनमाह—मांसपेश्यः बलाय भवन्ति तथा देहिनामवष्टम्भाय। पेशियों का यह कार्य तदन्तर्भूत एक विशेष गुण के ऊपर निर्भर होता है। पेशियों के तन्तुओं का यह विशेष गुण है कि वे सिकुड़कर मोटे और छोटे हो सकते हैं तथा अपनी पूर्वदशा को प्राप्त कर लेते हैं। इस गुण को संकोचनशीलता (Contractility) कहते हैं। नाड़ियों के द्वारा प्राप्त उत्तेजन (Stimulus) से पेशियों में संकोचन उत्पन्न होता है। अस्थिसन्ध्यादि अंगों में जितनी स्वाभाविक शक्ति होती है, उससे कई गुना अधिक शक्ति पेशियों के कारण आ जाती है। प्रो० राममूर्ति या सेन्डो के शक्ति के खेल जिन्होंने देखे हैं, उनके लिए इसके संबंध में अधिक विवरण करने की आवश्यकता नहीं है। संकोच से जैसी शक्ति उत्पन्न होती है, वैसी विविध प्रकार की गतियाँ भी उत्पन्न होती हैं। संकोचन का गुण आयुर्वेद में पेशी तन्तुओं के बदले स्नायुतन्तुओं का माना गया है—प्रसारणाकुञ्चनयोरङ्गानां कण्डरा मताः। (शार्ङ्गधर)। पीछे ४०वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो। वास्तव में यह कल्पना असत्य है, परन्तु व्यवहार में इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। पेशियों के संबंध में कुछ अधिक विवरण—मांस शरीर में प्रायः हर जगह रहता है। शरीरभार का करीब आधा अंश मांस का होता है। जो मांस त्वचा, अस्थि और संधियों से लगा हुआ रहता है वह छोटे छोटे पृथक् पृथक् समूहों में विभक्त रहता है। ये समूह पेशियाँ कहलाती हैं। ये पेशियाँ आपस में सौत्रिक तंतु द्वारा जुड़ी रहती हैं, परन्तु यह जोड़ इतना ढीला होता है कि पेशियों के संकोच-प्रसार में कोई रुकावट नहीं होती। जो मांस आशयों, स्रोतों (जैसे हृदय, आमाशय, आन्त्र इत्यादि) में होता है वह पेशियों में विभक्त नहीं होता, परन्तु पतली पतली तहों में विभक्त होता है। आयुर्वेद के समान (द्वे हृदयामाशययोः, षट् यकृत्प्लीहोण्डुकेषु—४७वाँ सूत्र देखो) आधुनिक वैद्यक में इनका समावेश पेशियों (Muscles) में नहीं किया जाता। जैसे, यन्त्र में जितनी गतियाँ होती हैं चक्र के द्वारा होती हैं, वैसे ही शरीर में चलना, फिरना, बोलना, रोना, गाना, हाथ उठाना, आँखों को खोलना, बंद करना, मलमूत्रोत्सर्ग करना, साँस लेना, हृदय का स्पन्दन, भोजन का महास्रोत में नीचे सरकना, आँखों की पुतली का छोटा बड़ा होना इत्यादि जो सब गतियाँ तथा क्रियाएँ होती हैं, मांस द्वारा

और उसी के उपलक्ष्य में यह श्लोक लिखा गया, इस प्रकार का मत निश्चिति से देना कठिन है। कम से कम कुछ शारीरशास्त्रज्ञों को इनका अस्तित्व मालूम नहीं था, यह बात निश्चित है। इसी लिए गयदासाचार्य इस श्लोक को नहीं पढ़ते हैं और भोज का वचन आधार के लिए देते हैं—गयी तु श्लोकं वक्ष्यमाणं तन्त्रान्तरीयश्लोकं न पठति, किन्तु 'एवमेतानि पञ्चपेशीशतानि' इत्यत्र पुंसामिति पदं पठित्वा पुंसामेव पञ्चपेशीशतानि स्त्रीणां तु विंशतिरूनानि पञ्चशतानीति व्याख्याति। अत्रार्थे च भोजवाक्यं दृष्टान्तीकरोति। तथा च भोजवाक्यम्—'पञ्चपेशीशतान्येव स्त्रीवर्ज्यं विद्धि भूमिप। अनयं विंशो हीयन्ते स्त्रीणां शेफसि मुष्कयोः॥' (डल्हणटीका)।

मर्मसिराधमनीस्रोतसामन्यत्र प्रविभागः ॥५४॥

मर्म, सिरा, धमनी और स्रोतसों का विभाग अन्यत्र (किया गया है)॥ ५४॥

वक्तव्य—अन्यत्र—मर्मों का षष्ठ अध्याय में, सिराओं का सप्तम में, और धमनी तथा स्रोतसों का नौवें अध्याय में वर्णन किया गया है।

शंखनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता।
तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥ ५५ ॥
यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः ॥ ५६ ॥

(योनि और गर्भशय्या का स्वरूप—) योनि शङ्खनाभि की आकृति की होती है। वह तीन आवर्तयुक्त वर्णन की गई है और उसके तीसरे आवर्त में गर्भशय्या प्रतिष्ठित है॥५५॥ रोहू मछली का मुख जिस स्वरूप का होता है, बुद्धिमान् वैद्य उसी के स्वरूप की और आकृति की गर्भशय्या को समझते हैं॥ ५६॥

वक्तव्य—शङ्खनाभ्याकृति—शङ्ख की नाभि याने मध्यभाग जैसे बीच में मोटा और चौड़ा और दोनों तरफ तङ्ग होता है, उसी प्रकार की आकृति जिसकी है, ऐसी। योनि—योनिमार्ग (*Vaginal canal*—) *It is constricted at* it's commencement, dilated in the middle, and narrowed near it's uterine extremity *Grey's Anatomy* त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता—योनि की रचना में तीन निश्चित आवर्त नहीं दिखाई देते, परन्तु उसकी आन्तरिक त्वचा पर आवर्त के समान कई गोल झोल (Ridges or Rugae) दिखाई देते हैं। तृतीये आवर्ते—अन्त में। गर्भशय्या—जिसमें गर्भ सोता है या अवस्थान करता है, वह स्थान अर्थात् गर्भाशय के भीतर का अवकाश (Uterine cavity); सन्दर्भ के अनुसार गर्भशय्या से गर्भाशय (Uterus, womb का भी बोध होता है, परन्तु यहाँ पर उसके भीतर का अवकाश समझना चाहिए। तत्संस्थानाम् अल्पमुखामन्तर्विशालाम् विरामं। (डल्हण)। जहां पर गर्भ रहता है, वह स्थान त्रिकोणाकृति होता है जिसका एक कोन गर्भाशय अन्तर्मुख पर और दो कोन दो बीजवाहिनियों के मुख पर होते हैं अर्थात् मुख के पास तंग और पीछे चौड़ा होता है। गर्भाशय का संक्षिप्त वर्णन—गर्भाशय वह अङ्ग है, जिसमें गर्भ रहा करता है। यह अङ्ग श्रोणिगुहा में मूत्राशय और मलाशय के बीच में होता है। इसके दोनों तरफ दो बन्धन होते हैं, जो पक्षबन्धन (Broad-ligaments) कहलाते हैं। इनमें दोनों ओर दो बीजग्रंथियां रहती हैं, जिनमें बीज (Ova) उत्पन्न होकर बाहर निकलता है और पक्षबन्धन के ऊपर के किनारे में स्थित बीजवाहिनियों द्वारा (Uterine tubes) गर्भाशय में आता है। गर्भाशय का आकार अधोमुख क्षुद्र तुम्बीफल के समान परन्तु चपटा (Pyriform in shape) होता है। अप्रजाता (जिसमें गर्भधारणा न हुई हो) स्त्री में गर्भाशय की लम्बाई ३ इञ्च, चौड़ाई २ इञ्च और मोटाई १ इञ्च होती है और उसका तोल ढाई से साढ़े तीन तोला होता है। प्रजाता स्त्री में ये सब परिमाण कुछ अधिक हो जाते हैं। वर्णन के लिए गर्भाशय के तीन भाग किये जाते हैं। (१) गर्भाशयमुख (Os uteri)—यह भाग योनि के शिखर में होता है। इसके बीच में जो छिद्र होता है, वह बाह्य गर्भछिद्र (External os) कहलाता है और उसी में से मासिक स्राव बाहर आता है और शुक्राणु भीतर प्रवेश करता है। संक्षेप में यह गर्भाशय का महाद्वार है। यही द्वार मासिक धर्म के समय तथा उसके पश्चात् कुछ दिन तक विवृत रहता है (पीछे तीसरे अध्याय का ६ वां श्लोक और उसका वक्तव्य देखो), जिससे शुक्राणुओं को भीतर जाने में कठिनाई नहीं होती। उसके पश्चात् यह द्वार कुछ संकुचित हो जाता है, जिससे शुक्राणु भीतर नहीं जा सक्ते, अतएव गर्भधारणा भी नहीं होती। कुछ स्त्रियों में यह द्वार जन्म से या पश्चात् व्रणवस्तु की उत्पत्ति से सदा के लिए अत्यन्त संकुचित (सूचीमुख, अणुमुख Pinhole os) रहता है—गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनौ प्रदूषयन्। मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा॥ (चरक, चिकित्सा ३०)। ऐसी अवस्था में मासिक धर्म के समय आर्तव स्राव बाहर निकलने में बहुत कठिनता होती है (रजःकृच्छ्र, *Dysmenorrhoea*) और प्रायः ऐसी स्त्रियों में गर्भधारणा भी नहीं होती। महाद्वार संकोच के साथ प्रायः ग्रीवासरणी (Cervical canal) का भी संकोच रहता है, यह ध्यान में रखना चाहिए। (२) ग्रीवा (Cervix)—गर्भाशय मुख और शरीर के मध्य का यह भाग आकार में एक तरफ कुछ कम चौड़े बेलन के समान होता है। इसके भीतर का मार्ग ग्रीवासरणी कहलाता है और आकार में शकरकन्द के समान अर्थात् मध्य में कुछ विस्तृत होता है। ग्रीवा का कुछ हिस्सा योनि के शिखर में आगे की ओर निकला हुआ रहता है, जो योनि में अङ्गुलि देकर स्पर्श किया जा सकता है या योनिवीक्षणयन्त्र (प्रथमभाग पृष्ठ ४० देखो) योनि में प्रविष्ट करने से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। शरीर (Body of the uterus)—यह वह भाग है, जिसमें गर्भ का अवस्थान होता है। इसका आकार त्रिकोणाकृति चपटा होता है और भीतर का अवकाश भी वैसा ही होता है। इसलिए इसका वर्णन 'तत्संस्थानां तथारूपाम्' किया गया है। इसका ऊपर का भाग गर्भतुम्बी (Fundus uteri) कहलाता है और उसी में अपरा लगी रहती है। श्रोणिगुहा में गर्भाशय सीधा खड़ा न होकर मूत्राशय की ओर आगे कुछ झुका रहता है। यह झुकाव ग्रीवा और शरीर के संयोग पर होता है। स्वस्थावस्था में भी मलाशय और मूत्राशय की रिक्तता और पूर्णता के ऊपर इस झुकाव में फर्क पड़ता है। जब मूत्राशय रिक्त और मलाशय पूर्ण रहता है, तब

गर्भाशय अधिक झुककर मूत्राशय के ऊपर रहता है। जब मूत्राशय पूर्ण और मलाशय रिक्त रहता है, गर्भाशय का आगे का झुकाव नष्ट होकर वह सीधा खड़ा होता है और कभी कभी पीछे त्रिक की ओर झुकता है। इस तरह गर्भाशय कुछ चल होने पर भी आठ बंधनों से अपने स्थान में बहुत कुछ स्थिर रहता है। इनमें एक आगे, एक पीछे, दो त्रिकसंबंधित, दो पार्श्विक और दो गोल होते हैं। जब ये बंधन कमजोर होकर ढीले और लम्बे हो जाते हैं, तब गर्भाशय अपने स्थान से हट जाता है। इस विकृति को योनिस्थानापवृत्ति या गर्भाशयस्थानापवृत्ति (Uterine displacements) कहते हैं—योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता मता स्त्रियाः । (चरक, चिकित्सा ३०)।

वयानुसार गर्भाशय की स्थिति—वय के अनुसार भी गर्भाशय की स्थिति में बहुत फर्क होता है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक गर्भाशय श्रोणिगुहा से ऊपर याने उदर-गुहा में होता है। धीरे धीरे वह नीचे सरकता है और जवानी के प्रारंभ में तथा उसके पश्चात् वह पूर्णतया श्रोणिगुहा में रहता है। मासिक धर्म के समय वह कुछ बड़ा (पीछे तीसरे अध्याय के नौवें श्लोक का वक्तव्य देखो) हुआ करता है। गर्भधारण होने के बाद उसका आकार बहुत बड़ा होता है और आठवें महीने में कौड़ी-प्रदेश तक पहुँच जाता है। प्रसूती के पश्चात् वह करीब करीब पूर्ववत् हो जाता है, परंतु उसके भीतर का अवकाश कुछ बड़ा हुआ रहता है। वृद्धावस्था में गर्भाशय सिकुड़ कर बहुत छोटा और कठिन हो जाता है तथा उसका आन्तरिक छिद्र (Internal os) और कभी कभी बाह्यच्छिद्र बंद हो जाता है।

आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः ।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥५७॥

(गर्भाशय में गर्भ की स्थिति—) स्त्री के गर्भाशय में गर्भ संकुचित अंग और अभिमुख होकर रहता है। (और) प्रसव के प्रति (समय में) स्वभाव से ही शिर के बल योनि की ओर चलता है ॥ ५७ ॥

वक्तव्य—इसमें गर्भ का साधारण तथा प्रायिक आसन, अवस्थिति और गति वर्णन की है। आभुग्नः—मुड़ा हुआ। गर्भाशय में गर्भांगों की स्थिति निम्न प्रकार की होती है—उसका सिर आगे को वक्ष पर मुड़ा रहता है; पृष्ठवंश आगे को कुछ मुड़ता है, जिससे पीठ बहिर्गोल हो जाता है; दोनों जांघे उदर पर और टांगे जाँघों पर मुड़ी रहती हैं; मुट्ठियाँ बंद रहती हैं; हथेली और अँगुलियों में जो रेखाएँ मिलती हैं, वे गर्भावस्था में त्वचा के मुड़ जाने से ही बनती हैं। संक्षेप में, शरीर की संकोचक (Flexor) पेशियाँ काम में आती हैं, जिससे संपूर्ण शरीर संकुचित स्थिति में रहता है। गर्भाशय में गर्भ के धड़ के साथ सिर और शाखाओं का जो सम्बन्ध होता है, उसको गर्भाङ्गस्थिति या आसन (Attitude) कहते हैं और स्वाभाविक अवस्था में गर्भांगस्थिति सार्वदैहिक संकोच (Universal flexion) की होती है। चरक में इसलिए लिखा है—गर्भस्तु खलु संकुच्याङ्गान्यास्तेऽन्तःकुक्षौ । (शारीर ६)। इस तरह कुल अंग संकुचित हो जाने के कारण गर्भ का आकार अण्डे के समान दीर्घ गोल हो जाता है। इसको भुग्नगर्भ (Foetal ovoid) कहते हैं। यद्यपि मासानुमास गर्भाशय की लम्बाई बढ़ती जाती है तथापि गर्भ की मासानुमासिक लम्बाई की वृद्धि गर्भाशय की लम्बाई की वृद्धि से अधिक होने के कारण उत्तरकाल में गर्भ को अपने अंगों को संकुचित करके रहना एक आवश्यक घटना होती है। इसके सिवा गर्भाशय के अवकाश के साथ मिलने की दृष्टि से भी आकुञ्चन आवश्यक होता है। नीचे भुग्नगर्भ, गर्भ और गर्भाशय की लम्बाई की मासानुमासिक वृद्धि (इंचों में) दी जाती है—

मासानुमासिक वृद्धि की सारणी

मास	गर्भाशय की लम्बाई	भुग्नगर्भ की लम्बाई	गर्भ की लम्बाई
४	४	—	६.५
५	५.४	—	१०
६	६.६	—	१२
७	७.८	७.६	१४
८	८.७	८.३	१६–१७
९	९.३	९.२	१८
१०	१०	९.७	२०

इस सारणी से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ की लम्बाई प्रारंभिक तीन महीनों को छोड़कर शेष काल में गर्भाशय से बहुत अधिक होने के कारण गर्भ गर्भाशय में सीधा रह नहीं सकता। परंतु जब वह हाथ, पैर और सिर सिकुड़ लेता है तब उसकी लम्बाई (चोटी से चूतड़ तक) गर्भाशय की लम्बाई से जरा सी कम होती है। अर्थात् गर्भाशय में आराम से रहने का यही एक स्वाभाविक मार्ग है। अस्वाभाविकता हाथ, पैर या सिर के न सिकुड़ने से होती है। इस अस्वाभाविक गर्भाङ्गस्थिति के विविध प्रकार नीचे दिये जाते हैं—

अस्वाभाविक गर्भांगस्थिति या गर्भासन
- सिर
  - अत्यंत संकोच
  - प्रसार
    - पूर्ण
    - अपूर्ण
- ऊर्ध्वशाखाएँ—एक या दोनों फैली हुई
  - ऊपर—सिर के पास या पीछे
  - नीचे—धड़ के पास या पीछे
  - दूर—शरीर से दूर
- अधोशाखाएँ
  - एक या दोनों जाँघ प्रसारित
    - टाँगें मुड़ी हुई
    - एक या दोनों टाँगें फैली हुई
  - एक या दोनों टाँगें प्रसारित, जाँघें सिकुड़ी हुई

अंगों की अस्वाभाविक स्थिति के कारण गर्भ में मूढता आ जाती है और वह प्रसव के समय अपत्यमार्ग में अटक जाता है। (निदानस्थान का आठवाँ अध्याय प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६१-३६२ देखो)। अभिमुखः—पीठ की ओर मुख करके—मातुः पृष्ठाभिमुखः । (चरक, शारीर ६)। इससे गर्भ का माता के शरीर के साथ संबंध बताया गया है। इसको गर्भ की अवस्थिति (Position) कहते हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार गर्भाशय में गर्भ की चार अवस्थितियाँ होती हैं। स्थिति निश्चित करने के लिए सिर और जघन गति में गर्भपृष्ठ निदेशक (Indicator) माना जाता है और उसके अनुसार गर्भ की अवस्थिति निम्न प्रकार से वर्णित होती है। प्रथम—इसमें पीठ सामने और बाईं ओर। द्वितीय—पीठ सामने और दाईं ओर। तृतीय—पीठ पीछे और

और उसी के उपलक्ष्य में यह श्लोक लिखा गया, इस प्रकार का मत निश्चिति से देना कठिन है। कम से कम कुछ शारीरशास्त्रज्ञों को इनका अस्तित्व मालूम नहीं था, यह बात निश्चित है। इसी लिए गयदासाचार्य इस श्लोक को नहीं पढ़ते हैं और भोज का वचन आधार के लिए देते हैं—गयी तु अमुं तन्त्रान्तरीयश्लोकं न पठति, किन्तु 'एवमेतानि पञ्चपेशीशतानि' इत्यत्र पुंसामिति पद पठित्वा पुंसामेव पञ्चपेशीशतानि स्त्रीणां तु विंशतिभिरूनानि पञ्चशतानीति व्याख्याति। अत्रार्थे च भोजवाक्यं दृष्टान्तीकरोति। तथा च भोजवाक्यम्—'पञ्चपेशीशतान्येव स्त्रीवर्ज्यं विद्धि भूमिप। अतश्च विंशो हीयन्ते स्त्रीणां शेफसि मुष्कयो॥' (डल्हणटीका)।

मर्मसिराधमनीस्रोतसामन्यत्र प्रविभागः ॥५४॥

मर्म, सिरा, धमनी और स्रोतसों का विभाग अन्यत्र (किया गया है)॥ ५४॥

वक्तव्य—अन्यत्र—मर्मों का षष्ठ अध्याय में, सिराओं का सप्तम में, और धमनी तथा स्रोतसों का नौवें अध्याय में वर्णन किया गया है।

शंखनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता।
तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥ ५५ ॥
यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः ॥ ५६ ॥

(योनि और गर्भशय्या का स्वरूप—) योनि शङ्खनाभि की आकृति की होती है। वह तीन आवर्तयुक्त वर्णन की गई है और उसके तीसरे आवर्त में गर्भशय्या प्रतिष्ठित है॥५५॥ रोहू मछली का मुख जिस स्वरूप का होता है, बुद्धिमान् वैद्य उसी के स्वरूप की और आकृति की गर्भशय्या को समझते हैं॥ ५६॥

वक्तव्य—शङ्खनाभ्याकृति—शङ्ख की नाभि याने मध्यभाग जैसे बीच में मोटा और चौडा और दोनों तरफ तङ्ग होता है, उसी प्रकार की आकृति जिसकी है, ऐसी। योनि—योनिमार्ग (Vaginal canal—) It is constricted at it's commencement, dilated in the middle, and narrowed near it's uterine extremity *Grey's Anatomy* त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता—योनि की रचना में तीन निश्चित आवर्त नहीं दिखाई देते, परन्तु उसकी आन्तरिक त्वचा पर आवर्त के समान कई गोल झोल (Ridges or Rugae) दिखाई देते हैं। तृतीये आवर्ते—अन्त में। गर्भशय्या—जिसमें गर्भ सोता है या अवस्थान करता है, वह स्थान अर्थात् गर्भाशय के भीतर का अवकाश (Uterine cavity), सन्दर्भ के अनुसार गर्भशय्या से गर्भाशय (Uterus, womb का भी बोध होता है, परन्तु यहाँ पर उसके भीतर का अवकाश समझना चाहिए। तत्संस्थानाम् अल्पमुखाम् अन्तर्महाम् विपुलाम्। (डल्हण)। जहां पर गर्भ रहता है, वह स्थान त्रिकोणाकृति होता है जिसका एक कोन गर्भाशय अन्तर्मुख पर और दो कोन दो बीजवाहिनियों के मुख पर होते हैं अर्थात् मुख के पास तंग और पीछे चौड़ा होता है। गर्भाशय का संक्षिप्त वर्णन—गर्भाशय वह अङ्ग है, जिसमें गर्भ रहा करता है। यह अङ्ग श्रोणिगुहा में मूत्राशय और मलाशय के बीच में होता है। इसके दोनों तरफ दो बन्धन होते हैं, जो पक्षबन्धन (Broad-ligaments) कहलाते हैं। इनमें दोनों ओर दो बीजग्रन्थियां रहती हैं, जिनमें बीज (Ova) उत्पन्न होकर बाहर निकलता है और पक्षबन्धन के ऊपर के किनारे में स्थित बीजवाहिनियों द्वारा (Uterine tubes) गर्भाशय में आता है। गर्भाशय का आकार अधोमुख तुम्बीफल के समान परन्तु चपटा (Pyriform in shape होता है। अप्रजाता (जिसमें गर्भधारणा न हुई हो) स्त्री में गर्भाशय की लम्बाई ३ इञ्च, चौड़ाई २ इञ्च और मोटाई १ इञ्च होती है और उसका तोल ढाई से साढ़े तीन तोला होता है। प्रजाता स्त्री में ये सब परिमाण कुछ अधिक हो जाते हैं। वर्णन के लिए गर्भाशय के तीन भाग किये जाते हैं। (१) गर्भाशयमुख (Os uteri)—यह भाग योनि के शिखर में होता है। इसके बीच में जो छिद्र होता है, वह बाह्य गर्भच्छिद्र (External os) कहलाता है और उसी में से मासिक स्राव बाहर आता है और शुक्राणु भीतर प्रवेश करता है। संक्षेप में यह गर्भाशय का महाद्वार है। यही द्वार मासिक धर्म के समय तथा उसके पश्चात् कुछ दिन तक विवृत रहता है (पीछे तीसरे अध्याय का ६ वां श्लोक और उसका वक्तव्य देखो), जिससे शुक्राणुओं को भीतर जाने में कठिनाई नहीं होती। उसके पश्चात् यह द्वार कुछ संकुचित हो जाता है, जिससे शुक्राणु भीतर नहीं जा सकते, अतएव गर्भधारणा भी नहीं होती। कुछ स्त्रियों में यह द्वार जन्म से या पश्चात् व्रणवस्तु की उत्पत्ति से सदा के लिए अत्यन्त संकुचित (सूचीमुख, अणुमुख Pinhole os) रहता है—गर्भस्थाया स्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनीं प्रदूषयन्। मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा॥ (चरक, चिकित्सा ३०)। ऐसी अवस्था में मासिक धर्म के समय आर्तव स्राव बाहर निकलने में बहुत कठिनता होती है (रजःकृच्छ्र, Dysmenorrhoea) और प्रायः ऐसी स्त्रियों में गर्भधारणा भी नहीं होती। महाद्वार संकोच के साथ प्रायः ग्रीवासरणी (Cervical canal) का भी संकोच रहता है, यह ध्यान में रखना चाहिए। (२) ग्रीवा (Cervix)—गर्भाशय मुख और शरीर के मध्य का यह भाग आकार में एक तरफ कुछ कम चौड़े बेलन के समान होता है। इसके भीतर का मार्ग ग्रीवासरणी कहलाता है और आकार में शकरकन्द के समान अर्थात् मध्य में कुछ विस्तृत होता है। ग्रीवा का कुछ हिस्सा योनि के शिखर में आगे की ओर निकला हुआ रहता है, जो योनि में अङ्गुलि देकर स्पर्श किया जा सकता है या योनिवीक्षणयन्त्र (प्रथमभाग पृष्ठ ४० देखो) योनि में प्रविष्ट करने से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। शरीर (Body of the uterus)—यह वह भाग है, जिसमें गर्भ का अवस्थान होता है। इसका आकार त्रिकोणाकृति चपटा होता है और भीतर का अवकाश भी वैसा ही होता है। इसलिए इसका वर्णन 'तत्संस्थानां तथारूपाम्' किया गया है। इसका ऊपर का भाग गर्भतुम्बी (Fundus uteri) कहलाता है और उसी में अपरा लगी रहती है। श्रोणिगुहा में गर्भाशय सीधा खड़ा न होकर मूत्राशय की ओर आगे कुछ झुका रहता है। यह झुकाव ग्रीवा और शरीर के संयोग पर होता है। स्वस्थावस्था में भी मलाशय और मूत्राशय की रिक्तता और पूर्णता के ऊपर इस झुकाव में फर्क पड़ता है। जब मूत्राशय रिक्त और मलाशय पूर्ण रहता है, तब

गर्भाशय अधिक झुककर मूत्राशय के ऊपर रहता है। जब मूत्राशय पूर्ण और मलाशय रिक्त रहता है, गर्भाशय का आगे का झुकाव नष्ट होकर वह सीधा खड़ा होता है और कभी कभी पीछे त्रिक की ओर झुकता है। इस तरह गर्भाशय कुछ चल होने पर भी आठ बंधनों से अपने स्थान में बहुत कुछ स्थिर रहता है। इनमें एक आगे, एक पीछे, दो त्रिकसंबंधित, दो पार्श्विक और दो गोल होते हैं। जब ये बंधन कमजोर होकर ढीले और लम्बे हो जाते हैं, तब गर्भाशय अपने स्थान से हट जाता है। इस विकृति को योनिस्थानापवृत्ति या गर्भाशयस्थानापवृत्ति (Uterine displacements) कहते हैं—योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता मता स्त्रियाः। (चरक, चिकित्सा ३०)।

वयानुसार गर्भाशय की स्थिति—वय के अनुसार भी गर्भाशय की स्थिति में बहुत फर्क होता है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक गर्भाशय श्रोणिगुहा से ऊपर याने उदर-गुहा में होता है। धीरे धीरे वह नीचे सरकता है और जवानी के प्रारंभ में तथा उसके पश्चात् वह पूर्णतया श्रोणिगुहा में रहता है। मासिक धर्म के समय वह कुछ बड़ा (पीछे तीसरे अध्याय के नौवें श्लोक का वक्तव्य देखो) हुआ करता है। गर्भधारण होने के बाद उसका आकार बहुत बड़ा होता है और आठवें महीने में कौड़ी-प्रदेश तक पहुँच जाता है। प्रसूती के पश्चात् वह करीब करीब पूर्ववत् हो जाता है, परंतु उसके भीतर का अवकाश कुछ बड़ा हुआ रहता है। वृद्धावस्था में गर्भाशय सिकुड़ कर बहुत छोटा और कठिन हो जाता है तथा उसका आन्तरिक छिद्र (Internal os) और कभी कभी बाह्यच्छिद्र बंद हो जाता है।

आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥५७॥

(गर्भाशय में गर्भ की स्थिति—) स्त्री के गर्भाशय में गर्भ संकुचित अंग और अभिमुख होकर रहता है। (और) प्रसव के प्रति (समय में) स्वभाव से ही शिर के बल योनि की ओर चलता है ॥ ५७ ॥

वक्तव्य—इसमें गर्भ का साधारण तथा प्रायिक आसन, अवस्थिति और गति वर्णन की है। आभुग्नः—मुड़ा हुआ। गर्भाशय में गर्भांगों की स्थिति निम्न प्रकार की होती है—उसका सिर आगे को वक्ष पर मुड़ा रहता है; पृष्ठवंश आगे को कुछ मुड़ता है, जिससे पीठ बहिर्गोल हो जाता है; दोनों जांघे उदर पर और टांगे जाँघों पर मुड़ी रहती हैं; मुट्ठियाँ बंद रहती हैं; हथेली और अँगुलियों में जो रेखाएँ मिलती हैं, वे गर्भावस्था में त्वचा के मुड़ जाने से ही बनती हैं। संक्षेप में, शरीर की संकोचक (Flexor) पेशियाँ काम में आती हैं, जिससे संपूर्ण शरीर संकुचित स्थिति में रहता है। गर्भाशय में गर्भ के धड़ के साथ सिर और शाखाओं का जो सम्बन्ध होता है, उसको गर्भाङ्गस्थिति या आसन (Attitude) कहते हैं और स्वाभाविक अवस्था में गर्भांगस्थिति सार्वदैहिक संकोच (Universal flexion) की होती है। चरक में इसलिए लिखा है—गर्भस्तु खलु संकुच्याङ्गान्यास्तेऽन्तःकुक्षौ। (शारीर ६)। इस तरह कुल अंग संकुचित हो जाने के कारण गर्भ का आकार अण्डे के समान दीर्घ गोल हो जाता है। इसको भुग्नगर्भ (Foetal ovoid) कहते हैं। यद्यपि मासानुमास गर्भाशय की लम्बाई बढ़ती जाती है तथापि गर्भ की मासानुमासिक लम्बाई की वृद्धि गर्भाशय की लम्बाई की वृद्धि से अधिक होने के कारण उत्तरकाल में गर्भ को अपने अंगों को संकुचित करके रहना एक आवश्यक घटना होती है। इसके सिवा गर्भाशय के अवकाश के साथ मिलने की दृष्टि से भी आकुञ्चन आवश्यक होता है। नीचे भुग्नगर्भ, गर्भ और गर्भाशय की लम्बाई की मासानुमासिक वृद्धि (इंचों में) दी जाती है—

मासानुमासिक वृद्धि की सारणी

मास	गर्भाशय की लम्बाई	भुग्नगर्भ की लम्बाई	गर्भ की लम्बाई
४	४	—	६·५
५	५·४	—	१०
६	६·६	—	१२
७	७·८	७·६	१४
८	८·७	८·३	१६–१७
९	९·३	९·२	१८
१०	१०	९·७	२०

इस सारणी से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ की लम्बाई प्रारंभिक तीन महीनों को छोड़कर शेष काल में गर्भाशय से बहुत अधिक होने के कारण गर्भ गर्भाशय में सीधा रह नहीं सकता। परंतु जब वह हाथ, पैर और सिर सिकुड़ लेता है तब उसकी लम्बाई (चोटी से चूतड़ तक) गर्भाशय की लम्बाई से जरा सी कम होती है। अर्थात् गर्भाशय में आराम से रहने का यही एक स्वाभाविक मार्ग है। अस्वाभाविकता हाथ, पैर या सिर के न सिकुड़ने से होती है। इस अस्वाभाविक गर्भाङ्गस्थिति के विविध प्रकार नीचे दिये जाते हैं—

अस्वाभाविक गर्भाङ्गस्थिति या गर्भासन
- सिर
  - अत्यंत संकोच
  - प्रसार
    - पूर्ण
    - अपूर्ण
- ऊर्ध्वशाखाएँ—एक या दोनों फैली हुई
  - ऊपर—सिर के पास या पीछे
  - नीचे—धड़ के पास या पीछे
  - दूर—शरीर से दूर
- अधोशाखाएँ
  - एक या दोनों जाँघ प्रसारित { टाँगें मुड़ी हुई / एक या दोनों टाँगें फैली हुई
  - एक या दोनों टाँगें प्रसारित, जाँघें सिकुड़ी हुई

अंगों की अस्वाभाविक स्थिति के कारण गर्भ में मूढता आ जाती है और वह प्रसव के समय अपत्यमार्ग में अटक जाता है। (निदानस्थान का आठवाँ अध्याय प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६१-३६२ देखो)। अभिमुखः—पीठ की ओर मुख करके—मातुः पृष्ठाभिमुखः। (चरक, शारीर ६)। इससे गर्भ का माता के शरीर के साथ संबंध बताया गया है। इसको गर्भ की अवस्थिति (Position) कहते हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार गर्भाशय में गर्भ की चार अवस्थितियां होती हैं। स्थिति निश्चित करने के लिए सिर और जघन गति में गर्भपृष्ठ निदेशक (Indicator) माना जाता है और उसके अनुसार गर्भ की अवस्थिति निम्न प्रकार से वर्णित होती है। प्रथम—इसमें पीठ सामने और बाईं ओर। द्वितीय—पीठ सामने और दाईं ओर। तृतीय—पीठ पीछे और

केवल शल्यतन्त्र में सीमित न होकर सपूर्ण वैज्ञानिक और व्यावसायिक शास्त्रों को व्याप्त करता है। औपपत्तिक और प्रात्यक्षिक ज्ञान के संयोग का तत्त्व व्यावहारिकदृष्ट्या विशेष महत्त्व का होने के कारण ग्रथ के प्रारम्भ में ही उसका विवरण किया गया है (सूत्रस्थान अध्याय ३ के अन्तिम श्लोक प्रथम खण्ड पृष्ठ १८–१९) उसको देखो। अब इसके पश्चात् मृतशोधन की पद्धति लिखते हैं—

तस्मात् समस्तगात्रमविषोपहतमदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशतिकं निःसृष्टान्त्रपुरीषं पुरुषमवगाह्न्त्यामापगायां निबद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्कलकुशशणादीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गप्रत्यङ्गमप्रकाशे देशे कोथयेत्, सम्यक्प्रकुथितं चोद्धृत्य ततो देहं सप्तरात्रादुशीरबालवेणुवल्कलकूर्चानामन्यतमेन शनैः शनैरवघर्षयंस्त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् लक्षयेच्चक्षुषा ॥ ६१ ॥

(मृतशोधन की पद्धति—) अत (शरीरगत अङ्गप्रत्यङ्गों का प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करने के लिए) जिसके शरीर में सपूर्ण अंग-प्रत्यंग (अविकल) हों, जिसकी मृत्यु विष से न हुई हो, जो (मृत्यु के पूर्व) दीर्घकाल तक व्याधि से पीडित न हुआ हो, जिसकी आयु सौ बरस की न हो, जिसकी आँतें और मल निकाल दिया गया हो, ऐसे (मृत) पुरुष (के शरीर) को (तेजी से) न बहने वाली नदी में बाँधकर, पिंजरे में रखकर, मूँज, (वृक्षों की) छाल, कुश, सन इनमें से एक से अंग-प्रत्यंगों को लपेटकर अप्रकट स्थान में सडावे। फिर सात रोज के बाद भली भाँति सडे हुए उस देह को (नदी के बाहर) निकालकर (और उसके पिंजरे को तथा मुञ्जादि के आवरण को हटाकर) खस, बाल, बाँस और छाल की कूँचियों में से एक (की कूँची) से धीरे धीरे घिसते हुए, जैसे कि पहले वर्णन किये गये हैं वैसे, त्वचादि सब बाह्य और आभ्यन्तर अंग-प्रत्यंग विशेषों को आँखों से देखे ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—समस्तगात्रम्—मनुष्यशरीर में जितने अग अवयव होने चाहिएँ उतने अँगों से तथा अवयवों से युक्त, अर्थात् समस्त शब्द से अंगों की हीनता का जैसे निषेध सूचित किया जाता है, वैसे ही अंगों की अधिकता का भी निषेध सूचित होता है। इसलिए डल्हणाचार्य के अर्थ में निम्न प्रकार का शोधन करना चाहिए—समस्तगात्रमिति, अङ्गहीने (अङ्गाधिक्ये वा) आगमोक्तावयवसद्भावपत्ययात्[1]। इस में सन्देह नहीं कि अङ्गाधिक्य की अपेक्षा अंगहीनता अधिक मिलती है तथा जन्म के पश्चात् भी उत्पन्न हो सकती है। इसलिए उसका उल्लेख न करके केवल अङ्गहीनता का उल्लेख किया होगा। इन दो अवस्थाओं के सिवा अंगविकृति (सहज दोष Congenital malformations जो पूर्वोक्त दो अवस्थाओं में नहीं आते। प्रथम खण्ड पृष्ठ १२० देखो) की तीसरी अवस्था होती है उससे विरहित यह भी समस्त का अर्थ होता है। संक्षेप में समस्त मात्र का अर्थ 'जिसके शरीर में न कोई अङ्ग कम हो, न अधिक हो, न विकृत हो, ऐसा'। अविषोपहतम्—विष से मृत्यु होने पर जिन अङ्गों पर विष का प्रभाव पडता है, वे अङ्ग अस्वाभाविक हो जाते हैं। इसलिए विष से मृत हुआ नहीं होना चाहिए। अदीर्घव्याधिपीडितम्—दीर्घव्याधि (Chronic disease) से पीडित होने पर शरीर के अंग और धातु खराब हो जाते हैं। जैसे, उपदंश में शिश्न झड जाता है, कुष्ठ में त्वचा खराब होती है, फिरङ्ग में नासा तथा अन्य स्थान की हड्डियाँ गलती हैं, विषमज्वर काला अजार में प्लीहोदर होता है, इत्यादि। अत दीर्घ व्याधियों से मृत मनुष्यों का शरीर देखने से इन अङ्गों का परिज्ञान विकृत होगा। अदीर्घ या नवीन व्याधि (Acute disease) से मृत्यु होने पर रोग की अवधि अल्प होने के कारण शरीर में विशेष परिवर्तन नहीं हो सकते। इसलिए अदीर्घव्याधिपीडित का अर्थ 'जो व्याधि से अल्पकाल पीडित होकर मृत हुआ हो' ऐसा करना चाहिए। अवर्षशतिकम्—जो बहुत बूढा न हो। वृद्धावस्था में शरीर की धातुओं और अवयवों का क्षय होता है—सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साह वृद्धमाचक्षते। (सुश्रुत, सूत्र ३१)। जैसे, हड्डियाँ वृद्धावस्था में कुछ हलकी, विरल और भङ्गुर हो जाती हैं, दाँत सम्पूर्ण गिर जाते हैं, अधोहनु का आकार बदलता है, स्त्रियों में गर्भाशय सिकुडकर छोटा होता है और उसका मुख बन्द हो जाता है, इत्यादि। 'अवर्षशतिक' इस विशेषण का तात्पर्य ऊपर बताया गया है और उसके अनुसार इसके लिए उचित पर्याय 'अनतिवृद्ध' होता है। परन्तु इस विशेषण में जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनके वास्तविक अर्थ की ओर ध्यान दिया जाय और उसके साथ यह भी मान लिया जाय, और इस प्रकार मानना उचित भी है कि ये शब्द सहेतुक प्रयुक्त किये गये हैं तो यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस काल में यह संहिता लिखी गई है उस काल में सौ वर्ष की आयु में मरने वाले लोगों की संख्या बहुत कम न थी, अन्यथा इस शब्दप्रयोग से अतिवृद्धावस्था में मृत मनुष्यों के ग्रहण का निषेध करने का कोई कारण नहीं था। मृत संशोधनार्थ ग्रहण करने योग्य शरीर का सुश्रुतोक्त वर्णन आज भी सम्मत होने योग्य है, परन्तु यदि कोई लेखक आज की परिस्थिति के अनुसार इसी बात को लिखे तो उसको 'अवर्षशतिक' शब्द प्रयोग करने का ख्याल तक नहीं आयगा क्योंकि आज भारतवर्ष में सौ साल की आयु में मरने वाले लोग अत्यन्त विरलदृष्ट होते हैं। निःसृष्टान्त्रपुरीषम्—(१) अन्त्रं च पुरीषं च अन्त्रपुरीषे, निःसृष्टे अन्त्रपुरीषे यस्य तम्। जिसकी आन्त्र और पुरीष दोनों निकाली गई हैं, ऐसा। हाराणचन्द्र 'अन्त्रपुरीषम्' का अर्थ 'अन्त्रगतं पुरीषमन्त्रपुरीषम्' ऐसा करते हैं। यह भी अर्थ हो सकता है क्योंकि इसमें मुख्य उद्देश्य मल को निकालने का है। परन्तु मृत मनुष्य के केवल मल को निकालने का, सिवा अन्त्र को काटकर निकालने के, और कोई सरल उपाय नहीं मालूम होता। इसलिए 'निःसृष्टान्त्रपुरीष' का 'जिसकी आँतें और तद्गत पुरीष दोनों ही निकाली गई हैं' ऐसा अर्थ करना अधिक प्रशस्त है। इसके सिवा आन्त्र की लम्बाई मालूम करने के लिए (पीछे ८ वाँ सूत्र देखो) एक बार आन्त्र को काटकर, शरीर से पृथक् करके देखना

[1] ०भावज्ञ०।

है। सिवा शरीर से पृथक् करने के, आन्त्र की लम्बाई मालूम नहीं हो सकती। यदि यह कर्म प्रारंभ में ही किया जाय तो 'एक पंथ दो काज' के तत्त्वानुसार शरीर से मल भी हट जाता है और लम्बाई नापने के लिए आन्त्र भी मिल जाता है। इसके सिवा आन्त्र तथा तद्गत मल निकालने का और भी एक उद्देश्य होता है। इसका विवरण इसी वक्तव्य में आगे कोथ की टिप्पणी में किया गया है, उसे देखो। इसलिए यही अर्थ अधिक प्रशस्त है। (२) इसका और भी एक गौण अर्थ हो सकता है। कभी कभी मृत्यु के पूर्व से रोगी का शरीर मलमूत्र से लिप्त रहता है और कभी कभी मृत्यु के पश्चात् उसके मलद्वार से मल बाहर आता है। ऐसी अवस्था में शव को सड़वाने से पूर्व उसका शरीर साफ करना आवश्यक है। इसलिए 'जिसके शरीर पर लगा हुआ आन्त्रगत मल साफ किया गया है' ऐसा भी इस पद का अर्थ हो सकता है। पुरुषम्—इससे पुरुष के मृत शरीर का बोध होता है। पुरुष शरीर ग्रहण का निर्देश सहेतुक तथा निर्हेतुक दोनों प्रकार का हो सकता है। निर्हेतुक इसलिए कहा जा सकता है कि यदि कोई विशेष कारण न हो तो पुरुष लेखक (प्राचीनकाल में सब लेखक पुरुष ही थे) स्त्रियों के स्वतन्त्र अस्तित्व का ख्याल ही नहीं करते थे और प्रत्येक समय मनुष्य के लिए पुरुष का ही निर्देश (पीछे ९वें सूत्र के वक्तव्य में 'नव' की टिप्पणी देखो) होता था। सहेतुक इसलिए कि स्त्रीशरीर की अपेक्षा पुरुष-शरीर सुगमता से मिलता होगा। पुरुष की आयु—यह एक बहुत महत्त्व का प्रश्न है। कुछ आधुनिक विद्वानों की यह राय है कि आयुर्वेद में मृतशोधन के लिए बाल के या पचीस वर्ष से कम आयु के शरीर प्रयोग में लाये जाते थे—आपातविरुद्धवादिनो (अस्थिसंख्यापरिगणने) ऽपि सर्वे एवैतेऽवितथमाहुः। गणनाप्रकारभेदात्। पृथगवयोग्रहणाच्च। प्राञ्चो हि यौवनप्रविष्टस्य संचक्षतेऽस्थीनि, प्रौढस्य पञ्चविंशतिवर्ष-देशीयस्य तु प्रतीच्याः। कशेरुकावयववादीनां पृथक्संख्यानात् स्फुटमनुमीयते खल्वेतत्॥ (प्रत्यक्षशारीर, प्रथम विभाग)। इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण कहीं भी नहीं मिलता। जो अनुमान किया गया है, वह अस्थियों की गणना के ऊपर किया गया है। परंतु इससे भी संशोध्य मृतशरीर की आयु एक निश्चित नहीं की जा सकती। जैसे, यदि कशेरुकाओं के अवयवों के आधार पर मृतशरीर की आयु १६–१८ मानी जाय तो शिर के छः कपालों के आधार पर वह ४–६ साल की माननी पड़ेगी और यदि त्रिकसंश्रित अस्थि की एक संख्या देखकर मृतशरीर की आयु ३० साल से अधिक माननी पड़ेगी क्योंकि उसके अवयव २५–३० साल की उम्र में एक हो जाते हैं। अतः अस्थिगणना के आधार पर किया हुआ अनुमान कुछ अस्थिर सा मालूम होता है। अब इस सूत्र में संशोध्य मृतशरीर का जो वर्णन किया गया है, उसमें भी 'अवर्षशतिकम्' के सिवा उसकी आयु मालूम करने का और कोई साधन नहीं है। इस विशेषण से अतिवृद्ध शरीर का निषेध किया गया है, इसमें कोई संदेह नहीं। यदि इस निषेध के कारण का बारीकी से विचार किया जाय तो यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस काल में मृतसंशोधन की प्रथा जारी थी, उस समय में लोग अधिक उम्र के मृत को संशोधन के लिए पसंद किया करते थे और उसके अतियोग से बचने के लिए यह 'अवर्षशतिकम्' का लाल झंडा (Rod signal) दिखाया गया है। इसके साथ पुरुष को जोड़ने पर संशोध्य की आयु का निदर्शक लोलक (Pendulum) पच्चीस साल से कम आयु की अपेक्षा पचास या उससे अधिक साल की ओर झुकता हुआ मालूम पड़ता है। दूसरा भी एक आनुमानिक प्रमाण दिया जा सकता है। अस्थिसंख्या में दांत हमेशा बत्तीस बताये जाते हैं। इससे कम संख्या कहीं भी नहीं बताई गई है। दांतों की बत्तीस संख्या पच्चीस साल की उम्र के पश्चात् ही हो सकती है, इससे पहले कदापि नहीं हो सकती। संक्षेप में इस विवरण का तात्पर्य यह है कि मृत-संशोधन के लिए आयुर्वेद के शारीरशास्त्रज्ञ अल्पायु पुरुष को पसंद नहीं करते थे। अतः अस्थिसंख्याधिक्य का मुख्य कारण अल्पायु मृतसंशोधन न होकर गणनापद्धति भेद ही होता है (पीछे १७वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अवहन्त्यामापगायाम्—अपां समूहो आपं तेन गच्छति इति आपगा—स्रोतस्विनी द्वीपवती स्रवन्ती निम्नगापगा। (अमरकोष)। अर्थात् जिसमें पानी काफी होता है, वही आपगा कहलाती है। अवहन्त्याम्—जिसमें ईषत् प्रवाह हो परंतु प्रवाह की गति तेज न हो। निबद्धम्—प्रवाह से नीचे शव न बहने पावे तथा वह पानी में मग्न (डुबा) रहे, इसलिए वह बांधकर रक्खा जाता था। पंजरस्थम्—घड़ियाल, मगर इत्यादि बड़े बड़े जलचरों से रक्षा करने के लिए शव पिंजरे में बंद करके रक्खा जाता था। शव का पिंजरा ही बांधकर रक्खा जाता था। मुञ्जवल्कल इत्यादि—मछली तथा अन्य छोटे छोटे जलचरों द्वारा त्वचा की रक्षा करने के लिए इनके द्वारा शव पूरा लपेटा जाता था। सप्तरात्रात्—सप्तरात्रादनन्तरमित्यर्थः। कभी कभी कालदर्शक शब्दों की पंचमी के पश्चात् 'अनन्तरम्' या 'परम्' या 'ऊर्ध्वम्' शब्द लुप्त रहते हैं; जैसे—बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदम्। (उत्तररामचरित २)। इसका संबंध नदी में शव रखने के साथ है; नदी से बाहर निकालने के पश्चात् के कर्म के साथ नहीं। संक्षेप में, इससे नदी में प्रेत रखने की अवधि सूचित होती है। अप्रकाशे देशे—गांव या नगर के पास जब नदी होती है तब स्नान करना, वस्त्र धोना, बर्तन मांजना, जानवरों को धोना और पानी पिलाना, किनारे पर टहलना इत्यादि अनेक कामों के लिए वहां के निवासी लोग उसका उपयोग करते हैं। इसलिए, प्रेत ऐसे स्थान में रखना चाहिए कि जहां पर लोग किसी काम के लिए नहीं जाते हैं और वह उनकी दृष्टि के सामने नहीं आ सकता है। संक्षेप में, जनसमाज से दूर स्थान में या पर्याय से गुप्त स्थान में। अप्रकाश देश का अर्थ अँधेरा स्थान नहीं है। नदी में अँधेरा स्थान कहीं नहीं मिल सकता। इस प्रकार गुप्त स्थान में रखने से दो फायदे होते हैं। गांव वालों का फायदा यह है कि वे उस बीभत्स दृश्य से बच जाते हैं और वैद्य की दृष्टि से फायदा यह है कि प्रेत को शरारती लोगों का उपसर्ग नहीं पहुँचता। डल्हणाचार्य अप्रकाश में रखने का उद्देश्य गृध्रादि का निवारण समझते हैं—प्रकाशे गृध्रादिभक्षणभयम्। पानी के

भीतर पिंजरे में वल्कलादि से लिप्त प्रेत के लिए गृध्र का भय बहुत कम होगा या होगा ही नहीं। इसके सिवा अप्रकाश में रक्खे हुए प्रेत की ओर उनका आकर्षण नहीं होगा, यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि गृध्र जैसे दृष्टिलोलुप होता है, वैसा गन्धलोलुप भी रहता है। इस सूत्र के तीन विभाग हैं और प्रत्येक विभाग में अलग अलग विषय वर्णन किया है। प्रथम विभाग 'समस्तगात्र' से 'पुरुषम्' तक है। इसमें संशोधनार्थ मृतपुरुष किस प्रकार का होना आवश्यक है, इसका विचार किया है। इस सूत्र में बताये हुए विचारों में आज भी कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है, यदि वय की उत्तरमर्यादा के साथ पूर्वमर्यादा भी (जैसे—नातिवृद्ध नातिबालम्) इसमें स्पष्ट शब्दों में समाविष्ट की जाय। दूसरा विभाग 'अव इन्त्याभ्यन्तरम्' से 'कोथयेत्' तक है। इसमें शोधन के पहले प्रेत को तैयार करने की विधि (Preparation of the dead body) बतलाई है। यह प्राचीन विधि आधुनिक विधि से बिलकुल भिन्न है। अतः दोनों का ही यहां पर विचार करना आवश्यक है। तीसरा विभाग 'सम्यक् प्रकुथितम्' से 'लक्षयेच्चक्षुषा' तक है। इस विभाग में मृत संशोधन की विधि (Method of dissection) बतलाई है। यह प्राचीन विधि भी आधुनिक विधि से कुछ भिन्न है। मृत को तैयार करने की प्राचीन पद्धति—संशोधनार्थ मृत को तैयार करने की प्राचीन पद्धति को 'जलमज्जन कोथ पद्धति' कह सकते हैं। इस पद्धति का क्या प्रयोजन था, इसका निर्णय करना बहुत कठिन काम है, परन्तु इसके संबंध में जो कुछ समझ में आता है, उसका विवरण नीचे किया जाता है। प्राचीन काल में मृत का संशोधन कूँची के द्वारा किया जाता था। कूँची की रगड़ से यदि शरीर को देखना हो तो शरीर मृदु (Soft) बनना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए जलमज्जन की विधि का आविष्कार किया गया है। यह आविष्कार कहां तक युक्तियुक्त है, इसका विचार करने के पूर्व मृत्यु के पश्चात् शरीर में होने वाले परिवर्तन और उनके कारणों का कुछ विचार करना आवश्यक है। मृत्यु के पश्चात् शरीर में होने वाले परिवर्तन (Cadaveric changes)—मृत्यु के पश्चात् यदि शरीर कुछ काल वैसा ही रक्खा जाय तो उसमें निम्न परिवर्तन होते हैं और ये मृत्यु के निश्चित चिह्न होते हैं। (१) मरणोत्तर अवस्तन वैवर्ण्य (Cadaveric lividity)—इसमें शरीर के सब से नीचे के भाग में तरल रक्त इकट्ठा होने से वैवर्ण्य आ जाता है। (२) मरणसंकोच (Rigor mortis)—इसमें पेशियाँ जम जाती हैं, जिससे वे संकुचित नहीं हो सकतीं और शरीर में एक प्रकार की कड़ाई आती है। यह अवस्था मृत्यु के कुछ घंटों के पश्चात् प्रारंभ होकर एक से तीन दिन तक रह सकती है। अधिक देर तक प्रेत रखने के पश्चात् उसको उठाते समय इस कड़ाई का अनुभव मिलता है। मरणसंकोच के संबंध में एक हंसोड़ का किस्सा बहुत प्रसिद्ध है। वह मनुष्य हमेशा विनोदी बातें कहकर लोगों को हँसाया करता था और यह भी कहता था कि मरणोत्तर भी एक बार आप लोगों की ऐसी ही सेवा करके फिर दुनियाँ से मिट जाऊँगा। लोग उस समय उसके वचन पर विश्वास नहीं करते थे और उसकी दिल्लगी समझते थे। जब वह मरने लगा, तब उसने अपने पास वाले मनुष्य को कहा कि मेरी टाँगों में बड़ा दर्द हो रहा है, इसलिए उनको दीवाल के पास खड़ा कर दीजिए। टाँगें खड़ी करने के थोड़ी देर के पश्चात् वह मनुष्य मर गया। उसको ले जाने की तैयारी करते करते कई घंटे बीत गये। तैयारी होने के पश्चात् जब उसको उठाकर लोग अरथी पर रखकर बांधने लगे तो टाँगें दबाने पर सिर और धड़ ऊपर उठने लगा और सिर को दबाने पर टाँगें ऊपर उठने लगीं। कई बार दोनों ओर दबाने पर मुश्किल से लोग उसको अरथी पर बांधने में सफल हुए। उस समय लोगों को हँसी के साथ उसके वचन की भी याद आ गई। संक्षेप में, मरणोत्तर संकोच से शरीर में काफी कड़ाई आ जाती है, जिससे पश्चात् शरीर को सीधा करने में कठिनाई होती है। इसलिए मृत्यु होते ही, यदि उस समय शरीर अस्तव्यस्त हो तो, शरीर को सीधा करके रखने का रिवाज है। (३) शरीर का ठंडा होना—मृत्यु होने के कुछ पूर्व हाथ-पैर ठंडे होने लगते हैं और मृत्यु के पश्चात् संपूर्ण शरीर ठंडा हो जाता है। यदि शरीर का तापक्रम ८०° फ० तक हो जाय तो वह चिह्न मृत्यु का निश्चित निदर्शक समझना चाहिए। (४) कोथ (Putrefaction)—शरीर की मृत्यु का यह एकमात्र निश्चित चिह्न है। यदि किसी की मृत्यु के संबंध में सन्देह हो तो उसका दहन या दफन कुछ दिनों तक स्थगित करना उचित है। वास्तविक मृत्यु होने पर आयु शरीर की स्थिति, मृत्यु का कारण, आर्द्रता, उष्णता, वायु इत्यादि के अनुसार न्यूनाधिक काल में शरीर में सड़ने की क्रिया शुरू होती है। सड़ने के मुख्य दो कारण होते हैं-(१) शरीरगत और शरीरबाह्य जीवाणु (२) तथा शरीरधातुगत आत्मपाची द्रव्य (Autolytic ferments)। शरीरगत जीवाणुओं का मुख्यस्थान आन्त्र है। इसमें मल की उपस्थिति के कारण अनन्त जीवाणु भरे रहते हैं। ये जीवाणु मृत्यु के पश्चात् मल से आन्त्र की दीवाल में, वहाँ से उदर गुहा में और समस्त शरीर में फैलते हैं। शरीरबाह्य जीवाणु वातावरण में होते हैं जो व्रत त्वचा में से शरीर में प्रवेश करते हैं। ये जीवाणु वातपी (Aerobe) और वातभी (Anaerobe) दो प्रकार के होते हैं और पाचक द्रव्यों को उत्पन्न करके शरीर का विद्रावण करते हैं। शरीरगत जो पाचक द्रव्य होते हैं, वे जीवाणुओं की सहायता के बिना अपना कार्य कर सकते हैं। अर्थात् यदि शरीरगत तथा शरीरबाह्य जीवाणुओं का संबंध कम कर दिया जाय, तब भी शरीर में विद्रावण हो सकता है। इससे शरीर मृदु हो जाता है। यही कोथ है। कोथ में शरीर के कई प्रकार की वायु (Gases) उत्पन्न होती हैं। जब दोनों कारण उपस्थित रहते हैं, तब कोथ जल्दी होता है। प्रथम कारण उपस्थित न होने पर देर में होता है तथा उतनी दुर्गन्ध नहीं उत्पन्न होती। खुली हवा में अनावृत शरीर अधिक तापक्रम पर जल्दी कुथित होता है। हवा-बंद स्थान में आवृत शरीर कम तापक्रम पर देर में कुथित होता है।

कोथ के संबंध के इस आधुनिक अवलोकन (Observation) के आधार पर प्राचीन जलनिमज्जनपद्धति का मूल

शरीर पर क्या परिणाम होता है, इसका विचार किया जाता है। मुञ्जादि से आवृत रहने के कारण त्वचा अक्षत रहती है और बाह्य जीवाणुओं का संबंध कम होता है; आन्त्र तथा मल निकाल देने के कारण शरीरगत जीवाणु, जो कोथ में मुख्यतया सहायता करते हैं, प्रायः नष्ट हो जाते हैं; पानी में गहराई पर प्रेत रहने के कारण बाह्य वायु का तथा जीवाणुओं का संबंध टूटता है और प्रेत न्यून तथा एक में ताप (Low and uniform temperature) पर रहता है। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि शरीर में कोथ देर में परंतु एक-सा (Uniform) प्रारंभ होता है और जीवाणुओं की अपेक्षा उसमें शरीरगत पाचक-द्रव्य अधिक काम करते हैं। संक्षेप में, स्वाभाविक कोथ में ही कुछ अनुकूल परिवर्तन कृत्रिम उपायों के द्वारा उत्पन्न करके मृतशरीर संशोधन के लिए उपयुक्त बनाया जाता था। कुथित शरीर कूँची के द्वारा रगड़ने के लिए मृदु बनता है और रगड़ने पर धीरे धीरे त्वचादि अंग निकल जाते हैं और निकलते समय उनका परीक्षण भी किया जाता है। आधुनिक काल में संशोध्य शरीर में जो स्वाभाविक कोथ होता है, उसको रोकने के उपाय काम में लाये जाते हैं। ये उपाय मुख्यतया दो हैं। (१) ओषधियाँ—वज्रि (Formalin) संखिया इत्यादि कोथप्रतिबंधक ओषधियों की सूई मृत शरीर में दी जाती है। (२) शीत—पश्चात् उस शरीर को विशेष पद्धति से बनाये हुए ठंडे कमरे में कुछ रोज तक रखते हैं। ओषधि का परिणाम समस्त शरीर पर होने के पश्चात् उसको संशोधन के काम में ले आते हैं। इससे प्रायः स्वाभाविक अवस्था में शरीर की सब धातुएँ मिलती हैं। मृतसंशोधन की पद्धति—प्राचीन काल में मृत का संशोधन कूँची के द्वारा किया जाता था। आधुनिक काल में चाकू और चिमटी के द्वारा शरीर का शोधन होता है तथा शरीर के विविध अंग और प्रत्यंग काट-काटकर अलग किये जाते हैं और उनका संशोधन होता है। इसलिए आधुनिक पद्धति के लिए शव विच्छेदन (Dissection) शब्द का प्रयोग होता है। शरीर के प्रत्यंगों को देखने की दृष्टि से जलनिमज्जन और कूर्चघर्षण ये दोनों पद्धतियाँ बहुत ही असंस्कृत (Crude) हैं। पेशी, स्नायु इत्यादि की संख्या आधुनिक संख्या के साथ न मिलने के जो अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें संशोधन की असंस्कृत पद्धति एक कारण है। चक्षुषा—चर्मचक्षुओं द्वारा। इस साधन से जो अंगविनिश्चय होता है, उसको स्थूल अंगविनिश्चय या शारीर (Gross anatomy) कहते हैं। इस अध्याय में चर्मचक्षुओं द्वारा प्राप्त हुआ याने स्थूल अंगविनिश्चय वर्णन किया है। आधुनिक काल में सूक्ष्म दर्शक की सहायता से भी अंगों की रचना का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उसको सूक्ष्म अंगविनिश्चय (Microscopical anatomy) कहते हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र न होने के कारण प्राचीन ग्रंथों में स्थूल वर्णन ही मिलता है। कहीं कहीं सूक्ष्म वर्णन भी आता है। उसके कारण का विचार आगे के श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

श्लोकौ चात्र भवतः—

न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः।
दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भिरेव च ॥ ६२ ॥

(सूक्ष्मदर्शन में चर्मचक्षुओं का वैयर्थ्य—) (इस प्रकार शरीर के स्थूल अंग-प्रत्यंगों को चर्मचक्षुओं से देखना शक्य है परंतु) शरीरगत अत्यंत सूक्ष्म आत्मा को (चर्म) चक्षु से देखना शक्य नहीं है। वह आत्मा ज्ञानचक्षुओं तथा तपश्चक्षुओं द्वारा ही दीख पड़ता है ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—प्रथम अध्याय में संहिताकार बतला चुके हैं कि सजीव शरीर में पुरुष होता है, परंतु वह अनुमानग्राह्य (प्रथम अध्याय सूत्र १७ देखो) होता है। इस श्लोक में उस अनुमानग्राह्य पुरुष को प्रत्यक्ष करने के दो मार्ग बताये गये हैं। चक्षुषा—चर्म-चक्षुषा। देहे—सजीवदेहे। मृत शरीर में आत्मा को देखने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह उसमें होता ही नहीं—शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्। पंचभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ (चरक, शा० १)। विभुः—पुरुष, आत्मा। सुश्रुत के मतानुसार विभु (सर्वमूर्तसंयोगित्व) नहीं होता (प्रथम अध्याय के १६वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। सूक्ष्मतम और विभु ये दोनों परस्परविरोधी शब्द हैं। परंतु जीवात्मा में इनके विरोध का परिहार हो जाता है—अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। (कठोपनिषत्)। सूक्ष्मतमः—जीवात्मा के सूक्ष्मतमत्व की कल्पना श्वेतरोपनिषत् में निम्नप्रकार से वर्णित है—बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः। जीवात्मा को सूक्ष्मतम याने अणुरूप मानने के कारणों का विचार प्रथम अध्याय के १६वें सूत्र के वक्तव्य में 'पुरुष का परिमाण' की टिप्पणी में किया गया है। दृश्यते—प्रकाशित होता है, उपलब्ध होता है (is revealed)। इस का प्रयोग यहाँ पर 'ऋषयो मन्त्राणां द्रष्टारः' इस अर्थ से किया गया है। ज्ञानचक्षु—चर्मचक्षु का विरोधी शब्द है। ज्ञानमेव चक्षुः, किं वा ज्ञानं चक्षुरिव ज्ञानचक्षुः। भेलसंहिता में आलोचक पित्त के दो विभाग किये हैं—चक्षुर्वैशेषिक और बुद्धिवैशेषिक आलोचन-पित्त। चक्षुर्वैशेषिक पित्त का नेत्ररूप यन्त्र के साथ संबंध होता है और बुद्धिवैशेषिक का मस्तिष्क के साथ होता है—तत्र चक्षुर्वैशेषिकोऽ्नाम य आत्ममनसोस्संनिकर्षात्··· चक्षुषा वैशेष्यमुत्पादयति; बुद्धिवैशेषिको नाम यो भ्रुवोर्मध्ये शृंगाटकस्थः सुसूक्ष्मानर्थानध्यात्मकृतान् गृह्णाति, गृहीतं धारयति, धारितं प्रत्युरुदाहरति, अतीतं स्मरति, प्रत्युत्पन्नं कृलाऽनागतं प्रार्थयति, ध्याने प्रत्याहारे योजनाच्च बुद्धिवैशेष्यमुत्पादयति ॥ (शारीर ४)। इसलिए ज्ञानचक्षु को बुद्धिवैशेषिक आलोचकपित्त का स्वाभाविक फल समझ सकते हैं। अर्थात् वेद, वेदांग, उपनिषद्, दर्शन इत्यादि शास्त्रों के अध्ययन और चिन्तन से प्राप्त हुआ ज्ञान। यही ज्ञान ज्ञानी लोगों में चक्षु का काम करता है, इसलिए वे ज्ञान-चक्षु कहलाते हैं। चर्मचक्षु के द्वारा जो चीज दिखाई देती है, उसको देखने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। मूढ़ भी उसको देख सकते हैं, परंतु जो नेत्र प्रत्यक्ष नहीं होता उसको मानस प्रत्यक्ष करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। भगवद्गीता में चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षु का मिथो भेद निम्नश्लोक में स्पष्ट किया है—उत्क्रामन्तं

स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्। विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ (गीता १५-१०)। चरक में भी लिखा है कि प्रत्यक्ष अल्प और अप्रत्यक्ष अनल्प होता है। अर्थात् जो चक्षु के द्वारा प्राप्त नहीं होता, उसकी उपलब्धि आगम, अनुमानयुक्ति के द्वारा याने ज्ञानचक्षु के द्वारा होती है—प्रत्यक्षं ह्यल्पम्; अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमान युक्तिभिरुपलभ्यते॥ (सूत्र ११)। संक्षेप में ज्ञानचक्षु से मोक्षशास्त्र में अध्यात्मज्ञान रूपी चक्षु और भौतिक शास्त्रों में विज्ञानरूपी चक्षु। ज्ञानचक्षु के द्वारा दर्शन का प्राचीन उदाहरण रोगोत्पादक जीवाणु हैं। वे प्राचीन काल में सूक्ष्मदर्शक न होने के कारण अदृश्य थे—नन्ववोऽण्व, सौक्ष्म्यादर्शनः (अष्टांगहृदय)। केशादाधास्तत्रदृश्यास्ते। (सुश्रुत)। परन्तु उनका अस्तित्व आयुर्वेद में अनेक रोगों के कारणों में माना जाता था (निदानस्थान के ५वें अध्याय के छठे तथा ३२-३३वें श्लोकों का वक्तव्य देखो) और उनकी उपलब्धि ज्ञानचक्षु से की गई थी—सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मत्वात् कारणात् केचिद्दर्शना. प्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्या कार्येणैवानुमीयन्ते। (अरुणदत्त, अष्टांगहृदयटीका, निदान १४-५१)। आधुनिक काल में ज्ञानचक्षु के द्वारा ही प्रथम हर्शेल और नेपच्यून नामक ग्रहों की उपलब्धि हुई थी। ये ग्रह (Planet) शनि से भी बहुत दूर हैं। इनका दर्शन न आंखों से होता है, न साधारण दूरदर्शक (Telescope) से होता है। इनका दर्शन आधुनिक काल के उत्तम दूरदर्शक से होता है, परंतु सौ वर्ष पीछे के यन्त्र से नहीं होता था। उस समय भी गणित के अर्थात् ज्ञानचक्षु के द्वारा ज्योतिषी लोगों ने शनि से परे इन दो ग्रहों का अस्तित्व और उनका अन्तर मानस प्रत्यक्ष किया था और जैसे प्राचीन काल के जीवाणु आज प्रत्यक्ष हुए; वैसे ही सौ साल से पूर्व अदृश्य हर्शेल और नेपच्यून आज प्रत्यक्ष हो गये हैं। तपश्चक्षु—तप योग और समाधि का एक साधन है—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (योगसूत्र २-१)। समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन। (कुमारसम्भव)। तपस्या एक बड़ा भारी साधन है, जिसके द्वारा अलौकिक और असाध्य भी साध्य हो जाता है—तपोभिः प्राप्यतेऽभीष्टं नासाध्यं हि तपस्यतः। (मत्स्यपुराण)। तपसो हि परं नास्ति तपसा विद्यते महत्। (वह्निपुराण)। इसलिए तपश्चक्षु का अर्थ तप के द्वारा प्राप्त हुआ अलौकिक चक्षु याने दिव्यदृष्टि (Divi e vision)। यह दिव्यदृष्टि जैसे मनुष्य को तपस्या और योग के द्वारा प्राप्त होती है, वैसे ही देवताओं और महान् पुरुषों के प्रसाद और अनुग्रह से भी मिलती। महाभारत युद्ध के समय भगवान् व्यासजी ने संजय को दिव्यदृष्टि दी थी—व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्। योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ (गीता १८-७५) वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णजी ने अपने विश्वरूपदर्शन के समय अर्जुन को दिव्यचक्षु दिये थे—न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ (गीता ११-८)। इस तरह वस्तुओं को देखने की तीन आंखें या दृष्टियां होती हैं—चर्मचक्षु, ज्ञानचक्षु और दिव्यचक्षु (Naked eye, philosophical or sc entific eye and divine eye)। इनमें से प्रथमचक्षु के लिए नेत्र नामक पंचमहाभूतात्मक तेजोभूयिष्ट करण की आवश्यकता होती है। सूक्ष्मदर्शक, दूरदर्शक इत्यादि अनेक आधुनिक दर्शक यन्त्र इसी नेत्र के उपकरण होते हैं, अतः इसी वर्ग में आते हैं। शेष दोनों चक्षुओं के लिए पांचभौतिक नेत्र की आवश्यकता नहीं होती; अन्धे भी ज्ञानचक्षु या दिव्यचक्षु के द्वारा देख सकते हैं।

शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः।
दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः॥६३॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शरीरसंख्याव्याकरण-
शारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

(वैद्यक में प्रत्यक्ष और ग्रंथोक्त ज्ञान का महत्त्व—) (यदि कोई मनुष्य आयुर्वेद में) विशारद (होना चाहे तो उसका कर्तव्य है कि वह प्रत्यक्ष) शारीर में तथा शास्त्र में (प्रथम) ज्ञाता रहे और दर्शन तथा अध्ययन के द्वारा अपनी शंकाओं को दूर करके पश्चात् चिकित्सा या शस्त्र का कर्म करे॥६३॥

वक्तव्य—यह श्लोक शल्यतन्त्र में आया है। इसलिए यह न समझे कि शरीररचना के प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व केवल शल्यचिकित्सा में ही होता है। कायचिकित्सा में भी प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व होता है, इसका निदर्शन चरक के निम्न श्लोकों से होगा—शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्। आयुर्वेदं स कात्स्न्र्येन वेद लोकसुखप्रदम्॥ (शारीर ६)। शरीरसंख्यां यो वेद सर्वावयवशो भिषक्। तज्ज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते॥ (शारीर ७)। कायचिकित्सा में शारीरज्ञान का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए चरक के ये श्लोक सुश्रुत के उपर्युक्त श्लोकों से कम नहीं हैं। आयुर्वैदिक शारीर में दार्शनिक Meta physical और प्रात्यक्षिक (Physical) दोनों का ही समावेश होता है और आयुर्वेद के अनुसार उत्तम चिकित्सक या शल्यहर्ता वह समझा जाता है, जो दार्शनिक तथा प्रात्यक्षिक दोनों में दृष्टार्थ हो। पाश्चात्य कल्पना के अनुसार केवल प्रात्यक्षिक शारीर में दृष्टार्थ होने से चिकित्सक या शल्यहर्ता हो जाता है। पाश्चात्य वैद्यक में दार्शनिक शारीर के लिए कोई स्थान नहीं है। आजकल एनाटोमी (Anatomy) के लिए शारीर शब्द का प्रयोग हो रहा है, वह ठीक नहीं है क्योंकि आयुर्वैदिक शारीर में कई भावों का समावेश होता है। एनाटोमी शारीर का प्रात्यक्षिक विभाग है। अतः उसके लिए प्रत्यक्ष शारीर शब्द का प्रयोग करना उचित है। म० म० गणनाथसेनजी ने अपने एनाटोमी के ग्रन्थ के लिए प्रत्यक्ष शारीर' नाम रक्खा है, वह यथार्थ और आयुर्वेदसम्मत है। शरीरे चैव शास्त्रे च—चर्मचक्षु के द्वारा शरीर के अंग प्रत्यंगों की संख्या, आकृति, कार्य इत्यादि के सम्बन्ध में तथा ज्ञानचक्षु के द्वारा शरीर के दर्शनादि सभी अंगों की उपपत्ति के सम्बन्ध में दृष्टश्रुताभ्याम्—प्राचीन काल में ग्रन्थों का या शास्त्रों का अध्ययन श्रवण के द्वारा किया जाता था, इसलिए श्रुत शब्द का प्रयोग किया गया है। अवापोह्य—निराकृत्य। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि उपपत्ति (Theory) और प्रत्यक्ष (Practical) के द्वारा ज्ञान में निःसंदिग्धता

उत्पन्न होने पर व्यवसाय (Practice) को प्रारम्भ करना चाहिए।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने शरीरसंख्या-व्याकरणं नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः॥ ५॥

षष्ठोऽध्यायः।

अथातः प्रत्येकमर्मनिर्देशं शारीरं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ १॥

अब इसके पश्चात् प्रत्येक मर्मनिर्देश नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था॥१॥

वक्तव्य—प्रत्येकमर्मनिर्देशम्—एकैकेषां मर्मणां निर्देश-मधिकृत्य कृतः प्रत्येकमर्मनिर्देशः, तम्। निर्देश—अवधारणा याने विशेषतादर्शक विवरण (Specific description)। मर्म—मारयन्तीति मर्माणि। (डल्हण)। अपि च मरणकारित्वान्मर्म। (अष्टांगहृदय, शारीर ७)। मर्म शब्द की निरुक्ति उपर्युक्त प्रकार से ग्रंथों में वर्णित है और व्यवहार में भी मर्म के ऊपर आघात या प्रहार होने से (हृदय के सम्बन्ध में मानसिक आघात होने से भी) मृत्यु हो जाती है, ऐसी कल्पना है—तथैव तीव्रो हृदि शोकशङ्कुर्मर्माणि कृन्तन्नपि किं न सोढः। (उत्तररामचरित ३)। इन स्थानों पर आघात होने से जीव का नाश होता है। इसलिए ये जीवस्थान (Vital parts) भी कहलाते हैं। जीवस्थान और वायटल पार्ट का योगार्थ एक ही है। मर्मविवरण आयुर्वेदिक शारीर का एक विशेष है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इसकी विशेषताओं का हमें ठीक आकलन नहीं हो रहा है। एक फायदा जरूर मालूम होता है कि मर्मों के निमित्त हमें अनेक अंगों और स्थानों का, जिनका विवरण पिछले अध्यायों में नहीं हुआ है, बहुत उपयोगी विवरण मिलता है।

सप्तोत्तरं मर्मशतम्। तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि भवन्ति, तद्यथा—मांसमर्माणि, सिरामर्माणि, स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि, सन्धिमर्माणि चेति; न खलु मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिव्यतिरेकेणा-न्यानि मर्माणि भवन्ति, यस्मान्नोपलभ्यन्ते॥ २॥

(मर्मों की संख्या और बनावट के अनुसार उनके प्रकार—) मर्म एक सौ सात होते हैं। वे पञ्चात्मक होते हैं। जैसे—मांसमर्म, सिरामर्म, स्नायुमर्म, अस्थिमर्म और सन्धिमर्म। वास्तव में मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि के अतिरिक्त मर्म होते ही नहीं, क्योंकि (इन धातुओं और अंगों के अतिरिक्त स्थानों में वे) नहीं पाये जाते हैं॥ २॥

वक्तव्य—इस सूत्र में जिस धातु से याने शरीरगत पुर्जे से मर्म बनते हैं, उनके अनुसार मर्मों के प्रकार वर्णन किये हैं। पञ्चात्मकानि—पञ्चविधः आत्मा येषां तानि पञ्चात्मकानि। आत्मा का अर्थ शरीर है—आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि। (वैजयन्ती)। आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि। (धरणिः)। अर्थात् जिससे मर्मों का देह बना है, वे वस्तुएँ। ये वस्तुएँ पांच होती हैं। जैसे—मांस इत्यादि और उनके अनुसार मर्मों के मांसमर्म आदि पांच प्रकार किये गये हैं। इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक मर्म में उसके शरीर की मुख्य वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी होती हैं (आगे २५ वां सूत्र देखो); परन्तु जो वस्तु अधिक होती है उसके अनुसार मर्म का प्रकार किया जाता है—तत्पुनर्मांस-सिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपातः। बाहुल्येन तु निर्देशः। तस्मान्मांसाद्याश्रयतो मर्माणि पञ्चधा भिद्यन्ते। (अष्टांगसंग्रह, शारीर ७)। इसका अभिप्राय यह है कि जिसको मांसमर्म कहते हैं, उसमें मांस के अतिरिक्त सिरादि अन्य धातुएँ भी अल्पांश में होती हैं। अष्टांगहृदय में वाग्भटाचार्य पांच के बदले मर्मों के छः प्रकार करते हैं, जिनमें धमनी मर्म अधिक है—मांसास्थिस्नायु-धमनीसिरासन्धिसमागमः। स्यान्मर्मेति च तेनात्र सुतरां जीवितं स्थितम्॥ बाहुल्येन तु निर्देशः षोढैवं मर्मकल्पना॥ (शारीर ४)। मर्मों की कुल संख्या उतनी ही है, केवल मांस, अस्थि, स्नायु और सिरा इनके मर्मों से कुछ मर्म निकालकर उनका स्वतन्त्र वर्ग धमनी मर्म करके किया गया है। इसका अर्थ यह है कि कुछ मर्मों का शरीर बाहुल्येन किस वस्तु से बना है, इसके सम्बन्ध के मतभेद का यह परिणाम है। न खलु—इससे मर्मों के पांच ही प्रकार होते हैं; अधिक नहीं हो सकते, यह बताया गया है। इसके सम्बन्ध में डल्हणाचार्य लिखते हैं—ननु स्रोतःप्रभृतीनामपि मारणात्मकत्वान्मर्मत्वमस्त्येव, तत्कथं मांसादिव्यतिरेकेणान्यानि मर्माणि नोपलभ्यन्त इत्युक्तम्। स्रोतः प्रभृतीनि मांसादीन्यव्यतिरिच्य वर्तन्ते, यतो मांसादिष्वेव स्रोतः-प्रभृतीनि सन्ति। तस्मान्मांसादीनि पञ्चैव मर्माणीति॥ इसका अभिप्राय यह है कि मर्मों के और भी विभाग आश्रय के अनुसार हो सकते हैं, परन्तु उनका समावेश उपर्युक्त पांचों में से किसी एक में हो जाता है, इसलिए अधिक प्रकार मानने की आवश्यकता नहीं है। यही तत्व वाग्भटोक्त धमनीमर्मों के लिए लागू किया जा सकता है।

तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत्सिराम-र्माणि, सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि, अष्टावस्थिमर्माणि, विंशतिः संधिमर्माणि चेति। तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम्॥ ३॥

(मांसादि प्रत्येक प्रकार की संख्या—) इनमें से मांसमर्म ग्यारह, सिरामर्म इकतालीस, स्नायुमर्म सत्ताईस, अस्थिमर्म आठ, और सन्धिमर्म बीस। इस प्रकार मर्म एक सौ और सात (हो जाते हैं)॥ ३॥

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में मांसमर्म दस, स्नायुमर्म तेईस, और सिरामर्म सैंतीस दिये हैं और इनमें से जो बचे हैं, उन नौ मर्मों का धमनीवर्ग बनाया है।

तेषामेकादशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतर-सक्थि बाहू च व्याख्यातौ, उदरोरसोर्द्वादश, चतु-र्दश पृष्ठे ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिंशत्॥ ४॥

(षडंगों में मर्मों की संख्या—) इनमें से एक टांग में ग्यारह मर्म होते हैं, इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का विवरण होता है। उदर और छाती में बारह, पीठ में चौदह। ग्रीवा से ऊपर सैंतीस॥ ४॥

वक्तव्य—एतेन इत्यादि—प्रत्येक शाखा में ग्यारह मर्म होते हैं, इसलिए चारों शाखाओं के चौवालीस मर्म हो जाते हैं। उदरोरसोः—धड़ का सामने का (Anterior) भाग

केचीदाहुर्मांसादीनां पञ्चानामपि समस्तानां विवृद्धानां च समवायात् सद्यःप्राणहराणि, एकहीनानामल्पानां वा कालान्तरप्राणहराणि, द्विहीनानां विशल्यप्राणहराणि, त्रिहीनानां वैकल्यकराणि, एकस्मिन्नेव रुजाकराणीति। नैवं, यतोऽस्थिमर्मस्वप्यभिहतेषु शोणितागमनं भवति ॥ २४ ॥

(सद्यःप्राणहरत्वादि की अन्य उपपत्ति—) कई आचार्य कहते हैं कि—मांसादि संपूर्ण मर्मभाग में वर्धित हुई पाँचों (मर्म वस्तुओं) के संयोग से (मर्म) सद्यःप्राणहर (होते हैं); (मांस, सिरा इत्यादि में से) एक हीन अथवा एकावर वृद्ध (मांसादि) के (संयोग से मर्म) कालान्तर प्राणहर (होते हैं) (मांसादि में से) दो न होने वाले (मांसादि के संयोग से) विशल्य प्राणहर (होते हैं), तीन न होने वाले (मांसादि के संयोग से मर्म) वैकल्यकर (होते हैं), एक ही (वस्तु) में (मर्म आश्रित होने पर) रुजाकर (होते हैं)। (परन्तु) इस प्रकार (वास्तविक स्थिति) नहीं है, क्योंकि अस्थिमर्मों पर चोट लगने से रक्त का आगमन हो जाता है॥२४॥

वक्तव्य—विवृद्धानाम्—पीछे दूसरे सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक मर्म के शरीर में एक वस्तु अधिक और शेष वस्तुएँ कम होती हैं, और अधिक वस्तु के अनुसार मर्म का नामकरण होता है। यहाँ पर विवृद्ध शब्द से यह बताया जाता है कि पाँचों ही काफी बढ़े हुए याने समप्रमाण में बढ़े हुए जहाँ पर होते हैं, वे मर्म सद्यःप्राणहर होते हैं। विवृद्ध के बदले 'समवृद्ध' पाठ है। यह पाठभेद अधिक अच्छा है क्योंकि इससे उपर्युक्त कल्पना स्पष्टतया प्रदर्शित होती है। एकहीनानामल्पानां वा—मांसादि पाँचों में से एक का अत्यन्ताभाव हो या अल्पता हो। अल्प का सम्बन्ध पाँचों के साथ न होकर जिसका अत्यन्ताभाव हो सकता है, उसी के साथ होता है। नैवम्—इसका अभिप्राय यह है कि अन्य आचार्यों की मर्मों के पञ्चविधात्व के सम्बन्ध में एकोत्तरहीनत्व की जो कल्पना है, वह ठीक नहीं है। इसके लिए प्रमाण देते हैं। अस्थिमर्मसु इत्यादि—अस्थिमर्म एक उपलक्षण है। इसमें अन्य मर्मों का भी समावेश होता है क्योंकि आगे के श्लोक में यह बताया जा रहा है कि चतुर्विध सिराएँ सब प्रकार के मर्मों में होती हैं। इसलिए अस्थिमर्म पर चोट लगने से जैसे रक्तस्राव होता है, वैसे ही अन्य मर्मों पर आघात होने से रक्तस्राव होता है। संक्षेप में, शरीर के मर्म एकोत्तर हीन न होकर पाँचों के समवाय से बनते हैं, केवल किसी में एक की और किसी में दूसरे की अधिकता होती है।

इस सूत्र में तथा इससे पूर्वसूत्र में मर्मों के सद्यःप्राणहरत्वादि परिणाम के संबंध में प्राचीन कल्पना के अनुसार उपपत्तियाँ बतलाई गई हैं। आधुनिक दृष्टि से ये परिणाम कैसे हो सकते हैं, इसका कुछ विचार अब किया जाता है। सद्यःप्राणहरत्व—यद्यपि शरीर में अनेक महत्त्व के अंग होते हैं और प्रत्येक अंग का विशेष प्रयोजन होता है, तथापि जिन्दा रहने की दृष्टि से हृदय, मस्तिष्क और फुफ्फुस ये तीन अङ्ग नितान्त आवश्यक माने गये हैं। इसलिए पाश्चात्य परिभाषा में ये जीवन के त्रिदण्ड (Tripod of life) कहलाते हैं। आयुर्वेद में भी त्रिदण्ड की कल्पना है और इनके लिए 'त्रिमर्म' कहते हैं; भेद इतना ही है कि आयुर्वेद में फेफड़े के बदले बस्ति मिलता है—स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृद्बस्तिशिरांसि (गरीयांसि) तन्मूलत्वाच्छरीरस्य। (चरक, सिद्धि ९)। सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेषु। मर्माणि बस्तिं हृदयं शिरश्च प्रधानभूतान्यृषयो वदन्ति॥ प्राणाश्रयात् तानि हि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति॥ प्राणाश्रयत्वमपि यथा हृदयादीनां न तथा शङ्खादीनाम्। (चक्रपाणिदत्त, चरक, सिद्धि ९-३)। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि ऊपर ११वें श्लोक में सद्यःप्राणहर मर्म उन्नीस बताये गये हैं, तथापि उनमें भी हृदय और बस्ति और मस्तिष्क ये तीन मर्म वास्तव में सद्यःप्राणहर हैं और शेष इन्हीं के अधीन हैं—अन्ये तु—शङ्खादिप्राणाश्रयाणां हृदयादिष्वेव सामीप्यादन्तर्भावं दर्शयन्ति। (उपर्युक्त चक्रदत्त की टीका में उद्धृत एकीय मत)। प्राणहरण करने का धर्म केवल इन उन्नीस मर्मों में ही सीमित नहीं हुआ है, हर एक मर्म पर विशेष आघात होने से प्राणों का नाश हो सकता है—एवं परं परमपि मर्माणि विद्धादिकारणवशात् पूर्वस्य पूर्वस्य कर्म करोति। अतएव तेष्वित्यादिना क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्तीत्यग्रे वक्ष्यति। (डल्हणाचार्य)। अर्थात् शरीर पर कहीं भी आघात हो, मृत्यु का कारण यह त्रिमर्म होता है—तेषां त्रयाणामन्यतमस्यापि भेदाद् भेद शरीरभेदः स्यात्। आश्रयनाशादाश्रितस्यापि विनाशः। तदुपघाताच्च घोरतरव्याधिप्रादुर्भावः, तस्मादेतानि विशेषेण रक्ष्याणि बाह्याभिघाताद्वातादिभ्यश्च। (चरक, सिद्धिस्थान ९)। पाश्चात्य ग्रंथों में भी यही कल्पना मिलती है—Life and health depends on the proper action of the heart, lungs, and brain This has been called the 'tripod of life' Bichat (1798) considered that death might arise from a failure of each of these *Medical Jurisprudence by W G Aitchison Robertson* हृदय, मस्तिष्क और फुफ्फुस में से फुफ्फुस का विचार मर्मों में नहीं आता, उससे होने वाली मृत्यु का विचार पीछे सूत्रस्थान के २७ वें अध्याय में 'बाहुरज्जुलतापाशै इस सूत्र में किया गया है (प्रथमखण्ड पृष्ठ १६९)। अब केवल हृदय और मस्तिष्क का विचार करना है। हृदय—हृदय सद्यःप्राणहरत्वादि की दृष्टि से मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है। कोई प्राणी या मनुष्य सजीव या निर्जीव है, इसका निर्णय केवल हृदय के ऊपर किया जाता है। हृदय के जवाब देने से एक क्षणार्ध के पूर्व बातचीत करते हुए या खाना खाते हुए सजीव मनुष्य क्षणार्ध के पश्चात् निर्जीव हो जाते हैं। यही कारण है कि आयुर्वेद में हृदय विशेष चेतनास्थान माना गया है—तद्धृदयं विशेषेण चेतनास्थानम्। (शारीर ४-३० तथा उसका वक्तव्य भी देखो)। तात्कालिक मरण का कारण हमेशा हृद्भेद (Heart-failure) होता है। यह हृद्भेद हृदयविकृति के कारण होता है या स्वस्थहृदय में प्रतिक्षेप जनित निरोधन क्रिया से (Reflex inhibition of the heart) होता है। यदि किसी का हृदय पुराने विकार से (जैसे, Aortic regurgitation fatty degeneration) कमजोर हुआ हो तो जरा-सा

१ समवृद्धानां २ च. ३ विशल्यघ्नानि ४ यतश्चैवमतो

आघात होने पर यह विदीर्ण (Rupture) भी हो सकता है, और तत्काल मृत्यु हो जाती है। जब हृदय स्वस्थ होता है, तब भी मर्मस्थान पर आघात होने से सांवेदनिक नाड़ीसूत्रों के द्वारा उसका परिणाम मस्तिष्कगत हृदय केन्द्र (Cardiac centre) के ऊपर होकर उसके द्वारा हृदय का कार्य बन्द हो जाता है, और इसी को प्रतिक्षेपजन्य हृच्छेद कहते हैं। इससे स्तब्धता भी उत्पन्न होती है। शङ्खप्रदेश पर या नाभिप्रदेश पर आघात होने से कई बार लोगों की मृत्यु इसी कारण से हुआ करती है। प्रतिक्षेपजन्य हृच्छेद में चार अवस्थाएँ सहायता करती हैं। (१) हृदय की विकृति—इसका उल्लेख पीछे किया गया है। (२) मानसिक स्थिति—चिन्ता, शोक, आनन्द, दुःख, भीति इत्यादि विकारों से जब मन एवं मस्तिष्क अस्थिर रहता है, उस समय शरीर की सांवेदनिक नाड़ी (Sensory nerve) या उसके क्षेत्र पर कहीं भी जरा-सा आघात होने पर उसका कुछ का कुछ परिणाम होकर मृत्यु तक हो सकती है। (३) आमाशय की पूर्णता—आमाशय हृदयसमीपवर्ती अङ्ग है और अतिभोजन से हृदय के ऊपर दबाव पड़ता है जिससे उसके सङ्कोच विस्तार में कठिनाई हो जाती है। परिणाम यह होता है कि दिल में धड़कन, तालवैषम्य (Irregularity) इत्यादि हृदयविकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसलिए मात्रावत् भोजन के आयुर्वेद में जो अनेक लक्षण दिये हैं, उनमें 'हृदयाबाधः' 'हृदयस्यानवरोधः' (चरक, विमान २) एक लक्षण दिया है। अतिभोजन के पश्चात् आमाशय या अन्य प्रदेश में आघात होने से हृदय बन्द होने की सम्भावना अधिक होती है। (४) लसासिका अवस्था (Status lymphaticus)—इसमें शरीर में जहाँ जहाँ लसाभ धातु (जैसे, तुण्डिका (टॉन्सिल), प्लीहा, थायमस इत्यादि) होती है, वहाँ वहाँ उसकी वृद्धि हो जाती है। इस स्थिति का ज्ञान प्रायः मृत्यु के पश्चात् मरणोत्तर परीक्षा से होता है। इस स्थिति का महत्त्व इसलिए है कि कनपटी पर थप्पड़ लगने से, जरा से अपघात से, डर से या क्लोरोफार्म से ऐसे लोगों की तुरन्त मृत्यु हो जाती है। संक्षेप में तत्काल मृत्यु (Sudden death) का कारण हृच्छेद है और यह हृच्छेद प्रत्यक्ष या प्रतिक्षेप जनित होता है और इस हृच्छेद में उपर्युक्त चार अवस्थाएँ सहायता करती हैं। आयुर्वेद में सद्यःप्राणहरण का काल सात दिन का बतलाया गया है (४० वां सूत्र देखो)। अतः जो तत्काल नहीं मरते परन्तु सात दिनों के अन्दर मर जाते हैं, उनका विचार किया जाता है। कुछ काल के पश्चात् मृत्यु के तीन कारण हैं—मूर्छा (Syncope), स्तब्धता (Shock) और संन्यास (Coma)। मूर्च्छा—मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसके तीन कारण हैं। मर्माघात की दृष्टि से सब से महत्त्व का कारण अधिक रक्तस्राव है (आगे ४२ वां श्लोक देखो)। यह रक्तस्राव धमनी या सिरा आघात के कारण टूट जाने से होता है। और शरीर के बाहर या शरीर के भीतर हो सकता है। सिरामर्मों की घातकता इसी कारण से होती है। दूसरा कारण रक्तवाहिनी नियन्त्रण अस्थैर्य है (Vasomotor instability) (आगे ८ वें अध्याय के २२ वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो)। इससे उदरप्रदेश में रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर वहाँ रक्त की अधिकांश राशि एकत्र होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है। नाभिप्रदेश में आघात होने से इस प्रकार की स्थिति हो सकती है। तीसरा कारण हृदय की कमजोरी है। इसका विचार पीछे हो चुका है। मर्माघात की दृष्टि से यह कारण विशेष महत्त्व का नहीं है। इससे यदि मृत्यु होगी तो तत्काल हृदयविदरण (Rupture) से होगी। संन्यास—यह विकृति मस्तिष्क की है। इसमें शिर के ऊपर (शङ्खादिकान्यधिपतिः पर्यन्तं) आघात होने से मस्तिष्क के भीतर (Apoplexy) या मस्तिष्कावरण के भीतर और मस्तिष्क के बाहर रक्तस्राव जन्य संपीडन (Cerebral compression from trauma) होता है। अथवा आघातजन्य मस्तिष्कसंघट्टन (Cerebral concussion) से या खोपड़ी की हड्डी अवनत भग्न (Depressed fracture) होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। अर्थात् ये अवस्थाएँ आगन्तुक कारणजन्य हैं। निजकारणजन्य अवस्थाओं का विचार पीछे चतुर्थ अध्याय के ३४ वें और ६५ वें श्लोकों के वक्तव्य में किया गया है। संक्षेप में मर्मों का सद्यःप्राणहरत्व हृदय के एकाएक जवाब देने पर या हृदयदौर्बल्यजन्य स्तब्धता (आगे रुजाकर में देखो) मूर्च्छा या मस्तिष्क के संन्यास जैसे घोर व्याधियों के ऊपर निर्भर होता है। कालान्तर प्राणहरत्व—ये मर्म प्रायः निम्न प्रकार से प्राणों का नाश करते होंगे। (१) शनैः शनैः रक्तस्राव—थोड़े समय में अधिक रक्तस्राव होने से तत्काल मृत्यु होती है, परन्तु थोड़ा थोड़ा रक्त अधिक काल तक बहने से तीव्र रक्तक्षय उत्पन्न होकर उससे रोगी की मृत्यु हो सकती है। रक्त का स्राव निरन्तर, अन्तरित (Recurring) और गुप्त (शरीर के भीतर concealed) तीन प्रकार का होता है। जैसे, इन्द्रबस्ति, कटीकतरुण कालान्तर प्राणहर मर्म हैं। इनके लिए शोणितक्षय मृत्यु का कारण बताया है—जङ्घामध्ये इन्द्रबस्तिर्नाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणम्। कटीकतरुणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च म्रियते॥ (२) जीवाणुओं का उपसर्ग—इसमें मर्मस्थान में व्रण उत्पन्न होने के कारण कुछ काल के पश्चात् जीवाणुओं का उपसर्ग (Infection) हो सकता है। इससे जीवाणुमयता (Septicaemia), विसर्प (Erysipelas), धनुर्वात (Tetanus) इत्यादि विकार उत्पन्न होकर कुछ काल के पश्चात् रोगी की मृत्यु हो सकती है। जैसे, क्षिप्र में आक्षेप से मृत्यु और अपलाप में पूयभावगत रक्त (pyaemia) से मृत्यु इसी का सूचक होता है—क्षिप्रं नाम मर्म, तत्र विद्धस्याक्षेपेण मरणम्। अपलापो नाम तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम्। विशल्यघ्न—विगतशल्य होने पर ये मर्म किस प्रकार से घातक होते हैं, इसका ठीक आकलन नहीं होता। वैकल्यकर—अस्थि, सन्धि, स्नायु, सिरा (नाड़ी के Nerve अर्थ में) और मांस ये धातु टूटने से सदा के लिए वैकल्य हो सकता है। हड्डी टूटने से उसमें कमजोरी आ जायगी; सन्धि से सन्धिभङ्ग या सन्धिविश्लेष (Fracture dislocation) हो जायगा; स्नायु (Ligament या Tendon) से मोच (Sprain) पैदा होगा या विशिष्ट पेशी की हलचल में रुकावट होगी। मांस के टूटने से स्थायी संकोच (Contracture) और संसक्ति (Adhesions) होकर पेशियों की गतियों में कठिनता हो जायगी।

रुजाकर—इसके सम्बन्ध में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। मर्म के ऊपर आघात होने से, अगर कुछ भी न हो तो कम से कम पीड़ा तो जरूर होगी। जिस स्थान पर सांवेदनिक नाड़ी होती है, वहाँ पर आघात होने से पीड़ा अधिक होती है। जब तक यह पीड़ा अपने स्थान में सीमित रहती है, तब तक उसको केवल पीड़ा या रुजा कह सकते हैं, परन्तु कई बार पीड़ा का परिणाम सार्वदैहिक होता है। उस समय प्रतिक्षेप क्रिया (Reflex action) से हृदय के कार्य में कुछ अवरोध उत्पन्न होकर मनुष्य स्तब्ध हो जाता है। इस अवस्था को स्तब्धता (Shock) कहते हैं। इसमें बेहोशी, अवसन्नता (Prostration), नाड़ी और हृदय क्षीण, अनियमित तथा शीघ्र, साँस उथली और घर्घरयुक्त, शरीर ठण्डा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर मृत्यु भी हो जाती है। स्तब्धता प्राथमिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary) दो प्रकार की होती है। स्तब्धता की उत्पत्ति में चिन्ता, शोक, भीति इत्यादि मानसिक विकार बहुत सहायता करते हैं। आघात के समय यदि मस्तिष्क इन विकारों से अस्थिर हो तो स्तब्धता जल्दी उत्पन्न होती है। तल हृदय में रुजा याने पीड़ाओं के कारण मृत्यु बतलाई गई है—तलहृदय नाम तत्रापि रुजाभिर्मरणम्। इससे पीड़ाजन्य स्तब्धता का ही बोध होता है अन्यथा केवल पीड़ा के द्वारा मृत्यु होना असम्भव है। इन सब कारणों का विचार प्रत्येक मर्म के समय और भी किया जायगा। स्तब्धता का विवरण आगे के वक्तव्य में और किया गया है।

भवन्ति चात्र—

चतुर्विधा यास्तु सिराः शरीरे
प्रायेण ता मर्मसु सन्निविष्टाः।
स्नाय्वस्थिमांसानि तथैव सन्धीन्
सन्तर्प्य देहं प्रतिपालयन्ति ॥ २५ ॥
ततः क्षते मर्मणि ताः प्रवृद्धः
समन्ततो वायुरभिस्तृणोति।
विवर्धमानस्तु स मातरिश्वा
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति काये ॥ २६ ॥
रुजाभिभूतं तु ततः शरीरं
प्रलीयते नश्यति चास्य संज्ञा।
अतो हि शल्यं विनिहर्तुमिच्छन्
मर्माणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत् ॥ २७ ॥

शरीर में जो चार प्रकार की सिराएँ होती हैं वे प्रायः मर्मस्थानों में सन्निविष्ट रहती हैं, और स्नायु, अस्थि, मांस तथा सन्धि इनका संतर्पण करके देह का पालन करती हैं ॥ २५ ॥ अतः मर्म पर चोट लगने से वायु प्रवृद्ध होकर उन सिराओं को चारों ओर से आच्छादित करती है, और बढ़ती हुई वायु शरीर में तीव्र पीड़ा को फैलाती है ॥ २६ ॥ तब (तीव्र) वेदना से पीड़ित शरीर नष्ट होने लगता है और उसकी चेतना (भी) नष्ट होती है। इसलिए शल्य निकालने की इच्छा करने वाला वैद्य (शल्यसमीपवर्ती स्थान के) मर्मों का यत्नपूर्वक परीक्षण करके (पश्चात्) शल्य को निकाले ॥ २७ ॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में मर्मों की पूर्वोक्तहीनत्व की कल्पना का खण्डन अस्थिमर्माघात में शोणितागमन के उदाहरण से किया गया है। २५ वें श्लोक में अस्थिमर्मों में रक्तोपस्थिति का कारण बताया जाता है। चतुर्विधाः सिरा—वातवह, पित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह। इनका निर्देश सातवें अध्याय के ४ वें सूत्र में किया गया है। मर्मसु—शरीर के संपूर्ण मर्मों में। इस लिए ये सिराएँ अस्थिमर्मों में भी होती हैं और आघात होने पर उनसे खून निकलता है। ततः क्षते—इन दो श्लोकों में मर्माघात से पीड़ा कैसी होती है और पीड़ा के कारण मृत्यु कैसी उत्पन्न होती है, उसकी संप्राप्ति वर्णन की गई है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार इसमें स्तब्धता (Shock) की दुर्घटना वर्णित की गई है। स्तब्धता आघात, क्षत, शस्त्रकर्म, विष इन कारणों से उत्पन्न होती है और कारणों के अनुसार आघातजन्य (Traumatic), क्षतजन्य (Wound , शस्त्रकर्मजन्य (Surgical), विषजन्य (Toxic) इत्यादि उसके प्रकार किये जाते हैं। स्तब्धता अधिकतर आघात या क्षत से ही उत्पन्न होती है। आघात या क्षत से प्रायः तीव्र पीड़ा (Pain) होती है और इसके सार्वदैहिक प्रभाव से शरीर के महत्त्व के कार्य (Vital functions) उत्तरोत्तर क्षीण होते जाते हैं और अन्त में मृत्यु होती है। स्तब्धता उत्पन्न करने में तीव्र पीड़ा एक महत्त्व का सहायक कारण होता है। संक्षेप में आघात, तज्जन्य पीड़ा, पीड़ा के कारण शरीर के महत्त्व के कार्यों का उत्तरोत्तर क्षीण होना और अन्त में मृत्यु, यह स्तब्धताजन्य मृत्यु का क्रम आधुनिक सम्प्राप्ति के अनुसार होता है—Shock is a condition following surgicol operations, trauma, wounds, intoxications or infections, in which a progressive failure of body functions, leading more or less rapidly to death, occurs. *Physiology in Health and disease by Carl J. Wiggers* Pain is a factor in the production of shock *Howlett's Pathology* पच्चीस और छब्बीसवें श्लोक में मर्माघातजन्य मृत्यु की जो घटना वर्णित की गई है, उसका क्रम शब्दशः आधुनिक क्रम के साथ मिलता है। इनकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—इदानीं यथैव देहजेऽपि प्रहारे मर्मविद्धस्य क्रमेण सकलशरीरे वातादिदोषव्याप्त्या रुजावेगेन चेतनाधातोर्वियोगस्तथा दर्शयन्नाह। शरीरं प्रलीयते प्रलयं गच्छति शरीरयन्त्रं विघट्टयतीत्यर्थः। तस्मिन् पाञ्चभौतिके शरीरे प्रलीने संज्ञाख्यश्चेतनाधातुरपि नश्यति॥ प्रलीयते शरीरम्—प्रलय शब्द से शरीर की उत्तरोत्तर क्षीणता का बोध होता है, एकाएक क्षीणता का नहीं (पीछे २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो)।

एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥ २८ ॥

इसी से अवशिष्ट (मर्मों का भी) व्याख्यान होता है ॥२८॥

वक्तव्य—इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उपर्युक्त तीन श्लोकों का व्याख्यान अस्थिमर्माघात से शोणितागमन के निमित्त किया गया है तथापि यही व्याख्यान शेष मांसादि मर्मों के संबंध में भी होता है। संक्षेप में, मांसादि मर्मों पर आघात होने से भी रक्त निकलता है, पीड़ा होती है, शरीर

१ प्रतिपालयन्ति। २ पुनः।

प्रलीन होता है और मृत्यु हो जाती है। डल्हणाचार्य इससे दूसरा अर्थ मानते हैं—एतेनेति रुगादिरूपेण वायोर्लक्षणेन, शेषमिति दाहादिस्रोतोनिरोधनादि न पित्तश्लेष्मणोर्लक्षणं व्याख्यातमेवेत्यर्थः।

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति, कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति विशल्यप्राणहरं च, वैकल्यकरं कालान्तरं क्लेशयति रुजां च करोति, रुजाकरमतीव्रवेदनं भवति ॥ २६ ॥

(मर्माघात के भिन्न परिणाम—) इन (पञ्चविध मर्मों) में से अन्त में विद्ध हुआ सद्यःप्राणहर मर्म कालान्तर से घातक होता है, अन्त में विद्ध हुआ कालान्तर प्राणहर मर्म विकलता उत्पन्न करता है तथा विशल्यघ्न मर्म (भी अन्त में विद्ध होने पर वैकल्य उत्पन्न करता है), अन्त (में विद्ध हुआ) वैकल्यकर मर्म अधिक काल तक तकलीफ देता है और पीड़ा भी करता है, (अन्त में विद्ध हुआ) रुजाकर मर्म बहुत पीड़ाकर नहीं होता ॥ २९ ॥

वक्तव्य—पीछे १४ वें सूत्र में आघात या वेध के परिणाम के अनुसार मर्मों के सद्यःप्राणहरत्वादि पांच प्रकार बताये गये हैं। उसके पश्चात् प्रत्येक प्रकार के मर्मों के नाम दिये गये हैं। इस सूत्र में यह बताया जाता है कि मर्माघात का परिणाम आघात के औचित्य के साथ बदलता रहता है। यदि आघात उचित जोर का या उचित स्थान पर न हो तो एक प्रकार के मर्म से दूसरे प्रकार का परिणाम निकल सकता है। अन्ते विद्धम्—आगे ३८, ३९वें श्लोकों में मर्मों के परिमाण (मोटाई) बताये गये हैं। उस परिमाण के घेरे के बाहर परन्तु समीप वेध होने से। अन्त शब्द से कई बार निर्दिष्ट स्थान का समीपवर्ती भाग अभिप्रेत होता है—पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायामथापि वा। जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गं विधिवद्बहिः॥ (याज्ञवल्क्य १-१४३)। नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा। (मनु-४-११६)। इस प्रकार का अर्थ करने का कारण यह है कि आगे लिखते हैं कि मर्मपार्श्व में आघात होने से भी मृत्यु होती है। इसलिए मर्मस्थान को पूर्णतया छोड़कर शस्त्रकर्म करना चाहिए—पार्श्वाभिघातितमपीह निहन्ति मर्म तस्माद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम्। यह जैसे वेधन या आघात का विचार मर्मस्थान की दृष्टि से हुआ, वैसे ही वेधन की गहराई (Depth) तथा आघात की प्रबलता (Strength) की दृष्टि से भी विचार होना चाहिए। और यहां पर स्थान का जो सिद्धान्त बताया गया है, उसका उपसिद्धान्त (Corollary) करके यह भी समझना चाहिए कि यदि वेध गहरा न हो या आघात कमजोर हो, उसके परिणाम भी अन्त वेधन के समान ही होते हैं और यदि अतिवेधन या अतिप्रबल प्रहार हो तो अपेक्षित प्रकार से अधिक तीव्र स्वरूप का परिणाम होता है—एतेन पूर्वं पूर्वं मर्म कारणवैकल्यात्परस्य परस्य कार्यं करोति, एवं परं परमपि मर्मातिविद्धादिकारणवशात् पूर्वस्य पूर्वस्य कर्म करोति। (डल्हण)। यही उपसिद्धान्त अब आगे के सूत्र में बताया जा रहा है।

तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद्वा, तेष्वपि क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति, विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति ॥ ३० ॥

१ विशल्यप्राणहरमन्ते विद्धं क्लेशयति कालान्तरेण च रुजां करोति.

(मर्मों का घातक काल और अघातक मर्मों का घातकत्व—) इनमें सद्यःप्राणहर मर्म सात दिन के अन्दर मार देते हैं, कालान्तर प्राणहर मर्म दो सप्ताह में अथवा एक मास में (मार देते हैं), इन (कालान्तर प्राणहर मर्मों) में से क्षिप्र कभी कभी तत्काल मार देते हैं, विशल्य प्राणहर, वैकल्यकर और (रुजाकर) कभी कभी अभिहत होने पर मार देते हैं ॥ ३० ॥

वक्तव्य—क्षिप्राणि इत्यादि—कदाचिदाशु मारयन्ति 'अविद्धानि' इति शेषः। अनतिहतानि तु कालान्तरेणैव मारयन्ति। (डल्हण) वैकल्यकराणि च—'च' का प्रयोग यहां पर 'अनुक्तसमुच्चयार्थे' किया है, जिससे 'वैकल्यकराणि च' का अर्थ वैकल्यकर तथा रुजाकर होता है। इसका अभिप्राय यह है कि रुजाकर भी प्रबल आघात से मारक होते हैं। इसमें कोई असम्भवनीय बात नहीं है क्योंकि ये भी मर्म हैं और 'मारयन्तीति मर्माणि' यह मर्मों की व्याख्या है। डल्हणाचार्य लिखते हैं—एतच्चोपलक्षणं, तेन रुजाकराण्येवं वैकल्यं जनयन्ति, एवं वैकल्यादिष्वपि स्वनियतकर्मव्यभिचारः। यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि अतिहत होने पर रुजाकर मर्म भी घातक होते हैं। दूसरा कारण यह है कि इस सूत्र में मर्मों की घातकता का ही विचार हो रहा है, अन्य व्यभिचार का नहीं; यह विचार ऊपर के सूत्र में हो चुका है। संक्षेप में सभी मर्म अतिघातित होने पर मारक होते हैं, यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

अत ऊर्ध्वं प्रत्येकशो मर्मस्थानानि व्याख्यास्यामः—तत्र पादस्याङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं[1] नाम मर्म, तत्र विद्धस्याक्षेपकेण मरणं; मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम, तत्रापि रुजाभिर्मरणं; क्षिप्रस्योपरिष्टादुभयतः कूर्चो नाम, तत्र पादस्य भ्रमणवेपने भवतः; गुल्फसन्धेरध उभयतः कूर्चशिरो नाम, तत्र रुजाशोफौ; पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फो नाम, तत्र रुजः स्तब्धपादता खञ्जता वा; पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रबस्तिर्नाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणं; जङ्घोर्वोः[2] सन्धाने जानु नाम, तत्र खञ्जता; जानुन[3] ऊर्ध्वमुभयतस्त्र्यङ्गुलमाणी नाम, तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिता च; ऊरुमध्ये ऊर्वी नाम, तत्र शोणितक्षयात् सक्थिशोषः; ऊर्व्या ऊर्ध्वमधो वङ्क्षणसंधेरूरुमूले[4] लोहिताक्षं नाम, तत्र लोहितक्षयेण[5] पक्षाघातः सक्थिशोषो वा; वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपं नाम, तत्र पाण्ड्यमल्पशुक्रता वा भवति; एवमेतान्येकादश सक्थिमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३१ ॥

(पादमर्म—) अब इसके बाद मर्मस्थानों का पृथक् पृथक् व्याख्यान करते हैं। पांव के अंगूठे और (समीपवर्ती) अंगुलि के बीच में क्षिप्रनामक मर्म है, वहां पर विद्ध हुए (मनुष्य) की मृत्यु आक्षेप से होती है। मध्यम अंगुलि की रेखा में ऊपर पादतल के मध्य में तलहृदय नामक मर्म होता है, वहां पर भी (विद्ध हुए मनुष्य की) वेदनाओं

१ क्षिप्रमिति मर्म. २ मध्यमाङ्गुलीमानुपूर्व्येण जङ्घोर्वोः. ३ जानुसन्धेरुभयतस्त्र्यङ्गुले. ४ ऊरुमध्ये लोहिताख्यम्. ५ लोहितक्षयेण मरणं पक्षाघातो वा.

से मृत्यु होती है। क्षिप्र के ऊपर दोनों ओर कूर्च नामक मर्म है, वहां पर (वेध होने से) पांव में टेढ़ापन और कंपन होता है। गुल्फसंधि से नीचे दोनों ओर कूर्चशिर नामक मर्म है, वहां पर (वेध होने से) पीड़ा और सूजन होती है। पांव और जङ्घा के संयोग पर गुल्फ नामक मर्म है, वहां पर (वेध होने से) पीड़ा, पांव में जकड़न, अथवा लँगड़ापन होता है। जङ्घा में पार्ष्णी की ओर इन्द्रवस्ति नामक मर्म है, वहां पर (वेध होने से) रक्त (स्रावजन्य) क्षय से मृत्यु होती है। जङ्घा और ऊरु के संयोग पर जानु नामक मर्म है, वहां पर (वेध होने से) लँगड़ापन होता है। जानु से तीन अंगुल ऊपर दोनों ओर आणी नामक मर्म है, वहां पर (चोट लगने से) सूजन की वृद्धि और टाँग में स्तब्धता (जकड़न तथा सुन्नता) होती है। ऊरु के मध्य में उर्वी नामक मर्म है, वहां पर (वेध होने से) रक्तक्षय से टाँग सूख जाती है। उर्वी से ऊपर वङ्क्षणसंधि से नीचे ऊरु के मूल में लोहिताक्ष नामक मर्म है, वहां पर (चोट लगने से) रक्तक्षय से पक्षाघात अथवा टाँग की कृशता होती है। वङ्क्षण और वृषण के मध्य में विटप नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) षण्ढता या अल्पशुक्रता होती है। इस प्रकार टाँग के ग्यारह मर्मों का व्याख्यान किया है ॥३१॥

वक्तव्य—क्षिप्र—यह स्नायु मर्म है। इसकी मोटाई अर्धाङ्गुल है और कालान्तर प्राणहर है। प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से यह प्रथम शलाकान्तरीय (First intermetatarsal) स्थान है। इस स्थान में प्रथम पादाङ्गुलिशलाका पृष्ठगा (*First dorsal metatarsal*) धमनी और पुरोजंघिका गंभीरा (Deep peroneal nerve) नाड़ी की अंगुष्ठमूलगा शाखा ये दो महत्त्व के अंग होते हैं। इस मर्म के वेधन से आक्षेपक नामक रोग होकर मृत्यु होती है। आक्षेपक से Convulsions और धनुर्वात (Tetanus) दोनों का ही बोध होता है और ये दोनों रोग रक्तस्रावाधिक्य और अभिघात के कारण उत्पन्न होते हैं। निदानस्थान प्रथम अध्याय के ५८–५९ श्लोक तथा उनका वक्तव्य देखो। जब रक्तस्रावजन्य आक्षेप होते हैं, तब मृत्यु तत्काल होगी। जब धनुर्वात के जीवाणु का उपसर्ग होगा, तब देर में होगी। हाथों और पैरों की चोटों में धनुर्वात का उपसर्ग बहुत हुआ करता है, यह अनुभवसिद्ध बात है। तलहृदय—मध्यमाङ्गुलिमनुलक्षीकृत्य क्रमेण पादतलस्य मध्ये तलहृदयम्, मांसमर्मैदमर्धाङ्गुलं कालान्तर प्राणहरं च। (डल्हण)। प्रत्यक्षशारीर की परिभाषा में तलहृदय पादतलमध्य (Centre of the planter side) है। इसमें पादतलधानुगी (Lateral planter) धमनी और पादतलीया बाह्या और अन्तरा (Medial or lateral planter) नाड़ी ये दो महत्त्व के अंग होते हैं। इन अंगों की रक्षा करने के लिए इनके ऊपर बड़ी मजबूत दीर्घ पादतलिक स्नायु (Long planter ligament) का आवरण होता है। क्षिप्र और तलहृदय मर्मों से मृत्यु की मीमांसा के लिए आगे ४२वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो। कूर्च—उपरिष्टादित्यत्र 'द्व्यङ्गुले' इति शेषः। उभयत इत्यादि ऊर्ध्वमधश्च तस्य कूर्च इति नाम, विद्धि' इति शेषः। स्नायुमर्मैदं वैकल्यकरं चतुरङ्गुलं च। (डल्हण)। प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से इस मर्म में कूर्चशलाका की स्नायुओं (Tarso metatarsl and *intertarsal ligaments* जैसे Canonavicular, cuboid-onavicular, long planter etc) का समावेश होता है। इनके ऊपर आघात होने से पाँव की कमान (Arch) कमजोर होकर कंपन, भ्रमण (जैसे, समतलपाद flat foot) इत्यादि विकार होते हैं। कूर्चशिर—इदमपि स्नायुमर्म एकाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। इससे बहिःपार्श्विक और अन्तःपार्श्विक स्नायुओं (Deltoid ligaments, Talo-calcaneal and *calcaneofibular ligaments*) का बोध होता है। इनके ऊपर आघात होने से गुल्फसंधि में पीड़ा तथा सूजन आ जाती है और यदि उचित चिकित्सा न हुई तो कुछ वैकल्य भी आ जाता है। गुल्फ—संधिमर्मेदं द्व्यङ्गुलप्रमाणं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। गुल्फ से गुल्फसंधि (Ankle joint) का बोध होता है। इसमें अन्तर्जंघास्थि और बहिर्जंघास्थि का नीचे का जोड़ (Tibio fibular) तथा इन दोनों का कूर्चशिरास्थि के साथ जोड़ (Talo-crural articulation) इनका समावेश होता है। गुल्फ पर आघात होने से प्रायः अस्थिभग्न या भंगविश्लेष (*Fracture dislocation*) होता है जिससे पीड़ा, स्तब्धता, लँगड़ापन इत्यादि उत्पन्न होते हैं। इन्द्रवस्ति—मांसमर्मैदमर्धाङ्गुलं पार्ष्णिं प्रति त्रयोदशाङ्गुले स्थितं कालान्तर प्राणहरं च, भोजस्तु द्व्यङ्गुलप्रमाणमाह। (डल्हण)। यद्यपि यहां पर नहीं तथापि चिकित्सास्थान में इन्द्रवस्ति का पार्ष्णि से अन्तर तेरह अङ्गुल बताया गया है—पार्ष्णिं प्रति द्वे दश चाङ्गुलानि मित्वेन्द्रवस्तिं परिवर्ज्य धीमान्। (अध्याय १८)।

पार्ष्णी से इन्द्रवस्ति का जो अन्तर दिया है उससे, तथा यह मांसमर्म होने से इन्द्रवस्ति जंघा की पिंडली (Calf) मालूम होता है। पिंडली वह स्थान है, जहां पर जंघा का घेरा सब से अधिक होता है। यह स्थान ठीक पार्ष्णि से बारह या तेरह अङ्गुल होता है। पिंडली में जंघापिंडिका गुर्वी (Gastrocnemius), लघ्वी (Soleus) और तृतीया (Plantaris) ये तीन पेशियां होती हैं—इदं च पेशीत्रयं जङ्घापिण्डिकेति पिण्डिकेति वा कथ्यते। (प्रत्यक्ष शारीर)। इन पेशियों के पीछे बहिर्जंघिका (Peroneal) और पश्चिमजंघिका (*Posterior tibial*) धमनियाँ तथा पश्चिमजंघिका (Tibial) नाड़ी होती है। यह मांस मर्मविद्ध होने से उपर्युक्त धमनियाँ कटने की संभावना होती है और जब कट जाती हैं, तब रक्तनाश से मृत्यु होने का डर होता है। रसयोगसागर की प्रस्तावना में इन्द्रवस्ति से पश्चजानुखात (Popliteal fossa) बताया गया है। यह स्थान जानुसंधि के पीछे होता है और जानुसंधि पार्ष्णि या गुल्फ से अठारह अङ्गुल दूर होती है—अष्टादशाङ्गुला जंघा। (सूत्र ३५)। इन्द्रवस्ति पार्ष्णी से केवल तेरह अंगुल लंबाई पर होने के कारण इन्द्रवस्ति से पश्चजानुखात मानना उचित नहीं होता। इसके सिवा वहां पर जानुमध्य का परिणाह और इन्द्रवस्ति का परिणाह भिन्न भिन्न बतलाया गया है, इसलिए जानुमध्य से इन्द्रवस्ति पृथक् स्थान मालूम होता है। जानु—संधिमर्मेदं त्र्यङ्गुलप्रमाणं वैकल्यकरं च। जानुसंधि knee joint। आणी—स्नायुमर्मैदमर्धाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। आणी से चतुःशिरस्का और्वी (Quadriceps femoris) पेशी की

कण्डरा, जो जानुकपालिका (Patella) में संसक्त हुई है, का बोध होता है। ऊरु—सिरामर्मेदमेकाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। ऊरुमर्म ऊरु के मध्य में और सिरामर्म है। इस दृष्टि से यदि ऊरु की रचना का परीक्षण किया जाय तो इससे संव्यूहनप्रणाली (Adductor Canal) मालूम होती है। इस प्रणाली में और्वी धमनी, सिरा और नाड़ी (Femoral artery, Vein and Saphenous nerve) ये महत्त्व के अंग होते हैं। धमनी या सिरावेधन से रक्तक्षय और नाड़ी के वेधन से सक्थिशोष हो सकता है। ये तीनों अंग अत्यंत समीप होने से तीनों ही एक समय में विद्ध हो सकते हैं। लोहिताक्षम्—सिरामर्मेदमर्धाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। इस मर्म का स्थान वंक्षणसंधि के नीचे ऊरुमूल में और ऊरु में सामने की ओर है। इस वर्णन के अनुसार यह मर्म और्वत्रिकोण (Femoral triangle) के साथ मिलता है। इस त्रिकोण में ऊरु मर्म के समान सब महत्त्व के अंग होते हैं। अर्थात् इसके वेध के परिणाम ऊरुवेध के समान होते हैं। विटप—स्नायुमर्मेदमेकाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। इसका स्थान वङ्क्षण और वृषण के मध्य में है। इसके अनुसार यह मर्म वङ्क्षण सुरंगा (Inguinal canal) मालूम होता है। यह सुरंगा स्नायुओं से बनी है और उसमें से होकर वृषण की बन्धनी तथा शुक्रवह नाड़ी (Spermatic cord) के भीतर चली गई है। इसके ऊपर आघात होने से नाड़ी बंद हो जायगी और वृषण में उत्पन्न हुआ शुक्र शिश्न में नहीं आयगा। [दो]नों के ऊपर चोट लगने से वन्ध्यता (Sterility) उत्पन्न [हो]गी। इसमें मैथुन का असामर्थ्य न होकर प्रजोत्पादन [का] असामर्थ्य होता है। एक के ऊपर चोट लगने से केवल [ए]क ही वृषण का शुक्र मैथुन के समय निकलेगा, याने [अ]ल्पशुक्रता उत्पन्न होगी।

एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ। विशेष[त]स्तु यानि सक्थ्नि गुल्फजानुविटपानि तानि बाहौ [म]णिबन्धकूर्परकक्षधराणि; यथा वङ्क्षणवृषणयो[र]न्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरं, तस्मिन् [वि]द्धे त एवोपद्रवाः; विशेषतस्तु मणिबन्धे कुण्ठता, [कू]र्पराख्ये कुणिः, कक्षधरे पक्षाघातः। एवमेतानि [च]तुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि ॥३२॥

(बाहुमर्म—) इसी से ही दूसरी टाँग और दोनों [ब]ाहुओं (के मर्मों) का व्याख्यान हो गया है। विशेष करके [ट]ाँग में जो गुल्फ जानु विटप हैं वे ही बाहु में मणिबंध, कूर्पर कक्षधर हैं; जैसे वङ्क्षण और वृषण के बीच में विटप है वैसे ही वक्ष और कक्षा के बीच में कक्षाधर है, उसके विद्ध होने से वे ही उपद्रव होते हैं; विशेष करके मणिबन्ध में (वेध होने से हाथ का) वैकल्य (कलाई की शक्ति नष्ट होना, उसकी गति कम होना इत्यादि), कूर्पर नामक मर्म में (वेध होने से) अग्रबाहु का लूलापन, कक्षधर में (वेध होने से) पक्षाघात होता है। इस प्रकार शाखाओं में चौवालीस मर्मों की व्याख्या हो गई है ॥३२॥

वक्तव्य—तस्मिन् विद्धे त एव उपद्रवाः—'तस्मिन्' शब्द यहाँ पर बाहुमर्मसमूह के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ इस प्रकार है—बाहुमर्मसमूह विद्ध होने पर, सक्थिमर्मसमूह विद्ध होने पर जो उपद्रव ऊपर बतलाये गये हैं, वे ही उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार साधारण निर्देश करने पर पश्चात् विशेष निर्देश 'विशेषतस्तु' से करते हैं। डल्हणाचार्य 'तस्मिन्निति मणिबन्धादौ, त एव इति गुल्फादिवेधजाताः' ऐसा अर्थ करते हैं। परंतु यह अर्थ असंगत है क्योंकि इससे 'विशेषतस्तु' इत्यादि का प्रयोजन व्यर्थ हो जाता है। क्षिप्र—यह मर्म अंगुष्ठतर्जनीशलाकान्तरीय स्थान है (First intermetacarpal space) और इसमें बहिःप्रकोष्ठा धमनी की शलाका पृष्ठिका शाखा (First Dorsal metacarpal artery) होती है। तलहृदय—यह हस्ततल का मध्य है जिसके ऊपर करतलिकास्नायु (Palmer aponeuroses) फैली रहती है। इसके पीछे करतल धानुषी धमनी (Palmer arch) और उसकी शाखाएँ तथा नाड़ियाँ (Nerves) भी होती हैं। इनके कारण हस्ततल में मर्मत्व आ गया है। कूर्च—इससे हस्तकूर्चास्थियाँ और शलाकाएँ इनको जोड़ने वाली स्नायु (Carpometacarpal and intercarpal ligaments) अभिप्रेत होती हैं। कूर्चशिर—इससे मणिबन्धसंधि की अन्तःपार्श्विक और बहिःपार्श्विक स्नायुओं (Ulner and radial Collateral ligaments) का बोध होता है। मणिबंध—इससे कलाई जोड़ (Wrist joint) का बोध होता है, जिसमें प्रकोष्ठान्तरीय जोड़ (Distal radioulner) तथा बहिःप्रकोष्ठकरकूर्चास्थिजोड़ (Radio carpal) दोनों का समावेश होता है। रसयोगसागर प्रस्तावना में मणिबन्ध का अर्थ Intercarpal ligaments दिया है। परंतु यह अर्थ दो दृष्टि से उचित नहीं मालूम होता। मणिबंधसंधि मर्म है, अतः मणिबन्ध से संधि का ही ग्रहण करना चाहिए। दूसरी दृष्टि यह है कि कूर्चमर्म की दीर्घता चार अंगुल है, अतः कूर्च में ही कूर्चान्तर स्नायुओं का समावेश हो जाना चाहिए। पाँव में भी ऐसा ही है। इसलिए वैसे अर्थ पीछे हस्तकूर्च और पादकूर्च मर्मों के किये गये हैं। कलाई के जोड़ में खराबी होने से हाथ की हर एक काम में कुण्ठित गति हो जाती है। इन्द्रबस्ति—अग्रबाहु की पिण्डली का स्थान जहाँ पर मणिबंधसंकोचिन्यादि उत्तान पेशियों के नीचे अन्तःप्रकोष्ठीया (Ulner) धमनी और मध्यप्रकोष्ठिका (Median) नाडी इत्यादि महत्त्व के अंग होते हैं। रसयोगसागरकार के समान इससे कूर्पराग्रखात (Cubital fossa) समझ सकते हैं। कूर्पर—यह संधिमर्म है। इससे कोहनी जोड़ (Elbow joint) का बोध होता है। आणी—यह स्नायुमर्म है। इससे द्विशिरस्का (Biceps) पेशी की कण्डरा का बोध होता है। इसके पास बाहवी धमनी तथा मध्यप्रकोष्ठिका नाडी होती है। इस मर्म के उपद्रव कण्डरा तथा नाडी के वेध से होते हैं। ऊरु—यह सिरामर्म है। इसका स्थान बाहुमध्य अग्रभाग है। इससे बाहवी धमनी, अन्तर्बाहुका सिरा, बहिर्बाहुका और मध्यप्रकोष्ठिका नाडी का ग्रहण करना चाहिए। सिरा या धमनी का वेध होने से रक्तक्षय और नाडी का वेध होने से बाहुशोष (Atrophic paralysis) हो जाता है। लोहिताक्ष—यह भी सिरामर्म है। इसमें भी ऊरुमर्म के महत्त्व के अंग हैं, केवल स्थान कुछ ऊपर की ओर कक्षा में होता है। यहाँ पर धमनी कक्षाधरा (Axillary) कहलाती

है। इस मर्म के वेध से पक्षाघात या बाहुशोष हो जाता है। ये लक्षण नाडी (Nerve) के वेध से होते हैं। रसयोगसागर में लोहिताक्ष (ऊर्ध्व-शाखा का) का आंग्लानुवाद Sacral plexus दिया है। सैक्रल प्लेक्सस श्रोणि में होता है, ऊर्ध्वशाखा में नहीं। अतः यह मुद्रणदोष मालूम होता है। कक्षाधर—यह स्नायुमर्म और एकाङ्गुल है। अष्टांगहृदय में यह मर्म तथा इसका प्रतिनिधि विटप सिरामर्म बतलाया गया है—मर्मविटपं सिराश्रया। इत्येवो मातृका नीले मन्ये कक्षाधरौ पणौ। (विटपे। शा० ४)। इसको सिरामर्म मानने की अपेक्षा स्नायुमर्म मानना अधिक प्रशस्त है। इसका विचार आगे ९ अध्याय के द्वितीय सूत्र के वक्तव्य में धमनी क्या है? इसकी टिप्पणी में किया गया है। इसका स्थान वक्ष और कक्षा के मध्य में याने काँख के शिखर में बतलाया है। वहाँ पर महत्त्व का अग कक्षानुगा नाडी प्रवेणी (Brachial plexus) का कक्षाद्रीस्थित भाग आता है, जिसमें पार्श्विकी, मध्यानुगा और पश्चिमा वेणिकाएँ (Lateral, median and posterior cords) आती हैं। इनके वेध से पक्षाघात होता है। पक्षाघात—यह उपद्रव लोहिताक्ष नामक हाथों और पादों के मर्मों में भी बताया गया है। पक्षाघात का सामान्य अर्थ सपूर्ण एक पक्ष याने आधे शरीर का घात (Hemiplegia) किया जाता है। यहाँ पर पक्षाघात शब्द इस सामान्य अर्थ से नहीं प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर इसका अर्थ है 'पक्ष की जिस शाखा के मर्म में वेध हुआ है, उस शाखा का घात' अर्थात् एकांगघात (पक्षाश्रित एक शाखाघात)। शाखाश्रित मर्मों का परीचय—शस्त्रकर्म की दृष्टि से धमनी, नाडी और बड़ी सिरा ये महत्त्व के अग होते हैं। यदि शाखाश्रित मर्मों का अनुसधान इन महत्त्व के अंगों की दृष्टि से किया जाय तो कहना पड़ता है कि यद्यपि शारीर वर्णन में अन्यत्र नहीं तथापि मर्मों के निमित्त शाखाओं के इन प्रधान अंगों का स्थान चिकित्सकों को मालूम होता है। जैसे, क्षिप्र, तलहृदय, कूर्चशिर, इन्द्रबस्ति, आणी, ऊरु, लोहिताक्ष और बाहु का कक्षधर ये सब मर्म शाखाओं के इन अंगों के मार्गों के नीचे से ऊपर तक के पड़ाव हैं। *सिरामर्म—पीछे दूसरे सूत्र के वक्तव्य में बताया जा चुका* है कि मर्म का नाम उसके शरीर की बनावट सूचित करता है। अर्थात् सिरामर्म से यह सूचित किया जाता है कि यह मर्म सिरा से बना हुआ है। शाखाओं में ऊरु, लोहिताक्ष, कक्षाधर ये सिरामर्म हैं। यदि सिरा का आधुनिक रूढ अर्थ (Vein) लिया जाय तो पक्षाघात या सक्थिशोष ये उपद्रव सिरामर्म के वेधन से उत्पन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से यदि इन मर्मों की रचना देखी जाय तो इनमें धमनी Artery शुद्ध रक्तवाहिनी), सिरा (Vein अशुद्ध रक्तवाहिनी) और नाडी (Nerve वातवाहिनी) ये तीनों अंग उपस्थित रहते हैं। आधुनिक दृष्टि से पक्षाघात या एकांगघात या सक्थिशोष ये विकार प्रायः नाड़ी के वेधन से होते हैं। इन स्थानों में नाडी होती है। इसलिए, जैसे कि अमरकोश में लिखा है 'नाडी तु धमनी सिरा' उसके अनुसार सिरा से तीनों का ग्रहण करना चाहिए और सिरामर्म में आवश्यकता के अनुसार तीनों का समावेश करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मर्माण्यनुव्याख्यास्यामः—तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म, तत्र सद्योमरणम्। अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो बस्तिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणमश्मरीव्रणादृते, तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति; स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति, पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणम् ॥ ३३ ॥

(उदरमर्म—) अब इसके बाद उदर और छाती के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। इनमें मल और वात को निकालने वाला, बड़ी आँत से जुड़ा हुआ गुद नामक मर्म है। वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। कटि में भीतर की ओर जिसकी बनावट में मांस और रक्त अल्प होता है ऐसा मूत्र का आधार बस्ति नामक मर्म है; वहाँ पर अश्मरीव्रण के अतिरिक्त (अन्य कारण से व्रण उत्पन्न होने पर) तत्काल मृत्यु होती है। अश्मरी के लिए भी दोनों ओर भिन्न होने से (मनुष्य) नहीं बचता, एक में भेद करने से मूत्रस्रावी व्रण बन जाता है, जो यत्न से चिकित्सा करने पर रोपित होता है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य में सिराओं का उत्पत्ति स्थान नाभि नामक मर्म है, वहाँ पर भी (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—गुद—मांसमर्मेद चतुरंगुल सद्योघाति च। (डल्हण)। अष्टांगहृदय के अनुसार गुद धमनी मर्म है। इसको मांसमर्म कहना ही उचित है। गुद के सबंध का कुछ विवरण पीछे निदानस्थान के दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र तथा उसके वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३२९) में किया गया है। गुद से यहाँ पर गुदनलिका (Anal canal) और गुदद्वार (Anus) का ही ग्रहण करना चाहिए। मलाशय (Rectum) का ग्रहण करना उचित नहीं है क्योंकि यह गुद वातवर्चोनिरसन है, वर्चोधारक नहीं है। चरकसंहिता में गुद के दो विभाग 'उत्तरगुद' और 'अधरगुद' किये गये हैं। उसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—उत्तरगुदो यत्र पुरीषमवतिष्ठते, येन तु पुरीषं निष्क्रामति तदधरगुदम्। (शारीर ७–१०)। यहाँ पर गुद से चरकोक्त अधरगुद अभिप्रेत है। गुद के ऊपर आघात होने से तत्काल मृत्यु रक्तस्तब्धता के कारण हो सकती है और यदि वेधन गभीर हुआ हो तो उदरावरण में शोथ (Peritonitis) उत्पन्न होकर उससे हो सकती है। गुद को इतना महत्त्व देने का और एक कारण यह मालूम होता है कि प्राचीन काल में जैसे सिर को *शरीर का मूल मानने की कल्पना थी*—ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः। मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं जयेत् ॥ (अष्टांगहृदय, उत्तर० २४) वैसे ही गुद को भी शरीर का मूल मानने की कल्पना प्रचलित थी और इसी कल्पना के आधार पर अनुवासन बस्ति की फलप्राप्ति चरक में वर्णन की गई है—मूले निषिक्तो हि यथा

१ *मर्मस्थानान्यनुव्याख्यास्याम*

द्रुमः स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्रवान् । काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन ॥ (सिद्धि १)। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मूलदृष्टान्तेन चानुवासनेन साक्षात्तर्पणीयस्य गुदस्य देहमूलत्वं दर्शयति । उक्तं हि पराशरे— मूलं गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः । सर्वं शरीरं पुष्णन्ति मूर्धानं यावदाश्रिताः ॥ वस्ति—स्नायुमर्मेदं चतुरंगुलं सद्योघाति च । (डल्हण)। यही मूत्राशय (Urinary bladder) है। इसका वर्णन निदानस्थान के तीसरे अध्याय के १८-२० श्लोकों में तथा उनके वक्तव्य (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३२६-३३७) में किया गया है । यहां पर उसका और उदरावरण (Peritoneum) का संबंध देखना जरूरी है । वस्ति के चार पृष्ठ (Surfaces) होते हैं—एक ऊर्ध्व, एक अधर और दो पार्श्विक । इनमें से ऊर्ध्व भाग पर उदरावरण लगा रहता है । अधर और पार्श्विक पृष्ठ उदरावरणरहित होते हैं । वस्ति मूत्र से परिपूर्ण होने के समय वस्तिप्रदेश पर आघात या चोट लगने से वह विदीर्ण (Rupture) हो जाती है। यह विदार चारों में से किसी एक पृष्ठ में हो सकता है । वस्ति ऊर्ध्व पृष्ठभाग में विदीर्ण होने से मूत्र उदरगुहा में प्रवेश करेगा। इस विदार को पर्युदरान्तर्य (Intraperitoneal) कहते हैं । इसमें विदीर्ण होने के समय स्तब्धता, पीड़ा इत्यादि तीव्र लक्षण उत्पन्न होकर थोड़े समय में तीव्र उदरावरणशोथ होकर उसी से मृत्यु हो जाती है। वस्ति का भेद प्रायः इसी प्रकार का होता है और इसी से जल्दी मृत्यु होती है । यदि पार्श्विक या अधर पृष्ठ में भेद हुआ तो मूत्र उदरगुहा में न जाकर श्रोणिगुहा में उदरावरण के बाहर फैलता है । इसको पर्युदरबाह्य (Extra peritoneal) विदार या भेद कहते हैं। इस प्रकार के विदार से कटि की संयोजक धातुओं में तीव्र स्वरूप का पाक (Suppurative pelvic cellulitis) उत्पन्न होकर पूयमयता या विषमयता से मृत्यु होती है। संक्षेप में, जब आगन्तुक कारणों से वस्ति विदीर्ण होगी, तब उदरबाह्य या उदरान्तरीय भेद होगा और दोनों में ही मृत्यु हो जायगी । अश्मरीव्रणादृते—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि इस शब्दसमूह का अर्थ 'आकस्मिक, आघातजन्य, आगन्तुक और शल्यशास्त्रज्ञ से जो नहीं किया गया है, ऐसा व्रण उत्पन्न होने पर' होता है। अश्मरी का व्रण शल्यशास्त्रज्ञ सोच-विचार करके योग्यस्थान में करता है, जिससे मूत्र इधर-उधर न जाकर सीधा उससे बाहर निकलता है और न उदरगुहा में, न कटिगुहा में विकृति पैदा होती है । उभयतो भिन्न इत्यादि—इसका अभिप्राय यह है कि अश्मरी निकालने के लिए सावधानी से किया हुआ एक व्रण मुश्किल से भरता है और दो व्रणों का रोपण होना असंभव हो जाता है, जिससे इन व्रणों से मूत्र टपकता रहता है । चिकित्सास्थान के सातवें अध्याय में अश्मरी का जो शस्त्रकर्म वर्णन किया है, वह मूलाधारपार्श्विक वस्तिभेदन (Lateral cystotomy) है। भेदन के समय यदि ठीक सरल भेदन न हुआ हो और त्वचादि धातुएँ अधिक इधर उधर कटी हुई हों तो वस्ति का मूत्र इधर उधर फैलकर श्रोणिगुहा में शोथ (Pelvic cellulitis) उत्पन्न करता है। दोनों तरफ भेदन करने से इस शोथ के उत्पन्न होने की संभावना दुगुनी बढ़ जाती है। इसी लिए लिखा है कि उभयतो भिन्न होने पर मृत्यु हो जाती है, क्योंकि श्रोणिगुहागत शोथ घातक होता है । संक्षेप में, प्राचीन काल में यद्यपि वस्तिगत अश्मरी मूलाधारपार्श्विक वस्तिभेदन से निकाली जाती थी तथापि बहुत कम लोग उसके बाद बचते थे और जो बचते थे, उनमें से बहुतेरे लोगों में मूत्रस्रावी व्रण बनता था । चिकित्सास्थान में इस प्रकार स्पष्ट लिखा है—अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् । तस्मादापृच्छ्य कर्तव्यमीश्वरं साधुकारिणा ॥ नाभि—सिरामर्मेदं चतुरंगुलं सद्योघाति च । नाभिसिराओं का प्रभव (सातवें अध्याय के ३ श्लोक का वक्तव्य देखो) गर्भावस्था की दृष्टि से माना गया है। जन्म के पश्चात नाभि का और सिराओं का कोई संबंध नहीं रहता है। नाभि के पीछे उदरगुहा है। उदर में सब महत्त्व के अंग होते हैं । नाभि के ऊपर आघात होने से भीतरी महत्त्व के अंगों के ऊपर उसका परिणाम होकर, अंगों के विदीर्ण होने से, प्रत्यावर्तनजन्य हृच्छेद से या स्तब्धता से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है । यदि किसी नोकीले शस्त्र द्वारा वेधन हुआ हो तो आन्त्र में छेद उत्पन्न हो सकता है और मल उदरगुहा में आने के कारण उदरावरण शोथ से मृत्यु हो सकती है। जब विषम ज्वर या कालज्वर (कालाजार) के कारण यकृत् और प्लीहा बढ़ती है, तब नाभिप्रदेश या उसके आस पास प्रहार होने पर यकृत् या प्लीहा विदीर्ण होकर रक्तस्राव से या स्तब्धता से रोगी की मृत्यु हो जाती है। संपूर्ण उदर के सामने का पृष्ठभाग मर्मस्थान है, जिस पर चोट लगने से मृत्यु हो सकती है। यहां पर उदर के दो विभाग किये गये हैं—वस्तिविभाग और नाभिविभाग। वस्तिविभाग में जघनकपाल के पूरोर्ध्व कूटों (Anterior Superior Iliac Spine) को जोड़ने वाली रेखा के नीचे का भाग आता है और उसके ऊपर का भाग नाभिविभाग में आता है।

स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम, तत्रापि सद्य एव मरणं; स्तनयोरधस्ताद् द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनमूले नाम (मर्मणी), तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां म्रियते; स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनरोहितौ नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च म्रियते; अंसकूटयोरधस्तात् पार्श्वोपरिभागयोपलापौ नाम, तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम् ; उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम् ; एवमेतान्युदरोरसोर्द्वादश मर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३४ ॥

(छाती के मर्म—) छाती में दोनों स्तनों के मध्य प्रदेश में अवस्थान किया हुआ आमाशय का द्वार और सत्त्व, रज तथा तम का अधिष्ठान हृदयनामक मर्म है वहां पर (वेध होने से) भी तत्काल मृत्यु होती है । स्तनों के नीचे दो अंगुल दोनों ओर स्तनमूलनामक मर्म हैं, वहां पर (वेध होने से) कोष्ठ (छाती) कफ से भरकर कास-श्वास से मृत्यु हो जाती है । स्तनचूचुकों के ऊपर दो अंगुल दोनों ओर स्तनरोहित नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ (छाती) रक्त से भरकर कास-श्वास से मृत्यु होती है। दोनों अंसकूटों के नीचे पार्श्वों के

है। इस मर्म के वेध से पक्षाघात या बाहुशोष हो जाता है। ये लक्षण नाड़ी (Nerve) के वेध से होते हैं। रसयोगसागर में लोहिताक्ष (ऊर्ध्व-शाखा का) का आंग्लानुवाद Sacral plexus दिया है। सेक्रल प्लेक्सस श्रोणि में होता है, ऊर्ध्वशाखा में नहीं। अतः यह मुद्रणदोष मालूम होता है। कक्षाधर—यह स्नायुमर्म और एकाङ्गुल है। अष्टांगहृदय में यह मर्म तथा इसका प्रतिनिधि विटप सिरामर्म बतलाया गया है—सक्थिशिरा सिराश्रया। वृहत्यौ मातृवा नीले मन्ये कक्षाधरौ फणौ। (विटपे। शा० ४)। इसको सिरामर्म मानने की अपेक्षा स्नायुमर्म मानना अधिक प्रशस्त है। इसका विचार आगे ९ अध्याय के द्वितीय सूत्र के वक्तव्य में धमनी क्या है? इसकी टिप्पणी में किया गया है। इसका स्थान वक्ष और कक्षा के मध्य में याने काँख के शिखर में बतलाया है। वहाँ पर महत्त्व का अंग कक्षानुगा नाड़ी प्रवेणी (Brachial plexus) का कक्षादूरीस्थित भाग आता है, जिसमें पार्श्विकी, मध्यानुगा और पश्चिमा वेणिकाएँ (Lateral, median and posterior cords) आती हैं। इनके वेध से पक्षाघात होता है। पक्षाघात—यह उपद्रव लोहिताक्ष नामक हाथों और पादों के मर्मों में भी बताया गया है। पक्षाघात का सामान्य अर्थ संपूर्ण एक पक्ष याने आधे शरीर का घात (Hemiplegia) किया जाता है। यहाँ पर पक्षाघात शब्द इस सामान्य अर्थ से नहीं प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर इसका अर्थ है 'पक्ष की जिस शाखा के मर्म में वेध हुआ है, उस शाखा का घात' अर्थात् एकांगघात (पक्षाश्रित एक शाखाघात)। शाखाश्रित मर्मों का परीक्षण—शस्त्रकर्म की दृष्टि से धमनी, नाड़ी और बड़ी सिरा ये महत्त्व के अंग होते हैं। यदि शाखाश्रित मर्मों का अनुसंधान इन महत्त्व के अंगों की दृष्टि से किया जाय तो कहना पड़ता है कि यद्यपि शारीर वर्णन में अन्यत्र नहीं तथापि मर्मों के *निमित्त शाखाओं* के इन प्रधान अंगों का स्थान चिकित्सकों को मालूम होता है। जैसे, *क्षिप्र, तलहृदय, कूर्चशिर, इन्द्रवस्ति, आणी, ऊरु,* लोहिताक्ष और बाहु का कक्षधर ये सब मर्म शाखाओं के इन अंगों के मार्गों के नीचे से ऊपर तक के पड़ाव हैं। सिरामर्म—पीछे दूसरे सूत्र के वक्तव्य में बताया जा चुका है कि मर्म का नाम उसके शरीर की बनावट सूचित करता है। अर्थात् सिरामर्म से यह सूचित किया जाता है कि यह मर्म सिरा से बना हुआ है। शाखाओं में ऊरु, लोहिताक्ष, कक्षाधर ये सिरामर्म हैं। यदि सिरा का आधुनिक रूढ़ अर्थ (Vein) लिया जाय तो पक्षाघात या सक्थिशोष ये उपद्रव सिरामर्म के वेधन से उत्पन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से यदि इन मर्मों की रचना देखी जाय तो इनमें धमनी Artery शुद्ध रक्तवाहिनी), सिरा (Vein अशुद्ध रक्तवाहिनी) और नाड़ी (*Nerve वातवाहिनी*) ये तीनों *अंग उपस्थित* रहते हैं। आधुनिक दृष्टि से पक्षाघात या एकांगघात या सक्थिशोष ये विकार प्रायः नाड़ी के वेधन से होते हैं। इन स्थानों में नाड़ी होती है। इसलिए, जैसे कि अमरकोश में लिखा है 'नाड़ी तु धमनी सिरा' उसके अनुसार सिरा से तीनों का ग्रहण करना चाहिए और सिरामर्म में आवश्यकता के अनुसार तीनों का समावेश करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मर्माण्यनुव्याख्यास्यामः[1]—तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म, तत्र सद्योमरणम्; अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो वस्तिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणमश्मरीव्रणादृते, तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति; स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति, पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणम् ॥ २३ ॥

(उदरमर्म—) अब इसके बाद उदर और छाती के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। इनमें मल और वात को *निकालने वाला, बड़ी आँत से जुड़ा हुआ गुद नामक मर्म* है। वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। *कटि में भीतर की ओर जिसकी बनावट में मांस और* रक्त अल्प होता है ऐसा मूत्र का आधार वस्ति नामक *मर्म है,* वहाँ पर *अश्मरीव्रण* के अतिरिक्त (अन्य कारण से व्रण उत्पन्न होने पर) तत्काल मृत्यु होती है, अश्मरी के *लिए* भी दोनों ओर भिन्न होने से (मनुष्य) नहीं बचता, एक में भेद करने से मूत्रस्रावी व्रण बन जाता है, जो यत्न से चिकित्सा करने पर रोपित होता है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य में सिराओं का उत्पत्ति स्थान नाभि नामक मर्म है, वहाँ पर भी (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है ॥ २३ ॥

वक्तव्य—गुद—मांसमर्मेद चतुरंगुल सद्योघाति च। (डल्हण)। अष्टांगहृदय के अनुसार गुद धमनी मर्म है। इसको मांसमर्म कहना ही उचित है। गुद के संबंध का कुछ विवरण पीछे निदानस्थान के दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र तथा उसके वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३२९) में किया गया है। गुद से यहाँ पर गुदनलिका (Anal canal) और गुदद्वार (Anus) का ही ग्रहण करना चाहिए। मलाशय (Rectum) का ग्रहण करना उचित नहीं है क्योंकि यह गुद वातवर्चोनिरसन है, वर्चोधारक नहीं है। चरकसंहिता में गुद के दो विभाग 'उत्तरगुद' और 'अधरगुद' किये गये हैं। उसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—उत्तरगुदो यत्र पुरीषमवतिष्ठते, येन तु पुरीषं *निष्क्रामति तदधरगुदम्।* (शारीर ७–१०)। यहाँ पर गुद से चरकोक्त अधरगुद *अभिप्रेत है। गुद के ऊपर आघात होने से तत्काल मृत्यु* रक्तस्राव के कारण हो सकती है और यदि वेधन गंभीर हुआ हो तो *उदरावरण में शोथ* (Peritonitis) उत्पन्न होकर उससे हो सकती है। गुद को इतना महत्त्व देने का और एक कारण यह मालूम होता है कि प्राचीन काल में जैसे सिर को शरीर का मूल मानने की कल्पना थी—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमृषयः पुरुषं विदुः। मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं जयेत्॥ (अष्टांगहृदय, उत्तर० २४) वैसे ही गुद को भी शरीर का मूल मानने की कल्पना प्रचलित थी और इसी कल्पना के आधार पर अनुवासन वस्ति की फलप्राप्ति चरक में वर्णन की गई है—मूले निषिक्तो हि यथा

[1] मर्माण्यतोऽनुव्याख्यास्याम

वेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से फुफ्फुसगत रक्तस्राव (Haemoptysis), अपस्तम्भवेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से वातोरस् (Pneumothorax) और अपलापवेध की पूयभावगतरक्तता (यह भी कोष्ठ की है, इसमें सन्देह नहीं) से पूयोरस् अन्तःपूयता (Empyema समझना उचित है। ये रोग छाती के एक विशिष्ट भाग में आघात होने से होते हैं, सो नहीं है। तथापि व्यवहार के लिए स्तनमूल से lower portion of the pectoralis major (suspensory ligament of the mamma रसयोग), स्तनरोहित से Internal mammary vessels, अपलाप से lateral thoracic and subscapular vessels (Medial walls of the axilla रसयोग), और अपस्तंभ से two bronchii (नाडीशब्देनेह वातवहत्वेन विवक्षितासु वक्षोगतासु सिरासु मध्ये फुफ्फुसाद् हृदयगामिन्यौ स्नायुसचिवे द्वे सिरे लक्ष्येते । हाराणचन्द्र) समझ सकते हैं।

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः[1]—तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च[2] म्रियते, पार्श्वजघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो (नातिनिम्ने) कुकुन्दरे नाम मर्मणी, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च; श्रोणीकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ नितम्बौ नाम, तत्राधःकायशोषो दौर्बल्याच्च मरणम्; अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यगूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया म्रियते; स्तनमूलादृजूभयतः पृष्ठवंशस्य बृहत्यौ[3] नाम, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते; पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसंबद्धे अंसफलके नाम, तत्र बाह्वोः स्वाप[4]शोषौ; बाहुमूर्धग्रीवामध्येंऽसपीठस्कन्धनिबन्धनावंसौ नाम, तत्र स्तब्धबाहुता; एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३५ ॥

(पीठ के मर्म—) अब इसके बाद पीठ के मर्मों का व्याख्यान करते हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक श्रोणिकाण्ड में कटीकतरुण नामक अस्थिमर्म है, वहाँ पर (वेध होने से मनुष्य) रक्तक्षय से पाण्डु, विवर्ण और क्षीणदेह होकर मरता है। पृष्ठवंश के दोनों ओर जघनास्थि के पार्श्वों के बाहर के भाग में (किञ्चित् निम्न) कुकुन्दर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे के शरीर में सुन्नता और चेष्टानाश होता है। श्रोणिकाण्डों के ऊपर आशय को आच्छादन करने वाले और दोनों पार्श्वों के जोड़ने वाले नितम्ब नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे का शरीर सूख जाता है और कमजोरी से मृत्यु होती है। श्रोणिकपालों के नीचे बँधे हुए जघनपार्श्वों के मध्य में और जघन से तिरछा और ऊपर की ओर पार्श्वसंधि नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ के रक्त से भर जाने के कारण मृत्यु होती है। पृष्ठवंश के दोनों ओर स्तनमूलों की सीध में बृहती नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त के अतिस्राव की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रवों से मृत्यु होती है। पीठ पर पृष्ठवंश के दोनों ओर त्रिक से संबंधित अंसफलक नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं का शोष (कृशता) और सुन्नता होती है। बाहुशिर और ग्रीवा के मध्य में अंसपीठ और कंधे को बाँधने वाले अंस नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं की स्तब्धता (अकार्मण्य) होती है। इस प्रकार चौदह पीठ के मर्मों का व्याख्यान किया गया है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—कटीकतरुण-प्रतिश्रोणिकाण्डमित्यत्र 'प्रतिश्रोणि'कर्णौ इति केचित्पठन्ति । तत्र श्रोणिकर्णौ लक्ष्यीकृत्य त्रिकसन्निधाने श्रोण्यामुपरि अस्थिमर्मणी, अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण) । पृष्ठवंशं पृष्ठवंशपुच्छसंसक्तत्वेन तद्वत्प्रतिभातस्य नितम्बप्रदेशस्योभयत उभयपार्श्वे इत्यर्थः । प्रतिश्रोणिकाण्डमिति प्रतिरयं भागार्थः, काण्डं शाखेति पर्यायौ, श्रोण्याः सव्यापसव्ये भाग इत्यर्थः । अस्थिनी अधश्छिद्रे किञ्चित् साचीकृते ऊर्ध्वाधो मिथःसंयुक्ते द्वे कपाले इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । कुकुन्दरे—पार्श्वयोर्वामदक्षिणसंज्ञकयोः, जघनबहिर्भागे इति कट्याः पश्चाद् भागे, गयी तु 'पार्श्वजघनभागे' इति पठित्वा पार्श्वयोर्जघनभागे अधोभागे नितम्बे निम्ने कुकुन्दरे इति व्याख्याति । सन्धिमर्मणी अर्धाङ्गुले ईषन्निम्नाकारे वैकल्यकरे चेति । (डल्हण)। कुकुन्दरौ स्फिचोरुपरि उन्नतभागौ । (चक्रपाणि, चरक, शा० ७)। जघनशब्देन कटिसामान्यमभिधीयते । स्त्रीकट्याः पुरोभागे तावत्सुप्रसिद्धो जघनशब्दः कटिसामान्येऽपि क्वचित् प्रयुज्यमानो दृश्यते 'पीनस्तनजघनायाः' इति । किं पुनरत्र युक्तं कटिसामान्यमिति, कुतः; अविशेषेणेह स्त्रीपुंसोरुभयोरेव मर्मोपदेशात् । एवं कटिसामान्यवचनस्यास्य जघनशब्दस्य तद्गतेऽस्थ्नि तात्पर्यमिति बुद्धिमारोहति कुकुन्दराधिष्ठानत्वेनाऽभिधानात् । तथा च पार्श्वजघनबहिर्भागे इति जघनयोः कटिकपालयोः पार्श्वं इति पार्श्वजघने तयोर्बहिर्भागेऽधःप्रदेशे, पृष्ठवंशमुभयतः पृष्ठवंशत्वेन विजृम्भितयोर्नितम्बास्थ्नोरुभयपार्श्वे नातिनिम्नेऽधस्तादावृतत्वेनानतिगम्भीरे कुकुन्दरे आवर्ताकारे द्वे शुषिरे इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । नितम्बौ—पूर्वोक्तश्रोणिकाण्डयोरुपरि, आशयच्छादनौ आमाशयपिधायकौ, पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ पार्श्वमध्ये प्रतिबद्धौ नितम्बौ, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण)। इदमत्रामनन्ति—'श्रोणिगुदयोरुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः' इति । श्रोणिकाण्डे प्रत्यवस्थिते च द्वे कपाले किञ्चित् साचीकृते इत्यवोचाम । तदिदानीमूर्ध्वाधःसंयुक्तयोरनयोर्मध्यगतेनान्तरेण पक्वाशयस्य योऽंशो दृष्टिपथमारुरुक्षति तदाच्छादनी तु नितम्बावित्युपदिशन्नाह—श्रोणीति । (हाराणचन्द्र)। पार्श्वसन्धि—अधोभागे यत्पार्श्वयोरन्तरं मध्यं तत्प्रतिबद्धौ, जघनपार्श्वमध्ययोरिति पश्चाद्भागपार्श्वभागयोर्यौ मध्यौ वामदक्षिणौ भागौ तयोः, कथं स्थितावित्याह—तिर्यगूर्ध्वं चेति उपर्युपरि पर्शुकानां क्रमवृद्धेः संधेरपि तिर्यगूर्ध्वत्वं; जघनादिति ल्यपि लुप्ते पञ्चमीयम् , तेन जघनपश्चाद्भागमाश्रित्य स्थितौ पार्श्वसन्धी, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण)। अधःपार्श्वान्तरेति प्रत्यासत्त्या श्रोणिकाण्डयोरेव अन्तरं छिद्रमिति पर्यायौ । तथा च अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ कुकुन्दरप्रतिबद्धाविति तात्पर्यम् । जघनपार्श्वमध्ययोः कटिकपालयोः पार्श्वे मध्ये च । तथा जघनात्तिर्यगूर्ध्वमूर्ध्वप्रदेशे पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे इति यावत् , सिरामर्मत्वेनोपदेशाद् वर्तमानौ स्नायुसहकृतौ सिराविशेषौ पार्श्वसन्धी नाम इति प्रत्येतव्यम् । (हाराणचन्द्र)। बृहत्यौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरे मृत्युप्रदे च । स्तनमूले लक्ष्यीकृत्य ऋजुशलाकावेधनन्यायेन पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे ।

---

१ अनुव्याख्यास्यामः. २ हीनदेहश्च. ३ बृहती. ४ स्वापः शोषो वा.

ऊपर के भागों पर अपलाप नामक मर्म हैं, वहां पर (वेध होने से) रक्त को पूयभाव प्राप्त होकर मृत्यु होती है। छाती के दोनों ओर अपस्तम्भ नामक दो वातवह नाड़ियाँ हैं, वहां पर (वेध होने से) छाती वायु से भरकर कास-श्वास से मृत्यु होती है। इस प्रकार उदर और छाती के बारह मर्मों का व्याख्यान किया गया ॥ ३४ ॥

वक्तव्य—हृदय—सिरामर्मेदं कमलमुकुलाकारमधोमुखं चतुरंगुलं च स्तनोपरि। यह वही वक्षःस्थ यन्त्र है, जिसके संकोच-विकास से संपूर्ण शरीर में रक्त का परिभ्रमण होता है। इस कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों का विवरण पीछे चौथे अध्याय में ३३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इससे सत्वादि का अधिष्ठान हृदय क्यों माना जाता है, उसका पता चलेगा। हृदय दो स्तनों के बीच में रहता है, परन्तु उसका अधिकांश बाईं ओर होता है। छाती की दीवाल के ऊपर उसका चित्र निम्न चार बिंदुओं को मिलाने वाली चार रेखाओं से खींच सकते हैं—(१) हृदय का अग्र या मुख (Apex)—इसका स्थान बाईं ओर के पंचम पर्शुकान्तरस्थान में चूचुक के नीचे वक्ष फलक की ओर है. हृदय या वक्ष मध्य रेखा से ३½ इञ्च होता है। इसी स्थान पर दर्शन या स्पर्शन से हृदय के अग्र का स्पन्द प्रतीत होता है। हृदय की विकृतियों में यह स्थान नीचे और बाहर की ओर सरकता है। हृदयाग्र का स्थानान्तर हृद्विकृति का निश्चित चिह्न है। (२) दाईं ओर का सातवां उपपर्शुकावक्ष.फलक संधि। (३) दाईं ओर वक्षःफलक के किनारे से ½ से ¾ इञ्च की दूरी पर तीसरी उपपर्शुका के ऊपर के किनारे पर। (४) बाईं ओर वक्ष.फलक के किनारे से एक इञ्च दूसरी उपपर्शुका के निचले किनारे पर। अब प्रथम और द्वितीय बिंदु इस प्रकार से जोड़ो कि रेखा वक्षःफलक के मध्यभाग और अग्रपत्र (Xiphoid) के संयोगस्थान में से होकर चली जावे। यह रेखा हृदय का निचला किनारा बताती है। फिर दूसरा और तीसरा बिंदु इस प्रकार से जोड़ो कि चौथे उपपर्शुका पर रेखा का उभार वक्षमध्य से ९·५ इञ्च का हो जावे। इससे हृदय का दायाँ किनारा बनता है। फिर चौथे और पहले बिंदु को इस प्रकार से जोड़ो कि रेखा का कुछ उभार बाईं ओर हो जावे। यह हृदय का बायाँ किनारा है। *आमाशयद्वारम्—अरुणदत्त अष्टांगहृदय की टीका में इसका अर्थ लिखते हैं*—वक्षआमाशयस्य द्वारं मुखम्। तेन हि द्वारेणान्नपानमामाशये प्रविशति। (शा० ४। यह अर्थ गलत नहीं है। हृदय आमाशयद्वार इसलिए कहा गया है कि वह आमाशयद्वार के बहुत समीप रहता है। हृदय महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm उदरवक्षगुहा विभाजक) के ऊपर स्थित है। गले से निकली हुई अन्नप्रणाली हृदयसमीपवर्ती महाप्राचीरा के छिद्र में से उदरगुहा में प्रवेश करके आमाशय से मिलती है। आमाशय का यह ऊपर का द्वार हृदय के बहुत समीप होता है। दोनों में केवल महाप्राचीरा पेशी होती है। इस कारण से आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा में भी आमाशय का ऊपर का द्वार हार्दिक द्वार (Cardiac orifice) कहलाता है—तत्रापि ऊर्ध्वद्वारमन्ननलिकाद्वारानुबन्धि—तस्य हार्दिकं द्वारमिति संज्ञा हृदयसान्निध्यात्। (प्रत्यक्षशारीर)। इसके सिवाय आमाशय का मोटा भाग, जहां पर अन्न इकट्ठा होता है, हृदयसमीप होने के कारण हार्दिक भाग (Cardiac portion) कहलाता है। इस सान्निध्य के कारण ही अधिक भोजन करने पर उसका भार हृदय पर पड़ता है और उसके कार्य में बाधा उत्पन्न होती है। मात्रानुसार भोजन का एक लक्षण जो 'अन्नेन हृदयावाधः' वह इसी समीपता के कारण होता है। स्तनमूले—सिरामर्मणी द्व्यङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च। (डल्हण)। स्तनरोहिते—स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुले स्तनरोहिते। अर्धाङ्गुलमिते मांसमर्मणी परिकीर्तिते। रक्तपूरितकोष्ठस्य कालान्मरणकारिणी॥ अपलापौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च। अपस्तम्भौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुलप्रमाणे कालान्तप्राणहरे च। (डल्हण)

प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से हृदय को छोड़कर छाती के अन्य मर्मों का अंगविनिश्चय विशेष महत्व का नहीं है। छाती में दो ही मर्मस्थान होते हैं—एक रक्तवाहिनी युक्त हृदय और दूसरा फुफ्फुस। ये दोनों वक्षगुहा को पूर्णतया व्यापते हैं। हृदय का स्वतन्त्र निर्देश किया गया है। शेष मर्मों का किसी न किसी प्रकार से फुफ्फुस के साथ सम्बन्ध आता है। क्योंकि स्तनमूल में *कफपूर्णकोष्ठतया*, स्तनरोहित में लोहितपूर्णकोष्ठतया, अपलाप में रक्तेन पूयभावगतेन और अपस्तम्भ में वातपूर्णकोष्ठतया मृत्यु होती है। यहाँ पर कोष्ठ शब्द उरोवाचक है। छाती पर आघात, वेध इत्यादि *होने से छाती की दीवाल पसली इत्यादि टूट जाती है।* इसका परिणाम यह होता है कि बाहर की हवा फुफ्फुसावरण के भीतर जाकर वातोरस् (वातपूर्णकोष्ठता Pneumothorax) हो सकता है। बाहर के जीवाणु भीतर प्रवेश करके फुफ्फुसपाक (*न्युमोनिया*), *श्वसनीफुफ्फुसपाक* (*ब्रान्को-न्युमोनिया*) (कफपूर्णकोष्ठता) हो सकती है। बाहर की दीवाल में टूट-फूट या घाव न होते हुए भी भीतर रक्तवाहिनियों के विदीर्ण होने से शोणितोरस् (शोणितपूर्णकोष्ठता Haemothorax) या फुफ्फुसगत रक्तस्राव और तज्जन्य रक्तष्ठीवन (Haemoptysis उरःक्षत, भृशमभ्याहतस्य वा। विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते। चरक) हो सकता है, या भीतर का सुप्त उपसर्ग उत्तेजित होकर *अन्तःपूयता पूयोरस्* (*Empyema*), राजयक्ष्मा (Pulmonary tuberculosis) इत्यादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं—Pneumonia may follow directly upon injury, particularly of the chest, *without necessarily* any lesion of the lung *Trauma*, as for example a blow on the chest may be followed by local tuberculosis. *Osler's Medicine.* Trauma involving the chest wall, may be followed by active pulmonary tuberculosis Haemoptysis occurs frequently in wounds of the chest both penetrating and non-*penetrating, Inflamatoay serous* effusion may also occur as a complication of injury to the chest wall. In most of these conditions the exudate often becomes *purulent. Text-book of medicine by F. W.* Price Haemothorax commonly results from wounds, injuries etc *Taylor's Medicine* ये सब रोग कालान्तर प्राणहर हैं, इसमें भी संदेह नहीं है। अतः स्तनमूलवेध की कफपूर्णकोष्ठता से राजयक्ष्मा, फुफ्फुसपाक, श्वसनीफुफ्फुसपाक, स्तनरोहित

वेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से फुफ्फुसगत रक्तस्राव (Haemoptysis), अपस्तम्भवेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से वातोरस् (Pneumothorax) और अपलापवेध की पूयभावगतरक्तता (यह भी कोष्ठ की है, इसमें सन्देह नहीं) से पूयोरस् अन्तःपूयता (Empyema समझना उचित है। ये रोग छाती के एक विशिष्ट भाग में आघात होने से होते हैं, सो नहीं है। तथापि व्यवहार के लिए स्तनमूल से lower portion of the pectoralis major (suspensory ligament of the mamma रसयोग), स्तनरोहित से Internal mammary vessels, अपलाप से lateral thoracic and subscapular vessels (Medial walls of the axilla रसयोग), और अपस्तंभ से two bronchii (नाडीशब्देनेह वातवहत्वेन विवक्षितासु वक्षोगतासु सिरासु मध्ये फुफ्फुसाद् हृदयगामिन्यौ स्नायुसचिवे द्वे सिरे लक्ष्येते । हाराणचन्द्र) समझ सकते हैं।

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः[1]—तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च[2] म्रियते, पार्श्वजघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो (नातिनिम्ने) कुकुन्दरे नाम मर्मणी, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च; श्रोणीकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ नितम्बौ नाम, तत्राधःकायशोषो दौर्बल्याच्च मरणम्; अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यगूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया म्रियते; स्तनमूलादृजूभयतः पृष्ठवंशस्य बृहत्यौ[3] नाम, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते; पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसंबद्धे अंसफलके नाम, तत्र बाह्वोः स्वापशोषौ[4]; बाहुमूर्धग्रीवामध्येऽसपीठस्कन्धनिबन्धनावंसौ नाम, तत्र स्तब्धबाहुता; एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि ॥ ३५ ॥

(पीठ के मर्म—) अब इसके बाद पीठ के मर्मों का व्याख्यान करते हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक श्रोणिकाण्ड में कटीकतरुण नामक अस्थिमर्म है, वहाँ पर (वेध होने से मनुष्य) रक्तक्षय से पाण्डु, विवर्ण और क्षीणदेह होकर मरता है। पृष्ठवंश के दोनों ओर जघनास्थि के पार्श्वों के बाहर के भाग में (किञ्चित् निम्न) कुकुन्दर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे के शरीर में सुप्तता और चेष्टानाश होता है। श्रोणिकाण्डों के ऊपर आशय को आच्छादन करने वाले और दोनों पार्श्वों के जोड़ने वाले नितम्ब नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे का शरीर सूख जाता है और कमजोरी से मृत्यु होती है। श्रोणिकपालों के नीचे बँधे हुए जघनपार्श्वों के मध्य में और जघन से तिरछा और ऊपर की ओर पार्श्वसंधि नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ के रक्त से भर जाने के कारण मृत्यु होती है। पृष्ठवंश के दोनों ओर स्तनमूलों की सीध में बृहती नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त के अतिस्राव की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रवों से मृत्यु होती है। पीठ पर पृष्ठवंश के दोनों ओर त्रिक से संबंधित अंसफलक नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं का शोष (कृशता) और सुप्तता होती है। बाहुशिर और ग्रीवा के मध्य में अंसपीठ और कंधे को बाँधने वाले अंस नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं की स्तब्धता (अकार्मण्य) होती है। इस प्रकार चौदह पीठ के मर्मों का व्याख्यान किया गया है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—कटीकतरुण-प्रतिश्रोणिकाण्डमित्यत्र 'प्रतिश्रोणि'कर्णौ इति केचित्पठन्ति । तत्र श्रोणिकर्णौ लक्ष्यीकृत्य त्रिकसन्निधाने श्रोण्यामुपरि अस्थिमर्मणी, अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण) । पृष्ठवंशं पृष्ठवंशपुच्छसंश्लक्त्वेन तद्वत्प्रतिभातस्य नितम्बप्रदेशस्योभयत उभयपार्श्वे इत्यर्थः । प्रतिश्रोणिकाण्डमिति प्रतिरयं भागार्थः, काण्डं शारोति पर्यायौ, श्रोण्याः सव्यापसव्ये भाग इत्यर्थः । अस्थिनी अधश्छिद्रे किञ्चित् साचीकृते ऊर्ध्वाधो मिथःसंयुक्ते द्वे कपाले इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । कुकुन्दरे—पार्श्वयोर्वामदक्षिणसंज्ञकयोः, जघनबहिर्भागे इति कट्याः पश्चाद् भागे, गयी तु 'पार्श्वजघनभागे' इति पठित्वा पार्श्वयोर्जघनभागे अधोभागे नितम्बे निम्ने कुकुन्दरे इति व्याख्याति । सन्धिमर्मणी अर्धाङ्गुले ईषन्निम्नाकारे वैकल्यकरे चेति । (डल्हण) । कुकुन्दरौ स्फिचोरुपरि उन्नतभागौ । (चक्रपाणि, चरक, शा० ७) । जघन शब्देन कटिसामान्यमभिधीयते । स्त्रीकट्याः पुरोभागे तावत्प्रसिद्धो जघनशब्दः कटिसामान्येऽपि क्वचित् प्रयुज्यमानो दृश्यते 'पीनस्तनजघनायाः' इति । किं पुनरत्र युक्तं कटिसामान्यमिति, कुतः, अविशेषेणेह स्त्रीपुंसोरुभयोरेव मर्मोपदेशात् । एवं कटिसामान्यवचनस्यास्य जघनशब्दस्य तद्गतेऽस्थिन तात्पर्यमिति बुद्धिमारोहति कुकुन्दराधिष्ठानत्वेनाऽभिधानात् । तथा च पार्श्वजघनबहिर्भागे इति जघनयोः कटिकपालयोः पार्श्वे इति पार्श्वजघने तयोर्बहिर्भागेऽधःप्रदेशे, पृष्ठवंशमुभयतः पृष्ठवंशत्वेन विजृम्भितयोर्नितम्बास्थ्नोरुभयपार्श्वे नातिनिम्नेऽधस्तादावृतत्वेनानतिगम्भीरे कुकुन्दरे आवर्ताकारे द्वे शुषिरे इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । नितम्बौ—पूर्वोक्तश्रोणिकाण्डयोरुपरि, आशयच्छादनौ आमाशयपिधायकौ, पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ पार्श्वमध्ये प्रतिबद्धौ नितम्बौ, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण) । इदमत्रामनन्ति—'श्रोणिगुदयोरुपर्य्यधो नाभेः पक्वाशयः' इति । श्रोणिकाण्डे प्रत्यवस्थिते च द्वे कपाले किञ्चित् साचीकृते इत्यवोचाम । तदिदानीमूर्ध्वाधःसंयुक्तयोरनयोर्मध्यगतेनान्तरेण पक्वाशयस्य योऽशोदृष्टिपथमारुरुक्षति तदाच्छादनी तु नितम्बावित्युपदिशन्नाह—श्रोणीति । (हाराणचन्द्र) । पार्श्वसन्धि—अधोभागे यत्पार्श्वयोरन्तरं मध्यं तत्प्रतिबद्धौ, जघनपार्श्वमध्ययोरिति पश्चाद्भागपार्श्वभागयोर्यौ मध्यौ वामदक्षिणौ भागौ तयोः, कथं स्थितावित्याह—तिर्यगूर्ध्वं चेति उपर्युपरि पर्शुकानां क्रमवृद्धेः संघेरपि तिर्यगूर्ध्वत्वं; जघनादिति ल्यपि लुप्ते पञ्चमीयम् , तेन जघनपश्चाद्भागमाश्रित्य स्थितौ पार्श्वसन्धी, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण) । अधःपार्श्वान्तरेति प्रत्यासत्त्या श्रोणिकाण्टयोरेव अन्तरं छिद्रमिति पर्यायौ । तथा च अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ कुकुन्दरप्रतिबद्धाविति तात्पर्यम् । जघनपार्श्वमध्ययोः कटिकपालयोः पार्श्वे मध्ये च । तथा जघनात्तिर्यगूर्ध्वमूर्ध्वप्रदेशे पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे इति यावत् , सिरामर्मत्वेनोपदेशाद् वर्तमानौ स्नायुसहकृतौ सिराविशेषौ पार्श्वसन्धी नाम इति प्रत्येतव्यम् । (हाराणचन्द्र) । बृहत्यौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरे मृत्युप्रदे च । स्तनमूले लक्ष्यीकृत्य ऋजुशलाकावेधनन्यायेन पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे ।

[1] अनुव्याख्यास्यामः. [2] हीनदेहश्च. [3] बृहती. [4] स्वापः शोषो वा.

अंसफलके—पृष्ठोपरि पृष्ठवंशस्यायतत्वात् प्रदेशनियमार्थं पृष्ठोपरीत्युक्तम्। त्रिकसम्बद्धे इति ग्रीवाया अंसद्वयस्य च य संयोगः स त्रिकः, तत्र सम्बद्धे अंसफलके अस्थिमर्मणी अर्धांगुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। अमगत हि त्रिकममाधस्तांसफलकामसन्निपातमुप दिशन्ति तन्निमुच्यते त्रिक इति। (हाराणचन्द्र)।

पृष्ठ के जो चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं। प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतरुण, कुकुन्दर, नितम्ब और पार्श्वसंधि ये आठ याने एक एक पक्ष के चार चार मर्म आते हैं। द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें बृहती, अंसफलक और अंस ये छः याने एक एक पक्ष के तीन मर्म आते हैं। निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या श्रोणीप्रदेश (Gluteal region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म ग्रीवा और दो अंसफलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं। अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नौवें पृष्ठ कशेरु से त्रिकसंधान तक) कोई मर्म नहीं है। श्रोणीप्रदेश के मर्मों का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से श्रोणीप्रदेश के एकाध मर्यादित अंग का अर्थ निकालना कठिन है। इसलिए प्रत्येक मर्म के संबंध में डल्हण और हाराणचन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है। श्रोणीप्रदेश में उत्तरा और अधरा नितम्बिनी नाडियाँ और धमनियाँ (Inferior or superior gluteal nerves and arteries) गुदोपस्थिका नाडी और धमनी (Internal pudendal) और गृध्रसी नाडी (Sciatic nerve) ये महत्व के अंग हैं। धमनियों के टूट जाने से रक्तक्षय, पाण्डु इत्यादि और नाडी के ऊपर वेध होने से चेष्टोपरम, स्पर्शाज्ञान ये लक्षण होते हैं। इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी चेष्टोपघात हो सकता है। ये मर्मांग कुकुन्दरकूट (Ischial Tuberosity) उर्वस्थिमहाशिखर (Greater trochanter) और जघन कपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है। अर्थात् इस स्थान में वेध होने से नाडी या धमनी के अनुसार लक्षण पैदा होंगे। यदि प्रत्येक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—कटीकतरुण—Sciatic notch; कुकुन्दर—Ischial tuberosity (रसयोगसागर के अनुसार Anterior superior iliac spines); नितम्ब—Ala of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार Gluteal region)। अब पार्श्वसंधि का प्रश्न रहा। इसके वेध से लोहितपूर्णकोष्ठता से मृत्यु होती है। यहाँ पर संदर्भानुसार कोष्ठ का अर्थ श्रोणिगुहा करना चाहिए। बाहर की किसी धमनी के विद्ध होने से श्रोणिगुहा में रक्तस्राव नहीं होगा। अर्थात् पार्श्वसंधि श्रोणिगुहागत कोई धमनी होनी चाहिए। इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया है, पार्श्वसंधि से अभिश्रोणी का धमनी (Common iliac artery) का ग्रहण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाखा-प्रशाखा का ग्रहण कर सकते हैं।

ऊर्ध्ववर्ग के मर्मों में बृहती से अंसफलक के छवे किनारे के पास होने वाली धमनियों का (Subscapular and transverse cervical) ग्रहण किया जा सकता है। अंसफलक से यद्यपि पूरे फलक (Scapula) का अर्थ निकल सकता है तथापि उससे अंसप्राचीरक (spine) के ऊपर का हिस्सा लेना उचित है। इस विभाग में अध्यंसिका (Suprascapular) नाडी होती है तथा अंस की पेशियों के निवेश होते हैं, जिनके वेधन से बाहु की कृशता और सुप्तता हो सकती है। अंस से अंससंधान (Shoulder joint) के स्नायुओं का ग्रहण कर सकते हैं। इसी में पृष्ठच्छदा (Trapezius) पेशी के निवेश का समावेश होता है। इस स्थान में वेध होने से स्वभावतः बाहु का काम बंद हो जाता है। अष्टांगहृदय में अंस का कार्य बाहुक्रिया का ही दिया है—अंसौ बाहुक्रियाहरौ। (शा० ४)।

अत ऊर्ध्वं जत्रुगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन, तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च; ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरा मातृका, तत्र सद्यो मरणं; शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम, तत्र चलमूर्धता ॥३६॥

(ग्रीवा के मर्म—) अब, इसके बाद जत्रु के ऊपर के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। कण्ठनाडी के दोनों ओर व्यत्यास से दो नीला और दो मन्या नामक चार धमनियाँ हैं। वहाँ पर (वेध होने से) गूँगापन, स्वर में विकृति और (जिह्वा के) रसज्ञान का अभाव होता है। ग्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। सिर और ग्रीवा के जोड़ पर कृकाटिका नाम का मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) सिर हिलता है ॥३६॥

वक्तव्य—कण्ठनाडी—श्वास का मार्ग, जिसमें स्वरयन्त्र और नीचे की श्वासप्रणाली इन दोनों (Larynx and trachea) का समावेश होता है। व्यत्यासेन—एक नीला और एक मन्या एक तरफ और वैसा ही दूसरी तरफ—एका नीला, एका मन्या चैकस्मिन् पार्श्वे, अन्या नीला अन्या मन्या चापरस्मिन् पार्श्वे। (डल्हण)। नील मन्ये—सिरामर्मणी चतुरंगुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। नीला और मन्या के वेधन से होने वाले सब लक्षण वातिक (Nervous) हैं। ये वातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिह्वा की नाडियाँ (Nerves) खराब होने से या इनकी धमनियों का नाश होने से हो सकते हैं। गले में जिह्वा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा उत्तरा (Superior laryngeal), कंठरासनी (Glossopharyngeal) और जिह्वामूलिनी (Hypoglossal) ये नाडियाँ होती हैं तथा उत्तरग्रैविका (Superior thyroid) और अनुजिह्विका (Lingual) ये धमनियाँ भी होती हैं। यदि नीले और मन्ये इनके वेध से होने वाले परिणामों के ऊपर ध्यान देकर इनका अंगविनिश्चय करना हो तो इनसे उपर्युक्त नाडियों का और धमनियों का ग्रहण करना उचित है। मन्या के संबंध में चरक में निम्न वचन मिलता है—यस्य वै मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां परासुरिति विद्यात्। (इन्द्रियस्थान ४)। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मन्ये गलपार्श्वगते धमन्यौ। इस वचन का विचार प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से करने पर मन्या से Carotid arteries का ग्रहण करना पड़ेगा और नीला से Jugular veins का ग्रहण होगा। पं० हरिप्रपन्नजी नीला और मन्या से इन्हीं अंगों का ग्रहण करते हैं। नीले और मन्ये वैकल्यकर मर्म हैं (१९वाँ श्लोक देखो), मन्या (क्यारोटिड) धमनी

१ नाम व्यत्ययेन २ चतस्रश्चतस्रः

इतनी महत्त्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिरामर्माणि चतुरंगुलप्रमाणानि मातृकाः । (डल्हण)। ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे पं० हरिप्रपन्नजी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं। संक्षेप में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चिति करना कठिन है। तथापि इनके द्वारा यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्त्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महाहेतुर्बली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः । मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संकोच्यायामयेद् बहिः ॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकं नाम अङ्गुरीयकाकारं तरुणास्थि स्वरयन्त्राधारावयवभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अवटु और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र वाधिर्यं; घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे नाम, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वाः भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्तौ नाम, तत्राप्यान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा; भ्रुवोः पुच्छान्तयरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणं; शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्क्षेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणं; घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणं; मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एवं[3]। एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रुगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बधिरता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छत के पास श्रोत्र) स्रोत मार्ग से बँधे हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। भ्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आवर्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्क्षेप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य चुभ जाय तो) शल्य के साथ बचता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर बचता है, (शल्य चुभते ही) शल्य को निकालने से नहीं बचता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्क्षेपवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शृङ्गाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहां पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, बालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत सैंतीस मर्मों का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विधुर—स्नायुमर्मणी किञ्चिन्निम्नाकारे वैकल्यकारिणी च । (डल्हण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशावध्याः' करके ये सिराएँ बतलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म बतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी । इस स्थान पर पश्चिमकर्णिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेध होने से बधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा (Tympanum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्णनाडी की खराबी होने से भी बाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। फणे—घ्राणमार्गस्य द्वयोः पार्श्वयोरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च । (डल्हण)। अष्टांगहृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणावुभयतो घ्राणमार्गं श्रोत्रपथानुगौ । अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्गन्धविज्ञानहारिणौ ॥ इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—घ्राणमार्गस्योभयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ, अन्तर्गलस्थितौ गलाभ्यन्तरे स्थितौ, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविति नाम । यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरङ्गा का द्वार (Orifice of the auditory tube) अभिप्रेत है। इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है। इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं।

---

१ भ्रुवोरन्तोपरि. २ शृङ्गाटकसंज्ञश्चतुर्धा, तत्रापि. ३ सद्योमरणं.

अंसफलके—पृष्ठोपरि पृष्ठवंशस्योभयतस्तात् प्रदेशनियमार्थं पृष्ठोपरीत्युक्तम्। त्रिकसंबद्धे इति ग्रीवाया अंसद्वयस्य च यः संयोगः स त्रिकः, तत्र सम्बद्धे अंसफलके, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। अंसगतं हि त्रिकमंसाधरमिकनाम्नसन्धिरात्मुपदिशन्ति तदिदमुच्यते त्रिक इति। (हाराणचन्द्र)।

पृष्ठ के जो चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं। प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतरुण, कुकुन्दर, नितम्ब और पार्श्वसंधि ये आठ याने एक एक पक्ष के चार चार मर्म आते हैं। द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें बृहती, अंसफलक और अंस ये छः याने एक एक पक्ष के तीन मर्म आते हैं। निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या श्रोणिप्रदेश (Gluteal region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म ग्रीवा और दो अंसफलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं। अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नौवें पृष्ठ कशेरु से त्रिकसंधान तक) कोई मर्म नहीं है। श्रोणिप्रदेश के मर्मों का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से श्रोणिप्रदेश के एकाध मर्यादित अंग का अर्थ निकालना कठिन है। इसलिए प्रत्येक मर्म के संबंध में डल्हण और हाराणचन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है। श्रोणिप्रदेश में उत्तरा और अधरा नितंबिनी नाड़ियाँ और धमनियां (Inferior or superior gluteal nerves and arteries) गुदोपस्थिका नाड़ी और धमनी (Internal pudendal) और गृध्रसी नाड़ी (Sciatic nerve) ये महत्व के अंग हैं। धमनियों के टूट जाने से रक्तक्षय, पाण्डु इत्यादि और नाड़ी के ऊपर वेध होने से चेष्टोपरम, स्पर्शाज्ञान ये लक्षण होते हैं। इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी चेष्टोपघात हो सकता है। ये मर्मांग कुकुन्दरकूट (Ischial Tuberosity) उर्वस्थिमहाशिखर (Greater trochanter) और जघनकपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है। अर्थात् इस स्थान में वेध होने से नाड़ी या धमनी के अनुसार लक्षण पैदा होंगे। यदि प्रत्येक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—कटीकतरुण—Sciatic notch; कुकुन्दर—Ischial tuberosity (रसयोगसागर के अनुसार Anterior superior iliac spines); नितम्ब—Ala of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार Gluteal region)। अब पार्श्वसंधि का प्रश्न रहा। इसके वेध से लोहितपूर्णकोष्ठता से मृत्यु होती है। यहां पर संदर्भानुसार कोष्ठ का अर्थ श्रोणिगुहा करना चाहिए। बाहर की किसी धमनी के विद्ध होने से श्रोणिगुहा में रक्तस्राव नहीं होगा। अर्थात् पार्श्वसंधि श्रोणिगुहागत कोई धमनी होनी चाहिए। इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया है, पार्श्वसंधि से अभिश्रोणी का धमनी (Common iliac artery) का ग्रहण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाखा-प्रशाखा का ग्रहण कर सकते हैं।

ऊर्ध्वशाखा के मर्मों में बृहती से अंसफलक के ऊपरे किनारे के पास होने वाली धमनियों का (Subscapular and transverse cervical) ग्रहण किया जा सकता है। अंसफलक से यद्यपि पूरे फलक (Scapula) का अर्थ निकल सकता है तथापि उसमें अंसफलकशिखर (spine) के ऊपर का हिस्सा ऐसा अर्थ है। इस विभाग में ऊर्ध्वंसिका (Suprascapular) नाड़ी होती है तथा अंग की पेशियों के निवेश होते हैं, जिनके वेधन से बाहु की कृशता और सुप्तता हो सकती है। अंस से अंससंधान (Shoulder joint) के स्नायुओं का ग्रहण कर सकते हैं। इसी में पृष्ठच्छदा (Trapezius) पेशी के निवेश का समावेश होता है। इस स्थान में वेध होने से स्वभावतः बाहु का काम बंद हो जाता है। अष्टांगहृदय में अंस का कार्य बाहुक्रिया का ही दिया है—अंसौ बाहुक्रियाहरौ। (शा० ४)।

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन, तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च; ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरा मातृकाः, तत्र सद्योमरणं; शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम, तत्र चलमूर्धता ॥२६॥

(ग्रीवा के मर्म—) अब, इसके बाद जत्रु के ऊपर के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। कण्ठनाडी के दोनों ओर व्यत्यास से दो नीला और दो मन्या नामक चार धमनियां हैं। वहां पर (वेध होने से) गूँगापन, स्वर में विकृति और (जिह्वा के) रसज्ञान का अभाव होता है। ग्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। सिर और ग्रीवा के जोड़ पर कृकाटिका नाम का मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) सिर हिलता है ॥२६॥

वक्तव्य—कण्ठनाडी—श्वास का मार्ग, जिसमें स्वरयन्त्र और नीचे की श्वासप्रणाली इन दोनों (Larynx and trachea) का समावेश होता है। व्यत्यासेन—एक नीला और एक मन्या एक तरफ और वैसा ही दूसरी तरफ—एका नीला, एका मन्या चैकस्मिन् पार्श्वे, अन्या नीला अन्या मन्या चापरस्मिन् पार्श्वे। (डल्हण)। नीले मन्ये—सिरामर्मणी चतुरङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। नीला और मन्या के वेधन से होने वाले सब लक्षण वातिक (Nervous) हैं। ये वातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिह्वा की नाड़ियाँ (Nerves) खराब होने से या इनकी धमनियों का नाश होने से हो सकते हैं। गले में जिह्वा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा उत्तरा (Superior laryngeal), कंठरासनी (Glossopharyngeal) और जिह्वामूलिनी (Hypoglossal) ये नाड़ियाँ होती हैं तथा उत्तरग्रैविका (Superior thyroid) और अनुजिह्विका (Lingual) ये धमनियाँ भी होती हैं। यदि नीले और मन्ये इनके वेध से होने वाले परिणामों के ऊपर ध्यान देकर इनका अंगविनिश्चय करना हो तो इनसे उपर्युक्त नाड़ियों का और धमनियों का ग्रहण करना उचित है। मन्या के संबंध में चरक में निम्न वचन मिलता है—[1]यस्य मन्ये परिमृद्यमाने न स्पन्देयाताम्, परासुरिति विद्यात्। (इन्द्रियस्थान ४)। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मन्ये ग्रीवापार्श्वगते धमन्यौ। इस वचन का विचार प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से करने पर मन्या से Carotid arteries का ग्रहण करना पड़ेगा और नीला से Jugular veins का ग्रहण होगा। पं० हरिप्रपन्नजी नीला और मन्या से इन्हीं अंगों का ग्रहण करते हैं। नीले और मन्ये वैकल्यकर मर्म हैं (११वाँ श्लोक देखो), मन्या (कारोटिड) धमनी

१ मान्ये ... । २ ...

इतनी महत्त्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिरामर्माणि चतुरंगुलप्रमाणानि मातृकाः। (डल्हण)। ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे पं० हरिप्रपन्नजी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं। संक्षेप में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चिति करना कठिन है। तथापि इनके द्वारा यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्त्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महाक्षुद्रली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः। मन्यापृष्ठाश्रिता याताः संशोष्यायामयेद् बहिः॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकं नाम अङ्गुरीयकाकारं तरुणास्थि स्वरयन्त्राधरावयवभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अवटु और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र बाधिर्यं; घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे नाम, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वाः भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्तौ नाम, तत्राप्यान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा; भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणं; शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः; भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्क्षेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणं; घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणं; मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एवं। एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रुगतानि मर्माणि व्याख्यातानि॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बधिरता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छत के पास श्रोत्र) स्रोत मार्ग से बँधे हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। भ्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आवर्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्क्षेप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य घुस जाय तो) शल्य के साथ बचता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर बचता है, (शल्य घुसते ही) शल्य को निकालने से नहीं बचता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्क्षेपवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शृङ्गाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, बालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत सैंतीस मर्मों का विवरण किया गया॥ ३७॥

वक्तव्य—विधुर—स्नायुमर्मणी किञ्चिन्निम्नाकारे वैकल्यकारिणी च। (डल्हण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशावध्याः' करके ये सिराएँ बतलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म बतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी। इस स्थान पर पश्चिमकर्णिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से आरम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेध होने से बधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा Tympanum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्णनाडी की खराबी होने से भी बाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। फणे—घ्राणमार्गस्य द्वयोः पार्श्वयोरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। अष्टांगहृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणावुभयतो घ्राणमार्गं श्रोत्रपथानुगौ। अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्गन्धविज्ञानहारिणौ॥ इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—घ्राणमार्गस्योभयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ, अन्तर्गलस्थितौ गलाभ्यन्तरे स्थितौ, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविति नाम। यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरङ्गा का द्वार (Oridice of the auditory tube) अभिप्रेत है। इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है। इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं।

१ भ्रुवोरन्तोपरि. २ शृङ्गाटकसंज्ञाश्चतुर्धा, तत्रापि. ३ सद्योमरणं.

अंसफलके—पृष्ठोपरि पृष्ठवंशस्योभयतः प्रदेशनियमार्थं पृष्ठोपरी-त्युक्तम्। त्रिकसंबद्धे इति ग्रीवाया असद्वयस्य च यः संयोगः स त्रिकः, तत्र सम्बद्धे अंसफलके, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। अमगन हि त्रिकमंसाभ्यन्तरांसफलकाग्रसन्निपातमुपदिशन्ति तद्विमुच्यते त्रिक इति। (हाराणचन्द्र)।

पृष्ठ के जो चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं। प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतरुण, कुकुन्दर, नितम्ब और पार्श्वसंधि ये आठ याने एक एक पक्ष के चार चार मर्म आते हैं। द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें बृहती, अंसफलक और अंस ये छः याने एक एक पक्ष के तीन मर्म आते हैं। निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या श्रोणिप्रदेश (Gluteal region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म ग्रीवा और दो अंसफलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं। अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नौवें पृष्ठ कशेरु से त्रिकसधान तक) कोई मर्म नहीं है। श्रोणिप्रदेश के मर्मों का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से श्रोणीप्रदेश के एकाध मर्यादित अंग का अर्थ निकालना कठिन है। इसलिए प्रत्येक मर्म के संबंध में डल्हण और हाराणचन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है। श्रोणीप्रदेश में उत्तरा और अधरा नितंबिनी नाडियाँ और धमनियाँ (Inferior or superior gluteal nerves and arteries) गुदोपस्थिका नाडी और धमनी (Internal pudendal) और गृध्रस्या नाडी (Sciatic nerve) ये महत्त्व के अंग हैं। धमनियों के टूट जाने से रक्तक्षय, पाण्डु इत्यादि और नाडी के उपर वेध होने से चेष्टोपरम, स्पर्शाज्ञान ये लक्षण होते हैं। इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी चेष्टोपघात हो सकता है। ये मर्मांग कुकुन्दरकूट (Ischial Tuberosity) ऊर्वस्थिमहाशिखर (Greater trochanter) और जघनकपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है। अर्थात् इस स्थान में वेध होने से नाडी या धमनी के अनुसार लक्षण पैदा होंगे। यदि प्रत्येक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—कटीकतरुण—Sciatic notch, कुकुन्दर—Ischial tuberosity (रसयोगसागर के अनुसार Anterior superior iliac spines); नितम्ब—Ala of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार Gluteal region)। अब पार्श्वसंधि का प्रश्न रहा। इसके वेध से लोहितपूर्णकोष्ठता से मृत्यु होती है। यहां पर संदर्भानुसार कोष्ठ का अर्थ श्रोणिगुहा करना चाहिए। बाहर की किसी धमनी के विद्ध होने से श्रोणिगुहा में रक्तस्राव नहीं होगा। अर्थात् पार्श्वसंधि श्रोणिगुहागत कोई धमनी होनी चाहिए। इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया है, पार्श्वसंधि से अभिश्रोणी का धमनी (Common iliac artery) का ग्रहण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाखा प्रशाखा का ग्रहण कर सकते हैं।

ऊर्ध्ववर्ग के मर्मों में बृहती से अंसफलक के लंबे किनारे के पास होने वाली धमनियों का (Subscapular and transverse cervical) ग्रहण किया जा सकता है। अंसफलक से यद्यपि पूरे फलक (Scapula) का अर्थ निकल सकता है तथापि उससे अंसप्राचीरक (spine) के ऊपर का हिस्सा लेना उचित है। इस विभाग में अध्यंसिका (Suprascapular) नाडी होती है तथा अंस की पेशियों के निवेश होते हैं, जिनके वेधन से बाहु की कृशता और सुप्तता हो सकती है। अंस से अंससंधान (Shoulder joint) के स्नायुओं का ग्रहण कर सकते हैं। इसी में पृष्ठच्छदा (Trapezius) पेशी के निवेश का समावेश होता है। इस स्थान में वेध होने से स्वभावतः बाहु का काम बंद हो जाता है। अष्टांगहृदय में अंस का कार्य बाहुक्रिया का ही दिया है—अंसौ बाहुक्रियाहरौ। (शा० ४)।

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्युत्यासेन[1], तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च; ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः[2] सिरा मातृकाः, तत्र सद्यो मरणं; शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम, तत्र चलमूर्धता ॥२६॥

(ग्रीवा के मर्म—) अब, इसके बाद जत्रु के ऊपर के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। कण्ठनाडी के दोनों ओर व्यत्यास से दो नीला और दो मन्या नामक चार धमनियां हैं। वहां पर (वेध होने से) गूँगापन, स्वर में विकृति और (जिह्वा के) रसज्ञान का अभाव होता है। ग्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। सिर और ग्रीवा के जोड़ पर कृकाटिका नाम का मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) सिर हिलता है ॥२६॥

वक्तव्य—कण्ठनाडी—श्वास का मार्ग, जिसमें स्वरयन्त्र और नीचे की श्वासप्रणाली इन दोनों (Larynx and trachea) का समावेश होता है। व्युत्यासेन—एक नीला और एक मन्या एक तरफ और वैसा ही दूसरी तरफ—एका नीला, एका मन्या चैकस्मिन् पार्श्वे, अन्या नीला अन्या मन्या चापरस्मिन् पार्श्वे। (डल्हण)। नीले मन्ये—सिरामर्मणी चतुरङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। नीला और मन्या के वेधन से होने वाले सब लक्षण वातिक (Nervous) हैं। ये वातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिह्वा की नाडियाँ (Nerves) खराब होने से या इनकी धमनियों का नाश होने से हो सकते हैं। गले में जिह्वा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा उत्तरा (Superior laryngeal), कण्ठरसनी (Glossopharyngeal) और जिह्वामूलिनी (Hypoglossal) ये नाडियाँ होती हैं तथा उत्तरग्रीविका (Superior thyroid) और अनुजिह्विका (Lingual) ये धमनियाँ भी होती हैं। यदि नीले और मन्ये इनके वेध से होने वाले परिणामों के ऊपर ध्यान देकर इनका अर्थविनिश्चय करना हो तो इनसे उपर्युक्त नाडियों का और धमनियों का ग्रहण करना उचित है। मन्या के संबंध में चरक में निम्न वचन मिलता है—यस्य वै मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां, परासुरिति विद्यात्। (इन्द्रियस्थान ४)। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मन्ये गलपार्श्वगते धमन्यौ। इस वचन का विचार प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से करने पर मन्या से Carotid arteries का ग्रहण करना पड़ेगा और नीला से Jugular veins का ग्रहण होगा। पं० हरिप्रपन्नजी नीला और मन्या से इन्हीं अंगों का ग्रहण करते हैं। नीले और मन्ये वैकल्यकर मर्म हैं (१९वाँ श्लोक देखो), मन्या (क्यारोटिड) धमनी

१ नाम व्यत्ययेन २ चतस्रश्चतस्रः।

इतनी महत्त्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिरामर्माणि चतुरंगुलप्रमाणानि मातृकाः। (डल्हण)। ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे पं० हरिप्रपन्नजी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं। संक्षेप में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चिति करना कठिन है। तथापि इनके द्वारा यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्त्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महाहेतुर्बली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः। मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद् बहिः॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकं नाम अङ्गुरीयकाकारं तरुणास्थि स्वरयन्त्राधाराग्रभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अवटु और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र बाधिर्यं; घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे नाम, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयोधोऽक्ष्णोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वाः भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्तौ नाम, तत्राप्यान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा; भ्रुवोः पुच्छान्तयरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणं; शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्क्षेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणं; घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणं; मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रुगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बधिरता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छत के पास श्रोत्र) स्रोत मार्ग से बँधे हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। भ्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आवर्तनामक मर्म हैं, वहां पर भी (चोट लगने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्क्षेप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य चुभ जाय तो) शल्य के साथ बचता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहां पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर बचता है, (शल्य चुभते ही) शल्य को निकालने से नहीं बचता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्क्षेपवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शृङ्गाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहां पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, बालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत सैंतीस मर्मों का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विधुर—स्नायुमर्मणी किञ्चिन्निम्नाकारे वैकल्यकारिणी च। (डल्हण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशावध्याः' करके ये सिराएँ बतलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म बतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी। इस स्थान पर पश्चिमकर्णिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेध होने से बधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा (Tympanum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्णनाडी की खराबी होने से भी बाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। फणे—घ्राणमार्गस्य द्वयोः पार्श्वयोरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। अष्टांगहृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणावुभयतो घ्राणमार्गे श्रोत्रपथानुगौ। अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्गन्धविज्ञानहारिणौ॥ इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—घ्राणमार्गस्योभयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ, अन्तर्गलस्थितौ गलाभ्यन्तरे स्थितौ, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविति नाम। यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरङ्गा का द्वार (Orifice of the auditory tube) अभिप्रेत है। इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है। इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं।

---

१ भ्रुवोरन्तोपरि. २ शृङ्गाटकसंज्ञश्चतुर्धा, तत्रापि. ३ सद्योमरणं.

अंसफलके—पृष्ठोपरि पृष्ठवंशस्यायनत्वात् प्रदेशनियमार्थं पृष्ठोपरीत्युक्तम्। त्रिकसंबद्धे इति ग्रीवाया असद्वयस्य च यः संयोगः स त्रिकः, तत्र सम्बद्धे अंसफलके, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। अर्मगनं हि त्रिकमंसाद्यर्कासफलाग्रसन्निपातमुपदिशन्ति तन्दिमुच्यते त्रिक इति। (हाराणचन्द्र)।

पृष्ठ के जो चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं। प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतरुण, कुकुन्दर, नितम्ब और पार्श्वसंधि ये आठ याने एक एक पक्ष के चार चार मर्म आते हैं। द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें बृहती, अंसफलक और अंस ये छः याने एक एक पक्ष के तीन मर्म आते हैं। निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या श्रोणीप्रदेश (Gluteal region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म ग्रीवा और दो असफलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं। अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नौवें पृष्ठ कशेरु से त्रिकसंधान तक) कोई मर्म नहीं है। श्रोणीप्रदेश के मर्मों का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से श्रोणीप्रदेश के एकाध मर्यादित अंग का अर्थ निकालना कठिन है। इसलिए प्रत्येक मर्म के संबंध में डल्हण और हाराणचन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है। श्रोणीप्रदेश में उत्तरा और अधरा नितम्बिनी नाडियाँ और धमनियाँ (Inferior or superior gluteal nerves and arteries) गुदोपस्थिका नाडी और धमनी (Internal pudendal) और गृध्रसी नाडी (Sciatic nerve) ये महत्व के अंग हैं। धमनियों के टूट जाने से रक्तक्षय, पाण्डु इत्यादि और नाडी के ऊपर वेध होने से चेष्टोपरम, स्पर्शाज्ञान ये लक्षण होते हैं। इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी चेष्टोपघात हो सकता है। ये मर्मांग कुकुन्दरकूट (Ischial Tuberosity) ऊर्वस्थिमहाशिखर (Greater trochanter) और जघनकपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है। अर्थात् इस स्थान में वेध होने से नाडी या धमनी के अनुसार लक्षण पैदा होंगे। यदि प्रत्येक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—कटीकतरुण—Sciatic notch; कुकुन्दर—Ischial tuberosity (रसयोगसागर के अनुसार Anterior superior iliac spines), नितम्ब—Ala of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार Gluteal region)। अब पार्श्वसंधि का प्रश्न रहा। इसके वेध से लोहितपूर्णकोष्ठता से मृत्यु होती है। यहाँ पर संदर्भानुसार कोष्ठ का अर्थ श्रोणिगुहा करना चाहिए। बाहर की किसी धमनी के विद्ध होने से श्रोणिगुहा में रक्तस्राव नहीं होगा। अर्थात् पार्श्वसंधि श्रोणिगुहागत कोई धमनी होनी चाहिए। इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया है, पार्श्वसंधि से अभिश्रोणी का धमनी (Common iliac artery) का ग्रहण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाखा-प्रशाखा का ग्रहण कर सकते हैं।

ऊर्ध्ववर्ग के मर्मों में बृहती से असफलक के भीतरी किनारे के पास होने वाली धमनियों का (Subscapular and transverse cervical) ग्रहण किया जा सकता है। असफलक से यद्यपि पूरे फलक (Scapula) का अर्थ निकल सकता है तथापि उससे अंसप्राचीरक (spine) के ऊपर का हिस्सा लेना उचित है। इस विभाग में अंसफलिका (Suprascapular) नाडी होती है तथा अंस की पेशियों के निवेश होते हैं, जिनके वेधन से बाहु की कृशता और सुप्तता हो सकती है। अंस से अंससंधान (Shoulder joint) के स्नायुओं का ग्रहण कर सकते हैं। इसी में पृष्ठच्छदा (Trapezius) पेशी के निवेश का समावेश होता है। इस स्थान में वेध होने से स्वभावतः बाहु का काम बंद हो जाता है। अष्टांगहृदय में अंस का कार्य बाहुक्रिया का ही दिया है—असौ बाहुक्रियाहरौ। (शा० ४)।

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन, तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च, ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरा मातृकाः, तत्र सद्यो मरणं; शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम, तत्र चलमूर्धता ॥२६॥

(ग्रीवा के मर्म—) अब, इसके बाद जत्रु के ऊपर के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। कण्ठनाडी के दोनों ओर व्यत्यास से दो नीला और दो मन्या नामक चार धमनियाँ हैं। वहाँ पर (वेध होने से) गूँगापन, स्वर में विकृति और (जिह्वा के) रसज्ञान का अभाव होता है। ग्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। सिर और ग्रीवा के जोड़ पर कृकाटिका नाम का मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) सिर हिलता है ॥२६॥

वक्तव्य—कण्ठनाडी—श्वास का मार्ग, जिसमें स्वरयन्त्र और नीचे की श्वासप्रणाली इन दोनों (Larynx and trachea) का समावेश होता है। व्यत्यासेन—एक नीला और एक मन्या एक तरफ और वैसा ही दूसरी तरफ—एका नीला, एका मन्या चैकस्मिन् पार्श्वे, अन्या नीला अन्या मन्या चापरस्मिन् पार्श्वे। (डल्हण)। नीले मन्ये—सिरामर्मणी चतुरङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। नीला और मन्या के वेधन से होने वाले सब लक्षण वातिक (Nervous) हैं। ये वातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिह्वा की नाडियाँ (Nerves) खराब होने से या इनकी धमनियों का नाश होने से हो सकते हैं। गले में जिह्वा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा उत्तरा (Superior laryngeal), कंठरासनी (Glossopharyngeal) और जिह्वामूलिनी (Hypoglossal) ये नाडियाँ होती हैं तथा उत्तरग्रीविका (Superior thyroid) और अनुजिह्विका (Lingual) ये धमनियाँ भी होती हैं। यदि नीले और मन्ये इनके वेध से होने वाले परिणामों के ऊपर ध्यान देकर इनका अर्थविनिश्चय करना हो तो इनसे उपर्युक्त नाडियों का और धमनियों का ग्रहण करना उचित है। मन्या के संबंध में चरक में निम्न वचन मिलता है—यस्य वै मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां, परासुरिति विद्यात्। (इन्द्रियस्थान ४)। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मन्ये गलपार्श्वगते धमन्यौ। इस वचन का विचार प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से करने पर मन्या से Carotid arteries का ग्रहण करना पड़ेगा और नीला से Jugular veins का ग्रहण होगा। पं० हरिप्रपन्नजी नीला और मन्या से इन्हीं अंगों का ग्रहण करते हैं। नीले और मन्ये वैकल्यकर मर्म हैं (१९वाँ श्लोक देखो); मन्या (क्यारोटिड) धमनी

१ नाम व्यत्ययेन, २ चतस्रश्चतस्रः

इतनी महत्त्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिरामर्माणि चतुरंगुलप्रमाणानि मातृकाः। (डल्हण)। ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे पं० हरिप्रपन्नजी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins ग्रहण कर सकते हैं। संक्षेप में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चिति करना कठिन है। तथापि इनके द्वारा यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्त्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महाहेतुर्बली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः। मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद् बहिः॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकं नाम अङ्गुरीयकाकारं तरुणास्थि स्वरयन्त्राधरावयवभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अवटु और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र बाधिर्यं; घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे नाम, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वाः भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्तौ नाम, तत्राप्यान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा; भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणं; शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः; भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्क्षेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणं; घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणं; मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रुगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बधिरता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छत के पास श्रोत्र) स्रोत मार्ग से बँधे हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गन्ध का ज्ञान नष्ट होता है। भ्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अन्धापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आवर्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अन्धापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्क्षेप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य चुभ जाय तो) शल्य के साथ बचता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर बचता है, (शल्य चुभते ही) शल्य को निकालने से नहीं बचता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्क्षेपवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शृङ्गाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहां पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और सन्धियों का सन्निपात, बालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत सैंतीस मर्मों का विवरण किया गया ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विधुर—स्नायुमर्मणी किञ्चिन्निम्नाकारे वैकल्यकारिणी च। (डल्हण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशावध्याः' करके ये सिराएँ बतलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म बतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी। इस स्थान पर पश्चिमकर्णिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारम्भ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेध होने से बधिरता होने की सम्भावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा (Tympanum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्णनाडी की खराबी होने से भी बाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। फणे—घ्राणमार्गस्य द्वयोः पार्श्वयोरभ्यन्तरविवरद्वारसम्बद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। अष्टांगहृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणावुभयतो घ्राणमार्गं श्रोत्रपथानुगौ। अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्गन्धविज्ञानहारिणौ॥ इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—घ्राणमार्गस्योभयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ, अन्तर्गलस्थितौ गलाभ्यन्तरे स्थितौ, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविति नाम। यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरङ्गा का द्वार (Orifice of the auditory tube) अभिप्रेत है। इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है। इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं।

---

१ भ्रुवोरन्तोपरि. २ शृङ्गाटकसंज्ञश्चतुर्धा, तत्रापि. ३ सद्योमरणं.

इसके ऊपर के भाग में तथा उसके सामने की नासाप्राचीर में गन्धनाडी (Olfactory nerve) की शाखा-प्रशाखाएँ फैली रहती हैं, जिनके द्वारा गन्धग्रहण होता है। फणे—Olfactory regions of the nasal cavities। अपाङ्गौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकरे च। (डल्हण)। भ्रुवोः सम्बन्धिनो पुच्छान्तयोर्बाह्या न्तयोरधः, अक्ष्णोश्च बहिरपाङ्गौ मर्मणी। (इन्दु)। Zygomatico, temporal vessels at the outer corner or canthus of the eye। आवर्तौ—सन्धिमर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। भ्रुवोरुपरि—भ्रुवो पुच्छान्तयोरुपरि। (अरुणदत्त)। गण्डास्थि, पुरःकपाल और जतुकास्थि के सन्धिस्थान (Junction of frontal, malar and sphenoid bone) पर यह मर्म होता है। शङ्खौ—अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले (सद्यः प्राणहरे च)। (डल्हण)। शङ्खमर्म शङ्खकास्थि (Temporal bone) का वह हिस्सा है, जिसको कनपटी (Temples) कहते हैं। इस प्रदेश के ऊपर अनुशङ्खा उत्ताना (Superficial temporal) और शङ्खकास्थि के भीतरी पृष्ठभाग पर मस्तिष्कवृत्तिगा मध्यमा (Middle meningeal) नामक धमनियाँ होती हैं। शङ्खप्रदेश पर आघात होने से स्तब्धता के कारण तत्काल मृत्यु हो सकती है, किंवा भीतरी धमनी टूटने के कारण मस्तिष्क में रक्तस्रावजन्य सम्पीडन (Compression से मृत्यु होती है। उत्क्षेपौ—स्नायुमर्मणी अर्धाङ्गुले विशल्यप्राणहरे च। (डल्हण)। इससे शङ्खस्थान की सावरण पेशी (Temporal fascia and muscle का बोध होता है। स्थपनी—सिरामर्म अर्धाङ्गुल विशल्यघ्न च। (डल्हण)। इसको कूर्च भी कहते हैं—कूर्चं मस्त्री भ्रुवोर्मध्ये। (अमरकोश)। अँग्रेजी में इसको ग्लबेला (Glabella) कहते हैं। इस स्थान पर ललाटिका सिरा (Frontal vein) या दोनों ओर की ललाटिका सिराओं को जोड़ने वाली सिरा (Nasal arch) होती है। स्थपनी के पीछे ललाटकोटर (Frontal sinus) होते हैं। सीमन्ताः—इमानि सन्धिमर्माणि चतुरङ्गुलप्रमाणानि कालान्तरप्राणहराणि च। (डल्हण)। ये वे ही सीमन्त (Sutures of the cranium) हैं, जिनका वर्णन पांचवें अध्याय के १४ वें सूत्र में सीवनी करके किया गया है। सिर के ऊपर आघात होने निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—शिरस्यभिहते मन्यास्तम्भार्दितचक्षुर्विभ्रममोहवेष्टनचेष्टानाशकासश्वासहनुग्रहमूकगद्गदत्वाक्षिनिमीलनगण्डस्पन्दनजृम्भणलालास्रावस्वरहानिवदनजिह्मत्वादीनि। (चरक, सिद्धि० ९)। ये लक्षण मस्तिष्कसंघट्टन (Cerebral concussion), मस्तिष्कसंपीडन (Compression), मस्तिष्कप्रक्षोभ (Irritation) के कारण उत्पन्न होते हैं और इन्हीं से कालान्तर में मनुष्य की मृत्यु होती है। शृङ्गाटक—इमानि सिरामर्माणि चतुरङ्गुलप्रमाणानि। (डल्हण)। मस्तिष्कमूल में Cavernous और Intercavernous sinus करके जो सिरासन्निपात है, वही शृङ्गाटक है। इसमें आँखों की सिराएँ सीधी मिलती हैं और नासाकर्ण की अप्रत्यक्षतया मिलती हैं। इसका आकार भी चतुष्कोण होता है। सिर के ऊपर, सिर के पीछे, हनु के ऊपर जोर का आघात होने से करोटी मूलास्थिभंग होता है, जिसमें शृंगाटक तथा सुषुम्नाशीर्ष इत्यादि विदीर्ण होकर मृत्यु होती है। अष्टांगहृदय में शृंगाटक धमनी मर्म बतलाये हैं। अधिपति—मस्तकाभ्यन्तरो परिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तः, बहिरस्य लक्षणमुपरिष्टाद्रोमावर्तः, तत् सन्धिमर्म अर्धाङ्गुलप्रमाणं च। (डल्हण)। इसका मतलब यह है कि अधिपति मर्म खोपड़ी के भीतर सिराओं के सन्निपात से बना हुआ है। यह सन्धिमर्म है, इसका अर्थ सिरासन्धिमर्म अस्थिसन्धिमर्म नहीं। और इस आभ्यन्तरीय मर्म की बाहर की निशानी (Surface marking) रोमावर्त, याने जहाँ पर सिर के बालों में आवर्त दिखाई देता है, वह स्थान है। इस वर्णन के अनुसार अधिपति मर्म से आधुनिक शारीर वर्णन की दृष्टि से मस्तिष्कवृत्ति में पीछे की ओर मिलने वाले सिरासरित् सन्निपात (Confluence of sinuses या Torcular Herophili) का बोध होता है। म० म० गणनाथ सेनजी प्रत्यक्षशारीर के सिराविभाग में अधिपति का यही अर्थ देते हैं—महासिरावर्तो नाम पूर्वोक्तानां पञ्चानामपि सिरासरितां सन्धिसन्निपातः पश्चिमकपालस्थाभ्यन्तरनलकेन्द्रस्थः। तमधिपतिसंज्ञं सद्योमारकं मर्मेति वर्णयन्ति प्राञ्चः॥ परन्तु अस्थिविभाग में पश्चिमकपाल और पार्श्वकपालों के सन्धिस्थान (Posterior fontanelle) को अधिपति मर्म बताते हैं—पश्चिममध्यसीमन्तयोस्तु सन्धिस्थलं शिवरन्ध्रमधिपतिरन्ध्रं वा नाम तदाख्यमर्माधारत्वात्॥ यद्यपि ये दोनों स्थान बहुत समीप हैं, तथापि शिवरन्ध्र में सिराओं के सन्धियों का सन्निपात न होने से उसको अधिपति मर्म मानना उचित नहीं है। इस मर्म का स्थान कुछ नीचा गुद्दी (अवटु) के पास भीतर होता है। इसके सिवाय शिवरन्ध्र का ग्रहण पाँच सीमन्तमर्मों में हो जाता है। शिवरन्ध्र की अपेक्षा ब्रह्मरन्ध्र (Anterior-fontanelle) अधिक महत्त्व का होने पर भी उसका उल्लेख मर्मों में नहीं, इसका कारण यह है कि ये रन्ध्र सीमन्तों में आ जाते हैं। इसलिए अधिपति मर्म से शिवरन्ध्र न समझकर महासिरावर्त ही समझना उचित है। इस तरह सिर में कुल तेईस मर्म होते हैं। इन मर्मों से सिर का कोई हिस्सा नहीं बचा है। इनके निमित्त सम्पूर्ण सिर का वर्णन मिलता है। जैसे कि चरक के त्रिमर्मीय अध्याय में कहा है, वैसे ही सम्पूर्ण शिर एक मर्म कहने से भी सिर का वही एक महत्त्व रहता जो यहाँ पर तेईस मर्मों के वर्णन से रहता है। इसलिए इस अध्याय के प्रथम सूत्र के वक्तव्य में लिखा है कि मर्मों के वर्णन के फायदे शरीररक्षा और शस्त्रकर्म की दृष्टि से जैसे होते हैं, वैसे ही शारीर अङ्गविनिश्चय की दृष्टि से भी होते हैं।

भवन्ति चात्र—

ऊर्व्यः शिरांसि विटपे च सकक्षपार्श्वे
एकैकमङ्गुलमितं स्तनपूर्वमूलम्।
विद्ध्यङ्गुलद्वयमितं मणिबन्धगुल्फं
त्रीण्येव जानु सपरं सह कूर्पराभ्याम्॥३८॥

हृद्बस्तिकूर्चगुदनाभि वदन्ति मूर्ध्नि
चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे।
तानि स्वपाणितलकुञ्चितसम्मितानि
शेषाण्यवेहि परिविस्तरतोऽङ्गुलार्धम्॥ ३९॥

(मर्मों के परिमाण—) ऊर्वी, कूर्चशिर, विटप, कक्षाधर ये (आठ मर्म) एक एक अङ्गुलपरिमित, स्तनमूल, मणिबन्ध और गुल्फ ये (छः मर्म) दो अङ्गुलपरिमित, दो कूर्पर और दो जानु तीन अङ्गुलपरिमित जानने चाहिएँ॥३८॥

हृदय, वस्ति, कूर्च, गुद, नाभि, सिर के चार (शृंगाटक) और पाँच (सीमन्त) तथा गले के दस और दो (दो मन्या, दो नीला और आठ मातृका, ये उन्तीस) मर्म मुष्टिपरिमित होते हैं। शेष (छप्पन) मर्मों को अर्धाङ्गुलपरिमित समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—शिरांसि—कूर्चशिरांसि। कक्षपार्श्वे—कक्षधरे इत्यर्थः। सपरम्—द्वितीयजानुसहितं जानु। स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि—चतुरङ्गुलप्रमाणानीत्यर्थः। (डल्हण)। मुष्टिप्रमाणानि। (हाराणचन्द्र)। कई आचार्य शेष छप्पन मर्मों का प्रमाण तिल या चावल के समान बताते हैं—पञ्चाशत् षट् च मर्माणि तिलव्रीहिसमान्यपि। इष्टानि मर्माण्यन्येषाम्। (अष्टांगहृदय)।

एतत्प्रमाणमभिवीक्ष्य वदन्ति तज्ज्ञाः
शस्त्रेण कर्मकरणं परिहृत्य कार्यम्।
पार्श्वाभिघातितमपीह निहन्ति मर्म
तस्माद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम् ॥ ४० ॥

(प्रमाण कथन का प्रयोजन—) इन प्रमाणों को ध्यान में रख करके (मर्मस्थानों को) छोड़कर शस्त्र के द्वारा कर्म करना चाहिए, ऐसा शल्यचिकित्सक कहते हैं। (चूँकि) आस-पास चोट लगने पर भी मर्मघात करता है, इसलिए मर्मस्थान को (शस्त्रकर्म के समय) छोड़ना (बचाये रखना) चाहिए ॥ ४० ॥

छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां
सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति।
प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः
संच्छिन्नशाखतरुवन्निधनं न यान्ति ॥ ४१ ॥

(शाखा मर्मों का गौणत्व—) मनुष्यों के हाथ-पाँवों के छिन्न हो जाने पर (छेदस्थान की) सिराएँ सिकुड़ जाती हैं; अतः अधिक रक्त नहीं निकलता। इसलिए (हस्तपादच्छेदन रूप) कठिन विपत्ति को प्राप्त हो करके भी, जिसकी शाखाएँ कट गई है ऐसे वृक्षों के समान मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं होते ॥ ४१ ॥

क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं
गच्छत्यतीव पवनश्च रुजं करोति।
एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा
वृक्षा इवायुधनिघातनिकृत्तमूलाः[1] ॥ ४२ ॥

(क्षिप्र और तलहृदय का महत्त्व—) हाथ-पैरों में क्षिप्र और तलहृदय विद्ध होने पर रक्त अत्यधिक राशि में निकलता है और वायु अधिक पीडा करती है। इस प्रकार जैसे शस्त्र (कुल्हाड़ी) से मूल कटे हुए वृक्ष मर जाते हैं, वैसे ही इन मर्मों पर विद्ध हुए (मनुष्य पीडा और रक्तस्रावाधिक्य के कारण) मर जाते हैं ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—मर्माघात से मृत्यु होने के कारणों का विचार पीछे २४वें सूत्र के वक्तव्य में किया जा चुका है। रक्तस्राव मृत्यु का एक प्रधान कारण है, इसका उल्लेख यहाँ पर किया गया है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है कि छेद, भेद, वेधादि से यदि रक्त अत्यधिक राशि में निकले तो, वेध का स्थान चाहे मर्म हो या न हो, मृत्यु हो जाती है और मर्मस्थान पर वेध होने से भी यदि रक्तस्राव अधिक न हो तो मनुष्य की मृत्यु नहीं होती—अमर्मविद्धोऽपि नरश्छेदभेदादिपीडितः। अतिनिस्रुतरक्तश्च सद्यस्त्यजति जीवितम्। अतोऽन्यथा जीवति तु विद्धः शरशतैरपि ॥ (शारीर ७)। इस पर इन्दु लिखते हैं—न केवलं मर्मविद्ध एव जीवितं त्यजति यावद् मर्मविद्धोऽपि रक्तस्यातिस्रुतेः सद्य एव जीवितं जहाति। अतोऽन्यथा यथोक्तवैपरीत्ये मर्मण्यपि रक्तास्रुतौ च शरशतैरपि विद्धो जीवति।' एवं विनाशमायान्ति—रक्तस्राव से मर जाते हैं। रक्तस्राव के कारण होने वाले लक्षणों का विवरण सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के ३०वें सूत्र में, तथा उसके वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८४ देखो) किया गया है। वहाँ के लक्षण मध्यम रक्तस्राव के हैं। जब रक्तस्राव अधिक होता है, तब मृत्यु जल्दी होती है। इसके लक्षण अष्टांगसंग्रह में बहुत सुन्दर दिये हैं और आधुनिक लक्षणों के साथ ठीक ठीक मिलते हैं—विक्षिप्यते भृशं सीदन् शून्यो भ्रमति वेपते। ऊर्ध्वं श्वसिति कृच्छ्रेण स्रस्तगात्रो मुहुर्मुहुः ॥ हृदयं दह्यते चास्य नैकस्थानेऽवतिष्ठते। मर्मोपघातान्मरणमेतैर्लिङ्गैः समश्नुते ॥ (शारीर ७)। रक्तस्राव के कारण शरीर में विष्णुपदामृत (Oxygen) की कमी होती है, जिसकी पूर्ति करने के लिए रोगी बेचैनी के साथ इधर उधर शरीर को घुमाता है (विक्षिप्यते भृशं, To-sing) और बड़े जोर के साथ, और तेजी से साँस (ऊर्ध्वं श्वसिति (gasps for breath) लेता है। अन्त में अवसाद, संन्यास और आक्षेप के साथ मर जाता है।

क्षिप्र और तलहृदय मर्मों का महत्त्व रक्तस्राव की दृष्टि से ही होता है। इन मर्मों की सिराएँ तथा धमनियाँ अत्यन्त निगूढ होती हैं, जिसके कारण उनसे होने वाले रक्तस्राव को रोकना बहुत कठिन समस्या होती है। आधुनिक काल में प्रत्यक्ष शारीर-विज्ञान में तथा सांगोपांग शल्यचिकित्सा में आश्चर्यजनक उन्नति होने पर भी इन स्थानों के रक्तस्राव को बंद करने में कठिनाई मालूम होती है—Wounds of the volar arches are always difficult to deal with. Wounds of the planter arch are always serious on account of the depth of the vessel. *Grey's Anatomy.* अब इसके बाद क्षिप्र-तलहृदय मर्मवेध की चिकित्सा वर्णन करते हैं—

तस्मात्तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं
छेत्तव्यमाशु मणिबन्धनगुल्फदेशे ॥ ४३ ॥

(क्षिप्रतलहृदय मर्मवेध चिकित्सा—) इसलिए इन मर्मों पर अभिघात हुए (मनुष्य) के हाथ, पाँव, मणिबंध और गुल्फदेश में तत्काल काटकर उसको बचाना चाहिए ॥४३॥

वक्तव्य—मणिबन्धनगुल्फदेशे—हाथ के मर्म का वेध होने पर मणिबंध प्रदेश में और पैर के मर्म में चोट होने पर गुल्फदेश में। छेत्तव्यम्—पीछे ४१वें श्लोक में यह बताया जा चुका है कि हाथ-पैर कट जाने पर भी मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वहाँ की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ जाने से प्राणधारक रक्त का नाश बहुत नहीं होता। रक्तवाहिनियों के संकोच के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि, उनमें कट जाने पर संकोच (Contraction) करने का गुण होता है और रक्तस्राव रोकने के नैसर्गिक उपायों में से यह एक उपाय है (४१वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। परन्तु जब बड़ी बड़ी रक्तवाहिनियाँ कट

[1] इवायुधनिपातनिकृत्तमूलाः.

जाती हैं, तब नैसर्गिक उपायों के ऊपर रक्तस्राव बंद होने के लिए निर्भर रहना उचित नहीं होता और तुरन्त कृत्रिम उपायों के द्वारा स्राव को रोकना पड़ता है। इन उपायों का विवरण सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के ३६वें सूत्र और उसके वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८५) में किया गया है। हाथ पैर पूर्णतया कट जाने पर रक्तस्राव बंद होने के लिए नैसर्गिक साधनों पर विश्वास न करके तुरन्त कृत्रिम साधनों द्वारा रक्तप्रवाह को रोकना चाहिए और इसमें सफलता मिलने के कारण रक्तस्राव से व्रणी की मृत्यु नहीं होती। तलहृदय मर्म में चोट लगने पर जब रक्तप्रवाह शुरू होता है, तब वे धमनियाँ अत्यन्त निगूढ होने के कारण उनसे होने वाला रक्त का स्राव कृत्रिम उपायों द्वारा रोकना अत्यन्त कठिन होता है। इसलिए इस श्लोक में मणिबन्ध या गुल्फदेश में छेदन (Amputation at the wrist or ankle joint) करने का उपदेश दिया है। यहाँ पर छेदन करने से कृत्रिम उपायों द्वारा रक्तस्राव बंद करना बहुत सहल होता है और विद्ध की जान बच जाती है। इसलिए इस श्लोकार्ध का अभिप्राय ठीक ध्यान में आने के लिए निम्न (स्वकृत) श्लोकार्ध से उसकी पूर्ति की जाती है—एवं भवेच्च सुगमं विविधैरुपायैरास्थापनमसुविधारकशोणितस्य।

मर्माघात, रक्तस्राव और अगदुष्टि के लिए छेदन (Amputation) करने का उपाय प्राचीन है—परोऽप्यपत्यं हितकृद् यथौषधं स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः। छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥ (श्रीमद्भागवत ७-५-३७)। आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी यह उपाय सम्मत हुआ है—The actual removal of a limb may be required as an immediate urgent necessity in order to save life from shock haemorrhage, or infection *Manual of Surgery by Rose and Carless* प्राचीन और अर्वाचीन शल्यशास्त्र सम्मत होने पर भी अंगच्छेदन का उपाय मामूली नहीं है। वैद्य या डाक्टर के ऊपर इसकी बड़ी भारी जिम्मेदारी होती है और व्रणी के लिए एक स्थायी वैकल्य उत्पन्न होता है। इसलिए अंगच्छेदन का उपाय आत्ययिक अवस्थाओं में बहुत सोच विचार करके काम में लाना चाहिए। यहाँ पर सब स्थानों के रक्तस्राव का विचार न करके तलहृदयगत रक्तस्राव का विचार साधारण उपायों की दृष्टि से किया जायगा। हथेलियों और तलुओं की चोट एक बहुत साधारण घटना है। इसकी चिकित्सा का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इसलिए यहाँ पर उसकी विधि बतलाई जाती है—

हाथ या पैर के तलहृदय से रक्तस्राव होने पर व्रणमुख को कुछ चौड़ा करके धमनीसंदंश से टूटी हुई धमनी के दोनों सिरे पकड़कर तांत से बाँध देने चाहिएँ। यदि यह न हो सके तो धमनीपीडनसंदंश (Forcipressure forceps) से दोनों सिरे दबाकर संदंशों को वैसे ही व्रण में रखकर पट्ट बाँधना चाहिए। यदि संदंश से स्राव का मुख पकड़ने में कठिनाई हो तो व्रणमुख पर स्वच्छ कवलिका की मोटी तह बनाकर (Pad of sterilized gauze) और मुट्ठी बाँधकर पट्ट लगाना चाहिए और रोगी को बिस्तरे पर हाथ या पैर ऊँचा करके लिटाये रखना चाहिए। यदि इससे भी रक्तस्तम्भन न हो सके तो बाहु या ऊरु धमनी के ऊपर रज्जुबंधन (Tourniquet) करके या उन धमनियों को खोलकर उनके ऊपर टाँका (Ligature) लगा के रक्तस्राव रोकना चाहिए। आखिरी दो उपायों से रक्तस्राव कम हो जाता है। आधुनिक काल में रक्तस्तम्भन, शस्त्रकर्म और जीवाणुनाशन के साधनों में आश्चर्यजनक उन्नति होने के कारण हाथ पैरों के चोट में उनका अभ्युच्छेदन (Amputation) करने के भयावह उपाय को अंगीकृत करने का प्रसंग बहुत कम आता है।

मर्माणि शल्यविषयार्धमुदाहरन्ति
यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः।
जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित्
ते प्राप्नुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि ॥४४॥

(शल्यतन्त्र में मर्मों का महत्त्व—) यतः मर्मों पर आघात (या वेध) होने से तत्काल (मनुष्यों का) अस्तित्व नष्ट होता है और वैद्य की कुशलता के कारण उनमें से कोई बच भी जाय तो भी वे विकलता को निःसंशय प्राप्त होते हैं। इसलिए (शल्यतान्त्रिक) मर्मों (के ज्ञान) को शल्यविषयार्ध कहते हैं ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—शल्यविषयार्धम्—संपूर्ण आयुर्वेद में शल्यतन्त्र का प्राधान्य शस्त्रक्षारादि प्रणिधान से तत्काल काम करने के कारण होता है—अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतमाशुक्रियाकरणाच्च शस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात्। (सूत्रस्थान १)। यदि यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि का प्रयोग करते समय मर्मों का ध्यान न किया जाय तो तत्काल उपाय होने के बदले तत्काल अपाय हो जायगा। अर्थात् शल्यतन्त्र का श्रेष्ठत्व जिस क्रिया के ऊपर अधिष्ठित है, वही क्रिया मर्म विज्ञान के सिवा हानिकारक होती है। इसलिए मर्मों का ज्ञान आधा शल्यशास्त्र कहलाता है।

संभिन्नजर्जरितकोष्ठशिरःकपालाः
जीवन्ति शस्त्रवि(नि)हताश्च शरीरदेशैः।
छिन्नैश्च सक्थिभुजपादकरैरशेषै-
र्येषां न मर्मपतिता विविधाः प्रहाराः ॥ ४५ ॥

(मर्मप्रहार का महत्त्व—) जिनके मर्मों पर विविध प्रहार नहीं हुए हैं, (परंतु इतस्ततः) प्रहारों के कारण जिनके कोष्ठ और शिरःकपाल जर्जरित हुए हैं, ऐसे मनुष्य शस्त्रों के द्वारा विद्ध हुए अपने शरीर अंगों के साथ तथा पूर्णतया कटे हुए अपने सक्थि, पाद, बाहु और हाथों के साथ जिन्दे रहते हैं ॥४५॥

सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च।
मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ॥
मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः ॥ ४६ ॥

(मर्माघात से मृत्यु की उपपत्ति—) सोम (जल या कफ), वायु, तेज और सत्त्व, रज, तम तथा जीवात्मा प्रायः मर्मों में (विशेषतया) अवस्थान करते हैं। इसलिए मर्मों पर वेध होने से (इनके चले जाने के कारण) प्राणी जीवित नहीं रहते ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—प्रायशः—मर्मों पर आघात होने से कई बार मृत्यु होती है, यह अनुभवसिद्ध घटना है। इस घटना के कार्य-कारण संबंध का दिग्दर्शन यहाँ पर प्राचीन कल्पना के अनुसार और अनुमान प्रमाण के आधार पर

१ दैव० २ मर्मसु हता.

किया गया है। पाश्चात्य वैद्यक में इस प्रकार की कल्पना न होने के कारण दोनों की तुलना नहीं हो सकती। आधुनिक कल्पना के अनुसार मृत्यु के जो कारण होते हैं, उनका विचार पीछे २३वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। ये भौतिक कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यहाँ दार्शनिक दृष्टि से (Meta physical) मृत्यु के कारण बतलाये गये हैं। जड़ शरीर को चैतन्य सत्त्वादि द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए ये प्राण कहलाते हैं। इनका उल्लेख चौथे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है। ये प्राण सर्वशरीरव्यापी हैं, किसी एक स्थान पर स्थित नहीं होते। परंतु मर्मों पर आघात होने से प्राणयुक्त शरीर प्राणरहित होता है। इससे यह अनुमान निकलता है कि यद्यपि प्राण सर्वव्यापी हैं तथापि इनका विशेष स्थान मर्मों में होता है और वह स्थान छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण वे शरीर से चल देते हैं और शरीर निष्प्राण हो जाता है।

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्ययः।
रुजश्च विविधास्तीव्रा भवन्त्याशुहरे हते ॥ ४७ ॥
हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम्।
ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति ॥ ४८ ॥
हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात्।
शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥
विशल्यघ्नेषु विज्ञेयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥५०॥
रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः।
कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥ ५१ ॥

(पञ्चविध मर्माघात के लक्षण—) सद्यःप्राणहर मर्म पर अभिघात होने से इन्द्रियों का स्वविषयग्रहण में असामर्थ्य (बेहोशी), मन और बुद्धि के कार्य में वैपरीत्य, और तरह तरह की तीव्र वेदनाएँ (ये लक्षण) होते हैं ॥ ४७ ॥ कालान्तर प्राणहर मर्म पर अभिघात होने से मनुष्यों का धातुक्षय निश्चित रूप से होता है और पश्चात् धातुक्षयजनित वेदनाओं के कारण मनुष्य मर जाता है ॥ ४८ ॥ वैकल्यकर मर्म पर अभिघात होने से केवल वैद्य की कुशलता से ही शरीर कार्यक्षम होकर विकलता को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ विशल्यघ्न मर्मों में जो कारण पहले बताया गया है, वही जानना चाहिए ॥ ५० ॥ पीडाकर मर्म (आघात होने पर) विविध प्रकार की पीड़ाएँ करते हैं और यदि किसी खराब वैद्य के हाथ में हों तो अन्त में वैकल्य (भी) करते हैं ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—असंप्राप्तिः—इन्द्रियार्थानामसम्यक्संबंधः, इन्द्रियार्थानामग्रहणमित्यर्थः।

वेदना—लक्षण-चिकित्सति भिषक् सर्वास्त्रिकाला वेदना इति। (चरक, शारीर १)। अर्थात् पर्याय से धातुक्षयजनित विविध रोगों से।

वैद्यनैपुणात्—वैकल्यकर मर्मों पर वेध होने से वैकल्य तब प्राप्त होता है, जब उसकी चिकित्सा उत्तम वैद्य के हाथों से की जाती है, वरना उससे मृत्यु भी हो सकती है।

कुवैद्यवशगो यदि—पीडाकरमर्म विद्ध होने पर यदि रोगी कुवैद्यों के हाथों में सुपुर्द किये जायँ तो वैकल्य प्राप्त होता है।

मर्माघात के सामान्य लक्षण सूत्रस्थानके पचीसवें अध्यायके 'भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो' इन दो श्लोकों में वर्णन किये गये हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह में मर्मवेध का सामान्य लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित है—

देहप्रसुप्तिर्गुरुता संमोहः शीतकामिता। स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासो मर्मविद्धस्य लक्षणम् ॥ (शारीर ७)

अष्टाङ्गहृदय में प्रत्येक प्रकार के मर्मवेध के लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित हैं—

विद्धेऽजस्रमसृक्स्रावो मांसधावनवत्तनुः। पाण्डुत्वमिन्द्रियाज्ञानं मरणं चाशु मांसजे ॥ मज्जान्वितोऽच्छो विच्छिन्नस्रावो रुक् चास्थिमर्मणि ॥ आयामाक्षेपकस्तम्भास्नावजेऽभ्यधिकं रुजा। यानस्थानासनाशक्तिर्वैकल्यमथवांतकः ॥ रक्तं सशब्दफेनोष्णं धमनीस्थे विचेतसः। सिरामर्मव्यधे सांद्रमजस्रं बहुसृक्स्रवेत्। तत्क्षयात्तृड्भ्रमश्वासमोहहिध्माभिर्नतकः ॥ वस्तुशूकैरिवाकीर्णे रूढे च कुणिखञ्जता। बलचेष्टाक्षयः शोषः पर्वशोफश्च संधिजे ॥ (शारीर ४)।

ये लक्षण आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के रक्तस्राव, मूर्च्छा (Syncope) और स्तब्धता (Shock) इनके साथ (पीछे २३वें सूत्र की टिप्पणी देखो) मिलते हैं।

छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाद्दारणादपि।
उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥ ५२ ॥

(मर्मसमीप घात के लक्षण—) छेदन, भेदन, अभिघात, दहन और दारण से मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुआ आघात मर्माघात के समान लक्षणों से युक्त जानना चाहिए ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—उपघातं समीपघातम्। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुए आघात या वेध के परिणाम प्रत्यक्ष मर्म पर हुए आघात के समान होते हैं।

मर्माभिघातस्तु न कश्चिदस्ति
योऽल्पात्ययो वाऽपि निरत्ययो वा।
प्रायेण मर्मस्वभिताडितास्तु
वैकल्यमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते ॥ ५३ ॥
मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा
मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम्।
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति
नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥ ५४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(मर्माघात में प्रयत्न पराकाष्ठा की आवश्यकता—) मर्म का कोई भी अभिघात ऐसा नहीं होता है, जिससे थोड़ी सी ही हानि होती हो या बिलकुल न होती हो। प्रायः मर्मों पर अभिघातित हुए (मनुष्य) विकल होते हैं या मर जाते हैं ॥५३॥ मनुष्यों के जो विविध रोग मर्मों का आश्रय करके शरीर में होते हैं, वे वैद्य से (बहुत) प्रयत्नों द्वारा चिकित्सित होते हुए भी प्रायः अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥ ५४ ॥

जाती हैं, तब नैसर्गिक उपायों के ऊपर रक्तस्राव बंद होने के लिए निर्भर रहना उचित नहीं होता और तुरन्त कृत्रिम उपायों के द्वारा स्राव को रोकना पड़ता है। इन उपायों का विवरण सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के ३९वें सूत्र और उसके वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८५) में किया गया है। हाथ-पैर पूर्णतया कट जाने पर रक्तस्राव बंद होने के लिए नैसर्गिक साधनों पर विश्वास न करके तुरन्त कृत्रिम साधनों द्वारा रक्तप्रवाह को रोकना चाहिए और इसमें सफलता मिलने के कारण रक्तस्राव से प्राणी की मृत्यु नहीं होती। तलहृदय मर्म में चोट लगने पर जब रक्तप्रवाह शुरू होता है, तब वे धमनियाँ अत्यन्त निगूढ होने के कारण उनसे होने वाला रक्त का स्राव कृत्रिम उपायों द्वारा रोकना अत्यन्त कठिन होता है। इसलिए इस श्लोक में मणिबन्ध या गुल्फदेश में छेदन (Amputation at the wrist or ankle joint) करने का उपदेश दिया है। यहाँ पर छेदन करने से कृत्रिम उपायों द्वारा रक्तस्राव बंद करना बहुत सहल होता है और विद्ध की जान बच जाती है। इसलिए इस श्लोकार्ध का अभिप्राय ठीक ध्यान में आने के लिए निम्न (स्वकृत) श्लोकार्ध से उसकी पूर्ति की जाती है—"तद् धमन्यश्च सुगम विविधैरुपायैरास्थापनमसुविधार तशोणितस्य"

मर्माघात, रक्तस्राव और अंगदुष्टि के लिए छेदन (Amputation) करने का उपाय प्राचीन है—"यरोऽप्यपथ्य हितकृद् यथौषधं स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः। छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात्॥ (श्रीमद्भागवत ४-४-३७)। आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी यह उपाय सम्मत हुआ है—the actual removal of a limb may be required as an immediate urgent necessity in order to save life from shock haemorrhage, or infection *Manual of Surgery by Rose and Carless* प्राचीन और अर्वाचीन शल्यशास्त्र सम्मत होने पर भी अंगच्छेदन का उपाय मामूली नहीं है। वैद्य या डाक्टर के ऊपर इसकी बड़ी भारी जिम्मेदारी होती है और प्राणी के लिए एक स्थायी वैकल्य उत्पन्न होता है। इसलिए अंगच्छेदन का उपाय आत्ययिक अवस्थाओं में बहुत सोच विचार करके काम में लाना चाहिए। यहाँ पर सब स्थानों के रक्तस्राव का विचार न करके तलहृदयगत रक्तस्राव का विचार साधारण उपायों की दृष्टि से किया जायगा। हथेलियों और तलुओं की चोट एक बहुत साधारण घटना है। इसकी चिकित्सा का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इसलिए यहाँ पर उसकी विधि बतलाई जाती है—

हाथ या पैर के तलहृदय से रक्तस्राव होने पर व्रणमुख को कुछ चौड़ा करके धमनीसंदंश से टूटी हुई धमनी के दोनों सिरे पकड़कर तांत से बाँध देने चाहिएँ। यदि यह न हो सके तो धमनीपीडनसंदंश (Pressure forceps) से दोनों सिरे दबाकर संदंशों को वैसे ही व्रण में रखकर पट्ट बाँधना चाहिए। यदि संदंश से स्राव का मुख पकड़ने में कठिनाई हो तो व्रणमुख पर स्वच्छ कवलिका की मोटी तह बनाकर (Pad of sterilized gauze) और मुट्ठी बाँधकर पट्ट लगाना चाहिए और रोगी को बिस्तरे पर हाथ या पैर ऊंचा करके लिटाये रखना चाहिए। यदि इससे भी रक्त स्तम्भन न हो सके तो बाहु या ऊरु धमनी के ऊपर रज्जुबन्धन (Tourniquet) करके या उन धमनियों को खोलकर उनके ऊपर टाँका (Ligature) लगा के रक्तस्राव रोकना चाहिए। आखिरी दो उपायों से रक्तस्राव बन्द हो जाता है। आधुनिक काल में रक्तस्तम्भन, शस्त्रकर्म और जीवाणुनाशन के साधनों में आश्चर्यजनक उन्नति होने के कारण हाथ पैरों के चोट में उनका अभ्युच्छेदन (Amputation) करने के भयावह उपाय को अंगीकृत करने का प्रसंग बहुत कम आता है।

> मर्माणि शल्यविषयार्धमुदाहरन्ति
> यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः।
> जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित्
> ते प्राप्नुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि ॥४४॥

(शल्यतन्त्र में मर्मों का महत्त्व—) यतः मर्मों पर आघात (या वेध) होने से तत्काल (मनुष्यों का) अस्तित्व नष्ट होता है और वैद्य की कुशलता के कारण उनमें से कोई बच भी जाय तो भी वे विकलता को निःसंशय प्राप्त होते हैं। इसलिए (शल्यतान्त्रिक) मर्मों (के ज्ञान) को शल्यविषयार्ध कहते हैं ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—शल्यविषयार्धम्—संपूर्ण आयुर्वेद में शल्यतन्त्र का प्राधान्य शस्त्रक्षारादि प्रणिधान से तत्काल काम करने के कारण होता है—"अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतमाशुक्रियाकरणाद् यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात्। (सूत्रस्थान १)। यदि यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि का प्रयोग करते समय मर्मों का ध्यान न किया जाय तो तत्काल उपाय होने के बदले तत्काल अपाय हो जायगा। अर्थात् शल्यतन्त्र का श्रेष्ठत्व जिस क्रिया के ऊपर अधिष्ठित है, वही *क्रिया मर्म विज्ञान के सिवा हानि*-कारक होती है। इसलिए मर्मों का ज्ञान आधा शल्यशास्त्र कहलाता है।

> सम्भिन्नजर्जरितकोष्ठशिरःकपाला
> जीवन्ति शस्त्रवि(नि)हतैश्च शरीरदेशैः[१]।
> छिन्नैश्च सक्थिभुजपादकरैरशेषै-
> र्येषां न मर्मपतिता विविधाः प्रहाराः ॥ ४५ ॥

(मर्मप्रहार का महत्त्व—) जिनके मर्मों पर विविध प्रहार नहीं हुए हैं, (परंतु इतस्ततः) प्रहारों के कारण जिनके कोष्ठ और शिरःकपाल जर्जरित हुए हैं, ऐसे मनुष्य शस्त्रों के द्वारा विद्ध हुए अपने शरीर अंगों के साथ तथा पूर्णतया कटे हुए अपने सक्थि, पाद, बाहु और हाथों के साथ जिन्दे रहते हैं ॥४५॥

> सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च।
> मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ॥
> मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः[२] ॥ ४६ ॥

(मर्माघात से मृत्यु की उपपत्ति—) सोम (जल या कफ), वायु, तेज और सत्त्व, रज, तम तथा जीवात्मा प्रायः मर्मों में (विशेषतया) अवस्थान करते हैं। इसलिए मर्मों पर वेध होने से (इनके चले जाने के कारण) प्राणी जीवित नहीं रहते ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—प्रायशः—मर्मों पर आघात होने से कई बार मृत्यु होती है, यह अनुभवसिद्ध घटना है। इस घटना के कार्य-कारण संबंध का दिग्दर्शन यहाँ पर प्राचीन कल्पना के अनुसार और अनुमान प्रमाण के आधार पर

---

१ रदेशैः २ मर्मसु हता।

किया गया है। पाश्चात्य वैद्यक में इस प्रकार की कल्पना न होने के कारण दोनों की तुलना नहीं हो सकती। आधुनिक कल्पना के अनुसार मृत्यु के जो कारण होते हैं, उनका विचार पीछे २३वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। ये भौतिक कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यहाँ दार्शनिक दृष्टि से (Meta physical) मृत्यु के कारण बतलाये गये हैं। जड़ शरीर को चैतन्य सत्वादि द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए ये प्राण कहलाते हैं। इनका उल्लेख चौथे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है। ये प्राण सर्वशरीर-व्यापी हैं, किसी एक स्थान पर स्थित नहीं होते। परंतु मर्मों पर आघात होने से प्राणयुक्त शरीर प्राणरहित होता है। इससे यह अनुमान निकलता है कि यद्यपि प्राण सर्व-व्यापी हैं तथापि इनका विशेष स्थान मर्मों में होता है और वह स्थान छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण वे शरीर से चल देते हैं और शरीर निष्प्राण हो जाता है।

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्ययः।
रुजश्च विविधास्तीव्रा भवन्त्याशुहरे हते ॥ ४७ ॥
हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम्।
ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति ॥ ४८ ॥
हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात्।
शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥
विशल्यघ्नेषु विज्ञेयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥५०॥
रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः।
कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥ ५१ ॥

(पञ्चविध मर्माघात के लक्षण—) सद्यःप्राणहर मर्म पर अभिघात होने से इन्द्रियों का स्वविषयग्रहण में असामर्थ्य (बेहोशी), मन और बुद्धि के कार्य में वैपरीत्य, और तरह तरह की तीव्र वेदनाएँ (ये लक्षण) होते हैं ॥ ४७ ॥ कालान्तर प्राणहर मर्म पर अभिघात होने से मनुष्यों का धातुक्षय निश्चित ही होता है और पश्चात् धातुक्षयजनित वेदनाओं के कारण मनुष्य मर जाता है ॥ ४८ ॥ वैकल्यकर मर्म पर अभिघात होने से केवल वैद्य की कुशलता से ही शरीर कार्यक्षम होकर विकलता को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ विशल्यघ्न मर्मों में जो कारण पहले बताया गया है, वही जानना चाहिए ॥ ५० ॥ पीडाकर मर्म (आघात होने पर) विविध प्रकार की पीड़ाएँ करते हैं और यदि किसी खराब वैद्य के हाथ में हों तो अन्त में वैकल्य (भी) करते हैं ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—असंप्राप्तिः—इन्द्रियार्थानामसम्यक्संबंधः, इन्द्रियार्थानामग्रहणमित्यर्थः।

वेदना—लक्षण-चिकित्सति भिषक् सर्वास्त्रिकाला वेदना इति। (चरक, शारीर १)। अर्थात् पर्याय से धातुक्षयजनित विविध रोगों से।

वैद्यनैपुणात्—वैकल्यकर मर्मों पर वेध होने से वैकल्य तब प्राप्त होता है, जब उसकी चिकित्सा उत्तम वैद्य के हाथों से की जाती है, वरना उससे मृत्यु भी हो सकती है।

कुवैद्यवशगो यदि—पीडाकरमर्म विद्ध होने पर यदि रोगी कुवैद्यों के हाथों में सुपुर्द किये जायँ तो वैकल्य प्राप्त होता है।

मर्माघात के सामान्य लक्षण सूत्रस्थानके पचीसवें अध्यायके 'भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो' इन दो श्लोकों में वर्णन किये गये हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह में मर्मवेध का सामान्य लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित है—

देहप्रसुप्तिर्गुरुता संमोहः शीतकामिता। स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासो मर्मविद्धस्य लक्षणम् ॥ (शारीर ७)

अष्टाङ्गहृदय में प्रत्येक प्रकार के मर्मवेध के लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित हैं—

विद्धेऽजस्रमसृक्स्रावो मांसधावनवत्तनुः। पाण्डुत्वमिन्द्रियाज्ञानं मरणं चाशु मांसजे ॥ मज्जान्वितोऽच्छो विच्छिन्नस्रावो रुक् चास्थिमर्मणि ॥ आयामाक्षेपकस्तम्भाः स्नावजेऽभ्यधिकं रुजा। यानस्थानासनाशक्तिर्वैकल्यमथवांतकः ॥ रक्तं सशब्दफेनोष्णं धमनीस्थे विचेतसः। सिरामर्मव्यधे सांद्रमजस्रं बहुसृक् स्रवेत्। तत्क्षयात्तृड्भ्रमश्वासमोहहिध्माभिरन्तकः ॥ वस्तुशूकैरिवाकीर्णे रूढे च कुणिखञ्जता। बलचेष्टाक्षयः शोषः पर्वशोफश्च संधिजे ॥ (शारीर ४)।

ये लक्षण आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के रक्तस्राव, मूर्च्छा (Syncope) और स्तब्धता (Shock) इनके साथ (पीछे २३वें सूत्र की टिप्पणी देखो) मिलते हैं।

छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाद्दारणादपि।
उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥ ५२ ॥

(मर्मसमीप घात के लक्षण—) छेदन, भेदन, अभिघात, दहन और दारण से मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुआ आघात मर्माघात के समान लक्षणों से युक्त जानना चाहिए ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—उपघातं समीपघातम्। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुए आघात या वेध के परिणाम प्रत्यक्ष मर्म पर हुए आघात के समान होते हैं।

मर्माभिघातस्तु न कश्चिदस्ति
योऽल्पात्ययो वाऽपि निरत्ययो वा।
प्रायेण मर्मस्वभिताडितास्तु
वैकल्यमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते ॥ ५३ ॥
मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा
मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम्।
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति
नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥ ५४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(मर्माघात में प्रयत्न पराकाष्ठा की आवश्यकता—) मर्म का कोई भी अभिघात ऐसा नहीं होता है, जिससे थोड़ी सी ही हानि होती हो या बिलकुल न होती हो। प्रायः मर्मों पर अभिघातित हुए (मनुष्य) विकल होते हैं या मर जाते हैं ॥५३॥ मनुष्यों के जो विविध रोग मर्मों का आश्रय करके शरीर में होते हैं, वे वैद्य से (बहुत) प्रयत्नों द्वारा चिकित्सित होते हुए भी प्रायः अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥ ५४ ॥

वर्णक्रमानुसार मर्मों का कोष्ठक

नाम,	संख्या	स्थान	प्रकार	परिणाम	अंग्रेजी शारीरिक पर्याय
अंस	२	पृष्ठ	स्नायु	वैकल्यकर	Corac.-humoral, gleno-humoral ligaments, Trapezius muscle
अंसफलक	२	पृष्ठ	अस्थि	वैकल्यकर	Spine of the scapula
अधिपति	१	शिर	सन्धि	सद्यःप्राणहर	Torcular herophilia
अपलाप	२	छाती	सिरा	का० प्राणहर	Lateral thoracic and subscapular vessels
अपस्तम्भ	२	छाती	सिरा	का० प्राणहर	Two bronchii
अपाङ्ग	२	शिर	सिरा	वैकल्यकर	Zygomatico-temporal vessels
आणी	२	ऊर्ध्वशाखा	स्नायु	वैकल्यकर	Tendon of biceps
आणी	२	अधःशाखा	स्नायु	वैकल्यकर	Tendon of quadriceps *femoris*
आवर्त	२	शिर	सन्धि	वैकल्यकर	Junction of the frontal malar and sphenoid bone
इन्द्रबस्ति	२	ऊर्ध्वशाखा	मांस	का० प्राणहर	Cubital fossa
इन्द्रबस्ति	२	अधःशाखा	मांस	का० प्राणहर	Calf muscles
उत्क्षेप	२	शिर	स्नायु	विशल्यघ्न	Temporal muscle and fascia
कर्णी	२	ऊर्ध्वशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Brachial artery, Basilic vein
कर्णी	२	अधःशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Femoral vessels
कक्षाधर	२	ऊर्ध्वशाखा	स्नायु	वैकल्यकर	Brachial plexus
कटीकतरुण	२	पृष्ठ	अस्थि	का० प्राणहर	Sciatic notch
कुकुन्दर	२	पृष्ठ	सन्धि	वैकल्यकर	Ischial tuberosity
कूर्च	२	ऊर्ध्वशाखा	स्नायु	वैकल्यकर	Carpo metacarpal and intercarpal ligaments
कूर्च	२	अधःशाखा	स्नायु	वैकल्यकर	Tarso metatarsal and intertarsal ligaments
कूर्चशिर	२	ऊर्ध्वशाखा	स्नायु	पीडाकर	Lateral ligaments of the wrist joint
कूर्चशिर	२	अधःशाखा	स्नायु	पीडाकर	Lateral ligaments of the ankle joint
कूर्पर	२	ऊर्ध्वशाखा	सन्धि	वैकल्यकर	Elbow joint
कृकाटिका	२	ग्रीवा	सन्धि	वैकल्यकर	Atlanto occipital articulation
क्षिप्र	२	ऊर्ध्वशाखा	स्नायु	का० प्राणहर	First intermeta carpal ligament
क्षिप्र	२	अधःशाखा	स्नायु	का० प्राणहर	First intermeta tarsal ligament
गुद	१	कोष्ठ	मांस	सद्यःप्राणहर	Anal canal and anus
गुल्फ	२	अधःशाखा	सन्धि	पीडाकर	Ankle joint
जानु	२	अधःशाखा	सन्धि	वैकल्यकर	Knee joint
तलहृदय	२	ऊर्ध्वशाखा	मांस	का० प्राणहर	Palmer aponeurosis
तलहृदय	२	अधःशाखा	मांस	का० प्राणहर	Long planter ligament
नाभि	१	कोष्ठ	सिरा	सद्यःप्राणहर	Umbilicus
नितम्ब	२	पृष्ठ	अस्थि	का० प्राणहर	Ala of the ileum
नीला	२	ग्रीवा	सिरा	वैकल्यकर	Blood vessels of the neck
पार्श्वसन्धि	२	पृष्ठ	सिरा	का० प्राणहर	Common iliac vessels
फण	२	शिर	सिरा	वैकल्यकर	Olfactory region of the nose
बस्ति	१	कोष्ठ	स्नायु	सद्यःप्राणहर	Urinary bladder
बृहती	२	पृष्ठ	सिरा	का० प्राणहर	Subscapular and transverse cervical arteries
मन्या	२	ग्रीवा	सिरा	वैकल्यकर	Blood vessels of the neck
मातृका	८	ग्रीवा	सिरा	सद्यःप्राणहर	Blood vessels of the neck
लोहिताक्ष	२	ऊर्ध्वशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Axillary vessels
लोहिताक्ष	२	अधःशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Femoral vessels
विटप	२	कोष्ठ	स्नायु	वैकल्यकर	Inguinal canal
विधुर	२	शिर	स्नायु, सिरा	वैकल्यकर	Posterior auricular vessels
शङ्ख	२	शिर	अस्थि	सद्यःप्राणहर	Temples

नाम,	संख्या	स्थान	प्रकार	परिणाम	अँग्रेजी शारीरिक पर्याय
शृंगाटक	४	शिर	सिरा	सद्यः प्राणहर	Cavernous and inter-cavernous sinuses
सीमन्त	५	शिर	संधि	का० प्राणहर	Cranial sutures
स्तनमूल	२	छाती	सिरा	का० प्राणहर	Internal mammory vessels
स्तनरोहित	२	छाती	मांस	का० प्राणहर	Lower portion of Pectoralis major
स्थपनी	१	शिर	सिरा	विशल्यघ्न	Nasal arch of the frontal vein
हृदय	१	छाती	सिरा	सद्यः प्राणहर	Heart

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः।

अथातः सिरावर्णविभक्ति[1] नाम शारीरं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके बाद सिरावर्णविभक्ति नामक शरीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

वक्तव्य—सिरावर्णविभक्तिम्—सिराणां वातादिवहानां तद्वर्णानां चारुणनीलशुक्ललोहितानां विभक्तिर्विभागः समुदायात् पृथक्करणं यस्मिन् शारीरे तत्तथाविधम् ॥ वर्ण का अर्थ गुणवर्णन, ऐसा भी होता है। हाराणचन्द्र के सुश्रुत में 'सिरावर्णनविभक्ति' ऐसा पाठ है।

सप्त सिराशतानि भवन्ति; याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः; द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः; तासां नाभिर्मूलं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥ २ ॥

भवतश्चात्र—

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम्।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति[2] समन्ततः ॥३॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ ४ ॥

सात सौ सिराएँ होती हैं। जैसे (बड़ी बड़ी) जलहारिणियों (नालियों) द्वारा उपवन का और (छोटी छोटी) क्यारियों द्वारा खेत का उपस्नेहन और परिपोषण होता है, वैसे ही इन सिराओं द्वारा आकुंचन एवं प्रसारण आदि कर्मों से इस शरीर का उपस्नेहन और परिपालन होता है। वृक्षों के पत्तों की सेवनी की तरह इनके प्रतान होते हैं। इन सिराओं का मूल नाभि है और वहाँ से ऊपर-नीचे और आस-पास ये फैलती हैं ॥ २ ॥ यहाँ पर दो श्लोक हैं—प्राणियों के शरीर में जितनी सिराएँ उत्पन्न होती हैं, वे सब नाभि से संबंध रखती हुई चारों ओर फैलती हैं ॥ ३ ॥ प्राणियों के प्राण नाभि में स्थित होते हैं और प्राणों पर नाभि आश्रित है। जैसे, पहिये का मध्य अरों से घिरा हुआ रहता है, वैसे ही सिराओं से नाभि आवृत (घिरी हुई) रहती है॥

वक्तव्य—दूसरे सूत्र में तथा उपसंहारात्मक नीचे के दो श्लोकों में सिराओं की रचना तथा कार्य की दृष्टि से संपूर्ण वर्णन संक्षेप में दिया गया है। यहाँ पर सिरा शब्द रक्तवाहिनी (Blood vessel) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसमें अर्थानुरोध से रसवाहिनी (Lymphatic vessel) का भी समावेश होता है। आराम इव जलहारिणीभिः केदार इव कुल्याभिः—पुष्प, फल, वृक्षयुक्त संपूर्ण क्षेत्रविशेष आराम या बगीचा कहलाता है। बगीचे के हर एक हिस्से में बड़ी बड़ी पक्की नालियों द्वारा कुएँ का पानी पहुँचाया जाता है, परन्तु इन नालियों से बगीचे के किसी भी वृक्ष या पौधे का उपस्नेहन या पोषण नहीं होता। इसके लिए नजदीक की पक्की नाली से पौधे तक छोटी कच्ची नाली या क्यारी बनाई जाती है, जो पौधे का उपस्नेहन से पोषण करती है। शरीर में भी बगीचे के समान शरीर के हर एक हिस्से में रक्त पहुँचाने वाली बड़ी बड़ी पक्की नालियाँ होती हैं और इन पक्की नालियों से छोटी छोटी कच्ची नालियाँ हर एक धातु के पास जाकर उसका पोषण करती हैं। इसलिए 'एतद् दृष्टान्तद्वयं स्थूलसूक्ष्मसिराप्रापणार्थम्' यह डल्हणाचार्य का वचन बहुत यथार्थ है। अब यहाँ पर आराम का जो दृष्टान्त दिया है वह एकदेशीय है, इसलिए कि कूप से पक्की नालियों द्वारा बाहर गया हुआ पानी फिर से कूप में वापस नहीं आता, परन्तु शरीर में मूलस्थान से नालियों द्वारा बाहर निकला हुआ रक्त फिर से दूसरी नालियों द्वारा मूलस्थान में वापस आता है। इसलिए बगीचे के समान शरीर में एक प्रकार की रक्त को ले जाने वाली नालियों से काम नहीं बनता; रक्त को ले जाने वाली और वापस ले आने वाली नालियों की आवश्यकता होती है। वापस लाने वाली नालियों के भी दो प्रकार होते हैं—एक प्रकार में रक्त होता है और दूसरे प्रकार में लस (Lymph) होती है। इस तरह शरीर में चार प्रकार की नालियाँ होती हैं—एक मूलस्थान से रक्त ले जाने वाली, जिसको आधुनिक परिभाषा में धमनी (Artery) कहते हैं; दूसरी रक्त वापस ले जाने वाली, जिसको आधुनिक परिभाषा में सिरा (Vein) कहते हैं; तीसरी सिरा और धमनी को जोड़ने वाली सूक्ष्म, जिसको केशिका (Capillary) कहते हैं; और चौथी लसिका को ले आने वाली, जिसको लसवाहिनी (Lymphatic vessels) कहते हैं। सिरा में यहाँ पर इन चारों का समावेश होता है। उपस्निह्यते—बगीचे में जो पक्की और बड़ी बड़ी नालियाँ होती हैं उनके द्वारा यद्यपि बगीचे के हर एक हिस्से में पानी फैलता है तथापि उनसे बगीचे के किसी पेड़ या पौधे को पानी का एक भी बूंद नहीं मिलता, क्योंकि उनकी दीवाल में से पानी बाहर नहीं जा सकता। पेड़ों का पोषण पक्की नालियों से स्थान स्थान पर जो छोटी नालियाँ या क्यारियाँ बनाई जाती हैं, उनसे होता है। इसका कारण यह है कि

१ सिरावर्णविभक्तिशारीरं. २ प्रवर्तन्ते.

उनकी दीवाल कच्ची होने के कारण पानी उनसे रिसकर चारों ओर फैलकर समीपवर्ती वनस्पतियों को मिलता है। शरीर में भी ऐसी ही व्यवस्था है। ऊपर जो चार प्रकार की नालियाँ वर्णन की गई हैं, उनमें दो नालियाँ (सिरा और लसिका-वाहिनी) अशुद्ध रक्त तथा लस का वाहन करती हैं, अतः उनके रक्तलस से शरीरपोषण का सवाल ही नहीं उठता। बाकी जो दो नालियाँ हैं, उनमें शुद्ध रक्त बहता है। अतः धातुपोषण के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इनमें धमनियाँ बगीचे की पक्की नालियों के समान हैं, जो शरीर के हर एक हिस्से में शुद्ध रक्त की रसीद पहुँचाने का काम किया करती हैं। इनकी दीवाल काफी मोटी (आगे आकुञ्चन-प्रसारणादि की टिप्पणी देखो) होती है, जिसमें से होकर रक्त बाहर नहीं जा सकता। दूसरी वाहिनी (केशिकाएँ) शरीरपोषण के काम में आती हैं। इन केशिकाओं की दीवाल अत्यन्त पतली, एकहरी, चपटी अन्तश्छदीयकोशाओं की (Single layer of flattened endothelial cells) बनती है। इन केशिकाओं में से जब रक्त बहता है, तब दीवाल पतली होने के कारण रक्त का कुछ भाग रिसकर आस-पास की धातुओं में फैलकर उनका पोषण करता है। उपस्नेहन का यही अर्थ है और यह कार्य केशिकाओं की दीवाल से रक्त के निर्यास (Exudation) से होता है। सिराओं की दीवाल भी धमनी प्राचीर से पतली होने पर भी काफी मोटी होती है, जिसके कारण उससे रक्त का निर्यास नहीं हो सकता। निदान अध्याय १ श्लोक १७ की टिप्पणी भी देखो। आकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः—इन क्रियाओं के द्वारा सिराओं की बनावट बताई गई है तथा उपस्नेहन का कारण प्रदर्शित किया गया है। धमनी, सिरा और केशिका इनकी दीवाल की मोटाई यद्यपि भिन्न भिन्न होती है तथापि प्रत्येक की दीवाल में लचकीले तन्तु (Elastic fibers) होते हैं, जिनके कारण इन नालियों में सकोच-विकास तथा स्थिति-स्थापकता का गुण आ जाता है। केशिकाओं की पतली पतली दीवारों में से रक्त का कुछ तरल भाग चूकर बाहर निकलता है और आस-पास की धातुओं का पोषण करता है क्योंकि इस तरल भाग में धातुओं के लिए आवश्यक सब खाद्यवस्तुएँ उपस्थित रहती हैं। केशिकाओं की दीवारों में से लसनिर्यास होने के लिए जैसे उनकी प्रवेश्यता (Permeability) कारण होती है, वैसे ही रक्त का निपीड भी कारण होता है। यह रक्त का निपीड जैसे हृदय-संकोच के ऊपर निर्भर होता है, वैसा ही वाहिनियों की स्थितिस्थापकता के ऊपर निर्भर होता है। संक्षेप में, सिराओं की संकोच-विकासशीलता और स्थितिस्थापकता उपस्नेहन के लिए आवश्यक होती है। द्रुमपत्रसेवनीनामिव प्रताना.—वृक्षों के पत्तों का यह दृष्टान्त समर्पक है। पत्रसेवनी प्रतानों का यदि यथार्थ चित्र देखना हो तो पानी में थोड़ी देर तक सड़ने के पश्चात् सूखे हुए पत्र को देखना चाहिए। इस प्रकार के जालीदार पत्र कई बार देखने में आते हैं। सीवन से यहाँ पर पत्रों के मध्य में होने वाली मोटी सिरा तथा उसकी मोटी शाखाएँ अभिप्रेत हैं। इन सीवनियों से छोटी छोटी शाखाएँ निकलती हैं। उनसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम इस तरह उत्तरोत्तर सूक्ष्म प्रशाखाएँ निकलकर संपूर्ण पत्र प्रतानों से व्याप्त होता है। शरीर में भी रक्त-वाहिनियों की यही स्थिति रहती है और उनके प्रतान यहाँ तक सूक्ष्म होते हैं कि वे चर्मचक्षु से नहीं दिखाई देते। प्रतानों से यहाँ पर धमनिकाओं और केशिकाओं (Arterioles and capillaries) का बोध होता है। केशिकाओं की साधारण मोटाई $\frac{1}{3000}$ इञ्च के लगभग होती है। नाभिमूलम्—यह मूल यावत्काल प्राणियों का अवस्थान माता के शरीर में होता है, तावत्काल होता है। जन्म के पश्चात् नाभि-संबद्ध सिराएँ सिकुड़ जाती हैं। अतः जन्मोत्तरकाल में सिराओं का मूल नाभि न होकर हृदय होता है। अर्थात् सुश्रुत का वर्णन गर्भकालीन है। अष्टांगहृदय और अष्टांगसंग्रह में इन सिराओं का मूल हृदय बताया है, अर्थात् वाग्भट का वर्णन जन्मोत्तरकालीन है—दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः रसात्मकं वहन्त्योजो तन्निबद्धं हि चेष्टितम्। स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत्। सिच्यते वास्ततः सप्तशतान्यासां भवन्ति तु॥ (अष्टांगहृदय ३)। दश मूलसिरा हृदयप्रतिबद्धाः सर्वाङ्गप्रत्यङ्गेभ्योजो नयन्ति। तास्तु द्व्यङ्गुलमङ्गुलमर्धाङ्गुलं यवं यवार्धं च गत्वा द्रुमपत्रसेवनीप्रतानवद्विभागाः सप्तशतानि भवन्ति। (अष्टांगसंग्रह)। ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च—सम्पूर्ण शरीर में। संभवन्ति शरीरिणाम्—इससे भी यह स्पष्ट होता है कि गर्भाशय में जब जीवात्मा का शरीर उत्पन्न होता है, उस काल की दृष्टि से नाभि सिराओं का मूल माना गया है और एक दृष्टि से यह कथन ठीक भी है क्योंकि नाभि की सिरा या नाडी से ही गर्भ का पोषण होता है और गर्भशरीर की प्रत्येक सिरा का संबंध नाभि-सिरा के साथ रहता है, जिसमें शरीरपोषक रक्त बहता है। नाभि शरीर की उत्पत्ति के समय याने प्रारंभ में सिराओं का उत्पत्तिस्थान होने के कारण जन्म के पश्चात् भी वह सिरा-प्रभव ही माना जाता है। इसलिए नाभिमर्म के वर्णन में नाभि (छठे अध्याय के ३३वें सूत्र में देखो) सिराप्रभवा बतलाई है। इसका अर्थ है जिससे शरीरोत्पत्ति के समय में सिराओं का संभव होता है, ऐसी। प्राणा—नाभिमर्म होने के कारण पिछले अध्याय के ४५वें श्लोक के आधार पर प्राणों से सोममारुतादि का ग्रहण हो सकता है, परन्तु यहाँ पर प्राणों का अधिष्ठान प्राणरूप रक्त का ग्रहण करना ही उचित है—प्राणः प्राणभृतां रक्तम्। (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३६)। तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा। युनक्ति प्राणिनं, प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते॥ (चरक, सूत्र २४)। माता के शरीर से आया हुआ पोषक रक्त अपरा में, अपरा से नाडी में, नाडी से नाभि में और नाभि से गर्भशरीर में (३ अध्याय का ३१वाँ सूत्र देखो) प्रवेश करता है। जब किसी कारण से नाभिनाडी का पीडन होता है, तब प्राणरूप रक्त के प्रवाह में बाधा उत्पन्न होने के कारण गर्भ की मृत्यु हो जाती है। चक्रनाभिरिवारकैः—यह एक कल्पनासृष्टि है, वास्तविक स्थिति नहीं है। नाभि में प्रविष्ट हुई सिरा से संपूर्ण शरीर का पोषण होता है और संपूर्ण शरीर का पोषण होने के लिए सिराओं का संपूर्ण शरीर में फैलना आवश्यक है। यह कार्य किस प्रकार से हो सकता है, इसकी कल्पना दृष्टिगम्य करने के लिए आरों का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे, पहिये के घेरे को सहारा देने के लिए नाभि के चारों ओर उससे निकले हुए अनेक

आरे होते हैं, वैसे ही शरीर का पोषण करने के लिए नाभि से चारों ओर उससे निकली हुई अनेक सिराएँ होती हैं; यही इस दृष्टान्त का तात्पर्य है। पहिये में आरों की संख्या बहुत होती है और जितनी संख्या अधिक होगी, उतनी अधिक मजबूती घेरे में आ जाती है। इन आरों की संख्या की महत्तम मर्यादा नियत होने की आवश्यकता नहीं होती; आठ, दस, बारह, पंद्रह जितने चाहें उतने आरे रख सकते हैं। परंतु अल्पतम मर्यादा नियत होना आवश्यक होता है। पहिये के घेरे का सहारा न एक आरे से हो सकता है, न दो आरों से हो सकता है। कम से कम इनकी संख्या तीन होना आवश्यक होता है। जहाँ पर अधिक भार सहन करने का सवाल नहीं आता, वहाँ पर तीन आरों से काम भली भाँति निकल आता है। बच्चों के खिलौने की मोटर-रेलगाड़ी के पहियों में अकसर तीन ही आरे होते हैं। गर्भ के नाभिचक्र के भी तीन आरे होते हैं। एक आरा ऊपर की ओर होता है और दो नीचे की ओर होते हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार ऊपर का आरा संवाहिनी सिरा (Umbilical vein) और नीचे के आरे दक्षिण और वाम संवाहिनी धमनियाँ (Left and right umbilical arteries) कहलाते हैं। ये तीनों आरे तीन दिशा से आकर नाभि में मिलते हैं और तीनों नाभि के बाहर आकर नाभिनाड़ी के घटक बनते हैं। अपरा के गार्भिक पृष्ठभाग पर सिराओं की रचना 'चक्रनाभिरिवारकैः' के समान होती है, इसलिए कुछ लोग यह वर्णन अपरा के लिए लागू करते हैं। परंतु यह अपरा का वर्णन न होकर नाभि का ही वर्णन है और उसको भी ठीक लागू हो सकता है, यह उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट मालूम होगा। तीसरे सूत्र में सिराओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। चौथे और पाँचवें श्लोक में नाभि का महत्व और वर्णन किया गया है। अब इसके बाद सिराओं का विभागशः वर्णन किया जाता है।

तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्; तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति, तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः, एवमेतानि सप्तसिराशतानि

(मूलसिरा और दोषवह सिराओं की संख्या—) इन (सात सौ शिराओं) की मूल सिराएँ चालीस हैं। इन (चालीस शिराओं) में वातवहन करने वाली दस, पित्तवहन करने वाली दस, कफवहन करने वाली दस, रक्तवहन करने वाली दस (होती हैं)। वातस्थान में होने वाली इन वातवह सिराओं की एक सौ पचहत्तर सिराएँ होती हैं; पित्तस्थान में पित्तवाहिनी सिराएँ, कफस्थान में कफवाहिनी सिराएँ, यकृत् और प्लीहा में रक्तवाहिनी सिराएँ उतनी ही (होती हैं)। इस प्रकार ये सात सिराशत (हो जाते हैं) ॥५॥

वक्तव्य—मूलसिरा—इससे वातादि विभाग की मूल सिराएँ अभिप्रेत हैं। मूल जो नाभि या हृदय, इससे चालीस सिराएँ उत्पन्न होती हैं; ऐसा इसका अभिप्राय नहीं है। वातस्थानगतानाम्—निदान के प्रथम अध्याय के १२–१८ तक के श्लोकों में वायु के स्थान दिये हैं, उन स्थानों में होने वाली सिराओं की—पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम्। स्थानं वातस्य। (अष्टांगहृदय, सूत्र १२)। पित्तस्थान, कफस्थान—पित्त और कफ के स्थान सूत्रस्थान के व्रणप्रश्न नामक एक बीसवें अध्याय के छठे और बारहवें सूत्र में वर्णन किये हैं—नाभिरामाशयः स्वेदो लसिका रुधिरं रसः। दृक्स्पर्शनं च पित्तस्य ॥ उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः। मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र १२)।

तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थ्नि पञ्चविंशतिः, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ। विशेषतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्; तासां गुदमेढ्राश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे पार्श्वयोः षट् पृष्ठे, तावत्य एव चोदरे, दश वक्षसि। एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्ध्वं, तासां चतुर्दश ग्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव जिह्वायां षट् नासिकायां, अष्टौ नेत्रयोः, एवमेतत् पञ्चसप्ततिशतं वातवहानां सिराणां व्याख्यातं भवति। एष एव विभागः शेषाणामपि। विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश कर्णयोर्द्वे; एवं रक्तवहाः कफवहाश्च। एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि ॥ ६ ॥

(दोषवह सिराओं का पृथक् पृथक् संख्यान—) इनमें एक टाँग में वातवाही सिराएँ पच्चीस होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो जाता है। कोष्ठ में विशेषतः चौतीस (सिराएँ होती हैं)। इनमें गुदा, शिश्न और श्रोणि में आठ, पार्श्वों में दो दो, पीठ में छः, उदर में उतनी ही (छः), छाती में दस। जत्रु के ऊपर एकतालीस (सिराएँ होती हैं)। उनमें ग्रीवा में चौदह, कानों में चार, जिह्वा में नौ, नासा में छः, दोनों आँखों में आठ; इस प्रकार (शाखा, कोष्ठ, और सिर में मिलाकर) एक सौ पचहत्तर वातवाही सिराओं का व्याख्यान हो जाता है। शेष (पित्त, कफ और रक्तवाही सिराओं) का यही विभाग होता है। विशेषतया (भेद इतना ही है कि) पित्तवाहिनी सिराएँ आँखों में दस और कानों में दो हैं। इसी प्रकार रक्तवह और कफवह (सिराएँ होती हैं)। इस प्रकार विभागशः सात सौ सिराएँ वर्णन की गई हैं ॥ ६ ॥

वक्तव्य—एष एव विभागः शेषाणामपि विशेषतस्तु—इस सूत्र में एक सौ पचहत्तर वातवाही सिराओं का प्रत्यङ्ग विभाग वर्णन किया है। उसी के अनुसार पित्त, कफ और रक्त इनका वहन करने वाली सिराओं का प्रत्यंग होता है। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ नेत्रों में वातवाही आठ हैं, वहाँ पित्तवाहिनी, कफवाहिनी और रक्तवाहिनी दस हैं; और जहाँ कानों में वातवाहिनी चार हैं, वहाँ पित्त-कफ-रक्तवाहिनियाँ दो दो हैं।

भवन्ति चात्र—

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम्।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥७॥

(वातवह सिराओं का प्राकृत कर्म—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ वात (शारीरिक) क्रियाओं को अप्रति-

१ वातवाहिनीनां.

हत रूप से बुद्धि के कर्मों के व्यवसायात्मक रूप से और (तन्त्र-यन्त्र धारण के लिए आवश्यक) अन्य गुणों को भी (उसी तरह अप्रतिहत रूप से) करता है ॥ ७ ॥

वक्तव्य—क्रियाणाम्—स्पन्दक्रियाणां प्रसारणाकुञ्चनादीनां, वाक्क्रियाणां भाषितादीनाम्। (डल्हण)। अर्थात् इन क्रियाओं में हस्तपादादि अवयवों के आकुञ्चन प्रसारणादि ऐच्छिक कर्म (Voluntary actions), तथा हृदयान्त्रादि अवयवों के प्रसारणाकुञ्चनादि अनैच्छिक कर्म (Involuntary) समाविष्ट होते हैं। बुद्धिकर्मणाम्—बुद्धि का स्वाभाविक कार्य व्यवसाय याने सारासार विचार करके निर्णय करना है। यह कार्य तब ठीक हो सकता है, जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन भी अपना काम ठीक करें। संक्षेप में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इनके कर्मों का समावेश बुद्धिकर्मों में होता है। अमोहम्—ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान का ठीक ठीक उपयोग करना अमोह है। इससे Clearness का अर्थ निकलता है। हाराणचन्द्र 'बुद्धिकर्मणां बुद्धिकर्मेन्द्रियाणाममोहं दुःखाभावम्' ऐसा अर्थ करते हैं। परंतु 'क्रियाणाम्' पद से कर्मेन्द्रियों का ग्रहण होने के कारण फिर से उनका ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। अमोह से 'दुःखाभाव' का अर्थ भी ठीक मालूम नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर वायु के स्वाभाविक (Physiological) कर्मों का निर्देश हो रहा है। बुद्धि की इन्द्रियों द्वारा अर्थों का ठीक ग्रहण होना, मन के द्वारा अर्थग्रहण में सहायता और उसका व्याकरण तथा बुद्धि के द्वारा उसका व्यवसाय ये इनके मोहविरहित कार्य हैं। जब ये कार्य ठीक नहीं होंगे, तब मोहयुक्त कार्य होंगे। इसमें दुःख का कोई संबंध नहीं है। (व्यवसाय और व्याकरण शब्दों के अर्थ के लिए प्रथम अध्याय के ३ सूत्र का वक्तव्य देखो)। अन्यान् गुणांश्चापि—वायु के जो अन्य गुण होते हैं, उनको भी करने वाला। इन गुणों का वर्णन निदानस्थान के नौवें श्लोक के वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३१८) 'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः' इस चरक वचन से किया गया है। इस श्लोक के तथा १४ तक के श्लोकों के अर्थ के लिए आगे सोलहवें श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

यदा तु कुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥ ८ ॥

(कुपित वातवह सिराओं के कर्म—) जब कुपित हुआ वात अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के (अस्य) विविध वातजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम्।
संसर्पत्स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान्गुणानपि ॥९॥

(प्राकृत पित्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में सञ्चार करता हुआ पित्त (शरीर में) कान्ति, अन्न में रुचि, जठराग्नि की प्रसन्नता, नीरोगता तथा अन्य गुणों को भी करता है ॥ ९ ॥

यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥ १० ॥

(कुपित पित्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ पित्त अपनी सिराओं का आश्रय करता है, तब शरीर के विविध पित्तजन्य विकार उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम्।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन् ॥११॥

(प्राकृत कफवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ कफ अंगों में चिकनाई, सन्धियों की स्थिरता, शक्ति, उत्साहशीलता तथा अन्य गुणों को करता है ॥११॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥१२॥

(कुपित कफवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ कफ अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के विविध कफजन्य विकार होते हैं ॥ १२ ॥

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिराः सञ्चरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥१३॥

(प्राकृत रक्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में सञ्चार करता हुआ रक्त धातुओं का पोषण, (शरीर का) वर्ण, स्पर्शज्ञान और अन्य गुणों को निःसंशय करता है ॥१३॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥१४॥

(कुपित रक्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ रक्त अपनी सिराओं में आता है, तब शरीर के विविध रक्तज रोग उत्पन्न होते हैं ॥१४॥

न हि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१५॥
प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रधावताम्।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१६॥

(सिराओं का सर्ववहत्व—) कोई भी सिराएँ केवल वात, पित्त अथवा कफ का वहन नहीं करतीं, अतः सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥१५॥ कुपित हुए, (स्वप्रमाण से) बढ़े हुए (शरीर में) सञ्चार करने वाले दोषों का अपना वास्तविक मार्ग छोड़कर दूसरे के मार्ग में जाना निश्चित होता है। इसलिए सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥ १६ ॥

वक्तव्य—ऊपर पाँचवें सूत्र में शरीरगत सात सौ सिराओं के वातादिवह करके चार प्रकार बताये गये हैं, तथा उसके पश्चात् के श्लोकों में प्रत्येक प्रकार की सिराओं के पृथक् पृथक् कर्म भी वर्णन किये गये हैं। इससे यह कल्पना हो जाती है कि शरीर में वातवह, पित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह चार स्वतन्त्र सिरासमूह होते हैं और प्रत्येक समूह अपना कार्य स्वतन्त्रतया करता है। इस कल्पना को दूर करने के लिए पन्द्रहवें और सोलहवें श्लोक में सिराओं का सर्ववहत्व सकारण सिद्ध किया गया है। पाश्चात्य वैद्यक में शरीरपोषण की दृष्टि से रक्त को जो महत्त्व है, वह आयुर्वेद में रस को महत्त्व है। पाश्चात्य परिभाषा में रक्त-परिभ्रमण कहते (Blood circulation) हैं, आयुर्वेद में रस-संवहन कहते हैं—हृत्स्थो रसः सर्वदेहचारी...[1] ॥ आयुर्वेद की यह कल्पना भी ठीक है। धातुओं के लिए पोषकद्रव्य रस में ही होते हैं, जिनको ग्रहण करके धातुओं का पोषण होता है। रस में लाल कण (Red blood corpuscles) मिलने पर रक्त बनता है। ये लाल कण प्राणवायु का ग्रहण करके पोषक द्रव्यों के सात्म्यीकरण में सहायता करते हैं। यह

1 हेमाद्रि—[illegible]

कार्य आयुर्वेद के अनुसार पित्त का है, इसलिए कभी कभी रक्त एक स्वतन्त्र दोप गिना जाता है और उसके गुणकर्म पित्त के समान माने जाते हैं। सूत्रस्थान के २१ वें अध्याय में तथा यहाँ पर भी रक्त का उल्लेख स्वतन्त्र दोप के तौर पर किया गया है—नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्। शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥ (सूत्र २१)। शरीर की सात सौ सिराएँ आराम की जलहारिणियों के समान रसहारिणियाँ (द्वितीय सूत्र) हैं और उन्हीं के द्वारा संपूर्ण शरीर का पोषण होता है, इस वात को कदापि भी न भूलना चाहिए। इसके पश्चात् यह वताया है कि इनमें कुछ वातवह हैं, कुछ पित्तवह हैं, कुछ कफवह हैं और कुछ रक्तवह हैं । अन्त में यह वताया है कि सव सिराएँ सर्ववह हैं। वातादिवह सिराएँ केवल अपने याने तत्तत् दोपस्थान में ही होती हैं, परंतु दोप सर्वशरीरव्यापी होते हैं—दोपधातुमलमूलो हि देहः। (अष्टांगसंग्रह) । ते व्यापिनः। (अष्टांगहृदय) । इसलिए अन्य स्थान में वे अन्यों की सिराओं में से बहते हैं, यह सिद्ध है। इससे भी सिराओं का सर्ववहत्व निश्चित है । इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि शरीर में सिराओं के द्वारा पोपक रस वहता है और उस पोपक रस रूप वाहन पर आरूढ होकर वातादि दोष संपूर्ण शरीर में भ्रमण करके अपना अपना कार्य किया करते हैं । संक्षेप में, वातादि दोषों का कार्य आधुनिक परिभाषा में जिनको रक्तवाहिनियाँ (Blood vessels) कहते हैं उन्हीं के द्वारा होता है, यह निश्चित है। अव वातादिवह सिराओं के संवंध में यह ध्यान में रखना चाहिए के जिन स्थानों में वातादि दोषों की उत्पत्ति होती है, उन स्थानों की सिराओं में उन दोपों की अधिकता होती है और 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से किंवा 'उत्कर्षापकर्षात् ग्रहणम्' इस दृष्टि से वे सिराएं वातादिवह कहलाती हैं; अर्थात् उन सिराओं में भी अन्य दोप न्यून मात्रा में उपस्थित रहते हैं। इस दृष्टि से प्राकृत और विकृत वातादिवह सिराओं का वर्णन केवल प्राकृत और विकृत वातादि दोपों के गुणों का ही वर्णन है । भेद इतना ही है कि वातादि दोष किसके ऊपर आरूढ होकर कार्य करते हैं, इसका स्पष्टीकरण यहाँ पर हो जाता है। अव सातवें श्लोक में वातवह सिराओं का वर्णन देखकर आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान (Physiology) के साथ उस श्लोक का अर्थ मिलाने की दृष्टि से वातवह सिराओं को कुछ लोग नाडियाँ (Nerves कहते हैं, परंतु वे नाडियाँ नहीं हैं, रक्तवह सिराएँ हैं । आयुर्वेद में (तान्त्रिक या वैदिक ग्रंथों का यहाँ विचार नहीं है) मस्तिष्कसंस्थान का वर्णन अंगविनिश्चय (Anatomically) की दृष्टि से कहीं भी नहीं मिलता। मस्तिष्क का जो वर्णन मिलता है (चौथे अध्याय के ३३ वें श्लोक का वक्तव्य देखो), वह अत्यंत अल्प और गौणरूप से मिलता है । परंतु मस्तिष्कसंस्थान के सव कार्यों का विवरण मिलता है और वे कार्य रक्त या रस की वाहिनियों द्वारा उनके साथ परिभ्रमण करने वाले वायु के कारण होते हैं, ऐसा माना गया है । एक दृष्टि से यह कल्पना ठीक भी है। जैसे, एक स्थान पर अधिक देर तक निश्चल वैठने से पैरों में झुनझुनी पैदा होती है। यह लक्षण नाडीगत (Nervous) है, परंतु पैरों की नाडियों को रक्त न मिलने के कारण उत्पन्न हुआ है। आयुर्वेद आधुनिक नर्वस सिस्टम (मस्तिष्कसंस्थान) के कार्यों का विवरण वातदोप से रक्त ही के द्वारा करता है । इसलिए कार्य की दृष्टि से नाडी मालूम होने पर भी उसको नाडी मानने की आवश्यकता नहीं है । जैसे—यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः । तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ॥ मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥ यहाँ पर धमनी शब्द नर्व (नाडी) वाचक मालूम होता है, परंतु वास्तव में आयुर्वेद की कल्पना के अनुसार वह सचमुच धमनी (Artery) वाचक है । इसका कुछ अधिक विवरण आगे धमनीव्याकरण अध्याय के दूसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है।

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात्।
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ॥१७॥

(वातादिवह सिराओं के लक्षण—) इन (चतुर्विध सिराओं) में वातवह सिराएँ अरुण (किञ्चित् रक्तवर्ण) और वायु से भरी हुई होती हैं; पित्त से उष्ण और नील वर्ण होती हैं; कफ से गौरवर्ण, शीतल और स्थिर होती हैं; और रक्तवह सिराएँ रक्तवर्ण, न वहुत शीतल न उष्ण होती हैं ॥ १७ ॥

वक्तव्य—यहाँ पर शरीरगत सिराओं के जो चार प्रकार वर्णन किये हैं, उनके लिए आधुनिक पारिभाषिक पर्यायशब्द निम्न प्रकार से दे सकते हैं। अरुणा सिरा—तत्र श्यावारुणाः प्रस्पन्दिन्यः सूक्ष्माः क्षणपूर्णरिक्ता वातरक्तं वहन्ति । (अष्टांगसंग्रह)। रोहिणी सिरा—समा गूढाः स्निग्धा रोहिण्यः शुद्धरक्तम् । (अष्टांगसंग्रह) । ये दोनों प्रकार धमनी या शुद्धरक्तवाहिनी (Artery) के पार्याय हैं। पित्तवह नीला सिरा वास्तविक सिरा (Vein) का पर्याय हैं और कफवह सिराओं को लसवाहिनी (Lymphatics का पर्याय समझ सकते हैं। सिराओं से नाड़ी का वोध कदापि भी नहीं हो सकता, इसका विवरण पीछे किया गया है। परंतु जो केवल अर्थ के अनुसार ही अंगविनिश्चय करना चाहते हैं, शारीरिकदृष्ट्या नहीं, वे सिराओं को स्थान स्थान पर नाडी भी कहते हैं। पं० गंगाधर शास्त्री अरुण सिराओं से स्वतन्त्र नाडियाँ (Sympathetic nerve fibres which carry on all the involu ntary vital functions) समझते हैं।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद्याः सिरा भिषक।
वैकल्यं मरणं चापि व्यधात्तासां ध्रुवं भवेत् ॥ १८ ॥
सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान्।
षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुःषष्टिं च मूर्धनि ॥ १९ ॥
शाखासु षोडश सिराः कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु।
पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमव्यध्याः परिकीर्तिताः ॥ २० ॥

(अव्यध्य सिराविभाग—) अव इसके वाद जिन सिराओं का वेध वैद्य को न करना चाहिए, उनको कहेंगे। उनके वेध से वैकल्य तथा मृत्यु निश्चय से हो जाती है ॥ १८ ॥

(प्रत्यंगसिरापरिगणन—) बुद्धिमान् वैद्य शाखाओं में चार सौ सिराओं को, कोष्ठ में एक सौ छत्तीस सिराओं को और जत्रूर्ध्व में एक सौ चौसठ सिराओं को समझे ॥ १९ ॥

हत रूप से बुद्धि के कर्मों के व्यवसायात्मक रूप से और (तन्त्र-यन्त्र धारण के लिए आवश्यक) अन्य गुणों को भी (उसी तरह अप्रतिहत रूप से) करता है ॥ ७ ॥

वक्तव्य—क्रियाणाम्—कायक्रियाणां प्रसारणाकुञ्चनादीनां, वाक्क्रियाणां भाषितादीनाम्। (डल्हण)। अर्थात् इन क्रियाओं में हस्तपादादि अवयवों के आकुञ्चन प्रसारणादि ऐच्छिक कर्म (Voluntary actions), तथा हृदयान्त्रादि अवयवों के प्रसारणाकुञ्चनादि अनैच्छिक कर्म (Involuntary) समाविष्ट होते हैं। बुद्धिकर्मणाम्—बुद्धि का स्वाभाविक कार्य व्यवसाय याने सारासार विचार करके निर्णय करना है। यह कार्य तब ठीक हो सकता है, जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन भी अपना काम ठीक करें। संक्षेप में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इनके कर्मों का समावेश बुद्धिकर्मों में होता है। अमोहम्—ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान का ठीक ठीक उपयोग करना अमोह है। इससे Clearness का अर्थ निकलता है। हाराणचन्द्र 'बुद्धिकर्मणां बुद्धिकर्मेन्द्रियाणाममोहं दुःखाभावम्' ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु 'क्रियाणाम्' पद से कर्मेन्द्रियों का ग्रहण होने के कारण फिर से उनका ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। अमोह से 'दुःखाभाव' का अर्थ भी ठीक मालूम नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर वायु के स्वाभाविक (Physiological) कर्मों का निर्देश हो रहा है। बुद्धि की इन्द्रियों द्वारा अर्थों का ठीक ग्रहण होना, मन के द्वारा अर्थग्रहण में सहायता और उसका व्याकरण तथा बुद्धि के द्वारा उसका व्यवसाय ये इनके मोहविरहित कार्य हैं। जब ये कार्य ठीक नहीं होंगे, तब मोहयुक्त कार्य होंगे। इसमें दुःख का कोई संबध नहीं है। (व्यवसाय और व्याकरण शब्दों के अर्थ के लिए प्रथम अध्याय के ३ सूत्र का वक्तव्य देखो)। अन्यान् गुणांश्चापि—वायु के जो अन्य गुण होते हैं, उनको भी करने वाला। इन गुणों का वर्णन निदानस्थान के नौवें श्लोक के वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३१८) 'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः' इस चरक वचन से किया गया है। इस श्लोक के तथा १४ तक के श्लोकों के अर्थ के लिए आगे सोलहवें श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

यदा तु कुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥ ८ ॥

(कुपित वातवह सिराओं के कर्म—) जब कुपित हुआ वात अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के (अस्य) विविध वातजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम्।
संसर्पत्स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान्गुणानपि ॥९॥

(प्राकृत पित्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ पित्त (शरीर में) कान्ति, अन्न में रुचि, जठराग्नि की प्रखरता, नीरोगता तथा अन्य गुणों को भी करता है ॥ ९ ॥

यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥ १० ॥

(कुपित पित्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ पित्त अपनी सिराओं का आश्रय करता है, तब शरीर के विविध पित्तजन्य विकार उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम्।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन्॥११॥

(प्राकृत कफवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ कफ अंगों में चिकनाई, सन्धियों की स्थिरता, शक्ति, उत्साहशीलता तथा अन्य गुणों को करता है॥११॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥१२॥

(कुपित कफवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ कफ अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के विविध कफजन्य विकार होते हैं ॥ १२ ॥

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥१३॥

(प्राकृत रक्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ रक्त धातुओं का पोषण, (शरीर का) वर्ण, स्पर्शज्ञान और अन्य गुणों को निःसंशय करता है ॥१३॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥१४॥

(कुपित रक्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ रक्त अपनी सिराओं में आता है, तब शरीर के विविध रक्तज रोग उत्पन्न होते हैं ॥१४॥

न हि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१५॥
प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रधावताम्।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१६॥

(सिराओं का सर्ववहत्व—) कोई भी सिराएँ केवल वात, पित्त अथवा कफ का वहन नहीं करतीं, अतः सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥१५॥ कुपित हुए, (स्वप्रमाण से) बढ़े हुए (शरीर में) संचार करने वाले दोषों का अपना वास्तविक मार्ग छोड़कर दूसरे के मार्ग में जाना निश्चित होता है। इसलिए सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥ १६ ॥

वक्तव्य—ऊपर पाँचवें सूत्र में शरीरगत सात सौ सिराओं के वातादिवह करके चार प्रकार बताये गये हैं, तथा उसके पश्चात् के श्लोकों में प्रत्येक प्रकार की सिराओं के पृथक् पृथक् कर्म भी वर्णन किये गये हैं। इससे यह कल्पना हो जाती है कि शरीर में वातवह, पित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह चार स्वतन्त्र सिरासमूह होते हैं और प्रत्येक समूह अपना कार्य स्वतन्त्रतया करता है। इस कल्पना को दूर करने के लिए पन्द्रहवें और सोलहवें श्लोक में सिराओं का सर्ववहत्व सकारण सिद्ध किया गया है। पाश्चात्य वैद्यक में शरीरपोषण की दृष्टि से रक्त को जो महत्त्व है, वह आयुर्वेद में रस को महत्त्व है। पाश्चात्य परिभाषा में रक्तपरिभ्रमण कहते (Blood circulation) हैं, आयुर्वेद में रससंवहन कहते हैं—कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥ आयुर्वेद की यह कल्पना भी ठीक है। धातुओं के लिए पोषकद्रव्य रस में ही होते हैं, जिनको ग्रहण करके धातुओं का पोषण होता है। रस में लाल कण (Red Blood corpuscles) मिलने पर रक्त बनता है। ये लाल कण प्राणवायु का ग्रहण करके पोषक द्रव्यों के सात्म्यीकरण में सहायता करते हैं। यह

१ दोषाणामुद्रिक्तानां

परिहरेत्. तासामेव च तालुन्येकां मृदावुद्देशे ॥३०॥

(नासा की अवेध्य सिराएँ—) नासा में चौबीस सिराएँ हैं। उनमें से नासासमीपवर्ती चार सिराओं का परिहार करे। [इ]न्हीं चौबीस में से तालु में मृदु प्रदेश में एक है (उसका परिहार करे) ॥ ३० ॥

वक्तव्य—औपनासिक्यः—नासासमीपवर्ती। इससे Angul vein and artery का बोध होता है।

अष्टत्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः, तासामेकैकामपाङ्गयोः [प]रिहरेत् ॥ ३१ ॥

(नेत्रों की अवेध्य सिराएँ—) दोनों आँखों में अठतीस [सि]राएँ होती हैं; इनमें से अपाङ्गों की एक एक सिरा का परि[हा]र करना चाहिए ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अपाङ्ग सिरा—इससे Zygomaticotemporal [ar]tery का बोध होता है।

कर्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत् ॥

(कान की अवेध्य सिराएँ—) दोनों कानों में दस सिराएँ [हो]ती हैं; इनमें से शब्दवाहिनी एक एक सिरा को बचाना चाहिए॥

वक्तव्य—शब्दवाहिनी सिरा—इससे Posterior auricul[a]r and anterior tympanic arteries का बोध होता है।

नासानेत्रगतास्तु ललाटे षष्टिः, तासां केशान्ता[नु]गताश्चतस्रः (परिहरेत्), आवर्तयोरेकैका, स्थप[न्]यां चैका परिहर्तव्या ॥ ३२ ॥

(ललाट की अवेध्य सिराएँ—) नासा और नेत्र की ही [ल]लाट में साठ सिराएँ होती हैं। उनमें से केशान्त के साथ साथ [जा]ने वाली चार, आवर्त की एक एक और स्थपनी की एक [इस] प्रकार सात) सिराओं को बचाना चाहिए ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—ललाटे षष्टिः—नासा और नेत्र की जो सिराएँ हैं, [उन्ही] में से ६० सिराएँ ललाट में आती हैं। अर्थात् इन सिराओं [की] पृथक् गणना करने की आवश्यकता नहीं है—याश्चतुर्विंशति[र्ना]सागता याश्च षट्त्रिंशन्नेत्रगतास्ता एव षष्टिर्ललाटे ज्ञातव्याः। अतो [न] पृथग्गणनीयाः। ननु नेत्रगता अष्टत्रिंशत्, तत्कथं त्रिंशन्नेत्रगता [इ]ति व्याख्याय षष्टिं पूरयति? सत्यं, यद्यपि अष्टत्रिंशन्नेत्रयोः सिरा [उ]क्तास्तथाऽपि तन्मध्ये द्वयोरपाङ्गाश्रितत्वात्तत्राभावः। अतो नेत्रगता अष्टत्रिंशदपि ललाटे पुनः षट्त्रिंशदेवेति। (डल्हण)। केशान्ता[नु]गताः—ललाट या भालप्रदेश (Forehead) की ऊपर की [ब]ालों की मर्यादा के साथ साथ जाने वाली। इनसे Supraorbital and terminations of the frontal branch of the Superficial temporal arteries and veins का ग्रहण करना चाहिए। आवर्तयोरेकैका—इससे Frontal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए। स्थपन्यां चैका—इससे Nasal branch of the frontal veins का ग्रहण करना चाहिए।

शङ्खयोर्दश, तासां शङ्खसन्धिगतानामेकैकां परिहरेत्[१] ॥ ३४ ॥

(शङ्खप्रदेश की अवेध्य सिराएँ—) शङ्खप्रदेशों में दस सिराएँ हैं। इनमें से शङ्खसंधि की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥ ३४ ॥

वक्तव्य—शङ्खसंधिगत सिरा—इससे Superficial temporal vessels का ग्रहण करना चाहिए।

द्वादश मूर्ध्नि, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैकाम्, एकामधिपताविति; एवमशस्त्रकृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्ध्वमिति ॥ ३५ ॥

(सिर की अवेध्य सिराएँ—) मस्तक में बारह सिराएँ हैं। उनमें से उत्क्षेप की दो, सीमन्तों की एक एक (पाँच) और अधिपति की एक सिरा का परिहार करना चाहिए। इस प्रकार जत्रु के ऊपर की पचास अवध्य सिराएँ हैं ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—उत्क्षेपयोर्द्वे—इससे Parietal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए। सीमन्त और अधिपति की सिराएँ—इनसे Occipital and superficial temporal की शाखा-प्रशाखाओं का ग्रहण करना चाहिए। ये रक्तवाहिनियां बहुत बड़ी नहीं होतीं, तथापि इनके कट जाने पर रक्तस्राव जल्दी बंद नहीं होता तथा इनको पकड़ना भी मुश्किल होता है। इसलिए इनका परिहार करना बहुत आवश्यक है—When making incisions into the scalp, care should be taken to avoid the main arteries. The blood vessels, when wounded, do not contract and retract freely; and therefore, the haemorrhage from scalp wounds is often very considerable. *Grey's Anatomy.*

यहाँ पर जत्रु के ऊपर की सिराओं की जो कुल संख्या बतलाई है, उससे पृथक् पृथक् अंगों की संख्या का कुल योग अधिक आता है। अष्टांगसंग्रह में दोनों का योग मिलता है। इसलिए नीचे दोनों का तुलनात्मक कोष्टक दिया गया है—

जत्रूर्ध्व सिरासंख्या का कोष्टक

प्रत्यंग नाम	सुश्रुत	अष्टांगसंग्रह
ग्रीवा	५६	२४
हनु	१६	१६
जिह्वा	३६	१६
नासा	२४	२४
नेत्र	३८	५६
कर्ण	१०	१६
सिर	१२	१२
जत्रूर्ध्व कुल संख्या	१९	१६४

शङ्खप्रदेश की सिराओं की गणना सुश्रुत के अनुसार नासा-नेत्रगत याने ललाट की सिराओं में होती है और अष्टांगसंग्रह के अनुसार कान की सिराओं में होती है—कर्णयोः षोडश, त एव च शङ्खयोः।

भवति चात्र—

व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः।
प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम् ॥ ३६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिरावर्णविभक्तिशारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

१ षट्त्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः.
२ 'इत्येता नासानेत्रगता बोद्धव्याः' इति क्वचिदधिकपाठः.

(अवध्य सिरापरिगणन—) इनमें से शाखाओं में न वेधने योग्य सोलह सिराएँ, कोष्ठ में बत्तीस और जत्रूर्ध्व में पचास होती हैं ॥ २० ॥

तत्र सिराशतमेकस्मिन् सक्थ्नि भवति; तासां जालधरा त्वेका, तिस्रश्चाभ्यन्तराः—तथोर्वीसंज्ञे द्वे, लोहिताक्षसंज्ञा चैका, एतास्त्ववध्याः, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, एवमशस्त्रकृत्याः षोडश शाखासु ॥ २१ ॥

(शाखागत अवेध्य सिराएँ—) शाखागत चार सौ सिराओं में से (तत्र) एक टाँग में सौ सिराएँ होती हैं, इनमें बाहर की जालधरा एक और अन्दर की तीन—ऊर्वी नामक दो सिराएँ और लोहिताक्ष संज्ञक एक—अवेध्य होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो गया। इस तरह (चारों) शाखाओं में सोलह सिराएँ अवेध्य हो गई हैं ॥ २१ ॥

वक्तव्य—जालधरा—टाँग में इससे दीर्घोत्ताना सिरा (Great sapheneus) का बोध होता है, और बाहु में बहिर्बाहुका सिरा (Cephalic vein) का बोध होता है। ऊर्वी और लोहिताक्ष—टाँगों में इनसे Femoral artery and vein तथा बाहुओं में Brachial artery, Basilic vein और Axillary artery and vein का बोध होता है।

द्वात्रिंशच्छ्रोण्यां, तासामष्टावशस्त्रकृत्याः—द्वे द्वे विटपयोः कटीकतरुणयोश्च ॥ २२ ॥

(श्रोणिप्रदेश की अवेध्य सिराएँ—) श्रोणिप्रदेश में बत्तीस सिराएँ होती हैं। इनमें से आठ अवेध्य हैं—विटपों की दो दो और कटीक तरुणों की दो दो ॥ २२ ॥

वक्तव्य—विटप—इससे वृषणरज्जु Spermatic cord गत सिराओं का बोध होता है। कटीकतरुण—इससे Gluteal arteries and veins का ग्रहण होता है।

अष्टावष्टावेकैकस्मिन् पार्श्वे, तासामेकैकामूर्ध्वगां परिहरेत्; पार्श्वसन्धिगते च द्वे ॥ २३ ॥

(पार्श्वों की अवेध्य सिराएँ—) एक एक पार्श्व में आठ आठ सिराएँ होती हैं। इनमें से एक एक ऊपर जाने वाली को और पार्श्वसन्धिगत दो सिराओं को भी (शस्त्रकर्म से) बचाना चाहिए ॥ २३ ॥

चतस्रो विंशतिश्च पृष्ठे पृष्ठवंशमुभयतः, तासामूर्ध्वगामिन्यौ द्वे द्वे परिहरेद्बृहती सिरे ॥ २४ ॥

(पृष्ठ की अवेध्य सिराएँ—) पृष्ठवंश के दोनों ओर पीठ में चौबीस सिराएँ हैं। इनमें से ऊपर की ओर जाने वाली बृहती नामक सिराओं का परिहार करे ॥ २४ ॥

वक्तव्य—बृहती—इससे Subscapular artery का ग्रहण करना चाहिए।

तावत्य एवोदरे, तासां मेढ्रोपरि रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे परिहरेत् ॥ २५ ॥

(उदर की अवेध्य सिराएँ—) उतनी ही (चौबीस) सिराएँ उदर में हैं। उनमें से मेढ्र के ऊपर की रोमराजि के दोनों ओर की दो दो सिराओं का परिहार करे ॥ २५ ॥

वक्तव्य—यहाँ पर शिश्न के ऊपर की जो अवेध्य सिराएँ उनसे Inferior epigastric vessels का ग्रहण करना चाहिए।

चत्वारिंशद्वक्षसि, तासां चतुर्दशाशस्त्रकृत्याः—हृदये द्वे, द्वे द्वे स्तनमूले, स्तनरोहितापलापस्तम्भेषूभयतोऽष्टौ; एवं द्वात्रिंशदशस्त्रकृत्याः पृष्ठोदरोरःसु भवन्ति ॥ २६ ॥

(छाती की अवेध्य सिराएँ—) छाती में चालीस सिराएँ होती हैं, इनमें से चौदह अवेध्य हैं—हृदय में दो, स्तनमूल में दो दो, स्तनरोहित, अपलाप, अपस्तम्भ इनके दोनों ओर आठ। इस प्रकार पीठ, उदर और छाती में बत्तीस अवेध्य सिराएँ होती हैं ॥ २६ ॥

वक्तव्य—स्तनरोहित इत्यादि—स्तनरोहितयोर्द्वे द्वे, अपलापयोरेकैका, अपस्तम्भयोरप्येकैका, एवमष्टावित्यर्थः। (डल्हण) छाती की सिराओं से Internal mammary, Intercostals lateral thoracic arteries and their branches का ग्रहण करना चाहिए। हृदय की सिराओं से हृदयसंबंधित सिराओं को न समझकर हृदयप्रदेशवर्ती सिराओं का ग्रहण करना चाहिए।

चतुःषष्टिसिराशतं जत्रुण ऊर्ध्वं भवति, तत्र षट्पञ्चाशच्छिरोधरायां, तासामष्टौ चतस्रश्च मर्मसंज्ञाः परिहरेत्, द्वे कृकाटिकयोः, द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशावध्याः ॥ २७ ॥

(ग्रीवा की अवेध्य सिराएँ—) [illegible] चौसठ सिराएँ होती हैं। इनमें से [illegible] होती हैं। उनमें से मर्मसंज्ञक [illegible] भी सिराएँ [illegible] और दो विधुर [illegible] करती। [illegible]

वक्तव्य—[illegible] ॥१२॥ [illegible] carotid a[illegible] संचार [illegible] वाले दोनों का दृष्टि से द्वे कृकाटिके [illegible] दूसरे के मार्ग में जाना [illegible] होता है। द्वे वि[illegible] कहलाती हैं ॥ १६ ॥ [illegible] ries and vein [illegible] सूत्र में शरीरगत [illegible] वर्णन

हन्वोरुभयतो [illegible] प्रकार बताये [illegible]

द्वे द्वे परिहरेत् ॥ २८ ॥ [illegible]

(हनु की अवेध्य सिराएँ—) [illegible] आठ आठ सिराएँ हैं। उनमें से सन्धियों [illegible] को छोड़ देवे ॥ २८ ॥

वक्तव्य—सन्धिधमन्यौ—इससे—Inte[illegible] arteries and veins का बोध होता है।

षट्त्रिंशज्जिह्वायां, तासामधः षोडश [illegible] रसवहे द्वे, वाग्वहे च द्वे ॥ २९ ॥

(जिह्वा की अवेध्य सिराएँ—) जिह्वा में छत्तीस सिराएँ होती हैं, इनमें नीचे की सोलह सिराओं में दो रसवहा और दो वाग्वहा अवेध्य होती हैं ॥ २९ ॥

वक्तव्य—अधः षोडशाशस्त्रकृत्या —अधः षोडशस्वशस्त्रकृत्याः। रसवहे द्वे वाग्वहे द्वे— इससे Artery profunda linguae का बोध होता है।

द्विर्द्वादश नासायां, तासामौपनासिक्यश्चतस्रः

१ लोहिताक्षसंज्ञेका २ पृष्ठे इति न पठ्यते क्वचित्।

१ तत्राष्टपञ्चाशत्

परिहरेत्. तासामेव च तालुन्येकां मृदावुद्देशे ॥३०॥

(नासा की अवेध्य सिराएँ—) नासा में चौबीस सिराएँ हैं। उनमें से नासासमीपवर्ती चार सिराओं का परिहार करे। इन्हीं चौबीस में से तालु में मृदु प्रदेश में एक है (उसका भी परिहार करे) ॥ ३० ॥

वक्तव्य—औपनासिक्यः—नासासमीपवर्ती। इससे Angular vein and artery का बोध होता है।

अष्टात्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः, तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत् ॥ ३१ ॥

(नेत्रों की अवेध्य सिराएँ—) दोनों आँखों में अठतीस सिराएँ होती हैं; इनमें से अपाङ्गों की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अपाङ्ग सिरा—इससे Zygomaticotemporal artery का बोध होता है।

कर्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत् ॥

(कान की अवेध्य सिराएँ—) दोनों कानों में दस सिराएँ होती हैं; इनमें से शब्दवाहिनी एक एक सिरा को बचाना चाहिए॥

वक्तव्य—शब्दवाहिनी सिरा—इससे Posterior auricular and anterior tympanic arteries का बोध होता है।

नासानेत्रगतास्तु ललाटे षष्टिः, तासां केशान्तानुगताश्चतस्रः (परिहरेत्), आवर्तयोरेकैका, स्थपन्यां चैका परिहर्तव्या ॥ ३२ ॥

(ललाट की अवेध्य सिराएँ—) नासा और नेत्र की ही ललाट में साठ सिराएँ होती हैं। उनमें से केशान्त के साथ साथ जाने वाली चार, आवर्त की एक एक और स्थपनी की एक (इस प्रकार सात) सिराओं को बचाना चाहिए ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—ललाटे षष्टिः—नासा और नेत्र की जो सिराएँ हैं, उनमें से ६० सिराएँ ललाट में आती हैं। अर्थात् इन सिराओं की पृथक् गणना करने की आवश्यकता नहीं है—याश्चतुर्विंशतिर्नासागता याश्च षट्त्रिंशन्नेत्रगतास्ता एव षष्टिर्ललाटे ज्ञातव्याः। अतो न पृथग्गणनीयाः। ननु नेत्रगता अष्टत्रिंशत्, तत्कथं त्रिंशन्नेत्रगता इति व्याख्याय षष्टिं पूरयति ? सत्यं, यद्यपि अष्टत्रिंशन्नेत्रयोः सिरा उक्तास्तथाऽपि तन्मध्ये द्वयोरपाङ्गाश्रितत्वात्तत्राभावः। अतो नेत्रगता अष्टत्रिंशदपि ललाटे पुनः षट्त्रिंशदेवेति। (डल्हण)। केशान्तानुगताः—ललाट या भालप्रदेश (Forehead) की ऊपर की बालों की मर्यादा के साथ साथ जाने वाली। इनसे Supraorbital and terminations of the frontal branch of the Superficial temporal arteries and veins का ग्रहण करना चाहिए। आवर्तयोरेकैका—इससे Frontal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए। स्थपन्यां चैका—इससे Nasal branch of the frontal veins का ग्रहण करना चाहिए।

शङ्खयोर्दश, तासां शङ्खसन्धिगतानामेकैकां परिहरेत् ॥ ३४ ॥

(शङ्खप्रदेश की अवेध्य सिराएँ—) शङ्खप्रदेशों में दस सिराएँ हैं। इनमें से शङ्खसंधि की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए॥ ३४ ॥

१ षट्त्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः.

२ 'इत्येता नासानेत्रगता बोद्धव्याः' इति क्वचिदधिकपाठः.

वक्तव्य—शङ्खसंधिगत सिरा—इससे Superficial temporal vessels का ग्रहण करना चाहिए।

द्वादश मूर्ध्नि, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैकाम्, एकामधिपताविति; एवमशस्त्रकृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्ध्वमिति ॥ ३५ ॥

(सिर की अवेध्य सिराएँ—) मस्तक में बारह सिराएँ हैं। उनमें से उत्क्षेप की दो, सीमन्तों की एक एक (पाँच) और अधिपति की एक सिरा का परिहार करना चाहिए। इस प्रकार जत्रु के ऊपर की पचास अवध्य सिराएँ हैं ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—उत्क्षेपयोर्द्वे—इससे Parietal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए। सीमन्त और अधिपति की सिराएँ—इनसे Occipital and superficial temporal की शाखा-प्रशाखाओं का ग्रहण करना चाहिए। ये रक्तवाहिनियाँ बहुत बड़ी नहीं होतीं, तथापि इनके कट जाने पर रक्तस्राव जल्दी बंद नहीं होता तथा इनको पकड़ना भी मुश्किल होता है। इसलिए इनका परिहार करना बहुत आवश्यक है—When making incisions into the scalp, care should be taken to avoid the main arteries. The blood vessels, when wounded, do not contract and retract freely; and therefore, the haemorrhage from scalp wounds is often very considerable. *Grey's Anatomy.*

यहाँ पर जत्रु के ऊपर की सिराओं की जो कुल संख्या बतलाई है, उससे पृथक् पृथक् अंगों की संख्या का कुल योग अधिक आता है। अष्टांगसंग्रह में दोनों का योग मिलता है। इसलिए नीचे दोनों का तुलनात्मक कोष्ठक दिया गया है—

जत्रूर्ध्व सिरासंख्या का कोष्ठक

प्रत्यंग नाम	सुश्रुत	अष्टांगसंग्रह.
ग्रीवा	५६	२४
हनु	१६	१६
जिह्वा	३६	१६
नासा	२४	२४
नेत्र	३८	५६
कर्ण	१०	१६
सिर	१२	१२
जत्रूर्ध्व कुल संख्या	१९	१६४

शङ्खप्रदेश की सिराओं की गणना सुश्रुत के अनुसार नासा-नेत्रगत याने ललाट की सिराओं में होती है और अष्टांगसंग्रह के अनुसार कान की सिराओं में होती है—कर्णयोः षोडश, त एव च शङ्खयोः।

भवति चात्र—

व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः।
प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम् ॥ ३६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिरावर्णविभक्तिशारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

कमलकन्द से विसादि (मूल) के प्रतान जैसे जल (कीचड़) में चारों ओर फैलते हैं, वैसे ही नाभि से चारों ओर सिराओं के प्रतान देह में फैलते हैं ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—रसयोगसागर में इस श्लोकगत सिरा का अर्थ नाडी (Nerve) किया गया है—इत्यत्र सिराशब्देन ज्ञानतन्तवो निर्दिष्टाः। यदि यह श्लोक किसी तन्त्रग्रंथ में होता तो सिरा का अर्थ नाडी करने में कोई विशेष आपत्ति न होती, परंतु आयुर्वेद में, और विशेष करके जिस सिलसिले में यहाँ पर श्लोक आया है, उसके अनुसार सिरा का अर्थ रक्तवाहिनी ही करना उचित है, नाडी करना उचित नहीं है। महामहोपाध्याय गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ६६) में इस श्लोकगत नाभि और सिरा का अर्थ नाडी ही करते हैं—अत्र हि शैवोक्ते पद्मे *मणिपूराख्यचक्राद् समन्तत प्रसृताः नाड्यो लक्ष्यन्ते* विसतन्तुसदृशाः, न पुन रक्तवाहिन्यः प्रणाल्य', इति स्फुटमिव सूक्ष्मदृशाम्॥ परंतु संज्ञापंचकविमर्श में धमनी-विवरण के समय इस श्लोकगत सिरा को 'रक्तप्रणाल्यः' कहते हैं—यच्च तत्रैव स्वमतरत्यार्थं—धमनीनां सुश्रुतोक्त नाभिप्रभवत्व सङ्गमयितु नाभिपदस्य मेडुला अवलगेटा सहित स्पायनल कर्ड (Medulla oblongata with spinal cord)—अर्थात् 'सशीर्षकसुषुम्नाकाण्ड' रूपार्थं पण्डितप्रकाण्डेन स्वप्रतिभया आविष्कृतः, सोऽपि विदुषासुपहासमेव कल्पयति, निर्मूलत्वादसम्भवत्वाच्च। न च तावतापि चतुर्विंशतिसङ्ख्यकधमनीनां तत्प्रभवत्वसंगतिः सुकरा, तत्प्रभवानां नाडीनां षट्सप्ततिसंख्यत्वात्। किञ्च नाभिपदस्यैतादृशार्थकल्पने सिराणामपि नाभिप्रभवत्व समानार्थमेव समर्थनीयम्। तच्चाशक्य शास्त्रिमतानुसारेणापि न विस्मर्तव्यम्। उक्तं हि—'*यावत्यस्तु सिराः काये सम्भवन्ति शरीरिणाम् । नाभ्यां सर्वा* निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥ व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः। प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम् ॥' अन्यच्च, सुश्रुते धमनीव्याकरणे मतत्रयात्रेति यत् प्राचीनवचनद्वयम्, तत्र—'यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च। धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥' प्रथमवचनं धमनीनां सुषिरत्व रसवहत्व च स्पष्टमभिधत्ते। द्वितीयवचने तु 'पञ्चेन्द्रिय पञ्चसु भावयन्ति' इत्युक्त्या सञ्ज्ञावहनाद्यर्थ एव प्रतीयते। तस्माद् धमनीसञ्ज्ञाया द्व्यर्थसमनेकार्थत्वं वा स्वीकर्तव्यम्। यच्च सुश्रुते सूत्रस्थाने धमनीनां हृदयप्रभवत्वमभिधाय शारीरे नाभिप्रभवत्वमुक्तं तद् गर्भस्थबालाभिप्रायेणेति कृत्वा समाधेयम्, न पुन सर्वाचार्यसम्मत प्रत्यक्षसिद्ध धमनीनां हृदयसम्बन्धमपह्नुत्य ॥ पृष्ठ ७०। इसके अंग्रेजी तर्जुमा में लिखते हैं—If Nabhi means Medulla oblongata and Spinal Cord in the case of Dhamani's, why should it not mean the same thing in the case of sira's also ? so the confusion seems worse confounded ! Probably the emerging of Sira's and Dhamani's through the Nabhi (Naval), mentioned in Sushruta, has been said in reference to the foetal circulation. The shastri has missed this point altogether. *Page 74* म० म० गणनाथसेन जी का द्वितीय कथन ठीक है, प्रथम कथन गलत है। क्योंकि यहाँ पर केवल अर्थ की ओर ध्यान देकर सिरा का अंगविनिश्चय करने की कोशिश की गई है, संपूर्ण आयुर्वेदशास्त्र की दृष्टि से नहीं। अंगविनिश्चय करते समय (Identification of the old anatomical terms for modern anatomical terms) संपूर्ण आयुर्वेद का विचार न करके केवल स्थानिक अर्थ का विचार किया जाय तो इस प्रकार के अनवस्था प्रसंग और विसंवाद (चौथे अध्याय के ३३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) स्थान स्थान पर उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है। इस विषय का अधिक विवरण नौवें अध्याय के दूसरे सूत्र के वक्तव्य में भी किया गया है, उसको देखो। अब इस के बाद अवेध्य सिराओं का कोष्टक दिया जाता है—

शरीर की अवेध्य सिराएँ

अंग	नाम	अँग्रेजी पारिभाषिक नाम
अधःशाखा	जालधरा	Great saphenous vein
	ऊर्वी	Femoral artery and vein
	लोहिताक्ष	,,
ऊर्ध्वशाखा	जालधरा	Cephalic vein
	ऊर्वी	Brachial vessels
	लोहिताक्ष	Axillary vessels
श्रोणी	विटप	Spermatic vessels
	कटीतरुण	Gluteal vessels
पृष्ठ	बृहती	Subscapular artery
	मेढ्रोपरि	*Inferior epigastric vessels*
वक्ष	स्तनमूलादि	Internal mammary and lateral thoracic vessels
ग्रीवा	मातृका	Carotid arteries and Jugular veins
	कृकाटिका	Occipital vessels
	विधुर	Posterior auricular vessels
हनु	हनुसंधि	Internal maxillary vessels
जिह्वा	रसवहे, वाग्वहे	Deep lingual vessels
नासा	औपनासिकी	Angular vessels
नेत्र	अपाङ्ग	*Zygomatico-temporal vessels*
कर्ण	शब्दवाहिनी	Anterior tympanic vessels
ललाट	केशान्तानुगता	Supraorbital, Superficial Temporal vessels
	आवर्त	Frontal branch of the Superficial temporal
	स्थपनी	Nasal branch of the frontal vein
	शंखसंधिगत	Superficial temporal vessels
	उत्क्षेप	Parietal branch of the Superficial temporal
	सीमन्त, अधिपति	Branches of the occipital and Superficial vessels

इति भास्करशर्मणा गोविन्दिसमतेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतसंहिताशारीरस्थाने सिरावर्णविभक्ति शारीर नाम सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातः सिराव्यधविधिशारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके बाद सिराव्यधविधि शारीर का व्याख्यान करेंगे, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥ १ ॥

बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तमद्याध्वस्त्रीकर्षितवमितविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीबकृशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडितानां च सिरां न विध्येत्, याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति ॥ २ ॥

(सिरावेध का निषेध—) बालक, वृद्ध, रूक्ष, क्षतक्षीण, डरपोक, परिश्रान्त (थका हुआ), स्त्रीसंग मद्यसेवन और प्रवास से थका हुआ, जिसे वमन हुआ है, जिसे विरेचन हुआ है, जिसे निरूहवस्ति दी गई है, जिसे अनुवासन वस्ति दी गई है, जिसने रात में जागरण किया है, नपुंसक, कृश, गर्भिणी, कास, श्वास, अतिज्वर, शोष, आक्षेपक, पक्षाघात, अनशन, तृषा, मूर्च्छा इनसे पीडितों का सिरावेध न करे; तथा अवेध्य सिराओं का, वेधन योग्य, परन्तु दिखाई न दे उनका, दीखने पर जिनका यन्त्रण न किया गया है उनका, यन्त्रण करने पर भी जो न उठी हों उनका वेध न करे ॥ २ ॥

वक्तव्य—बालस्थविरादि—ये रोगी दौर्बल्य, भीति, सुकुमारता या रोगविशेष के कारण सिरावेध का शस्त्रकर्म या तज्जन्य रक्तनाश बरदाश्त नहीं कर सकते, अतः इनके संबंध में सिरावेध न करना चाहिए। डल्हणाचार्य प्रत्येक में सिरावेध न करने का कारण अपने मतानुसार देते हैं—बालस्थविरयोरसंपूर्णधातुक्षीणत्वात् सिरां न विध्येत्। रूक्षक्षतक्षीणानां वातप्रकोपभयात् सिरां न विध्येत्। क्षत इति उरःक्षतयुक्तः, खड्गाद्यभिहतो वा, क्षीणः क्षीणधातुः, गयी तु क्षतेन क्षीणस्तस्यानिलव्याधिभयान्न विध्येदिति व्याख्याति। भीरोश्च तमोबहुलत्वाल्लोहितदर्शनेन मूर्च्छाभयान्न विध्येत्। परिश्रान्तस्य श्रमकुपितो वायुः शोणितावसेचनेनातिप्राबल्यं प्राप्य शरीरव्यापादकः स्यात्। मद्यपस्य मदविक्षिप्तचित्तस्यातिमूर्च्छाकरत्वात्, अध्वस्त्रीकर्षितस्य वातप्रकोपभयान्न विध्येत्। वान्तविरिक्तयोरक्तसंसर्जनयोरपीतस्नेहयोर्वमनविरेकान्तरमेव वातप्रकोपभयात् सिरां न विध्येत्। आस्थापितजागरितयोर्मरुत्प्रकोपभयान्न विध्येत्। अनुवासितस्य मन्देऽग्नौ भूयोऽग्निमान्द्यभयात्। क्लीबस्य प्रधानधातुक्षयेणाल्पसत्त्वेन च निश्चितविनाशत्वात्। कृशस्य गर्भिणीनां चोपक्षीणधातुत्वाद् देहसंदेहभयात्, कासश्वासशोषिणामप्यपचीयमानधातुत्वेन देहसंदेहभयान्न विध्येत्। प्रवृद्धज्वरस्यासक्तवेग प्रलापादिभयात् सिरां न विध्येत्।

बाल और वृद्धों में सिरावेध का निषेध, जैसे कि डल्हणाचार्य ने बताया है, असंपूर्ण क्षीणधातु के कारण नहीं है। ये भी आवश्यकता पड़ने पर शोणितावसेचन सहन कर सकते हैं, परन्तु सुकुमार या डरपोक होने के कारण सिरावेध का शस्त्रकर्म और रक्तदर्शन सहन नहीं कर सकते। इसलिए सूत्रस्थान के १३ वें अध्याय में लिखा है—नृपाढ्यबालस्थविरभीरुदुर्बलनारीसुकुमाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः। इसकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—अत्यसुकुमारेऽपायस्तु प्रच्छानं सिराव्यधनं च। सिरां न विध्येत्—यह निषेध साधारण परिस्थिति में किया गया है। जब विशेष परिस्थिति या विशेष कारण उत्पन्न होते हैं, तब सिरावेध के द्वारा शोणित मोक्षण कर सकते हैं—न त्वेष निषेधो विषसंसृष्टोपसर्गात्ययिकव्याधिषु। (अष्टांगसंग्रह)। जैसे, बच्चों में खाँसी, श्वासकृच्छ्र, ज्वर इत्यादि लक्षण तीव्र होते हैं, तब (Bronchopneumonia), तथा ज्वर और श्वासकृच्छ्र के साथ स्वरयन्त्र शोथ (Laryngitis) होता है, तब गले में सिरावेध करने से फायदा होता है। अथवा गर्भिणी में जब गर्भाक्षेपक या गर्भापतानक (Eclampsia प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६३ देखो) उत्पन्न होता है, तब शरीरगत विष को निकालने के लिए सिरावेध किया जाता है और उससे बहुत फायदा होता है। अथवा पक्षाघात में जब रक्त का भार अधिक रहता है, तब भी सिरावेध से रक्तमोक्षण करने पर फायदा होता है। अन्तःशल्यता या रक्त जमने के कारण (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३२५ देखो) पक्षाघात होता है, तब सिरावेध से नुकसान होता है। इसलिए पक्षाघात में कारणों के अनुसार सिरावेध का निषेध या विधि होती है। अथवा जब सर्प काटता है, तब रक्तगत विष का उत्सर्ग कराने के लिए मनुष्य निरपेक्ष दंशस्थान की सिरा का वेध किया जाता है और उससे फायदा होता है—समन्ततः सिरां विध्येद्दंशान्तु कुशलो भिषक्। रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्। तस्माद्विस्रावयेद्रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया॥ (सुश्रुत)। अथवा आक्षेपक (Convulsions) जब वृक्करोगजन्य मूत्रविषमयता (Uraemia) के कारण या मस्तिष्कगत रक्ताधिक्य के कारण उत्पन्न होते हैं, तब सिरावेध से फायदा होता है। याश्चावध्याः—किसी रोग में सिरावेध की आवश्यकता होने पर भी पिछले अध्याय में प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की जो अवेध्य सिराएँ बतलाई गई हैं, उनका वेध न करना चाहिए। याश्चादृष्टाः—जो सिराएँ दिखाई न दें, उनका वेध न करना चाहिए। सिरा दिखाई न देने के निम्न कारण होते हैं—(१) सिराएँ साधारणतया उत्तान (Superficial) होती हैं, इसलिए दिखाई देती हैं। जो गम्भीर होती हैं, वे नहीं दिखाई देतीं। इसलिए गम्भीरता प्रथम कारण है। (२) अस्थूलता—वेध के लिए साधारणतया स्थूल या मोटी सिरा प्रशस्त होती है, जो दीख पड़ती है, उठती है और यन्त्रित भी की जाती है। जो सिरा छोटी होती है, वह दीख नहीं पड़ती। (३) अभाव या स्थानान्तर—सिराओं (Veins) के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि उनका स्थान निश्चित रहता है तथापि कई बार वे अपने स्थान में न होकर इधर-उधर मिलती हैं या कई बार उनका अभाव होता है। यह स्थिति मुख्यतया उत्तान सिराओं के सम्बन्ध में होती है। इन कारणों से जब यथोक्तसिरा नहीं मिलती, तब समीपवर्ती दूसरी सिरा का ग्रहण करने के लिए वाग्भटाचार्य कहते हैं—यथोक्तानामदर्शने। मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेच्छिराम्। (अष्टांगहृदय)। दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिताः—इसका कारण आगे ३४वें श्लोक में (सिरासु शिक्षितो नास्ति) दिया गया है। ठीक यन्त्रण न करने से सिरा का उत्थान ठीक नहीं होता और उत्थान ठीक न होने से

वेधन के कर्म में कठिनाई उत्पन्न होती है, जिनसे दुष्ट व्यधन के दोष (आगे ३१वाँ सूत्र देखो) उत्पन्न होते हैं और सिरा-वेध का लाभ भी नहीं होता।

शोणितावसेकसाध्याश्च ये विकाराः प्रागभिहितास्तेषु चापक्वेष्वन्येषु चानुक्तेषु यथाभ्यासं यथान्यायं च सिरां विध्येत् ॥ ३ ॥

(सिरावेध निर्देश—) रक्तमोक्षण से साध्य होने वाले जो रोग पहले निर्दिष्ट किये गये हैं, तथा जो अन्य (शोणितावसेक साध्य) अनिर्दिष्ट रोग हैं, उनमें अपक्वावस्था में यथाभ्यास तथा यथाविधि सिरा का वेधन करे ॥ ३ ॥

वक्तव्य—प्रागभिहिता —सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के चौतीसवें श्लोक में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८९ देखो), इसके सिवा रक्तज और साध्य विकारों का निर्देश २४ वें अध्याय के १० वें सूत्र में और २५वें अध्याय के ११-१४ वें श्लोकों में किया गया है। अपक्वेषु—अनेक रोग शोथ (Inflamation) के कारण उत्पन्न होते हैं। शोथ के स्थान में हमेशा रक्ताधिक्य हो जाता है और इसी रक्त के द्वारा स्थानिक विकृति का निराकरण होता है। शोथ के दो पर्यवसान मुख्यतया होते हैं— १ उपशम Resolution), और २ पाक (Suppuration)। जब पाक बन जाता है, तब रक्तमोक्षण से कोई फायदा नहीं होता। रक्तमोक्षण से उपशम होने में सहायता होती है—वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च। अचिरोत्पतिते शोफे कुर्यात् शोणितमोक्षणम्॥ सशोफे कठिने श्यामे सरक्ते वेदनावति। सरब्धे विषमे वाऽपि व्रणे विस्रावणं हितम्॥ (सुश्रुत, चि० १)। इसलिए रोग में जब तक उपशम होने की सभावना होती है, तब तक रक्तमोक्षण का इलाज करना उचित है। रक्तमोक्षण से उपशम में सहायता होती है तथा वेदना कम होती है। इसको आधुनिक शास्त्रज्ञ भी मानते हैं। परन्तु उसके साथ रक्त का मोक्षण करने से स्थानिक प्रतिकार-शक्ति भी कुछ कम हो जाती है, ऐसी उनकी राय है। इसलिए आधुनिक चिकित्सक रक्तमोक्षण के विपक्ष में हो गये हैं। रक्तमोक्षण उसी समय किया जाता है, जब शोथजन्य रक्ताधिक्य मर्यादा से अधिक होता है और रोगी भी रक्तल (Plethoric) होता है। यथाभ्यासम्—इसके निम्न तीन अर्थ होते हैं। इनमें प्रथम अर्थ अधिक प्रशस्त मालूम होता है—(१) अभ्यास का अर्थ परम्परा, पद्धति या प्रथा (Practice), यथाभ्यास, जिस रोग में जहाँ पर सिरावेध करने की परम्परा होगी, उसके अनुसार। इस प्रकार का अर्थ निम्न वाक्य में मिलता है—वद यथाभ्यासम् अभिधीयताम्। (उत्तररामचरित)। संक्षेप में गुरूपदिष्ट मार्ग द्वारा। (२) अभ्यास—सामीप्य या निकटता, यथाभ्यास समीपवर्ती। जहाँ पर रोग होता है, उसके समीप में होने वाली सिरा—यथाभ्यासमिति यथासमीपमित्यर्थं । (डल्हण)। (३) यथाभ्यास यथासन्नम्, एतत्तु मुख्यानामदर्शनविषयम्। स्मरन्ति च—यथोक्तानामदर्शने। मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेच्छिराम। (हाराणचन्द्र)। यथान्यायम्—जैसी कि आगे व्यधन की विधि बताई गई है, उसके अनुसार। यथाविधि—न्यायस्य स्नेहस्वेदादिस्थाननिक्रमेण यथान्यायम्। (डल्हण)। हाराणचन्द्र इसका सम्बन्ध सिरा के साथ जोड़ते हैं—यथान्याय यथोचिताम्, इति तु व्यध्यायु क्वचिद्धिरायु विमृश्य व्यधनार्थम्॥

प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गात्ययिकेषु सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम् ॥ ४ ॥

(निषिद्ध रोगियों में सिरावेध के प्रयोजन—) विषोपसर्ग और आत्ययिक रोगों में (सिरावेध के लिए) निषिद्ध रोगियों का भी सिरावेध निषिद्ध नहीं है ॥ ४ ॥

वक्तव्य—विषोपसर्ग—विष का उपसर्ग होने पर। सर्पविष के उपसर्ग में सिरावेध किया जाता है, इसका विवरण २ सूत्र के *वक्तव्य में किया गया है।* इसके सिवा विषजन्य कामला (Toxic jaundice) में भी विष का नाश करने के लिए सिरावेध *किया जाता है। कामला दो प्रकार की होती है।* एक वह है, जिसमें पित्तोत्सर्ग में बाधा उत्पन्न होती है। *इसको अवरोधजन्य (Obstructive) कहते हैं।* दूसरी वह है जो संखिया, फास्फरस, क्लोरोफार्म इत्यादि विषों के सेवन से *तथा कुछ उपसर्गजन्य रोगों से उत्पन्न होती है।* इसको विषजन्य कहते हैं। अंगार एक जारेय (CO) की विषमयता में *भी सिरावेधन से रक्तमोक्षण किया जाता है।* आत्ययिक—अत्यय नाश प्रयोजन यस्य। प्राणनाशक, महाविपत्तिकर। *जैसे, गर्भिणी के आक्षेप। इसमें यद्यपि गर्भिणी सिरावेध के* लिए निषिद्ध होती है तथापि आक्षेपक में यह निषेध दूर हो *जाता है।*

तत्र स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानबाधमानो वस्त्रपट्टचर्मान्तर्वल्कललतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य यथोक्तं शस्त्रमादाय सिरां विध्येत् ॥ ५ ॥

(सिरावेधनविधि—) स्नेहन और स्वेदन किये हुए दोषविपरीत द्रवभूयिष्ठ आहार सेवन किये हुए, अथवा यवागू पिये हुए, उचित समय पर उपस्थान करके बैठे हुए या सुयन्त्रित किये हुए रोगी को शरीर (के एक) प्रदेश (को रोग के अनुसार ठीक करके उस) में वस्त्रपट्ट, चर्म (पट्ट), अन्तर्वल्कल (पट्ट), लता (प्रतान); इनमें से किसी एक से न बहुत तग न बहुत शिथिल बाँधकर उचित शस्त्र से प्राणों को बाधा न पहुचाते हुए सिरा को प्राप्त करके वेधन करे ॥ ५ ॥

वक्तव्य—स्निग्धस्विन्न—सम्यक् स्नेहन और स्वेदन से शारीरगत दोष रक्तवाहिनियों में आते हैं और सिरावेध करने पर उत्सर्ग हो जाता है। इसलिए सिरावेध के पूर्व स्नेहन और स्वेदन दिया जाता था—सम्यक् स्निग्धस्विन्नस्य पुनर्द्रवीभूता दोषा शोणितमनुप्रविष्टा सम्यक् प्रच्यवन्ते। (अष्टांग संग्रह)। अस्विन्न या अतिस्विन्न होने से रक्त का स्राव अधिक होता है—अत्युष्णेऽतिस्विन्नेऽतिप्रवर्तते। (सुश्रुत, सूत्र १४)। यथादोषप्रत्यनीकम्—शारीरिक दोष या ऋतुदोष या दोनों का प्रतीकार जिससे होगा, ऐसा आहार। संक्षेप में धातुसाम्यावस्था करने वाला। द्रवप्रायम्—द्रवभूयिष्ठ। रक्तावसेचन से शरीर का जो द्रवांश नष्ट होगा, उसकी पूर्ति करने के लिए द्रवभूयिष्ठ आहार दिया जाता है। भुक्तवन्तम्—लघुभुक्तवन्तम्। सिरावेध शस्त्रकर्म है। इससे रोगी

१ प्रतिपीतम्, २ प्राप्त शस्त्र गृहीत्वा.

को मूर्च्छा आ सकती है । उसको दूर करने के लिए रोगी को हलका आहार दिया जाता है—न मूर्च्छत्यन्नसंयोगात् ॥ यवागूं पीतवन्तम्—यवागू भी रोगी को मात्रा से पिलाना चाहिए—यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोचयेद्भिषक् । (सूत्र १४)। इस श्लोक की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—सा हि प्रायशः प्रक्लेदनात्मिका स्वेदलत्वाद् द्रवोष्णत्वाच्च शोणितं विलाययति प्रतिशब्दोऽत्र मात्रार्थः, तेन यवागूं मात्रया पीतवत इत्यर्थः ॥ उपधाप्य—बलि, मङ्गल, स्वस्त्ययनादि कराके । प्रत्येक शस्त्रकर्म के पूर्व देवतार्चन करने का प्राचीन रिवाज था । सूत्रस्थान के ५वें अग्रोपहरणीय अध्याय का ६ सूत्र देखो । आसीनम्—बिस्तरे पर या किसी आसन पर बैठा हुआ । सिरावेध के लिए बैठना यही उत्तम आसन है । रोगी को खड़ा करने से मूर्च्छा जल्दी उत्पन्न होने का डर रहता है और बिस्तरे पर लिटाने से शरीर से अधिक रक्तस्राव होने पर भी मूर्च्छा या चक्कर नहीं आता । मूर्च्छा रक्तस्राव रोकने के लिए एक सूचक लक्षण होता है । परंतु वह केवल बैठे हुए रोगी में ही योग्य सूचक होता है । स्थितं वा—किंवा यन्त्रणशाटक से सुयन्त्रित किये हुए । रोगी न हिलने पावे, इसलिए उसका यन्त्रण करने का रिवाज था । सिरावेध में प्रत्येक रोगी को सुयन्त्रित करने की आवश्यकता नहीं है । यन्त्रण दो प्रकार का होता है—सार्वदैहिक, रोगी को स्थिर करने के लिए, और स्थानिक, सिरा को उत्थित करने के लिए । स्थानिक की आवश्यकता प्रत्येक समय होती है, परंतु सार्वदैहिक की नहीं होती । स्थित से सार्वदैहिक नियन्त्रण का बोध होता है । संक्षेप में 'आसीनं स्थितं वा' का अर्थ 'सुखोपविष्टं सुयन्त्रितं वा' होता है । डल्हणाचार्य 'स्थितं' का अर्थ खड़े हुए (ऊर्ध्वीभूतम्) करते हैं । प्राणानबाधमानः—यह वैद्य का विशेषण है । अतिवेध, अवेध्य सिरावेध, मर्मवेध इत्यादि से (आगे सूत्र २१ देखो) वैद्य रोगी के प्राणों को बाधा पहुँचा सकता है । इसलिए 'मर्मादि का परिहार करके' इसका अर्थ करना उचित है । वस्त्रपट्टादि—इनका उपयोग शरीर का अंग बाँधने के लिए किया जाता है । इससे सिरागत रक्तप्रवाह बंद होकर सिरोत्थान में सहायता होती है । यह बंधन हमेशा वेधस्थान से कुछ ऊपर की ओर हृदय और वेधस्थान के बीच में होना चाहिए । नातिगाढं नातिशिथिलम्—गाढ और शिथिल का संबंध रक्तप्रवाह के साथ है । इतना तंग न होना चाहिए कि धमनीगत रक्तप्रवाह रुक जाय, तथा इतना शिथिल न होना चाहिए कि सिरागत रक्तप्रवाह जारी रहे । वस्त्रपट्ट इस प्रकार से बाँधा जाय कि धमनीगत प्रवाह में बाधा न हो परंतु सिरागत प्रवाह में बाधा पड़े । इससे सिरा में अधिकाधिक रक्त आने से और आये हुए रक्त का मार्ग अवरुद्ध होने से उसका उत्थापन भली भाँति होता है । 'नातिगाढमुत्तमाङ्गे, नातिशिथिलं शाखासु' यह डल्हणाचार्य का कथन ठीक नहीं है । यह शब्दसमूह एक ही स्थान के बन्धन के लिए प्रयुक्त हुआ है—वस्त्रादीनामन्यतमेन नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशं यन्त्रयित्वा । आसाद्य—इसका सम्बन्ध 'सिरां' के साथ है; सिरा को प्राप्त करके । यथोक्तं शस्त्रम्—सिरावेध में कुठारिका, व्रीहिमुख, आरा और वेतसपत्र इनका उपयोग होता है—कुठारिका व्रीहिमुखारावेतसपत्राणि व्यधने । (सुश्रुत, सूत्र ८)। इनमें से अस्थि के ऊपर की सिरा का वेधन करने के लिए कुठारिका और मांसल प्रदेश स्थित सिरा का वेधन करने के लिए व्रीहिमुख प्रयुक्त होता है । आगे १८ वाँ सूत्र देखो । इनमें से योग्य शस्त्र को ग्रहण करके तद्द्वारा ।

नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते ।
सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन ॥ ६ ॥

(सिरावेध के लिए अयोग्य काल—) अत्यन्त शीतकाल में, अत्यन्त उष्णकाल में, जोर से हवा चलते समय में, अभ्राच्छादित दिन में सिराओं का वेध नहीं करना चाहिए; तथा नरोग (स्थिति) में भी कदापि (न करना चाहिए) ॥६॥

वक्तव्य—नैवातिशीते इत्यादि—काल का यह नियम अनात्ययिक अवस्था के लिए है । आत्ययिक अवस्था में कृत्रिम पद्धति से शीतोष्णादि दोषों का परिहार करके सिरावेध कर सकते हैं—शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम् । कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥ (सुश्रुत, सूत्र २१)। चरक में भी लिखा है—तत्र साधारणलक्षणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निवृत्तिरितरेषु । इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखतमाश्च भवन्ति । आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन...प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनावहितः ॥ (विमान ८)। अरोगे—वमन विरेचनादि का उपयोग एकाध बार नैमित्तिक कारण से नीरोग अवस्था में कर सकते हैं, परन्तु सिरावेध का उपयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता । आगे १६ वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो ।

तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थ्नोराकुञ्चितयोर्निवेश्य[१] कूर्परौ सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटकं ग्रीवामुष्ट्योरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात्स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा ततो वैद्यो ब्रूयात्—दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं यन्त्रमावेष्टयेति, असृक्स्रावणार्थं च यन्त्रं[२] पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत्; एष उत्तमाङ्गगतानामन्तर्मुखवर्जानां सिराणां व्यधने यन्त्रणविधिः ॥ ७ ॥

(उत्तमांगसिरावेध की यन्त्रणविधि—) जिसकी सिरा का वेध करना हो, उस पुरुष को अरत्निमात्र ऊँचे आसन पर सूर्य की ओर मुख करके बैठाकर, दोनों टाँगों को सिकोड़कर, (दोनों जानु) संधियों के ऊपर कोहनियों को स्थापित करके, जिनमें अंगूठा अंदर की ओर हो ऐसी मुट्ठियाँ बांधे हुए हाथों को (ग्रीवा में) मन्याओं के ऊपर रखकर (पश्चात्) नियन्त्रण का पट्ट ग्रीवा और मुट्ठियों के ऊपर फेंककर, पीछे की ओर खड़े हुए दूसरे पुरुष से ऊँचे किये हुए बायें हाथ के द्वारा यन्त्रणशाटक के दोनों सिरों को पकड़वाकर वैद्य (पुरुष को) कहे—कि सिरा को उठाने के लिए दाहिने हाथ से यन्त्रणशाटक को न बहुत गाढ़ न बहुत शिथिल लपेटो तथा रक्तस्रावणार्थ यन्त्रणशाटक को पीठमध्य में निष्पीडन करो और व्यध्य-

---

१ सक्थ्नोराकुञ्चितयोरुपरि कूर्परसन्धिद्वयं निवेश्य २ यन्त्रं पीडयेति. पृष्ठमध्ये च पीडयेत्.

सिर पुरुष को मुख में वायु भरकर बैठाओ, मुख के अन्दर की सिराओं को छोडकर सिर की शेष सिराओं का वेध करने (के समय) की यह यन्त्रणविधि है ॥ ७ ॥

वक्तव्य—प्रत्यादित्यमुखम्—आदित्य से यहाँ पर प्रकाश से मतलब है, अर्थात् प्रकाश जिस तरफ से आता है, उस तरफ मुख करके। सुप्रकाशित मुख होने से, मुख के साथ सपूर्ण शरीर भी हो जायगा, सिरा देखने में तथा कुठारिका प्रहार करने में सहलता हो जायगी, अन्यथा इधर उधर प्रहार होने का डर रहेगा। अरत्निमात्रोच्छ्रिते—कनिष्ठाङ्गुलिप्रमित हस्तमात्रेणोच्छ्रिते। (डल्हण)। मध्याङ्गुलीकूर्परयोर्मध्ये प्रामाणिक कर। बद्धमुष्टिकरो रत्निररत्निः सकनिष्ठिकः॥ (हलायुध)। इस आसन के संबध में हाराणचन्द्र लिखते हैं कि यह बेकार है, जमीन पर रोगी को बैठाने से भी सिरावेध का काम उत्तम होता है—अरत्निमात्रोच्छ्रित इत्यकिञ्चित्करमिवावभाति, शश्वदेव भूमावुपवेश्य कर्म कुर्वाणानामस्माकं नियमेन सिद्ध्यवाप्तेः। सक्थिद्वयस्योपरि—जानुसंधिद्वयस्योपरि। अन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टि—तलसंवृताङ्गुष्ठेन पाणिना कृता मुष्टिर्यैः। इस प्रकार मुट्ठी बाँधने से मुष्टिपीडन में जोर मिलता है। वाग्भटाचार्य मुट्ठी में कुछ कपड़ा रखने के लिए कहते हैं—मुष्टिभ्यां वस्त्रगर्भाभ्याम्। अँगूठा मध्य में रखने से जो फायदा होता है, वही फायदा वस्त्र रखने से मिलता है। वायुपूर्णमुखम्—मुखद्वार बंद करके वायु से गालों को फुलाना। इसके सिवा दन्तपीडन और उत्कासन करने के लिए कहा है—दन्तप्रपीडनोत्कास गण्डाध्मानानि चाचरेत्। (अष्टाङ्गहृदय)। दन्तप्रपीडनादि कर्मों से सिरोत्थापन में सहायता होती है। उत्कासनेन कोष्ठसंरम्भेण चापूर्यन्ते सिराः। (अष्टाङ्गसंग्रह)। यन्त्रणशाटकम्—यन्त्रणवस्त्रपट्टम्।

तत्र पादव्यध्यासिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थितं स्थापयित्वाऽन्यं पादमीषत्सङ्कुचितमुच्चैः कृत्वा व्यध्यसिरपादं जानुसन्धेरधः शाटकेनावेष्ट्य हस्ताभ्यां प्रपीड्यागुल्फं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले प्लोतानामन्यतमेन बद्ध्वा वा पादसिरां विध्येत् ॥ ८ ॥

(पादसिरावेध यन्त्रणविधि—) जिसके पैर की सिरा का वेधन करना हो, उसके पाँव को समस्थान पर अच्छी तरह से स्थिर करके दूसरे पाँव को कुछ सिकोडकर ऊँचा करके सिरावेध के पाँव को जानुसंधि के नीचे (यन्त्रण) शाटक से (न बहुत ढीला न बहुत तंग) लपेटकर (नीचे के भाग को) टखने तक दोनों हाथों से पीडन करके (सिरा उठने पर उसका वेधन करे), अथवा वेध करने के स्थान से चार अंगुल ऊपर वस्त्रादि में से किसी एक से बाँधकर सिरा का वेधन करे ॥ ८ ॥

वक्तव्य—हस्ताभ्यां प्रपीड्य—हाथों से पीडन करने पर भीतर का रक्त जल्दी सिरा में आकर वह उत्थित होती है। बद्ध्वा वा—यन्त्रणशाटक लगाने के दो स्थान बताये गये हैं; एक स्थान जानुसंधि के नीचे और दूसरा व्यध्यप्रदेश से चार अंगुल ऊपर। इनमें से किसी एक स्थान में शाटक बाँधना चाहिए।

अथोपरि हस्तौ गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य पूर्ववद्यन्त्रं बद्ध्वा हस्तसिरां विध्येत् ॥ ९ ॥

(हस्तसिरावेधन यन्त्रणविधि—) सुख से बैठे हुए मनुष्य के अन्दर की ओर किये हुए अँगूठे की मुट्ठी बाँधे हुए हाथों का ऊपर उचित आसन पर स्थापित करके पहले की तरह बाँधकर हाथ की सिरा का वेधन करे ॥ ९ ॥

वक्तव्य—हस्तौ—यहाँ पर दो हाथों की कोई आवश्यकता नहीं है, जिस हाथ की सिरा का वेधन करना हो उस हाथ को मुट्ठी बाँधकर आसन पर रखने से काम होता है। इसलिए 'हस्तं गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टिं सम्यगासने स्थापयित्वा' इत्यादि परिवर्तन करने से योग्य अर्थ निकलता है। अन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टि—अँगूठा भीतर रखने से मुट्ठी बाँधने में जोर मिलता है। इसके सिवा हस्ततल मध्य के ऊपर अँगूठे का दबाव पड़ता है, जिससे वहाँ का रक्त ऊपर सिराओं में चला जाता है। मुट्ठी को कई बार दबाने का कार्य करना चाहिए। इससे सपूर्ण हाथ की पेशियों का रक्त सिराओं में, विशेषतया उत्तान सिराओं में आकर वे उत्थित होती हैं। इससे काम न हो तो हाथ में पाषाण का गोल टुकड़ा भी देने का रिवाज था—पाषाणगर्भहस्तस्य। (अष्टाङ्गहृदय)। पूर्ववत्—पाद की तरह कूर्परसंधि के नीचे या वेधस्थान के चार अंगुल ऊपर यन्त्रणशाटक से बाँधकर। अर्वाचीन हस्तसिरावेधनविधि—प्राचीनकाल की तुलना में अर्वाचीन काल में सिरावेध का उपयोग बहुत मर्यादित हुआ है। इसके लिए प्रायः हाथ की सिरा पसंद की जाती है। हाथ की सिराओं में भी कूर्पर के सामने की सिरा (Median cubital vein) अधिकतर काम में लाई जाती है। इसका एक कारण यह है कि यह बड़ी सिरा है, जिससे काफी रक्त निकल सकता है। दूसरा कारण यह है कि अन्य सिराओं के समान यह बहुत चल नहीं है क्योंकि यह सिरा स्नायुपट्टिका (Lacertus fibrosus) से कुछ बँधी हुई है, जिससे इसको थामने में सहलता होती है। सिरा को उत्थित करने के लिए कूर्परसंधि के ऊपर यन्त्रणशाटक (Bandage) बाँधा जाता है तथा हाथ में कोई लकड़ी का टुकड़ा या वस्त्रपट्ट का बेलन (Bandage Roleer) दिया जाता है। सिरावेध के समय रोगी कुर्सी पर या बिस्तरे पर बैठाया जाता है। फिर त्वचा का विशोधन करके बाएँ हाथ के अँगूठे से सिरा को स्थिर करके दायें हाथ से नश्तर द्वारा उस पर छेदन किया जाता है। सिरा से निकलने वाला रक्त एक काँच के बर्तन में इकट्ठा किया जाता है। इससे निकाले हुए रक्त की राशि मालूम होती है।

गृध्रसीविश्वाच्योः सङ्कुचितजानुकूर्परस्य ॥ १० ॥

(गृध्रसी और विश्वाची में सिरावेधविधि—) गृध्रसी और विश्वाची में जानु और कूर्पर संकुचित किये हुए (मनुष्य की सिरा का वेधन करना चाहिए) ॥ १० ॥

श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य विध्येत् ॥ ११ ॥

(पृष्ठादिगत सिरावेधविधि—) पीठ को ऊँचे और सिर को नीचे किये हुए, (अतएव) जिसकी पीठ तनी हुई है ऐसे बैठे हुए (पुरुष) की पीठ, श्रोणी और कंधे में सिरा का वेधन करे ॥

उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नामितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य ॥ १२ ॥

(उदरवक्ष की सिरावेधनविधि—) छाती को प्रसारित किये हुए, सिर को ऊँचा किये हुए और देह को फैलाये हुए (मनुष्य) की उदर और छाती का (सिरा का वेधन करे) ॥ १२ ॥

बाहुभ्यामवलम्ब्यमानदेहस्य पार्श्वयोः ॥ १३ ॥

(पार्श्वसिरावेधनविधि—) बाहुओं से लटकते हुए (पुरुष) शरीर की पार्श्व की सिरा का वेधन करे ॥ १३ ॥

अवनामितमेढ्रस्य मेढ्रे ॥ १४ ॥

(शिश्नशिरावेधविधि—) जिसका शिश्न कुछ नीचे झुकाया गया है, ऐसे (पुरुष के) मेढ्र में (सिरावेधन करे) ॥ १४ ॥

वक्तव्य—शिश्न के सिरावेधन के लिए उसका हर्षित होना याने रक्तपूर्ण होना बहुत आवश्यक है इसलिए वाग्भटाचार्य लिखते हैं—प्रहृष्टे मेढ्रे। (अष्टांगहृदय)। उन्नतमेढ्रस्य मेढ्रे। (अष्टांगसंग्रह)। प्रहृष्ट होने पर वह खड़ा हो जाता है, तब सिरावेध के समय उसको जरा दबाकर कर्म करना पड़ता है।

उन्नमितविदष्टजिह्वाग्रस्याधोजिह्वायाम् ॥ १५ ॥

(जिह्वासिरावेधविधि—) जिसकी जिह्वा का अग्र ऊपर और मोड़कर अंदर गले की ओर किया गया है, ऐसे पुरुष की जीभ के नीचे की (सिरा का वेधन करे) ॥ १५ ॥

वक्तव्य—विदष्ट—जिह्वा के अग्र को गले की तरफ लेना। इससे जिह्वा का अधोभाग स्पष्ट हो जाता है—जिह्वा विदष्टा ऊर्ध्वमुत्क्षिप्यान्तर्ग्रहणेन गले नीता। (इन्दु)।

अतिव्यात्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च ॥१६॥

(तालु और दन्तमूल सिरावेधविधि—) मुख को अत्यन्त चौड़ा खोले हुए पुरुष की तालु और दन्तमूलों की (सिरा का वेधन करे) ॥ १६ ॥

एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतून् बुद्ध्याऽवेक्ष्य शरीरवशेन व्याधिवशेन च विदध्यात् ॥ १७ ॥

(अनुक्त यन्त्रणविधि—) इस प्रकार (वैद्य अपनी) बुद्धि से सिराओं को उठाने के लिए अन्य यन्त्रणोपायों को आविष्कृत करके रोग और शरीर के अनुसार (उनको सिरावेधन के) काम में लावे ॥ १७ ॥

वक्तव्य—यन्त्रणोपाय—पट्टादि से बाँधना यही केवल यन्त्रण का अर्थ नहीं है; शरीर या अंग को फैलाना, सिकोड़ना, विस्फूर्जित करना, टेढ़ा करना इत्यादि उपाय भी यन्त्रण में समाविष्ट होते हैं। संक्षेप में, सिराओं का उत्थापन करने में सहायता करने का हर एक कर्म यन्त्रण का उपाय होता है।

मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्रं निदध्यात्, अतोऽन्येष्वर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहिमुखेन, अस्थ्नामुपरि कुठारिकया विध्येदर्धयवमात्रम् ॥१८॥

(सिरावेधन में शस्त्रपातन का प्रमाण—) मांसल प्रदेशों में यवमात्र शस्त्र घुसाना चाहिए, इससे अन्यत्र (जहाँ मांस अधिक न हो) आधे जौ के बराबर या व्रीहिमुख से व्रीहि के बराबर (वेधन करे)। हड्डियों के ऊपर कुठारिका से आधे जौ के बराबर वेधन करे ॥ १८ ॥

वक्तव्य—सिरावेध में शस्त्रपात का यहाँ पर जो प्रमाण बताया गया है, वह केवल मार्गदर्शन के लिए है। सिरावेधन में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेधन से सिरा में आर-पार छेद न हो, केवल सामने की दीवाल में हो। अन्यथा सिरासमीपवर्ती धमनी नाड़ी आदि में चोट पहुँचने का डर रहता है। आगे ३२वें सूत्र में दुष्ट सिरावेध भी देखो।

भवन्ति चात्र—

व्यभ्रे वर्षासु विध्येत(त्तु) ग्रीष्मकाले तु शीतले।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः ॥१९॥

(शस्त्रकर्म के लिए उचित काल—) वर्षाऋतु में जब बादल न हों तब, ग्रीष्मऋतु में शीतलकाल (पूर्वाह्न) में और हेमन्तऋतु में मध्याह्न में वेधन करे। शस्त्रकर्म के लिए (इन अनुचित ऋतुओं में) ये ही काल होते हैं ॥ १९ ॥

वक्तव्य—शस्त्रकर्म तथा वमनादि पंचकर्मों के लिए हमेशा प्रावट्, शरद् और वसन्त ये तीन साधारण लक्षण ऋतुचिह्नित होते हैं। वर्षा, ग्रीष्म और हेमन्त अतिशय लक्षणान्वित होने के कारण निषिद्ध माने गये हैं। परंतु आत्ययिक अवस्था में सब ऋतुओं में चिकित्सा करनी पड़ती है। उस समय किस दिन और दिन के किस समय पर काम करना चाहिए, इसका विवरण इस श्लोक में किया गया है। पीछे भी ६ श्लोक की टिप्पणी देखो।

सम्यक्शस्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक्।
मुहूर्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

(सुविद्धसिरा का लक्षण—) शस्त्र के सम्यक् प्रयोग से (विद्ध हुई) जो (सिरा) धारारूप में कुछ काल तक रक्त को स्रवती है तथा रोकने पर बंद हो जाती है, उसको सुविद्ध जानना चाहिए ॥ २० ॥

वक्तव्य—रुद्धा—शारीरिक कर्मों का या शाटक का नियन्त्रण छोड़ करके जरा सा दबाने पर। दबाने का काम प्रायः अंगुलि से किया जाता है—अंगुल्यग्रेणावपीडयेत। (सुश्रुत)।

यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका।
तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते ॥ २१ ॥

जैसे, कुसुम्भ (Carthamus Tinctorius) के फूलों (को तोड़ने) से प्रथम पीला रस बहता है, उसी प्रकार सिराओं के वेधन से प्रथम दुष्ट रक्त बहता है ॥ २१ ॥

वक्तव्य—रक्तमोक्षण से रक्तदोष तथा अन्य दोष दूर होकर स्वास्थ्य ठीक होता है, यह अनुभवसिद्ध बात है। इस अनुभव के आधार पर यह कल्पना की गई है कि जो रक्त प्रथम निकलता है, उसमें दोष होते हैं। परंतु यह कल्पना सिरावेधजन्य रक्तमोक्षण के संबंध में पूर्णतया ठीक नहीं है। सिरागत रक्त में संपूर्ण शरीर के रक्त का संबंध है—सिराऽङ्गव्यापके रक्ते। यदि रक्त में कुछ दोष हो तो प्रारंभिक और अन्तिम रक्त में एक सा होगा और जितने प्रमाण में रक्त निकाला जायगा, उतने प्रमाण में दोष भी रक्त के साथ निकल जायगा। प्रथम खराब और पश्चात् शुद्ध यह कल्पना शृंग, अलाबु और प्रच्छान इनके द्वारा निकाले जाने वाले रक्त के संबंध में ठीक है, क्योंकि वहाँ पर प्रथम स्थानिक रक्त का संबंध आता है। आगे २९ वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो।

मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृषितस्य च।
न वहन्ति सिरा विद्धास्तथाऽनुत्थितयन्त्रिताः ॥२२॥

(सिरावेधन से सम्यक् प्रवाह न होने के कारण—) बेहोश, अत्यन्त डरे हुए, थके हुए, प्यासे (मनुष्य) की सिराएँ तथा (ठीक) न उठी हुई और यन्त्रण की हुई सिराएँ विद्ध होने पर (ठीक) नहीं स्रवती हैं ॥ २२ ॥

वक्तव्य—न वहन्ति—अल्पमात्रा में रक्त निकलता है या नहीं निकलता—शोणितं न स्रवति, अल्पं वा स्रवति।

(सूत्र, १४)। इसके कारण मूर्च्छादि हैं । इन कारणों से सिरागत रक्तप्रवाह क्यों बंद हो जाता है ? इसका यथार्थ ज्ञान होने के लिए शरीरगत रक्त की राशि का रक्तवाहिनियों में और शरीर के विविध अंगों में किस प्रमाण में विभजन होता है, इसका विवरण करना आवश्यक है। रक्तवहसंस्थान के हृदय, धमनियाँ, धमनिकाएँ (Arterioles) और केशिकाएँ (Capillaries), तथा सिराएँ करके चार अंग होते हैं । हृदय से निकला हुआ रक्त धमनियों में, धमनियों से धमनिकाओं और केशिकाओं में, और केशिकाओं से सिराओं में आकर फिर से हृदय में प्रविष्ट होता है। (१) सिराएँ और धमनियाँ काफी मोटी मोटी होती हैं। धमनिकाएँ और केशिकाएँ अत्यंत छोटी होती हैं। परंतु इनकी सख्या अगणित होने के कारण इनकी समाई बहुत अधिक हो जाती है। एक शास्त्रज्ञ ने यह अनुमान किया है कि शरीर की संपूर्ण केशिकाओं का व्यत्यस्त क्षेत्रफल (Cross section area) महाधमनी (Aorta) के क्षेत्रफल से आठ सौ गुना के लगभग अधिक होता है । दूसरे शास्त्रज्ञ का कथन है कि यदि सारी केशिकाएँ एक रेखा में लगाई जायँ तो उनकी लम्बाई पृथ्वी के घेरे से कई गुना अधिक हो जाती है । कहने का तात्पर्य यह है कि केशिकाएँ अत्यन्त छोटी होने पर भी उनकी समाई बहुत अधिक होती है। (२) धमन्यादि रक्तवाहिनियों के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनमें सकोच और विस्फार हो सकता है और इसका नियन्त्रण एक वाहिनीप्रेरक विशेष केन्द्र (Vasomotor centre) के द्वारा और स्वतन्त्र नाडीसंस्थान (Autonomous Nervous system) के वाहिनीप्रेरक नाडियों से (Vasomoter Nerves) होता है। यह संकोच-विस्फार धमनियों और सिराओं से केशिकाओं में अधिक हो सकता है। (३) शरीर की संपूर्ण केशिकाएँ एक समय में विस्फारित नहीं रहतीं; शरीर के जिस अंग में कार्य होता है, उस अंग की केशिकाएँ विस्फारित होती हैं और शेष अंगों की कुछ सकुचित हो जाती हैं । (४) यद्यपि संपूर्ण शरीर में केशिकाएँ होती हैं, तथापि पचनसंस्थान में उनकी बहुत अधिकता होती है। इस विभाग को औदरिक (Splanchnic) कहते हैं। इस विभाग की केशिकाएँ विस्फारित होने पर उनमें संपूर्ण शरीर के रक्त का तिहाई अंश फँस जाता है । इस श्लोक के अर्थ की दृष्टि से निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ—केशिकाओं से रक्त सिराओं में आता है; शरीर की संपूर्ण केशिकाओं की समाई बहुत होती है। यदि यह सारी की सारी या केवल औदरिक विभाग की विस्फारित हो जायँ तो ये संपूर्ण शरीर का रक्त अपने में स्पंज की भाँति सोख ले सकती हैं। ये जब विस्फारित होती हैं, तब इनकी समाई बढ़ने के कारण तथा इनके भीतर रक्तनिपीड (Blood pressure) कम होने के कारण सिराओं में रक्त नहीं आ सकता, जिससे वह रक्तहीन अतएव निपतित (Collapsed) हो जाती हैं और बन्धन करने पर भी रक्त न आने के कारण वे उत्थित नहीं हो सकतीं। मूर्च्छित—मूर्च्छा के कारणों का और संप्राप्ति का कुछ विवरण पीछे एक अध्याय के चौबीसवें सूत्र के वक्तव्य में किया है। इससे मालूम होगा कि मस्तिष्केतर अंगों में, विशेषतया उदरविभाग में, केशिकाओं का अभिस्तारण और उसी के कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी यह मूर्च्छा की संप्राप्ति है। केशिकाओं का अभिस्तारण मूर्च्छा के कारणों का परिणाम वाहिनियों के प्रेरक केन्द्र के ऊपर होने से होता है। सिरावेध करने से पहले यदि रोगी मूर्च्छित हो, या सिरावेध के समय रोगी मूर्च्छित हो जाय तो सिरावेध से रक्त नहीं निकल सकता, क्योंकि संपूर्ण शरीर का रक्त केशिकाओं में फँस जाता है तथा जिन केशिकाओं का रक्त विद्ध सिरा में आता है, वे केशिकाएँ भी विस्फारित होती हैं और रक्त को अपने भीतर रख लेती हैं। अतिभीतस्य—भीति का परिणाम मस्तिष्कगत वाहिनीप्रेरक केन्द्र के ऊपर होकर वह कर्महीन हो जाता है, जिससे शरीर की केशिकाएँ विस्फारित हो जाती हैं और सिरा को रक्त नहीं मिलता। डल्हणाचार्य के 'अतिभीतादिष्वतिभयादिजनितवातेन सिरामुखनिरोधात्' वचन का अर्थ इसी दृष्टि से करना चाहिए। श्रान्त– परिश्रम के कारण थके हुए मनुष्य का अधिकांश रक्त पेशियों में फँसा रहता है, जिससे सिरा में बहुत कम रक्त आता है। तृषित—तृषा शरीरगत जलांश की कमी की सूचक होती है। जब शरीर में जलांश कम होता है, तब सिराएँ भी ठीक नहीं उठतीं तथा वेध करने पर उससे ठीक स्राव नहीं होता । सिरावेध के पूर्व द्रवभूयिष्ठ आहार देने का यही कारण है । अतिभीतस्य—अति शब्द का संबंध भीत के समान श्रान्त और तृषित के साथ भी लेना चाहिए । इन बातों का उल्लेख सूत्रस्थान के शोणितवर्णनीय अध्याय में (प्रथम खण्ड) पहले किया जा चुका है।

क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छयाऽभिहतस्य च ।
भूयोऽपराह्णे विस्राव्या साऽपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा ॥२३॥

(पुनर्वेधन के लिए कारण और काल—) दुर्बल, अधिक दोषयुक्त और मूर्च्छा से आक्रान्त (मनुष्य) की सिरा फिर से अपराह्ण में, दूसरे दिन या तीसरे दिन खोलनी चाहिए ॥ २३ ॥

वक्तव्य—क्षीणस्य—दुर्बल मनुष्य से एक समय में अधिक रक्त का निर्हरण नहीं कर सकते हैं, इसलिए दो तीन बार करके उसमें रक्त निकालना चाहिए। बहुदोषस्य—एक समय निकाले हुए रक्त में शरीर से जितना दोष निकल जाना चाहिए, उतना नहीं निकल सकता। इसलिए अनेक बार करके अधिकदोषयुक्त रोगी का रक्त निकालना चाहिए—मूर्च्छयाऽभिहतस्य—रोगी दुर्बल और बहुदोषयुक्त न होने पर भी कई बार रक्त को देखकर मूर्च्छित हो जाते हैं। मूर्च्छा रक्तविस्रावण के समय का एक उपद्रव है। यह उपद्रव अधिकतर मनःक्षोभविशेष के कारण ही उत्पन्न होता है—तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः । (सुश्रुत)। इसलिए 'मूर्च्छयाऽभिहतस्य' का अर्थ है 'रक्तविस्रावण के समय याने रक्तस्रावण के बीच में जिसको मूर्च्छा उत्पन्न हुई है, उसकी सिरा'। रक्तविस्रावण के बीच में अगर मूर्च्छा उत्पन्न हो जाय तो रक्तविस्रावण बन्द करके रोगी की मूर्च्छा शीतल जलादि के प्रयोग से दूर करने की कोशिश करनी चाहिए—यस्य तु स्रवति रक्ते मूर्च्छा भवति तस्य विमुच्य दर्भं शीतजलसमाश्वासितस्य अवगाहनादिना भोजनेन च समाश्वासयेत् । (अष्टांगसंग्रह)। वास्तव में मूर्च्छा उत्पन्न होने

के पूर्वरूप मालूम हो जाय तो विस्रावण बन्द करना चाहिए। प्रकृतिवैशिष्ट्य के अतिरिक्त अत्यधिक रक्तस्राव से भी मूर्च्छा उत्पन्न होती है। मूर्च्छा में, मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है। प्रकृतिवैशिष्ट्यजन्य मूर्च्छा में वाहिनीप्रेरक केन्द्र के अस्थैर्य से मस्तिष्केतर भागों में रक्त इकट्ठा होने से मूर्च्छा होती है और अतिस्रावजन्य मूर्च्छा में वास्तव में शरीर में रक्त की कमी होने से मस्तिष्क में भी होती है। सिरावेधन के समय रोगी को खड़ा रखने से रक्त की उचित राशि निकलने से पूर्व मस्तिष्क के ऊँचे स्थान के कारण उसमें जल्दी रक्त की कमी होकर मूर्च्छा आती है। लेटे हुए आसन में सिर हृदय के समतल होने से अधिक रक्त की राशि निकालने पर भी रोगी को जल्दी मूर्च्छा नहीं आती। इसलिए सिरावेधन के लिए बैठने का आसन उत्तम होता है। साऽपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा— इनके अतिरिक्त पक्ष के या मास के बाद भी फिर विस्रावण कर सकते हैं—स्नेहोपस्कृतदेहस्य पक्षाद्वा भृशदूषितम्। (अष्टांगहृदय)। मासमात्रं वा स्नेहादिभिरुपचर्य पुनर्विध्येत्। (अष्टांगसंग्रह)।

रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः।
न चातिप्रस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत् ॥ २४ ॥

(रक्तविस्रावण में कुछ दोष शेष रहने का महत्त्व—) बुद्धिमान् वैद्य रक्त को कुछ दोषयुक्त रक्खे, परन्तु उसको अतिस्रावित न करे, (और जो कुछ भी) शेष (रहे, उस) को संशमन (ओषधियों) द्वारा निवारण करे ॥ २४ ॥

वक्तव्य—सशेषं दोषं कुर्यात्—शरीर में इकट्ठे हुए दोषों को निःशेष करना यह चिकित्सा का उद्देश्य होता है। जब तक दोष शरीर में शेष रहते हैं, तब तक रोग का पूर्ण निर्मूलन नहीं होता तथा रोगी भी पूर्णतया रोग से निर्मुक्त नहीं कहा जा सकता। रोगों की चिकित्सा ओषधियों द्वारा तथा शस्त्रप्रणिधान द्वारा की जाती है—शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति—अन्तःपरिमार्जनं, बहिःपरिमार्जनं, शस्त्रप्रणिधानं चेति। (चरक, सूत्र ११)। ओषधियों की विशेषता यह होती है कि उन्हीं के द्वारा शरीरगत दोषों की पूर्ण निःशेषता होती है, परन्तु यदि दोषों की राशि अधिक हो तो समय अधिक लग जाता है। शस्त्रकर्म की विशेषता यह होती है, उसके द्वारा थोड़े समय में शरीरगत अधिकांश दोष शरीर के बाहर निकाले जा सकते हैं और इसी दृष्टि से प्रथम अध्याय में लिखा है—अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकममिमतमाशुक्रियाकरणात्। (सूत्रस्थान)। परन्तु इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शस्त्रकर्म के द्वारा दोषों की निःशेषता नहीं हो सकती। ओषधि और शस्त्रकर्म के भेद के स्पष्टीकरणार्थ यहाँ पर दो उदाहरण दिये जाते हैं—यदि शरीर में कहीं विद्रधि हुई हो तो उपनाहप्रलेप के द्वारा वह विदीर्ण होकर ठीक हो जायगी, परन्तु इसके लिए अधिक समय लगेगा। यदि शस्त्र से चीरा लगाया जाय तो चीरा देते ही विद्रधि के अधिकांश दोष चले जायँगे, परन्तु निःशेषता नहीं होगी। इसके लिए फिर भी ओषधियों का प्रयोग करना पड़ेगा। केवल ओषधिचिकित्सा की अपेक्षा शस्त्रकर्म और ओषधि की संयुक्त चिकित्सा विद्रधि को थोड़े काल में ठीक कर देगी। वैसा ही, जलोदर में अनुभव आता है। केवल ओषधि की अपेक्षा शस्त्रकर्म से जल निकाल देने पर ओषधिचिकित्सा करने से जलोदर थोड़े समय में ठीक हो जाता है। संक्षेप में, जहाँ शक्य हो वहाँ पर शस्त्रकर्म के द्वारा अधिकांश दोषों को निकालकर ओषधियों के द्वारा दोषों को निःशेष करना उचित है। विस्राव्य रोगों की चिकित्सा भी इसी साधारण तत्त्व पर करनी चाहिए। यदि केवल विस्रावण के द्वारा निःशेषता करनी हो तो रक्त की अत्यधिक राशि निकालनी पड़ेगी। रक्त शरीर का मूल और प्राणों में से एक प्राण है—देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते ॥ दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः। शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥ (चरक, सूत्र २९)। इसलिए यदि दोषों की निःशेषता उत्पन्न करने के लिए रक्त अत्यधिक राशि में निकाला जाय तो दोष निःशेष जरूर हो जायँगे, परन्तु उसके साथ शरीर भी निष्प्राण हो जायगा। इसलिए लिखते हैं—न चातिप्रस्रुतं कुर्यात्। अष्टांगहृदय में वाग्भटाचार्य लिखते हैं—अतिस्रुतौ हि मृत्युः स्याद्दारुणा वा चलामयाः। शेषं संशमनैर्जयेत्—सिरावेध करके रक्त के द्वारा अधिकांश दोषों का शोधन होने के पश्चात् जो अंश शरीर में शेष रहता है, उससे फिर रोग उत्पन्न होने का डर नहीं रहता। वे कमजोर हो जाते हैं और उनका नाश संशामक ओषधियों द्वारा धीरे धीरे कर सकते हैं—किञ्चिद्धि शेषे दुष्टास्रे नैव रोगोऽतिवर्तते। सशेषमप्यतो धार्यं न चातिस्रुतमाचरेत् ॥ (अष्टांगहृदय)। फिर जो शेष दोष रहते हैं, उनका संशमन विरेचन, उपवास, शीतोपचार, स्निग्धमधुरादि भोजन इत्यादि से करना चाहिए—ततोऽपि शेषं सर्वथाप्य विस्राव्य रक्तस्य शीतसेकप्रदेहविरेकोपवासस्निग्धमधुरान्नपानैः प्रसादयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। ये जो शीतसेकादि उपचार शेष दोषसंशमनार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं, वे ही अविस्राव्य रोगियों में, जैसे गर्भिणी, अल्पदोषयुक्त अवस्था में प्रयुक्त करने चाहिएँ—अविस्राव्यरक्तस्य गर्भिण्यादेरेवमेव प्रसादयेत्। (इन्दु)।

बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे ॥ २५ ॥

(सिरावेध में रक्त निकालने का परम प्रमाण—) बलवान्, अधिक दोषयुक्त, युवा मनुष्य के रक्तमोक्षण में (आचार्य रक्तराशि का) अधिक से अधिक परिमाण एक प्रस्थ पसंद करते हैं ॥ २५ ॥

वक्तव्य—वयःस्थ—इससे यद्यपि सर्वावस्था का बोध होता है तथापि यह शब्द कई बार यौवनावस्था के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ पर भी इसका अर्थ जवान मनुष्य है। अष्टांगहृदय में इस शब्द का प्रयोग मिलता है—मांसं सद्योहतं शुद्धं वयःस्थं च भजेत्। (सूत्रस्थान ६)। इस श्लोक की टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—तथा वयसि तिष्ठतीति वयःस्थम्। यद्यपि सर्वं मांसं वयःस्थमेव तथाऽपीह वयःस्थमित्युक्त्या शोभनं तरुणं वय इति शस्यते। तस्माद्यूनः प्राणिनो मांसं भजेन्न बालवृद्धयोरिति ॥ शरीरिणः—मनुष्यस्य। प्रस्थम्—रक्तमोक्षण में रक्तनिर्हरण की चरम सीमा इससे बताई गई है। वास्तव में १६ पलों का प्रस्थ होता है, परन्तु रक्तमोक्षण में १३॥ पलों का प्रस्थ माना जाता है—वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ इसके अनुसार रक्तमोक्षण की परम राशि ५४ तोले की होती है। इसका

मतलब यह है कि आवश्यकता पड़ने पर बलवान् जवान मनुष्य की सिरा से चौवन तोले रक्त निकाल सकते हैं। प्रत्येक रोग और रोगी में इतना रक्त निकालने की आवश्यकता नहीं है। किसी में दो तोले से, किसी में चार तोले से, किसी में आठ तोले से काम हो सकता है। रक्त की राशि रोग और रोगी का बलाबल देखकर निश्चित करनी चाहिए। बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्धया रुधिरस्य वा। रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराशयं प्रसमीक्ष्य वा॥ (१९ चरक, सूत्र २४)। यहाँ पर रक्तराशि का जो पर प्रमाण बतलाया है, वह कुछ लोगों को आधुनिक काल में अधिक मालूम होता है— बलिन इति। अत्र वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः॥ इति स्थितेऽपि बहुशोऽभिवीक्ष्य बलवत्त्वादिधर्मवतामिदानीं द्विपलमेव पर प्रमाणमित्यध्यवस्याम। (हाराणचन्द्र)। परन्तु वास्तव में यह प्रमाण बहुत ठीक है। आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में यद्यपि बहुत नहीं तथापि कई रोगों में सिरावेध काम में लाया जाता है और वहाँ पर प्रत्येक समय रक्त की राशि भी बताई जाती है। चिरकालीन हृद्रोग में २०-३० औंस (५०-७५ तोले) तक रक्त निकालने के लिए बतलाया है—The withdrawal of blood to the extent of 20 or 30 ounces by a cut into the median basilic vein relieves the distress by diminishing the blood flow to the heart *Taylor's Practice of Medicine* A good quantity of blood occasionally even up to 20 or 30 ounces should be withdrawn *Practice of Medicine by F W. Price*

पश्चात्कर्म—सिरावेध करने पर रक्त इकट्ठा करने के लिए वेधस्थान के नीचे कोई पात्र रखना चाहिए, जिससे निकाले हुए रक्त की राशि निश्चित करने में सुविधा होती है। उचित राशि में रक्त निकालने पर सिरामुख को अँगूठे से दबाकर और बन्धन खोड़कर, तैल में भिगोये हुए कपड़े की पट्टी उस पर रखकर बाँधना चाहिए और कुछ रोज तक सिरावेध के अंग को आराम से रखना चाहिए तथा रोगी को अग्निदीपक सुपाच्य आहार तथा पथ्यकर विहार सेवन करना चाहिए—च। स्रुतरक्तस्य व्यधमनुलोमङ्गुष्ठेनोपरुध्य यन्त्रं शनैर्यन्त्रमपनीयाश्वासयेत्। सतैलं च प्लोतं सिरामुखे दत्त्वा बध्नीयात्। सवेदयेच्चैनम्। उन्मार्गगा यन्त्रनिपीडनेन स्वस्थानमायान्ति पुनर्न यावत्। दोषा प्रदुष्टा रुधिरं प्रपन्नास्तावद्धिताहारविहारभाक् स्यात्॥ नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्। तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृगग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३६)।

अब इसके बाद रोगानुसार सिरावेध के स्थान बतलाये जाते हैं

तत्र पाददाहपादहर्षाववाहुकचिप्पविसर्पवातशोणितवातकण्टकविचर्चिकापाददारीप्रभृतिषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्टाद्व्यङ्गुले व्रीहिमुखेन सिरां विध्येत्, श्लीपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते, क्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातवेदनासु जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले, अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद् द्व्यङ्गुले, जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले गृध्रस्याम्, ऊरुमूलसंश्रितां गलगण्डे, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ॥ २६॥

(रोगानुसार शाखाओं की वेध्य सिराएँ—) पाददाह, पादहर्ष, अववाहुक, चिप्प, विसर्प, वातरक्त, वातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी, प्रभृति (रोगों) में क्षिप्रमर्म से ऊपर दो अंगुल व्रीहिमुख से सिरावेध करे। श्लीपद में उसकी चिकित्सा में जैसा कहा जायगा (वैसा करे)। क्रोष्टुकशिर, खञ्ज, पङ्गुल, वातवेदनाओं में गुल्फ के ऊपर चार अंगुल जङ्घा में (व्रीहिमुख से सिरावेध करे)। अपची में इन्द्रवस्ति से दो अङ्गुल नीचे (सिरावेध करे)। गृध्रसी में जानुसन्धि से दो अङ्गुल ऊपर वा नीचे (सिरावेध करे)। गलगण्ड में ऊरुमूल में स्थित सिरा का (वेधन करे)। इसी से दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं की (रोगानुसार वेध्य सिराओं की) व्याख्या हो जाती है॥२६॥

वक्तव्य—यहाँ पर जो अनेक रोग निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमें पाददाह, पादहर्ष, अववाहुक, वातशोणित, वातकण्टक, क्रोष्टुकशिर, खञ्ज, पङ्गु, गृध्रसी ये वातरोग हैं जिनका वर्णन निदान के प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। पाददारी, विचर्चिका और चिप्प क्षुद्ररोग हैं, जिनका वर्णन निदान के तेरहवें अध्याय में किया गया है। अपची और गलगण्ड का वर्णन निदान के ग्यारहवें अध्याय में और विसर्प का दसवें अध्याय में किया गया है। वातवेदना—शाखाओं में होने वाली वातजन्य विविध वेदनाएँ। इसमें आधुनिक वातनाडीशूल (Neuralgias) और वातनाडीशोथ (Neuritis) का समावेश कर सकते हैं। पाददाह पादहर्ष—इससे हस्तदाह और हस्तहर्ष का भी बोध हो सकता है—Hot or itching hands and feet, *Paraesthesia* of the hands and feet अववाहुक—हाराणचन्द्र के पाठ में अववाहुक नहीं है। वे लिखते हैं—केनचिदत्राववाहुकोऽपि पठ्यते, तन्न समीचीनं, प्रतिकारविधावस्य व्यधने जिज्ञासितत्वात्॥ इस विषय का विवरण बालव्याधिचिकित्सा में किया जायगा। पाददाहादि रोगों में Dorsal venous arch में वेध होता है, क्रोष्टुकशीर्षादि रोग, अपची में Small saphenous vein में वेध होता है।

विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीहि कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा, एवं दक्षिणबाहौ यकृद्दाल्ये (कफोदरे च,) एतामेव च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति, गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम् २७

(बाहु के विशेष सिरावेध—) विशेष करके प्लीहा (वृद्धि) में वामबाहु के मध्य में कूर्परसन्धि के भीतर अथवा कनिष्ठिका और अनामिका (अङ्गुलियों) के मध्य में सिरावेध करे। इसी प्रकार यकृद्दाल्य में दक्षिणबाहु में कूर्परसन्धि पर अथवा कनिष्ठिका अनामिका के मध्य में सिरावेध करे। कासश्वास में (कई आचार्य) इन्हीं का वेध करने को कहते हैं। विश्वाची में गृध्रसी के समान कूर्परसन्धि के ऊपर या नीचे चार अङ्गुल प्रदेश में वेध करना चाहिए॥ २७॥

वक्तव्य—कूर्परसन्धेरभ्यन्तरत—कोहनी के सामने वाली सिरा Median cubital vein। प्लीहि—प्लीहोदर में। आयुर्वेद में प्लीहा का यही एक रोग मिलता है, अर्थात् प्लीहोदर के जो कारणभूत रोग होते हैं, उनमें जब प्लीहा वृद्धि होगी, तब उन रोगों में भी सिरावेध करना चाहिए।

१ यकृद्दाल्ये

कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये—इससे First dorsal metacarpal vein का बोध होता है। कफोदरे च—इसके सम्बन्ध में हाराणचन्द्र लिखते हैं—अत्र यकृदाख्ये कफोदरे च इत्यनाकरः पाठः कफोदरे सिराव्यधस्यानुपयोगात् ॥ कासश्वासयोः—हृद्रोग और फुफ्फुसरोगजन्य कास–श्वास में सिरावेध से फायदा होता है। प्लीहोदर और यकृतोदर में जिस कूर्परसन्धेरभ्यन्तर सिरा का वेध करने के लिए कहा गया है; आधुनिक काल में जब सिरावेध की आवश्यकता होती है, तब रोगनिरपेक्ष प्रायः इसी सिरा का वेध किया जाता है। कास–श्वास के अतिरिक्त अन्तर्विद्रधि में भी इसी सिरा का वेध कुछ आचार्य कहते हैं—रक्तपित्तानिलोत्थेषु केचिद्वाहौ वदन्ति तु। (सुश्रुत, चिकित्सा १६)। ज्वर और विषम ज्वर में भी इसी का वेध होता है। २९ वें सूत्र का वक्तव्य देखो।

श्रोणिं प्रति समन्ताद् द्व्यङ्गुले प्रवाहिकायां शूलिन्यां परिवर्तिकोपदंशशूकदोषशुक्रव्यापत्सु मेढ्रमध्ये, (वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां, नाभेरधश्चतुरङ्गुले सेवन्यां वामपार्श्वे दकोदरे,) वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रधौ पार्श्वशूले च बाहुशोषावबाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे, त्रिकसन्धिमध्यगतां तृतीयके, अधःस्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके ॥२८॥

(रोगानुसार पीठ और वक्ष के सिरावेध स्थान—) शूलयुक्त प्रवाहिका में श्रोणी से आस पास दो अंगुल पर सिरावेध करे। परिवर्तिका, उपदंश, शूकदोष और शुक्रदोषों में शिश्न के मध्य में (सिरावेध करे)। मूत्रवृद्धि में, वृषण के पार्श्व में, और जलोदर में नाभि से नीचे चार अंगुल सेवनी के बाईं ओर (वेधन करे)। अन्तर्विद्रधि और पार्श्वशूल में वामपार्श्व में कक्षा और स्तन के बीच में (सिरावेध करे)। (कई आचार्य) कहते हैं कि बाहुशोष और अवबाहुक में अंसों के मध्य प्रदेश में (सिरावेध करना चाहिए)। तृतीयक (स्वरूप के विषम ज्वर) में त्रिकसंधि के मध्य की सिरा का (वेधन करे)। चतुर्थक (स्वरूप के विषम ज्वर) में स्कन्धसंधि के नीचे स्थित किसी भी पार्श्व की सिरा का (वेधन करे) ॥२८॥

वक्तव्य—मेढ्रमध्ये—इससे Superficial dorsal vein of the penis का बोध होता है। वृषणयोः पार्श्वे इत्यादि—मूत्रवृद्धिदकोदर के यहाँ पर जो वेधस्थान बतलाये गये हैं, वे सिरावेध के न होकर जलवेधन के हैं—अधो नाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेन विध्येत्। (जलोदरचिकित्सा)। सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु। (मूत्रवृद्धिचिकित्सा)। अज्ञान से यह भूल हो गई है। इस पर हाराणचंद्र लिखते हैं—अहो गुरोरश्रुतसुश्रुतः कश्चित् मूत्रवृद्ध्यां दकोदरे च दोषोदकावसेचनार्थं विधित्सिते व्यधने एव सिराव्यधो मन्यमानोऽत्र 'वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां' तथा 'नाभेश्चतुरंगुले सेवन्या वामपार्श्वे दकोदरे' इत्यश्रुतपूर्वमसमञ्जसमाचचाणः स्वस्यैवाश्रुतत्वमदृष्टकर्मत्वमस्थानवादित्वेन पुनर्व्यध्यसिरत्वं चाख्यापयतीति ॥ अन्तर्विद्रधौ—कफजान्तर्विद्रधौ—यथोद्दिष्टां सिरां विध्येत् कफजे विद्रधौ भिषक्। (चिकित्सा १६)। अन्य दोषज विद्रधि में बाहुसिरा का वेध कुछ आचार्य बताते हैं। ऊपर २८वें सूत्र के वक्तव्य में कास-श्वास की टिप्पणी देखो। पार्श्वशूल—इससे Dry pleurisy या Pneumonia की प्रारंभिक अवस्था का ग्रहण कर सकते हैं। नीचे ३०वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में अर्वाचीनकालीन सिरावेध के रोग देखो। वदन्ति—यह दूसरे का मत है, सुश्रुतसंमत नहीं है। इस पर डल्हणाचार्य अपनी टीका में लिखते हैं—शोणिताश्रितवातजनितयोर्बाहुशोषावबाहुकयोरप्यंसयोः सिराव्यधः, न तु केवलवातकृतयोरित्येके वदन्ति। परमतं चाप्रतिषिद्धमनुमतमेवेति जेज्जटाचार्यः। गयदासस्तु 'बाहुमध्ये बाहुशोषावबाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे' इति पठित्वा व्याख्याति—बाहुशोषावबाहुकयोर्बाहुमध्ये कूर्परांसयोर्मध्ये इत्यर्थः। मतान्तरमाह—एके वदन्त्यंसयोरन्तर इति ॥ तृतीयक, चतुर्थक—ये विषमज्वर के प्रकार हैं, जिनमें क्रम से तीसरे और चौथे दिन जाड़े के साथ ज्वर आता है। इन रोगों में अत्रोक्त स्थानों के अतिरिक्त बाहुसिरा और शङ्ख केशान्त सिरा का भी वेधन बताया गया है—शङ्खकेशान्तसंधौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक् सिराम्। उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥ (चरक, चिकित्सा ३)। यथास्वं च सिरां विध्येदशान्तौ विषमज्वरे। (अष्टांगसंग्रह, चिकित्सा २)। इसकी टीका में इन्दु लिखते हैं—अशान्तौ यथास्वं सिरां विध्येत्, तृतीयके अंसयोर्मध्ये स्कन्धस्याधश्चतुर्थके बाहोश्चेत्यादि यथास्वशब्दार्थः ॥

हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे, शङ्खकेशान्तसन्धिगतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादे, जिह्वारोगेष्वधोजिह्वायां दन्तव्याधिषु च, तालुनि तालव्येषु, कर्णयोरुपरि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च, गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे, तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्वक्षयामयेषूपनासिके ललाट्यामपाङ्ग्यां वा, एता एव च शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगेष्विति ॥२९॥

(रोगानुसार जत्रूर्ध्वसिरावेधन स्थान—) अपस्मार में हनुसंधि के मध्य की (सिरा का वेधन करे)। उन्माद में शङ्ख और केशान्तसंधि में स्थित तथा छाती, अपाङ्ग और ललाट में स्थित सिरा का वेधन करे। जिह्वा रोगों में तथा दाँतों के रोगों में जिह्वा के नीचे की सिरा का वेधन करे। तालु के रोगों में तालु में सिरावेध करे। कर्णशूल और कान के रोगों में कान के ऊपर आस पास की (सिरा का वेधन करे)। गंध न आने और दूसरे नाक के रोगों में नासा के अग्रभाग में (सिरावेधन करे)। तिमिर, अक्षिपाक प्रभृति नेत्ररोगों में नासासमीपवर्ती, ललाट में स्थित, या अपाङ्ग की (सिरा का वेधन करे)। शिरोरोग, अधिमन्थ प्रभृति रोगों में भी सिराएँ वेध्य होती हैं ॥ २९ ॥

वक्तव्य—उन्मादे—यहाँ पर 'उन्मादेऽपस्मारे' ऐसा भी पाठ है। इस पर डल्हणाचार्य लिखते हैं—तत्रापस्मारस्य पाठो न संगच्छते। तथा च वाग्भटः—उरोपाङ्गललाटस्थामुन्मादेऽपस्मृतौ पुनः। हनुसंधौ समस्ते च सिरां भ्रूमध्यगामिनीम् ॥ अर्थात् वाग्भटाचार्य के अनुसार अपस्मार में केवल हनुसंधिगत सिरा का वेधन होता है। परंतु चरकाचार्य का जो वचन ऊपर उद्धृत (२९ वें सूत्र के वक्तव्य में) किया गया है, उसके अनुसार अपस्मार

में शङ्खकेशान्त संधिगत सिरा का भी वेधन होता है। इसलिए यह पाठभेद असंगत नहीं कहा जा सकता। हनुसंधिमध्यगताम्—इसके संबंध में अरुणदत्त अष्टांगहृदय के उपर्युक्त श्लोक की टीका में लिखते हैं कि—अपस्मारे हनुसंधौ स्थितां सिरां विध्येत्। समस्ते सर्वस्मिन् वा हनौ सिरां विध्येत्। सिरां भ्रूमध्यगामिनीं भ्रूमध्यस्थां वाऽपस्मृतौ विध्येदिति वाशब्दोऽत्रानुवर्त्य योज्यः। उरोपाङ्गललाटेषु—उरोपाङ्गललाटेषु 'गताम्' इत्यर्थः। उर और अपाङ्ग के अर्थ के संबंध में उत्तरस्थान के 'उरोपाङ्गललाटेषु सिराश्चास्य विमोक्षयेत्॥ (अध्याय ६२)। इस श्लोक की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—उरः स्तनयोरन्तरालम्, अत्रापाङ्ग-शब्द शङ्खे वर्तते, सामीप्यात्। न त्वपाङ्गशङ्खसंधि, कुतः? वर्मीकरत्या एवान्व्यध्यसिराया निर्दिष्टत्वात्। अस्य चोन्मादिनः। भूत-विद्यासिद्धान्तादुर प्रभृतिषु सिराव्यधनमुक्तम्। सिराव्यधनविधिश्च शङ्खसंधौ। अतोऽत्र उन्मादे उभयत्रापि सिराव्यधनमिष्टम्॥ इसका मतलब यह है कि अपस्मार तथा उन्माद में भ्रूमध्य-सिरा (Frontal या Supraorbital vein) शंख केशान्त संधिसिरा (Superior temporal vein) और स्तनान्तराला सिरा का वेधन होता है।

अर्वाचीन कालीन सिरावेध योग्य रोग और सिरावेध के तत्त्व—यहाँ पर २७–३० वें सूत्रों में जिन रोगों में चिकित्सा के लिए सिरावेध किया जाता था, उनके रोगों के नाम और वेध के स्थान निर्दिष्ट किये है। इनको देखकर यह कह सकते हैं कि आयुर्वेद में सिरावेध रक्तज रोगों की चिकित्सा का एक महत्त्व का उपाय था (आगे ३६ वाँ श्लोक देखो)। परंतु आधुनिक काल में सिरावेधन की परम्परा लुप्त हो गई है। यूरोप में भी प्राचीन काल में सिरावेध Phlebotomy) चिकित्सा का एक प्रधान अंग था, परंतु वहाँ पर भी यद्यपि सिरावेधन की प्रथा पूर्णतया लुप्त नहीं हुई है तथापि बहुत मर्यादित अतएव कम हो गई है। आधुनिक काल में पाश्चात्य वैद्यक में सिरावेध का उपयोग निम्न कारणों के लिए किया जाता है—(१) उच्च रक्तनिपीड (High blood pressure विकारों में पीडन को कम करने के लिए। (२) रक्तगत विषों को निकालने के लिए। (३) अपनी विकृति या हृदयादि अन्य अंगों की विकृति के कारण जब फुफ्फुस, उनमें आये हुए रक्त को शुद्ध करने में असमर्थ होता है, तब। (४) कुछ शोथजन्य (Inflamatory) विकारों में जब रोगी सबल और रक्तल (अधिक रक्तयुक्त Full blooded) होता है, तब। इन तत्त्वों के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में निम्न रोगों में सिरावेध का उपयोग किया जाता है—प्रथम तत्त्व के अनुसार विशुद्ध उच्चरक्तनिपीड में तथा हृदयविकार और वृक्कविकारजन्य उच्च रक्तनिपीड में जब रक्त का दबाव अधिक होकर सिरदर्द, चक्कर इत्यादि मस्तिष्कगत लक्षण तथा पक्षाघात उत्पन्न होते हैं, तब। दूसरे तत्त्व के अनुसार विषजन्य कामला (Toxic jaundice), मूत्रविषमयता (Uraemia) गर्भविषमयता (Toxaemia of pregnancy), सर्पविषमयता (Snake poisoning) इत्यादि विषमय अवस्थाओं में। तीसरे तत्त्व के अनुसार जब फुफ्फुस अपना काम करने में असमर्थ होकर श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), त्वचा में श्यावता या नीलिमा (Cyanosis), सिराओं की विस्तृति इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं, तब। ये लक्षण हृदय के दक्षिणार्ध के कपाटों के चिरकालीन विकारों (Chronic heart disease) में, फुफ्फुस के रक्ताधिक्य (Hyperaemia) और शोथ (Oedema) में, महाधमनी की विस्तृति (Aneurism) में तथा छाती में वायु के प्रवेश होने से उत्पन्न हुए वातोरस् (Pneumothorax) में उत्पन्न होते हैं। अर्थात् चिरकालीन हृदयविकार, फुफ्फुसशोथ और रक्ताधिक्य, महाधमनी विस्तृति, वातोरस् इन विकारों में श्वास, कास, नीलिमा उत्पन्न होने पर सिरावेध करके रक्त निकाला जाता है। चतुर्थ तत्त्व के अनुसार फुफ्फुसपाक (न्यूमोनिया), श्वसनीफुफ्फुसपाक ब्राङ्कोन्यूमोनिया (ये दोनों भी फुफ्फुसशोथ के रोग हैं), स्वरयन्त्रशोथ (Laryngitis), मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) इत्यादि शोथजन्य विकारों में भी कभी कभी सिरावेध का प्रयोग श्वास, प्रलापादि लक्षण उत्पन्न होने पर किया जाता है।

सिरावेध का स्थान—कोई रोग हो जब रक्तमोक्षण की आवश्यकता होती है तब पाश्चात्य वैद्यक में रोगनिरपेक्ष कूर्परसंधिमध्य सिरा (Median cubital vein) का उपयोग (पीछे नौवें सूत्र का वक्तव्य देखो) किया जाता है। आयुर्वेद में रोग के अनुसार सिराभिन्नता होती है। प्रायः यह सिरा विकृत अंगसमीपवर्ती होती है, परंतु कई बार दूरवर्ती भी होती है—जैसे, गलगण्ड गले में होने पर भी उसके लिए ऊरुमूल की सिरा का वेधन बताया है, तथा यकृत्प्लीहोदर में बाहुमध्य सिरा का वेधन बताया है। समीपवर्ती सिरावेधन का तत्त्व इस कल्पना पर निर्भर है कि उस सिरा से आने वाला रक्त उसी विकृत अंग से आता है। इस कल्पना में कुछ सत्य है। जैसे, सिर के विकार में सिर की किसी सिरा का वेध करने से प्रथम सिर में इकट्ठा हुआ रक्त निकलेगा अर्थात् वह रक्त दूषित रहेगा और पश्चात् कुछ शुद्ध रक्त आ जायगा। इसी दृष्टि से पीछे २१वें श्लोक में लिखा है—'यथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते'। दूरवर्ती सिरा का वेध करने पर भी *उसमें शरीर के विकृत अंग का रक्त आ जाता है* क्योंकि रक्त संपूर्ण शरीर में परिभ्रमण करता है, परंतु उसमें *स्थानिक दोष की वृद्धि अल्प होती है, और प्रारंभिक रक्त* और पीछे के रक्त में कोई फर्क नहीं होता। इसलिए दूरवर्ती सिरावेध की अपेक्षा समीपवर्ती सिरावेधन में दो भेद मिलते हैं—(१) स्थानिक रक्त की अधिकता (Congestion) कम होती है तथा (२) स्थानिक दोष की मात्रा कम होती है। पाश्चात्य वैद्यक में स्थानिक रक्तापहरण करने के लिए सिरावेध का उपयोग प्रायः नहीं होता, सार्वदैहिक रक्तदोष या रक्तराशि को कम करने के लिए किया जाता है। इसलिए हमेशा कूर्परसंधि मध्य की सिरा सुविधा के कारण (पीछे ९वें सूत्र का वक्तव्य देखो) पसंद की जाती है। इस सिरा के सिवा कभी कभी गले की मातृका (External jugular vein) भी वेधन के काम में लाई जाती है। इस विषय का कुछ विवरण आगे ३८ वें श्लोक के वक्तव्य में भी किया है।

अत ऊर्ध्वं दुष्टव्यधनमनुव्याख्यास्यामः—तत्र

दुर्विद्धाऽतिविद्धा कुञ्चिता पिच्चिता कुट्टिताऽप्रस्रुताऽत्युदीर्णाऽन्तेऽभिहता परिशुष्का कूणिता वेपिताऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्यग्विद्धाऽपविद्धाऽव्यध्या विद्रुता धेनुका पुनः पुनर्विद्धा मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु चेति विंशतिर्दुष्टव्यधाः ॥ ३० ॥

(दुष्टवेध के नाम—) अब इसके बाद दुष्टवेध का व्याख्यान करेंगे—दुर्विद्धा, अतिविद्धा, कुञ्चिता, पिच्चिता, कुट्टिता, अप्रस्रुता, अत्युदीर्णा, अन्तेऽभिहता, परिशुष्का, कूणिता, वेपिता, अनुत्थितविद्धा, शस्त्रहता, तिर्यक्विद्धा, अपविद्धा, अव्यध्या, विद्रुता, धेनुका, पुनःपुनर्विद्धा, और मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि संधि मर्म में विद्धा, इस तरह बीस दुष्टव्यध सिराएँ होती हैं ॥ ३० ॥

वक्तव्य—इन दुर्विद्धादि सिराओं का विवरण आगे के सूत्र में किया गया है । ये दुर्विद्धादि प्रकार सिरादोष से, शस्त्रदोष से, शस्त्रकर्म करने वाले के दोष से तथा रोगी के दोष से उत्पन्न होते हैं ।

तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति रुजाशोफवती च सा दुर्विद्धा, प्रमाणातिरिक्तविद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्वा साऽतिविद्धा, कुञ्चितायामप्येवम् , कुण्ठशस्त्रप्रमथिता पृथुलीभावमापन्ना पिच्चिता, अनासादिता पुनःपुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुट्टिता, शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिताऽप्रस्रुता, तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धाऽत्युदीर्णा, अल्परक्तस्राविण्यन्तेविद्धा अन्तेऽभिहता, क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का, चतुर्भागा(व)सादिता किंचित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता, दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानायाः शोणितसंमोहो भवति सा वेपिता, अनुत्थितविद्धायामप्येवं, छिन्नाऽतिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरो शस्त्रहता, तिर्यक्प्रणिहितशस्त्रा किंचिच्छेषा तिर्यग्विद्धा, बहुशः क्षता हीनशस्त्रप्रणिधानेनापविद्धा, अशास्त्रकृत्या अव्यध्या, अनवस्थितविद्धा विद्रुता, प्रदेशस्य बहुशोऽवघट्टनादारोहद्व्यधा, मुहुर्मुहुः शोणितस्रावा धेनुका, सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशो भिन्ना पुनः पुनर्विद्धा, मांसस्नाय्वस्थिसिरासन्धिमर्मसु विद्धा रुजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति ॥ ३१ ॥

(दुष्टव्यध सिराओं का विवरण—) इनमें जो सूक्ष्म (मुख) शस्त्र से विद्ध हुई है, जिससे अस्पष्ट (नहीं के बराबर) रक्त स्रवता है तथा जो पीडा और सूजन से युक्त है, वह दुर्विद्धा है। प्रमाण से अधिक विद्ध होने के कारण जिसका रक्त (शरीर के) भीतर प्रविष्ट होता है अथवा जिससे रक्त अधिक प्रमाण में बहता है, वह अतिविद्धा है। कुञ्चिता में भी ऐसा ही (अतिविद्धा का लक्षण) होता है । कुण्ठित (थोथे) शस्त्र से (कई बार) कुचली हुई तथा चपटी हुई पिच्चिता होती है। ठीक न उठी हुई (इसलिए ठीक प्राप्त न होने के कारण) बार बार दोनों पार्श्वों पर शस्त्र से प्रहारित हुई कुट्टिता है । शीत, भय और मूर्च्छा के कारण रक्त न स्रवने वाली अप्रस्रुता है। तेज और बड़े मुख के शस्त्र से विद्ध हुई अत्युदीर्णा है । एक किनारे पर विद्ध हुई अल्प रक्त स्रवने वाली अन्तेऽभिहता है । रक्तक्षययुक्त (मनुष्य) की वायुपूर्ण सिरा परिशुष्का होती है । चौथाई हिस्से में कटी हुई, अल्परक्त स्रवने वाली कूणिता है । अनुचित स्थान में बाँधने के कारण कँपायमान होने वाली सिरा से रुक-रुककर रक्त निकलता है, वह वेपिता है। ठीक न उठने पर विद्ध होने वाली सिरा में इसी प्रकार लक्षण होते हैं । (शस्त्र से पूर्णतया) कटी हुई, अत्यधिक रक्त स्रवने वाली, (और स्राव के कारण मूर्च्छादि उपद्रव उत्पन्न करके हलचल बन्द करने वाली) शस्त्रहता है। शस्त्र के टेढ़े प्रहार से विद्ध हुई, जिसका (अधिकांश भाग कट गया है और) जरा-सा भाग रह गया है, ऐसी तिर्यक्विद्धा है। दोषयुक्त शस्त्र के अनेक प्रहारों से विद्ध हुई अपविद्धा है। जिसके ऊपर शस्त्रकम नहीं कर सकते, वह अवेध्या है । चञ्चल (स्थिति में) विद्धा सिरा विद्रुता होती है । (शस्त्रकर्म में वेध के अनैपुण्य से व्यध्य) प्रदेश के ऊपर कई बार ताड़न करने के कारण, जिसमें एक से ऊपर एक करके अनेक वेध हुए हैं, ऐसी बार बार रक्त स्रवने वाली धेनुका होती है। सूक्ष्म(मुख) शस्त्र वेधन में प्रयुक्त करने से (सिरा का वेध उचित परिमाण में बड़ा करने के लिए) कई बार वेधित की हुई पुनःपुनर्विद्धा होती है । मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि और मर्म में वेध करने से पीडा, शोथ, विकलता और मरण प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

वक्तव्य—अव्यक्तम्—अत्यन्त सूक्ष्म रूप में जो स्पष्टतया न दिखाई दे । अन्तःप्रविशति शोणितम्—अतिविद्धा में शस्त्र का मुख मोटा होता है, जिससे शरीरगत शस्त्रजन्य भेद (Incision) काफी बड़ा होता है । यदि यह भेद पूर्णतया सिरा में हो तो मुख बड़ा होने के कारण शोणितातिप्रवृत्ति होगी। यदि यह पूर्णतया सिरा में न हो तो सिरासमीपवर्ती मांसादि धातुओं में होकर उनमें रक्त का प्रवेश होगा । कुञ्चितायामप्येवम्—कुञ्चितायामिति कुटिलीभूतायामित्यर्थः । (डल्हण) । सिरा में कुटिलता (Varicosity) वायु के कारण उत्पन्न होती है—कुर्यात् सिरागतः शूल सिराकुञ्चनपूरणम् । (निदान, प्रथमखण्ड पृष्ठ ३१९-३२० देखो) । पृथुलीभावमापन्ना—कुण्ठशस्त्राभिपातेन चिप्पटतया प्रसरं प्राप्ता । (डल्हण)। अनासादिता—ठीक न उठने के कारण जो उचित रूप से नहीं प्राप्त हुई थी, ऐसी। अप्रस्रुता—भय, मूर्च्छा के परिणाम से शरीरगत केशिकाएं विस्तारित होकर उन्हीं में अधिकांश रक्त संचित होकर (पीछे २२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) सिराओं में वह आता नहीं है, इसलिए वेध करने पर भी उससे रक्त का स्राव नहीं होता । क्षीणशोणितस्य—जिसके शरीर से रक्त का काफी नाश (रक्तस्राव से या रोग से) होने के कारण जो क्षीणरक्त (Anaemic) हो गया है, ऐसा । चतुर्भागावसादिता—चतुर्थो भागश्चतुर्भागोऽन्तर्गता शोणितधरा कलेति यावत् , तत्राऽवसादिता सङ्कुचिततया रक्तं विस्रावयितुमक्षमा चतुर्भागावसादिता, न तावदर्थोऽयमनुपपन्नः 'कूण सङ्कोचे' धातुस्तस्य कूणितेति रूपेण संज्ञाकरणात् । (हाराणचन्द्र)। चतुर्भागा-

संदिता चतुर्भागेन प्राप्ता । (डल्हण) । जिसमें छेद ठीक नहीं हुआ है, ऐसी सिरा, इतना ही इन विवरणों का तात्पर्य मालूम होता है। दुःस्थानबन्धन—अनुचित स्थान में यन्त्रण करना । शोणितसमोह—मनुष्य को सम्मोह होने से जैसे उसके कर्म बन्द हो जाते हैं, वैसे ही रक्त का सम्मोह होने से उसका स्राव बन्द होता है। अर्थात् बीच बीच में जिसका स्राव बन्द हो जाता है, ऐसी। डल्हण इसका अर्थ रक्तातिप्रवृत्ति करते हैं—शोणितसम्मोहः शोणितातिप्रवृत्तिः । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि आगे 'अनुत्थित विद्धायामप्येवम्' लिखा है। अनुत्थित सिरा से अत्यधिक रक्तस्राव नहीं होगा । छिन्ना—जो पूर्णतया दो भागों में विभक्त हुई है, ऐसी । क्रियासङ्करी—गमनादिक्रियाविनाशकरी। (डल्हण)। बन्धेनायोजिता सती क्रियाया शोणितवर्जना योक्तानां शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तानां शिरोभितापादीनां सम्बन्धं करोतीत्यर्थः । सङ्करो मेलनं सम्बन्ध इत्यनर्थान्तरम् । (हाराणचन्द्र)। संक्षेप में अत्यधिक रक्तस्राव के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रवों को करने वाली। अशस्त्रकृत्या—सातवें अध्याय के २९ वें सूत्र से ३८ वें सूत्र तक जो अवेध्य सिराएँ बतलाई गई हैं, उनमें से किसी एक के ऊपर वेध करना यह भी एक सिरावेध का दोष है। आरोहव्यधा—उपर्युपर्यारोपितपदा, अतएव तैः शस्त्रपदैर्धेनुस्तनैरिव स्रवणाद् धेनुका। (डल्हण)। हाराणचन्द्र 'आरोहव्यधा' पाठ लेते हैं और 'आरोहो दैर्घ्येणोपलक्षित व्यधो यस्या सा तथोक्ता' ऐसा उसका अर्थ करते हैं। बहुशोऽवघट्टनात्—इससे कर्म करने वाले का अनभ्यास और भयत्व सूचित होता है। बहुशो भिन्ना—एकस्थाने एव इति शेषः ।

इस सूत्र में तथा इसके पहले सूत्र में दुष्टव्यधा के जो बीस प्रकार तथा उनके लक्षण दिये हैं, इनका ज्ञान सिरावेधन का कर्म निर्दोष करने के लिए काम में लाना चाहिए, न कि दुष्टवेध के प्रकार और उनके लक्षण कण्ठ करने के लिए। अतः इनका उपयोग निर्दोष सिरावेध में किस तरह किया जायगा, इसका विचार यहाँ पर संक्षेप में बताया जाता है । पिछले सूत्र के वक्तव्य के अन्त में यह बताया गया था कि ये दोष पाँच स्थानों से उत्पन्न होते हैं। अतः इन दोषों का वर्गीकरण इन स्थानों के अनुसार यहाँ पर किया जायगा। (१) शस्त्रदोष—सिरावेधन में शस्त्र न बहुत सूक्ष्ममुख, न बहुत स्थूलमुख, न कुण्ठित, न बहुत तीक्ष्ण, न अन्य दोषयुक्त होना चाहिए। इन दोषों से युक्त होने के कारण दुर्विद्ध, अतिविद्ध, पिच्चित, अत्युदीर्ण, अपविद्ध, और पुनःपुनर्विद्ध ये छः दोष उत्पन्न होते हैं। (२) रोगी दोष—रोगी शीत, भय, मूर्च्छा तथा रक्तक्षीणता से पीड़ित न होना चाहिए, वरना अप्रसुत और परिशुष्क ये दो दोष उत्पन्न होते हैं । (३) यन्त्रण दोष—उचित स्थान पर उचित रूप से बन्धन न करने से सिरा का ठीक उत्थान नहीं होता, जिससे उसको स्थिर करने में तथा वेधन करने में कठिनाई उत्पन्न होकर वेपित, अनुत्थितविद्ध और विद्रुत—ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं। (४) सिरादोष—वेधन के लिए रक्तवाहिनी सिरा (Vein) होनी चाहिए, बहुत महत्त्व की मोटी न होनी चाहिए तथा उसमें कोई विकृति न होनी चाहिए। इस तरफ ध्यान न देने से कुण्ठित और अवेध्य ये दो दोष उत्पन्न होते हैं। (५) वैद्य दोष—शौर्य, आशुक्रिया इत्यादि शस्त्रकर्म के लिए आवश्यक गुण (सूत्रस्थान ५ वें अध्याय का नौवाँ श्लोक देखो) जिसमें न हों, तथा सिरावेधन का अभ्यास जिसे न हो, ऐसे वैद्य के द्वारा सिरावेध कराने से अन्तेऽभिहत, कूणित, छिन्न, तिर्यक्विद्ध, धेनुक, कुट्टित और मांससिरास्नाय्वस्थिसंधिमर्मविद्ध ये सात दोष उत्पन्न होते हैं । यद्यपि दोषों के पाँच विभाग किये गये हैं तथापि ये सब विभाग वैद्य के अधीन होते हैं, क्योंकि उत्तम शस्त्र, योग्य रोगी, युक्त यन्त्रण और उचित सिरा इनका संगम करने का काम आखिर में वैद्य (आगे ३४ वां श्लोक) की सिरावेधन में योग्यता और अनुभव पर निर्भर होता है। अतः इन दोषों को टालने का उत्तम उपाय शस्त्रादि सामग्री की उत्तमता और अभ्यास है। इन दोषों की उत्पत्ति के कारणों का संक्षेप में विवरण आगे के दो श्लोकों में किया गया है।

भवन्ति चात्र—

सिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येताः स्वभावतः ।
मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत् ॥ ३२ ॥

(सिरावेधन यत्नपूर्वक करने की आवश्यकता का कारण—) सिराओं (के वेधन) में कोई भी शिक्षित नहीं होता, (क्योंकि) ये स्वभावतः अस्थिर (होकर पकड़ने पर भी वेधन के समय) मछली की तरह परिवर्तन करती है, इसलिए प्रयत्नपूर्वक इनका वेधन करना चाहिए ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—शिक्षित—अभ्यास से जिसको सिरावेध में नैपुण्य प्राप्त हुआ है, ऐसा। चला ह्येता स्वभावतः—यहाँ पर अधिकतर उत्तान सिराओं (Superficial Veins) का विचार किया गया है, इसलिए 'चला' लिखा गया है। शरीरसंनिवेश की दृष्टि से उत्तान सिराएँ त्वचा के नीचे की धातु में इस प्रकार निविष्ट हुई है कि वे इंच आधा इंच इधर उधर हो सकती हैं। संक्षेप में, ये सिराएँ बहुत अस्थिर (Movable) होती हैं। मत्स्यवत् परिवर्तन्ते—पानी में मत्स्य को पकड़ने पर भी वह जैसा आसानी से हाथ से फिसल जाता है, वैसे ही वेधन के समय यन्त्रण से तथा अंगुलियों से पकड़ी हुई सिरा, शस्त्रप्रहार के समय अँगुलियों से फिसलकर दूर हो जाती है। यत्नेन—इसलिए प्रत्येक सिरावेधन के समय सिरा को अच्छी तरह पकड़ने का प्रयत्न करके फिर ताड़न करे। पकड़ने में गाफिल रहने से ताडन के ऐन वक्त पर वह फिसल जायगी और वेधन के दोष उत्पन्न होंगे। यत्न का सम्बन्ध अधिकतर पकड़ने के साथ है, ताडन के साथ नहीं है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि वैद्य शिरावेधन के कर्म में कितना भी चिराभ्यासी और अनुभवी क्यों न हुआ हो, उसको प्रत्येक समय नवसिखिया की तरह सतर्क रहकर वेधन का कर्म करना चाहिए।

अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते ।
भवन्ति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युपद्रवाः ॥ ३३ ॥

(दुष्टव्यध का कारण अज्ञानी वैद्य—) (सिरावेधन में) अज्ञानी वैद्य से धारण किया हुआ शस्त्र शरीर (की सिरा) पर चलने से (दुर्विद्धादि) ये व्यापत्तियाँ तथा अनेक उपद्रव होते हैं ॥ ३३ ॥

स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि ।
यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक्सिराव्यधात् ३४

स्नेहन, स्वेदन आदि क्रियाओं से तथा लेपों से इतनी शीघ्र व्याधि शांत नहीं होती है, जितनी ठीक ठीक शिरा-वेधन से शीघ्र शांत हो जाती हैं ॥ ३४ ॥

सिराव्यधश्चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः।
यथा प्रणिहितः सम्यग्वस्तिः कायचिकित्सिते ॥३५॥

(सिराव्यध का प्राधान्य—) जिस प्रकार यथाविधि दिया हुआ वस्ति कायचिकित्सा में आधी चिकित्सा (के बरावर) कहा जाता है, उसी प्रकार शल्यशास्त्र में (यथा-विधि किया हुआ) सिरावेधन आधी चिकित्सा (के बरावर) कहा जाता है ॥ ३५ ॥

वक्तव्य—चिकित्सार्धम्—कायचिकित्सा में वस्ति चिकि-त्सार्ध (या संपूर्ण चिकित्सा) इसलिए मानते हैं कि वस्ति के प्रयोग से संपूर्ण शरीरगत रोग, विशेष करके त्रिदोषों में प्रधान दोष जो वायु उससे होने वाले रोग, ठीक हो जाते हैं— शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च। ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥ विण्मूत्रपित्तादिम-लाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात्। तस्यातिवृद्धस्य शमाय ना-न्यद्बस्तिं विना भेषजमस्ति किञ्चित् ॥ तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि वस्तिमेके ॥ (चरक, सिद्धिस्थान २)। काय-चिकित्सा में वायु को जो प्राधान्य है, वही प्राधान्य शल्यचि-कित्सा में रक्त को है, क्योंकि उसी से व्रण की दुष्टि, पूयभवन, संधान, रोपण इत्यादि कार्य होते हैं और इसलिए दोषों में रक्त का समावेश शल्यतन्त्र में किया गया है—तदेभिरेव शोणितच-तुर्थैः शरीरं भवति। (सूत्र २१)। इस रक्त की शुद्धि सिरा-वेध के द्वारा जैसी होती है, वैसी अन्य उपायों के द्वारा नहीं हो सकती—मासमेदोऽस्थिमज्जानः शोणितस्यावसेचनात्। धमन्यश्च विशुद्ध्यन्ति दुष्टरक्तास्त्वचश्च याः। रसस्वेदाभिनिष्यन्दाद्विशुद्ध्यन्ति न पुष्कलम् ॥ (डल्हणटीका में उद्धृत श्लोक)। इसलिए काय-चिकित्सा में वस्ति का जो स्थान है, वही स्थान शल्यचिकित्सा में सिरावेध का है। संक्षेप में, चिकित्सार्ध का तात्पर्य यह है कि यद्यपि सव रोगियों में नहीं, तथापि अनुरूप रोगियों में जैसे कायचिकित्सा में वस्ति से अधिकांश चिकित्सा का काम हो जाता है, वैसे ही अनुरूप रोगियों में शल्यचिकित्सा में सिरावेधन से चिकित्सा का अधिकांश काम हो जाता है।

तत्र स्निग्धस्विन्नवान्तविरिक्तास्थापितानुवासित-सिराविद्धैः परिहर्तव्यानि—क्रोधायासमैथुनदिवास्व-प्नवाग्व्यायामयानाध्ययनस्थानासनचङ्क्रमणशीतवा-तातपविरुद्धासात्म्याजीर्णान्यावललाभात्, मासमेके मन्यन्ते। एतेषां विस्तरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥ ३६ ॥

(पंचकर्म के पश्चात् निषिद्ध कर्म—) जिसको स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन (निरूहवस्ति), अनुवासन कराया गया हो तथा जिसके सिरा का वेधन (करके रक्तविस्रावण) किया गया हो, उसके लिए (पूर्ववत्) वलप्राप्ति (के काल) तक क्रोध (करना), (अधिक) परिश्रम (करना), स्त्रीसंग, दिन में सोना, (अधिक या ऊँची आवाज से) वोलने का व्यायाम, (घोड़े आदि पर) सवारी करना, (अधिक) पढ़ना, (देर तक) खड़े रहना, (अधिक काल तक एक ही स्थान पर) वैठना, (अधिक) चलना, ठंडी हवा, धूप, विरुद्धाशन, असात्म्य अन्नसेवन और (जिनके सेवन से) अजीर्ण (हो जाय, ऐसा गरिष्ठ आहार या अध्यशन ये कर्म) परित्याग करने योग्य हैं। कई आचार्य ये कर्म महीना भर के लिए परित्याज्य वताते हैं। इनका विस्तार (से विवरण) आगे कहेंगे ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—स्निग्धस्विन्न इत्यादि—रक्तमोक्षण पंचकर्मों में से एक है। कायचिकित्सक पंचकर्मों में रक्तमोक्षण के वदले शिरोविरेचन लेते हैं। पञ्चकर्मों के पहले स्नेहन और स्वेदन कराने से पंचकर्मों से अधिक से अधिक लाभ होता है। पञ्चकर्मों में से किसी एक का सेवन कराने के पश्चात् निषिद्धकर्म नहीं होते हैं। इसलिए यहाँ पर सिरावेध के साथ स्नेहन, स्वेदन, वमनादि का उल्लेख किया गया है। आवललाभात्, मासमेके मन्यन्ते—क्रोधादि कर्मों का परित्याग करने की कालमर्यादा अभ्यन्तर स्थिति के ऊपर निर्भर होना उचित है और उस दृष्टि से 'आवल्लाभात्' यह सुश्रुताचार्य का कथन युक्तियुक्त है। वल का वर्णन कभी कभी 'यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा' इस प्रकार से भी किया जाता है। कालमर्यादा दिनसंख्या में प्रदर्शित करने से कभी वह अधिक हो सकती है और कभी वह अपर्याप्त हो सकती है। अर्थात् इसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दोनों दोष आ जाते हैं। अतिव्याप्ति में रोगी को विना कारण वन्धन में रहना पड़ता है और अव्याप्ति में वंधन में रहना आवश्यक होने पर भी रोगी नहीं रहता। अतिव्याप्ति व्यावहारिकदृष्ट्या ठीक नहीं होती और अव्याप्ति वैद्यकीयदृष्ट्या ठीक नहीं होती। इसलिए यहाँ पर वल लाभ की दृष्टि से पथ्यसेवन की कालमर्यादा प्रदर्शित करना उत्तम पक्ष है, और दिनसंख्या में प्रदर्शित करना गौण पक्ष है। १०वें अध्याय के १५वें सूत्र के 'पुनरार्तव-दर्शनात्' की टिप्पणी देखो।

भवतश्चात्र—

सिराविषाणतुम्वैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा।
अवगाढं यथापूर्वं निर्हरेद् दुष्टशोणितम् ॥ ३७ ॥

(रक्तविस्रावण के विविध उपायों की रक्तस्थिति के अनुसार मर्यादा—) सिरावेध, सींगी लगाना, तुम्वी लगाना, जोंकें लगाना और प्रच्छान से यथापूर्व गाढदूषित रक्त को निकाले ॥ ३७ ॥

वक्तव्य—विषाणतुम्वैस्तु—इनके विवरण के लिए सातवें अध्याय के १२वें सूत्र का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४०) और १३वें अध्याय के ४वें श्लोक का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ७१) देखो। पदैः—शस्त्रपदैः, प्रच्छानेनेत्यर्थः। प्रच्छान के विवरण के लिए सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के २६वें सूत्र का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४) देखो। अवगाढं यथापूर्वम्—सव से अधिक गंभीर सिरावेध से, उससे कम सींग से, उससे कम तुम्वी से, उससे कम जोंकों से और सव से उत्तान प्रच्छान से। गभीरता की अधिकता पहले में अधिक और उत्तरोत्तर कम होती है— अवगाढमभ्यन्तराश्रयं यथापूर्वं पूर्वानतिक्रमेण, एतेनोत्तानं पदैः, अवगाढं जलौकाभिः, अवगाढतरं तुम्वैः, अवगाढतमं विषाणेन, सार्वाङ्गिकमवगाढतमं च सिराभिरिति। (डल्हण)। इसका मतलव यह है कि प्रच्छान, जलौका, तुम्वी और सींग, ये साधन स्थानिक (जहाँ पर लगाया जाय, वहाँ का) रक्त निकालने में एक से एक वलवान् होते हैं और जव दोष गम्भीर धातुओं में स्थित होता है, जहाँ पर वैद्य प्रच्छानादि

उपायों का उपयोग नहीं कर सकता, या दोष सार्वदैहिक होने के कारण सम्पूर्ण शरीर में इनको प्रयुक्त नहीं कर सकता, तब सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करने से फायदा होता है। यही अभिप्राय वाग्भटाचार्य अष्टाङ्गहृदय में बतलाते हैं—प्रच्छानमेकदेशस्थ ग्रथित जलजन्मभि । हरेच्छृङ्गादिभिः सुप्तमसृग्व्यापिसिराव्यधै ॥ (सूत्र २६)। सुश्रुत के उपर्युक्त श्लोक और इस श्लोक के सम्बन्ध में आगे के श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

अवगाढे जलौका. स्यात् प्रच्छान पिण्डिते हितम्।
सिराऽङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचि स्थिते ॥ ३८॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिराव्यधविधिशारीर नामाष्टमोऽध्याय ॥ ८ ।

(*दूसरी दृष्टि से जलौकादि की कार्यमर्यादा—*) *गम्भीर* स्थान में (से रक्तनिर्हरण के लिए) जलौका होती हैं, जमे हुए रक्त के लिए प्रच्छान हितकर होता है सर्वाङ्गव्यापी रक्त में सिरा (वेध हितकर होता) है और त्वचा में (रक्तदुष्टि) स्थित होने पर सींग और तुम्बी (हितकर होती है)।३८।

वक्तव्य—पूर्वश्लोक में रक्त की गम्भीरता की दृष्टि से सिराव्यधादि साधनों का अधिकार बताया गया, परन्तु प्रत्यक्ष उनके उपयोग के सम्बन्ध में उस श्लोक से मार्गदर्शन नहीं होता है, वह केवल तात्त्विक विवरण (Theory) है। इसलिए इस श्लोक में रोग को देखकर रोगी के ऊपर इन में से किसका उपयोग किया जाय, इसका निर्देशन (Indication) किया गया है। यह श्लोक एकीय मत का नहीं है, जैसे कि डल्हणाचार्य लिख रहे हैं—तत्र सिराविषाणतुम्बजलौकप्रच्छानानां विषय कश्चिदाह, अवगाढे इत्यादि। परंतु पिछले श्लोक के स्पष्टीकरणार्थ सुश्रुताचार्य ही लिख रहे हैं। तथा यह श्लोक पाठान्तर भी नहीं है, जैसे कि हाराणचन्द्र कहते हैं—पाठा न्तरमवतारयति—अवेति। न तावद्वचनस्यास्य पाठान्तर विषयत्वमश्रद्धेयम्— प्रच्छान पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकस । त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्ग शिरैव व्यापकेऽसृजि॥ इति स्फुटवाचिना वाग्भटेन वाशब्दोपादानात्॥ जिस आधार पर हाराणचन्द्र इस श्लोक को पाठान्तर कहते हैं, वह 'वा' शब्द पिछले श्लोक के वक्तव्य के अन्त में दिये हुए वाग्भटाचार्य के श्लोक के पश्चात् आता है। परंतु ये दोनों श्लोक समानार्थी होने के कारण अष्टाङ्गहृदय में पाठान्तर होता है परतु यहाँ पर नहीं होता, क्योंकि सुश्रुताचार्य का 'सिराविषाणतुम्बैस्तु' यह श्लोक और वाग्भटाचार्य का 'प्रच्छानेमेकदेशस्थम्' यह श्लोक समानार्थक नहीं है। संक्षेप में, विशुद्ध उपपत्ति (Pure theory और कर्माभ्यासात्मक (Applied) उपपत्ति में जो संबंध और भेद होता है, वही संबंध और भेद इन अन्तिम दो श्लोकों में है, न कि एकीय मत का, न पाठान्तर का। अब इन दोनों का आपस में कैसा संबंध है, इसका विचार किया जाता है।

रक्त निकालने की आवश्यकता जिन रोगों में होती है, उनके चार विभाग कर सकते हैं—(१) इस विभाग में वे रोग आते हैं, जिनमें संपूर्ण शरीर में फैलने वाले रक्त निकालने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—पुराना हृद्रोग, मूत्रविषमयता, रक्तपीडनाधिक्य तथा तज्जन्य पक्षाघात इत्यादि। संक्षेप में जिनमें दोष की सर्वाङ्गव्यापकता होती है, वे सब विकार इस वर्ग में आते हैं। अत इस श्लोक में 'सिराऽङ्गव्यापके रक्ते' जो लिखा है, वह कर्माभ्यास की दृष्टि से भी बहुत ठीक है। वाग्भटाचार्य 'सिरैव व्यापकेऽसृजि' लिखते हैं। इसमें भी 'एव' शब्द बहुत सूचक है। इससे स्पष्ट बताया जाता है कि जिन रोगों में सर्वाङ्गव्यापक दोष होते हैं तथा सर्वाङ्गव्यापक रक्त को निकालना है, उनमें सिरावेध ही रक्तमोक्षण का एकमात्र मार्ग है। उसकी टीका में अरुणदत्त भी लिखते हैं—सर्वशरीरव्यापके रक्ते शिरैव। सिराया मतविकल्पो नास्त्येवेत्येवशब्दार्थ ॥ सर्वाङ्गव्यापकत्व से अवगाढतमत्व का भी बोध होता है क्योंकि मस्तिष्क, फुप्फुस इत्यादि अत्यन्त गहराई में स्थित प्रत्यङ्गों का भी रक्त इसी मार्ग द्वारा निकाला जाता है। (२) इस विभाग में उन रोगों का समावेश होता है, जिनमें विकृति गहराई (अवगाढ) पर होती है और ऊपर की त्वचा में कोई खराबी नहीं होती। जैसे—अर्श, नेत्ररोग, फुफ्फुसपाक (न्युमोनिया), श्वसनी फुफ्फुसपाक ब्रान्को न्युमोनिया, मस्तिष्कावरणशोथ, कर्णरोग इत्यादि। इन रोगों में रुग्णाङ्ग के ऊपर जोंकें लगाने से अवगाढ स्थान के रक्त का निर्हरण होता है। ऊपरी त्वचा को कम से कम नुकसान पहुँचाते हुए अवगाढ स्थान का रक्त निकालने का जोंक यही एक मार्ग है (प्रथम खण्ड पृष्ठ ७५ देखो)। इसलिए 'अवगाढे जलौका स्यात्' यह जो लिखा है, वह बहुत ठीक है और कर्माभ्यासात्मक है (३, ४) इन दो विभागों में उन रोगों का समावेश होता है, जिनमें विकृति त्वचा तथा उपत्वचा या उसके आस-पास में होती है। जैसे—फोड़े, फुन्सियाँ, विद्रधि उपत्वचाशोथ (Cellulitis) इत्यादि। इनमें से जिन विकारों में त्वचा गल जाती है, फूट जाती है, टूट जाती है, उनका समावेश तीसरे विभाग में कर सकते हैं और इस विभाग के लिए सींग या तुम्बी का प्रयोग उचित होता है। इसलिए लिखा है 'शृङ्गालाबु त्वचि स्थिते'। चौथे विभाग में उन रोगों का समावेश कर सकते हैं, जिनमें विकृति त्वचा में कम परंतु त्वचा के नीचे अधिक, या त्वचा में होने पर भी त्वचा खराब न होने से दोष या रक्त उसके नीचे इकट्ठा हुआ है। पिण्डित का अर्थ जमा हुआ रक्त (घनीभूत संहतमित्येतत्) (हाराणचन्द्र) हो सकता है, परतु इससे प्रशस्त अर्थ यह है कि 'जिसको बाहर निकलने के लिए मार्ग न मिलने से जो पिण्डित याने इकट्ठा हुआ है, ऐसा। पिण्डित शब्द का प्रयोग इसी अर्थ से गुल्म के निदान में मिलता है—तत्र मार्गनिरोधाल्लब्धाश्रयो वायु पिण्डितत्वात् गुल्मसंज्ञा लभते। (अष्टाङ्गसंग्रह)। ऐसी अवस्था में नीचे इकट्ठे हुए रक्त का शस्त्रपदों से मार्ग बनाया जाता है और पश्चात् यदि आवश्यक हो तो सिंगी या तुम्बी लगाई जाती है, जिससे पिण्डित रक्त बाहर निकल आता है।

संक्षेप में सर्वशरीरव्यापी दोष में जब त्वचा में कोई खराबी नहीं होती तब सिरावेध, जब गहराई में स्थित किसी प्रत्यंग या अवयव में दोष होता है और त्वचा में कोई खराबी नहीं होती तब जलौका, जब त्वचा में दोष होकर त्वचा की खराबी होती है तब सिंगी या तुम्बी और त्वचा में या त्वचा के नीचे खराबी होने पर त्वचा में

दोष को बाहर आने का कोई मार्ग या मार्ग की अल्पता होती है तब प्रच्छान का उपयोग करना चाहिए; यह इस श्लोक का कर्माभ्यास की दृष्टि से तात्पर्य है।

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सिराव्यधविधिशारीरं नामाष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः।

अथातो धमनीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके बाद धमनीव्याकरण (नामक) शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः। तत्र केचिदाहुः—सिराधमनीस्रोतसामविभागः, सिराविकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति। तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः; कस्मात्? व्यञ्जनान्यत्वान्मूलसन्नियमात् कर्मवैशेष्यादागमाच्च; केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवति ॥ २ ॥

(सिराओं से धमनियों का पृथक्त्व—) नाभि से उत्पन्न होने वाली चौवीस धमनियाँ (पहले) कही गई हैं। इस विषय में कुछ (आचार्य) कहते हैं कि सिरा, धमनी और स्रोतस् में कोई विभेद नहीं है; धमनियाँ और स्रोतस् सिराओं के ही वि(शेष आ)कार होते हैं। परंतु यह (मत) ठीक नहीं है। धमनियाँ और स्रोतस् सिराओं से बिल्कुल भिन्न हैं। क्यों? लक्षणभिन्नता से, मूल (संख्याभिन्नता को) निश्चिति से, कर्मभिन्नता से और शास्त्राधार से। केवल परस्पर निकटता से, शास्त्र में (कहीं कहीं इनकी) समानता (निदर्शक वचन मिलने) से, समान कर्म होने से, सूक्ष्म(अंगविनिश्चयाज्ञान)ता से भिन्न भिन्न कर्म के होने पर भी इनके कर्म में अभिन्नता (प्रतीत) होती है ॥ २ ॥

वक्तव्य—नाभिप्रभवाः—नाभि से जिनका उद्भव होता है, ऐसी। आयुर्वेद में जैसे हृदय एक है, वैसे नाभि भी एक ही है और वह उदर प्राचीर मध्य में स्थित होती है। इस नाभि के साथ गर्भ की नाभिनाडी संबंधित होती है, जिससे गर्भ का पोषण होकर उसकी वृद्धि भी होती है। सिराओं का संबंध इसी नाभि से बताया गया है, वह भी गर्भवृद्धि की दृष्टि से है। संक्षेप में आयुर्वेद में नाभि का संबंध गर्भपोषण के साथ होने से सिराएँ और धमनियाँ जो पोषण के काम में आती हैं, नाभि से संबंधित बताई गई हैं—गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति। तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं मतम्। तदा धमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥ मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडीप्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति, तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। असञ्जाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागमानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति ॥ गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं नाभिरिति पराशर्यस्ततो हि वर्धते देहो देहिनः ॥ पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम ॥ नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता। सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ (सुश्रुत)। चरक, अष्टांगसंग्रह अष्टाङ्गहृदय इत्यादि अन्य ग्रंथों में भी नाभि का वर्णन इसी प्रकार का मिलता है। इस सब विवरण का तात्पर्य यह है कि नाभि एक कोष्ठाङ्ग है। गर्भावस्था में इसी से गर्भनाडी संबंधित होती है। सिराओं और धमनियों का प्रभव इसलिए नाभि से होता है। अतः योगशास्त्र में तथा अन्य तन्त्रग्रंथों में नाभि का अर्थ कोई भी हो, आयुर्वेद में नाभि Umbilicus naval के लिए प्रयुक्त होती है (पीछे सातवें अध्याय के ३९ वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो) Brain or spinal cord (मस्तिष्क या सुषुम्ना) से उसका कोई संबंध नहीं है। जिस दृष्टि से नाभि सिराओं का प्रभवस्थान माना गया है, उसी दृष्टि से नाभि धमनियों का प्रभवस्थान माना गया है, याने गर्भाशय में शरीर उत्पन्न होने के काल की दृष्टि से धमनी नाभिप्रभव मानी गई है। और सातवें अध्याय के चौथे श्लोक में जिस प्रकार सिराओं की नाभि के पास रचना बताई गई है, उसी प्रकार की रचना धमनियों की नाभि के पास अष्टांगहृदय में वर्णन की गई है—धमन्यो नाभिसंबद्धा विंशतिश्चतुरुत्तराः। ताभिः परिवृतो नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ (शारीर ३)। जन्म के पश्चात् धमनियों का सम्बन्ध नाभि के साथ न होकर केवल हृदय के साथ होता है, और इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के शोणितवर्णनीय अध्याय में इन चौवीस धमनियों का सम्बन्ध हृदय के साथ स्पष्टतया बताया गया है। तस्य (रसस्य) हृदयं स्थानम्, स हृदयाच्चतुर्विंशति धमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दश चाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा ॥ चरकसंहिता में भी धमनियों का संबंध हृदय से ही बतलाया है, केवल फर्क इतना है कि वहाँ पर धमनियों की संख्या चौवीस के बदले दस है—तेन मूलेन महता महामूला मता दश। ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ (सूत्र ३०)। प्रागभिहिताः—शोणितवर्णनीय अध्याय में सूत्रस्थान में। इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ पर हृदयस्थ रस जिन चौवीस धमनियों द्वारा संपूर्ण शरीर में फैलकर शरीर का पोषण और तर्पण करता है, वे धमनियाँ नाभिप्रभव हैं। सिराधमनीस्रोतसामविभागः—इसका अभिप्राय यह है कि कुछ आचार्यों के मतानुसार सिरा, धमनी और स्रोतस् ये एकार्थक या पर्याय शब्द (Synonyms) हैं। जैसे, चरक में लिखा है—स्रोतांसि सिरा धमन्यो··· ···शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति। (विमान ६)। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—स्रोतसां व्यवहारार्थं पर्यायानाह। अन्ये त्वेतानपि धमनीपर्यायानाहुः ॥ इसी मत के अनुसार अमरकोष में 'नाडी तु धमनी सिरा' करके धमनी और सिरा पर्याय बताये गये हैं। सिराविकाराः—सिराओं से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट आकारयुक्त प्रकार, जैसे—दूध से दही, इक्षुरस से गुड चीनी इत्यादि—सिराविकारा इति सिराणामेवाकारान्तरेण परिणामाः, पिष्टविकारक्षीरविकारवत्। तत्तु न सम्यक्—सुश्रुताचार्य का मत है कि धमनी सिरा विकार न होकर स्वतन्त्र और

सिराओं से विलकुल भिन्न है। इसके लिए निम्न चार हेतु बतलाये जाते हैं। (१) व्यञ्जनान्यत्वात्—दोनों के लक्षणों में भिन्नता होने से। इसकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—तत्र सिराणां वातादिवहानामरुणनीलशुक्ललोहितवर्णत्वं लक्षणं शब्दादिवहधमनीनां तु वर्णानुक्तेः स्वधातुसमवर्णत्वम्, एवं स्रोतसामपि। तदुक्तं चरके—'स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च। स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या' इत्यादिकम्॥ इस पर हाराणचन्द्र लिखते हैं—व्यञ्जनान्यत्वाल्लिङ्गान्यत्वात् सिराणामिव धमनीनामपि द्विरावृत्तमांसात्मकनाडीस्वरूपत्वे सत्यपि किञ्चिन्मृदुत्वेन मृदुसंकोचविकासित्वेन च, स्रोतसां पुनः स्वच्छतरतनुश्लेष्मलपटावृतानाम्रुत्वेनातिनितरां मृदुत्वेन मृदुतरसंकोचविकासित्वेन च वैशिष्ट्यादिति यावत्॥ धमनी और सिरा में मुख्य भेद स्पन्दन का है। स्पन्दनयुक्त धमनी और स्पन्दनरहित सिरा—ध्मानाद्धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः। (चरक, सूत्र ३०)। (२) मूलसंनियमात्—मूलसंनियमो द्वितीयो भेदो यथा तासां मूलसिराश्चत्वारिंशदित्यारभ्य यावदेव भेदानि सप्तसिराशतानि, धमनीनां तु चतुर्विंशतिर्धमन्यः स्रोतसां पुनर्द्वाविंशतिः स्रोतांसि। (डल्हण)। नियमोऽभ्युपगमश्चेति पर्यायौ। तदयमर्थः। मूलानां पृथक्त्वेनाभ्युपगमो यस्मात्तस्मान्मूलसंनियमात् सङ्ख्यातानां मूलसिरादीनां विजातीयत्वेनावहितमनसां प्रत्यक्षोपलम्भादिति निष्कर्षः। (३) कर्मवैशिष्ट्यात्—'कर्मणाम प्रतीघातम्' इत्यादि सातवें अध्याय के ७ वें श्लोक में वर्णन किया हुआ सिराओं का कर्म और शब्दरूप गन्धादि का वहन धमनियों का कर्म। (४) आगमाच्च आयुर्वेद के ग्रंथो में

स्थान स्थान पर सिरा धमनी इनका पृथक पृथक उल्लेख मिलता है। जैसे सूत्रस्थान के अग्रोपहरणीय अध्याय में शस्त्रकर्म के समय लिखा है—वैद्यो मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन् अनुलोमं शस्त्रं निदध्यादापूयदर्शनात्॥ वैसे ही शरीरगत प्रत्यङ्गों की परिगणना में सिरा, धमनी और स्रोतस् इनका उल्लेख स्वतन्त्र किया गया है—तस्य पुनः सङ्ख्यानं—मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च। (शारीर ५)। यदि धमनी और सिरा शब्द शरीरगत एक ही प्रत्यंग के लिए प्रयुक्त होता तो इनका पृथक पृथक उल्लेख नहीं किया जाता। इसलिए धमनी और सिरा ये पृथक् पृथक् हैं, यह कहने का अभिप्राय है। विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव—इस तरह लक्षणभिन्नता, मूलसंख्या भिन्नता, कर्मभिन्नता और शास्त्राधार इन चार कारणों से सिरा और धमनी का प्रविभाग सिद्ध होने पर भी व्यवहार में ये शब्द अधिकतर समानार्थी प्रयुक्त हुए दिखाई देते हैं। यह दोष जैसे सद्यःकालीन उपलब्ध ग्रंथों में दिखाई देता है, वैसे प्राचीन कालीन ग्रंथों में तथा व्यवहार में, कम से कम सुश्रुतसंहिता के समय में दिखाई देता था। अब इस दोष के रूढ होने के चार कारण यहाँ पर बताये जाते हैं—(१) परस्परसंनिकर्षात्—धमनी, सिरा और स्रोतस्, इन तीनों प्रत्यंगों के शरीर में अत्यन्त समीप होने के कारण। शरीर में ऐसा कोई अंग नहीं मिलेगा, जहाँ पर ये तीनों प्रत्यंग न हों और अत्यन्त समीप न हों। इसके लिए डल्हणाचार्य दृष्टान्त देते हैं—यथाऽभिसंनिकर्षयुक्तीकृतानां दण्डानां प्रत्येकं भिन्नभ्रमणक्रियाणामभिन्नमिव भ्रमणं प्रतीयते॥ (२) सादृश्यागमकर्मत्वात्—सदृशागमात् सदृशकर्मत्वाच्च। (३) सूक्ष्मागमात्—शास्त्र में धमनी और सिरा की विभिन्नता के जितने उदाहरण मिलेंगे, उससे कई गुना अधिक उदाहरण दोनों का एकार्थी उपयोग करने के मिलेंगे—जैसे, 'कृशापरूपो धमनीततः प्रतापी (शारीर ४), धमनीजालसंततः (चरक, सूत्र २१) इत्यादि स्थानों में धमनीशब्द सिरावाचक प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वाः सर्वतो वपुः। रसात्मकं वहन्त्योजः। (अष्टाङ्गहृदय), प्रसारवाहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः। (सुश्रुत)—इन स्थानों में सिरा शब्द धमनीवाचक प्रयुक्त किया गया है। (३) समानकर्मत्वात्—दोषधातुवहन यह इनका कर्मसामान्य है। कर्मसामान्य के साथ इनमें कुछ रचनासामान्य भी है। ये तीनों ही अवकाशयुक्त याने मध्यच्छिद्रयुक्त या अन्तःसुषिर (Hollow) होते हैं—आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्। सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाड्य आशयाः॥ इनमें सिराएँ वातादि तीन दोषों का वहन करती हैं, स्रोतस् रस का वहन करते हैं और धमनी (रक्तयुक्त) धातु का वहन करती हैं। अर्थात् भेद विशिष्ट चीज के वहन में है। (४) सौक्ष्म्यात्—सूक्ष्म अंगविनिश्चय ज्ञान के अभाव से। सिरा, धमनी, स्रोतस् सूक्ष्म होने के कारण उनका पृथक्त्व नहीं माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि ये तीनों प्रत्यंग वास्तव में पृथक् होने पर भी इतने सूक्ष्म शारीर ज्ञान का अभाव वैद्यों में या सामान्य जनता में होने के कारण ये पर्याय रूप में प्रयुक्त होते हैं।

धमनी क्या है? धमनी के वास्तविक अर्थ के संबंध में कलापेशी स्नायु इत्यादि के समान कुछ मतभेद प्रचलित है। इस मतभेद के अध्वर्यु पूना के स्वर्गवासी पं० गंगाधर शास्त्री जोशी हैं। उनके मतानुसार धमनी मस्तिष्कसुषुम्ना से निकलने वाली नाड़ियाँ (erebro spinal nerve) हैं। इस मत का विचार करने के पहले धमनी के संबंध में आयुर्वेद में जो मुख्य बातें मिलती हैं, उनका विवरण किया जाता है। वे मुख्य बातें ये हैं—(१) धमनी नाली के समान अवकाशयुक्त या सुषिर वस्तु हैं—आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्। सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यः॥ स्रोतांसि सिरा धमन्यो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि। (चरक, विमान ५)। (अष्टाङ्गसंग्रह, शारीर ६)। (२) हृदय से संबंध—यद्यपि यहाँ पर धमनियों की उत्पत्ति नाभि से बताई गई है (इसका अर्थ इस वक्तव्य के प्रारम्भ में तथा सातवें अध्याय के ३९वें श्लोक के वक्तव्य में स्पष्ट किया गया है) तथापि साधारणतया धमनियों का संबंध हमेशा हृदय के साथ ही लिखा जाता है—स हृद्याच्चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्य कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति। (सूत्र १४)। हृदि च दश धमन्यः। (चरक, सिद्धिस्थान ९)। तेन मूलेन महता महामूला मता दश। ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः॥ (चरक, सूत्र ३०)। आगे नम्बर तीन में दिये हुए उद्धरण भी देखो। (३) धमनी में रस और रक्त का संवहन होता है—रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः। (चरक, विमान ५)। शोणितवहानां तु खलु कुर्वे समान समुत्थानं, स्पन्दनं रक्तादिभ्यो धमन्यः। (चरक, विमान ७)। धमनिस्थे (रन्ध्रे) सर्वेन रक्तमोदप्रनिलः सशब्दं निर्गच्छति। (सुश्रुत, सूत्र २९)। समेत्य हृदयं प्राप्य धमनीरूर्ध्वमागतम्। [?] [?]चेतांसि वीर्यं मदयते विषम्।

(सुश्रुत, सूत्र २९)। मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्। ईषत् कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥ (सुश्रुत, शारीर ३) धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः। दोषाविसरणात्तास्तु न भवन्ति स्तनाश्रयाः ॥ (सुश्रुत, निदान १०)। धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्। चतूरात्रात् त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते ॥ (सुश्रुत, शारीर १०)। असंजाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभाग-मानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां धमनीनां तिर्यग्गतानामुपस्नेहो जीवयति । (सुश्रुत, शारीर ३)। स हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दश चाधोगामिन्यः चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरं तर्पयति। (सुश्रुत, सूत्र १४)। (४) धमनियों में ध्मान या स्पन्दन मिलता है—ध्मानाद्धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः। (चरक, सूत्र ३०)। धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ। करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी। तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः। ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत् ॥ (शार्ङ्गधर, प्रथमखण्ड)। तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयाताम्, परासुरिति विद्यात्। (चरक, इन्द्रियस्थान ४)। मन्ये गलपार्श्वगते धमन्यौ। (चक्रपाणिदत्त)। संक्षेप में आयुर्वेदोक्त धमनियां नाली-दार हृदय से निकलने वाली, रसरक्तवह और स्पन्दनशील (Pul sating) होती है। पं० गंगाधर शास्त्री हृदय का अर्थ मस्तिष्क (Brain) करते हैं—How the dhamanis are said to proceed from हृदय and नाभि is a Question connected with the ancient Yoga-philosophy. Suffice it to say here that even Dr. Gana Nath Sen and the late Prof. Bhanu of Poona have acknowledged that in the ancient philosophy of Yoga and the Upanishads हृदय did mean a part of Brain. योगशास्त्र में हृदय का अर्थ मस्तिष्क भले ही हो, आयुर्वेद में हृदय से वक्षःस्थ रक्तपरिचालक यन्त्र का ही निरपवाद बोध होता है। इस विषय का विस्तृत साधक बाधक प्रमाणों के साथ विवरण चतुर्थ अध्याय के ३३ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इस लिए धमनी से आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार आर्टरी (Artery) का ही बोध होत है। अब, जैसे कि यहाँ पर बताया गया है, सूक्ष्म ज्ञानाभावादि कारणों से धमनी का उपयोग हमेशा आर्टरी के अर्थ में नहीं किया जाता है, यह बात दूसरी है। परन्तु इससे धमनी का वास्तविक मूल अर्थ कहीं भी नहीं छिप सकता। जिस ग्रन्थ में कहीं भी मस्तिष्क का या सुषुम्ना का वर्णन नहीं मिलता, उस ग्रन्थ के कुछ शब्दों से Cerebro-spinal nerves, sympathetic nerve fibers इत्यादि का अर्थ निकालना अज्ञान और धृष्टता का काम है। धमनी का अर्थ Nerve करना इसी स्वरूप का काम है। नर्व या नाडी ठोस होती है, उसमें रस या रक्त का वहन नहीं होता, न स्पन्दन होता है तथा उसका सबंध सुषुम्ना या मस्तिष्क के साथ होता है। याने धमनी और नर्व में एक भी बात की समता नहीं है। ऐसी अवस्था में धमनी को नर्व कहना एक दुराग्रह है। नर्व के सबंध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मृत्यु के पश्चात् शरीर का संशोधन करने से उसके कार्य का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। वह अंग स्नायुतन्तु के साथ भूला जा सकता है। बंगला में नर्व के लिए स्नायु शब्द का ही प्रयोग होता है। हाराणचन्द्र भी स्नायु शब्द से नर्व समझते हैं। आगे नौवें श्लोक के वक्तव्य में हाराणचन्द्र का उद्धृत वचन देखो। धमनी का ज्ञान मृत्यु के पश्चात् भी हो जाता है और मृत्यु के पूर्व भी उसका ज्ञान स्पन्दनादि से हो जाता है। संक्षेप में रक्तवह संस्थान का ज्ञान जितना सुलभ है, उतना मस्तिष्कसंस्थान का नहीं है। अभी तक मस्तिष्क के कुछ प्रदेश तथा उनके कार्य अज्ञात हैं। इस सारे विवरण का तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीयों को और उनके साथ आयुर्वेदवेत्ताओं को मस्तिष्क और सुषुम्ना का तथा शरीर-गत नाड़ियों का ज्ञान नहीं था। परन्तु यह ज़रूर कहना पड़ता है कि मस्तिष्कसंस्थान का ज्ञान हो या न हो, आयुर्वेदवेत्ताओं ने मस्तिष्कसंस्थान जैसे प्रमुख परन्तु कठिन संस्थान के परिचय के झंझट को छोड़कर मनुष्य शारीरगत प्राकृत और विकृत कार्यों का समाधान करने की बड़ी सुन्दर और सरल उपपत्ति निकाली, जिस उपपत्ति के कारण कम से कम प्राचीन काल में, वैद्यकशास्त्र में बहुत सुलभता आ गई। मस्तिष्कसंस्थान के शारीरिक या अंग-विनिश्चयात्मक ज्ञान (Anatomy का अभाव इसी कारण से आयुर्वेद में दिखाई देता है, परन्तु उसके कार्य Physiology) का काफी विवरण आयुर्वेद में मिलता है (सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के ११ वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में पृष्ठ ८० पर नर्वस टिशु का वर्णन देखो)। यह उपपत्ति क्या है?

आयुर्वेद की नींव त्रिदोषों के ऊपर है, इसमें कोई संदेह नहीं है। कोई इनको माने या न माने, तथा पाश्चात्य वैद्यक इनको वैज्ञानिक समझे या न समझे। इन त्रिदोषों में वायु नामक एक दोष सर्वप्रधान माना गया है। इस वायु का बहुत सुदर वर्णन चरकसंहिता के वातकला-कलीय अध्याय में किया गया है—वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदान-समानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभि-वोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः शब्दस्पर्शयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणां, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणु-स्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः। कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुप-तपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय, मनो व्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्यु-पहन्ति, विनिहन्ति गर्भान्, विकृतिमापादयत्यतीतकालं वा धारयति, भयशोकमोहदैन्यातिप्रलापाञ्जनयति, प्राणांश्चोपरुणद्धि ॥ (सूत्र १२)। यह वायु क्या है? आज ठीक नहीं कहा जा सकता। कोई इसको आक्सिजन समझते हैं, कोई कार्बन डायोक्साइड समझते हैं; और कोई प्रणालीविहीन ग्रंथियों के अन्तःस्राव (Hormones) समझते हैं। कुछ भी हो, यह बात शरीर में निरन्तर संचार करता रहता है और इसी संचार के ऊपर प्राणियों का स्वास्थ्य निर्भर होता है—अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः। वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥ (चरक, चिकित्सा २८)। वायु के साथ अन्य दो दोष भी शरीर में संचार करते हैं, परंतु उनका नियन्त्रण वायु के द्वारा ही होने के कारण वे विशेष महत्त्व के नहीं माने गये हैं—पित्तं पंगु कफः पंगुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना

मस्तिष्कसंस्थान का स्वास्थ्य रक्त के उचित संगठन पर निर्भर होता है। यदि रक्त में जीवतिक्ति द्रव्य (Vitamines) चूना (कैलसिअम), भास्वर (फास्फरस), तिक्तीअम्ल (एमिनो एसिड) इत्यादि द्रव्यों की तथा शरीरगत अन्तःस्रावों (Hormones) की कमी हो तो मस्तिष्कसंस्थान शारीरिकदृष्ट्या ठीक होने पर अनेक नाडीविकार उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेद में मस्तिष्क तथा नाडियों के लिए जो स्थान नहीं दिया गया है, उसके लिए एक दार्शनिक दृष्टान्त दिया जा सकता है। सभी लोग जानते हैं कि ध्वनि की उत्पत्ति के लिए वायु की आवश्यकता होती है, वायु के विना ध्वनि उत्पन्न नहीं हो सकती। यह सब कुछ होते हुए भी दर्शनशास्त्रों में शब्द आकाश का गुण बताया गया है—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि। गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः। (न्यायदर्शन १)। आधुनिक वैज्ञानिक खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि आकाश (Ether) में शब्दोत्पत्ति होती है। आजकल आकाशवाणी (Radio) अत्यन्त दूर स्थान से आकाश द्वारा ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार शरीर में वातिक, प्राकृत और विकृत लक्षण मस्तिष्कसुषुम्ना नाडियों के द्वारा ही होते हैं, परन्तु आयुर्वेद में नाडियों के बदले रक्तस्थ वात को ही प्राधान्य दिया है। इसलिए आयुर्वेद में शारीरिक अंगविनिश्चय की दृष्टि से कहीं भी मस्तिष्क या सुषुम्ना या नाडियों (Nerves) का उल्लेख नहीं मिलेगा। भाषान्तर में कहीं कहीं जो नाडी का उल्लेख आता है, वह तो केवल आधुनिक परिभाषा की दृष्टि से अर्थ स्पष्ट करने के लिए किया गया है। आगे भी आठवें और नौवें श्लोकों का वक्तव्य देखो।

तासां तु खलु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्यः, चतस्रस्तिर्यग्गाः ॥३॥

(चौबीस धमनियों के विभाग—) नाभि से उत्पन्न होने वाली इन धमनियों की दस (धमनियां शरीर के) ऊपर की ओर, दस (धमनियां) नीचे की ओर और चार तिर्यक् (पार्श्वों में जाती हैं) ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वगाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादीन् विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति। तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्। तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरसगन्धानष्टाभिर्गृह्णीते, द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते, द्वे चाश्रुवाहिण्यौ, द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः स्तनसंश्रिते, ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः, तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरूर्ध्वं नाभेरुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवाबाहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥ ४ ॥

(ऊर्ध्वंग धमनियों के कार्य—) ऊपर जाने वाली (धमनियां) शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध, प्रश्वास, उच्छ्वास, जम्भाई, छींक, हँसना, रोना, बोलना इत्यादि विशेषों को अभिवहन करती हुई शरीर को धारण करती हैं। ये दस धमनियां हृदय के पास पहुँचने पर तीन भागों में विभक्त होती हैं। वे तीस हो जाती हैं। इनमें वात, पित्त, कफ, रक्त और रस को दो दो वहन करती हैं वे दस, शब्द, रूप, रस और गन्ध को (प्रत्येक के लिए दो दो करके) आठ ग्रहण करती हैं, दो से भाषण करता है, दो से अव्यक्त शब्द करता है, दो से सोता है, दो से जागता है, दो (आँखों के) अश्रु का वहन करने वाली हैं, दो स्तनाश्रित स्त्रियों के स्तन्य का संवहन करती हैं, वही दो स्तनों से पुरुषों के शुक्र का संवहन करती हैं, (इस तरह ऊर्ध्वंग दस धमनियों की) ये तीस धमनियाँ उनके विभाग के साथ वर्णन की गई हैं। इनके द्वारा नाभि से ऊपर पेट, पार्श्व, पीठ, छाती, कन्धे, ग्रीवा और बाहु इनका धारण और यापन होता है ॥ ४ ॥

वक्तव्य—प्रश्वासोच्छ्वास—इनके अर्थ के सम्बन्ध में मतभिन्नता दिखाई देती है—प्रश्वासोन्तः प्रविशति वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायुः। (डल्हण)। प्रश्वासः श्वासप्रेरणमुच्छ्वासोऽन्तः प्रवेशनम्। (इन्दु, अष्टांगसंग्रह, सूत्र २०)। भाषते, घोषं करोति—भाषत इति ताल्वादिस्थानव्यापारनिष्पादिताकारादिवर्णव्यक्तियुक्तं शब्दं करोति, घोषश्च तद्विपरीतोऽव्यक्तः शब्दः। (डल्हण)। ग्रीवा—सशिरग्रीवा। शिर के साथ ग्रीवा।

इस सूत्र में तथा आगे के दो सूत्रों में जो धमनियाँ वर्णन की गई हैं, उन सब धमनियों का प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से पर्याय नाम देना कठिन है। तथापि जिनका दिया जा सकता है, उनका अँग्रेजी पर्याय नाम नीचे दिया जाता है। उसके साथ साथ पं० गंगाधर शास्त्री के पर्याय भी कोष्ठ में दिये जाते हैं।

शब्दवह धमनी—Internal auditory artery (Acoustic nerves); रूपवह धमनी—Central retinal artery (optic nerves); रसवह धमनी—Lingual artery (Nerves of taste that is branches from glossopharyngeal and lingual); गन्धवह धमनी—Sphenopalatine branch of the internal maxillary (olfactory nerves); घोषकरा धमनी—Laryngeal arteries (Inferior laryngeal nerves); भाषण धमनी—Sublingual artery (Hypoglossal nerves); अश्रुवाही धमनी—Lacrimal artery (Lacrimal nerves); स्तन्यवह धमनी—Mammary artery; स्तन्योत्पादन से सम्बन्ध रखने वाली नाडियाँ ही शरीर में नहीं हैं—No secretary nerves of the mammary gland have yet been discovered. It is possble, they do not exist, and that the normal stimulus to mammary activity is a chemical one brought about by the ovary. Halliburton's phy sio logy. इसलिए इच्छा रखने वाले भी स्तन्यवह धमनी के लिए कोई नाडी नहीं बता सके। प्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादिविशेष—ये श्वसन के ही विशेष प्रकार हैं, जिनमें श्वसन की महाप्राचीरा (Diaphragm) तथा अन्य पेशियाँ काम करती हैं। इसलिए इनको रक्त की रसद पहुँचाने वाली धमनियाँ ग्रहण करनी चाहिएँ; जैसे—Phrenic and inter-costal arteries। इन स्थानिक धमनियों के सिवा ये सब कार्य मस्तिष्क के द्वारा नियन्त्रित होते हैं; इसलिए ऊर्ध्वंग धमनियों से मस्तिष्क की संपूर्ण धमनियों का ग्रहण होता है। इस सूत्र की टीका में डल्हणा-

यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥ (शार्ङ्गधर)। अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट् । (सुश्रुत)। ये दोष शरीर में संचार करते हैं, अर्थात् इनके संचरण के लिए मार्ग की आवश्यकता है। शवविच्छेदन तथा पाश्चात्य वैद्यक पढ़ने से जिनको नवीन दृष्टि प्राप्त हुई है (जैसी कि पं० गंगाधर शास्त्री जी को प्राप्त हुई थी), वे कह सकते हैं कि वायु का मार्ग शरीरगत नर्व (Nerves) होती हैं। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि तीनों दोष हमेशा साथ रहते हैं, एक ही *वाहिनी* में से संचार करते हैं। यह वाहिनी नालीदार पोली होती है और इनका वाहन रस (या रक्त) होता है—कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् । यत्र सङ्गः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥ (सुश्रुत, सूत्र २४, १८)। व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा । युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र स. । तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥ (अष्टांगहृदय, शारीर ३)। इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—एवमनेन न्यायेन दोषाणामपि वातादीनां व्यानेन विक्षिप्यमाणानामेकदेशप्रकोपेण विकारकरत्वं स्यात् ॥ व्यान वायु हृदय में निवास करके रससंवहन का कार्य करता है। इससे स्पष्ट है कि यह हृदय हार्ट है, ब्रेन नहीं है। अर्थात् वातादि दोष रससंवहन के साथ शरीर में हमेशा परिभ्रमण किया करते हैं और प्राकृत अवस्था में प्राकृत कार्य और विकृत अवस्था में विकार उत्पन्न करते हैं, परंतु उनका मार्ग और वाहन दोनों अवस्थाओं में एक ही होता है। नर्व में से वायु का संचार मानने के लिए सभी (प्राचीन तथा आधुनिक) तैयार होंगे। परंतु उसी में से पित्त और कफ का वहन मानने के लिए कोई भी तयार नहीं होगा। चूंकि ये तीनों साथ रहते हैं और रस के द्वारा रसवाहिनियों में से संपूर्ण शरीर में संचार करते हैं। इसलिए वायु का कार्य जहाँ पर दिखाई देता है, वहाँ पर शारीरिक अंगविनिश्चय की दृष्टि से नर्व अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, न आयुर्वेद की उपपत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ नर्व कर सकते हैं। इस प्रकार यदि अर्थ किये जायँ तो कई बार अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होंगे। इसके कुछ उदाहरण सातवें अध्याय के ३६ वें श्लोक के वक्तव्य में तथा चौथे अध्याय के ३३ वें श्लोक के वक्तव्य में हृदय का अर्थ करने के समय दिये गये हैं। कुछ उदाहरण यहाँ पर भी दिये जाते हैं—(१) *धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानम*संशयम् । स्वाः सिराः सञ्चरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥ (सुश्रुत, शा० ७)। इस श्लोक पर प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना में म० म० गणनाथ सेन लिखते हैं—न हि सिरासु सञ्चरद्रक्तं स्पर्शज्ञानं साधयति, तद्धि स्पर्शज्ञानवाहिभिर्नाडीप्रतानैः (Nerves) सम्पद्यते ॥ रसयोगसागर उपोद्घात (पृष्ठ १२८) में भी इस श्लोक पर लिखा है—ह्यत्र धातूनां पूरणमित्यनेन सिरार्थमभ्युपगतौ । स्पर्शज्ञानमित्यनेन ज्ञानतन्तु(Nerves) कार्यं निर्दिष्टम् । तच्च सिरास्वसंबद्धं किन्तु ज्ञानतन्तुनिर्वाह्यं, सिरासु संचरद्रक्तं तन्न साधयति ॥ (२) वर्णयोर्दश तासां शब्दवाहिनी-*नामेकैकां परिहरेत् ॥ परिभाषितनाड्यर्थे* सिराशब्दप्रयोगः । (प्रत्यक्षशारीर प्रस्तावना ६६)। (३) यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः । तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः । मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥ (सुश्रुत, निदान १)। ह्यत्र ज्ञानतन्तुषु धमनीशब्दः प्रयुक्तः । (रसयोगसागर उपोद्घात १२८)। इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जहाँ पर अर्थ की दृष्टि से सिरा या धमनी या नाडी का उलथा नर्व किया जा सकता है। परंतु वास्तव में आयुर्वेदोक्त सिरा, धमनी, स्रोतस् या नाडी नर्व नहीं है, रस या रक्त को वहन करने वाली नाली है। ये प्रयोग न गलती से हुए हैं, न गफलत से, न प्रतिसंस्कर्ता के दोष से, न प्रक्षेप से, परंतु *ठीक आयुर्वेद की उपपत्ति के* अनुसार हुए हैं। यह उपपत्ति आधुनिक पाश्चात्य तत्त्व के अनुसार गलत कही जा सकती है, यह दूसरी बात है। परन्तु इस नये तत्त्व के आधार पर पुरानी कल्पना को बदलकर नये के साथ मिलाने की कोशिश करना ठीक नहीं है। रस या रक्त के साथ वातादि दोष संचार करके शरीर में प्राकृत (Normal) तथा वैकृत (Abnormal) कार्य करते हैं। इस उपपत्ति में सत्य का संपूर्ण अभाव नहीं मालूम होता, बल्कि बहुत कुछ तथ्य प्रतीत होता है। जैसे, मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से चक्कर, अंधता उत्पन्न होती है, रक्त की अधिकता होने से सिरदर्द होता है। मस्तिष्कगत रक्तप्रवाह के बन्द होने से मृत्यु होती है, किसी एक स्थान का प्रवाह बन्द होने से एकांगघात, पक्षाघात होता है। सुषुम्ना में कहीं पर रक्तप्रवाह में बाधा होने से पङ्गुता उत्पन्न होती है, कान के रक्तप्रवाह में बाधा होने से बाधिर्य, कर्णक्ष्वेड होता है। आंखों की रक्तवाहिनी में बाधा उत्पन्न होने से अंधता होती है। कुर्सी पर या कठिन आसन पर अधिक देर बैठने से टांगों के रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होकर पैरों में झुनझुनी, स्वाप, जड़ता इत्यादि उत्पन्न होते हैं। नींद में एक करवट अधिक समय तक सोने से हाथ के रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होकर हाथ में भी पैर की तरह झुनझुनी इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। आधुनिक पाश्चात्य संप्राप्ति के अनुसार ये सब नाडीसंस्थान के रोग (Nervous diseases) होते हैं, परन्तु इन विकारों में मस्तिष्कसंस्थान की धातु में कोई खराबी नहीं होती। जो कुछ भी होती है, वह असल में रक्तवहन की होती है। अर्थात् अगर कोई इन विकारों का कारण मस्तिष्कसंस्थान न समझकर रक्त समझे तो इसमें विशेष दोषावह नहीं है। जब कान की रक्तवाहिनी में खराबी होने से कान का कार्य ठीक नहीं होता, *तब इसका अनुमान यह होता है कि* रक्तवाहिनी ठीक होने से कान का काम भी ठीक होता है। आयुर्वेद में ये सब कार्य वायु के द्वारा होते हैं, ऐसा माना गया है। इसका मतलब यह है कि जब प्रत्येक प्रत्यंग की रक्तवाहिनी में अविकृत वायु संचार करती है, तब उसका कार्य ठीक होता है। और जब विकृत वायु संचार करती है, तब उसका कार्य खराब हो जाता है। जिह्वा की रक्तवाहिनी में अविकृत वायु का संचार होने पर गंधज्ञान ठीक होगा और विकृत वायु का संचार होने पर गंधज्ञान में गड़बड़ हो जायगी। संक्षेप में, रसरक्त के द्वारा शरीर के संपूर्ण कार्य विकृत या अविकृत होते हैं, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। पाश्चात्य वैद्यक को भी मानना पड़ता है कि शब्द स्पर्शादि कार्य शरीर में यद्यपि मस्तिष्कसंस्थान के द्वारा होते हैं तथापि

मभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे' इति स्पष्टं गवीन्योरेव निर्देशः। (प्रत्यक्ष शारीर, प्रस्तावना)। शुक्रवहे द्वे—शुक्रोत्पादक अंगों याने वृषणग्रंथियों को रक्त की रसीद पहुँचाने वाली धमनियाँ Testicular and spermatic arteries (Spermatic plexus)। इनके द्वारा रक्त पहुँचने पर वृषणग्रंथियाँ शुक्रोत्पादन में समर्थ होती हैं। इसलिए लिखा है—शुक्रप्रादुर्भावाय । द्वे शुक्रविसर्गाय—वृषणग्रन्थि में उत्पन्न हुआ शुक्र मैथुन के अन्त में अधिवृषणिका; शुक्रवाहिनी, शुक्राशय और अष्ठीला ग्रन्थि, इनके संकोच से मूत्रमार्ग द्वारा वाहर फेंका जाता है अर्थात् शुक्रविसर्गकर धमनियों से इन अङ्गों की धमनियों का वोध होता है—Arteries supplying epidimysis, Vasa deferentia, seminal vesicle and prostate। नारीणामार्तवसंज्ञे द्वे आर्तववहे—आर्तव की उत्पत्ति की कारवाई बीजकोश और गर्भाशय में होती है। इसलिए आर्तववह धमनियों से गर्भाशय और बीजकोश की धमनियों को ग्रहण करना चाहिए—Uterine and ovarian arteries (Hypogastric and ovarian plexus) वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिवद्धे—स्थूलान्त्र का काम मल को नीचे की ओर ले जाकर वाहर फेंकने का है। इसलिए स्थूलान्त्र के इस काम में सहायता करने वाली धमनियाँ 'वर्चोनिरसनी' कहलाती हैं—Inferior mesenteric artery, middle colic and right colic arteries (Pelvic visceral nerves)। एताभिरधोनाभेः पक्काशयकटीमूत्रपुरीषगुदवस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च—ये तीस धमनियाँ पनी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा नाभि के नीचे के पक्काशयादि वत तथा अनुक्त अङ्गों को रक्त की रसीद पहुँचाकर उनका ारण और पोषण करती हैं। अधोगामी धमनियों से आधुनिक ात्यक्ष शारीर की दृष्टि से औदरिक महाधमनी और उसकी ाखा-प्रशाखाओं (Abdominal aorta and its branches) का बोध होता है। सक्थि में कोई विशेष कार्य न होने के कारण उपर्युक्त विवरण में उसका उल्लेख नहीं किया गया है, अन्त में उनका सिर्फ नाम दिया है। स्वेदमर्पयन्ति—स्वेदापनयनार्थं रक्तं (रसं वा) अर्पयन्ति ।

भवति चात्र—

अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः ।
तिर्यग्गाः संप्रवक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम् ॥७॥

अधोगामी धमनियाँ ये (उपर्युक्त) सब कर्म करती हैं। (अब) तिर्यग्गामी धमनियों तथा उनके कर्मों को याथातथ्य से वर्णन करूँगा ॥ ७ ॥

तिर्यग्गानां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते तास्त्वसङ्ख्येयाः, ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विवद्धमाततं च, तासां मुखानि रोमकूपप्रतिवद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च, तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तःशरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्कानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णाति; तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वाङ्गगताः सविभागा व्याख्याताः ॥ ८ ॥

(अधोगामी धमनियों का वर्णन—) तिर्यग्गामी चारों धमनियों में से प्रत्येक उत्तरोत्तर सैकड़ों और हजारों शाखाओं में विभक्त होती हैं, (इस प्रकार शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हुई) ये धमनियाँ अपरिसंख्येय हो जाती हैं, जिनके द्वारा यह शरीर झरोखेदार (जालीदार) बँधा हुआ और व्याप्त होता है। इनके मुख (अन्तिम सिरे) रोमकूपों से संबन्धित हैं जिसके द्वारा ये स्वेद का अभिवहन करती हैं तथा भीतर और वाहर अन्नरस (को पहुंचाकर उस) के द्वारा संतर्पण करती हैं। इन्हीं के द्वारा ही त्वचा में प्रयुक्त हुए अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाहन तथा आलेपन (के द्रव्यों) के वीर्य शरीर के भीतर प्रवेश करते हैं, इन्हीं के द्वारा सुखकर या असुखकर (दुःखकर) स्पर्श का ग्रहण (जीवात्मा) करता है। सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई ये चार धमनियां विभागों के साथ वर्णन की गई हैं ॥ ८ ॥

वक्तव्य—तिर्यग्गामी धमनियाँ—ऊर्ध्वगामी धमनियाँ सिर, ग्रीवा, छाती और ऊर्ध्वशाखा के भीतरी कार्यों से सम्बन्ध रखती हैं; अधोगामी धमनियां उदरगुहागत अङ्गों से तथा टाँगों से सम्बन्ध रखती हैं और तिर्यग्गामी धमनियाँ शरीर के वाह्यभाग से याने त्वचा से सम्बन्ध रखती हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार तिर्यग्गामी धमनियों को (Cutaneous or peripheral vessels) कह सकते हैं। रोमकूप—इससे स्वेदग्रंथियों का ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद में स्वेद का संवन्ध हमेशा रोमकूपों के साथ लगाया जाता है—स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता। (सूत्र १५)। स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः। (अष्टांगहृदय)। रोमकूप और स्वेदग्रंथियां स्वतन्त्र होती हैं और जहां पर रोमकूप विलकुल नहीं होते—जैसे, हस्तपादतल—वहां पर स्वेदग्रंथियां वहुत अधिक होती हैं। त्वचि विपक्वानि—त्वचा पर प्रयुक्त होकर प्रचूषित होने के पश्चात् उसकी अग्नि के द्वारा विपक्व हुई। त्वचा में अभ्यङ्ग (Massage) के लिए विविध तेल, परिषेक (Spray) के लिए विविध ओषधियों के काढ़े अवगाह (Bath) के लिए विविध ओषधिजल, आलेप और प्रलेप (Ointments, paints, pigments) के लिए विविध ओषधियों के रस और कल्क प्रयुक्त होते हैं। ये सब ओषधियां त्वचा के कूपों (Pores) से शोषित होती हैं, यह वात आधुनिक विज्ञान से सिद्ध हुई है। विएन्ना (Vienna) के प्रो० स्टेज्स्केल (Stejskal) ने यह वात अपने अनुभव पर निश्चित की है और वताया है कि जिस समय रोगी मुख द्वारा अन्न सेवन करने में असमर्थ होता है, उस समय त्वचा के ऊपर विशेष प्रकार के अन्न का प्रलेप करने से उसका शोषण होकर रोगी का पोषण कुछ काल तक हो सकता है। आपने इसके लिए एक विशेष कल्क (Paste) भी वनाया है, जिसका उपयोग त्वचा द्वारा रोगी के पोषण के काम में होता है। धमनी का अर्थ नाडी करने में जैसे स्तन्यवह धमनियों में कठिनाई रही (पीछे ४ सूत्र का वक्तव्य देखो) वैसे यहां पर भी है क्योंकि नाडियों द्वारा अभ्यंगादि का वीर्य शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता रक्तवाहिनियों के द्वारा ही कर सकता है। यैः स्वेदमभिवहन्ति तैरेव—'यैः' और 'तैः' का सम्वन्ध धमनियों के मुखों के साथ याने पर्याय से रोमकूपों के साथ होता है। स्पर्शं सुखमसुखं वा—'सुखम्' और 'असुखम्' स्पर्श के विशेषण हैं।

अर्थं लिखते हैं—रसवाहिन्यस्तु: प्रत्येकं द्वाभ्यां द्वाभ्यामित्यत्रापी रसः पवनादिनामवयवानवयवोऽपमनेऽनुगामित्वमनीभिर्गृह्यते । मनस-माणुत्वादेकत्वाच्च न सां युगपत्प्रवृत्तिर्नास्तीति, तासां वा धमनी मनसाऽनुयुज्यते तथैव रूपादिप्र-पद्ममन्थमा गृहीते, न पुनर्युगप-देव रूपादिकं सर्वं सर्वाभिरिति ।

भवति चात्र—

ऊर्ध्वंगमा(ता)स्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः ।
अधोगमास्तु वक्ष्यामि कर्म तासां यथायथम् ॥५॥

ऊर्ध्वंगामी धमनियाँ ये सब कर्म करती हैं। अब अधोगामी धमनियों तथा उनके कर्मों का याथातथ्य वर्णन करूँगा ॥ ५ ॥

अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति। ता स्तु पित्ताशयमभिप्र(ति)पन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विवे(रे)चयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्पयन्ति, अर्पयन्ति चोर्ध्वंगानां तिर्यग्गाणां च, रसस्थानं चाभिपूरयन्ति, मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवे(रे)चयन्ति; आमपक्वाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्; तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, द्वेऽन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते, तोयवहे द्वे, मूत्रबस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे, शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय, ते एव रक्तमभिवहतो (विसृजतश्च) नार्यामार्तवसंज्ञं, द्वे वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे, अष्टावन्यास्तिर्यग्गाणां धमनीनां स्वेदमर्पयन्ति; तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरधोनाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषगुदबस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥६॥

(अधोगामी धमनियों का वर्णन—) अधोगामी धमनियां तो वात, मूत्र, मल, शुक्र तथा आर्तव इनको अधोभाग में वहन करती हैं। ये पित्ताशय के पास पहुँचने पर पाचकाग्नि से अच्छी तरह पाचित हुए, अन्न-पान के रस को ग्रहण करके अभिवहन करती हुई, शरीर का तर्पण करती हैं, ऊर्ध्वगामी और तिर्यग्गामी धमनियों को (रस) पहुँचाती हैं, रसस्थानों को रस से पूर्ण करती हैं, मूत्र पुरीष और स्वेद को (अन्नरस से) पृथक करती हैं और आमाशय तथा पक्वाशय के मध्य में तीन भागों में विभक्त होती हैं। (इस प्रकार विभाग होने से) ये तीस धमनियां बनती हैं। इनमें से वात, पित्त, कफ, रक्त और रस को दो दो वहन करती हुई दस होती हैं; आन्त्र में आश्रय करके दो अन्न वहन करती हैं, दो जलवहन करती हैं; मूत्रबस्ति की ओर जाने वाली दो मूत्रवह धमनियां हैं; शुक्रोत्पत्ति के लिए दो शुक्रवह धमनियां हैं; दो शुक्रविसर्जन के लिए हैं; यही (शुक्रवह धमनियां) स्त्रियों में आर्तववहन का काम करती हैं, स्थूलान्त्र के साथ संबंधित हुई दो मलनिरसनी हैं, शेष आठ धमनियाँ तिर्यग्गामी धमनियों को स्वेद (के लिए रक्त) अर्पण करती हैं; इस तरह ये तीस धमनियाँ विभागों के साथ वर्णित हुई हैं। इन धमनियों से नाभि से नीचे पक्वाशय, कटी, मूत्र, पुरीष, गुद, बस्ति, मेढ्र और सक्थि इनका धारण और यापन होता है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—अधोगामी धमनियों का संबंध औदरिक विभाग और अधोगत शाखाओं से होता है। वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति—वातमूत्रादि पदार्थ उदरविभाग में उत्पन्न होते हैं और इनकी गति की दिशा नीचे की ओर होती है। ये पदार्थ धमनियों से रक्त की रसीद पहुँचने पर तत्तज्जनक अंगों से उत्पन्न होकर नीचे की ओर चल देते हैं, इसलिए धमनियां इनको नीचे ले जाती हैं, ऐसा शब्द-प्रयोग किया गया है। पित्ताशयमभिप्रपन्ना—आमाशय और क्षुद्रान्त्र में पहुँचने के बाद। पित्तधरा कला का यही स्थान है। इसी स्थान पर सेवन किये हुए अन्न का पाचन और शोषण होकर अन्नरस बनता है और शरीर का पोषण उससे होता है। पाचन और शोषण का कार्य करने में अग्नि तब समर्थ होता है, जब उसको धमनियों से रक्त की रसीद मिलती है। इसलिए धमनियां अन्नपान रस की विवेचक और अभिवाहक बतलाई गई हैं। अर्पयन्ति च ऊर्ध्वगानां तिर्यग्गानाम्—अधोगामी धमनियों से अन्नपान का पचन होने में सहायता मिलकर रस बनता है, जो सिराओं और रसायनी द्वारा हृदय में जाकर ऊर्ध्वगामी तथा तिर्यग्गामी धमनियों का तर्पण करता है। अर्थात् ऊर्ध्वगामी धमनियों का तर्पण अप्रत्यक्षतया अधोगामी धमनियाँ ही करती हैं। रसस्थानम्—हृदयम्—यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते। तस्य च हृदयं स्थानम्। (सूत्र १४)। किंवा रसप्रपा (Cysterna chyli) और रसकूल्या (Thoracic duct)। अन्न का पाचन होने के पश्चात् सात्म्य भाग शोषित होकर वह भाग याने अन्नरस प्रथम रसप्रपा और रसकूल्या में आता है और उनमें से होकर हृदय में चला जाता है। मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवेचयन्ति—मूत्र, पुरीष और स्वेद ये तीन अन्न के मल होते हैं जो आन्त्र, वस्ति (वृक्क) और त्वचा द्वारा पृथक् किये जाते हैं। इनमें से मूत्र और मल को पृथक् करने का काम उदरविभाग में ही होता है, जिसका उल्लेख 'वर्चोनिरसन्यौ' और 'मूत्रवहे' करके किया गया है। स्वेद का काम तिर्यक् धमनियों का है परन्तु तिर्यग्गामी धमनियों को रक्त की रसीद ये धमनियां पहुँचाती हैं, इसलिए स्वेद का जिक्र यहां पर किया गया है। आमपक्वाशयान्तरे—आमाशय और क्षुद्रान्त्र के बीच में या आमाशय और क्षुद्रान्त्र का जो अवकाश है, उस अवकाश में कहीं पर। अन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते—आमाशय और क्षुद्रान्त्र को जाने वाली धमनियाँ जिनके द्वारा रक्त की रसीद पहुंचने पर आमाशय और क्षुद्रान्त्र अपनी विशेष गति के द्वारा अन्न को नीचे की ओर ले जाने में समर्थ होता है—Superior mesenteric and coeliac arteries (Vagi and sympathetic)। मूत्रवहे द्वे—जिनके द्वारा रक्त पहुंचने से मूत्रोत्पत्ति होती है। आयुर्वेद में मूत्र का प्रधान स्थान वस्ति माना गया है। यदि शब्दप्राधान्य माना जाय तो मूत्रवहे धमनियों से Vesical arteries समझ सकते हैं। यदि अर्थ की दृष्टि से आधुनिक कल्पना के अनुसार देखें तो Renal arteries वृक्कों की धमनियां समझना उचित है (Nerves from the renal plexus spermatic, ovarian, inferior mesenteric plexus and hypogastric plexus.)। कविराज गणनाथसेन इससे गवीनी (Ureters) समझते हैं—'मूत्रवस्ति-

स्थान हृदय ही है। यह मन हृदय से निकलने वाली धमनियों में से होकर इन्द्रियों में प्राप्त होता है और आत्मा को ज्ञानप्राप्ति हो जाती है। इसलिए यह धमनियाँ मनोवह भी कहलाती हैं—मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ् नोक्तानि तथापि मनसः 'केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्व-शरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते। (चक्रपाणिदत्त, इन्द्रिय स्थान ५)। दूसरी बात यह है कि शरीर-विनाशकाल की सूचना धमनियों द्वारा ही मिलती है। धमनियों का एक मुख्य गुण धमन या स्पन्दन है। यावज्जीव धमनियों का स्पन्दन जारी रहता है और इनका स्पन्दन बंद होने पर शरीरविनाश की सूचना मिलती है—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दनम्। तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां परासुरिति विद्यात्। (चरक, इन्द्रिय ३)। चतुर्थ अध्याय के ३०वें सूत्र के वक्तव्य में 'तद्विशेषेण चेतनास्थानम्' इसकी टिप्पणी देखो।

इस श्लोक के अर्थ के संबंध में बहुत मतभिन्नता दिखाई देती है। संदर्भ और क्रम के अनुसार जो अर्थ उचित मालूम हुआ, वह ऊपर दिया गया है। प्राचीन मत-मतान्तर डल्हण की टीका में दिये हुए हैं। अतः वह टीका नीचे उद्धृत की जाती है—पञ्चाभिभूताः पञ्चभ्यो भूतेभ्योऽभि समन्ताद् भूताः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ताः, आकाशपवनदहनतोयभूमिभिर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ता धमन्यः; कं? पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्; केषु? पञ्चसु श्रोत्रादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु, कथं? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्, भावयन्ति योजयन्ति, आयान्ति, आगच्छन्ति; काः? धमन्यः, किं? पञ्चत्वम्, किं कृत्वा? भावयित्वा संयोज्य, किं तत् पञ्चेन्द्रियमिन्द्रियपञ्चकं सूक्ष्मरूपं, केषु? पञ्चस्वाकाशादिषु महाभूतेषु; एतेनैतदुक्तं भवति—आकाशादिपंचभूतसमुदायसमुत्पन्ना धमन्यः कर्मपुरुषमिन्द्रियाधिष्ठानेषु पञ्चवारान् भावयन्ति ततश्चेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिषु भूतेषु संयोज्य विनाशकाले धमन्यो विनाशं यान्ति। अन्ये तु—'पञ्चादिभूतान्यथ पञ्चकृत्वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—आदिभूतान्याकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु योजयन्ति, ततश्च पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयित्वा संयोज्य तानि पञ्च आदिभूतानि विनाशकाले पञ्चत्वमायान्ति। अपरे तु—'पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चधा वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—भावयन्ति योजयन्ति, काः? पञ्चाभिभूता धमन्यः आयान्ति, किं? पञ्चत्वं विनाशं, क? विनाशकाले, किं कृत्वा? भावयित्वा संयोज्य, किं तत्? पञ्चेन्द्रियं बुद्धीन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं च, केषु? शब्दादिषु वचनादिषु च स्वकीयेष्वर्थेषु। अथवा पञ्चानामाकाशपवनदहनतोयभूमीनां पृथगाभिमुख्येन भूताः सत्तारूपेण व्यवस्थिता धमन्यः, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्, यथास्वं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयन्ति योजयन्ति॥ गयी त्वन्यथाऽऽपातनिकां विधाय व्याख्याति। यथा—अत्र रूपादिग्राहिणीनां धमनीनां पञ्चत्वात् पञ्चभिर्धमनीभिः पञ्चानामपि रूपादीनां युगपद् ग्रहणेन भवितव्यमित्याशङ्क्याह—पञ्चाभिभूता इत्यादि। अस्यायमर्थः—पञ्चसु रूपादिषु, पञ्चेन्द्रियं चक्षुरादिकं पञ्च धमन्यो 'भावयन्ति'-वेदयन्ति। स्वयं तावत् पञ्चेन्द्रियाणि रूपादिकं विन्दति, ताश्च पञ्च-धमन्यस्तेषु वेदयन्ति। कथं? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्। न च एकवारमेव पञ्चापि धमन्यः पञ्चापीन्द्रियाणि पञ्चस्वपि रूपादिषु वेदयन्ति। तत् कुतः पुनरिति हेतुगर्भविशेषणमाह—अभिभूता अभिमुखं प्राप्ताः। केन? 'मनसा' इति शेषः। कस्मात्? कर्तृमनःपुरःसरेन्द्रियार्थग्रहणात्। मन्ता हि शरीरे एक एव, मनोऽप्येकमेव, तेन मनसा यैव धमनीशब्दादिवहासु धमनीष्वभिप्रपन्ना सैव धमनी स्वधर्मं ग्राहयति मन्तारं नान्येति; यतो मनःपुरःसरैवेन्द्रियप्रवृत्तिः। इदानीं स्वस्थस्यैव रूपादिग्राहित्वमासां न पुनरनिदोपाभिपन्नस्य मरणेऽपीत्याह—पञ्चत्वमित्यादि। विशिष्टनाशकाले पञ्चत्वं यान्ति; धमन्यः पाञ्चभौतिका विनाशकाले पृथक् पृथग्भूतभावेनावस्थानात् पञ्चतां गता उच्यन्ते। पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वेति पुनरप्यनुवादस्तेषां नियतस्वविषयग्राहित्वदर्शनार्थः। ग्रन्थान्तरे—रसवहनं कुर्वन्ति धमन्यः सततं तथा। शब्दादिग्रहणोच्छ्वासनिःश्वसनानि च॥ भावयन्ति पृथक् पश्चात् प्रत्ययाः खलु पञ्चसु। तत्संख्याकरणं यान्ति नाशकाले तु पञ्चताम्॥ शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्। पञ्चतत्त्वावशेषत्वात्पञ्चत्वं गतमुच्यते॥ इति।

इस श्लोक के उत्तरार्ध के संबंध में हाराणचन्द्र लिखते हैं—अथ यदि इन्द्रियाभिमुखमेव प्रसृतास्ता धमन्यः किं तर्हि विनाशकाले 'पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि, मनः प्राणे' इत्यादिनाश्रुतं पुनरिन्द्रियाणां प्रतिलोमगमनाभिनिर्वृत्त्यं प्राणोपसंहारं प्रति मार्गान्तरमभ्युपगच्छसि नेत्याह पञ्चेति। विनाशकाले पञ्चसु प्राणादिपञ्चके पञ्चेन्द्रियमिति 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायादुपदिश्यते बाह्यकरणनिचयमित्यर्थः। यदाह भगवान् भाष्यकारः 'प्राणश्च तदोर्ध्वोच्छ्वासो स्वात्मन्युपसंहृतबाह्यकरणः' इत्यादि। नेह प्राण इत्येकवचनं विप्रतिषिद्धं भवति 'अतएव प्राणः' इति शारीरिकसूत्रभाष्ये प्राणस्य पञ्चवृत्तौ वातविकारे प्रसिद्धतरत्वेनाभ्युपगमात्। भावयित्वा प्रापयित्वा उपसंहृत्येति यावत्। इदमत्राकूतम्—विनाशकाले ऊर्ध्वोच्छ्वासिप्राणाकर्षणविह्वलास्ता एव धमन्यः प्रतिलोमवृत्त्या सर्वप्राणेनेन्द्रियजातमाकर्षन्तं पञ्चतयं प्राणं प्रापयित्वैव निष्क्रियत्वेन पञ्चभूतावशेषत्वं प्राप्नुवन्ति एवं च धमनीनामेव तादृशप्राणोपसंहारसाधनक्षमत्वेन तावत्कालमवस्थाननियमान्न मार्गान्तरमपेक्षितव्यमित्यध्यवसेयम्॥

इस अध्याय में धमनियों की संख्या का तथा उनकी शाखा-प्रशाखाओं का जो वर्णन तथा विवरण किया गया है, वह आधुनिक पद्धति के अनुसार शवविच्छेदनपूर्वक ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित नहीं है। यह वर्णन रक्त ही के द्वारा शरीर के सम्पूर्ण कार्य होते हैं इस तत्त्व के अनुसार सजीव शरीर में जो विविध कार्य प्रत्यक्ष होते हैं, उनका समाधान करने की दृष्टि से अनुमान या कल्पना के आधार पर अधिष्ठित है यह ज़रूर ध्यान में रखना आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक प्राचीन धमनी के लिए आधुनिक प्रतिनिधि मिलना मुश्किल है, तथा जो आधुनिक प्रतिनिधि बतलाये गये हैं वे सोलहों आने प्राचीन धमनियों के साथ नहीं मिल सकते हैं। यह कथन प्राचीन अर्वाचीन सर्व तुलनाओं के लिए लागू होता है और इसी दृष्टि से इन तुलनात्मक बातों का विचार करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः। तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः; एकेषां बहूनि; एतेषां विशेषा बहवः॥११॥

आधुनिक पाश्चात्य शारीरकार्य विज्ञान से स्पर्श में यद्यपि नाड़ियों का ही मुख्य काम होता है तथापि स्पर्शज्ञान में रक्त का भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस विषय की जानकारी हो चुकी है—Loss of blood supply, produced experimentally by compressing an artery digitally or with a pneumatic cuff, and in disease by embolism, thrombosis, arterial spasm, etc, also causes an orderly succession of sensory disturbances resembling those of mechanical compression (of the nerve trunk) *Physiology in Health and Disease by Wiggers* स्पर्श में गुदगुदी, कण्डू, झुनझुनी, सुन्नता, जलन इत्यादि कई प्रकार की वेदनाओं का समावेश होता है।

भवतश्चात्र—

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥ ९ ॥

(*धमनीगत छिद्रों का प्रमाण—*) जैसे कमलनालों में तथा (उनके) तन्तुओं में स्वभाव से ही छिद्र (नालियां) होते हैं, वैसे ही धमनियों के छिद्र होते हैं, जिनके द्वारा रस का उपचय होता है ॥ ९ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में स्पष्ट रूप से बतलाया है कि धमनियां मृणाल या बिस के समान छोटी मोटी आकार की *अन्तःसुषिर होती हैं और उनमें से रस का संवहन* होता है। अर्थात् धमनी शरीरगत एक रस या रक्तवह नाली है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, महाभारत इत्यादि प्राचीन ग्रंथों में इसी अर्थ में धमनी का प्रयोग किया गया है—शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्। अस्थुरिन् मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्य मे, कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद् धमनीर्मही। (अथर्ववेद १-१७-२, ३)। अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनीभ्यः। यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते। (अथर्ववेद २-३३-६)। तदद्जत सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्वं स मेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वा स्नेयमुदकं स समुद्रः। छांदोग्योपनिषद् (३-१९-२)। पञ्चविंशत्तथाऽपि तथा नव शतानि च। षट्पञ्चाशच्च जानीत सिराधमनिसंज्ञिताः। (३-१०१)। आक्रम्य मातुः कण्ठमाच्छिद्य धमनीमपि। कथं नव प्रपास्यामि फेनिलं रुधिरं द्रु ॥ (महाभारत, आदिपर्व १५२)। हाराणचन्द्र भी धमनी का अर्थ रक्तवाहिनी करते हैं। उनके मतानुसार स्नायु नाड़ी (Nerve) का कार्य करते हैं। सूक्ष्मशोधन की सहायता से अंग विनिश्चय करते समय स्नायुरज्जु या सूत्रस्नायु को नाड़ी मानने की भूल की जा सकती है, धमनी को नाड़ी समझने की भूल कदापि भी नहीं हो सकती क्योंकि दोनों में कुछ भी समता नहीं है। स्नायुरज्जु और नाड़ी दोनों ही शुभ्र, सूत्रमय ठोस होते हैं। इसलिए स्नायु को नाड़ी मानने की भूल क्षम्य है। शारीरविच्छेदन के समय इस प्रकार की भूल कई बार हुआ करती है। नाड़ियों के कार्य का ज्ञान मृत शरीर में कदापि नहीं हो सकता। हाराणचन्द्र लिखते हैं—तथाहुरपरे यथा श्रोत्रादिगतासु तासु तासु स्नायुषु दुष्टासु छिन्नासु वा सत्स्वपि शब्दादयो नैव श्रोत्रादिविषयीभवन्ति, अपि चापरे वैचित्र्या विनश्यत्स्वेतान्येन न तथा धमनी तथाविधासु स्थितोऽपि स्नायव एव शब्दादीनमवहन्ति न पुनर्धमन इति तन्न न सम्यक्, धमन्यादावशुद्धारक्तमनर्पणेन स्नायुभिः विभिन्दत्सु कार्यं द्विपन्ते तदंगुना यत्नेन तदाश्रितत्वात् स्नायूनामपि समूलघातमुपहतोऽनोपलम्भात्। न चेत्तदेव रा करोतीति भृत्ये कृत्येषु कर्मसु भर्तृकर्तृत्वप्रसिद्धिदर्शनात् ॥ यदि कार्य के अनुसार अर्थ किया जाय तो जैसे घर की सेठानी को कपड़े धोते समय धोबिन, घर का काम करते समय नौकरानी, बच्चे का मल-मूत्र उठाते समय मिहतरानी कहने का अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होता है, *वैसे ही धमनी को* नाड़ी, सिरा, स्नायु कहने का प्रसंग उत्पन्न होता है परंतु जैसे उपर्युक्त सब काम करने पर भी सेठानी सेठानी ही होती है, *नौकरानी नहीं हो सकती, वैसे ही धमनी* सब कुछ करने पर भी अर्थविनिश्चय की दृष्टि से धमनी (Artery) ही रह जाती है। धमनी की व्युत्पत्ति रसयोग सागर के उपोद्घात (पृष्ठ १२६) में पं० हरिप्रपन्नजी देते हैं—धम्यते उच्छ्वस्यते क्रियते पूर्यते धाम्यते वा शरीरं दाभिरिता धमन्य इति व्युत्पत्त्या साधारणतया वस्तिछिद्रद्मार्गोपस्थितावपि धमनी शब्दस्य योगरूढत्वेन न सिरादिष्वतिव्याप्तिः। 'भस्त्रेव धमन्यमयस्य विद्योऽसि' (ऋ० २।१०२) इत्यनिरुक्ते 'सिरारादिम्यश्च' (पा० ३।१।१०१) इति डीषि धमनीति संपद्यते। धमनीनां शरीरे रसधमनैकत्वात् शुद्धरक्तवाहित्य उच्यन्ते।

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वा
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा
पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ॥ १० ॥

(धमनियों का माहात्म्य—) पञ्च इन्द्रियों में प्रवृत्त हुई धमनियां आत्मा को पञ्च इन्द्रियार्थों में पञ्चकृत्वा संयोजित किया करती हैं, (*और इस तरह विनाश काल तक*) आत्मा को पञ्च इन्द्रियार्थों के साथ मिलाकर शरीर विनाश के समय (स्वयं) पञ्चत्व को प्राप्त होती हैं ॥ १० ॥

वक्तव्य—पञ्चाभिभूता—पञ्चेन्द्रियाण्याभिमुख्येन प्राप्ताः पञ्चेन्द्रियप्रसृता धमन्यः। पञ्चकृत्वा—आत्मा को ज्ञानप्राप्ति का साधन इन्द्रियां होती हैं। यद्यपि इन्द्रियां पाँच हैं तथापि *मन एक होता है और जब तक मन इन्द्रियों* के साथ नहीं मिलता, तब तक आत्मा से अर्थ ग्रहण नहीं होता—*आत्मा मनसा* संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। (चक्रपाणिदत्त, चरक 'सूत्र' ८)। मन एक होने के कारण पांच इन्द्रियों के अर्थों का ग्रहण करने के लिए आत्मा मन का पांचों के साथ पांच बार संयोग होने की आवश्यकता होगी। एक बार सब का संयोग और ग्रहण नहीं होगा। इसलिए पञ्चकृत्वा लिखा है। पञ्चेन्द्रियम्—पञ्चेन्द्रिययुक्त कर्म पुरुष या आत्मा। आत्मा को ज्ञान पञ्चेन्द्रियों द्वारा ही होता है—*आत्मा* च करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते। (चरक, शारीर)।

इस श्लोक में धमनियों के संबंध में दो महत्व की बातें बताई गई हैं। प्रथम बात तो यह है कि आत्मा का ज्ञान का साधन जो इन्द्रियां, उनका आत्मा के साथ संबंध जोड़ने का काम धमनियां ही करती हैं। आत्मा हृदय में रहता है (४ अध्याय में ३४वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। मन का

स्थान हृदय ही है। यह मन हृदय से निकलने वाली धमनियों में से होकर इन्द्रियों में प्राप्त होता है और आत्मा को ज्ञानप्राप्ति हो जाती है। इसलिए यह धमनियां मनोवह भी कहलाती हैं—मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ् नोक्तानि तथापि मनसः 'केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते। (चक्रपाणिदत्त, इन्द्रिय स्थान ५)। दूसरी बात यह है कि शरीर-विनाशकाल की सूचना धमनियों द्वारा ही मिलती है। धमनियों का एक मुख्य गुण धमन या स्पन्दन है। यावज्जीव धमनियों का स्पन्दन जारी रहता है और इनका स्पन्दन बंद होने पर शरीरविनाश की सूचना मिलती है—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दनम्। तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां परासुरिति विद्यात्। (चरक, इन्द्रिय ३)। चतुर्थ अध्याय के ३०वें सूत्र के वक्तव्य में 'तद्विशेषेण चेतनास्थानम्' इसकी टिप्पणी देखो।

इस श्लोक के अर्थ के संबंध में बहुत मतभिन्नता दिखाई देती है। संदर्भ और क्रम के अनुसार जो अर्थ उचित मालूम हुआ, वह ऊपर दिया गया है। प्राचीन मत-मतान्तर डल्हण की टीका में दिये हुए हैं। अतः वह टीका नीचे उद्धृत की जाती है—पञ्चाभिभूताः पञ्चभ्यो भूतेभ्योऽभि समन्ताद् भूताः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ताः, आकाशपवनदहनतोयभूमिभिर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ता धमन्यः; कं? पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्; केषु? पञ्चसु श्रोत्रादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु, कथं? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्, भावयन्ति योजयन्ति, यान्ति, आगच्छन्ति; काः? धमन्यः, किं? पञ्चत्वम्, किं कृत्वा? भावयित्वा संयोज्य, किं तत् पञ्चेन्द्रियमिन्द्रियपञ्चकं सूक्ष्मरूपं, केषु? पञ्चस्वाकाशादिषु महाभूतेषु; एतेनैतदुक्तं भवति—आकाशादिपंचभूतसमुदायसमुत्पन्ना धमन्यः कर्मपुरुषमिन्द्रियाधिष्ठानेषु पञ्चवारान् भावयन्ति ततश्चेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिषु भूतेषु संयोज्य विनाशकाले धमन्यो विनाशं यान्ति। अन्ये तु—'पञ्चादिभूतान्यथ पञ्चकृत्वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—आदिभूतान्याकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु योजयन्ति, ततश्च पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयित्वा संयोज्य तानि पञ्च आदिभूतानि विनाशकाले पञ्चत्वमायान्ति। अपरे तु—'पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चधा वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—भावयन्ति योजयन्ति, काः? पञ्चाभिभूता धमन्यः आयान्ति, किं? पञ्चत्वं विनाशं, क? विनाशकाले, किं कृत्वा? भावयित्वा संयोज्य, किं तत्? पञ्चेन्द्रियं बुद्धीन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं च, केषु? शब्दादिषु वचनादिषु च स्वकीयेष्वर्थेषु। अथवा पञ्चानामाकाशपवनदहनतोयभूमीनां पृथगाभिमुख्येन भूताः सत्तारूपेण व्यवस्थिता धमन्यः, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्, यथास्वं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयन्ति योजयन्ति॥ गयी त्वन्यथाऽऽपातनिकां विधाय व्याख्याति। यथा—अत्र रूपादिग्राहिणीनां धमनीनां पञ्चत्वात् पञ्चभिर्धमनीभिः पञ्चानामपि रूपादीनां युगपद् ग्रहणेन भवितव्यमित्याशङ्क्याह—पञ्चाभिभूता इत्यादि। अस्यायमर्थः—पञ्चसु रूपादिषु, पञ्चेन्द्रियं चक्षुरादिकं पञ्च धमन्यो 'भावयन्ति' वेदयन्ति। स्वयं तावत् पञ्चेन्द्रियाणि रूपादिकं विन्दति, ताश्च पञ्च धमन्यस्तेषु वेदयन्ति। कथं? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्। न च एकवारमेव पञ्चापि धमन्यः पञ्चापीन्द्रियाणि पञ्चस्वपि रूपादिषु वेदयन्ति। तत् कुतः पुनरिति हेतुगर्भविशेषणमाह—अभिभूता अभिमुखं प्राप्ताः। केन? 'मनसा' इति शेषः। कस्मात्? कर्तृमनःपुरःसरेन्द्रियार्थग्रहणात्। मन्ता हि शरीरे एक एव, मनोऽप्येकमेव, तेन मनसा यैव धमनीशब्दादिवहासु धमनीष्वभिप्रपन्ना सैव धमनी स्वधर्मं ग्राहयति मन्तारं नान्येति; यतो मनःपुरःसरैवेन्द्रियप्रवृत्तिः। इदानीं स्वस्थस्यैव रूपादिग्राहिणीत्वमासां न पुनरतिदोषाभिपन्नस्य मरणेऽपीत्याह—पञ्चत्वमित्यादि। विशिष्टनाशकाले पञ्चत्वं यान्ति; धमन्यः पाञ्चभौतिका विनाशकाले पृथक् पृथग्भूतभावेनावस्थानात् पञ्चतां गता उच्यन्ते। पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वेति पुनरप्यनुवादस्तेषां नियतस्वविषयग्राहित्वदर्शनार्थः। ग्रन्थान्तरे—रसवहनं कुर्वन्ति धमन्यः सततं तथा। शब्दादिग्रहणोच्छ्वासनिःश्वसनानि च॥ भावयन्ति पृथक् पश्चात् प्रत्ययाः खलु पञ्चसु। तत्संख्याकरणं यान्ति नाशकाले तु पञ्चताम्॥ शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्। पञ्चतत्त्वावशेषत्वात्पञ्चत्वं गतमुच्यते॥ इति।

इस श्लोक के उत्तरार्ध के संबंध में हाराणचन्द्र लिखते हैं—अथ यदि इन्द्रियाभिमुखमेव प्रसृतास्ता धमन्यः किं तर्हि विनाशकाले 'पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि, मनः प्राणे' इत्यादिनाश्रुतं पुनरिन्द्रियाणां प्रतिलोमगमनाभिनिर्वृत्त्यं प्राणोपसंहारं प्रति मार्गान्तरमभ्युपगच्छसि नेत्याह पञ्चेति। विनाशकाले पञ्चसु प्राणादिपञ्चके पञ्चेन्द्रियमिति 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायादुपदिश्यते वाक्करणनिचयमित्यर्थः। यदाह भगवान् भाष्यकारः 'प्राणश्च तदोर्ध्वोच्छ्वासी स्वात्मन्युपसंहृतवागादिकरणः' इत्यादि। नेह प्राण इत्येकवचनं विप्रतिषिद्धं भवति 'अत एव प्राणः' इति शारीरिकसूत्रभाष्ये प्राणस्य पञ्चवृत्तौ वातविकारे प्रसिद्धतरत्वेनाभ्युपगमात्। भावयित्वा प्रापयित्वा उपसंहृत्येति यावत्। इदमत्राकूतम्—विनाशकाले ऊर्ध्वोच्छ्वासिप्राणाकर्षणविह्वलास्ता एव धमन्यः प्रतिलोमवृत्त्या सर्वप्राणेनेन्द्रियजातमाकर्षन्तं पञ्चतयं प्राणं प्रापयित्वैव निष्क्रियत्वेन पञ्चभूतावशेषत्वं प्राप्नुवन्ति एवं च धमनीनामेव तादृशप्राणोपसंहारसाधनक्षमत्वेन तावत्कालमवस्थाननियमान्न मार्गान्तरमपेक्षितव्यमित्यध्यवसेयम्॥

इस अध्याय में धमनियों की संख्या का तथा उनकी शाखा-प्रशाखाओं का जो वर्णन तथा विवरण किया गया है, वह आधुनिक पद्धति के अनुसार शवविच्छेदनपूर्वक ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित नहीं है। यह वर्णन रक्त ही के द्वारा शरीर के सम्पूर्ण कार्य होते हैं इस तत्व के अनुसार सजीव शरीर में जो विविध कार्य प्रत्यक्ष होते हैं, उनका समाधान करने की दृष्टि से अनुमान या कल्पना के आधार पर अधिष्ठित है यह ज़रूर ध्यान में रखना आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक प्राचीन धमनी के लिए आधुनिक प्रतिनिधि मिलना मुश्किल है, तथा जो आधुनिक प्रतिनिधि बतलाये गये हैं वे सोलहों आने प्राचीन धमनियों के साथ नहीं मिल सकते हैं। यह कथन प्राचीन अर्वाचीन सर्व तुलनाओं के लिए लागू होता है और इसी दृष्टि से इन तुलनात्मक बातों का विचार करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः। तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः; एकेषां बहूनि; एतेषां विशेषा बहवः॥११॥

(स्रोतस्, उनके नाम और संख्या—) अब इसके पश्चात् स्रोतसों के मूलवेध के लक्षण बतलायेंगे। जिनके ऊपर (शल्य शास्त्र का) अधिकार है वे प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह और आर्तववह हैं। कई आचार्यों के अनुसार स्रोतस् बहुत होते हैं; (परन्तु धन्वन्तरि कहते हैं कि स्रोतस् इतने ही होते हैं) उनके विशेष (भेद) बहुत हैं ॥११॥

वक्तव्य—मूलविद्धलक्षणम्— स्रोतसों के प्रभव स्थान में वेध होने से उत्पन्न होने वाले लक्षण। प्राणोदकान्न इत्यादि— यहाँ पर ग्यारह भाव दिये हैं, जिनके वाहक स्रोत होते हैं। प्रत्येक भाव के दो स्रोतस् हैं, इस प्रकार बाईस स्रोतस् हो जाते हैं। चरकसंहिता में कुल तेरह भावों के स्रोतस् बताये गये हैं जिनमें अस्थिवह, मज्जवह और स्वेदवह स्रोतस् अधिक हैं और आर्तववह स्रोतस् नहीं दिये हैं, तथा प्रत्येक प्रकार के स्रोतस् की संख्या सुश्रुत के समान दो न होकर बहुत होती है। एकैकं बहूनि—यावन्त एव स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति सर्वगतत्वात्, सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम्। न त्वेतदेवम्, यस्य हि स्रोतांसि यच्च वहन्ति यच्चावहन्ति, यत्र चावस्थितानि, सर्वं तदन्यत्तेभ्य। अति बहुत्वात् खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये। (चरक, स्रोतोविमान) स्रोतसों की संख्या के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि प्रत्येक प्रकार के स्रोतस एक माने जायँ तो उनकी संख्या परिसंख्येय हो जाती है और यदि प्रत्येक स्रोतस को पृथक् पृथक् गिना जाय, याने प्रत्येक प्रकार के स्रोतसों की शाखाप्रशाखाएँ पृथक् गिनी जायँ तो स्रोतस् अपरिसंख्येय हो जाते हैं। असंख्येय मानने का कारण शाखा प्रशाखाएँ हैं, यह नीचे के मधुकोश के उद्धरण से स्पष्ट होगा—ननु अपां वाहिष्विति बहुवचनं विरुद्धं, 'द्वे उदकवहे' इति सुश्रुतेनोक्तत्वात्। नैवम्, तयोरेवानेकप्रतानयोगादिति। (तृष्णानिदान) अब स्रोतसों के प्रकार किस आधार पर बनाये जाते हैं, इसके संबन्ध में चरक में लिखा है—यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः। (स्रोतोविमान)। शरीर में प्राण, अन्न, जल, सात धातु, तीन मल, तीन दोष और स्त्रियों में शुक्र का प्रतिनिधि आर्तव इतने सत्रह ही मूर्तिमन्त भाव होते हैं। इनमें से त्रिदोष सर्वशरीरव्यापी होने से इनके लिए स्वतन्त्र स्रोतस् नहीं होते। इसलिए शरीर में स्रोतसों की संख्या प्रकारों के अनुसार केवल चौदह होती है। चरक में चौदह प्रकार के स्रोतस् वर्णन किये हैं। सुश्रुत में अस्थिवह, मज्जवह, और स्वेदवह स्रोतसों का वर्णन नहीं किया गया है। इसके संबंध में डल्हणाचार्य लिखते हैं—अस्थिमज्जस्वेदवाहिषु स्रोतःसु शस्त्रस्यानधिकारः, कथम्? तत्रास्थिवहानां सकलानामेव मेदो मूलं मज्जवहानां च तेषां सकलान्येव अस्थीनि सकलशरीरगतानि, न च सकलशरीरगतविद्धलक्षणं साध्यादिज्ञाननिश्चायकम्, एवं स्वेदवहानामपि केवलं मेदो मूलमिति पूर्वेणैव समानम्, अतः शल्यतन्त्रे तेषां मूलविद्धलक्षणानधिकारः। अनुमेयार्थं चेतसि कृत्वाऽऽह, येष्वधिकार इति। 'शल्यतन्त्रे' इति शेष, कायचिकित्सायां तु स्रोतोदुष्टिलक्षणं वाच्यं तेन सकलाङ्गगतानामपि स्रोतसां काय चिकित्सायामधिकारः। शल्यतन्त्राधिकारेऽपि नियतदेशस्थितेषु विद्धेषु वेदनाविशेषस्यानिश्चयत्वान्न साध्यादिज्ञाननिश्चायकत्वमिति तेषामनधिकारः॥ सुश्रुत में प्रत्येक प्रकार के स्रोत दो बतलाये गये हैं। चरक में ऐसा नहीं है। स्रोत क्या है?—(१) स्रोतसों के सम्बन्ध में चरक में लिखा है—सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते क्षयं वाप्यभिगच्छन्ति। स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन॥ इस पर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—अभिनिर्वर्तन्त इति सन्ताननयेन। परिणाममापद्यमानानामिति पूर्वपूर्वरसादिरूपतापरित्यागेनोत्तरोत्तररक्तादिरूपतामापद्यमानानाम्। अयनार्थेनेति वचनान्न स्थिराणां धातूनामभिवाहीनि भवन्ति स्रोतांसि, किन्तु देशान्तरप्रापणेनाभिवाहीनि भवन्ति। एवं मन्यते—रक्तस्य वृद्धिः शोणितरूपतया परिणमत् रसेन भिन्नेन कर्तव्या, स च स्थानान्तरस्थस्य रसस्य रुधिरेण सम्मेलको न गमनमार्गं स्रोतःसञ्ज्ञमन्तरा भवति। अयं तावदभिसन्धि—स्रोतःकार्यिको हि धातूनां प्रायो रक्तादीनामुत्तरधातुपोषकमात्रपरिणामो भवति, तथाप्युत्तरधातुपोषणं नान्तरेण स्रोतो भवति, यथा रक्तं न्याय स सर्वत्र शरीरे भवेत्, न चान्यस्रोतसाऽन्यधातुपुष्टिः सम्भवति, सर्वपोष्याणां भिन्नदेशत्वात्। न ह्यभिन्नेन स्रोतसा भिन्नदेशद्वयो मेचनमस्ति॥ इसका अभिप्राय यह है कि स्रोतस धातुओं के रूपान्तर में याने शरीरगत विविध भावों की उत्पत्ति में तथा उनके वहन में भाग लेते हैं। स्रोतसों का यह प्रथम और मुख्य लक्षण है। (२) स्रोतसों के वर्ण जिन धातुओं में होते हैं या जिनका वहन करते हैं उनके अनुसार होता है, वे गोल चपटे और सूक्ष्म होते हैं तथा पत्ते के प्रतान के समान वे फैले रहते हैं—स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च। स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च॥ (चरक)। (३) स्रोतस नाली के समान या अवकाशयुक्त शरीरगत अवयव है—स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति। (चरक)। (४) स्रोतसों से रस का स्रवण भी होता है—स्रवणात्स्रोतांसि। (चरक)। स्रवणादिति रसादेरेव पोषस्य स्रवणात्। (चक्रपाणिदत्त)। ये चार लक्षण प्रत्येक स्रोत के लिए आवश्यक नहीं हैं, किसी में एक किसी में दो लक्षण मिलते हैं, किसी में चारों मिलते हैं। इसलिए स्रोतस् से साधारणतया शरीरगत नालियों (Ducts, tubular structures) का बोध होता है। इसके सिवा स्रोतस से रक्तवाहिनियों (Blood vessels and capillaries) का भी साधारण बोध होता है। क्योंकि धातु या मल की उत्पत्ति रसरक्त से ही होती है, जब रक्त विशिष्ट धातु में या विशिष्ट मलोत्पादक अंग में पहुँचता है। इस तरह सदर्भ के अनुसार यहाँ पर स्रोतस् का अर्थ कर लेना चाहिए। इन अर्थों के सिवा आयुर्वेद में ऊपर तीसरे नम्बर में बताये हुए सब पर्यायों के लिए भी स्रोतस् शब्द प्रयुक्त होता है।

तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य क्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति ॥ १२ ॥

(प्राणवह स्रोतस्—) इनमें प्राणवह दो हैं; इनका मूल हृदय और रसवाही धमनियाँ हैं। इनमें वेध होने से आक्रोश,

शरीर का झुकना, मूर्च्छा, चक्कर, कंप अथवा मृत्यु होती है॥१२॥

वक्तव्य—रसवाहिन्यश्च धमन्यः—इसके बदले 'प्राणवाहिन्यश्च धमन्यः' ऐसा भी पाठभेद है। इस पाठभेद से श्वासवाहिनियों (Bronchii)का वोध होता है। यह पाठभेद अच्छा है, इससे प्राणवह स्रोतसों में प्राणवायु का प्रवेश होता है—नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्। पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः॥ (शार्ङ्गधर) । प्राणवहे द्वे—प्राणवह स्रोतसों से दोनों तरफ के दो फुफ्फुसों का ग्रहण करना उचित है। इन फुफ्फुसों का मूल हृदय याने हृदय से फुफ्फुस में जाने वाली धमनियाँ (Pulmonary arterie) तथा कण्ठनलिका से आने वाली श्वासनालियाँ होती हैं। धमनियों के द्वारा आया हुआ रक्त फुफ्फुस के भीतर केशिकाओं में फैलता है और श्वासनालियों से आये हुए प्राणवायु का ग्रहण करके फिर फुफ्फुस सिराओं द्वारा हृदय में चला जाता है। शरीर में प्राणवायु का ग्रहण और वहन करने का प्रधान अंग फुफ्फुस (Lungs) है। सुश्रुत में इसके वेध के जो लक्षण दिये हैं, वे सब ठीक हैं, परन्तु चरक में दिया हुआ लक्षण इसके वेध का प्रधान (Cardinal) है—अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्॥ इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवह स्रोतस् दूषित होने पर साँस में सब प्रकार की कठिनाई होती है, उसके साथ शब्द Wheezing) और पीड़ा होती है। इस लक्षण को श्वासकृच्छ्र(Dyspnea, Breathlessness) कहते हैं। प्राणवह स्रोतसों की दुष्टि के कारण—क्षयात् संधारणाद् रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च। प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः (कर्मभिः)॥ (चरक)। स्थान, लक्षण और विकृति के कारणों को देखकर प्राणवह स्रोतसों से फुफ्फुस समझना ही उचित है। पं० हरिप्रपन्नजी प्राणवह स्रोतसों (Pulmonary arteries (फुफ्फुस धमनियां) समझते हैं। यदि दो शब्द के ऊपर अधिक जोर देना हो तो प्राणवह स्रोतसों से दो श्वासप्रणालियाँ (Bronchii) समझ सकते हैं।

अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याध्मान शूलान्नद्वेषौ छर्दिः पिपासाऽऽन्ध्यं मरणं च ॥ १३ ॥

(अन्नवह स्रोतस्—) अन्नवह (स्रोतस्) दो हैं, इनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियां हैं। वहाँ पर वेध होने से आध्मान (पेट का फूलना), शूल, अन्नद्वेष, वमन, प्यास, चक्कर अथवा मरण होता है ॥ १३ ॥

वक्तव्य—अन्नवह स्रोतस्—इससे अन्नप्रणाली (Oesophagus) और क्षुद्रान्त्र समझ सकते हैं। आमाशय अन्न का आधार है—तत्र आमाशयः, स चतुर्विधस्याहारस्याधारः। (सूत्र २१)। अन्नप्रणाली आमाशय तक अन्न का वहन करती है और क्षुद्रान्त्र आमाशय से आगे की ओर अन्न का वहन करता है। अन्नवह स्रोतस् दुष्टि के कारण—अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्। अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकस्य च॥ (चरक)। अन्नवह स्रोतसों के साथ आमाशय भी वैसे आ जाता है। आन्ध्यं मरणं वा—आमाशय या क्षुद्रान्त्र के ऊपर आघात होने से स्तब्धता या मूर्च्छा या हृद्भेद से (छठे अध्याय के २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) ये लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। क्षुद्रान्त्र से यहाँ पर ग्रहणी का ही ग्रहण विशेषतया करना चाहिए, क्योंकि उसी का संबंध अन्न से अधिक रहता है—अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता। नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता। अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति॥ (चरक, ग्रहणीचिकित्सित)।

उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च ॥ १४ ॥

(उदकवह स्रोतस्—) उदकवह दो हैं, उनका मूल तालु और क्लोम है। उनका वेध होने से प्यास और मृत्यु होती है॥१४॥

वक्तव्य—उदकवहे द्वे—उदक से यहाँ पर जल (पीने का पानी) अभिप्रेत नहीं है, परन्तु शरीरगत जल याने लस (Lymph अभिप्रेत है। उदर में यही जल उदरगुहा में इकट्ठा होता है। इसलिए वह दकोदर कहलाता है—परिपाकात् परिणामेन दकोदरता सर्वेष मेव; अन्यान्युदराणि परिपाकादुदकभावं भजन्ते, दकोदरं प्रागेवेति विशेषः। (डल्हण, निदान अध्याय ७)। उदकवह स्रोतसों का सम्बन्ध अधिकतर उदररोग में आता है और उनके लिए अम्बुवाही या जलवाही शब्दों का भी प्रयोग होता है—पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि। (सुश्रुत, उदरनिदान)। इस पर मधुकोश में लिखते हैं—तद्वहानि उदकवहानि। अन्नरस उपस्नेहन्यायेन वहिर्निःसृत्योदरं जनयतीत्यर्थः। ऊर्ध्वाधो धातवो रुद्ध्वा वाहिनीरम्बुवाहिनीः। कुर्युः...उदरम्॥ रुद्ध्वाऽम्बुमार्गाननिलः कफश्च जलमूर्च्छितः। वर्धयेतां तदेवाम्बु तत्स्थानादुदराश्रितौ॥ (अष्टांगहृदय, उदरनिदान)। उदररोग में लसवाहिनियों (Lymphatics) में खराबी होती है। यह सिद्ध बात है—Ascites is very common in heart failure. It is also in part caused by portal congestion and by obstruction to the lymph flow from thoracic duct owing to the rise of venous pressure. In uncomplicated cases (of cirrhosis) the ascites is probably always in part due to the lymphogogue action of toxins normally destroyed by the liver, which increases the flow of fluid into the peritoneal cavity by injuring the vessel walls. *Practice of medicine by F. W. Price.* ये उदकवाही स्रोतस् दो होने पर भी अनेक क्यों बतलाये गये हैं? इसका विचार पीछे ११वें सूत्र के वक्तव्य में मधुकोश के आधार पर किया गया है। उदकवह स्रोतस् से, इसलिए लसवाहिनियाँ विशेष करके वाम और दक्षिण रसकुल्ये (Lymphatics, especially thoracic duct and right lymphatic duct) इनका ग्रहण करना उचित है। तयोर्मूलं तालु क्लोम च—रसकुल्या और लसवाहिनियों का ग्रहण उदकवह स्रोतसों के लिए करने पर उनका मूल या प्रभव स्थान सम्पूर्ण शरीर में होता है, किसी एक स्थान में नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में इनका मूल तालु मानने के कारणों का भी विचार करना आवश्यक है। उदकवह स्रोतसों का संबंध शरीर-

(स्रोतस , उनके नाम और संख्या—) अब इसके पश्चात् स्रोतसों के मूलवेध के लक्षण बतलायेंगे। जिनके ऊपर (शल्य शास्त्र का) अधिकार है वे प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह और आर्तववह हैं। कई आचार्यों के अनुसार स्रोतस् बहुत होते हैं; (परन्तु धन्वन्तरि कहते हैं कि स्रोतस् इतने ही होते हैं) उनके विशेष (भेद) बहुत हैं ॥११॥

वक्तव्य—मूलविद्धलक्षणम्—स्रोतसों के प्रभव स्थान में वेध होने से उत्पन्न होने वाले लक्षण। प्राणोऽन्नाम्ब इत्यादि—यहाँ पर ग्यारह भाव दिये हैं, जिनके वाहक स्रोत होते हैं। प्रत्येक भाव के दो स्रोतस् हैं, इस प्रकार बाईस स्रोतस् हो जाते हैं। चरकसंहिता में कुल तेरह भावों के स्रोतस् बताये गये हैं जिनमें अस्थिवह, मज्जवह और स्वेदवह स्रोतस अधिक हैं और आर्तववह स्रोतस नहीं दिये हैं, तथा प्रत्येक प्रकार के स्रोतस की संख्या सुश्रुत के समान दो न होकर बहुत होती हैं। एकेषां बहूनि—अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति सर्वगतत्वात्, सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम्। न त्वेतदेवम्, यस्य हि स्रोतांसि यच्च वहन्ति यच्चावहन्ति, यत्र चावस्थितानि, सर्वं तदन्यत्तेभ्यः। अति बहुत्वात् खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये। (चरक, स्रोतोविमान) स्रोतसों की संख्या के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि प्रत्येक प्रकार के स्रोतस एक माने जायँ तो उनकी संख्या परिसंख्येय हो जाती है और यदि प्रत्येक स्रोतस को पृथक् पृथक् गिना जाय, याने प्रत्येक प्रकार के स्रोतसों की शाखाप्रशाखाएँ पृथक् गिनी जायँ तो स्रोतस् अपरिसंख्येय हो जाते हैं। असंख्येय मानने का कारण शाखाप्रशाखाएँ हैं, यह नीचे के मधुकोश के उद्धरण से स्पष्ट होगा—ननु अपां वाहिनिविति बहुवचन विरुद्ध द्वे उदकवहे इति सुश्रुतेनोक्तत्वात्। नैवम् तयोरेवानेकप्रतानयोगादिति। (तृष्णानिदान)। अब स्रोतसों के प्रकार किस आधार पर बनाये जाते हैं, इसके सम्बन्ध में चरक में लिखा है—यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः। (स्रोतोविमान)। शरीर में प्राण, अन्न, जल, सात धातु, तीन मल, तीन दोष और स्त्रियों में शुक्र का प्रतिनिधि आर्तव इतने सत्रह ही मूर्तिमन्त भाव होते हैं। इनमें से त्रिदोष सर्वशरीरव्यापी होने से इनके लिए स्वतन्त्र स्रोतस् नहीं होते। इसलिए शरीर में स्रोतसों की संख्या प्रकारों के अनुसार केवल चौदह होती है। चरक में चौदह प्रकार के स्रोतस् वर्णन किये हैं। सुश्रुत में अस्थिवह, मज्जवह, और स्वेदवह स्रोतसों का वर्णन नहीं किया गया है। इसके संबंध में डल्हणाचार्य लिखते हैं—अस्थिमज्जस्वेदवाहिषु स्रोतःसु शल्यस्यानधिकार, कथम्? तत्रास्थिवहानां सकलानामेव मेदो मूलं मज्जवहानां च तेषां सकलानामेव अस्थीनि सकलशरीरगतानि, न च सकलशरीरगतविद्धस्य साध्यादिज्ञाननिश्चायकत्वं, एवं स्वेदवहानामपि केवलं मेदो मूलमिति पूर्वेणैव समानम्, अतः शल्यतन्त्रे तेषां मूलविद्धलक्षणानधिकारः। अनुमेयार्थं चेतसि कृत्वाऽऽह, शेषाधिकार इति। 'शल्यतन्त्रे' इति चैव, कायचिकित्सायां तु स्रोतोदुष्टिलक्षणं वाच्यं तेन सकलरोगाणामपि स्रोतसां कायचिकित्सायामधिकारः। शल्यतन्त्राधिकारिषु नियतदेशस्थितेषु विद्धेषु वेदनाविशेषस्यातिसूक्ष्मत्वात् साध्यादिज्ञाननिश्चायकत्वमिति तेषामनधिकारः॥ सुश्रुत में प्रत्येक प्रकार के स्रोतस् दो बतलाये गये हैं। चरक में ऐसा नहीं है। स्रोतस क्या है?—(१) स्रोतसों के सम्बन्ध में चरक में लिखा है—सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते क्षयं वाप्यभिगच्छन्ति। स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन॥ इस पर डल्हणाचार्य लिखते हैं—अभिनिर्वर्तन्त इति संतानयोगेन। परिणाममापद्यमानानामिति पूर्वपूर्वरसादिरूपतापरित्यागेनोत्तरोत्तररक्तादिरूपतामापद्यमानानाम्। अयनार्थेनेति वचनान्न स्थिराणां धातूनामभिवाहीनि भवन्ति स्रोतांसि, किन्तु देशान्तरप्रापणेनाभिवाहीनि भवन्ति। एवं मन्यते—रक्तस्य वृद्धिः शोणितरूपतया परिणमता रसेन भिन्नेनैव कर्तव्या, स च स्थानान्तरस्थस्य रसस्य रुधिरेण सम मेलको न गमनमार्गं स्रोतः समक्रमन्तरा भवति। अथ तावदभिमधि-स्रोतःकारणिको हि धातूनां प्रायो रक्तादीनामुत्तरधातुपोषकभागपरिणामो भवति तथाप्युत्तरधातुपोषणं नान्तरेण स्रोतो भवति यथ रक्ते न्याय स सर्वत्र शारीरे भावे, न चाप्यस्रोतसाऽप्यधातुपुष्टि सम्भवति, सर्वपोष्याणां भिन्नदेशत्वात्। न ह्यभिन्नेन स्रोतसा भिन्नदेशयोर्मेचनमस्ति॥ इसका अभिप्राय यह है कि स्रोतस धातुओं के रूपान्तर में याने शरीरगत विविध भावों की उत्पत्ति में तथा उनके वहन में भाग लेते हैं। स्रोतसों का यह प्रथम और मुख्य लक्षण है। (२) स्रोतसों के वर्ण जिन धातुओं में होते हैं या जिनका वहन करते हैं उनके अनुसार होता है, वे गोल चपटे और सूक्ष्म होते हैं तथा पत्ते के प्रतान के समान वे फैले रहते हैं—स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च। स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च॥ (चरक)। (३) स्रोतस नाली के समान या अवकाशयुक्त शरीरगत अवयव है—स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति। (चरक)। (४) स्रोतसों से रस का स्रवण भी होता है—स्रवणात्स्रोतांसि। (चरक)। स्रवणादिति रसादेरेव पोष्यस्य स्रवणात्। (चक्रपाणिदत्त)। ये चार लक्षण प्रत्येक स्रोत के लिए आवश्यक नहीं हैं, किसी में एक किसी में दो लक्षण मिलते हैं, किसी में चारों मिलते हैं। इसलिए स्रोतस् से साधारणतया शरीरगत नालियों (Ducts, tubular structures) का बोध होता है। इसके सिवा स्रोतस् से रक्तवाहिनियों (Blood vessels and capillaries) का भी साधारण बोध होता है। क्योंकि धातु या मल की उत्पत्ति रस रक्त से ही होती है, जब रक्त विशिष्ट धातु में या विशिष्ट मलोत्पादक अंग में पहुँचता है। इस तरह संदर्भ के अनुसार यहाँ पर स्रोतस का अर्थ कर लेना चाहिए। इन अर्थों के सिवा आयुर्वेद में ऊपर तीसरे नम्बर में बताये हुए सब पर्यायों के लिए भी स्रोतस् शब्द प्रयुक्त होता है।

तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य क्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति ॥ १२ ॥

(प्राणवह स्रोतस्—) इनमें प्राणवह दो हैं; इनका मूल हृदय और रसवाही धमनियाँ हैं। इनमें वेध होने से आक्रोश,

शरीर का झुकना, मूर्च्छा, चक्कर, कंप अथवा मृत्यु होती है॥१२॥

वक्तव्य—रसवाहिन्यश्च धमन्यः—इसके बदले 'प्राणवाहिन्यश्च धमन्यः' ऐसा भी पाठभेद है। इस पाठभेद से श्वासवाहिनियों (Bronchii)का बोध होता है। यह पाठभेद अच्छा है, इससे प्राणवह स्रोतसों में प्राणवायु का प्रवेश होता है—नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्। पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः॥ (शार्ङ्गधर)। प्राणवहे द्वे—प्राणवह स्रोतसों से दोनों तरफ के दो फुफ्फुसों का ग्रहण करना उचित है। इन फुफ्फुसों का मूल हृदय याने हृदय से फुफ्फुस में जाने वाली धमनियाँ (Pulmonary arteries) तथा कण्ठनलिका से आने वाली श्वासनालियाँ होती हैं। धमनियों के द्वारा आया हुआ रक्त फुफ्फुस के भीतर केशिकाओं में फैलता है और श्वासनालियों से आये हुए प्राणवायु का ग्रहण करके फिर फुफ्फुस सिराओं द्वारा हृदय में चला जाता है। शरीर में प्राणवायु का ग्रहण और वहन करने का प्रधान अंग फुफ्फुस (Lungs) है। सुश्रुत में इसके वेध के जो लक्षण दिये हैं, वे सब ठीक हैं, परन्तु चरक में दिया हुआ लक्षण इसके वेध का प्रधान (Cardinal) है—अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्॥ इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवह स्रोतस् दूषित होने पर साँस में सब प्रकार की कठिनाई होती है, उसके साथ शब्द (Wheezing) और पीडा होती है। इस लक्षण को श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea, Breathlessness) कहते हैं। प्राणवह स्रोतसों की दुष्टि के कारण—क्षयात् संधारणाद् रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च। प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः (कर्मभिः)॥ (चरक)। स्थान, लक्षण और आकृति के कारणों को देखकर प्राणवह स्रोतसों से फुफ्फुस समझना ही उचित है। पं० हरिप्रपन्नजी प्राणवह स्रोतसों (Pulmonary arteries (फुफ्फुस धमनियां) समझते हैं। यदि दो शब्द के ऊपर अधिक जोर देना हो तो प्राणवह स्रोतसों से दो श्वासप्रणालियाँ (Bronchii) समझ सकते हैं।

अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याध्मानं शूलान्नद्वेषौ छर्दिः पिपासाऽऽन्ध्यं मरणं च ॥ १३ ॥

(अन्नवह स्रोतस्—) अन्नवह (स्रोतस्) दो हैं, इनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियां हैं। वहाँ पर वेध होने से आध्मान (पेट का फूलना), शूल, अन्नद्वेष, वमन, प्यास, चक्कर अथवा मरण होता है॥ १३॥

वक्तव्य—अन्नवह स्रोतस्—इससे अन्नप्रणाली (Oesophagus) और क्षुद्रान्त्र समझ सकते हैं। आमाशय अन्न का आधार है—तत्र आमाशयः, स चतुर्विधस्याहारस्याधारः। (सूत्र २१)। अन्नप्रणाली आमाशय तक अन्न का वहन करती है और क्षुद्रान्त्र आमाशय से आगे की ओर अन्न का वहन करता है। अन्नवह स्रोतस् दुष्टि के कारण—अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्। अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकस्य च॥ (चरक)। अन्नवह स्रोतसों के साथ आमाशय भी वैसे आ जाता है। आन्ध्यं मरणं वा—आमाशय या क्षुद्रान्त्र के ऊपर आघात होने से स्तब्धता या मूर्च्छा या क्लेद से (छठे अध्याय के २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) ये लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। क्षुद्रान्त्र से यहां पर ग्रहणी का ही ग्रहण विशेषतया करना चाहिए, क्योंकि उसी का संबंध अन्न से अधिक रहता है—अन्नस्याधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता। नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता। अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति॥ (चरक, ग्रहणीचिकित्सित)।

उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च ॥ १४ ॥

(उदकवह स्रोतस्—) उदकवह दो हैं, उनका मूल तालु और क्लोम है। उनका वेध होने से प्यास और मृत्यु होती है॥१४॥

वक्तव्य—उदकवहे द्वे—उदक से यहां पर जल (पीने का पानी) अभिप्रेत नहीं है, परन्तु शरीरगत जल याने लस (Lymph) अभिप्रेत है। उदर में यही जल उदरगुहा में इकट्ठा होता है। इसलिए वह दकोदर कहलाता है—परिपाकात् परिणामेन दकोदरता सर्वेषमेव; अ.थान्युदराणि परिपाकादुदकभावं भजन्ते, दकोदरं प्रागेवेति विशेषः। (डल्हण, निदान अध्याय ७)। उदकवह स्रोतसों का सम्बन्ध अधिकतर उदररोग में आता है और उनके लिए अम्बुवाही या जलवाही शब्दों का भी प्रयोग होता है—पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि। (सुश्रुत, उदरनिदान)। इस पर मधुकोश में लिखते हैं—तद्वहानि उदकवहानि। अन्नरस उपस्नेहन्यायेन बहिर्निःसृत्योदरं जनयतीत्यर्थः। ऊर्ध्वाधो धावन्तो रुद्ध्वा वाहिनीरम्बुवाहिनीः। कुर्युः···उदरम्॥ रुद्ध्वाऽम्बुमार्गाननिलः कफश्च जलमूर्च्छितः। वर्धयेतां तदेवाम्बु तत्स्थानादुदराश्रितौ॥ (अष्टांगहृदय, उदरनिदान)। उदररोग में लसवाहिनियों (Lymphatics) में खराबी होती है। यह सिद्ध बात है—Ascites is very common in heart failure. It is also in part caused by portal congestion and by obstruction to the lymph flow from thoracic duct owing to the rise of venous pressure. In uncomplicated cases (of cirrhosis) the ascites is probably always in part due to the lymphogogue action of toxins normally destroyed by the liver, which increases the flow of fluid into the peritoneal cavity by injuring the vessel walls. *Practice of medicine by F. W. Price.* ये उदकवाही स्रोतस् दो होने पर भी अनेक क्यों बतलाये गये हैं? इसका विचार पीछे ११वें सूत्र के वक्तव्य में मधुकोश के आधार पर किया गया है। उदकवह स्रोतस् से, इसलिए लसवाहिनियाँ विशेष करके वाम और दक्षिण रसकुल्ये (Lymphatics, especially thoracic duct and right lymphatic duct) इनका ग्रहण करना उचित है। तयोर्मूलं तालु क्लोम च—रसकुल्या और लसवाहिनियों का ग्रहण उदकवह स्रोतसों के लिए करने पर उनका मूल या प्रभव स्थान सम्पूर्ण शरीर में होता है, किसी एक स्थान में नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में इनका मूल तालु मानने के कारणों का भी विचार करना आवश्यक है। उदकवह स्रोतसों का संबंध शरीर-

गत जल के साथ होता है तथा तृषा का सम्बन्ध शरीरगत जल के साथ होता है, ये दोनों बातें निर्विवाद हैं। उदररोग में अंबुवाही स्रोतसों की दुष्टि होने से उदरगुहा में जल इकट्ठा होता है और उस समय तृषा भी मालूम होती है—सोऽम्बुवहेषु स्रोतःसु कफरुद्धेषु वृद्धः ... तदेवाम्बु स्वस्थानादुदरायनो ॥ तस्य रूपाणि—अनन्नाभिकाङ्क्षा पिपासा ॥ (चरक, उदरचिकित्सा)। पाश्चात्य वैद्यक में जलोदर के लक्षणों में यद्यपि पिपासा का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता तथापि जलोदर उत्पन्न होने के समय पिपासा उत्पन्न हो सकती है। इसका उल्लेख अप्रत्यक्षतया हर्बर्ट फ्रेंच अपनी किताब (Differential diagnosis) में करते हैं—Cases of extreme thirst may be subdivided into two main groups, namely, those with and those without polyuria. To the other group belong such conditions as excessive loss of fluid into serous membranes उदकवह स्रोतसों का सम्बन्ध शरीरगत जलांश के साथ होता है। इसलिए उनकी दुष्टि में पिपासा की उत्पत्ति एक स्वाभाविक परिणाम है। चरक में केवल पिपासा ही लक्षण बतलाया है—जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्॥ मनुष्यों को प्यास की संवेदना केवल गले के आस-पास के भाग में ही होती है, अन्यत्र नहीं होती। इसलिए पिपासा के समय हमेशा गला, तालु इत्यादि मुखगत प्रत्यङ्गों का उल्लेख होता है—Thirst is a sensation referred to the pharyngeal region rather than to the stomach. *Halliburton's physiology* उदकवह स्रोतसों का सम्बन्ध जल के साथ, जल का संबंध पिपासा के साथ और पिपासा का सम्बन्ध गले के या तालु के साथ होता है। इस विचारप्रणाली के आधार पर उदकवह स्रोतसों का सम्बन्ध, याने पर्याय से मूल तालु में माना गया होगा, ऐसा मालूम पड़ता है। पिपासा—इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य पण्डितों का यह कथन है कि शरीरगत जलांश कम होने से लाला तथा मुखस्थ अन्य ग्रन्थियों से स्राव निकलना बन्द होकर तालु, गला इत्यादि शुष्क हो जाते हैं और इस शुष्कता के कारण प्यास मालूम होती है—The theory postulates that the salivary and buccal glands, like other tissues, become dehydrated and consequently secrete less liquid or none at all. When insufficient fluid is provided to moisten the mucous membranes continually, the local discomfort provoked is interpreted as thirst. *Physiology in Health and disease by Wiggers* चरकसंहिता में भी पिपासा के सम्बन्ध में पर्याय से यही उपपत्ति वर्णन की गई है—पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः। रसवाहिनीश्च नाडीर्जिह्वामूलगलतालुक्लोम्नः। संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ ॥ (तृष्णाचिकित्सित)। संक्षेप में उदकवह स्रोतसों का पिपासा से और पिपासा का तालु से जो स्वाभाविक सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध के कारण उदकवह स्रोतस तालुप्रभव माने गये हैं। स्थूलशरीर की दृष्टि से तालु और उदकवह स्रोतसों में कोई खास सम्बन्ध नहीं होता। सद्यो मरणं च—यहां पर अधिकतर उदरस्थ उदकवह स्रोतस अभिप्रेत हैं, इसलिए उदर पर आघात होने से मृत्यु भी शीघ्र हो सकती है।

रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि च ॥ १५ ॥

(रसवह स्रोतस्—) रसवह दो हैं; उनका मूल हृदय और रसवह धमनियाँ हैं। वहां पर वेध होने से शोष, प्राणवह (स्रोतोमूल) वेध के समान मृत्यु तथा (अन्य) लक्षण होते हैं ॥ १५ ॥

वक्तव्य—रसवहे द्वे—रसवह स्रोतसों का मूल हृदय और चौबीस या दस रसवाही याने आधुनिक कल्पना के अनुसार रक्तवाही धमनियाँ हैं। इसलिए रसवह स्रोतसों से शरीरगत रसवह छोटी छोटी नालियाँ, जो आधुनिक परिभाषा में केशिकाएँ (Capillaries) कहलाती हैं, समझना चाहिए। प्राणवह स्रोतसों का भी यही मूल बतलाया गया है। दोनों में फर्क आधुनिक कल्पना के अनुसार निम्न प्रकार से कर सकते हैं। शरीर में रक्तपरिभ्रमण दो विभागों में बाँटा गया है—लघुपरिभ्रमण (Lesser circulation) और दीर्घ परिभ्रमण (Greater circulation), इनमें लघु का सम्बन्ध प्राणवायु वहन के साथ होकर फुफ्फुस में होता है और दीर्घ का सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर के पोषण के साथ होकर फुफ्फुसेतर अन्य हिस्से में होता है। इसलिए प्राणवह स्रोतसों से फुफ्फुसगत केशिकाएँ (Pulmonary capillaries) और रसवह स्रोतसों से शारीरिक केशिकाएँ (Systemic capillaies) समझ सकते हैं। प्राणवहविद्धवच्च—दोनों का मूल हृदय होने से दोनों में भी वेध के लक्षण एक से होते हैं, तथा मर्माघात के कारण मृत्यु भी हो सकती है।

रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितागमनं रक्तनेत्रता च ॥ १६ ॥

(रक्तवह स्रोतस्—) रक्तवह दो हैं, उनका मूल यकृत्, प्लीहा और रक्तवाही धमनियां हैं। वहां पर वेध होने से शरीर का कालापन, ज्वर, दाह, पाण्डुवर्णता, रक्तस्राव की अधिकता और आँखें रञ्जित होती हैं ॥ १६ ॥

वक्तव्य—रक्तवह स्रोतस—आयुर्वेद में रक्तोत्पत्ति का स्थान यकृत् और प्लीहा माना गया है। इसलिए रक्तवह स्रोतसों का मूल यकृत्, प्लीहा और तद्गत धमनियां मानी गई हैं। रक्तवह स्रोतसों से, अतः, यकृत् प्लीहागत केशिकाएँ मानना उचित है। आधुनिक कल्पना के अनुसार यकृद्गत रक्तपरिभ्रमण (Portal circulation) स्वतन्त्र माना जाता है और उसी के अनुसार रक्तवह स्रोतसों को याकृतकेशिकाएँ (Portal capillaries) कह सकते हैं। तत्र विद्धस्य—यकृत् और प्लीहा के ऊपर वेध होने से दोनों ही विदीर्ण (Rupture) होने का डर रहता है। विदीर्ण होने पर प्रायः मृत्यु हो जाती है। यदि वेध बहुत जोरदार न हो तो मृत्यु नहीं होती। श्यावाङ्गता—शरीर का वैवर्ण्य (cyanosis)—यस्तु पाण्डुवर्णः स्यान्नीलः श्यावपीतकः। (चरक)। दाहः—जलन, यह पीड़ा का उपलक्षण है। शोणितागमनम्—रक्तस्रावश्च। यह रक्तस्राव शरीर के बाहर न होकर यकृत् प्लीहा के भीतर

होता है या उदरगुहा के भीतर होता है। रक्तनेत्रता—रक्त का अर्थ यहां पर लाल न करके रञ्जित (Coloured) करना उचित है। प्रायः आँखों में कुछ पीलापन आ जाता है। यह पीलापन शरीरगत रक्तशोषण के समय उत्पन्न हुई कामला का परिणाम है। नीचे पाश्चात्य शल्यतन्त्र से यकृत् वेध के लक्षण दिये जाते हैं, जो इन लक्षणों के साथ बहुत कुछ मिलते हैं—The chief symptoms are shock, pain and tenderness and the evidences of loss of blood. The process is usually attended by certain amount of jaundice. Well-marked pyrexia may follow the initial shock. *Rose and Carless manual of surgery* वेध के बदले यदि चरक के अनुसार, ये रक्तवह स्रोतोदुष्टि के लक्षण माने जायँ, तब भी ये लक्षण यकृत् प्लीहा की खराबी जिन रोगों में हुआ करती है (जैसे—कालाजार, विषम ज्वर, विविध पाण्डुरोग, कामला) उन रोगों के लक्षणों के साथ बहुत मिलते हैं।

मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुस्त्वचं रक्तवहाश्च धमन्यः। तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं च ॥ १७ ॥

(मांसवह स्रोतस्—) मांसवह दो हैं। उनका मूल स्नायु, त्वचा और रक्तवाही धमनियां हैं। वहाँ पर वेध होने से सूजन, मांसशोष, सिराओं का गठीलापन और मृत्यु होती है ॥ १७ ॥

वक्तव्य—मांसवह स्रोतसों से पेशीगत केशिकाएँ (muscular capillaries) समझ सकते हैं। तत्र विद्धस्य—इनका मूल त्वचा और स्नायु होने के कारण त्वचा और स्नायु पर चोट होने के लक्षण इसमें मिलते हैं। मरणं च—मामूली त्वचा पर वेध होने से मृत्यु होने का कारण नहीं है, परन्तु सिर या ग्रीवा की त्वचा में चोट लगने से और वह व्रण दूषित होने से उपत्वचाशोथ (Cellulitis) के कारण मृत्यु हो सकती है।

मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च ॥ १८ ॥

(मेदोवह स्रोतस्—) मेदोवह दो हैं। उनका मूल कटी और वृक्क हैं। वहां पर वेध होने से पसीना आना, अङ्गों की स्निग्धता, तालु की खुश्की, स्थूल सूजन और प्यास होती है ॥ १८ ॥

वक्तव्य—तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च—चरक में मेदोवह स्रोतसों का मूल वृक्क और वपावहन बतलाया है—मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं वपावहनं च ॥ (स्रोतोविमान)। कटी (नितम्ब प्रदेश) और वपा इन दोनों स्थानों में मेदोवृद्धि अधिक हुआ करती है—वपावहनं वपा उदरस्था स्निग्धवर्तिका यमाहुर्नास्तैलवर्तिकेति । (चक्रपाणिदत्त, स्रोतोविमान)। वपावहनं मेदःस्थानं तैलवर्तिकेति ख्यातम् । (चक्रपाणिदत्त, शारीर ७)। वपानाम (Great omentum) उदर्यायाः कलायाः स्तरचतुष्टयात्मको भाग आम्नायप्रसिद्धो येन स्थूलजवनिकारूपेण पुरस्तात् संच्छाद्यन्तेऽन्त्राणि । (प्रत्यक्षशारीर)। वृक्कों का कार्य—आयुर्वेद में वृक्कों का उल्लेख अनेक स्थानों में मिलता है—पंचदश कोष्ठाङ्गानि प्लीहा च वृक्कौ च वस्तिश्च । यानि मातृतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः । वृक्कौ च वस्तिश्च वृक्कजायां विद्रध्यां पृष्ठकटिग्रहः । (चरक)। रक्तमेदःप्रसादाद् वृक्कौ। वृक्कयोः पार्श्वसंकोचः। (सुश्रुत)। वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः। (शार्ङ्गधर)। वृक्कौ कुक्षिगोलकौ। (डल्हण) वृक्कौ कुक्षिगोलकौ, तौ तु रक्तप्रसादसम्भवौ, अतएव जठरस्थस्य मेदसः पुष्टिकरौ कथितौ, तत्सम्भवात् । (शार्ङ्गधरदीपिका)। इन सब उल्लेखों में कई बार वस्ति और वृक्क, इनका साहचर्य होने पर भी कहीं भी वृक्कों का मूत्रोत्पत्ति के साथ सम्बन्ध नहीं बताया गया है, परन्तु मेदोत्पत्ति के साथ बताया गया है। उदरगुहा में आमाशय, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र, मलाशय, यकृत्, प्लीहा, मूत्राशय, गर्भाशय और वृक्क ये प्रधान अवयव होते हैं। इस सब अवयवों के कार्य आयुर्वेद में वर्णित हैं। वस्ति और वृक्कों के कार्यों को छोड़कर शेष अवयवों के कार्य आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक हैं। मूत्ररोगों का एकमात्र अधिष्ठान वस्ति बतलाया गया है—सर्वेषां मूत्ररोगाणामधिष्ठानं वस्तिः। (अष्टांगसंग्रह)। और मेदोत्पत्ति का अधिष्ठान वृक्क बतलाया गया है—वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः। (शार्ङ्गधर)। मूत्ररोगों के लिए वस्ति का जो जो अधिष्ठान बतलाया गया है, उसमें कुछ तथ्य है परन्तु जो वृक्कों का मेदोत्पत्ति में संबंध बतलाया गया है, उसमें उतना भी तथ्य नहीं है। यह दोष कैसे उत्पन्न हुआ? इसको जानने के लिए मृतसंशोधन की ओर ध्यान देना चाहिए। मृत मनुष्य की उदरगुहा खोलने पर उसमें कई अवयव और कई पदार्थ मिलते हैं। वस्ति में मूत्र मिलता है, जिससे वस्ति का और मूत्र का संबंध निश्चित हो जाता है। मृतशरीर में वृक्कों में न मूत्र मिलता है, न मूत्रोत्पत्ति के साथ संबंध जोड़ने का कोई मोटा साधन उपलब्ध रहता है। वृक्क से निकलने वाली गवीनी (Ureter) वस्ति तक जाती है, परन्तु वह बहुत पतली होने के कारण स्नायुसूत्रों के समान समझी जा सकती है। इसलिए, केवल मृतशरीरसंशोधन से वृक्कों का संबंध मूत्रोत्पत्ति के साथ जोड़ना असंभव है। वस्ति का संबंध मूत्र के साथ जोड़ना आसान है और इसी कारण से वस्ति मूत्ररोगों का प्रधान स्थान माना गया है। अब वृक्कों का मेदोत्पत्ति के साथ संबंध जोड़ने के कारणों का विचार करना है। उदरगुहा में वपा में बहुत मेद मिलता है। इसके सिवा वृक्कों के आसपास और वृक्कों के ऊपर भी मेद होता है—The kidneys are situated in the posterior part of the abdomen, one on either side of the vertebral column, behind the peritoneum, and sourrounded by a mass of fat and loose areolar tissue. The kidney and its vessels are imbedded in a mass of fatty tissue, termed the adipose capsule. Behind the renal fascia is a considerable quantity of fat which constitutes the paranephric body. *Grey's Anatomy.* जैसे, अन्न और आमाशय, मल और मलाशय, मूत्र और मूत्राशय इनका नित्यसाहचर्य देखकर इनका आपस में कार्यकारण या आश्रयाश्रयिसंबंध माना गया है, वैसे ही वृक्कों के ऊपर और आसपास मेद (वृक्क ठोस होने से

इनके भीतर भेद नहीं हो सकता) का साहचर्य देखकर दोनों का आपस में जनक-जन्य भाव माना गया है, ऐसा मालूम पड़ता है। ऐसी अवस्था में मेदवह स्रोतसों का ठीक पर्याय बताना कठिन है। तथापि यदि पर्याय देना हो तो Capillaries of the perinephric tissues and *omentum* दे सकते हैं।

मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं बस्तिर्मेढ्रं च। तत्र विद्धस्यानद्धबस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च ॥ १९ ॥

(मूत्रवह स्रोतस—) मूत्रवह दो हैं, उनका मूल बस्ति और मेढ्र है। वहाँ पर वेध होने से बस्ति का फूलना, मूत्र का रुक जाना और शिश्न की सख्ती होती है ॥ १९ ॥

वक्तव्य—*मूत्रवह स्रोतस्*— आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति की कल्पना यह है कि आन्त्र में ही मूत्र पृथक् होकर आन्त्र से असंख्य सूक्ष्म स्रोतसों द्वारा बस्ति में आता है। अर्थात् इन स्रोतसों का ऊपर का सिरा आन्त्र से और नीचे का बस्ति से सम्बन्धित रहता है। आन्त्र में मलधरा कला से पृथक् हुआ तरल मल पाचक अग्नि और समान वायु के कार्य से इन स्रोतसों में बहते समय पूर्णतया मूत्र में परिवर्तित होकर बस्ति में आता है—पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः। तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ॥ सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः। नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात् ॥ (सुश्रुत, निदान ३)। इसका वक्तव्य भी देखो। अधोमुखो हि बस्तिर्हि मूत्रवाही सिरामुखैः। पार्श्वेभ्यः पूर्यते सूक्ष्मैः स्यन्दमानैरनारतम् ॥ (अष्टाङ्गहृदय)। सिराभिस्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात्। (शार्ङ्गधर)। इस विषय के विशेष विवरण के लिए ग्रन्थकार की Ayurvedic conception about urine formation नामक पुस्तक देखो। प्रायः शारीर कार्य की दृष्टि से आयुर्वेद की यह मूत्रोत्पत्ति की कल्पना ठीक नहीं है। इसलिए मूत्रवह स्रोतसों का कोई ठीक अंग्रेजी पर्याय नहीं दिया जा सकता। यदि आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान के अनुसार इनका अर्थ करना हो तो मूत्रवह स्रोतसों से वृक्कस्थ मूत्रस्रोत (Renal tubules) याने वृक्कान्तर्गत मूत्रोत्पादक नालियाँ समझ सकते हैं। और यदि बस्ति का सम्बन्ध ठीक रखना हो तो तात्पर्य की दृष्टि से गवीनीयुक्त वृक्क (Kidneys with ureters) इनसे समझ सकते हैं। हाराणचन्द्र तथा कुछ अन्य लोग मूत्रवहे द्वे से गवीनी (Ureters) समझते हैं—मूत्रवहे द्वे वृक्कप्रसृते स्तः। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि चरक में मूत्रवाही स्रोतसों की दुष्टि के कारण दिये हैं तथा उनकी चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र के समान बताई है—मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्रीसेवनात् मूत्रनिग्रहात्। मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च ॥ मूत्रविकृच्छ्रेदाणां चिकित्सा मूत्रकृच्छ्रिकी ॥ आयुर्वेद में या पाश्चात्य वैद्यक में वृक्कविहीन गवीनियों का कोई ऐसा रोग नहीं है। इसलिए यदि गवीनी अर्थ करना हो वृक्कयुक्त गवीनी करना उचित है। फिर इनका उल्लेख मूल में परम्परा की दृष्टि से किया गया है।

पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च, तत्र विद्धस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च ॥ २० ॥

(पुरीषवह स्रोतस्—) पुरीषवह दो हैं, उनका मूल पक्वाशय और गुद है। वहाँ पर वेध होने से उदर का फूलना, (मल में) दुर्गन्ध और गाँठें उत्पन्न होती हैं ॥ २० ॥

वक्तव्य—पुरीषवह स्रोतस् से उण्डुक और स्थूलान्त्र का ग्रहण करना चाहिए। तत्र विद्धस्य—पक्वाशय या गुद के ऊपर वेध होने से मलावरोध या प्रवाहिका उत्पन्न हो सकती है। मलावरोध होने पर पेट फूलना, दुर्गन्ध और मल अधिक देर तक रहने से गाँठदार होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। ग्रथितान्त्रता—ग्रथितमलान्त्रता, मल की गाँठें उत्पन्न होने की स्थिति। चरक में साफ लिखा है—कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशब्दशूलमतिद्रवमतिग्रथितमतिबहु चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥

शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च। तत्र विद्धस्य क्लीबता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च ॥ २१ ॥

(शुक्रवह स्रोतस्—) शुक्रवह दो हैं, उनका मूल स्तन और वृषण हैं। वहाँ पर वेध होने से षंढता, देर से वीर्य स्खलन और रक्तयुक्त वीर्य (का निकलना ये लक्षण) होते हैं ॥ २१ ॥

वक्तव्य—शुक्रवहे द्वे—शुक्रवह दो नालियों से Ductus deferens का ग्रहण करना चाहिए और उनसे जो अनेक स्रोतस् आगे वृषण की ओर होते हैं, उनसे Ductuli efferentes and retetestes का ग्रहण करना चाहिए। वृषणग्रन्थि में उत्पन्न हुआ शुक्र इनके द्वारा बाहर आता है। क्लीबता—वीर्य के न निकलने से यह षण्ढता उत्पन्न होती है। स्तनौ—वास्तव में यहाँ पर स्तनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु शुक्रोत्पत्ति और स्तन्योत्पत्ति का मानसिक और शारीरकार्य की दृष्टि से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होता है (निदान के १० वें अध्याय के १६ २१ श्लोक और उनका वक्तव्य देखो) इसलिए यहाँ पर उसका उल्लेख किया गया है। यह एक स्वतन्त्र वाक्य है, जिसकी पूर्ति इस प्रकार से कर सकते हैं—स्तन्यवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ। तत्र विद्धस्यास्तन्यता, चिरात् प्रसेको रक्तस्तन्यता च। स्तन्यवह स्रोतसों से Tubuli lactiferi of mamma समझ सकते हैं।

आर्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तववाहिन्यश्च धमन्यः। तत्र विद्धाया वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश्च ॥ २२ ॥

(आर्तववह स्रोतस्—) आर्तववह स्रोतस् दो हैं, उनका मूल गर्भाशय और आर्तववाही धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से वन्ध्यता, मैथुन कर्म को सहन न करना और आर्तवनाश होता है ॥ २२ ॥

वक्तव्य—*आर्तववह स्रोतस्*—आर्तव शब्द के दो अर्थ दूसरे अध्याय के प्रारंभ में बताये गये हैं—आर्तवशोणित (Menstrual blood) और स्त्रीबीज (Ova), इन दो अर्थों के अनुसार आर्तववह स्रोतस् के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) आर्तवशोणितवहन करने वाले स्रोतस् Blood vessels and capillaries of the *uterus*. (२) बीजवाहक स्रोतस् Fallopian tubes। डॉ० घाणेकरजी तथा अन्य कुछ लोग आर्तववह स्रोतस् का दूसरा अर्थ करते हैं, परंतु यह अर्थ ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि इन आर्तववह स्रोतसों का संबंध स्त्रीबीज वहन के साथ न होकर आर्तव रक्तवहन के साथ होना है। इसका स्पष्ट निर्देश चतुर्थ अध्याय

के निम्न वचन के 'दृश्यते' शब्द से मालूम होता है—गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण तस्माद् गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते ॥ पीछे २३व सूत्र का वक्तव्य भी देखो । आर्तवस्राव के समय गर्भाशय की श्लेष्मल कला के नीचे रक्तवाहिनियाँ (आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार आर्तव स्रोतस्) बहुत विस्फारित होती हैं और श्लेष्मल कला को तोड़कर मासिक स्राव के समय आर्तवशोणित को उत्सर्गित करती हैं। इन आर्तव स्रोतसों के मार्ग गर्भाधान होने पर श्लेष्मल कला की मोटाई काफी बढ़ जाने से बन्द हो जाते हैं, जिससे गर्भवती स्त्रियों में आर्तव दर्शन नहीं होता—The uterine mucous membrane undergoes extensive changes as a result of pregnancy. The mucosa as a whole gro ws to four or five times its former thickness. *Introduction to sexual Physiology by Marshall.* चरक में इन आर्तववह स्रोतसों (रजोवह) का सम्बन्ध प्रदर में वर्णन किया है—रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः । रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः ॥ यस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानवा । तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः ॥ (चिकित्सा) । इससे यह स्पष्ट होगा कि आर्तववह स्रोतसों से गर्भाशयगत रक्तवाहिनियों का ग्रहण उचित है, क्योंकि गर्भाशयगत रक्त ही आर्तव बनता है—तथा रक्तमेव च स्त्रीणां मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्तमानमार्तवमित्याहुः ॥ (अष्टांगसंग्रह, शारीर १)। पं० गंगाधर शास्त्री आर्तववह स्रोतसों से गर्भाशय की श्लेष्मल कला (Uterine mucosa) समझते हैं। परन्तु यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्लेष्मल कला आर्तव का वहन नहीं करती है, परन्तु स्वयं आर्तव में प्रवाहित हो जाती है और गर्भाधान होने पर आर्तववह स्रोतसों का मार्ग अवरुद्ध करती है। आर्तववाही धमनियाँ—Uterine and ovarian arteries । तत्र विद्धायां वन्ध्यात्वम्—गर्भोत्पादन के असामर्थ्य को वन्ध्यात्व (Sterility) कहते हैं। पुरुषों की वन्ध्यता का विवरण पीछे २ अध्याय के २ सूत्र में किया गया है। स्त्रियों के वन्ध्यात्व का विवरण यहाँ पर दिया जाता है । हारीतसंहिता में स्त्रियों के वन्ध्यात्व के तीन प्रधान कारण विभाग दिये हैं—वन्ध्या स्यात् षट्प्रकारेण बाल्येनाप्यथवा पुनः । गर्भकोषस्य भङ्गाद्वा, तथा धातुक्षयादपि । जायते न च गर्भस्य सम्भूतिश्च कदाचन ॥ (३-४८-७)। (१)बाल्येन—बाल्यावस्था में गर्भाशयादि अंगों की जो स्थिति होती है वैसी ही स्थिति युवावस्था में होने से । इस विभाग में Infantile uterus, cochleate uterus तथा अन्य सहज (Congenital) विकृतियों का समावेश कर सकते हैं। (२) गर्भकोषभङ्ग- इसमें जन्मोत्तर (Acquired) गर्भाशय में होने वाले निज या आगन्तुक विकारों का समावेश कर सकते हैं । (३) धातुक्षय—इसमें सार्वदैहिक विकारों (General conditions) का समावेश कर सकते हैं, जिनके कारण शरीरगत धातुओं का क्षय या दौर्बल्य हुआ करता है—जैसे, उचित आहार का न मिलना, रक्तक्षय, पाण्डुरोग, वृद्धावस्था इत्यादि । यहाँ पर वन्ध्यात्व का जो कारण दिया है वह दूसरे विभाग में आता है। वन्ध्यता के निम्न चार महत्व के प्रकार हारीतसंहिता में वहां पर दिये हैं—काकवन्ध्या भवेच्चैका, अनपत्या द्वितीयका । गर्भस्रावी तृतीयाथ कथिता मुनिसत्तमैः । मृतवत्सा चतुर्थी स्यात् ॥ (१) काकवन्ध्या—जिसको एक बार गर्भधारणा हुई है और पश्चात् जो वन्ध्या हो गई है, वह काकवन्ध्या कहलाती है। काकीवदेकमात्रापत्यजननेन वन्ध्यात्वं प्राप्ता । काकवन्ध्या च या नारी मृतापत्या च या भवेत् । बह्वपत्या जीववत्सा सा भवेन्नात्र संशयः ॥ (पद्मपुराण)। काकवन्ध्यता को एकगर्भवन्ध्यता (One child sterility) कहते हैं । इसका कारण यह है कि प्रथम गर्भधारणा के समय स्त्री के शरीर में कोई खराबी न होने पर भी प्रसूति के समय या पश्चात् गर्भाशय में उपसर्ग (Infection) पहुँचने के कारण गर्भाशय या बीजवाहिनी (Fallopian tubes) में खराबी होने से दूसरी बार गर्भधारणा नहीं होती । औपसर्गिक पूयमेह या सोजाक (Gonorrhoea) और राजयक्ष्मा (T. B.) इस प्रकार की वन्ध्यता के प्रधान कारण हैं। आगन्तुक कारणों की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रसूति के समय मूलाधार पीठ का विदीर्ण होना (Laceration of perineum) या गर्भाशय ग्रीवा का विदीर्ण होना (Laceration of cervix uteri) और वैसा ही रहना या चोट लगने के कारण इनका विदीर्ण होना और पश्चात् इनका द्वार पूर्णतया बन्द हो जाना Acquired atresia) ये प्रधान होते हैं। (२) अनपत्या—इसका अर्थ यद्यपि जीवित अपत्यविरहित ऐसा भी हो सकता है तथापि यहाँ पर 'जिसको गर्भधारणा कदापि नहीं हुई है, ऐसी स्त्री' यह अधिक प्रशस्त है। इस प्रकार को पूर्ण वन्ध्यता (Absolute sterility) कहते हैं । इसके कारण प्रायः सहज होते हैं । आगन्तुक कारणों में वेधजन्य गर्भाशय ग्रीवा या योनिसंकोच प्रधान कारण हैं। (३) गर्भस्रावी—जिस स्त्री को गर्भधारणा होती है, परन्तु तीन चार महीने में गर्भ का स्राव या पात प्रत्येक समय होता है, वह गर्भस्रावी कहलाती है। इसके कारण कुछ सहज और कुछ जन्मोत्तर होते हैं—जैसे, योनिगर्भाशय के अन्तःस्तर के विकार (Endometritis, Vaginitis etc.) तथा गर्भाशय के स्थानापसरण (Displacements) तथा उनके स्वाभाविक आकार की विकृति—जैसे, ग्रीवा और शरीर के बीच में अधिक वक्रता होना (Acute Flexions) इत्यादि । (४) मृतवत्सा जो गर्भधारणा होने के सातवें महीने के (२८वें सप्ताह के) पश्चात् प्रत्येक समय मृतगर्भ को जन्म देती है, वह मृतवत्सा कहलाती है। जो बालक जन्म के समय १३ इञ्च लम्बाई में (सिर से पैर के तलुवे तक) होता है और जो माता से स्वतन्त्र होने पर भी चैतन्यहीन (चैतन्य का स्थान जो हृदय वह जिसका कार्यहीन होता है, ऐसा) होता है, वह मृतवत्स या मृतगर्भ (Still born) कहलाता है और इस को मृतजन्म (Still birth) कहते हैं । गर्भस्राव के जो कारण होते हैं, वे इसके भी होते हैं। इनके सिवा कुछ अज्ञात कारण भी हो सकते हैं। मैथुनासहिष्णुत्वम्—मैथुन सहन करने का असामर्थ्य। यह असामर्थ्य मैथुन कर्म के समय होने वाली पीड़ा से उत्पन्न होता है। इस अवस्था को मैथुनकृच्छ्र (Dyspareunia) कहते हैं। यहाँ पर वेध के कारण योनिगर्भाशय तथा उनके आसपास के भाग पर घाव या व्रण होने से मैथुन में असहिष्णुता उत्पन्न होती है। इस आगन्तुक कारण के सिवा

गुद, बस्ति, मलाशय, योनि, गर्भाशय, बीजकोष इनके विकारों में विशेष करके शोथजन्य (Inflammatory) विकारों में भी मैथुनासहिष्णुता होती है। यह असहिष्णुता योन्याक्षेप (Vaginismus) से होती है। यह योन्याक्षेप या योनि का सकोच उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त मानसिक परिस्थिति (जैसे, पति पर प्रेम न होना) के कारण भी उत्पन्न होता है।

सेवनीच्छेदाद्रुजाप्रादुर्भाव, बस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति ॥ २३ ॥

सेवनी पर वेध होने से वेदना उत्पन्न होती है। बस्ति और गुद के वेध के लक्षण पहले कह चुके हैं ॥ २३ ॥

वक्तव्य—सेवनी—गुद से शिश्नमूल तक आने वाली रेखा (Perineal raphe)। प्रागुक्तम्—बस्तिभेद के लक्षण ११वें सूत्र में आनद्धबस्तिता इत्यादि और गुदवेध के लक्षण २० वें सूत्र में आनाहो, इत्यादि। यह सूत्र अश्मरीशस्त्रकर्म में भी (चिकित्सा अध्याय ७) दिया गया है।

स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपचरेत्। उद्धृतशल्यं तु क्षतविधानेनोपचरेत् ॥ २४ ॥

(स्रोतोवेध की साध्यासाध्यता और चिकित्सा—) स्रोतो मूल में विद्ध हुए को असाध्य समझकर (उसकी) चिकित्सा करे। शल्य निकाले हुए का क्षतचिकित्सा के अनुसार उपचार करे ॥ २४ ॥

वक्तव्य—स्रोतोविद्धम्—यहां पर अब तक स्रोतोमूल विद्ध के ही लक्षण बताये गये हैं। इसलिए स्रोतोविद्ध से स्रोतो मूलविद्ध समझना उचित है। इसके सिवा प्रत्याख्याय (असाध्य) से भी यही अर्थ निकलता है, क्योंकि हृदय बस्ति तथा अन्य मूल मर्मांग होते हैं।

भवति चात्र—

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥ २५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने धमनीव्याकरणं शारीरं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(स्रोतस् की व्याख्या—) मूल छिद्र से शरीर में फैला हुआ, (रसादि का) जो वहन करता है, और सिराधमनी से जो पृथक् है उस अवकाश को स्रोतस् जानना चाहिए ॥ २५ ॥

वक्तव्य—मूलात् खात्—हृदयादि अवकाशयुक्त या अन्तःसुषिर अंगों से। सिराधमनिवर्जितम्—सिरा और धमनी को छोड़कर। इस श्लोक का तात्पर्य इतना ही है कि शरीर में जो बड़ी बड़ी सिराएँ और धमनियाँ होती हैं, उनको छोड़कर जो नालियां होती हैं और जो किसी अन्तःसुषिर अंग से सबंध रखकर उससे रसादि तरल पदार्थ का वहन करती हैं, वे स्रोतस् हैं।

अब इसके बाद धमनी और स्रोतसों का कोष्ठक अंग्रेजी पर्यायों के साथ दिया जाता है।

धमनीकोष्ठक

नाम	पर्याय
शब्दवहा धमनी	Internal auditory artery
रसवहा धमनी	Lingual artery
गन्धवहा	Sphenopalatine branch of the internal maxillary
घोषकरा	Laryngeal artery
भाषण	Sublingual artery
अश्रुवाही	Lacrymal artery
स्तन्यवह	Mammary artery
प्रश्वासोच्छ्वासादिका	Phrenic and intercostal arte y
अन्नवाहिनी	Superior mesenteric and colic arteries
मूत्रवहा	Renal or Vesical arteries
शुक्रवहा	Testicular and spermatic arteries
शुक्रविसर्ग	Artery supplying epidydimus seminal vesicle etc
आर्तववहा	Uterine and ovarian arteries
वर्चोनिरसनी	Inferior mesenteric and Colic arteries
ऊर्ध्वगामी धमनियाँ	Aortic arch and thoracic aorta and branches
अधोगामी धमनीयाँ	Abdom nal aorta and its branches
तिर्यग्गामी धमनीयाँ	Cutaneous vessels

स्रोतस कोष्ठक

नाम	पर्याय
प्राणवह स्रोतस	Lung capillaries
अन्नवह	Oesophagus duodenum
उदकवह	Lymphatics
रसवह	Capillaries
रक्तवह	Capillaries of the liver and spleen
मांसवह	Capillaries of the muscles
मेदोवह	Capillaries of the perinephric tissue and omentum
मूत्रवह	Renal tubules
पुरीषवह	Caecum and Colon
शुक्रवह	Ductus deferens
स्तन्यवह	Tubuli lactiferi
आर्तववह	Blood vessels of the uterus

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां धमनीव्याकरणं शारीरं नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः।

अथातो गर्भिणीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके बाद गर्भिणीव्याकरण नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरिजी ने किया था ॥ १ ॥

वक्तव्य—गर्भिणीव्याकरण—व्याकरण शब्द के व्यवस्था करण और विस्तारकरण इस प्रकार दो अर्थ होते हैं। शारीर स्थान के गर्भव्याकरण, शरीरसंख्याव्याकरण और धमनी-

व्याकरण इन स्थानों में व्याकरण शब्द का प्रयोग विस्तारकरण के लिए किया गया है। यहां पर प्रथम अर्थ के लिए किया गया है। आहार, विहार, प्रसूति इत्यादि गर्भिणी-संबंधित बातों की व्यवस्था जिसमें वर्णन की गई है, वह अध्याय गर्भिणीव्याकरण कहलाता है।

गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलङ्कृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरा च भवेत्, मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्, दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः, शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोपभुञ्जीत, बहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्यश्मशानवृक्षाश्रयान् क्रोधभयसङ्करांश्च भावानुच्चैर्भाष्यादिकं च परिहरेद्यानि च गर्भं व्यापादयन्ति, न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि निषेवेत, न चायासयेच्छरीरं, पूर्वोक्तानि च परिहरेत्, शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसंबाधं च विदध्यात्, हृद्यं द्रवं मधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतं च भोजनं भोजयेत्, सामान्यमेतदाप्रसवात् ॥ २ ॥

(गर्भिणी समान्य परिचर्या—) गर्भिणी प्रथम दिन से लेकर प्रतिदिन प्रसन्नचित्त, पवित्र, अलङ्कारों से विभूषित, श्वेतवस्त्र धारण करने वाली, शान्तिहोम, मंगलकर्म, देवता, ब्राह्मण और गुरु इनकी पूजा करने वाली होवे; मैले, रोगी और हीन (जाति के) शरीरों को स्पर्श न करे; दुर्गंधयुक्त (पदार्थों), दुर्दर्शन (दृश्यों) और उद्वेग उत्पन्न करने वाली कथाओं का परित्याग करे; सूखा, बासी, सड़ा हुआ, क्लिन्न अन्न सेवन न करे; बाहर निकलना, शून्यगृह, चैत्य, श्मशान, वृक्षाश्रय, क्रोध और भययुक्त भाव, ऊंची आवाज़ से बोलना इनको तथा गर्भ का नाश करने वाले अन्य भावों का परित्याग करे; तैल की मालिश और उबटन आदि का बार बार सेवन न करे; शरीर को (बहुत) न थकावे; पहले बताये हुए (अपथ्यों) का परिहार करे; लेटने का और बैठने का स्थान (गद्दी तकिया इत्यादि) मृदु वस्त्रों से युक्त, न बहुत ऊँचा, अपाश्रय युक्त और बाधाविरहित बनावे; हृद्य, तरल, मधुरप्राय, स्निग्ध, अग्निदीपक (मरिच, जीरा इत्यादि) द्रव्यों से संस्कृत भोजन खिलावे। प्रसूति तक यह साधारण (परिचर्या) है ॥ २ ॥

वक्तव्य—प्रथमदिवसात् प्रभृति—गर्भस्थिति का ज्ञान 'श्रमो ग्लानिः पिपासा' (तीसरे अध्याय का १३वां सूत्र) इत्यादि लक्षणों से होने के दिन से लेकर प्रसूति तक। यह शब्दप्रयोग तीसरे अध्याय के १६वें सूत्र के 'तदाप्रभृति' शब्द प्रयोग के अर्थ में किया गया है। इसका दूसरा भी अर्थ कर सकते हैं। ऋतुकाल के प्रथम दिन से याने ऋतुस्नात दिन से। ऋतुकाल प्रारंभ दिन के संबंध में तीसरे अध्याय के छठे सूत्र का वक्तव्य देखो। अपत्य की इच्छा करके स्त्री-पुरुष जब समागम करते हैं तब गर्भधारणा होगी, इस कल्पना से ऋतुस्नात दिन से ही स्त्री को शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य रखना अधिक हितावह होता है। इससे गर्भधारणा की संभावना भी बढ़ती है तथा जिस गर्भ का आधान होता है, उसके लिए पहले से ही सब तरह से अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न की जाती है। शान्तिमंगल इत्यादि—ये सब उपाय आस्तिकों के लिए हैं। इससे मनःशान्ति तथा मनोबल प्राप्त होता है। क्लिन्नम्—सड़ने के कारण जिससे पानी निकल रहा है। चैत्य—इसके कई अर्थ बताये जाते हैं—(चैत्यं देवताधिष्ठितो वृक्षः, अन्ये बौद्धालयमाहुः। (डल्हण)। चैत्यस्तु विशिष्टदेवताधिष्ठितो लोकप्रसिद्धो वृक्षविशेषः। बुद्धालय इत्यन्ये। (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय, सूत्र २)। चैत्यवृक्ष के ऊपर श्रीरामकृष्णादि सात्विक देवताओं का वास नहीं होता परंतु भूत, प्रेत, पिशाचादि तामस देवताओं का वास होता है। इसलिए चैत्य के पास जाना अनुचित माना गया है। यदि चैत्य से बौद्धालय माना जाय तो वह परधर्म का होने के वजह से उसका निषेध किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। श्मशान—श्मानः शवाः शेरतेऽत्रेति श्मशानम्। दहन और दफन करने का स्थान। शुक्लवसना—शुभ्रवस्त्र निर्मलता का उच्च आदर्श होता है, इसलिए शुभ्रवस्त्र परिधान करने के लिए कहा है। क्षेमकुतूहल में शुभ्रवस्त्र के निम्न गुण वर्णन किये हैं—शुभ्रं च सुखदं वस्त्रं शीतातपनिवारणम्। न चोष्णं न च वा शीतं शुक्लं वस्त्रं च धारयेत्॥ मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्—जो मनुष्य हमेशा गंदे रहते हैं, जो रोगों से पीड़ित होते हैं, तथा चमार, चण्डाल इत्यादि हीन जाति के जो लोग होते हैं और जो हमेशा गन्दे रहते हैं उनसे दूर रहना चाहिए। यहां पर 'हीन' शब्द हीन जाति के लिए और 'गात्र' शब्द शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। पूर्वोक्तानि—तीसरे अध्याय के १९वें सूत्र में बताये हुए। अपाश्रयोपेतम्—अपाश्रियते आच्छाद्यतेऽनेन इति अपाश्रयः, तेन सहितम्। अपाश्रय शामियाना की तरह ऊपर लगाने की एक वस्तु होती है। यहां पर इसका मतलब इतना ही है कि हमेशा ऐसे स्थान पर सोवे, जो ऊपर से खुला न हो। जैसे खुले आंगन में सोना। खुले स्थान में सोने में ओस या हवा से (Exposure) बीमार होने का डर रहता है। इसलिए गर्भिणी स्त्री हमेशा जो स्थान ऊपर से बंद हो, ऐसे स्थान में अपना बिस्तरा लगावे। चरकसंहिता में विवृत स्थान में सोना गर्भिणी के लिए दोषावह माना गया है और उसका परिणाम गर्भ की उन्मत्तावस्था बतलाया है—विवृतशायिनी नक्तंचारिणी चोन्मत्तं जनयति। (चरक, शारीर ८)। विवृते अनावृते देशे शयनशीला विवृतशायिनी। विवृतशायिनी तथा नक्तंचारिणी रक्षःप्रभृतिभूताभिगमनीया भवति; ततश्च भूतैरभिभूतो गर्भ उन्मत्तो भवतीति युक्तम्। (चक्रपाणिदत्त)। इससे यह स्पष्ट होगा कि ऊपर अपाश्रयोपेत का जो अर्थ किया गया है, वही युक्त है। किंवा अपाश्रय से तकिया (अपाश्रयते शिरः यत्र) भी समझ सकते हैं। अपाश्रयोपेत से सिर के नीचे या बैठने के लिए जिस पर तकिया इत्यादि कुछ आश्रय स्थान हो, ऐसा। हाराणचन्द्र अपाश्रय से चन्द्रातप समझते हैं—अपाश्रयश्चन्द्रातपश्चेति पर्यायौ। और डल्हण अपाश्रय से प्रतिवाहक समझते हैं—अपाश्रयोपेतं प्रतिवाहकसहितम्। ये दोनों अर्थ गौण मालूम होते हैं। असंबाधम्—नींद में जिससे बाधा न उत्पन्न हो जाय, उस प्रकार का। जैसे जाड़ों के दिनों में गरम कपड़ों से युक्त,

गरमियों के दिनों में हलके पतले कपड़ों से युक्त, मच्छर होने पर मशहरी से युक्त, खटमल विरहित इत्यादि। हृद्यम्—इसके दो अर्थ होते हैं—(१) हृदयाय हितम्। हृदय के लिए हितकर अर्थात् हृदय को बल देने वाला अथवा हृदय को तकलीफ न देने वाला। कुछ अन्न ऐसे होते हैं कि जो सेवन करने पर हृदयप्रदेश में जलन या बेचैनी पैदा करते हैं। जैसे उष्ण अम्ल, तीक्ष्ण मसाले युक्त खाद्य द्रव्य—विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम्। हृदि दाहं च जनयेत् पाकं गच्छति तच्चिरात्॥ (भावप्रकाश)। इसी कारण से चरक और अष्टांगसंग्रह में विदाही द्रव्यों का गर्भिणी के लिए (आगे देखो) निषेध किया गया है। इसके सिवाय हृद्य का सम्बन्ध कुछ अन्न की मात्रा के साथ भी होता है। अधिक मात्रा में अन्न सेवन करने पर उसका दबाव हृदय के ऊपर पड़ता है, जिससे हृदय में धड़कन, बेचैनी इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं—अपीडनं भवेत् कुक्षेः पार्श्वयोरवपीडनम्। अन्नेन हृदयाबाधो जठरस्य तु गौरवम्। अर्थात् अधिक मात्रा में अन्न का सेवन अहृद्य होता है। (२) हृदयस्य प्रियम्। यहाँ पर हृदय शब्द मन के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसा अन्न हो, जो मन को पसन्द हो जाय अर्थात् रुचिकर। संक्षेप में हृद्य से हृदय को याने शरीर को बल देने वाला, मध्यम मात्रा में सेवन किया हुआ, जो विदाही न हो तथा मन को पसन्द होने वाला, याने रुचिकर हो, ऐसा अन्न अभिप्रेत होता है। हृद्य सात्त्विक अन्न का एक महत्त्व का गुण है—आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ (भगवद्गीता १७)।

गर्भिणी के स्वस्थवृत्त का विवरण इस सूत्र के सिवा पीछे तीसरे अध्याय के ११ वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य में किया जा चुका है। यहाँ पर उन्हीं विषयों का पृथक्करणात्मक दृष्टि से फिर से संक्षेप में विचार किया जाता है। (१) आहार—गर्भिणी का आहार विशेष महत्त्व का होता है। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि गर्भिणी को अपना तथा अपने गर्भ का पोषण करना पड़ता है। उससे उसके पाचक अंगों और वृक्क, त्वचा, फेफड़े इत्यादि मलोत्सर्जन के अवयवों पर विशेष करके वृक्कों पर अधिक काम पड़ता है। इसलिए आहार सुपाच्य, सुरोच्य और पौष्टिक होना चाहिए, उससे शरीर में विषैले पदार्थ कम बनने चाहिएँ, मलावरोध न उत्पन्न होना चाहिए, उसमें खटिक (चूना Calcium) उचित मात्रा में होना चाहिए और जीवद्रव्य उपस्थित होने चाहिएँ। गर्भ अपने पोषण के लिए आवश्यक सब पदार्थ माता से ग्रहण करता है, और जब माता के आहार में उन पदार्थों की कमी होती है, तब माता को क्षति पहुँचाकर उसके शरीर से लेता है। इसका विशेष महत्त्व का उदाहरण चूना है। बालक को अपनी अस्थियों के लिए चूने की अधिक आवश्यकता होती है। यदि माता के आहार में चूना पर्याप्त मात्रा में हो तो कोई कठिनाई नहीं होती। जब माता के आहार में इसकी कमी होती है तब गर्भ माता की अस्थियों से तथा दाँतों से चूने का ग्रहण कर लेता है, जिससे माता में अस्थिमृदुता (Osteomalacia), कृमिदंत ये विकार उत्पन्न होते हैं। जीवद्रव्य 'डी' चूने के सात्म्यीकरण के लिए आवश्यक होता है। उसके न होने से आहार में चूना होने पर भी उसका उपयोग अस्थिविकास में नहीं हो सकता। जीवद्रव्य 'ए' उपसर्गनाशक होता है। उसकी कमी से माता का औपसर्गिक (Infectious) रोगों की शिकार होने की संभावना होती है, विशेष करके प्रसूतिज्वर होने का बड़ा डर रहता है। जीवद्रव्य 'बी' की कमी से गर्भपात—गर्भस्राव, अकालप्रसव, मृतवत्सजन्म इत्यादि आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस दृष्टि से, माता के आहार में दूध, मठा, माखन, घी, चावल, गेहूँ की रोटी, अण्डा, प्याज, गोभी, मूली, पालक, टोमाटो, शलगम, गाजर, आलू इत्यादि साग-सब्जियाँ, संतरा, सेव, आम, अनार, द्राक्षा इत्यादि फल होने चाहिएँ। मांस, मद्य, चाय, काफी इत्यादि उत्तेजक पदार्थ, मिर्च, मसाले, अचार इत्यादि तीक्ष्णोष्ण पदार्थ बहुत कम होने चाहिएँ। संक्षेप में, गर्भिणी का आहार सात्त्विक हो प्रत्येक बार वह मध्यम मात्रा में उसको सेवन करे, जिससे कुक्षि में पीड़ा न हो सके। परंतु दिन रात में आहार की राशि इतनी हो कि वह उसके लिए तथा उसके बालक की वृद्धि के लिए पर्याप्त हो जाय—बृंहयेद्, गर्भिणीसूतिकबालवृद्धान्। मांसक्षीरसिताघृतमधुरस्निग्धबस्तिभिः॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४)। न मदकराणि मद्यान्यभ्यवहरेत्, न मांसमश्नीयात्। (चरक, शारीर ४)। गर्भंस्त्वामगर्भेण। (आप्याययेत्)। (चरक, शारीर ६)। गर्भंस्त्वामगर्भेणेत्यत्र आमगर्भेणाण्डादिरूपेण समुदितानां मांसादीनां सम्यगनिष्पन्नानां च वृद्धिरुच्यते। (चक्रपाणिदत्त)। समासतः सर्वमतिगुरूष्णतीक्ष्णरूक्षमन्नपान (गर्भोपघातकरत्वान्न सेवेत)। (अष्टांगसंग्रह, शारीर २)। नवनीतघृतक्षीरैः सदा चैनामुपाचरेत्॥ उपवासव्यवायरूक्षोष्णगुरु विष्टम्भिभोजनम् (वर्जयेत्)। (अष्टांगहृदय, शारीर १)। निषिद्ध आहार और कुछ द्रव्यों के अतियोग के संबंध में चरक में लिखा है—मद्यनित्या पिपासालुमल्पस्मृतिमनवस्थितचित्तं वा, गोधामांसप्राया शार्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिणं वा, वराहमांसप्राया रक्ताक्षं क्रथनमतिपरुषरोमाणं वा, मत्स्यमांसनित्या चिरनिमेषं स्तब्धाक्षं वा, मधुरनित्या प्रमेहिणं मूकमतिस्थूलं वा, अम्लनित्या रक्तपित्तिनं त्वगक्षिरोगिणं वा, लवणनित्या शीघ्रवलीपलितं खालित्यरोगिणं वा, कटुकनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा, तिक्तनित्या शोषिणमबलमनुपचितं वा, कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिनं वा। यद्यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानाऽन्तर्वत्नी तन्निमित्तविकारबहुलमपत्यं जनयति। तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्॥ (चरक, शारीर ८)। डा० निकोल्स गर्भवती स्त्री के आहार के संबंध में लिखते हैं—Her diet should be moderate, simple, pure and perfectly healthfuul consistig chiefly of brown bread and its equivalents, Fruit, milk, vegetables, with little, if any, flesh meat, no heating or exciting condimends, and no tea, coffee, or alcoholic stimulents. *Esoteric Anthropology* (२) स्वच्छता—इसमें शरीर की अन्तर्बाह्य स्वच्छता का समावेश होता है। बाह्य स्वच्छता में स्नान के द्वारा त्वचा की सफाई, निर्मल हल्का वस्त्रपरिधान, मक्खी पिस्सू आदि दूर रहना, स्नान के समय तथा मलमूत्र विसर्जन के पश्चात् प्रत्येक समय गुह्यांगों की

स्वच्छता, इनका समावेश होता है। अन्तःस्वच्छता में मल-मूत्र के आवेगों को न रोकना (वेगविधारणं त्यजेत्। अष्टांग-हृदय), पर्याप्त मात्रा में जल सेवन करके मूत्र के द्वारा विषैले पदार्थों को बाहर निकालना, मलावरोधक आहार को न सेवन करके जिससे कब्ज पैदा न हो ऐसे साग, सब्जी, फल—इनका सेवन करना, मलावरोध होने पर मृदु विरेचन (जैसे, एरंडी का तेल, लिक्विड पैराफिन) से कब्ज को दूर करना, खुली हवा में प्रतिदिन सुबह-शाम थोड़ी देर तक टहलकर फुफ्फुस के द्वारा रक्तशुद्धि करना इत्यादि बातों का समावेश होता है। वहिर्निष्क्रमणम्—यहाँ पर इसका विचार करना आवश्यक है। बाहर जाने का निषेध इस सूत्र में किया गया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्री घर के बाहर ही न निकले, न खुली हवा में टहलने के लिए जाय। वहिर्निष्क्रमण का निषेध दो दृष्टि से किया गया है। प्रथम दृष्टि स्थान की होती है। चैत्य, श्मशान, कब्रस्तान, चत्वर, शून्यस्थान, वध्यस्थान इत्यादि मन में उद्वेग, विषण्णता, भय इत्यादि भाव उत्पन्न करने वाले स्थानों में जाने का निषेध इसलिए होता है कि ये भाव माता के द्वारा गर्भ पर भी खराब परिणाम करते हैं। दूसरी दृष्टि स्त्री की होती है। लज्जा स्त्री का एक स्वाभाविक गुण है। स्त्री का यह गुण पुरुषसमाज में जाने पर अधिक प्रकट होता है। उसमें भी यदि स्त्री गर्भवती हो तो अधिकतम स्पष्ट हो जाता है। लज्जा के मारे स्त्री सिर नीचा करके और छाती सिकोड़कर चलती है। ऐसी अवस्था में वहिर्निष्क्रमण से उसको कुछ भी फायदा नहीं हो सकता। इसलिए गर्भवती स्त्री को ऐसे स्थान में न जाना उचित है, जहाँ पर उसको अधिक लज्जा मालूम हो और लज्जा के मारे चलने फिरने में बाधा उत्पन्न हो जाय। देवताओं और साधु-संतों के दर्शन के लिए, कथा पुराण प्रवचनादि धार्मिक कथा सुनने के लिए बाहर जाने में कोई आपत्ति नहीं होती है। प्राचीन काल में स्त्रियाँ इन्हीं कारणों के लिए बाहर जाया करती थीं। आधुनिक काल के समान केवल टहलने के लिए बाहर जाने का रिवाज उस काल में नहीं था। देवता-ब्राह्मण गुरुपरता जैसे घर में होती थी, वैसे ही बाहर जाकर उनके दर्शनों और पूजाओं द्वारा भी होती थी। इसलिए वहिर्निष्क्रमण का निषेध चैत्यादि स्थानों के लिए तथा जहाँ पर स्त्री को मानसिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, उन स्थानों के लिए समझना उचित है। (३) मनःशान्ति—उत्तम आहार, पर्याप्त गाढ निद्रा, अनुकूल अनुद्वेगकर इन्द्रियार्थ, आस्तिक्य, ये मनःशान्ति प्राप्त करने के उपायों में महत्त्व के उपाय हैं। इनमें 'हृद्यं द्रवं शुष्कं पर्युषितम्' से उत्तम आहार का दिग्दर्शन, 'शयनास्तरणम्' से रात में उत्तम गाढ निद्रा प्राप्त होने के उपाय का दिग्दर्शन, 'दुर्गंधदुर्दर्शनानि उद्वेजनीयाश्च कथाः, क्रोधभयसंकरांश्च भावान्' इस से अनुकूल इन्द्रियार्थ (चरक में लिखा है—सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेत्। शारीर ४), 'शान्तिमंगल' से आस्तिक्य का दिग्दर्शन किया गया है। गर्भिणी के स्वस्थवृत्त में उसकी मानसिक स्थिति एक महत्त्व का अंग है। यह मनःस्थिति गर्भ के ऊपर कैसे और कितने अंश में परिणाम करती है यह यद्यपि ठीक नहीं कहा जा सकता, तथापि गर्भिणी का मनःस्वास्थ्य गर्भस्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है, इसको पाश्चात्य पण्डित भी मानते हैं—The mental condition and the sourroundings of the prognant woman are of importance, in as much as they largely influence her physical well being and hence that of the foetus. A pregnant woman should, as far as possible be sheltered from all influences which tend to give rise excitement, annoyance or depression. *Gellet's Midwifery.* No work should worry her no anxiety disturb her, no lust excite or torment her. *Esoteric Anthropology.* (४) प्रत्यक्ष गर्भघातक कर्म—यद्यपि उपर्युक्त तीनों विषय अप्रत्यक्षतया गर्भ के लिए घातक हो सकते हैं, तथापि उनका प्रत्यक्ष गर्भ से कोई संबंध नहीं है। परंतु अतिव्यवाय, अतिव्यायाम, अधिक भारी बोझ उठाना, उत्कटकासन, वेगविधारण, उदर के ऊपर प्रहार, प्रपीडन, अतिमात्रसंक्षोभक यान में सवारी करना, तीव्र वमन विरेचन ये तथा इस प्रकार के अन्य दारुण कर्म गर्भपात या गर्भस्राव में प्रत्यक्ष सहायता करते हैं।

संक्षेप में गर्भिणी को पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक आहार सेवन करना चाहिए। शरीर की अन्तर्बाह्य स्वच्छता रखनी चाहिए, मन को प्रसन्न और शान्त रखना चाहिए और मन की शान्ति को बिगाड़ने वाले तथा गर्भ के लिए घातक कर्मों से दूर रहना चाहिए।

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत, विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेच्चतुर्थे दध्ना पञ्चमे पयसा षष्ठे सर्पिषा चेत्येके, चतुर्थे पयोनवनीतसंसृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं भोजयेत्, पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंसृष्टं, षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवागूं वा; सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसिद्धम्, एवमाप्यायते गर्भः, अष्टमे बदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तुतैललवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत् पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः, ततः पयोमधुरकषायसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकालात्; एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते ॥ ३ ॥

(गर्भिणी का मासानुमासिक आहार-क्रम—) विशेषतया गर्भिणी प्रथम, द्वितीय और तृतीय महीने में मधुर, शीतवीर्य, तरलभूयिष्ठ आहार सेवन करे। विशेष करके तीसरे महीने में साठी चावल के भात को दूध के साथ खिलावे, चौथे (महीने) में दही से, पाँचवें (महीने) में (फिर) दूध से, छठे (महीने) में घी से ऐसा कुछ आचार्यों का कथन है। चौथे महीने में दूध और मक्खन के साथ, जांगल (प्राणियों के) मांस से युक्त हृद्य

(रुचिकर) अन्न खिलावे। पांचवें (महीने) में दूध और घी से युक्त (अन्न खिलावे)। छठे (महीने) में गोखरू से सिद्ध घी या यवागू मात्रानुसार पिलावे। सातवें में पृथकपर्णी (विदारिगन्धादि गण) आदि द्वारा साधित घृत (पिलावे)। इस प्रकार गर्भ परिवर्धित होता है। आठवें में बला, अतिबला, शतपुष्पा, पलल, दूध, दही का पानी, तेल, नमक, मैनफल, शहद और घी (इन वस्तुओं) से मिश्रित बेर के क्वाथ से पुराने मल के विशोधन के लिए तथा (अपान) वायु के अनुलोमन के लिए आस्थापन (निरूहबस्ति) करावे; उसके पश्चात् दूध और मधुर (गण की औषधियों के) काढ़े से सिद्ध किये हुए तेल का अनुवासन करावे। वायु अनुलोम होने पर (गर्भिणी स्त्री बालक को) सुख से जन्म देती है और उपद्रवविरहित होती है। इसके पश्चात् प्रसवकाल तक स्निग्ध यवागुओं और जांगल (प्राणियों के मांस) रसों द्वारा (उसकी) चिकित्सा करे। इस प्रकार (प्रथम मास से प्रसव काल तक) उपक्रान्ता (गर्भिणी) स्निग्ध और बलवान् (होकर) उपद्रव के सिवा सुख से प्रसूत होती है ॥ ३ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भिणी का मासानुमासिक आहार-क्रम वर्णन किया है। इलेकें—यह मतभेद 'विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनम्' से 'षष्ठे सर्पिषा' तक है। पृथकपर्णी—पृश्निपर्णी, विदारिगन्धादिगणगत औषधि। आदि शब्द से विदारिगन्धादिगण का ग्रहण कर सकते हैं। पलल—पलल शब्देनात्र ग्राम्यजाङ्गलमांसयोरेव परिग्रह क्रियते। अत बलादीनां चतुर्णां शरावमित काथ पयप्रभृतीनां त्रयाणामर्धशरावो मधुतैलघृतानां प्रत्येकशः कर्षो लवणमदनयोस्तु शाण एवालमास्था पनाय॥ (हाराणचन्द्र)।

सातवें महीने से उदर पर किकिस (तीसरे अध्याय के १८वें सूत्र का वक्तव्य देखो) तथा कण्डु उत्पन्न होती है। उसकी चिकित्सा चरक में लिखी है—तत्र कोलोदकेन नवनीतस्य मधुरौषधसिद्धस्य पाणितलमात्रं काले कालेऽस्यै पानार्थं दद्यात्। चन्दनमृणालकल्कैश्चास्या स्तनोदर विमृद्नीयात्। शिरीष धातकीसर्षपमधुकचूर्णैर्वा, कुटजार्जकबीजमुस्तहरिद्राकल्कैर्वा निम्बकोलसुरसमञ्जिष्ठाकल्कैर्वा, पृषतहरिणशशरुधिरयुतया त्रिफलया वा, करवीरपत्रसिद्धेन तैलेनाभ्यङ्ग, परिषेक पुनर्मालती मधुकसिद्धेनाम्भसा, जातकण्डुश्च कण्डूयन वर्जयेत्त्वग्भेदवैरूप्य परिहारार्थम्, असह्यायां तु कण्डवामुन्मर्दनोद्धर्षणाभ्यां परिहार स्यात्। मधुरमाहारजातं वातहरमल्पमस्नेहलवणमल्पोदकानुपान च भुञ्जीत। (शारीर ८)। अनुवासयेद्—चरकसंहिता में अनुवासनबस्ति के लिए प्रयुक्त तैल से गर्भिणी की योनि में तैलपिचु रखने के लिए लिखा है—अतश्चैवास्यास्तैलात् पिचु योनौ प्रणयेद्गर्भस्थानमार्गस्नेहनार्थम्॥ योनि में रखने की ओषधियुक्त रूई को मेडिकेटेड टम्पून (Medicated ta poo) कहते हैं। गर्भस्थानमार्ग स्नेहन करने के लिए योनि में तैलपिचु (Oiled tampoon) रखने की कृति में बहुत व्यावहारिक तत्त्व भरा है। तैलपिचु एक प्रकार से योनिमार्ग का अभ्यङ्ग है। अभ्यग से जैसे त्वचा मृदु होती है, उसकी रूक्षता दूर होती है, स्फुटन नहीं होता, वह तनाव सहन कर सकती है, वैसे ही तैलपिचु से योनिमार्ग मृदु होता है, उसकी रूक्षता दूर होती है, उसमें स्फुटन नहीं होता और वह तनाव सहन कर सकता है। ये सब गुण प्रसूति के समय योनिमार्ग में आवश्यक होते हैं क्योंकि उस समय उसमें काफी तनाव पैदा होता है। यदि उसमें मृदुता और तनाव सहन करने की शक्ति न हो तो उस समय उसमें विदार (Laceration) उत्पन्न होने का डर रहता है। आधुनिक काल में प्रसूति के समय जननेन्द्रिय की सफाई करने के लिए, विविधि प्रकार के जीवाणुनाशक या उपसर्गनाशक ओषधियों के घोल प्रयुक्त करते हैं। इनके सम्बन्ध में इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि इनके प्रयोग से जननेन्द्रिय में सख्ती पैदा न हो जाय, बल्कि कुछ स्नेहन हो। इस दृष्टि से रसकपूर का घोल यद्यपि उत्तम जीवाणुनाशक होता है तथापि सख्ती पैदा करने के कारण पसंद नहीं किया जाता, क्योंकि उसके उपयोग से विदारण होने की सभावना होती है। लाइसोल (lysol) इसलिए पसंद किया जाता है कि उससे कुछ मृदुता तथा स्नेहन पैदा होता है—In all cases, the external genitals must be well washed by the nurse with soap and water and then bathed with an unirritating antiseptic for this purpose lysol is most suitable. The use of corrosive sublimate for this purpose during labour is contraindicated, as it constringes the parts, and so makes them prone to lacerate *Gellet's Midwifery* इसलिए, नौवें महीने से योनि में तैलपिचु धारण करने की पद्धति प्रसूति के समय अपत्यमार्ग विदारण से बचने के लिए बहुत उत्तम है, इसमें कोई संदेह नहीं है और इसका उपयोग जरूर करना चाहिए। रात में सोने के समय इसका प्रयोग करने से और सुबह के समय उसको निकाल देने से स्त्री को किसी प्रकार की असुविधा या तकलीफ या बेचैनी नहीं मालूम होगी। अनुपद्रवा प्रसूयते—यहाँ पर केवल प्रसूति के समय के उपद्रवों का विचार करना है। प्रसूति के पूर्व और पश्चात् जो उपद्रव होते हैं, उनका विचार आगे १८वें श्लोक में किया गया है। प्रसवकालीन उपद्रव अधिकतर गर्भाशय की विकृति से उत्पन्न होते हैं। गर्भाशय में अत्यन्त प्रबल संकोच उत्पन्न होने से साहस प्रसव (Precipitate labour) होता है, जिसमें अत्यल्पकाल में बालक तोप के गोले की तरह अचानक बाहर फेंका जाता है। यदि अपत्यमार्ग ठीक विस्फारित न हुआ हो तो उसमें विदारण पैदा होता है और प्रसव त्तर रक्तस्राव भी होता है। कभी कभी गर्भाशय में कमजोरी के कारण संकोच उत्पन्न ही नहीं होते या अल्पबल होते हैं, जिससे गर्भ आशय के बाहर नहीं आ सकता। इस संकोच-हीनावस्था को गर्भाशयासग (Uterine inertia) कहते हैं। इसका उल्लेख सूत्रस्थान के ३१ वें अध्याय के १२वें श्लोक में 'गर्भकोष परासग करके किया गया है। इस गर्भाशय की विकृति के सिवा प्रसव के समय अपत्यमार्ग का विदारण भी होता है। इस सूत्र में तथा इसके पहले और तीसरे अध्याय के १६ वें सूत्र में बताये हुए आहार विहार के अनुसार गर्भिणी की परिचर्या करने से कालप्रसवपूर्व प्रसवकालीन तथा कुछ अश में प्रसवोत्तर उत्पन्न होने वाले उपद्रव टल जाते हैं।

नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्ततिथ्यादौ, तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितं सर्वागारं यथासङ्ख्यं तन्मयपर्यङ्कमुपलिप्तभित्तिं सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाऽष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसंपन्नं विधेयम् ॥ ४ ॥

(सूतिकागार—) नौवें महीने में शुभ तिथ्यादि पर उसको सूतिका घर में प्रवेश करावे। यह सूतिकागृह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों (की स्त्रियों) के लिए क्रमशः सफेद, लाल, पीली और काली भूमि पर बेल, बरगद, तिन्दुक और भिलावे (की लकड़ी) से निर्मित, इन्हीं (की लकड़ी) से निर्मित पलंगयुक्त, जिसकी दीवाल लीप-पोतकर अच्छी तरह साफ की गई हो, जिसमें (प्रसवोपयोगी सब) सामग्री यथास्थान रक्खी गई हो, जिसका द्वार पूर्व या दक्षिण की ओर हो, आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा और रक्षा-मंगलसंपन्न, ऐसा बनावे ॥ ४ ॥

वक्तव्य—सूतिकागारम्—यत्र गर्भिणी प्रसूता यत्र च तिष्ठति तत् सूतिकागारमुच्यते (चक्रपाणिदत्त)। नवमे मासि—नौवें महीने में गर्भिणी सूतिकागृह का आश्रय करती है, इसलिए सूतिकागृह आठवें महीने के अन्त तक सब तैयार हो जाना चाहिए—प्राक् चैवास्या नवमान्मासात् सूतिकागारं कारयेत्। (चरक)। प्रशस्ततिथ्यादौ—तिथ्यादि पंच अंगों की प्रशस्तता जिस समय हो, उस समय पर—तिथिर्वारश्च नक्षत्रं योगः करणमेव च॥ नौवाँ महीना प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम जो तिथ्यादि शुभ योग मिलेगा, उस योग पर। चरकसंहिता में सूतिकागार प्रवेश की विधि निम्न प्रकार से वर्णन की गई है—ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते प्रशस्ते भगवति शशिनि कल्याणे च करणे मैत्रे मुहूर्ते शान्तिं हुत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकं चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान् सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्त्वोदकपूर्वमासनस्थेभ्यो-ऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्ति वाचयेत्। ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणं समनुवर्तमाना प्रदक्षिणं प्रविशेत् सूतिकागारम्। (शारीरस्थान ८)। सूतिकागार में एक बार प्रवेश करने पर स्त्री वहीं पर प्रसवकाल तक रहती है और उसके पास हमेशा प्रजननकुशल स्त्रियाँ भी रहा करती हैं—तत्रोदीक्षेत सा सूतिं सूतिका परिवारिता। (अष्टांगहृदय)। अहमत्र प्रसविष्ये इति चेतसि विधाय सा गर्भिणी तत्राऽऽसीदित्यर्थः। किंभूता सूतिका परिवारिताऽनेकवारप्रसवानुभूततत्कालोचितव्यवहारकुशलाभिः स्त्रीभिः परिवारिता। (अरुणदत्त)। अरिष्टम्—सूतिकागारम्—अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा। (रघुवंश ३)। ब्राह्मणक्षत्रिय इत्यादि—चरकसंहिता में ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्णों की दृष्टि से भूमि और काष्ठ की प्रशस्तता न बतलाकर साधारण प्रशस्तता बतलाई है—अपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ, बैल्वानां काष्ठानाम् आगारं कारयेदिति संबंधः। (चक्रपाणिदत्त)। तैन्दुकैङ्गुदकानां भल्लातकानां वारुणानां खादिराणां वा। (चरक)। सर्वागारम्—प्रसूतिगृह का जो भाग लकड़ी से बनाया जाता है—जैसे, चौखट, किवाड़, खिड़कियाँ, अलमारियाँ, खूँटियाँ इत्यादि—वह सर्व भाग जिसमें उपर्युक्त वृक्षों की लकड़ी से निर्माण किया गया है। यथासंख्यम्—इसका संबंध भूमि, लकड़ी और पलंग के साथ है। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण के लिए भूमि श्वेतवर्ण हो, मकान की लकड़ी बेल की हो, और खटिया भी उसी की बनाई जाय। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भी समझ लेना चाहिए। सुविभक्तपरिच्छदम्—जिसमें प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री (परिच्छद) इस प्रकार विभक्त याने व्यवस्थित रक्खी हुई है कि आवश्यकता के समय वहाँ की प्रत्येक वस्तु आसानी से और शीघ्रता से मिल सके। चरकसंहिता में प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री का वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है—तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकालविड्लवणविडङ्ग-गुडकुष्ठकिलिमनागरपिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीमण्डूकपर्ण्येलालाङ्गलीवचाचव्यचित्रकचिरबिल्वहिङ्गुसर्षपलशुनकतककणकणिकानीपात-सीबल्वजभूर्जकुलत्थमैरेयसुरासवाः सन्निहिताः स्युः, तथाऽश्मानौ द्वौ, द्वे कु(कु)ण्डमुसले, द्वे उदूखले, खरवृषभश्च, द्वौ च तीक्ष्णौ सूचीपिप्पलकौ सौवर्णराजतौ, शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि, द्वौ च बिल्वमयौ पर्यङ्कौ, तैन्दुकैङ्गुदानि च काष्ठान्यग्निसन्धुक्षणानि॥ वसनालेपनाच्छादनापिधानसंपदुपेतम्॥ दक्षिणद्वारं वा—चरक में दक्षिण के बदले उत्तर दिशा में द्वार बतलाया है—प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा। साधारणतया दक्षिण दिशा यम की होने के कारण अशुभ मानी जाती है। अष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतम्—आधुनिक परिभाषा के अनुसार १२–१४ फुट लम्बा और ६–७ फुट चौड़ा प्रसवागार होगा। केवल स्त्री के लिए यह स्थान पर्याप्त हो सकता है, परन्तु प्रसूति की दृष्टि से यह स्थान अपर्याप्त मालूम होता है। चरकसंहिता में कई जगह गृहों का वर्णन किया गया है। जैसे—कुमारागार, सूतिकागार (शारीर ८), वैद्यगृह इत्यादि। परन्तु कहीं पर रोगी के लिए स्थान की मर्यादा नहीं बताई है। इनमें वैद्यगृह का वर्णन एक दृष्टि से आदर्श वर्णन है, इसलिए उसका वर्णन नीचे दिया जाता है—दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजसामनभिगमनीयमनिष्टानां च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सोदपानोदूखलमुसलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं गृहमेव तावत् पूर्वमुपकल्पयेत्। (सूत्रस्थान १५)। जहाँ पर स्त्री तीन चार महीनों तक रहेगी वहाँ पर स्नान करना, पाखाना, पेशाब करना, रसोई बनाना, उपर्युक्त सब साधनसामग्री रखना, प्रसूता के पास रहने वाली कोई स्त्री या नौकरानी का रहना इन सबों के लिए स्थान की आवश्यकता होगी। केवल एक गर्भवती या प्रसूता स्त्री की खटिया रखने से काम नहीं चलेगा। चरकसंहिता में इन सब बातों का विचार करके लिखा है—सूतिकागारं कारयेत्, वास्तुविद्याहृदययोगाग्निसलिलोदूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं च॥ अर्थात् सूतिकागृह काफी विस्तृत होना चाहिए, जिसमें स्नानगृह, वर्चोगृह (पाखाना), महानस (रसोई घर) तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए काफी स्थान हो। इसके सिवा सब साधन-सामग्री रखने पर भी उसमें संचार करने के समय किसी प्रकार की कठिनाई न होनी (सुखप्रविचारम्) चाहिए। इससे यह स्पष्ट होगा कि ८×४ हाथ का यहाँ पर

वर्णन किया हुआ सूतिकागृह स्त्री के उठने, बैठने, लेटने का ही स्थान समझना चाहिए। उसमें स्नानगृहादि का समावेश नहीं हो सकता। *रक्षामङ्गलसम्पन्नम्*—भूत, प्रेत, पिशाचादि से रक्षा करने के लिए ऋग्यजुःसामाथर्ववेद के मन्त्रों का पाठ तथा सर्षपारिष्ट का धूपन (सूत्रस्थान १९-२६,२७ देखो) इत्यादि का प्रबन्ध जिसमें किया गया हो—रूपिताचितसमृष्ट मशकाद्यपवर्जितम्। ब्रह्मघोषैः सवादित्रैर्वादित वेश्म शस्यते॥ (काश्यपसंहिता, जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। किंवा चरक के अनुसार निम्न प्रबन्ध जिसमें किया गया हो—आदनी खदिरकर्कन्धुपीलुपरूषकशाखाभिरस्या गृह समन्ततः परिवारयेत्। सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुलकणकणिकाः प्रकिरेयुः। द्वारे च मुसल देहलीमनुतिरश्चीन न्यसेत्। वचाकुष्ठक्षौमकहिङ्गु सर्षपातसीलशुनकणकणिकानां रक्षोघ्नसमाख्यातानामोषधीनां पोट्टलिकां बध्वा सूतिकागारस्योत्तरदेहल्यामवसृजेत्, तथैव च द्वयोर्द्वारपक्षयोः। अनुपरतप्रदानमङ्गलाशीः स्तुतिगीतवादित्र च तद्देश कार्यम्। (शारीर १०)। सूतिकागार कैसा होना चाहिए?—चरक तथा सुश्रुत में सूतिकागृह का जो वर्णन मिलता है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय प्रसूति के लिए रहने के मकान से स्वतन्त्र स्थान बनाने की पद्धति प्रचलित थी। प्रत्येक समय अस्थायी स्वरूप की झोपड़ी की तरह ये सूतिकागृह बनाये जाते थे, ऐसा मालूम होता है। आधुनिक परिस्थिति में इस प्रकार का प्रबंध कुछ अव्यावहारिक मालूम पड़ता है। परन्तु यदि इस प्रकार के गृह स्थायी और पक्के बनवाये जायँ तो इनकी तुलना आधुनिक प्रसूति-गृहों (Maternity-homes) के साथ की जा सकती है। कुछ भी हो यह पद्धति उत्तम है, इसमें कोई शक नहीं है। आधुनिक प्रसूतिगृह सब साधन-सामग्री से सुसज्ज, सुप्रकाश युक्त, स्वच्छ और हवादार होते हैं। अब हमारे यहाँ इस समय प्रसूति के लिए घर में ही एक कमरा दिया जाता है। यदि उसकी ओर ध्यान दिया जाय तो वह अत्यत अंधेरा, हवाबंद और अत्यन्त गन्दा होता है। इस प्रकार का स्थान प्रसूति के लिए देना अस्वास्थ्यजनक ही नहीं, बल्कि हानिकारक है। इसके साथ साथ आधुनिक प्रसूति-गृहों में पाश्चात्यों की देखा-देखी प्रकाश और हवा का जो अतियोग होता है, वह भी ठीक नहीं है। प्रसूति-गृह में प्रकाश और हवा का प्रबन्ध प्रसूता स्त्री और नवजात बालक की दृष्टि से होना आवश्यक है। प्रसूता स्त्री बीमार नहीं है कि उसके शरीर से तथा श्वास-प्रश्वास से खराब चीजें और वायु अधिक मात्रा में निकलती हों। प्रसूता स्त्री प्रसववेदना और रक्तस्राव के कारण अत्यन्त परिश्रान्त होती है। प्रसूता स्त्री के रोग के असाध्य होने के कारणों में इसी कारण का ही प्रामुख्य से निर्देश किया गया है—गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च। (चरक)। परिश्रान्त दुर्बल मनुष्य आराम करने के लि, हमेशा हवा के झोंके-झपाटे से दूर (निवात) और कुछ अँधेरा ही स्थान पसन्द करता है, और डाक्टर या वैद्य भी ऐसे ही स्थान में आराम करने की सलाह उसको देते हैं। अब गर्भ की दृष्टि से विचार किया जायगा। गर्भ महीनों तक हवा और प्रकाश के लिए बंद स्थान में रहता है। जन्म के पश्चात् वह हवा और प्रकाश के स्थान में आता है। जन्म के पश्चात् बालक को हवा की आवश्यकता होती है परन्तु प्रकाश की नहीं होती। एक दृष्टि से देखा जाय तो उसकी आँखें प्रकाश सहन करने की स्थिति में नहीं होतीं। निम्न श्रेणी के प्राणियों में, पक्षियों में, बच्चों की आँखें कुछ दिनों तक बन्द रहती हैं, पश्चात् धीरे-धीरे खुलती हैं। इसमें तत्व है। सभी लोक जानते हैं कि जो मनुष्य सजा होने के कारण अँधेरी कोठरी में महीनों तक रहा है, वह मनुष्य छुटकारा होने पर भी प्रकाशयुक्त स्थान में जाना पसन्द नहीं करता और न उसकी आँखें प्रकाश को सहन कर सकती हैं। अगर जबरदस्ती वह मनुष्य अँधेरी कोठरी से प्रकाश के स्थान में लाया जाय तो उसकी आँखें खराब होने की सम्भावना होती है। जिसको बहुत दिनों से अन्न नहीं मिल रहा है, या जिसने बहुत दिनों तक अन्न-सत्याग्रह किया है, उसको प्रारम्भ से ही भरपेट अन्न देने की सिफारिश कोई नहीं करेगा, क्योंकि उससे अन्नसत्याग्रही के नाश होने का डर होता है। यही सम्बन्ध बालक के आँखों में और प्रकाश में होता है, और होना भी चाहिए परन्तु इस बात की ओर पाश्चात्य ढङ्ग के अनुसार प्रसूति गृहों का प्रबन्ध करने वाले लोगों का बहुत कम ध्यान जाता है। इन बातों में आयुर्वेद का मत सुवर्णमध्य (Golden mean) के समान ग्रहण करने योग्य है। आयुर्वेद में इनके स्थान हमेशा प्रवातैकदेश, निवात, आतपवर्जित और अतमस्क होने चाहिएँ, ऐसा आदेश किया जाता है—प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचौ आतपवर्जिते। निवाते न च रोगाः स्युः शारीरागन्तुमानसाः॥ (सुश्रुत, सूत्रस्थान १९-३) इस श्लोक का वक्तव्य भी देखो। वास्तुविद्याकुशल प्रशस्त रम्यमतमस्कं निवात प्रवातैकदेश कुमारागार कुर्यात्॥ (चरक शारीर १०)। इसका मतलब यह है कि सूतिकागार में एक रास्ते से हवा आती जाती रहे, जिससे कमरे के भीतर हवा की खुलासगी (Ventilation) अच्छी होती रहे, परन्तु हवा के आवागमन का उपसर्ग प्रसूता स्त्री तथा उसका बालक जहाँ पर रहता हो, उस स्थान पर कदापि भी न पहुँच सके। अर्थात् प्रसूता और बालक का स्थान निवात हो और अन्य स्थान में हवा प्रवाह के रूप में बहती रहे। प्रकाश के बारे में भी ऐसा ही होना चाहिए। कमरे में इतना अँधेरा न हो कि भीतर कोई दिखाई ही न दे, तथा इतना असह्य काश भी न हो कि प्रसूता स्त्री तथा उसके बालक को प्रकाशसंत्रास (Photophobia), याने प्रकाश के कारण आँखें मूँदने की नौबत पैदा हो जाय। प्रकाश के लिए अनभ्यस्त बालक को प्रकाश सहन करने का अभ्यास कराने का बहुत उत्तम विधान आयुर्वेद में वर्णन किया है। वह यह है कि प्रथम महीने में बालक को सूर्योदय के समय सूर्य का और प्रदोष में चन्द्र का दर्शन प्रतिदिन करावे—अथ खलु शिरोगतस्य वत्सस्योपर्यभिनिर्वृत्ते प्रथम एव मासि कृतरक्षाहोममङ्गलस्वस्त्ययनस्य सूर्योदयदर्शनोपस्थान, प्रदोषे चन्द्रमसः॥ (काश्यपसंहिता, जातकर्मोत्तर अध्याय)। इस विधि से यह स्पष्ट होगा कि जो दृष्टिकोण ऊपर बतलाया गया है, उसी दृष्टिकोण से बालक का कमरा आतपवर्जित रक्खा जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी इसमें कोई अवैज्ञानिक बात नहीं मालूम होती, बल्कि युक्ति-युक्त मालूम होती है।

संक्षेप में, जैसे कि आयुर्वेद में वर्णन किया गया है, सूतिकागार स्वच्छ, सब साधन-सामग्रियों से सुसज्जित, स्नान-गृहादि सुविधाओं से युक्त, प्रशस्त, सुख-प्रविचारक, ऋतु के अनुसार सुखकर, प्रवात परन्तु निवात, आतपवर्जित परन्तु अतमस्क, और यदि हो सके तो मुख्य गृह से पृथक् होना उचित है।

जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबंधने।
सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी ॥८॥

(प्रसवसामीप्य के लक्षण—) कुक्षि में शिथिलता उत्पन्न होने पर, हृदय का बंधन मुक्त होने पर और जघन (प्रदेश) में पीड़ा होने पर स्त्री प्रजायिनी समझनी चाहिए ॥ ८ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में प्रसव समीप आ रहा है, इसके लक्षण बताये हैं। प्रत्यक्ष प्रसव-प्रारंभ के लक्षण नहीं बताये हैं। इनको प्रसवपूर्व लक्षण (Promonitory symptoms) कहते हैं। ये लक्षण प्रसव से लगभग दो सप्ताह के पूर्व उत्पन्न होते हैं। जाते हि शिथिले कुक्षौ—गर्भाशय में गर्भ का आधान होने के पश्चात् मास प्रतिमास गर्भाशय की वृद्धि होती जाती है और उसकी वृद्धि का परिचय भगास्थि के ऊपर प्रतिमास उसकी ऊँचाई नापने से हो जाता है। नौवें महीने के अन्त तक गर्भाशय उदरगुहा में बराबर ऊपर की ओर बढ़ता जाता है (तीसरे अध्याय के १५ वें श्लोक के वक्तव्य में गर्भाशयवृद्धि देखो), और माता की कुक्षि याने उदर खूब तन जाती है। इसके बाद गर्भाशय कुछ नीचे की ओर आता है और माता को कुक्षि में कुछ ढीलापन महसूस होने लगता है। मुक्ते हृदयबन्धने—नौवें महीने के अन्त तक गर्भाशय की इतनी [वृ]द्धि होती है कि वह उदरगुहा को प्रायः पूर्णतया व्याप्त [क]रता है और उसका ऊपर का सिरा महाप्राचीरा पेशी [(]Diaphragm उदर और वक्ष के मध्य की प्राचीर) के [ऊ]पर दबाव डालता है। इसका परिणाम यह होता है कि [ग]र्भिणी स्त्री को साँस लेने में कठिनाई होती है तथा हृदय [म]हाप्राचीरा पेशी के ऊपर स्थित होने से उसके कार्य में [उ]सके संकोच-विकास में कुछ कठिनाई होती है, जिसको [स्]त्री भी अच्छी तरह महसूस करती है। इस गर्भवृद्धि का [प]रिणाम यह होता है कि स्त्री को अपना हृदयप्रदेश जकड़ा हुआ सा मालूम होता है। गर्भावस्था के अन्तिम दो सप्ताहों में गर्भाशय कुछ नीचे की ओर आता है और उसका उदर में स्थान आठवें महीने के अन्त के बराबर हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्री का हृदयबन्धन छूट जाता है और उसको श्वास-प्रश्वास में आसानी मालूम होने लगती है। चरकसंहिता में साँस की इस कठिनाई को लक्ष्य में रखकर इस लक्षण का वर्णन 'विमुक्तबन्धनत्वमिव वक्षसः' ऐसा किया गया है। काश्यपसंहिता में कुक्षि अर्थात् गर्भाशय के नीचे आने का स्पष्ट उल्लेख किया है—कुक्षेश्च स्यादवस्रंसस्त्वधोभागस्य गौरवम्। (जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। अर्थात् अन्तिम कुछ दिनों में स्त्री को कुछ हलकापन (Lightening) मालूम होता है—During the last two weeks of pregnancy, or occasionally rather earlier, the uterus sinks a little. If the patient has suffered from a sense of oppression and difficulty in breathing, she will now feel more comfortable and breathe with more freedom. This is sometimes spoken off as 'lightening'. *Ten teacher's Midwifery.* हाराणचन्द्र हृदय का अर्थ योनि और हृदयबन्धनमुक्ति का अर्थ गर्भाशयग्रीवामुखविस्तृति (Dilatation of the os) समझते हैं—रोहितमत्स्यस्य मुखाकारत्वेनोपदिष्टा हि योनिरवश्यं हृदयमप्यनुकरोति भूयिष्ठं तदाकारत्वात्। विशेषतश्चापन्ने गर्भे सर्वं गर्भाभिवृद्ध्याऽभिवृद्धा अपि चोपरियते प्रजननकाले बहिर्द्वारं प्रत्यङ्गुल्यग्रभिन्नच्छिद्रत्वेनासन्नमुखी निसर्गत एव विमुक्तबन्धना भवत्यास्येन यदिदमुच्यते मुक्त इति। तथा च सिद्धो भागवक इत्यविच्छ्रीणोऽयं हृदयशब्दो योनिं लक्षयतीति हृदयबन्धने योनिमुखबन्धे मुक्ते अंगुल्यग्रेण स्फुटत्वेनानुभूत इत्यर्थः।

हाराणचन्द्रजी का अर्थ निम्न कारणों से ठीक नहीं मालूम होता—(१) हृदय का सरल अर्थ कर सकते हैं, सरल अर्थ प्रत्यक्ष स्थिति के साथ भली भाँति मिलता है और किसी प्रकार का विरोध नहीं करता। ऐसी अवस्था में हृदय से योनि समझने का जो अतिदूरान्वय किया गया है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती। (२) इस श्लोक में जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे प्रजायिनी स्त्री के हैं। आगे के सूत्र में जो लक्षण दिये हैं, वे आसन्नप्रसवा के हैं। अर्थात् ये दोनों अवस्थाएँ भिन्न हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। प्रजायिनी स्त्री वह है, जिसका प्रसवकाल समीप आ गया है। प्रत्यक्ष प्रसव के लक्षण उसमें नहीं दिखाई देते। ये लक्षण गर्भिणी स्त्री के घर वालों को सावधान करने के लिए दिये गये हैं, क्योंकि इनके उत्पन्न होने पर प्रसव किसी दिन प्रारंभ हो सकता है। इसलिए ये प्रसवपूर्व लक्षण कहलाते हैं और इन लक्षणों से युक्त काल प्रसवपूर्व स्थिति (Promonitory stage) कहलाता है। इस स्थिति में गर्भाशयमुखविस्तृति नहीं होती है, प्रसव प्रारंभ होने के पश्चात् होती है। इसका विवरण आगे के सूत्र के वक्तव्य में किया जायगा अर्थात् यह लक्षण आसन्नप्रसवा स्त्री के लक्षणों में रखने योग्य है, प्रजायिनी के लक्षणों में रखने योग्य नहीं है। इसलिए इस श्लोक में यह अर्थ ठीक संगत नहीं मालूम होता। (३) अगर मान लिया जाय कि प्रसवपूर्व स्थिति में गर्भाशयमुख की कुछ विस्तृति होती है, जैसे कि जेलेट ने अपनी (*Manual of Midwifery* नामक) पुस्तक में वर्णन किया है, तब भी यह लक्षण केवल बहुप्रसवा (Multiparae) स्त्री में ही दिखाई देता है—In multiparae, the external os usually begins to dilate some days before the onset of labour, so that the finger may be passed a short way into the cervical canal. ये प्रसवपूर्वकालीन लक्षण प्रथमगर्भा स्त्री में अधिक दिखाई देते हैं और अनेकगर्भा स्त्रियों में बहुत कम दिखाई देते हैं या नहीं दिखाई देते; इसका स्पष्ट निर्देश जेलेट ने किया है—In primiparae the symptoms are well marked, in multiparae they may be slight or altogether absent. अब शारीरस्थान में ऋतु, ऋतुकाल, पुरुषसमागम, गर्भाधान, गृहीतगर्भा के लक्षण,

प्रसव इत्यादि जो विषय वर्णन किये हैं उनका यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि ये सब विषय स्त्री में प्रथम बार याने उसकी आयु में पहले पहल होनेवाली घटनाओं के संबंध में लिखे गये हैं। अर्थात् इनका उपयोग बार बार होने वाली इन घटनाओं में होता है, यह दूसरी बात है। परंतु असल में ये प्रथमगर्भा स्त्री के निमित्त लिखे गये हैं। अर्थात् इस श्लोक के प्रसवपूर्वावस्था के लक्षण भी प्रथमगर्भा स्त्री के ही हैं। अब जेलेट, जो बहुप्रसवा स्त्री में प्रसवपूर्वावस्था में गर्भाशयमुखविस्तृति होती है, ऐसा लिखता है वह यह भी स्पष्ट कर देता है कि प्रथमगर्भा स्त्री में इस प्रकार की विस्तृति नहीं होती—*In primiparae, there is, as a rule, no* dilatation of either the internal or the external os until labour has actually begun इस विवरण का तात्पर्य यह है कि हृदयबन्धन का अर्थ किसी भी दृष्टि से योनिमुखविस्तृति नहीं हो सकता है। मशूले जघने—जघन से यहाँ नाभि और गुह्येन्द्रिय के बीच का भाग, याने पेडू प्रदेश अभिप्रेत है। इस प्रदेश में प्रसवपूर्वकाल में कुछ पीड़ा होती है। यह पीड़ा पचनसंस्थान की खराबी से ही प्राय हुआ करती है और विरेचन से या कोष्ठशुद्धि करने से दूर होती है। प्रसव के पूर्व होने से इसको प्रसववेदना या आवी (Labour pains) समझते हैं, परंतु यह पीड़ा आवी नहीं है। इसको मिथ्यावी (False pains) कहते हैं। आवी और मिथ्या आवी में भेद—(१) मिथ्यावी प्रसव के पूर्व और आवी प्रसव के समय उत्पन्न होती है। (२) मिथ्यावी आन्त्रगत वायु या अन्य कारण से और आवी गर्भाशयसंकोच से उत्पन्न होती है। (३) मिथ्यावी आन्त्र में और आवी पीठ के नीचे के हिस्से में मालूम होती है। (४) मिथ्यावी का उद्भव अनियमित समय पर और आवी का नियमित समय पर होता है। (५) मिथ्यावी मालूम होने के समय गर्भाशय पर हाथ रखने से वह कड़ा नहीं मालूम होता, परंतु आवी के समय गर्भाशय कड़ा मालूम होता है। (६)यदि गर्भाशय का मुख विस्तृत हुआ हो, जैसे कि बहुगर्भा स्त्री में हुआ करता है, तो उसमें अँगुली डालने से मिथ्यावी के समय गर्भ के आवरण में कोई तनाव नहीं प्रतीत होता, परंतु आवी के समय होता है।

इस तरह प्रसवपूर्व स्थिति में गर्भाशय का कुछ नीचे उतरना, उसके कारण हृदय के ऊपर का दबाव कम होकर श्वास प्रश्वास में आराम मालूम होना और उदर में कुछ पीड़ा होना ये तीन लक्षण होते हैं। अब इसके बाद प्रसव प्रारंभ होने पर होने वाले लक्षण वर्णन करते हैं। इस प्रसव पूर्वकाल में मलमूत्र शुद्धि पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यदि मलावरोध हो जाय तो बस्ति से कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिए—तत्र (सूतिकागारे) अनुलोमनैराहारविहारैरनुलोमितवातमूत्रपुरीषा प्रसवकालमुदीक्षेत। स्वल्पेऽपि च विण्मूत्रविबन्धे फलवर्ती प्रणिदध्यात्। (अष्टांगसंग्रह, शारीर ३)।

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद् वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च ॥ ६ ॥

(आसन्नप्रसवा के लक्षण—) उपस्थितप्रसवा (स्त्री) के कटी (समीपवर्ती) पीठ के पास तथा चारों ओर बार बार पीड़ा होती है, मल (का उत्सर्ग करने) की प्रवृत्ति होती है, मूत्र का स्राव होता है और योनिमुख से श्लेष्मा निकलता है ॥ ६ ॥

वक्तव्य—उपस्थितप्रसवा—जिसका प्रसव प्रारंभ हुआ है, ऐसी स्त्री। कटीपृष्ठ—कटीपृष्ठ का संधिस्थान याने त्रिक (Sacrum)—त्रिकवसक्थ्नो पृष्ठवंशास्थ्नोर्यं संधिस्तद् त्रिकमनम्। अभीक्ष्णम्—इसका संबंध वेदना, मूत्र और श्लेष्मा का प्रसेक तथा पुरीष प्रवृत्ति के साथ होता है। पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते—प्रसव के समय गर्भ का सिर नीचे की ओर आता है और मलाशय तथा मूत्राशय के ऊपर दबाव डालता है। इसके साथ साथ गर्भाशय में, जो कि मलाशय और मूत्राशय के बीच में है, संकोच उत्पन्न होता है। इन कारणों से स्त्री को बारबार मल-मूत्र त्याग करने की इच्छा हुआ करती है। योनिमुखात् श्लेष्मा च—प्रथमगर्भा स्त्री में प्रसव के प्रारंभ से और बहुगर्भा स्त्री में उससे भी कुछ दिन पहले से गर्भाशय का मुख फैलने लगता है। संपूर्ण गर्भावस्था में प्रसवकाल तक योनिमुख बंद रहता है तथा उसमें मार्गावरोधक श्लेष्मा का पिधान Operculum) भी बना रहता है। प्रसव के समय गर्भाशयमुख धीरे धीरे प्रसारित होता है। इसके प्रसारित होने से मुख के पास संसक्त हुआ गर्भावरण (जरायु) मुख से पृथक् होने लगता है। इसके पृथक् होने से कुछ रक्त और लसिका मुख के अभ्यन्तरीय स्थान से निकलने लगती है। इस तरह गर्भाशयमुख के प्रसारित होने से मुखस्थ श्लेष्मा तथा कुछ रक्त योनि से स्रवने लगता है। प्रसवारंभ के रक्तमिश्र श्लेष्मास्राव को प्रज्ञापन (Show) कहते हैं। इससे यह पता चलता है कि गर्भाशयमुख प्रसारित हो रहा है। बहुप्रसवा स्त्री में यह लक्षण प्रसवपूर्वकाल में भी मिल सकता है क्योंकि उसके गर्भाशय का मुख कुछ पहले प्रसारित होने लगता है।

प्रसव की अवस्थाएँ—आधुनिक पाश्चात्य व्यवस्था के अनुसार प्रसव तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है। (१) अभिसरणावस्था (Stage of dilatation)—गर्भ बाहर निकलने के लिए गर्भाशयमुख काफी चौड़ा होने की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में यह मुख धीरे धीरे फैलता जाता है। प्रथमप्रसवा स्त्री में इसके लिए अधिक समय (१२ घंटे या इससे अधिक) और अनेकप्रसवा में थोड़ा समय (६-७ घंटे) लगता है। यह अवस्था प्रसववेदना (आवी) के प्रारंभ से गर्भाशयमुख की पूर्ण विस्तृति तक होती है। (२) गर्भजन्मावस्था (Stage of expulsion of the child)—यह अवस्था गर्भाशयमुख की पूर्ण विस्तृति के समय से प्रारंभ होकर गर्भ का जन्म होने पर समाप्त होती है। प्रथमप्रसवा स्त्री में इसका काल साधारणतया १-२ घंटे का और अनेकप्रसवा में १०-१५ मिनट का होता है। (३) अपराजन्मावस्था—(Placental stage)—यह अवस्था गर्भजन्म होने से प्रारंभ होकर अपरा के निकल आने पर समाप्त होती है। यदि अपरा को निकलवाने में कुछ सहायता दी जाय तो यह अवस्था १०-१५ मिनट में समाप्त होती है, परंतु कुछ भी मदद न दी जाय तो इसका काल कई घंटों का हो सकता है। साधारणतया हस्तकौशल से ही अपरा निकाली जाती है।

अभिस्तरणावस्था—इस सूत्र में अभिस्तरणावस्था के ही लक्षण वर्णन किये गये हैं। इस अवस्था के निम्नलक्षण होते हैं—(१) प्रसववेदना या आवी (labour pains)—इस अवस्था का यह प्रधान लक्षण है और इसी के कारण अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रसववेदना गर्भाशय के आकुञ्चनों से उत्पन्न होती है। ये आकुञ्चन अनैच्छिक, सान्तर और नियमित होते हैं। प्रारंभ में ये देर में याने आधे आधे घंटे में उत्पन्न होते हैं, अल्पवल और अल्पकालीन होते हैं। धीरे धीरे इनके वीच का काल कम होता जाता है और इनका वल और काल वढ़ता है, जिससे प्रसववेदना उत्तरोत्तर प्रवल और तीव्र होती जाती है। यह प्रसववेदना अनैच्छिक (अपने मन का या इच्छा का जिस पर अधिकार नहीं होता, ऐसी) होने पर भी लज्जा, घवराहट इत्यादि मानसिक विकारों से और मल और मूत्र से भरे हुए मल-मूत्राशय की रुकावट से कम हो जाती है; और गरम पानी की वस्ति, भगपीठ पर दवाव इत्यादि से अधिक हो जाती है। यह वेदना पीठ के निचले हिस्से में याने त्रिक में और उसके आस-पास (कटीपृष्ठं प्रति समन्तात्) इस अवस्था में मालूम होती है—During the first stage of labour, the pain is principally referred to the region of the sacrum, *Gellet's midwifery*. वेदना के समय गर्भाशय कड़ा हो जाता है। प्रारंभ में गर्भाशय का आकुञ्चन औसत वीस मिनट पर एक वार होता है। धीरे धीरे यह आन्तराकुञ्चन काल कम होता जाता है और प्रथमावस्था के अन्त में तीन-चार मिनट का होता है। अर्थात् प्रारम्भ में प्रसववेदना प्रत्येक वीस मिनट पर हुआ करती है और धीरे धीरे यह समय कम होकर प्रथमावस्था के अन्त में प्रत्येक तीन-चार मिनट पर हुआ करती है। (२) गर्भाशयमुखविस्तृति (Dilatation of the os)—पेशीतन्तुओं के कार्य की दृष्टि से गर्भाशय के दो विभाग होते हैं—शरीर और ग्रीवा। शरीर के पेशीतन्तु गर्भाशय की लंवाई में और ग्रीवा के पेशीतन्तु चौड़ाई में होते हैं। ग्रीवातन्तुओं के संकोच से गर्भाशय का मुख पूर्णतया वंद हो जाता है। प्रसव प्रारंभ होने के पूर्व ये तन्तु संकोचयुक्त अवस्था में रहते हैं, जिससे वाहर से कोई वस्तु गर्भाशय के भीतर नहीं जा सकती, न भीतर का गर्भ वाहर आ सकता है। गर्भाशय-शरीर-तन्तुओं के संकोच से गर्भाशय की भीतरी समाई कम हो जाती है और भीतर का गर्भ वाहर निकलने का कार्य होता है। इस तरह गर्भाशयशरीर और ग्रीवा के पेशीतन्तुओं के कार्य में विरोध होता है। अगर यह विरोध हमेशा के लिए होता तो अनवस्थाप्रसंग उत्पन्न हो जाता। परंतु यह विरोध सहकार्य की दृष्टि से होता है। गर्भावस्था में ग्रीवापेशीसंकोच रहता है और शरीर पेशी शिथिलता रहती है, जिसमें पूर्णकाल तक गर्भ गर्भाशय में रह सकता है। प्रसवकाल के समय शरीरपेशीसंकोच होता है और ग्रीवापेशीशिथिलता हो जाती है, जिससे गर्भ के वाहर आने में सहायता होती है। इनकी शिथिलता के कारण तथा ऊपर से गर्भ के दवाव के कारण ग्रीवामुख धीरे धीरे विस्तृत होता जाता है और प्रथमावस्था के अन्त में गर्भनिर्गम के लिए जितनी विस्तृति आवश्यक होती है, उतनी हो जाती है। ग्रीवा और शरीर के संकोच-विकास का यह विरोध जैसे स्वभाव से उत्पन्न होने वाले संकोच-विकास में होता है, वैसे ही कृत्रिम पद्धति से उत्पन्न किये हुए संकोच-विकास में होता है। कभी कभी प्रारम्भ में गर्भाशय में उत्पन्न होने वाले संकोच कुछ काल के पश्चात् कमजोरी के या अन्य कारण से वन्द हो जाते हैं। उस अवस्था में हाथ की अंगुलियों से या यन्त्र की सहायता से ग्रीवामुखविस्तृति करने से गर्भाशय-शरीर में संकोच शुरू होकर प्रसव ठीक हो जाता है। किंवा जव कमजोर संकोच के कारण गर्भाशय ग्रीवामुख की ठीक विस्तृति नहीं होती, तव पोषणक ग्रन्थि निस्सार (Pituitrin) की सुई देकर गर्भाशय के संकोच जोरदार करने से ग्रीवामुखविस्तृति होकर प्रसव हो जाता है। गर्भाशय के शरीर और ग्रीवा के संकोच-विकास का जो यह नियम है, उसको अंग्रेजी में ध्रुवधर्म (Law of polarity) कहते हैं। इस प्रकार के सहकारी विरोधी कर्म शरीर के अनेक कर्मों में दिखाई देते हैं—जैसे, आँखों की पुतली फैलने के समय एक प्रकार के तन्तु संकुचित और दूसरे प्रकार के शिथिल हो जाते हैं, तथा पुतली छोटी होने के समय प्रथम शिथिल हुए संकुचित होते हैं और संकुचित शिथिल हो जाते हैं। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि शरीरगत सम्पूर्ण कर्मों का नियमन इस प्रकार के सहकारी विरोधी कर्मों के ऊपर निर्भर होता है। कविकुलगुरु कालिदास ने चन्द्र-सूर्य के अस्तोदय को देखकर ब्रह्माण्ड के सम्वन्ध में जो एक नियम वताया है, (शाकुन्तल ४-१) वही नियम निम्नभेद करके शरीर के लिए भी यथार्थ होता है—कर्मद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां देहो नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु। गर्भाशय शरीर संकोच के कारण उसकी ग्रीवा छोटी और उसका मुख काफ़ी विस्तृत हो जाता है। (३) योनिमुख से सरक्त श्लेष्मा का स्राव। इसका विवरण पीछे किया गया है। तीसरा और चौथा लक्षण प्रथमप्रसवा स्त्री में इस समय में ही मिलता है। वहुप्रसवा स्त्री में इससे कुछ पहले भी मिल सकता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि ग्रीवामुखविस्तृति उस समय में अधिक नहीं होती। (४) शिरोऽवग्रहण Fixation of the head)—गर्भाशय के संकोच के कारण उसकी समाई कम होती है तथा गर्भ ऊपर से नीचे को दवाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भ का सिर, जो पहले वस्तिगुहा (Pelvis) के किनारे के ऊपर था, नीचे वस्तिगुहा के किनारे पर उचित व्यास पर दृढ हो जाता है। चरकसंहिता में 'वस्तिशिरोऽवगृह्णाति' इस पद का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया गया है—स यदा जानीयाद्विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति वस्तिशिरोऽवगृह्णाति त्वरयन्त्येनामाव्यः परिवर्ततेऽधो गर्भ इति। (शारीर १०)। काश्यपसंहिता में भी गर्भशिर ग्रहण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—कालेन चोदितो गर्भो विमुच्य हृदयोदरम्। वस्तिशीर्षमधोभागमवगृह्णाति जन्मनि ॥ जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। (५) जरायुविदारण (Rupture of the membranes)—गर्भाशयमुख विस्तृत होने के कारण गर्भावरण का नीचे का आधार टूट जाता है और ऊपर से संकोच के कारण दवाव पड़ता है। इसका परिणाम यह

होता है कि मुख की काफी विस्तृति होने पर उसके सामने की जरायु विदीर्ण होकर गर्भोदक बाहर निकलता है—आवीना मनुजन्मातस्ततो गर्भोदकस्रुतिः। (अष्टांगहृदय)। ततोऽनन्तरमावीना प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य॥ कभी कभी गर्भाशय-मुख पूर्ण विस्तृत होने पर भी जरायु विदीर्ण नहीं होती और गर्भोदक का स्राव नहीं होता। ऐसी अवस्था में योनि में अँगुली डालकर उसके दबाव से सावधानी से जरायु को विदीर्ण करना चाहिए। प्रसव के प्रारम्भ में गर्भाशय में सकोच प्रारम्भ होने पर गर्भ का सिर नीचे की ओर श्रोणी के किनारे पर दबाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सिर के सामने का आवरण कुछ जल के साथ पीछे के जल से पृथक् हो जाता है। सिर के सामने जो जल होता है, उसको प्रसवपूर्वजल (Fore-waters) और पीछे जो होता है, उसको प्रसवोत्तर जल (After-waters) कहते हैं। प्रसवपूर्व जल जरायु के साथ सिर के सामने एक छोटी पानी से भरी हुई मोट के समान होता है। इसको पनमोटरी (Bag of membranes) कहते हैं। गर्भ के सिर की अपेक्षा गर्भाशय का मुख विस्तृत करने में यह पनमोटरी बहुत उपयोगी होती है। इसका दबाव गर्भाशय के मुख पर चारों ओर से समान पड़ता है, जिसके कारण गर्भाशय के प्रत्येक सकोच के समय मुख धीरे धीरे विस्तृत होता है। जब पूर्ण विस्तृत हो जाता है, तब पनमोटरी निराधार होने के कारण फूटती है और उसका गर्भोदक योनि के बाहर निकलता है। प्रथमावस्था के अन्त तक पनमोटरी के अविदीर्ण रहने के लिए गर्भ का नीचे की ओर आने वाला अंग और कटीर के नीचे के किनारे में कुछ मेल (Fit) होने की आवश्यकता होती है। जब गर्भ प्रतिलोम या विषम स्थिति में आता है या कटीर टेढ़ा या सकुचित (Contracted pelvis) होता है, उस समय इन दोनों में ठीक मेल न होने से पनमोटरी बहुत पहले फूट जाती है और गर्भोदक बहुत पहले बाहर आता है। इसके निम्न परिणाम होते हैं। गर्भाशय का मुख विस्तृत होने के लिए काफी देर लग जाती है और प्रथमावस्था विलंबित होती है। (२) गर्भ का नीचे का अंग और कटीर में मेल न होने से पीछे के जल को आगे को आने के लिए कुछ मार्ग मिलता है, जिससे पीछे का जल धीरे धीरे स्रवता रहता है और कुछ समय के पश्चात् गर्भाशय के भीतर का गर्भोदक करीब करीब नष्ट हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय के संकोच से गर्भ सीधा दबाया जाता है, जल के द्वारा उसका जो रक्षण होता था वह नहीं होता। इससे कभी कभी गर्भ की मृत्यु हो जाती है। (३) गर्भाशयमुख का किनारा भगास्थि और सिर के बीच में पकड़ जाने का डर रहता है। इस तरह पकड़ जाने पर वह किनारा काफी फूलता है और प्रसव के मार्ग में रुकावट पैदा करता है। ऐसी अवस्था में उस किनारे को अंगुली से ऊपर की ओर एक तरफ दबा देना चाहिए। कभी कभी जरायु के साथ बालक का जन्म होता है। यदि जरायु आप से आप न विदीर्ण हो या कृत्रिम रीति से विदीर्ण न किया गया हो। आगे १२वें सूत्र का वक्तव्य देखो।

प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत्। ततः कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने स्थितामाभुग्नसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्तितनखाः परिचरेयुरिति॥ ७॥

(प्रथमावस्था का कर्म—) मङ्गल और स्वस्तिवाचन (पुण्याहवाचन) की हुई, कुमारों से घेरी हुई, हाथ में पुन्नामफल ग्रहण की हुई, तैल से अभ्यङ्ग और गरम पानी से स्नान की हुई, प्रसूत होने वाली स्त्री को बलकर यवागू कण्ठ तक (भरपेट) पिलावे। तदनन्तर मृदु, विस्तीर्ण, (सिरहाने में) तकिया रक्खे हुए बिस्तरे पर टाँगों को सिकोड़कर उत्तान (पीठ के बल) लेटी हुई स्त्री की अशङ्कनीय, वृद्ध, प्रसवकुशल, कर्तितनख चार स्त्रियाँ परिचर्या करें॥ ७॥

वक्तव्य—कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनाम्—प्रत्येक महत्व के कर्म के पूर्व वेदों के मन्त्रोच्चारपूर्वक पुण्याहवाचन करने की जो विधि है, उसके अनुसार प्रसवकर्म के पूर्व मङ्गल और पुण्याहवाचन करके। कुमारपरिवृताम्—कुमार से यहाँ पुमान् अपत्य अभिप्रेत है। छोटे छोटे बालक स्त्री के चारों ओर रखने से 'अपने को भी पुत्र हो जायगा' इस कल्पना से स्त्री को प्रसववेदना की तकलीफ कम मालूम होगी, इस दृष्टि से यह कर्म किया जाता है। हाराणचन्द्र कुमार से छोटे छोटे बाल समझते हैं, जिसमें बालक और बालिकाएँ भी शामिल हो सकती हैं—कुमारपरिवृतामिति हर्षेण क्लेशापहारणार्थमुपदिश्यते इति गम्यते। अतः कुमारशब्देन स्निग्धानां कुमारीणामपि परिग्रहो न्याय्यः॥ पुन्नामफलहस्ताम्—पुँल्लिंगी जिसका नाम हो ऐसा कोई फल जिसके हाथ में हो, ऐसी। ऐसा पुल्लिंगी फल भी पुत्र की दृष्टि से ही स्त्री के हाथ में दिया जाता है। गर्भ के लिंग की सूचना देने की दृष्टि से पहले भी इस प्रकार का शब्द प्रयोग किया गया है—दौर्हृदाच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति। (शारीर ३)। हाराणचन्द्र पुन्नाम फल से पुन्नाग समझते हैं—पुन्नामा पुन्नाग, 'पुन्नागः पुरुषस्तुङ्गः पुन्नामा पाटलद्रुम' इति राजनिघण्टुः। पुन्नामफलहस्तत्वं पुनः सुखप्रसवं प्रत्येनां स्वस्थयतीत्याचक्षते तदिदमुक्तं पुन्नामेति। पहले पांचवें श्लोक के वक्तव्य में बताया गया है कि शारीरस्थान की गर्भाधान प्रसवादि घटनाएँ प्रथमगर्भा स्त्री के संबंध में लिखी गई हैं। प्रथमगर्भा स्त्री को तथा उसके पति तथा घर वाले अन्य लोगों को पुत्र उत्पन्न होने की जबरदस्त इच्छा होती है। इसी इच्छा के कारण ही पुंसवन विधि का आविष्कार हुआ है। अर्थात् प्रसव के समय भी उसके आसपास की स्थिति इस प्रकार बनाये रखने की कोशिश की जाती है कि उसको पुत्र उत्पन्न होगा, ऐसा ही विचार उसके मन में हमेशा पैदा हो। प्रत्यक्ष प्रसव के समय भी 'पुत्र हुआ, पुत्र हुआ, धन्य हो' ऐसे शब्द प्रयोग किये जाते हैं—'प्रजाता प्रजाता धन्यं धन्य पुत्रम्' इति। तथाऽस्या हर्षेणाप्यायन्ते प्राणाः॥ (चरक)। इसलिए यहाँ पर कुमार में पुमान् अपत्य और पुन्नामफल से पुमान्वाचक फल (जिसमें पुन्नाग भी आ सकता है, परन्तु अन्य पुँल्लिंगी फल भी चल सकते हैं) ही लेना उचित है। जैसे, अष्टांगहृदय में भी लिखा है—हस्तस्थपुन्नामफलाम्। इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—तथा हस्तस्थं पुन्नाम दाडिमादिफलं यस्यास्ताम्।

उष्णोदकपरिषिक्ताम्—उष्णोदक से गर्भिणी को नहलाने के लिए जेलेट भी कहते हैं—It is also a good thing for the patient to have a warm bath during the premonitary stage. स्नान से शरीर की और जननेन्द्रिय की सफाई होती है, पेशियाँ अधिक कार्यक्षम होती हैं और गर्भिणी प्रसव-वेदनाओं को अच्छी तरह सह सकती है। सम्भृतां यवागूम्—क्षीर, घृत इत्यादि से युक्त होने के कारण पुष्टिकर। प्रसव के परिश्रम में शक्ति देने के लिए यवागू दी जाती है। कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने—रूई की मृदु गद्दी पर सिरहाने में तकिया युक्त विस्तृत विछौना। आधुनिक काल में गद्दी और चादर की रक्षा रक्तादि से करने के लिए उस पर जलाभेद्य चद्दर (Mackintosh) विछाने की पद्धति है। अष्टांगसंग्रह में शयन के ऊपर चर्म-प्रच्छद का प्रयोग करने के लिए लिखा है। इसका भी उपयोग म्याकिन्टोश के समान हो सकता है—ततः सुरक्तार्षभचर्मप्रच्छदे मृदुनि भूमिशयने। (शारीर ३)। आभुग्नसक्थीमुत्तानाम्—जानु सिकोड़कर पीठ पर लेटना। इस आसन को पृष्ठासन (Dorsal position) कहते हैं। अशङ्कनीयाः—यासां लज्जाभयादिकं न करोति गर्भिणी। (डल्हण)। किंवा जिनके शील, शौच, आचार, विनय, सौहार्द, अनुरक्ति इत्यादि गुणों के संबंध में (आगे चरक का वचन देखो) शंका न हो। चतस्रः स्त्रियः—चरक और अष्टांगसंग्रह में अनेक स्त्रियाँ उपस्थित रखने के लिए लिखा है—स्त्रियश्च बह्व्यो बहुशः प्रजाताः। इनके लिए पृथक् पृथक् काम भी बताये गये हैं—(एका) स्त्री पादतोऽस्या निषण्णाया योनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य स्फिजौ पादाभ्यां पीडयेत्। अन्या (द्वितीया) तु वामकर्णेऽस्या मन्त्रमिमं जपेत् 'क्षितिर्जलम्' इत्यादि (आगे ८वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में देखो) तथा परा (तृतीया) नुशिष्यात्, अनागतायां वेदनायां मा प्रवाहिष्ठाः। तद्वान्यतमा (चतुर्थी) स्त्री जातमात्रमेव बालं बालोपचरणीयेन विधिनोपपादयेत्। (अष्टांगसंग्रह, शारीर ४)। इसमें संदेह नहीं है कि, काम ये ही हों या आधुनिक काल के अनुसार दूसरे हों, प्रसव के समय अनेक स्त्रियाँ होने से काम करने में सब प्रकार की सुविधा होती है। इसलिए प्रसव के समय अनेक स्त्रियाँ रखने की प्राचीन पद्धति आधुनिक काल में भी अनुकरण करने योग्य है। प्रजननकुशलाः—प्रतिपत्तिकुशलाः। (चरक)। गर्भनिष्कासने कुशलाः। (इन्दु)। कर्तितनखाः—योनि में हाथ प्रवेश करते समय अंगुलियों के नख व्रण उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए उनको कटवाना बहुत आवश्यक है। इसके सिवा नखों के नीचे बहुत मल (आधुनिक परिभाषा के अनुसार Septic matter) इकट्ठा होता है, जो योनि में प्रवेश करके रोग उत्पन्न कर सकता है। नाखून काटने पर उनके नीचे इकट्ठा हुआ मल चला जाता है और हाथों की सचमुच सफाई होती है। नाखूनों के अतिरिक्त हाथों के अन्य हिस्से में कोई विशेष खराबी नहीं होती। आधुनिक काल में भी शस्त्रकर्म के पूर्व हाथों की सफाई में नाखूनों के ऊपर ही ज्यादा ध्यान दिया जाता है और काटने के पश्चात् उनके और मांस के बीच का भाग जहाँ पर मल इकट्ठा होता है, ब्रुश से रगड़कर स्वच्छ किया जाता है। शरीर की स्वच्छता की दृष्टि से आयुर्वेद में हमेशा नाखून कटवाने का उपदेश किया गया है—नीचरोमनखश्मश्रुर्निर्मलाङ्घ्रिमलायनः। (अष्टांग हृदय)। पञ्चरात्रान्नखश्मश्रुकेशरोमाणि कर्तयेत्। (योगरत्नाकर)। चरकसंहिता में प्रसवोपयोगी स्त्रियों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—स्त्रियश्च बह्व्यो बहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ता सततमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवत्सलास्त्यक्तविषादाः क्लेशसहिन्योऽभिमताः। चरक के इस वर्णन में 'बहुशः प्रजाताः' यह गुण बहुत महत्व का है। जो स्त्री स्वयं कई वार प्रसूत हुई है, वही स्त्री प्रसूति के समय स्त्री को कितना कष्ट उठाना पड़ता है, कितनी लाचारी होती है, कितनी लज्जा (जो कि स्त्री का परम भूषण है) छोड़नी पड़ती है, और इन बातों का परिणाम आसन्नप्रसवा विशेषतया प्रथमप्रसवा स्त्री के मन पर कैसे होता है, इसको समझ सकती है। इसलिए बहुशः प्रजाता स्त्री प्रसव रूप आपत्ति (एक दृष्टि से आपत्ति ही कहना उचित है यद्यपि वास्तव में वह आपत्ति नहीं है) में फँसी हुई स्त्री के साथ जितना सौहार्द, अनुराग और सहसंवेदना (सहानुभूति) प्रकट कर सकती है उतनी सहानुभूति क्वारी, वन्ध्या या बालविधवा स्त्री नहीं प्रकट कर सकती। क्योंकि जैसे 'न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्' वैसे ही—कुमारी न विजनाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्। आधुनिक काल में दाई (Midwife) का व्यवसाय हो गया है, जिसमें शुल्क लेकर दूसरे का काम किया जाता है। इसमें प्रेम, अनुरक्ति और सहानुभूति का सम्बन्ध बहुत थोड़ा होता है। इसके सिवाय ये स्त्रियाँ प्रायः क्वारी, या विधवा या वन्ध्या (स्वाभाविक या कृत्रिम) होती हैं। इसलिए प्रसववेदना से पीडित स्त्री को सान्त्वना देने के बदले ये स्त्रियाँ कई वार उसकी दिल्लगी उड़ाती हुई देखी जाती हैं। यह कथन अधिकतर अस्पताल के लिए लागू है, घर के लिए नहीं। कुछ भी हो, एकाध अपवाद या सुस्वभावी स्त्री को छोड़कर क्वारी या वन्ध्या स्त्री की अपेक्षा बहुशः प्रजाता स्त्री प्रसव के काम के लिए अधिक अच्छी होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम मनुष्य के मन पर जैसे होता है, वैसे उस अनुभव की कल्पना करने से नहीं होता। सौहार्दयुक्ता, सततमनुरक्ता, प्रकृतिवत्सलाः—स्निग्धता, अनुरक्ति ये परिचारक के गुण (सूत्रस्थान ३४-२३ और उसका वक्तव्य देखो) हैं। प्रसूता यद्यपि रोगी नहीं है तथापि उसकी परिचर्या रोगी के समान करनी पड़ती है। अर्थात् सौहार्द और अनुराग ये गुण स्त्रियों में बहुत आवश्यक हैं। इनके सिवा और एक गुण प्रसूता की परिचारिका में होना आवश्यक है, जो अन्य परिचारिका में उतना आवश्यक नहीं है। वह गुण है प्रकृतिवत्सलता, याने दिल से बच्चों को प्यार करने का स्वभाव। त्यक्तविषादाः—प्रसव के समय प्रसूता की लाचारी को और दुःख को देखकर विषाद उत्पन्न होता है। उसमें अगर विलम्बित प्रसव, मूढगर्भ, रक्तस्राव इत्यादि आपत्तियाँ खड़ी हो जायँ, तो विषण्णता और भी बढ़ जाती है। विषाद से चेतोभङ्ग होता है—विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः। अर्जुन को भारतीय युद्ध के पूर्व विषाद हुआ था। विषाद से शरीर की क्या दशा होती है उसका सुन्दर वर्णन भगवद्गीता में मिलता है—सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च

परिशुष्यति । वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते । न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ (प्रथम अध्याय २९-३०)। यदि प्रसव के समय स्त्री की ऐसी अवस्था हो जायगी तो उससे कुछ भी काम नहीं होगा। इसलिए प्रसव कराने वाली स्त्रियों में त्यक्त-विषादत्व यह एक महत्त्व का गुण है। अहतवाससः—अष्टांगसंग्रह में उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त यह शब्द अधिक है। इससे प्रसाविका के कपड़े की स्वच्छता की ओर ध्यान खींचा गया है। प्रसाविका को अपने हाथों और कपड़ों की स्वच्छता पर बहुत ध्यान देना चाहिए। इसका निर्देश 'अहतवासा' और 'कृत्तनखा' से किया गया है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रसाविका किसी रोग से पीड़ित न हो। विशेष करके त्वचा के और मुख तथा श्वसनसंस्थान के रोगों से पीड़ित होना भयावह होता है। इससे योनि, गर्भाशय दूषित होने का डर होता है। डाक्टर या वैद्य भी अगर प्रत्यक्ष प्रसव में भाग लेने वाले हों तो वे भी मुख या श्वसनसंस्थान के और त्वचा के रोगों से मुक्त और स्वच्छहस्तवस्त्रयुक्त होने चाहिएँ। प्रसाविका के समान प्रसूत होने वाली स्त्री के लिए भी जो जो वस्त्र प्रयोग में आते हैं, वे सब स्वच्छ-निर्मल होने चाहिएँ। प्रसूत होने वाली स्त्री के कपड़े प्रसव के बाद खराब हो जाते हैं, इसलिए उसको प्रसव के समय गन्दे कपड़े देने का रिवाज कई जगह देखा जाता है। परन्तु यह रिवाज बहुत खराब है। भोजन करने के पश्चात् थाली खराब हो जाती है, इसलिए भोजन करने के लिए जब खराब थाली लेने का कहीं पर रिवाज नहीं है तब इसमें इस प्रकार का रिवाज क्यों? भोजन के लिए स्वच्छ थाली की जितनी आवश्यकता है, उससे कहीं अधिक प्रसव के लिए स्वच्छ कपड़ों की आवश्यकता है। इसलिए प्रसव के साथ सम्बन्ध रखने वाली सब चीजों (जैसे—वस्त्र, जल, पात्र, यन्त्र, शस्त्र इत्यादि) का स्वच्छ और निर्मल होना आवश्यक है। आधुनिक काल में ये सब चीजें ऊष्मविशोधन से शुद्ध करके ली जाती हैं।

प्रथमावस्था की व्यवस्था—प्रसववेदना के प्रारम्भ से प्रथमावस्था का प्रारम्भ होता है। इसका प्रारम्भ होते ही गर्भिणी को एरण्ड का तैल या यष्टिमध्वादि चूर्ण या अन्य विरेचन देकर कोष्ठ शुद्धि करना चाहिए और प्रथमावस्था के मध्य में बस्ति देकर मलाशय को खाली करना चाहिए। इससे गर्भ के रास्ते में मलाशय की रुकावट नहीं होती तथा प्रसव के समय मल से अपत्यमार्ग तथा अन्य वस्त्रादि खराब होने का डर नहीं रहता। कोष्ठशुद्धि ठीक होने से बार बार मलोत्सर्ग करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। इस अवस्था में बार बार मूत्र त्यागने की इच्छा भी होती है। इसके लिए बार बार मूत्र त्यागना ही उचित होता है। यदि गर्भ सिर के दबाव के कारण मूत्र त्यागने में कठिनाई मालूम होती हो तो सलाई से मूत्राशय खाली करना उचित है। मलाशय और मूत्राशय खाली रहने से गर्भ का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है। (२) स्नान और जननेन्द्रिय की स्वच्छता—गरम पानी से स्नान और स्नान के समय ही गरम पानी से जननेन्द्रिय की अन्तर्बाह्य स्वच्छता करना। (३) लघु आहार का सेवन—प्रसववेदना में माता को थकावट होती है, इसलिए इस अवस्था में माता को सुपाच्य बलकर आहार देना चाहिए। इस दृष्टि से यवागू देने की पद्धति उत्तम है, क्योंकि यवागू हल्की, बलकारक, तृषा और क्षुधा की शामक होती है—Patients should be encouraged to take light food during the first stage. *Ten Teachers' Midwifery* काश्यपसंहिता में दुर्बल स्त्री को मद्य देने का एकीय मत दिया है, परन्तु काश्यप उसको पसन्द नहीं करते—दुर्बला पाययेन्मद्यमत्यके, नेति काश्यपः। (जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। (४) गर्भिणी का आसन—यदि प्रसववेदना बहुत तीव्र हो और माता को थकावट मालूम होती हो तो बिस्तरे पर लेटना ठीक है। परन्तु यदि ये मामूली हों तो माता को खड़े रहकर टहलना ही उचित है—शरयत् जृम्भचङ्क्रमम्। (अष्टांगहृदय)। जृम्भस्व चङ्क्रमस्व च पुनरनुष्ठेयमिति। (चरक)। प्रसववेदना तीव्र होने पर ग्रीवामुखविस्तृति होने में देर नहीं लगती, परन्तु जब मन्द होती है तब देर लगती है। ऐसी अवस्था में गर्भिणी के खड़ी होकर चलने-फिरने से गुरुत्वाकर्षण के कारण गर्भोदक तथा गर्भ का दबाव ग्रीवा के ऊपर पड़ता है, जिससे गर्भाशय का मुख विस्तृत होने में सहायता होती है। इसके सिवाय ग्रीवा के ऊपर दबाव पड़ने से तथा उसका मुख विस्तृत होने से गर्भाशय के आकुञ्चन भी जोरदार होने लगते हैं। जृम्भण के समय फुफ्फुस के भीतर साधारण श्वास की अपेक्षा अधिक हवा भीतर जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उदरवक्षमध्यस्थ महाप्राचीरा पेशी अधिक नीचे को जाती है और गर्भाशय को अधिक नीचे की ओर दबाती है। संक्षेप में, जृम्भण और चङ्क्रमण प्रसववेदना बढ़ाने के अनपायी उपाय हैं—The uterine contractions of the first stage act more advantageously when the patient is in erect posture, as the action of gravitation increases the downward pressure of the ovum. *Jellett's Midwifery* चरकसंहिता में अन्य आचार्यों का मुसल ग्रहण करके ओखली में धान्य कूटने के व्यायाम का जो मत दिया है, उसका खण्डन यहीं पर भगवान् आत्रेयजी ने किया है। अतः उस मत के अनुसार दारुण व्यायाम इस अवस्था में न करना चाहिए। इसके सिवा यह भी देखा जाता है कि प्रथमावस्था में गर्भिणी स्वयं बिस्तरे पर घण्टों तक लेटे रहने की अपेक्षा टहलना ही पसन्द करती हैं। प्रथमावस्था की अवधि अधिक होने के कारण यदि गर्भिणी प्रारम्भ से ही बिस्तरे पर लेटी रहे तो उसका मन प्रसव जल्दी न होने के कारण कुछ निराशायुक्त और चिंतित हो जाता है, क्योंकि शुरू से ही वह प्रसव होने के फेर में रहती है। टहलने से उसका मन कुछ इधर-उधर जाता है, जिससे वेदना कुछ कम मालूम होती है। तथापि यह वेदना कितनी ही कम क्यों न हो, इससे स्त्री को जरूर कुछ बेचैनी मालूम हो सकती है। ऐसी अवस्था में स्त्री के पीठ, कमर, पार्श्व इत्यादि स्थानों में गरम तैल का मालिश करने से उसको कुछ आराम मालूम होता है—अस्याश्चान्तरान्तरा कटीपार्श्वपृष्ठसक्थिदेशानीषदुष्णेन तैलेनाभ्यज्यानुसुखमवमृद्नीयात्। (चरक)।

Many women experience a feeling of relief and comfort when the lower part of the back is pressed on or rubbed during a pain. *Ten Teachers' Midwifery* इसलिए यदि आवश्यक हो तो स्त्री का पृष्ठभाग वेदना के समय मर्दन करना उचित है। इस प्रकार प्रथमावस्था में गर्भिणी की परिचर्या करनी चाहिए। अब द्वितीयावस्था का कर्म वर्णन करते हैं—

अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुसुखमभ्यज्यानुब्रूयाच्चैनामेका—सुभगे प्रवाहस्वेति, न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व, ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे सशूलेषु श्रोणिवङ्क्षणबस्तिशिरःसु च प्रवाहेथाः शनैः शनैः (पूर्वं), ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं प्रपन्ने गाढतरमाविशल्यभावात्; अकालप्रवाहणाद् बधिरं मूकं कुब्जं व्यस्तहनुमूर्धाभिघातिनं कासश्वासशोषोपद्रुतं विकटं वा जनयति ॥ ८ ॥

(द्वितीयावस्था के कर्म—) अब उन (स्त्रियों) में से एक (स्त्री) उस (गर्भिणी) के अपत्यद्वार पर अनुलोम और सुख से (तैल का) मालिश करके उसको कहे कि हे सुभगे! (अब) प्रवाहण करो, आवी न होने पर प्रवाहण न करो। (प्रथम) गर्भमार्ग का बन्धन खुल जाने पर और श्रोणी, वङ्क्षण और बस्ति शिर में पीड़ा होने पर धीरे धीरे प्रवाहण करो, गर्भ के बाहर निकलने के समय अधिक जोर से (प्रवाहण करो) और पश्चात् गर्भयोनिमुखद्वार पर पहुँचने पर (योनिमार्ग गर्भ रूप) शल्यविरहित होने तक अत्यधिक जोर से (प्रवाहण करो)। अकाल में प्रवाहण करने से (गर्भिणी) बहरे, गूंगे, कुबड़े, व्यस्तहनु के, सिर पर घातित, कास श्वास और शोष से युक्त अथवा विकृताकारी (अपत्य) को जन्म देती है ॥ ८ ॥

वक्तव्य—विशिखान्तरम्—विशिखाया अपत्यमार्गस्यान्तराभ्यन्तरं विशिखान्तरम्। अपत्यमार्ग का अभ्यन्तर भाग याने योनि—स्त्रीयोनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य। (अष्टांगसंग्रह)। अनुलोममनुसुखमभ्यज्य—ऊपर से नीचे की ओर मृदुता से तैल से मालिश करके। प्रवाहस्व—निकुन्थनं कुरु; 'वाह' प्रयत्ने, इत्यस्य धातोरात्मनेपदिनः प्रयोगः। (डल्हण)। प्रवाहण से गर्भाशय को संकोच के समय चारों ओर से आधार दिया जाता है तथा गर्भाशय नीचे की ओर दबाया जाता है। प्रवाहण में उदर-प्राचीर की पेशियाँ, उदरवक्षमध्य महाप्राचीरा पेशी, वक्ष की पेशियाँ मुख्यतया सहायता (Accessory muscles of labour) करती हैं। इनके सिवा इनका कार्य ठीक होने के लिए शाखाओं की पेशियों से भी सहायता ली जाती है, जो वक्ष और उदर को स्थिर किया करती हैं। इन सहायक पेशियों के संकोच से उदर की समाई कम होकर गर्भाशय में दबाव पड़ता है। जैसे कि मलमूत्रोत्सर्ग के समय कुन्थन से मलमूत्रोत्सर्ग में सहायता होती है, वैसे ही गर्भनिष्कासन के लिए उत्पन्न हुई प्रसववेदना के समय प्रवाहण या निकुन्थन (Bearing down efforts) से गर्भनिष्कासन में सहायता होती है। न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व—गर्भनिष्कासन का कार्य आवी का याने गर्भाशयसंकोच का है, प्रवाहण उसमें सहायता करता है। अर्थात् गर्भजन्म में आवी प्रधान और प्रवाहण गौण कारण है। इसलिए जिस समय आवी नहीं होती उस समय प्रवाहण कितने ही जोर से क्यों न किया जाय, वह आवी का काम नहीं कर सकता, व्यर्थ होता है और माता को थकावट पैदा होती है। चरकसंहिता में अकाल प्रवाहण का सुन्दर वर्णन किया है—या ह्यनागतावीः प्रवाहते व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्म भवति। यथा हि क्षवथूद्गारवातमूत्रपुरीषवेगान् प्रयतमानोऽप्यप्राप्तकालान् लभते कृच्छ्रेण वाऽप्यवाप्नोति, तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा। (शारीर ८)। विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे—गर्भस्य नाड्या मार्गस्य प्रबन्धः प्रकर्षेण गतिरोधो यत्र तस्मिन् गर्भनाडीप्रबन्धे गर्भाशयमुखे विमुक्ते प्रस्फुटिते इत्यर्थः॥ नाडी शब्द यहाँ पर मार्ग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—नाड्यः पंथानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि। (चरक)। संक्षेप में, गर्भाशयमुख पूर्णतया प्रस्फुटित होने पर। गर्भनिर्गमे—गर्भ गर्भाशय से चलित होने पर—स्वस्थानाद्गर्भस्य निःसरणाय गमनं गर्भनिर्गमस्तस्मिन् गर्भनिर्गमे। (डल्हण)। योनिमुखम्—योनि का बाह्य द्वार या भगद्वार (Vulval orifice)। गर्भ को योनिद्वार पर बाहर निकलने के लिए कुछ रुकावट होती है। गर्भाशय मुख से बाहर निकल आने पर गर्भ योनि में आता है। योनि की दीवार श्रोणिगुहाभूमि (Pelvic floor) पर आधारित होती है। यह भूमि पेशियों से बनती है। गर्भाशय के संकोच से तथा प्रवाहण से योनि में आया हुआ गर्भ (अर्थात् गर्भ का सिर) संकोच के मध्यकाल में श्रोणिभूमि पेशियों के द्वारा फिर से ऊपर दबाया जाता है। इस तरह भगद्वार तक आया हुआ गर्भ कई बार फिर योनि में चला जाता है। धीरे धीरे गर्भाशय के जोरदार संकोचों से तथा प्रवाहण से श्रोणिभूमि इतनी तन जाती है कि वह गर्भ को ऊपर दबाने में असमर्थ होती है, जिससे योनिद्वार पूर्णतया विस्फुटित होकर गर्भ का शिर द्वार में स्पष्टतया और पूरा दिखाई देता है। इसको शीर्षदर्शन (Crowning of the head) कहते हैं। गाढतरमाविशल्यभावात्—गाढतरमाप्रसवात्। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—गर्भस्य योनिमुखप्रतिपत्तौ गाढतरमाप्रसवादिति। (शारीर ३)। अर्थात् गर्भ का जन्म होने के समय तक। डल्हणाचार्य 'अपरासहितगर्भप्राप्त्यर्थम्' लिखते हैं। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि गर्भ के साथ अपरा बाहर नहीं आती, थोड़ी देर के बाद आती है; इसका स्पष्ट उल्लेख 'अथ प्रसूताया न चेदपरा पतति ततः' (अष्टांगसंग्रह) इस वाक्य में मिलता तथा व्यवहार में देखा जाता है। इसके सिवा अपरापतन के लिए गाढतर प्रवाहण की भी आवश्यकता नहीं होती। वह गर्भाशय के संकोच से ही नीचे चली आती है। यहाँ पर शल्य शब्द का जो प्रयोग किया है वह एक दृष्टि से बहुत योग्य है और उसका तथा गाढतर प्रवाहण का संबंध भी होता है। गर्भ या बालक माता को कितना ही प्यार क्यों न हो, माता की योनि के लिए वह शल्य (Foreign body) रूप होता है और उस शल्य को निकाल देने के लिए प्रवाहण चाहे माता करे या न करे, प्रतिक्षेप क्रिया (Reflex action) से आप से आप होता है—These expiratory or expulsive efforts are partly voluntary but largely

reflex, due to the presence of a foreign body in the vagina. *Ten Teachers' Midwifery* द्वितीयावस्था की प्रसववेदना—द्वितीयावस्था में गर्भाशय के संकोच अधिक जोरदार होते हैं, अधिक देर तक होते हैं और उनके बीच का समय अल्प होता है। इस अवस्था के अन्त में, याने प्रसव के समय प्रत्येक संकोच एक मिनट या उससे कुछ अधिक होता है और उनके बीच में २-३ मिनट का समय होता है। प्रत्युत गर्भजन्म के समय यह संकोच निरन्तर होता है। इसके सिवा इसके साथ प्रवाहणकार्य आप से आप होता है, क्योंकि गर्भ को बाहर निकालने में केवल गर्भाशय संकोच असमर्थ रहते हैं। इसलिए प्रसव के समय बिना कहे भी स्त्री प्रवाहण किया करती हैं। परंतु यदि वह सोच-समझकर ठीक उसी समय अपने संपूर्ण बल से प्रवाहण करे तो और भी अधिक सफलता मिलती है; इसलिए 'प्रवाहस्व, न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व' इस प्रकार कहने का रिवाज पड़ गया है। अकालप्रवाहणात्—अप्राप्तावी-कालप्रवाहणम्। बधिरं मूकम्—इत्यादि—अकाल प्रवाहण से ये विकार उत्पन्न नहीं हो सकते। अगर जन्म के पश्चात् ये विकार बालक में दिखाई दें तो उनकी उत्पत्ति गर्भवृद्धि-कालीन पूर्वकर्म तथा माता के आहार-विहार से समझना चाहिए। इस विषय का विवरण सूत्रस्थान के २४वें अध्याय के ५वें सूत्र के वक्तव्य में, शारीरस्थान के दूसरे अध्याय के ३१-५३वें श्लोकों में तथा उनके वक्तव्य में, तीसरे अध्याय के २२वें सूत्र के वक्तव्य में तथा ३४वें श्लोक और उसके वक्तव्य में किया गया है। वेगोदीरण के समान अकालप्रवाहण अहितकर होता है, इसमें कोई संशय नहीं है—यथा वेगानेव सवकारोना संधारत्युपधाशादोषवतो, तथा प्राप्तकालेषु गर्भदमप्रवाहणम्। (चरक)। अप्राप्तकाल में प्रवाहण और प्राप्तकाल में अप्रवाहण का परिणाम यह होता है कि प्रवाहण स्वयं गर्भ को बाहर निकाल नहीं सकता और माता को कमजोर बनाता है। प्राप्तकाल में प्रवाहण न करने से प्रसववेदना (गर्भाशय संकोच) निराधार होने से भी कई बार गर्भ को बाहर निकालने में असमर्थ होती है और कई बार असफलता मिलने के कारण गर्भाशय कमजोर हो जाता है। इसका परिणाम गर्भाशय की जड़ता या रोग (Uterine inertia) में और प्रायः प्रसवविलम्ब में होता है। इसके सिवा और किसी में नहीं। परंतु यही परिणाम कुछ कम नहीं है। इसके सिवा अन्य परिणाम, जो इस सूत्र में बताये गये हैं, गर्भिणी को अकालप्रवाहण से परावृत्त करने की दृष्टि से बताये गये हैं, कार्यकारण की दृष्टि से नहीं बताये गये हैं।

द्वितीयावस्था के लक्षण—द्वितीयावस्था का मुख्य लक्षण प्रसववेदना है। यह वेदना यद्यपि पूर्णतया नहीं, तथापि [illegible] और [illegible] होकर होती है। इसी के कारण स्त्री की नाड़ी और श्वास कुछ तेज हो जाती है तथा बदन पर पसीना आने लगता है। साथ ही साथ गर्भ गर्भाशय से नीचे योनि में और योनि से बाहर ढकेला जाता है। [illegible]—द्वितीयावस्था में स्त्री प्रायः [illegible] रहती है, परन्तु द्वितीयावस्था के प्रारम्भ से ही उसको [illegible] का लेटना [illegible] है। वह बिछौना [illegible] पर [illegible] सकता है, परन्तु उससे खटिया या पलंग पर होना अधिक प्रशस्त है क्योंकि पलंग या खटिया पर सहायता करने वाली स्त्रियों को प्रसव के समय सहायता करने में कुछ सुविधा होती है। प्रसव के समय खटिया से भी पलंग अच्छा होता है क्योंकि खटिया में बीच में झोला पड़ता है—आभ्यो हि स्वरदन्त्येनां खट्वामारोपयेत्ततः। (अष्टांगहृदय)। प्रस्यामवस्थायां पर्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहयितुमुपक्रमेत्। (चरक)। प्रसव के लिए पलङ्ग पर स्त्री का आसन प्रायः प्रसविष उत्तान ही (Dorsal position) होता है जैसे कि पिछले सूत्र में वर्णन किया है, किंवा मूढगर्भशल्यकर्म में बताया है—उत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या। (चिकित्सा १५)। उत्तानासन के सिवा प्रसव के लिए पार्श्वासन (करवट लेटना Lateral position) भी सुविधाजनक होता है। आधुनिक काल में कुछ लोग उत्तानासन को और कुछ पार्श्वासन को पसन्द करते हैं। इस आसन में लेटने पर स्त्री को सिरहाने और पैताने से कुछ आधार ग्रहण करके आधी आने पर प्रवाहण का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। प्रवाहणयुक्त प्रसववेदना से गर्भ धीरे धीरे गर्भाशय से नीचे योनि में आता है और योनि से बाहर चला जाता है। इसमें योनिद्वार में भी कुछ कठिनता होती है। इस कठिनता को दूर करने के लिए योनिद्वार तथा उसके आस-पास का, विशेषतया नीचे का (गुदाधार पीठ Perineum) भाग मृदु, शिथिल और प्रसरणशील रखने की कोशिश करनी चाहिए। वैसे तो गर्भशीर्षप्रपीडन से इन अङ्गों में स्निग्धता भरकर इनको मृदु बना ही देती है। इस स्वाभाविक मृदुता से कृत्रिमरीत्या अधिक मृदुता उत्पन्न करना कठिन है। परन्तु कोशिश इस बात की की जाती है कि यह स्वाभाविक मृदुता बनाये रहे और इसमें किसी प्रकार की खराबी न होने पावे। आधुनिक काल में इसके लिए गरम पानी में संक्रमहर (Lysol) का घोल बनाकर उसके बार बार परिषेचन से योनि तथा उसके आस-पास का भाग तर रक्खा जाता है। इस काम के लिए रसकपूर का घोल (Mercury lotion) प्रयुक्त नहीं होता। क्योंकि वह ग्राही होने के कारण जिससे संयुक्त होता है, उसको सख्त बना देता है। आयुर्वेद में योनि की मृदुता रखने के लिए ही [illegible] का अभ्यङ्ग करने के लिए कहा है—योनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य, योनिं पुनः पुनः [illegible]। (अष्टांगसंग्रह)। अभ्यंग से मृदुता उत्पन्न होती है, यह सिद्ध बात है—[illegible] [illegible]। (चिकित्सा १५)। इसलिए प्रसव के समय योनि का अभ्यङ्ग अवयवों में मार्दव उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही किया जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। द्वितीयावस्था में प्रसववेदना के साथ प्रवाहण करने की आवश्यकता होती है और प्रवाहण से गर्भ जल्दी नीचे की ओर आता है। जब वह योनिद्वार पर आता है, तब [illegible] के साथ [illegible] की तरह वह [illegible] योनिद्वार के बाहर आता है—[illegible] [illegible]। ([illegible] ३-८३)। Suddenly, the head emerges [illegible] out like a shot. *Eastman [illegible]*, इसलिए जब शीर्ष-दर्शन पूर्ण हो जाता है तब प्रसववेदना के साथ प्रवाहण

करना उचित नहीं है । इससे योनिद्वार या मार्ग विदीर्ण (Laceration) होने का डर रहता है । योनिद्वार पर गर्भ आने से प्रसववेदनाएँ अत्यन्त तीव्र स्वरूप की हुआ करती हैं, जिससे माता प्रवाहण कर नहीं सकती, परंतु रोने या चिल्लाने लगती है। रोने या चिल्लाने से प्रवाहण का कार्य आप से आप बन्द होता है। इस रुदन या क्रन्दन को योनि का रक्षाकर कर्म (Safety valve action) कहते हैं। यह कर्म निसर्गतः हुआ करता है । इसलिए गर्भ के सिर का जन्म होते समय अगर स्त्री रोती या चिल्लाती हो तो उसको कुछ भी न कहना चाहिए। अगर उस समय वह पहले की तरह प्रवाहण करना चाहे तो उसे प्रसववेदना के समय प्रवाहण करना मना करना चाहिए। प्रसववेदना के बीच में जरा-सा प्रवाहण करने पर प्रायः सिर योनिद्वार से बाहर निकलता है और दूसरी प्रसववेदना के समय संपूर्ण बालक बाहर आता है और उसके पश्चात् शेष गर्भोदक और कुछ रक्त निकलता है । गर्भ का जन्म होने पर द्वितीयावस्था समाप्त होती है। प्रथमप्रसवा स्त्री में इस अवस्था का काल १-२ घंटे का होता है और अनेकप्रसवा स्त्री में १५-३० मिनट का होता है। गर्भ का जन्म होने के पश्चात् गर्भाशय नाभि से नीचे आ जाता है।

द्वितीयावस्था का वैदिक कर्म—निम्न मन्त्र गर्भिणी स्त्री के कान में पढ़े जाते हैं—क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः। सगर्भां त्वां सदा पांतु वैशल्यं च दिशन्तु ते ॥ प्रसूष्व त्वमविक्लिष्ट-मविक्लिष्टा शुभानने। कार्त्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्त्तिकेयाभिरक्षितम् ॥ (चरक)। अष्टांगसंग्रह में निम्न दो श्लोक और दिये हैं—इहामृतञ्च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनी । उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ॥ इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघुगर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्री। तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम् ॥ किंवा इन च्यवनप्रणीत मन्त्रों से सप्तवार अभिमन्त्रित जल पीने के लिए दिया जाता है—जलं च्यावनमंत्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितम्। पीत्वा प्रसूयते नारी। (वृन्दमाधव)

तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत् ॥९॥

उसमें प्रतिलोम (गर्भ) को अनुलोम करे ॥ ९ ॥

वक्तव्य—प्रतिलोम—विषम शरीरस्थिति से आया हुआ गर्भ प्रतिलोम कहलाता है। अनुलोमन—विषम शरीर को सम करके निकालना—गात्रं च विषमं स्थितम्। आंछनोत्पीड-संपीडविक्षेपोत्क्षेपणादिभिः । अनुलोम्य समाकर्षेद्योनिं प्रत्यार्जवागतम् ॥ (अष्टांगहृदय, शारीर २)। इस विषय का अधिक विवरण चिकित्सास्थान के मूढगर्भचिकित्सित अध्याय में किया गया है।

गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण पिण्डीतकेन वा, बध्नीयाद्धिरण्यपुष्पीमूल हस्तपादयोः, धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा ॥१०॥

(गर्भाशयसंग की चिकित्सा—) गर्भसंग में काले सांप की केंचुली या मदनफल (को जलाकर उसके धुएँ) से धूपन करे; हाथ-पांव में हिरण्यपुष्पी का मूल बाँधे; अथवा (गले में) सुवर्चला या विशल्या को धारण करे ॥ १० ॥

वक्तव्य—गर्भसंग—गर्भ का बाहर न निकलना। प्रारंभिक अवस्था में प्रसववेदना शुरू होने पर भी दूसरी अवस्था में उसका बाहर न निकलना। इसके निम्न कारण होते हैं—(१) गर्भ का प्रतिलोम या विषमस्थिति में आना। (२) मलाशय और मूत्राशय की परिपूर्णता। (३) अकालप्रवाहण और प्राप्तकाल में अप्रवाहण। इनके सिवा और भी कारण हो सकते हैं। परंतु यहाँ पर उसकी जो चिकित्सा बतलाई गई है, उसको देखकर इससे अधिक गम्भीर कारणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। प्रथम और द्वितीय कारणों का परिणाम एक सा होता है, याने गर्भ के लिए अपत्यमार्ग तंग हो जाता है। इसलिए प्रारम्भ में बहुत कुछ कोशिश करने पर भी गर्भाशय गर्भ को बाहर निकालने में असमर्थ होकर अन्त में थक जाता है। तृतीय कारण का परिणाम भी वही होता है। अकालप्रवाहण से स्त्री थक जाती है और प्राप्त काल पर प्रवाहण न होने से गर्भाशय निराधार होने से थक जाता है। संक्षेप में यह गर्भसंग (Uterine inertia) गर्भाशय के थक जाने का परिणाम है। यह गर्भाशयसंग दो प्रकार का होता है—प्राथमिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary)। प्राथमिक गर्भाशयसंग अधिक गंभीर स्वरूप का और अधिक गंभीर कारणों से उत्पन्न होने वाला होता है। जैसे—गर्भाशय के विकार, अर्बुद, व्यंग, प्रसवपूर्व रक्तस्राव, माता, राजयक्ष्मा, रक्तक्षय इत्यादि विकार । इस प्रकार का संग घातक भी होता है और इसी का उल्लेख मूढगर्भ के असाध्य लक्षणों में 'गर्भकोपपरासंग' करके (सूत्रस्थान के ३३ वें अध्याय का १२ वाँ श्लोक देखो) किया गया है। द्वितीयक संग कारण, लक्षण और परिणाम की दृष्टि से उतना गम्भीर नहीं होता। उसका निर्देश यहाँ पर किया गया है। इसको श्रान्तगर्भाशय (Exhausted uterus) कहने का भी रिवाज है। चिकित्सा—प्रतिलोम गर्भ को अनुलोम करना यह प्रथम कारण की चिकित्सा है, उसका निर्देश ऊपर के सूत्र में किया गया है। मलाशय या मूत्राशय मलमूत्र से परिपूर्ण हो तो वस्ति या सलाई से उनको रिक्त करना चाहिए। इस कारण को दूर करने के लिए ही प्रसव के प्रारम्भ में माता को विरेचन और वस्ति देना उचित है । तृतीय कारण की चिकित्सा माता को आराम देकर पश्चात् प्रसववेदना उत्पन्न होने पर प्रवाहण करना है । यहाँ पर ओषधियों के द्वारा जो चिकित्सा बतलाई गई है, उसका विवरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं। (१) मानसिक परिणाम—जिसका इन ओषधियों की शक्ति पर विश्वास है, वह स्त्री इनके प्रयोग से निश्चिन्त होकर गर्भसंग दूर हो जायगा, ऐसा मानने लगती है। इसका परिणाम गर्भाशय के संकोच में होकर प्रसव होता है । (२) समय का परिणाम—ओषधियों को ले आना, धूपन करना, गले में या हाथ-पैर में बाँधना, इत्यादि में कुछ समय चला जाता है। इसके सिवा माता की कुछ सान्त्वना करने में भी समय चला जाता है। जैसे कि अध्वश्रान्त मनुष्य किसी पेड़ के नीचे थोड़ी देर आराम करने पर फिर से अपना मार्ग तय करने में समर्थ होता है, वैसे ही गर्भनिष्कासन-श्रान्त गर्भाशय सुवर्चलादि धारण के निमित्त थोड़ी देर तक आराम करने पर फिर से गर्भनिष्कासन के अपने कर्म

में समर्थ हो जाता है। (१) प्रत्यक्ष ओषधियों का परिणाम या प्रभाव—हिरण्यपुष्पा, सुवर्चला, विशल्या इनमें यह प्रसवकारक शक्ति कहाँ तक है, यह नहीं कहा जा सकता। प्राचीन तथा अर्वाचीन कुछ ग्रन्थों में यह प्रसवकारक (आगे देखो) बतलाई गई है। ओषधियों में इस प्रकार की आश्चर्यजनक शक्ति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके सिद्धयर्थ आँखों से देखा हुआ एक उदाहरण दिया जाता है। पश्चिम खानदेश जिले के मुख्य स्थान धुलिया में एक मनुष्य के पास बिच्छू की जड़ी है। एक दिन दोपहर को एक भूखा साधु वरागी उसके घर पर अन्न माँगने आया था। संयोगवश उसके घर में अन्न था और उसने उसको दिया। उससे संतुष्ट होकर उसने यह जड़ी उसको प्रदान की। उस जड़ी की विशेषता यह थी कि दंशस्थान के सामने (दशस्थान से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं) पानी में भिगोकर वह रक्खी जाती थी, और मिनिट दो मिनिट में यह जड़ी, लोहचुम्बक जैसे लोह को अपनी ओर लोह को बिना स्पर्श किये खींच लिया करता है, वैसे वृश्चिकविष को खींच लेती थी। पश्चात् पानी से धोकर वह रख दी जाती थी। प्रत्येक साल में सैकड़ों वृश्चिकदंश के मनुष्य एकाध मिनट में निरपवाद ठीक होकर चले जाते थे। आधुनिक विज्ञान इसका उत्तर नहीं दे सकता, और जिनकी कल्पना की दौड़ विज्ञान से आगे नहीं जा सकती, वे या तो ऐसी घटना का असत्य मानते हैं, या मेस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म या अन्य इज्म से इसका कार्य-कारण संबंध का विवरण करते हैं। परन्तु बिच्छू को उस जड़ी में न कोई इज्म होता है और न उसके प्रभाव में असत्यता ही है। सैकड़ों बार आँखों से देखी हुई वह चीज है। इसलिए प्रसवकारक वनस्पतियाँ भी हो सकती हैं। अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। *हिरण्यपुष्पी—लागली। लागली होत्नी सीरी* विशल्या वह्निकारिका। अग्निजिह्वा स्वर्णपुष्पा दीप्ता नक्तेन्दुपुष्पिका ॥ लागली कटुका चोष्णा कफवातापहा सरा। अपरा पातनी चैव सद्यःप्रसवकारिका ॥ हिरण्यपुष्पी स्वर्णकेतकी आरग्वध इत्यन्ये। (हाराणचन्द्र)। लागली वारिणा पिष्टा करपाद प्रलेपिता। अपरा पातयत्याशु न सन्देहोऽत्र कथन। सुनीत लागलीमूल वारिणा परिपेषितम्। नाभौ योनौ प्रलिप्त वा सद्य प्रसव कृत्तमम्। (रसतरंगिणी)। सुवर्चला सूर्यभक्ता, विशल्या पाटला। (डल्हण)। विशल्या गुडूची। (हाराणचन्द्र)। तथा सुवर्चलाया विशल्यायाश्च मणिवच्छरीरे धारणम्। (इन्दु)।

अथ जातस्योल्वमपनीय, मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य, घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्; ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात् ॥११॥

(जात बालक के कर्म—) अब जन्म लिए हुए बालक के जरायु को हटाकर, सैन्धवयुक्त घी से मुख का विशोधित करके, उसके सिर पर घी से भीगा हुआ फाया रक्खे। पश्चात् (नाभि से) नाभिनाड़ी आठ अंगुल नापकर (वहाँ पर) सूत्र से बाँधकर (उसके आगे कैंची से) काटे। फिर उस सूत्र का दूसरा सिरा बालक के गले में ठीक तौर से बाँधे ॥ ११ ॥

वक्तव्य—उल्व—गर्भावरणजरायु। पहले यह बताया जा चुका है (छठे सूत्र के वक्तव्य के अन्त में) कि प्रथमावस्था के अन्त में गर्भाशयमुख पूर्ण विस्तृत होने पर गर्भ के सिर के सामने आया हुआ गर्भावरण का भाग निराधार होने के कारण फूटता है और गर्भोदक बाहर निकलता है। कभी कभी जरायु के मजबूत रहने या अन्य कारण से पनमोटरी नहीं फूटती और यदि अंगुलि से न विदीर्ण की जाय तो गर्भ के साथ उसका सिर योनि के बाहर आने के समय तक ज्यों की त्यों रहती है और पश्चात् फूटती है। कभी कभी संपूर्ण गर्भ जरायु के साथ जन्म लेता है। इस अवस्था को उल्व के साथ जन्म (Born with a caul, कोल अर्थ उल्व है) कहते हैं। इसमें गर्भ के आवरण अपरा से अलाहिदा होकर गर्भ के साथ बाहर आते हैं। गर्भ योनि के बाहर आते ही साँस लेने की कोशिश करता है और यदि उसके मुख पर पानी और आवरण हो तो अपने ही पानी में डूबकर मरने का डर रहता है। इसलिए यदि गर्भ उल्व के साथ योनि के बाहर आ जाय तो शीघ्रातिशीघ्र जरायु को विदीर्ण करके और मुख को जरायु से स्वतन्त्र करना चाहिए। किंवा उल्व से संपूर्ण जरायु का अर्थ न लेकर केवल जरायु का टुकड़ा भी समझ सकते हैं। कभी कभी जरायु का टुकड़ा बालक के सिर के साथ निकल आता है और मुख पर चिपट जाता है, जिससे श्वास-प्रश्वास में बाधा उत्पन्न होती है—The child is born I lay it on the right side, see that its face is *free from any* portion of membrane or other hindrance to breathing. *Esoteric Anthropology* उल्वमपनीय—*सपूर्ण जरायु के साथ जन्म हुआ हो तो जरायु को विदीर्ण* करके मुख को खुलाकर, किंवा मुख के ऊपर जरायु का कोई टुकड़ा हो तो उसको दूर करके। व्यापक दृष्टि से उल्वमपनीय का अर्थ बालक के चेहरे को याने मुख के बाहरी भाग को साफ करके। मुख और नासा को साफ करने में देरी होने से श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। जातस्य—जातमात्रस्य। उपर्युक्त कारण से 'जातस्य' का अर्थ जन्म होते ही तत्काल, ऐसा करना चाहिए। अष्टांगसंग्रह में जातमात्र शब्द का प्रयोग किया गया है—अथ खलु जातमात्रमेव बालमुल्वात् सैन्धवसर्पिषा मार्जयेत्। (उत्तर तन्त्र १)। जातमात्र तत्क्षण एव। (इन्दु)। इस प्रकार उल्व के साथ बालक का जन्म क्वचित् होता है। इसलिए चरकसंहिता में जातकर्मों में उल्व निकालने का कर्म नहीं बताया गया है। मुखं च विशोध्य—मुख के भीतर का भाग, विशेष करके गला। गले में श्लेष्मा भरा रहता है, जो श्वास-प्रश्वास में बाधा उत्पन्न करता है—कण्ठे च कफवे इते। इसलिए *जन्म होते ही गले को भी साफ कर लेना उचित* है। चरक में कण्ठविशोधन की विधि बहुत अच्छी तरह वर्णन की है—अथास्य तालूष्ठकण्ठजिह्वाप्रमार्जनमारभेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधानकार्पासपिचुमत्या। (शारीर ८)। इससे गला साफ होकर श्वास लेने में आसानी होती है। कभी कभी गले में श्लेष्मा बहुत गहराई तक भरा रहता है, जो कराङ्गुलि से साफ नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में उसको निकालने के लिए संधव और घी से बालक को उल्टी कराने का रिवाज था—तृतोऽस्यानन्तरं सैंधवोपहितेन सर्पिषा कार्यं प्रच्छर्दनम्॥

(चरक)। आधुनिक काल में गले के भीतर का श्लेष्मा नाडी-यन्त्र या सलाई Catheter के द्वारा चूसके निकाला जाता है। गले का भीतर का श्लेष्मा बाहर निकालने के लिए बालक को पैर से उठाकर सिर नीचा करने का भी रिवाज है। इससे नाक से नाक श्लेष्मा बाहर आता है, जो सलाई से या कार्पासपिचुयुक्त अंगुलि से निकाला जा सकता है। मुख की भीतर की सफाई के साथ मुख की बाहर की सफाई भी करनी चाहिए। इसमें विशेषतया आँखों पर ध्यान देना पड़ता है। आँखों की सफाई इसलिए आवश्यक होती है कि अपत्यमार्ग में से आते समय आँखों के ऊपर योनिस्राव और मलमूत्र का कुछ संबंध हो जाता है। यदि इन चीजों की सफाई न की जाय, तो आँखें खुल जाने पर ये द्रव्य भीतर पहुँचकर उनमें शोथ पैदा कर सकते हैं। यदि माता सोज़ाक से पीड़ित हो तो आँखों की सफाई के ऊपर अधिक ध्यान देना पड़ता है। इसमें प्रथम रुई के फाया से आँखें साफ करके पश्चात् टंकणाम्ल (बोरिक) घोल से आँखें धोई जाती हैं, और अन्त में १ प्र० श० सिल्वर नैट्रेट घोल के एक दो बूँद उनमें छोड़े जाते हैं। सोज़ाक के सिवा योनिमार्ग में अन्य पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर भी (पूयजनक जीवाणुओं के लिए सूत्रस्थान के १७वें अध्याय के ९२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) इसी तरह से सफाई करनी चाहिए, वरना आँखों में उनका उपसर्ग पहुँचने पर आँखें आती हैं। इस विकार को नवजात नेत्राभिष्यन्द Ophthalmia neonatorum कहते हैं। इस अभिष्यन्द का परिणाम अन्धता में होता है। आँखों की सफाई बालक का पूरा जन्म होने के पूर्व, याने सिर बाहर निकलते ही करनी चाहिए, और बालक के संपूर्ण बाहर निकलने के पश्चात् कण्ठ की सफाई करनी चाहिए।

इस तरह नेत्र और मुख की सफाई करने के समय तक स्पर्श, वस्त्रस्पर्श, वायुस्पर्श इनको सह न सकने के [illegible] बालक प्रायः जोर से चिल्लाने लगता है, जिससे उसके [illegible]न का तथा स्वस्थावस्था का पता सब को लग जाता है। [illegible] कभी कष्टप्रसूति के कारण या अपने दौर्बल्य के कारण [illegible]क जल्दी नहीं रोता, उस समय गरम या ठंडे पानी [illegible] अवसेचन, चपत लगाना इत्यादि मामूली उपाय करने [illegible]हिएँ। बालक के न रोने के कारणों का बड़ा सुन्दर वर्णन [illegible]ष्टांगसंग्रह में दिया है और चरक में रुलाने के उपायों को [illegible]लाया है—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १)। अश्मनोः संघट्टनं कर्णयोर्मूले, शीतोदकेन वा उष्णेन मुखपरिषेकः, तथा [illegible] प्राणान् पुनर्लभेत। कृष्णकपालिकाशूर्पेण चैनमभि-[illegible] स्यात् यावत् प्राणानां प्रत्यागमनम्। (चरक)। [illegible]। (इन्दु)। शीतोदकेन [illegible], [illegible] शीतोदकेन, [illegible]। (चक्रपाणिदत्त)। प्रसवपीडा के कारण [illegible] वाले मूर्च्छित बालक इन मामूली उपायों से होश पर आकर आक्रन्द करने लगता है। यदि होश पर न आ जाय तो समझना चाहिए कि बालक नवजात श्वासावरोध से पीडित है, और उसके अनुसार शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए। नवजात श्वासावरोध (Asphyxia neonatorum)—मनुष्यों को प्राणवायु की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति श्वास से होती है। गर्भाशय में स्थित बालक श्वास-प्रश्वास का कार्य नहीं करता, उसका कार्य माता के द्वारा होता है—मातुर्निश्वसितोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नसंभवान्। (शारीर ३)। अर्थात् गर्भाशय से बाहर आने के पूर्व बालक को प्राणवायु माता के रक्त से मिलता है। गर्भाशय के संकोच के समय गर्भाशयगत अतएव अपरागत रक्तसंचार बंद हो जाता है तथा गर्भहृदय की गति मंद होती है। अर्थात् गर्भाशयसंकोच के समय गर्भ को प्राणवायु कम मिलती है। संकोच समाप्त होने पर फिर से रक्तसंचार शुरू होकर प्राणवायु मिलने लगती है। द्वितीयावस्था में जब संकोच की लहरें जल्दी जल्दी आने लगती हैं तब गर्भ को प्राणवायु कुछ मिलती है, परंतु पूर्णतया उसका अभाव नहीं होता। क्वचित् द्वितीयावस्था में गर्भाशय की संकोच लहरें सान्तरित के बदले निरन्तर हो जाती हैं। उस अवस्था में गर्भ को प्राणवायु नहीं मिलती और उसका परिणाम श्वासावरोध में होता है। इस कारण के सिवा कभी कभी गर्भ की नाभिनाडी दब जाती है, या अपरा गर्भाशय से जल्दी पृथक् होने लगती है और श्वासावरोध होता है। श्वासावरोध का एक और भी कारण होता है। प्राणवायु की कमी होने से गर्भ गर्भाशय में या योनि में होते समय मुख से साँस लेने की कोशिश करता है। इसका परिणाम यह होता है कि गले में या फुफ्फुस में कुछ गर्भोदक या श्लेष्मा प्रविष्ट होकर वायु के रास्ते में रुकावट पैदा करता है। यह श्वासावरोध दो प्रकार का है—(१) पाण्डुर (A. pallida)—इसमें बालक का वर्ण फीका, शरीर ठंडा और हृदय मंद और क्षीण होता है। यह श्वासावरोध असाध्य होता है। (२) श्याव (A. Livida)—इसमें बालक का वर्ण नीलाभ होता है। उसका हृदय ठीक काम करता है। यह श्वासावरोध प्रायः साध्य होता है। इसमें प्राणप्रत्यानयन के ऊपर जो उपाय बताये हैं, जैसे, शीतल जलावसेचन इत्यादि, उनसे काम हो जाता है। यदि इससे काम न हो तो पाण्डुर श्वासावरोध के समान कृत्रिम श्वसन का उपयोग करना (सूत्रस्थान २७वें अध्याय के १४वें सूत्र के वक्तव्य में कृत्रिम श्वसन की विधियाँ देखो) चाहिए। पाण्डुर श्वासावरोध में कृत्रिम श्वसन का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। कृत्रिम श्वसन प्रारंभ करने के पूर्व बालक का मुख और गला साफ करना आवश्यक है। बालक पाण्डुर श्वासावरोध से पीडित हो तो तुरन्त उसकी नाडी काटकर उसको थोड़ी देर तक (कुछ सेकंड) गरम पानी में (१००° फै०) रखना चाहिए। पश्चात् उसको वहाँ से निकालकर और अच्छी तरह पोंछकर कृत्रिम श्वसन कराना चाहिए। कृत्रिम श्वसन में सिल्वेस्टर, श्लोद्ज़े की तथा मार्शल की पद्धतियाँ काम में लाई जाती हैं। मार्शल की पद्धति में बालक प्रसारित हथेली पर क्रम से पीठ के बल और छाती के बल पर रक्खा जाता है, जिससे उसका सिर और बाहुएँ नीचे की ओर लटकती रहती हैं। मार्शल की

पद्धति श्वासश्वासावरोध में अधिक उपयोगी होती है। संमुखश्वसन (Mouth to mouth respiration)—इसमें बालक के मुख में मुख से हवा फूँकी जाती है। फूँकने के समय नासा बंद की जाती है तथा आमाशय के ऊपर कुछ दबाया जाता है, जिससे हवा नासामार्ग से न बाहर आ सके, न आमाशय में चली जाय। इस प्रकार का संमुख श्वसन कई बार किया जाता है। कृत्रिम श्वसन का कर्म हृदय और श्वसन के अच्छी तरह चलने के समय तक या पूर्णतया बंद हो जाने के समय तक करना चाहिए। प्राणप्रत्यानयन में कृत्रिम श्वसन के अतिरिक्त पिच्युट्रिन का इन्जेक्शन (त्वचा में मात्रा २–२ बूंद) और मसूड़ों पर तथा छाती पर माडी मलना इन उपायों का भी उपयोग होता है। श्वासश्वासावरोध में मामूली उपायों से अगर काम न हो तो उसकी नाडी काटकर पाण्डुर के समान सब उपाय करने चाहिएँ। अष्टांगुलमायम्य—नाभितो दैर्घ्येणाष्टाङ्गुल परिमाय। वाग्भट आठ अंगुल के बदले चार अंगुल बताते हैं—नाभिनालं नालामिबंधनाच्चतुरङ्गुलस्योर्ध्वं क्षौमसूत्रेण बद्ध्वा। (अष्टांगसंग्रह)। नाभिं च सूत्रेण चतुरङ्गुलाद् बद्ध्वोर्ध्वम्। (अष्टांगहृदय)। चतुरंगुल की मर्यादा आधुनिक काल की मर्यादा से अधिक मिलती है। ग्रीवायां बध्नीयात्—डल्हणाचार्य कहते हैं 'स्रावपरिहारार्थम्'। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। नाडी के अन्त में गाँठ लगाने पर स्राव होने का कोई डर नहीं होता। हाराणचन्द्र कहते हैं कि गले में बाँधने से नाडी के भीतर का रसप्रवाह बन्द होकर नाडी सूखने में सहायता होती है—ग्रीवायां बध्नीयादिति तु निवरा रसादिगतिप्रतिबन्धेन त्वरितमुच्छोषयितुमित्युन्नेयम्॥ परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि गले में बाँधने से रसादि की गति की रुकावट होने का कारण नहीं है, न उससे सूखने में सहायता होती है। गले में बाँधने का प्रयोजन यह मालूम होता है कि अगर आठ अंगुल लम्बी नाडी का दूसरा सिरा वैसा ही खुला रक्खा जाय तो वह स्वतन्त्र और लम्बा होने के कारण हर एक काम में दखल करेगा। बालक के मल-मूत्र से खराब होगा तथा गीला भी होगा, क्योंकि वह जननेन्द्रिय के बहुत करीब होता है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए उसका सिरा बालक के गले में बाँधने का आदेश किया गया है। यदि नाडी अंगुल दो अंगुल लम्बी रक्खी जाती तो गले में बाँधने की कोई आवश्यकता नहीं होती। इन्दु अपनी टीका में गले में बाँधने का उद्देश्य लम्बत्वपरिहार बताते हैं, वह बहुत ठीक है—छिन्नदिष्ट नाभिनाल बालस्य ग्रीवायां सूत्रेणामज्जयेल्लम्बत्वपरिहाराय। नाडीकल्पन की विधि चरकसंहिता में बहुत उत्तम प्रकार से वर्णित है—नाभिबन्धनाद् प्रभृत्यष्टाङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वा छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्म राजतायसानां छेदनानामन्यतमेन छेदयेत्।

नाडीकल्पन के सम्बन्ध में कुछ बातें—(१) नाडीबन्धन का समय—माता के शरीर में नाभिनाडी के द्वारा माता और गर्भ में आदान-प्रदान का कार्य हुआ करता है। अर्थात् यह आदान प्रदान नाभिनाडीगत रक्तप्रवाह से होता है जिसका ज्ञान हमें नाडीगत स्पन्दन से हो जाता है। बालक के स्वतन्त्रवृत्ति होने पर यह आदान-प्रदान याने नाभिनाडीगत स्पन्दन बन्द हो जाता है। अपत्य मार्ग से बाहर आते ही बालक प्रथम श्वासप्रश्वास का कार्य प्रारम्भ करता है। इससे बालक के फुफ्फुस में रक्त की राशि अधिक जाने लगती है और अपरा (जो पहले फुफ्फुस का काम करती थी) में कम जाने लगती है। कुछ मिनिटों में रक्तपरिभ्रमण की यह अदल-बदल पूरी होकर नाडीगत रक्तप्रवाह पूर्णतया बन्द होता है, जिसका ज्ञान नाडीगत स्पन्दन बन्द होने से होता है। इसलिए नाडी का बन्धन उस समय पर करना चाहिए, जब कि बालक की नाभिनाडी का स्पन्दन बन्द हो गया हो। जन्म के पश्चात् मुखविशोधन, अश्मसंघट्टन इत्यादि कर्म करने के लिए जितना समय लगता है, उतने समय में नाभिनाडीगत रक्तप्रवाह आप से आप बन्द हो जाता है। चरकसंहिता के 'तत कल्पन नाड्या' इस शब्द प्रयोग से यह बात स्पष्ट होती है कि नाडी का कल्पन अश्मसंघट्टनादि कर्मों के पश्चात् किया जाता था। परन्तु उपर्युक्त कर्म कोई करे या न करे, नाडी का बन्धन तथा कल्पन नाडीगत रक्तप्रवाह बन्द होने के पश्चात् करना चाहिए। यदि बालक के बाहर आते ही नाडीकल्पन किया जाय तो बालक ८ तोले रक्त से वंचित हो जाता है याने नाडी का स्पन्दन बन्द होने के समय तक अपरा से बालक के शरीर में ८ तोला रक्त प्रविष्ट होता है। अष्टांगहृदय में नाभिनाडी के बन्धन का समय 'स्वस्थीभूतस्य' शब्द से सूचित किया गया है। जब कोई व्यक्ति अत्यन्त भिन्न परिस्थिति में, या स्थान में, या आब-हवा में चला जाता है, तब थोड़े काल तक वह अस्वस्थ होता है। फिर धीरे धीरे वह स्वस्थ हो जाता है। बालक के लिए भी ऐसा ही होता है। माता के शरीर के भीतर की परिस्थिति और शरीर के बाहर की परिस्थिति में जमीन-आसमान का भेद होता है, जिसके कारण बालक कुछ देर तक अस्वस्थ रहता है। इसका सुन्दर वर्णन अष्टांगसंग्रह का ऊपर जो उद्धरण दिया है, उसमें मिलता है। कुछ देर के पश्चात् बालक इस नई परिस्थिति के लिए तैयार हो जाता है। उस अवस्था को स्वस्थीभूत' कहते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेद में नाडीबन्धन के लिए जो काल बताया गया है, वह आधुनिक काल के साथ मिलता है। (२) बन्धनों की संख्या—छेदन करने के पूर्व नाडी में दो बन्धन लगाये जाते हैं। एक बन्धन नाभि के साथ लगी हुई नाडी के अन्त में रहता है और दूसरा अपरा से सम्बन्धित नाडी के अन्त में रहता है। गर्भ को नाडी के साथ बन्धन की आवश्यकता होती है क्योंकि यदि बन्धन न लगाया जाय तो उससे रक्त का स्राव होगा। दूसरे बन्धन की उतनी आवश्यकता नहीं होती और न लगाया जाय तो भी कोई खास नुकसान नहीं होता। सुश्रुत, अष्टांगहृदय तथा संग्रह में एक ही स्थान पर बन्धन बाँधने के लिए कहा है। आधुनिक काल में दो बन्धन बाँधने का रिवाज है। दूसरे बन्धन का उपयोग अपरापतन का ज्ञान होने के लिए होता है। इसके सिवा जब यमल की उत्पत्ति होती है, तब कई बार दोनों की नाभिनाडी का आपस में सम्बन्ध रहता है। उस अवस्था में यदि अपरा से सम्बन्धित नाडी पर बन्धन न लगाया जाय तो दूसरे गर्भ से रक्तस्राव होने का

डर रहता है। इसलिए दूसरा बन्धन लगाना यद्यपि हरेक बालक के लिए आवश्यक नहीं होता तथापि प्रसव की तृतीयावस्था के लिए सुविधाजनक और यमलों के लिए आवश्यक होता है। अतः परिपाटी के तौर पर आजकल दो बंधनों का प्रयोग होता है। चरकसंहिता में भी दो बंधनों का उपयोग करने का उपदेश किया गया है—छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन छेदयेत्। (चरक)। इसका अभिप्राय यह है—छेदनावकाशस्योर्ध्वमेकमधश्चैकं बंधनं क्षौमसूत्रेण दृढकार्पाससूत्रेण वा दत्त्वा द्वयोर्बन्धनयोर्मध्ये तीक्ष्णेन शस्त्रेण छेदयेत्। (३) छेदन और बंधन के सूत्र और शस्त्र—ये दोनों ही विशोधित (Sterilized) होने चाहिएं। इनके विशोधन पर ध्यान न देने से नाभि और नाड़ी में पाक उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। कभी कभी यह दोष गर्भ के शरीर में फैलकर जीवाणुमयता (Septicæmia) से बालक की मृत्यु भी हो सकती है। नाभिपाक से नाभिप्रदेश में कमजोरी उत्पन्न होकर आयामव्यायामादि विकार उत्पन्न होते हैं—असम्यक्कल्पने, हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुण्डितापिण्डलिकाविनामिकाविजृम्भिकाबाधेभ्यो भयम्। (चरक)। इस विषय का विवरण आगे ४६वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। (४) कल्पनोत्तर नाडीबन्धन की पद्धति—नाभि के साथ सम्बन्धित नाड़ी का हिस्सा प्रायः पाँचवें दिन नाभि से स्वतन्त्र हो जाता है। कभी कभी पन्द्रह रोज तक नाड़ी नाभि से पृथक् नहीं होती। तब तक नाड़ी को इस प्रकार सुरक्षित रखना चाहिए कि जिससे वह जल्दी सूख जाया करे, मलमूत्रादि से दूषित न हो तथा जबर्दस्ती न खींची जाय। यहाँ पर कल्पित नाड़ी गले में बाँधने की जो विधि बताई गई है, उससे प्रायः उपर्युक्त तीनों कार्य निकल आते हैं; इसमें संदेह नहीं है। केवल एक आध बार बच्चे को उठाते समय, नहलाते समय, कपड़े पहनाते समय, वह अनजाने खींची जाने का डर रहता है। परन्तु पैरों में दखल देने वाली धोती की लाँग को घूमते और सायकल पर सवार होते समय जेब में खोंसने की बंगालियों की पद्धति जैसे कामचलाऊ होने पर भी सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती, वैसे ही गले में लटकाने की यह पद्धति कामचलाऊ होने पर भी उत्तम नहीं कही जा सकती। उत्तम विधि तो यह है कि किसी स्वच्छ मृदु कपड़े की करीब तीन इंच चौड़ी, चार इञ्च लम्बी, कुछ मोटी, मध्य में छिद्रयुक्त तह बनाकर उस छिद्र में से नाड़ी को पिरोकर, वह कपड़े की तह नाभि पर रक्खे और पश्चात् उस पर नाड़ी को रखकर तथा टंकणाम्ल (बोरिक) या अन्य ओषधि की बुकनी बुरकाकर नाड़ी के ऊपर उदर के चारों ओर बंध (Bandage) बाँध दे। नाड़ी गिर जाने के दिन तक इस प्रकार सुबह शाम उसका बंधन किया जाय। बुरकाने के लिए कोई ओषधि न हो तो कोई हरजा नहीं होता, परन्तु कपड़ा और बंध विशोधित होना चाहिए। आजकल नाडीबंधन इसी तरह से होता है। गले में बांधने का रिवाज नहीं है। (५) स्वच्छता—नाड़ी के कल्पन और बन्धन के काम में आने वाली सब चीजें अत्यन्त स्वच्छ होनी चाहिएँ। इसमें लापरवाही करने से पूयजनक जीवाणुओं का प्रवेश नाभिनाड़ी में होकर नाभिपाक तथा अन्य आपत्तियाँ खड़ी होती हैं। आयुर्वेद में नाड़ी कल्पन के पश्चात् नाभि के ऊपर कुष्ठतैल सेचन करने के लिए लिखा है—नाभिं च कुष्ठतैलेन सेचयेत्। (अष्टांगहृदय और संग्रह, उत्तरस्थान १)। कुष्ठ (Saussurea Lappa) में उड़नशील तैल होता है। इस तैल में जीवाणुनाशक विशेषतया पूयजनक जीवाणुनाशक शक्ति है, यह बात आधुनिक खोज से सिद्ध हुई है—The essential oil has strong antiseptic and disinfectant properties especially against the streptococcus and staphylococcus. *Nadkarni's Indian Materia Medica.* इससे यह स्पष्ट है कि कुष्ठसिद्ध तैल में जीवाणुनाशक का गुण होने से नाभि के ऊपर उसका प्रयोग करने की पद्धति हितावह ही है। परन्तु 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इस व्यावहारिक तत्त्व के अनुसार नाभि और नाड़ी के पास पूयजनक जीवाणुओं को पहुचाने का मौका ही न मिले, इस प्रकार के वस्त्र नाभिबन्धन में प्रयुक्त करना उचित है। नाड़ी की दृष्टि में बालक के स्नान का भी कुछ संबंध होता है। इसका विचार आगे के सूत्र में किया गया है।

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्; ततो बलातैलेनाभ्यज्य, क्षीरवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन वा रूप्यहेमप्रतप्तेन वा वारिणा स्नापयेदेनं कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन यथाकालं यथादोषं यथाविभवं च ॥ १२ ॥

अब बालक को शीतल जल से (परिषेचन द्वारा), आश्वासित करके जातकर्म करने पर मधु और घृत के साथ सुवर्ण का चूर्ण अनामिका अंगुलि से चटावे। पश्चात् बलातैल से मालिश करके मन्दोष्ण क्षीरवृक्षकषाय से, सर्वगन्धयुक्त जल से, प्रतप्त चाँदी-सोने के (निमज्जन के) जल से, अथवा कैथ के पत्ते के कषाय से दोष, काल और सामर्थ्य के अनुसार (बालक को) स्नान करावे ॥ १२ ॥

वक्तव्य—कुमार—यहाँ पर, पिछले सूत्र में तथा अन्य स्थानों में भी कुमार शब्द से कुमारी का भी ग्रहण हो सकता है, क्योंकि कुमार या पुत्र शब्द अपत्यवाचक ही प्रायः प्रयुक्त किये जाते हैं। फर्क इतना ही है कि जहाँ संस्कारों का संबंध होता है, वहाँ पर कुमार के संस्कार मन्त्रयुक्त और कुमारी के संस्कार मन्त्रविरहित किये जाते हैं—अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ॥ (मनु २-६६)। जैसे, कुमार हो तो मधु-घृत समन्त्रक चटाया जायगा—मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्राशितुं दद्यात् ॥ (चरक) कुमारी हो तो वैसे ही चटाया जायगा। परंतु यहाँ पर बालक के लिए जो कुमार शब्द का प्रयोग किया गया है, वह इसलिए है कि गर्भ स्थापन होने पर पुंसवनविधि का प्रयोग किया गया था। अनन्तचूर्णम्—सुवर्णचूर्णम्। कहीं कहीं 'अनन्ता' ऐसा भी पाठ है। हाराणचन्द्र 'अनन्ताब्राह्मीरसेन' ऐसा पाठ देते हैं। वाग्भट अष्टांगसंग्रह में और भी कई ओषधियों का समावेश करते हैं—ततश्चैन्द्रीब्राह्मीशङ्खपुष्पीवचाकल्कं मधुघृतोपेतं हरेणुमात्रं कुशाग्राभिमन्त्रितं, सौवर्णे नाश्वत्थपत्रेण मेधायुर्बलजननं प्राशयेत्। तद्वत् ब्राह्मीबलानन्ताशतावर्यन्य-

समचूर्णं वा। यहाँ पर का पाठ गृह्यसूत्रानुसार है—कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत् ॥ गृह्यसूत्रोक्त चटाने की विधि यह है कि किसी सान पर घी और मधु लेकर उसमें सोना रगड़कर उसी सोने से वह अवलेह बालक के मुख में लगाना। यहाँ पर अंगुलि से चटाने के लिए लिखा है। प्राशन मन्त्र—प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेदं सवित्रा प्रसूतं मघोनाम्। आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥ बलातैलेनाभ्यज्य—बालक के शरीर पर उदक में अधिक काल रहने की दृष्टि से एक प्रकार का चिकना पदार्थ (Vernix caseosa तीसरे अध्याय के ३५ वें सूत्र का वक्तव्य देखो) बनता है। कभी यह पदार्थ अधिक होता है, कभी कम होता है। केवल जल से यह साफ नहीं होता है। तैल से यह जल्दी निकल आता है। इसलिए संपूर्ण शरीर पर तैल की मालिश करने से त्वचा की सफाई होने में सहायता मिलती है। बलातैल का वर्णन चिकित्सास्थान के मूढगर्भचिकित्सित अध्याय के अन्त में किया गया है। क्षीरवृक्ष—अश्वत्थादि वृक्ष जिनकी त्वचा पर घाव करने से दूध के समान सफेद गाढ़ा रस निकलता है—अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटपिप्पलसंज्ञिताः । पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षाः समाख्याता विचक्षणैः ॥ सर्वगन्ध—चातुर्जातककर्पूरककोलागुरुकुङ्कुमम् । लवङ्गसहितं चैव सर्वगन्धं प्रकीर्तितम् ॥ किंवा सूत्रस्थान के द्रव्यसंग्रहणीय अध्यायोक्त 'एलादिगण' की ओषधियों का भी ग्रहण किया जा सकता है। रूप्यहेमप्रतप्तेन—सोने और चांदी के पदार्थ को प्रतप्त करके पानी में बार बार बुझाने से गरम किये हुए जल से—कोष्णेन तप्तरजततपनीयनिमज्जनैः । (अष्टांगहृदय)। स्नापयेत्—जन्म के पश्चात् शरीर पर तैल लगाकर साबुन और मन्दोष्ण जल से बालक को नहलाने का रिवाज पाश्चात्य देशों में भी है। परन्तु स्नान के समय बालक की नाभिनाडी गीली हो जाती है और स्नान के पश्चात् नाडी को सुखाने की ओर ठीक ध्यान न दिया जाय तो उसमें पाक होने की संभवनीयता बढ़ती है। कुछ चिकित्सकों ने यहाँ तक सिद्ध किया है कि नाडी को सुखाने की कितनी भी कोशिश क्यों न की जाय, अस्नात बालकों की अपेक्षा स्नात बालकों में नाडीपाक अधिक हुआ करता है। इसलिए उन लोगों का कथन है कि जन्मदिन से नाभिनाडी गिरने के पश्चात् नाभिव्रण का पूर्ण रोपण होने के समय तक बालक को न नहलाना चाहिए, परन्तु नाभि और नाडी गीली न हो जाय, उस प्रकार से शरीर को पोंछ देना चाहिए। इस कथन में कुछ तथ्य है। इसलिए बालक को नहलाने के पश्चात् प्रतिदिन नाभिनाडी को सुखाने पर तथा उसके साथ संबंध रखने वाले कपड़ों की सफाई पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कोष्णेन—शरीरतापक्रम से कुछ अधिक, १००° फै० The water should be nearly blood warm and it is best to rub the skin all over first with some sweet oil *Esoteric Anthropology* कोष्ण का अर्थ मंदोष्ण याने शरीरतापक्रम से कुछ अधिक। स्नान का पानी शरीरतापक्रम से कुछ अधिक रखने पर स्नान के समय वह शरीरतापक्रम के बराबर हो जाता है। यथाकालम्—काल के अनुसार। जैसे, शीतकाल में पानी कुछ अधिक गरम हो, मध्यम काल में मंदोष्ण हो और गरमियों के दिनों में कुछ ठंढा (७०°–८०° फै०) हो। यथादोषं यथाविभवं च—दोषानतिक्रमेण, क्षीरिवृक्षकषायेण पित्तघ्नेन, सर्वगन्धोदकेन वा वातघ्नेन। विभवानतिक्रमेण रूप्यहेमतप्तेन वारिणा। (डल्हण)। जातकर्म—जातमात्रस्य वेदोक्तं कर्म।

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्।
चतुरात्त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते ॥ १३ ॥

तस्मात् प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तमिश्रं मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिः, तृतीये च; ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसंमितं द्विकालं पाययेत् ॥ १४ ॥

(स्तन्योत्पत्तिकाल—) हृदय (प्रदेश) में स्थित धमनियों के विस्फुट होने के कारण (प्रसूति के) पश्चात् तीसरे या चौथे दिन से स्त्रियों को दूध शुरू होता है ॥ १३ ॥ इसलिए प्रथम दिन (बालक को) मन्त्रपूत सुवर्णमिश्र मधुसर्पि (दिन भर में) तीन बार पिलावे, दूसरे और तीसरे दिन लक्ष्मणासिद्ध घृत (प्रथम दिन के समान तीन बार); चौथे दिन पहले (माता का) दूध न पिलाये गये उस (बालक) को (उसकी) हथेली में जितना रहे उतना घी और मधु दो बार पिलावे, (पश्चात् तीसरे समय से माता का दूध पिलाना शुरू करे) ॥ १४ ॥

वक्तव्य—धमनीनां हृदिस्थानाम्—हृदयप्रदेशस्थित अर्थात् स्तनसंश्रित धमनियाँ—धमन्यः संवृतद्वारा कन्यानां स्तनसंश्रिताः । दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥ तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः । स्वभावादेव विवृता जायन्ते । (निदान १०)। विवृतत्वात्— स्तनसंश्रित धमनियों की विवृतता प्रसूति के पश्चात् नहीं होती, वह गर्भावस्था के प्रारंभ से शुरू होती है और संपूर्ण गर्भावस्था पर रहती है, यह बात उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट है। अर्थात् तीसरे या चौथे दिन स्तन्य उत्पन्न होने का कारण विवृतता नहीं है, इसको ध्यान में रखना चाहिए। स्तन्यप्रवर्तन के दो कारण हैं—(१) स्वभाव—जैसे गर्भ का आधान होने के पश्चात् स्वभाव से स्तनसंश्रित धमनियाँ विवृत [illegible] तीसरे या चौथे [illegible]

स्तन्योत्पत्ति के सम्बन्ध में आधुनिक मत—आधुनिक काल में इसके संबंध में बहुत कुछ खोज हुई है, परन्तु अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हुआ है। तथापि स्तन्यप्रवर्तन के संबंध में निम्न उपपत्ति बतलाई जाती है। मस्तिष्क के पोषणिका ग्रन्थि (Pituitary body) के अग्रिम भाग से जो अन्तःस्राव निकलकर रक्त में मिलता है, वह स्तनों में रक्त के साथ पहुँचकर उनको स्तन्योत्पत्ति में प्रवर्तित करता है। यह द्रव्य स्तन्यप्रवर्तक, या स्तन्यजनक या स्तन्यपूर्वज (Prolactin, Galactin) कहलाता है। बालक को दूध की आवश्यकता जिस अवधि में होती है, उस अवधि में यह द्रव्य उस ग्रन्थि के अग्रिम (Anterior) हिस्से में बनता रहता है और दूध की उत्पत्ति में सहायता करता है। जब दूध की आवश्यकता नहीं होती, तब यह द्रव्य भी उसमें

नहीं बनता। इसका अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था में यह द्रव्य नहीं बनता और प्रसूति होने पर बनने लगता है जिसके कारण दूसरे या तीसरे दिन दूध का प्रवर्तन शुरू होता है। अब प्रसूति के और इसके बीच में क्या सम्बन्ध है? इसके बारे में कई मत प्रचलित हैं, जिनमें निम्न दो प्रधान हैं—(१) प्रसूति के बाद गर्भाशय सिकुड़ता है और उससे पोषणिकाग्रंथि को नाड़ियों द्वारा (nervous reflexes) सूचना मिल जाती है कि अब दुग्धप्रवर्तक द्रव्य बनाने का समय आ गया है। (२) गर्भावस्था में अपरा और बीजग्रन्थि से कुछ द्रव्य (तीसरे अध्याय के १९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो) बनते हैं, जो प्रायः पोषणिकाग्रंथि के स्तन्यप्रवर्तक द्रव्य की उत्पत्ति के विरोधी होते हैं। प्रसूति के पश्चात् अपरा का यह विरोधी कार्य नष्ट होने से वह ग्रंथि दुग्धप्रवर्तक द्रव्य को बनाती है, जिसके परिणाम स्वरूप में स्तनों में दूध का प्रवर्तन होता है। संक्षेप में, जो स्वभाव गर्भावस्था में बालक का पोषण पूर्ण प्रगल्भ होने पर गर्भाशय से उसका निष्कासन करता (निदानस्थान ८ वें अध्याय के ८ वें श्लोक और उसके वक्तव्य को देखो) है, वही निष्कासन के पश्चात् दूध उत्पन्न करके उसका पोषण करता है। परन्तु स्वभाव परमेश्वर के समान निर्गुण निराकार होने के कारण कार्य करने के लिए उसको सगुण साकार अंगों और द्रव्यों का आधार लेना पड़ता है। स्वभाव प्रत्येक कार्य के लिए किस प्रकार और किसका आधार लेता है, इसको जानने में ज्ञान है। इसको जानने की कोशिश अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक हो रही है और भविष्य में भी होती रहेगी और इसके कारण ज्ञान की वृद्धि भी होती आ रही है और होती जायगी। परन्तु एक मर्यादा पर अन्त में स्वभाव पर ही छोड़ना पड़ेगा। ज्ञान की वृद्धि इस मर्यादा को बढ़ाने में होती है। प्राचीन काल में यह मर्यादा बहुत छोटी थी, अब अधिक बढ़ गई है, भविष्य में इससे अधिक बढ़ेगी। चतूरात्रात् त्रिरात्राद्वा—इसमें संदेह नहीं है कि प्रारम्भिक दो तीन दिन स्तनों में दूध नहीं होता या अत्यल्प होता है। प्रसूति के कारण उत्पन्न हुए परिवर्तन का परिणाम स्तन्योत्पत्ति में होने के लिए दो तीन दिन की अवधि आवश्यक होती है। जब स्तनों में दुग्धोत्पत्ति प्रारम्भ होती है, तब वे कठिन और पीडायुक्त होते हैं। क्वचित् उस समय शरीर का ताप एक दो अंश से बढ़ सकता है। इसको स्तन्यज्वर (Milk-fever) कहने का रिवाज है। काश्यपसंहिता में सूतिकाज्वर के कारणों में स्तन्यागम एक कारण दिया है, तथा उसके लक्षण दिये हैं—स्तन्यागमाद् ग्रहावाधादजीर्णाद् दुष्प्रजायनात् ।ज्वरः सञ्जायते नार्याः षड्विधो हेतुभेदतः ॥ तृतीयेऽह्नि चतुर्थे वा नार्याः स्तन्यं प्रवर्तते । पयोवहानि स्रोतांसि संवृतान्यभिघट्टयेत् ॥ करोति स्तनयोः स्तम्भं पिपासां हृदयद्रवम् । कुक्षिपार्श्वकटीशूलमङ्गमर्दं शिरोरुजाम् ॥ एतत् स्तन्यागमोत्थस्य ज्वरस्योक्तं स्वलक्षणम् । स हि पीयूषसंशुद्धौ क्रममात्रेण तिष्ठति ॥ इसका अभिप्राय यह है कि तीसरे या चौथे दिन दूध उत्पन्न होकर बन्द पयोवह स्रोतसों (Lactiferous tubules and ducts) में अभिघट्टन याने उत्तेजना पैदा करता है, जिससे स्तनों में स्तम्भ (कठिनता और पीडा) और छाती में बेचैनी (हृदयद्रव) इत्यादि लक्षण होते हैं। पीयूष की शुद्धि होने पर ये लक्षण आप से आप ठीक होते हैं। अर्थात् दुग्ध का प्रवर्तन ठीक प्रारम्भ होने पर स्तनगत कठिनता, पीडा, सिरदर्द तथा हरारत ये लक्षण आप से आप ठीक हो जाते है। कुछ पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्रज्ञ स्तन्यज्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो शंका प्रदर्शित करते हैं, वह ठीक नहीं है। स्तन्यज्वर यद्यपि सब स्त्रियों में नहीं तथापि कुछ स्त्रियों में, विशेषतः वातिक और कोमल प्रकृति की स्त्रियों में कई बार उत्पन्न होता है। इसका कारण अभी तक ठीक ठीक मालूम नहीं हुआ है—And as to the cause and significance of the rise of temperature which sometimes accompanies the shooting in of the milk, we are still more uncertain. *Ideal Birth.* स्तन्यज्वर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि वह कुछ घण्टों से अधिक देर तक नहीं रहता। यदि अधिक देर ज्वर लगातार बना रहे तो स्तन्यज न समझकर योनिदोषज समझना चाहिए और उसके अनुसार जननेन्द्रिय की ओर अधिक ध्यान देकर चिकित्सा करनी चाहिए। स्तन्यम्—प्रारम्भ में जो दूध स्तनों से निकलता है, उसका संगठन नित्य के दूध से भिन्न होता है। इस दूध को पीयूष या खीस (Colostrum) कहते हैं—आसप्तरात्रं प्रसवात् क्षीरं पीयूषमुच्यते। इसमें प्रोभूजिनों (प्रोटीनों) की राशि अधिक (६ प्रतिशत) होती है और शर्करा तथा चरबी की स्वाभाविक से आधी (शर्करा २ प्रतिशत; चरबी ३·७ प्रतिशत) होती है। चरबी की विशेषता यह होती है कि वह कोशाओं (सेलों) के भीतर रहती है। ये पीयूष कोशाएँ (Colostrum corpuscles) कहलाती हैं। तीन चार दिन के बाद ये दूध में नहीं मिलतीं। पीयूष वर्ण में पीला, गाढ़ा और क्षारीय होता है, जो गरम करने से या वैसा ही जम जाता है। इसमें कुछ सारक गुण भी होता है। तस्मात्—प्रथम दो तीन दिन बालक को दूध नहीं मिलता, इसलिए। काश्यपसंहिता में लेहप्राशन के जो अनेक निर्देश (Indications) बताये गये हैं, उनमें माता को दूध न होना या कम होना ये दो निर्देश मिलते हैं—अक्षीरा जननी येषामल्पक्षीरापि वा भवेत् । (सूत्रस्थान, लेहाध्याय) । इस दृष्टि से प्रारम्भिक लेहसेवन अक्षीरावस्था के लिए है, ऐसा समझ सकते हैं। अर्थात् इसका उपयोग आहार के लिए भी हो सकता है, क्योंकि घी और मधु दोनों भी उत्तम आहार्य द्रव्य है। हाराणचन्द्र अवलेह सेवन स्तन्याभावजनित दोषोपशमन के लिए मानते हैं—पाययेदिति स्तन्याभावजनितदोषोपशमार्थं न पुनराहारार्थमिति निश्चीयतेऽनेरणीयत्वेन मध्वादीनां गन्धमात्रेणोपयोगात् । आहार के सिवा अवलेह का दूसरा भी एक उपयोग हो सकता है। यद्यपि स्तन्यचूषण एक स्वाभाविक कर्म है तथापि प्रारम्भ में दूध गाढ़ा होने के कारण तथा बालक को चूसने तथा निगलने का अभ्यास न होने के कारण दूध खींचने में कठिनाई होती है। अवलेह चाटने से बालक को चूसने तथा निगलने का कुछ अभ्यास हो जाता है, जिससे तीसरे दिन जब बालक स्तनों पर लगाया जाता है तब वह स्तनपान करने में समर्थ होता है। साधारणतया प्रथम या

द्वितीय दिन में बालक को स्तनपान की इच्छा बहुत कम होती है तथा स्तनपान करने का सामर्थ्य भी नहीं होता। ऐसी अवस्था में अवलेह चाटने का प्रयोग फायदेमन्द होता है। क्षीरप्रवर्तन के पूर्व बालक को दूध दिया जाय या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर तीसरे दिन के स्तन्यप्रवर्तन में ही मिल जाता है। बालक के पोषण के लिए जो दूध माता के स्तनों में स्वभाव से उत्पन्न होता है, उसकी यदि आवश्यकता प्रारम्भिक तीन दिनों में होती तो स्वभाव प्रथम दिन से ही स्तन्यप्रवर्तन कर देता। परन्तु ऐसा कहीं नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि बालक को प्रथम दो दिनों में भोजन की विशेष आवश्यकता नहीं होती। जो कुछ माता के स्तनों से (आगे चरक का वचन देखो) मिलता है तथा मधुसर्पि के रूप में थोड़ा सा दिया जाता है, उतना ही उसके लिए काफी होता है। अज्ञानी लोग इस अक्षीरावस्था में बालक को गाय का या अन्य जानवर का दूध पिलाने लगते हैं। यह बड़ी भूल है। स्तन्याभावे पयश्छाग गव्य वा तद्गुणं हितम् यह वाग्भटाचार्य का वचन प्रथम तीन दिनों के स्तन्याभाव के लिए नहीं है, परन्तु तीसरे दिन दूध न आने पर उत्पन्न हुए स्तन्याभाव के लिए है, क्योंकि प्रथम तीन दिनों की मधुसर्पि चटाने की विधि देने के पश्चात् चौथे दिन से माता का ही दूध पिलाने के लिए मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये' यह श्लोकार्ध आता है, और उसके बाद 'स्तन्याभावे' यह श्लोक आता है—Nature intended the infant to wait for a couple of days or so before receiving any food For the first two days nothing is taken. *Ten teacher's Midwifery* इसलिए तत्र तत्र आहारार्थं 'स्तन्याभावे पयश्छाग गव्यं वा तद्गुणं हितम्' इत्यागमानुसरणं नानुपपन्नम् यह हाराण चन्द्रजी का कथन ठीक नहीं है।

चरकसंहिता में प्रथम दिन से ही स्तनपान कराने के लिए लिखा है—मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नाय प्रथमं प्राशितुं दद्यात्। स्तनमत ऊर्ध्वमेतेनैव विधिना दक्षिणं पातुं पुरस्तात् प्रयच्छेत्। आधुनिक पाश्चात्य कौमारभृत्यों का भी कथन है कि प्रथम दिन से ही बालक को स्तनपान करावे। इससे दो फायदे होते हैं—(१) बालक के स्तनपान करते समय, चाहे स्तन से दूध निकले या न निकले, गर्भाशय में उत्तेजना पैदा होती है, जिसका परिणाम गर्भाशय के संकोच होने में होता है। (२) यद्यपि बालक का संबंध न होने पर भी तीसरे या चौथे दिन स्तनों में स्तन्यप्रवर्तन स्वभाव से ही हुआ करता है, तथापि बालक को प्रथम दिन से स्तनपान कराने से स्तन्योत्पत्ति में सहायता होती है। बालक को आहार की आवश्यकता है या नहीं? स्तनपान करने का सामर्थ्य है या नहीं? इसका ज्ञान तब तक स्तनपान नहीं कराया जायगा, तब तक नहीं होगा। इसलिए तथा उपर्युक्त फायदों के लिए चरकमतानुसार प्रथम दिन से ही स्तनपान कराने की विधि ही प्रशस्त है। मन्त्राभि॰ मन्त्रपूतम्—'अ ते ददामि मधुनः' इस मन्त्र (१४वें सूत्र के वक्तव्य में देखो) से सुवर्णचूर्ण घी और मधु के साथ दिया जाता है। अवलेह बनाने की विधि और सुवर्ण के फायदे काश्यप संहिता में निम्न प्रकार से वर्णित हैं—विघृष्य धौते दृषदि प्राङ्मुखी लघुनाऽम्बुना। आमथ्य मधुसर्पिर्भ्यां लेहयेत् कनकं शिशुम्॥ सुवर्णप्राशनं ह्येतन्मेधाग्निबलवर्धनम्। आयुष्यं मंगलं पुण्यं वृष्यं वर्ण्यं ग्रहापहम्॥ मासात्परममेधावी व्याधिभिर्न च धृष्यते। षड्भिर्मासैः श्रुतधरः सुवर्णप्राशनात् भवेत्॥ (लेहाध्याय)। प्राङ्निवारितस्तन्यम्—यह बालक का विशेषण है और इसका अर्थ है—जिसके लिए प्रथम तीन दिन स्तन्य निषिद्ध किया गया था, उसको। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—ततः प्राङ्निवारितस्तन्यस्य स्वपाणितलसंमितं सर्पिर्द्विकालं पाययेत्। अनन्तरं च स्तन्यमिष्टं॥ इसका अर्थ यह है कि चौथे दिन दो बार मधुसर्पि बालक को चटावे और तीसरी बार से उसको यथेच्छ स्तनपान करावे। किंवा इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि चौथे दिन दो बार प्रथम बालक को मधुसर्पि चटावे और तुरन्त उसको पश्चात् स्तनपान करावे। पहले पहल स्तनपान कराने के पूर्व, जैसे की धात्री के बारे में आगे १७वें सूत्र में बताया गया है स्तन को साफ धोकर तथा निचोड़कर कुछ दूध निकालकर पश्चात् बालक को स्तन पिलावे। डल्हण वाग्भटमतानुसार प्रथम अर्थ देते हैं—ततश्चतुर्थे दिवसे प्रातर्मध्याह्नादिलक्षणे मधुसर्पिः प्राशयेत्, तदनन्तरं चतुर्थदिवसस्य तृतीयकालमारभ्य पञ्चमादिदिवसेषु यथेष्टं स्तन्यपानं कारयेत्। क? बालं, किंविशिष्टं? प्राङ्निवारितस्तन्यं, प्राक् पूर्वं निवारितं स्तन्यं यस्य तम्॥

अथ सूतिकां बलातैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिष्क्वाथेनोपचरेत्। सशेषदोषां तु तदहः पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रकशृङ्गवेरचूर्णं गुडोदकेनोष्णेन पाययेत्, एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यादादुष्टशोणितात्। विशुद्धे ततो विदारिगन्धादिसिद्धां स्नेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पाययेत्त्रिरात्रम्। ततो यवकोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्बलमग्निबलं चावेक्ष्य। अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके ॥१५॥

धन्वभूमिजातां तु सूतिकां तु घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत् पिप्पल्यादिकषायानुपानां, स्नेहनित्या च स्यात्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा (बलवती,) अबलां यवागूं पाययेत्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा। अत ऊर्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत् ॥ १६ ॥

प्रायशश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत्, क्रोधायासमैथुनादीन् परिहरेत् ॥ १७ ॥

(सूतिका की परिचर्या—) (अपरा गिरने के पश्चात्) सूतिका को बलातैल का अभ्यङ्ग करवाके वातहर ओषधियों के क्वाथ से चिकित्सा करे। यदि (गर्भाशय में कोई) दोष शेष रहा हो उसी (प्रसव के) दिन पिप्पली, हस्तिपिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, सोंठ इनका चूर्ण गरम गुडोदक के साथ पिलावे, इस प्रकार दो दिन, तीन दिन या जब तक दुष्ट रक्त निकलता हो तब तक (पिलावे); रक्त शुद्ध हो जाने पर विदारिगन्धादि (गण की ओषधियों से) सिद्ध स्नेह युक्त या क्षीरयुक्त यवागू तीन दिन पिलावे। उसके पश्चात् (सूतिका के शारीरिक) बल और जठराग्नि-

...ल को देखकर (उसके अनुसार) जौ, वेर और कुलथी से सिद्ध जांगल (पशु-पक्षियों के मांस के) रस के साथ चावलों का भात (न्यूनाधिक मात्रा में) खिलावे। डेढ़ महीने तक इस प्रकार (आहार और आचार के नियमों के अनुसार) परिचारिता (प्रसूता स्त्री उसके पश्चात्) आहार और आचार (के नियमों) से तथा सूतिका नाम से विमुक्त हो जाती है। कई आचार्यों का मत है कि (प्रसूति के पश्चात्) फिर से आर्तवदर्शन होने के समय तक (स्त्री सूतिका होती है तथा तब तक उसको उपर्युक्त आहाराचार के अनुसार रहना चाहिए) ॥ १५ ॥

जाङ्गलदेश (मरुभूमि) में प्रसूत हुई सूतिका को (पूर्वोक्त) पिप्पल्यादि कषाय के अनुपान के साथ घी या तैल में से किसी एक को मात्रानुसार पिलावे। (इस प्रकार बलवती प्रसूता) तीन दिन या पाँच दिन (तक) नित्य स्नेह सेवन करे। निर्वल प्रसूता को (स्नेह के बदले) यवागू तीन दिन या पाँच दिन (तक) पिलावे। इसके बाद स्नेह से युक्त अन्न से उपचार करे ॥ १६ ॥

साधारणतया सूतिका को बहुत से गरम जल से (प्रतिदिन) स्नान करावे। (प्रसूता) क्रोध, (अत्यधिक शारीरिक या मानसिक) परिश्रम, मैथुन इत्यादि का त्याग करे ॥ १७ ॥

वक्तव्य—इन सूत्रों में सूतिका की परिचर्या तथा स्वस्थवृत्त का वर्णन किया है। सशेषदोषा—गर्भजन्म के पश्चात् अपराजन्म होता है, जिसका विवरण आगे २०वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। अपरा और जरायु बाहर निकल आने पर गर्भाशय पूर्ववत् होने के लिए कुछ दिनों की आवश्यकता होती है। उस अवधि में योनिगर्भाशय से प्रसवशोणित का (Lochia) स्राव होता है। इसी स्राव के द्वारा गर्भाशयगत दोष बाहर निकल आते हैं और गर्भाशय की अन्तःकला पूर्ववत् स्वस्थ हो जाती है। जरायु तथा अपरा के बाहर आने पर भी उसके कुछ छोटे बड़े टुकड़े गर्भाशय के भीतर रह सकते हैं और प्रायः रहा करते हैं। ये टुकड़े भीतर रहना ठीक नहीं है, यह दोष स्वरूप होते हैं। ये कणशः रक्त के साथ बाहर आया करते हैं। इस प्रकार का दोषयुक्त रक्त तीन चार दिन तक साधारणतया गर्भाशय से बाहर निकलता है। उसके पश्चात् गर्भाशय के स्राव का वर्ण कुछ फीका हो जाता है और तीन चार रोज के पश्चात् अधिक से अधिक दसवें दिन तक गर्भाशयगत स्राव पानी के समान कुछ पीलापन लिये स्वच्छ हो जाता है। गर्भाशयगत स्राव को दोष मानने का रिवाज है, जैसे आर्तवशोणित को दोष मानते हैं; और जैसे आर्तवशोणितस्राव बन्द होने पर चौथे दिन स्नान कराके स्त्री शुद्ध की जाती है, वैसे ही प्रसूता प्रसवोत्तर दोषशोणितस्राव बंद होने पर ग्यारहवें दिन स्नान कराके शुद्ध की जाती है। प्रसूति के पश्चात् निरपवाद स्त्री सशेषदोष हुआ करती है, जिसको दूर करने के लिए पिप्पल्यादि चूर्ण दिया जाता है। यदि दोष हो तो पिप्पल्यादि चूर्ण देना यह सशेषदोषा का अर्थ नहीं है। स्त्री सशेषदोष होती है, इसलिए प्रसवोत्तरकाल के प्रारम्भिक कुछ दिनों में पिप्पल्यादि चूर्ण देना यह परिचर्यापरिपाटी है। इसलिए चरकसंहिता में, सूतिका को भूख मालूम होते ही पिप्पल्यादि चूर्णयुक्त स्नेह देने के लिए बताया है। आदुष्टशोणितात्—जब तक स्राव अधिक खराब रहता है, तब तक। इसकी अवधि तीन चार दिन की होती है। इसलिए पिप्पल्यादि चूर्णयुक्त स्नेह दो तीन दिन तक देने के लिए कहा है। अध्यर्धमास—इससे सूतिका की अवस्था (Puerperium) की अवधि बताई गई है। प्रसूतावस्था शब्द स्त्री की उस अवस्था के लिए प्रयुक्त होता है, जिस अवस्था में गर्भावस्था और प्रसव के कारण उत्पन्न हुए उसके शरीर के ह्रास की पूर्ति होकर वह यथापूर्व स्वस्थ और एक दृष्टि से फिर गर्भक्षम हो जाती है। इस अवस्था का प्रारम्भ प्रसवदिन से होता है और अन्त गर्भाशय के पूर्वावस्था प्राप्त होने पर होता है। अन्तिम मर्यादा प्रारम्भिक मर्यादा के समान निश्चित नहीं है। उसमें प्रत्येक स्त्री में कुछ अन्तर हो सकता है। तथापि व्यावहारिक दृष्टि से, अगर कोई खराबी या विशेष कारण न हो तो, गर्भाशय की पूर्वस्थिति छः हफ्ते में प्राप्त होती है। इसलिए आयुर्वेद के अनुसार पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्रज्ञ भी प्रसूतावस्था की अवधि छः सप्ताह की मानते हैं—Strictly speaking, it (puerperium) lasts from the commencement of the third stage until the completion of the uterine involution—that is, for about six weeks. *Jellet's Midwifery* प्राचीन परम्परा के अनुसार भारतवर्ष में सूतिकावस्था की अवधि तीन महीने की मनाई जाती है और चौथे महीने के प्रारम्भ में बालक के साथ देवतादर्शन (आगे ५१वें सूत्र का वक्तव्य देखो) करने के पश्चात् स्त्री विगतसूतिकाभिधाना और आहाराचार से स्वतन्त्र होती है—व्युपद्रवां विशुद्धां च विज्ञाय वरवर्णिनीम्। ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं परिहारयेत्। इन आधारों पर प्रसूतावस्था की कम से कम अवधि डेढ़ महीने की और अधिक से अधिक तीन महीने की समझना उचित है। पुनरार्तवदर्शनात् एकीय मत से यह शब्द प्रयोग प्रसूतावस्था की उत्तर मर्यादा बतलाता है। एक दृष्टि से यह मत ठीक है क्योंकि आर्तवदर्शन से गर्भाशय अपनी पूर्व स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो चुका है, इसका परिचय हो जाता है। परन्तु आर्तवदर्शन के ऊपर मर्यादा स्थिर करने में उसमें बड़ा अस्थैर्य आ जाता है। इसका कारण यह है कि दूध पिलाने की अवस्था में आर्तवदर्शन न होना यह एक नष्टार्तव का स्वाभाविक कारण है (दूसरे अध्याय के २२वें श्लोक का और आगे ३६वें श्लोक का वक्तव्य देखो) और इसलिए कई स्त्रियों में प्रसूति के पश्चात् बारह मास तक आर्तवदर्शन नहीं होता। आर्तवदर्शन पर उत्तरमर्यादा निश्चित करने का परिणाम यह होगा कि प्रसूतावस्था की अवधि कुछ स्त्रियों में दो महीने की, कुछ स्त्रियों में तीन महीने की, कुछ स्त्रियों में चार महीने की और कुछ स्त्रियों में साल भर की हो जायगी, और उनको उतने काल तक नियन्त्रित आहार-विहार से रहना पड़ेगा। इस प्रकार के नियन्त्रित आहार-विहार से अधिक काल तक रहना न व्यावहारिक दृष्टि से शक्य है, न स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर है। इसके सिवा कुछ स्त्रियों में कई बार बिना आर्तवदर्शन के गर्भधारणा हुआ करती है। इस नियम के अनुसार ये स्त्रियाँ कभी प्रसूता और कभी

गर्भवती रहेंगी, तीसरी अवस्था इनके लिए न हो सकेगी। अर्थात् गर्भवती और प्रसूता ये दोनों अवस्थाएँ नियन्त्रित आहार-विहार की होने के कारण इन स्त्रियों को अपनी प्रजोत्पादन की आयु नियन्त्रित आहार विहार में बितानी पड़ेगी। संक्षेप में यद्यपि एक दृष्टि से पुनरार्तवदर्शन पर प्रसूतावस्था की उत्तरमर्यादा स्थिर करने में कुछ तथ्य है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से यह नियम अनुपपाद्य है। धन्वभूमिजाता—मरुभूमिप्रजाता—समानौ मरुधन्वानौ (अमरकोष)। म्रियते पिपासया यस्मिन् मरुः। आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार इसको जांगलदेश कह सकते हैं—अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवात प्रचुरातप। ज्ञेय स जाङ्गलो देश। (चरक, विमान ३)। ऐसे देश में प्रसूत हुई। तु—परन्तु। इससे यह स्पष्ट होता है कि इससे पहले याने पन्द्रहवें सूत्र में जो उपचार वर्णन किया गया है, वह आनूप देश प्रजाता स्त्री के लिए है। घृततैलयोरन्यतरस्य—काश्यपसंहिता के अनुसार पुत्रप्रजाता के लिए तैल और कन्याप्रजाता के लिए घी। काश्यपसंहिता में तीनों प्रकार के देशों में स्त्री की उपचर्या के संक्षिप्तसूत्र निम्न प्रकार से वर्णित हैं—त्रिविधं देशमाश्रित्य वक्ष्यामि त्रिविधं विधिम्। आनूपदेशे भूयिष्ठं वातश्लेष्मात्मका गदाः॥ तत्राभिष्यन्दभूयस्त्वादादौ स्नेहो विगर्हितः। मण्डादिरत्र कर्तव्यः ससर्गोऽग्निबलावहः॥ स्वेदो निवातशयनं सर्वमुष्णं च शस्यते। नियतं जाङ्गले देशे वातपित्तात्मका गदाः। तदत्र स्नेहसात्म्यत्वात् स्नेहादि स्यादुपक्रमः। कार्यप्रजातमात्राया विशेषश्चात्र बुध्यते॥ कुमारप्रसवे तैलं कुमारीप्रसवे घृतम्। पिबेज्जीर्णे यवागूं च दीपनीयोपसंस्कृताम्॥ पञ्चाहं सप्तरात्रं वा ततो मण्डाद्युपक्रमः। देशे साधारणे चास्या हितः साधारणो विधिः॥ (सूतिकोपक्रमणीय अध्याय)। उष्णोदकेन परिषिक्ता—चरक और अष्टांगसंग्रह में यवागू पान करने से पूर्व दिन में दो बार गरम पानी से परिषेचन या स्नान कराने के लिए लिखा है—उभयतः कालं चोष्णोदकेन च परिषेचयेत् प्राक् स्नेहयवागूपानाभ्याम्॥ क्रोधायास मैथुन—*इनके सम्बन्ध का विवरण इसी वक्तव्य में आगे स्वतन्त्ररूप से किया पाया है।*

प्रसूता की परिचर्या तथा स्वस्थवृत्त—उपर्युक्त तीन सूत्रों में प्रसूता की परिचर्या और स्वस्थवृत्त का विचार किया गया है। इसी का विचार अब जरा व्यवस्थित रूप से किया जायगा। अपरा निकल आने के पश्चात् प्रसूता की परिचर्या का प्रारम्भ होता है। अपरा के निकल जाने का, निकालने का और निकल आने पर उदर और जननेन्द्रिय के *सम्बन्ध का विचार* आगे २०वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। यहाँ पर सर्वसाधारण अन्य बातों का विचार कर्तव्य है। (१) आराम—अपरा निकल जाने के पश्चात् प्रसूता को खटिया या पलङ्ग पर उत्तानासन में लेटे रहना ही प्रशस्त होता है। खटिया या पलङ्ग का सिरहाना कुछ ऊँचा करने से प्रसवशोणित (Lochia) के नीचे की ओर बहने में आसानी होती है। यह उत्तानासन प्रसूता को दो हफ्ते से चार हफ्ते तक रखना चाहिए। प्रारम्भिक कुछ दिन मलमूत्र विसर्जन और अन्नग्रहण भी लेटे लेटे करना उचित है। यदि यह न हो सके तो इन आवश्यक कामों के लिए थोड़ी देर तक प्रसूता उठ सकती है, परन्तु बाकी सब काल प्रसूता को बिस्तरे पर आराम से पड़े रहना चाहिए। साधारणतया जब तक योनि से प्रसवशोणित का स्राव बंद होता रहता है, तब तक पूर्ण आराम करना चाहिए और स्राव बंद होने के पश्चात् कुछ दिनों तक आवश्यक कामों के लिए थोड़ी देर बैठना उचित है। यदि इससे फिर से योनि से स्राव प्रारंभ हो जाय तो फिर से बैठना बंद कर देना चाहिए। *भारतवर्ष में प्रसूता स्त्री को प्रथम* दस दिन पूर्ण आराम और पश्चात् महीना भर अधिकांश आराम देने का रिवाज अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह रिवाज अत्यंत युक्तियुक्त और स्वास्थ्यवर्धक है। परंतु आधुनिक काल में भारतीय जैसे अपने अच्छे अच्छे रिवाजों और रीतियों को पश्चात्यों की नकल करने के लिए छोड़ रहे हैं, वैसे इस रिवाज के बारे में भी हुआ है और प्रसूति के दो चार दिनों के पश्चात् स्त्रियाँ उठने-बैठने, चलने-फिरने लगी हैं। यह पाश्चात्य ढंग अधिकतर लिखी-पढ़ी स्त्रियों में और प्रसव के लिए अस्पताल में जाने वाली स्त्रियों में दिखाई देता है। लिखी पढ़ी स्त्रियाँ वैसे भी कमजोर रहती हैं और पाश्चात्यों की देखा देखी इस प्रकार के चोचले करने से उनकी मिट्टी और भी पलीद हो जाती है और उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। आराम की दृष्टि से स्त्रियों के तीन विभाग कर सकते हैं। (१) जंगली और देहाती स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ मजबूत होती हैं। इन्हें आराम की आवश्यकता बहुत कम होती है। जंगली स्त्रियाँ अधिक मजबूत होती हैं, जो आखिर तक जंगल में या रास्ते में अपना काम किया करती हैं और प्रसव के समय जरा सी ओझल होकर, प्रसूति के पश्चात् बच्चे को अपनी पीठ पर बाँधकर फिर से अपने काम में लग जाती हैं। देहाती स्त्रियाँ उतनी मजबूत नहीं होतीं। ये प्रायः दस दिन तक आराम करके फिर अपने काम में लग जाती हैं। (२) मध्यमवर्ग की स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ प्रायः अनपढ़ या उनके बराबर होती हैं तथा अपने गृहकर्म में लगी रहती हैं। अतः इनमें न बहुत चोचले होते हैं, न बहुत कमजोरी होती है। क्योंकि गृहकर्म करने की आवश्यकता पड़ने के कारण उनको चोचले करने के लिए समय नहीं मिलता, तथा शरीर को काफी व्यायाम होता है। इन स्त्रियों के लिए प्रसूति के पश्चात् पहले वर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक आराम की आवश्यकता होती है। इनको एक महीने से कम आराम न मिलना चाहिए। (३) *लिखी-पढ़ी स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ पढ़ने से तथा शारीरिक श्रम न* करने से अधिक कमजोर होती हैं। इनके लिए तीन महीने के *आराम की आवश्यकता होती है। आराम की आवश्यकता* क्यों? प्रसूति के पश्चात् प्रसूता को आराम करने के दो कारण होते हैं—(१) गर्भाशय की स्थिति—गर्भ को अपने भीतर समाने के लिए सगर्भावस्था में गर्भाशय लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, समाई और भार इन सब बातों में अगर्भावस्था की अपेक्षा कई गुना बढ़ता है। प्रसूति होते ही जादू के असर से गर्भाशय अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। उसमें धीरे धीरे परिवर्तन होते हैं, जिससे वह यथापूर्व हो जाता है। इस प्रक्रिया को गर्भाशय की स्वसंकुति (Involution) कहते हैं और इसके लिए छः सप्ताह लग जाते हैं। प्रसूतावस्था की अवधि इसी स्वसंकुति पर (पीछे अध्यर्धमास की टिप्पणी देखो) निर्भर होती है।

प्रसव के पश्चात् उसी दिन गर्भाशय का तोल, लम्बाई और समाई अनुक्रम से १ सेर २ छटाँक, ८ इञ्च और ७ इञ्च होती है। दो रोज के बाद तोल पौन एक सेर, लम्बाई ७ इञ्च, समाई ६½ इञ्च होती है। एक हफ्ते के बाद तोल आधा सेर, लंबाई ५ इञ्च और समाई ४॥ इञ्च होती हैं। दो हफ्ते के बाद तोल ६ छटाँक, लम्बाई ३¾ इञ्च और समाई ३¾ होती है। ६ हफ्ते के बाद गर्भाशय के नाप और तोल पूर्ववत् हो जाते हैं। प्रसूति के पश्चात् जैसे गर्भाशय के तोल और नाप अधिक रहते हैं वैसे ही उसके बन्ध (Ligaments) गर्भवृद्धि और प्रसवप्रवाहण के कारण अत्यन्त परिश्रान्त और शिथिल होते हैं। इसके सिवा श्रोणिगुहा के भीतर कुछ शून्यता भी आ जाती है। चरक में प्रसूता के रोगों की कृच्छ्रसाध्यता के जो निम्न कारण बताये गये हैं, वे गर्भाशय तथा उसके बंधों के लिए भी लागू होते हैं—गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च। संक्षेप में प्रसूति के पश्चात् गर्भाशय स्वयं कमजोर, मोटा और भारी तथा उसके बन्धन ढीले, ऐसी स्थिति होती है। इस स्थिति में अगर प्रसूता बिस्तरे पर आराम न करे तो योनिभ्रंश (Prolapse), गर्भाशय की स्थानापवृत्ति इत्यादि अनेक गर्भाशय के विकार उत्पन्न होते हैं और गर्भाशय की स्वसंवृति के लिए अधिक समय लगकर वह ठीक भी नहीं होती। योनिव्यापत्तियों के कारणों में मिथ्याचार एक कारण बताया गया है। इस मिथ्याचार में प्रसूति के पश्चात् आराम न करना, इसका समावेश होता है। (२) शरीर की स्थिति—प्रसव के पश्चात् प्रसूता की स्थिति उपर्युक्त चरक के वचन के अनुसार अत्यन्त दुर्बल, शिथिल और शून्य होती है। दुर्बलता की चिकित्सा के जो अनेक उपाय होते हैं, उनमें आराम (Rest in bed एक प्रधान उपाय है। इस उपाय को छोड़कर अन्य उपायों को अंगीकार करने से उनसे पूर्ण और शीघ्र लाभ नहीं मिल सकता। इसलिए प्रसूति के पश्चात् दो-तीन महीनों तक आराम करने की भारतीयों की पद्धति प्रशस्त और स्वास्थ्यवर्धक है। उसी के अनुसार प्रसूता को रहना चाहिए। पाश्चात्त्य देशों में भी प्रसूता को आराम देने की प्राचीन पद्धति का महत्त्व जँचने लगा है और वहाँ के प्रसवशास्त्रज्ञ प्रसूता को आराम देने की पद्धति के पक्ष में हो गये हैं—Straining and muscular effort with a bulky uterus and a relaxed outlet predispose to prolapse, and hence it is more often met with among those who resume their household duties or perhaps go out to daily work after ten days in bed and a few days convalescence than in those who have a longer rest in bed followed by a further period in which fatigue and strain are avoided. There is, therefore, much to be said for the old fashioned plan of waiting till the uterus has diminished in size and weight, and has sunk well down into the pelvis, and its muscular and ligamentary supports have recovered from the stretching and relaxation of pregnancy and labour before permitting the assumption of the erect position. *Ten Teachers' Midwifery.*

(२) आहार—प्रसूता स्त्री का आहार रुचिकर, सादा, हलका, पौष्टिक और पर्याप्त होना चाहिए। प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज उसको तरल आहार देना ही उचित है क्योंकि उस समय उसकी पचनशक्ति कुछ दुर्बल होती है। इसके साथ साथ इस बात को भी ध्यान में रक्खे कि एक समय अधिक मात्रा में देने की अपेक्षा अल्पमात्रा में अधिक समय उसको भोजन दिया जाय। खाद्यद्रव्यों में प्रोभूजिनों की अधिकता होनी चाहिए क्योंकि शारीरिक धातुओं की ह्रास की पूर्ति के लिए वे आवश्यक होते हैं। प्रोभूजिनों के अलावा जीवनीय द्रव्य और खटिक (चूना Calcium) की भी आवश्यकता होती है। पिष्टमय (Carbohydrates) और चरबीमय पदार्थ अधिक न होने चाहिएं। इनके सेवन से पचनक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है तथा आध्मान और मलावरोध उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी वर्ज्य करने चाहिए। इस दृष्टि से प्रसूता को दूध, चाय, काफी तथा दूध के अन्य पदार्थ, माखन, यवागू, काँजी, हाथकुटे चावलों का भात, संपूर्ण गेहूँ की रोटी, हलुआ, मधुररस के फल (जैसे, मीठा, नींबू, मोसंबा अनार इत्यादि) ये पदार्थ अधिक मात्रा में विशेष करके दूध देना फायदेमन्द होता है। ताजी डबल रोटी, मिल (Mill) के साफ किये हुए (Polished) चावल, दाल, आलू, गोभी, कच्ची साग-सब्जी, मद्य इनको वर्ज्य करना चाहिए। मांसाहार के संबंध में इतना कहना पर्याप्त है कि प्रारंभ में अण्डा दिया जा सकता है, परंतु मांस न देना ही प्रशस्त है। आगे स्वास्थ्य ठीक होने पर मांस दिया जा सकता है। पीने के लिए प्रसूता को पर्याप्त मात्रा में पानी देना उचित है। रक्तस्राव तथा प्रसव प्रवाहणादि के कारण उसको पिपासा बहुत होती है। इसके लिए उबालकर ठंडा किया हुआ जल देना उचित है। सोडा वाटर भी दे सकते हैं। इन सर्वसाधारण बातों के अलावा आहार में कुलसात्म्य और देश का भी विचार करना पड़ता है—द्वादशरात्रात्परं जांगलरसादिभिश्च क्रमादाप्याययेदग्निबलादीन्यपेक्ष्य। क्वथितशीतञ्च तोयं पाययेत्। तथा जीवनीय-बृंहणीय-मधुर-वातहरसिद्धैरन्नपानैश्च हृद्यैरुपाचरेत्। एवं पुनर्नवीभवति। (अष्टांगसंग्रह, शारीर ३.) । वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः। रक्तमांसस्य निर्यूहं कन्दमूलफलानि च॥ कुलसात्म्यं च बुध्येत यस्मिन् यस्मिन् यथा यथा। औचित्यात् कुलसात्म्यस्य तत्तथैवानुवर्तते॥ अतो नैकान्तिकत्वाच्च सूतिकोपक्रमस्य च। देशं च जातिसात्म्यं च संप्रधार्य प्रयोजयेत्॥ (काश्यपसंहिता, सूतिकोपक्रमणीय)। आहार के संबंध में आगे १९वें श्लोक के वक्तव्य में अपतर्पण की टिप्पणी में विचार किया गया है, उसको भी देखो।

(३) मलमूत्र-विसर्जन—मलाशय और मूत्राशय का आधार कम होने से, उदरगुहा की रिक्तावस्था से, उदर की पेशियों की शिथिलता से, प्रसूता की कमजोरी से, मूत्रमार्ग की सूजन से या पीडा के कारण मूत्रमार्ग बन्द हो जाने से प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज तक प्रसूता स्वयं मल-मूत्र का त्याग करने में असमर्थ हो जाती हैं। इसलिए आयुर्वेद में मूत्रसंग, मलावरोध, आध्मान इत्यादि प्रसूता

के रोग माने गये हैं—योनिभ्रंश घना चैव विभिन्ना मूत्रसंगिनी। आनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि ॥ (काश्यपसंहिता, सुतिकोपक्रमणीय)। प्रसूति के कुछ पूर्व यदि स्त्री को विरेचन दिया गया हो तो प्रसूति के पश्चात् एक दो दिन पाखाना न होने से कोई हरजा नहीं है। उसके बाद न हो तो एरण्डी का तैल कोष्ठशुद्धि के लिए देना प्रशस्त है। रेवदचीनी, म्यागसल्फ या अन्य क्षारीय विरेचक माता के दूध में कुछ खराबी पैदा करते हैं, इसलिए उनको जहाँ तक हो सके, न देना चाहिए। एरण्डी के तैल की मात्रा कुछ अधिक (२॥ तोला) देनी चाहिए। उसके पश्चात् प्रत्येक दो दो तीन तीन दिन के पश्चात् कायशुद्धि रखनी चाहिए। यदि विरेचन से पाखाना न हो तो बस्ति भी दी जा सकती है, परन्तु जहाँ तक हो सके बस्ति न देना ही उचित है क्योंकि उससे बवासीर (अर्श) बढ़ने की संभावना होती है। बारह घंटे में कम से कम एक बार स्त्री को मूत्रत्याग करना चाहिए। इससे अधिक काल बस्ति में मूत्र रहने से बस्ति विस्फारित और निर्बल होने का डर रहता है। इसलिए छः सात घंटे में अगर स्त्री ने मूत्रत्याग न किया हो तो भग पर गरम सेक करना चाहिए और बस्तिप्रदेश पर हाथ से थोड़ा दबाव डालना चाहिए। इससे प्रायः स्त्री मूत्रत्याग करने में समर्थ हो जाती है। यदि आवश्यक हो तो उस समय उसको बैठाने से मदद होती है। यदि इन उपायों से काम न हो जाय और बारह घंटे तक मूत्र का त्याग न हो सके तो सलाई के द्वारा मूत्र को निकालना चाहिए। सलाई डालते समय योनि की सफाई की ओर बहुत ध्यान देना चाहिए। (४) मानसिक आराम और निद्रा—शारीरिक आराम के साथ प्रसूता को मानसिक आराम भी मिलना आवश्यक होता है और मानसिक आराम ठीक न मिलने से शारीरिक आराम मिलने पर भी उससे पूरा फायदा नहीं होता। प्रसूता को क्रोध, चिन्ता इत्यादि मानसिक विकारों से दूर रहना चाहिए तथा ऐसे काम न करने चाहिएँ, जिससे उसे गुस्सा, रंज और फिक्र पैदा हो। इन मानसिक विकारों से उसका स्वास्थ्य खराब होकर दूध भी खराब (आगे ३२वाँ सूत्र देखो) हो जाता है और बालक को भी तकलीफ होती है। प्रसूता को पर्याप्त निद्रा भी मिलनी चाहिए और प्रायः मिलती भी है। निद्रानाश के कारण—जैसे, कमरे के पास शोर या भीड़ (पीछे चौथे अध्याय का ११वाँ श्लोक देखो—) भी न होने चाहिए। (५) मैथुन—प्रसूतावस्था में मैथुन वर्ज्य करना चाहिए। मैथुन वर्ज्य करने के तीन कारण हैं—(१) प्रसूति के कारण अपत्यमार्ग अत्यंत कमजोर और क्षतयुक्त हो जाता है। मैथुन के समय संपूर्ण अपत्यमार्ग पर काफी दबाव और घर्षण होता है। इससे अपत्यमार्ग के फिर से क्षतयुक्त होने का, उससे रक्तस्राव होने का डर रहता है। (२) प्रसव के कारण अपत्यमार्ग की कोमल कला क्षतयुक्त और कमजोर होती है, जिसके कारण उसके ऊपर विकारी जीवाणुओं का अधिकार जल्दी जम सकता है। जननेन्द्रिय के बाह्य भाग हमेशा ही गन्दे रहते हैं और मैथुन के कारण बाहर की गन्दगी और उसके साथ विकारी जीवाणु भीतर पहुँचकर रोग उत्पन्न कर सकते हैं। (३) गर्भाधान—मैथुन से गर्भधारणा होने का डर रहता है।

जो पुरुष इसमें उतावले रहते हैं, उनका यह गुप्त कर्म कई बार साल भर के भीतर दूसरी बार स्त्री प्रसूत होने से प्रकट हो जाता है। जल्दी जल्दी बच्चे होने से पहले बालक का स्वास्थ्य खराब दूध मिलने से खराब होता है और होने वाले बालक का स्वास्थ्य माता की कमजोरी से अच्छा नहीं हो सकता और दोनों के भार से माता का स्वास्थ्य और भी खराब हो जाता है। पुनर्गर्भधारण करने के लिए स्त्री का स्वास्थ्य पूर्ववत् हो जाना चाहिए। यदि प्रसव में कोई गड़बड़ न हुई हो तथा पश्चात् भी कोई तकलीफ न हुई हो तो उचित आहार-विहार से स्त्री का पूर्व स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए छः महीनों की अवधि बताई गई है—षड्भिर्मासैः प्रसूताया धातवो रुधिरादयः। प्रत्यागच्छन्ति रोगाया यथास्वं परिसंस्थितिम्॥ (काश्यपसंहिता, सूतिकोपक्रमणीय अध्याय)। अर्थात् इसके पहले मैथुन करने से अगर गर्भधारणा हो जाय तो होने वाले बालक का स्वास्थ्य खराब होगा। अब वर्तमान बालक की दृष्टि से विचार किया जाय तो जब तक वह माँ का दूध पी रहा है तब तक भी गर्भधारणा होना ठीक नहीं है क्योंकि गर्भधारणा से माता का दूध खराब हो जाता है और उससे पारिगर्भिक नामक रोग होता है—प्रदुष्टधातोर्गर्भिण्याः स्तन्य रोगकरः शिशोः। (अष्टांगहृदय)। न गर्भिण्याः पिबेत् स्तन्यं पारिगर्भिककृद्धि तत्। (अष्टांगसंग्रह)। पाश्चात्य चिकित्सक भी मानते हैं कि गर्भवती स्त्री का दूध बालक के लिए विकारकारी होता है। बालक को माता के दूध की तब तक आवश्यकता होती है, जब तक वह अन्नसेवन नहीं करता। अन्नसेवन बालक के लिए तब हितकर हो सकता है, जब बालक के दांत निकल आते हैं। यद्यपि छठे महीने में अन्नप्राशनविधि की जाती है, तथापि बालक को आहार की दृष्टि से अन्न देने का काल एक वर्ष का है। इसका विवरण आगे ३२ वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। अर्थात् बालक के अन्नसेवन करने के पश्चात् अगर माता गर्भवती हो जाय तो बालक को किसी प्रकार की तकलीफ नहीं हो सकती। धर्मशास्त्र में बालक के दन्तजनन के पश्चात् मैथुन के लिए आज्ञा दी गई है—षण्मासान् कामयेन्मर्त्यो गर्भिणीं स्त्रियमेव हि। आदन्तजननादूर्ध्वमेव धर्मो न हीयते। (अत्रिस्मृति)। (इस विषय का कुछ विवरण पीछे २ अध्याय के ३१ वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है, उसे देखो) बालकों के दाँत दो से ढाई साल में सम्पूर्ण निकल आते हैं। तब तक मैथुन न किया जाय तो उत्तम पक्ष है, परन्तु इसमें अव्यावहारिकता है। दाँत निकल आने का प्रारम्भिक काल ६–९ महीने का होता है। आयुर्वेद में आठवाँ महीना प्रशस्त माना गया है—यथाऽष्टमे मासि सर्वगुणसम्पन्ना भवन्ति। (काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिक अध्याय)। अर्थात् मैथुन करने के लिए नीचे की मर्यादा आठ महीने की मान सकते हैं। इसलिए मैथुनवर्जन का काल प्रसूति के पश्चात् आठ महीने का मानने में कोई आपत्ति नहीं है। स्तनदशन काल की आयु एक वर्ष की भी मानी जाती है। और उसके पश्चात् बालक का स्तनत्याग करके उसको अन्न दिया जाता है—वर्षेण स्तनदशन क्रमशोऽपनयेत् स्तनात्। (अष्टांगसंग्रह) इसकी टीका में इन्दु लिखते हैं—अथ वर्षादनन्तरं स्तनदर्शनं

बालं क्रमशः स्तनादपनयेत्। इस आधार पर बालक एक वर्ष का होने के बाद मैथुन करना चाहिए। संक्षेप में प्रसवोत्तर मैथुन के सम्बन्ध में निम्न नियम मार्गदर्शन के लिए होते हैं—प्रथम तीन महीनों में मैथुन करना निंद्य और गर्ह्य है। प्रथम छः से आठ महीने के बाद करना कनिष्ठ पक्ष है। एक साल के बाद करना मध्यम पक्ष है और दो साल के बाद करना उत्तम पक्ष है। (६) अभ्यंग और आयास (Massage and exercise)—व्यायाम या शरीर की हलचल स्वास्थ्य चिरन्तन करने के लिए एक आवश्यक कर्म है। प्रसूता स्त्री को भी उसकी आवश्यकता होती है। परन्तु उसकी शरीर की स्थिति देखकर उसके लिए व्यायाम या शारीरिक परिश्रम अहितकर होते हैं। प्रारम्भिक कुछ दिनों तक उसको पूर्ण आराम करना चाहिए और उसके बाद भी दैनिक आवश्यक कर्मों के अलावा अधिक थकावट उत्पन्न करने वाले कर्म न करने चाहिएँ, परन्तु विस्तरे पर लेटे रहने से यद्यपि शरीर को आराम मिलता है तथापि केवल आराम करने से शरीर का स्वास्थ्य ठीक नहीं हो सकता। इसलिए कोई मध्यम मार्ग निकालना चाहिए, जिसमें आराम और व्यायाम के गुण हों परन्तु दोष न हों। जैसे, गरम या ठण्डे पानी में निचोड़े हुए तौलिया से शरीर पोंछने पर स्नान न करते हुए स्नान का फल मिलता है, अथवा मलखांब करने पर दूसरे कुश्तीवाज के साथ कुश्ती न लड़ते हुए कुश्ती लड़ने का फल मिलता है, वैसे ही विस्तरे पर पड़े रहकर दूसरे से अभ्यंग या मालिश करवाने से व्यायाम न करते हुए व्यायाम का फल मिल जाता है। भारतवर्ष में प्रसूता को बलातैल या अन्य ओषधियों के तैलों को लगाकर मालिश कराने की पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल से जारी है—जीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकावगाहैरुपाचरेत्। (अष्टांगसंग्रह)। स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेत्। (चिकित्सा १५)। पाश्चात्य देशों में भी मालिश का महत्त्व काफी बढ़ गया है और वहाँ के प्रसूतिशास्त्रज्ञ प्रसूता के लिए भी उसका प्रयोग हितकर मानते हैं—Gentle massage of the skin is useful also in childbed. Light massage of the back and extremities by some one especially trained for this is in many cases to be especially recommended. In general, one should be cautious with active exertion in the first days, and, where there is good assistance, devote oneself more to the passive movements and light massage, but never too great exertion. *Ideal Birth.* (७) स्नान, अवगाह, परिषेक—प्रतिदिन तैल की मालिश करने के पश्चात् एक या दो वार गरम पानी से स्नान करना चाहिए। स्नान के समय संपूर्ण शरीर की सफाई के साथ बाह्य जननेन्द्रिय की सफाई के ऊपर भी बहुत ध्यान देना चाहिए। जननेन्द्रिय का बाह्य भाग खराव होने से वह खरावी भीतर पहुँच जाती है। स्नान के पश्चात् तथा अन्य समय में भी प्रसूता को हवा के झोके झपाटे से तथा सर्दी से बचकर रहना चाहिए। शरीर कमजोर होने के कारण सर्दी से बीमार होने का डर रहता है। इसके संबंध का कुछ विवरण पीछे चौथे सूत्र के वक्तव्य में सूतिकागार के वर्णन में किया गया है। (८) आगन्तुक परिचर्या—इसमें जननेन्द्रिय का ही अधिक संबंध आता है। इसका विवरण आगे २० वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में किया गया है। संक्षेप में प्रसूता की परिचर्या और स्वस्थवृत्त—प्रसूता हितमाहारं विहारञ्च समाचरेत्। व्यायामं मैथुनं क्रोधं शीतसेवां विवर्जयेत्॥ सर्वतः परिशुद्धा स्यात् स्निग्धपथ्याल्पभोजना। स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेन्मासमतन्द्रिता॥ व्युपद्रवां विशुद्धां च विज्ञाय बलवर्णिनीम्। ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं परिहारयेत्॥ (भावप्रकाश)। ये ही श्लोक थोड़े भेद से सुश्रुत के मूढगर्भचिकित्सित अध्याय में भी मिलते हैं। अब इसके बाद उक्त आहार-विहारादि का उल्लङ्घन करने से क्या होता है, उसको श्लोकद्वय से संक्षेप में बताते हैं—

भवतश्चात्र—

मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते।
स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात्॥१८॥
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा।
परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात्॥ १९॥

(सूतिका रोग—) मिथ्याचार और अत्यपतर्पण के कारण सूतिका की जो (कोई) व्याधि उत्पन्न होती है, वह कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य रहती है॥ १८॥ इसलिए देश और काल को देखकर व्याधिसात्म्य उपायों द्वारा उसकी चिकित्सा करे, जिससे वह मृत्यु को प्राप्त न हो जाय॥ १९॥

वक्तव्य—प्रथम श्लोक में सूतिका रोग उत्पन्न होने के कारण दिये हैं और दूसरे श्लोक में उसकी चिकित्सा का सूत्र बताया है। सूतिका रोग उत्पन्न होने के तीन कारण होते हैं, जिनमें से दो का उल्लेख यहाँ पर किया गया है और तीसरा चरक और अष्टांगसंग्रह में दिया है। काश्यपसंहिता में सूतिका रोगों में प्रधान ज्वर बताया गया है और उसके कारण दिये हैं—सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कष्टतमो मतः। वेगसंधारणाद्रौक्ष्याद् व्यायामादत्यसृक्क्षयात्। शोकादत्यग्निसंतापात् कट्वम्लोष्णातिसेवनात्॥ दिवास्वप्नात् पुरोवातादगुर्वभिष्यन्दिभोजनात्। स्तन्यागमाद् ग्रहावाधादजीर्णाद्दुष्प्रजायनात्॥ ज्वरः सजायते नार्याः षड्विधो हेतुभेदतः॥ (सूतिकोपक्रमणीयाध्याय)। ये कारण भी इन तीन कारणों में समाविष्ट होते हैं। इन तीन कारणों में प्रथम कारण सहायक (Predisposing) है और शेष दो एक प्रधान या उत्पादक (Precipitating) हैं। (१) शरीरदौर्बल्य—यह प्रथम सहायक कारण है, जिसका उल्लेख यहाँ पर नहीं किया गया है, परंतु चरक में किया है और कृच्छ्रसाध्यता का वही कारण बताया गया है—तस्यास्तु खलु यो व्याधिरुत्पद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च॥ इसके दो परिणाम होते हैं। प्रथम परिणाम प्राणशक्ति तथा रोगापहरण सामर्थ्य घटने में होता है, जिससे जरा सा कारण होने पर स्त्री रोगों की शिकार हो जाती है। दूसरा परिणाम कृमियों या आधुनिक परिभाषा के अनुसार विकारी जीवाणुओं के प्रवेश में हो सकता है। अगर सफाई की ओर ध्यान न देने से उनका अवस्थान जननेन्द्रिय के पास हो जाय। (२) अत्यपतर्पण—लंघन या मात्रा से बहुत कम आहार करना। डल्हणाचार्य तथा हाराणचन्द्र अत्यपतर्पण रोग की असाध्यता का

कारण मानते हैं—अल्पापतर्पणादिति असाध्यमवते हि । (डल्हण)। अल्पापतर्पणादसाध्यत्वं च । इनका कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसूता के रोग मिथ्याचार से उत्पन्न होते हैं, ये कृच्छ्रसाध्य होते हैं और अल्पापतर्पण से वे असाध्य हो जाते हैं। यह कथन एक दृष्टि से ठीक है, परन्तु अल्पापतर्पण का संबंध रोगोत्पत्ति के साथ भी लगाया जा सकता है। प्रसूति के पश्चात् धातुक्षीणता की पूर्ति करके स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए प्रसूता को पर्याप्त पौष्टिक आहार मिलना चाहिए। प्रसूतावस्था कोई बीमारी नहीं है कि उसको लंघन दिया जाय, या अल्पमात्रा में आहार दिया जाय। प्रसूतावस्था नौ महीने बालक का बोझ उठाने के कारण तथा प्रसव के कठिन परिश्रम के कारण उत्पन्न हुई स्वस्थ मनुष्य की परिश्रान्तावस्था है, जिसमें थकावट दूर करने के लिए स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा अधिक पौष्टिक आहार की अपेक्षा होती है। केवल फर्क इतना ही होता है कि स्वस्थ मनुष्य का पचनसंस्थान स्वस्थ होता है और प्रसूता का कुछ कमजोर तथा थका हुआ रहता है। इस दृष्टि से प्रसूता को प्रारंभिक कुछ दिनों तक हल्का और सुपाच्य आहार देना चाहिए, परन्तु कम मात्रा में देने का कोई कारण नहीं है। यदि आहार की राशि शरीरधातुक्षीणता की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त न हो तो गर्भधारणपोषण तथा प्रसूति से क्षीण हुआ शरीर और भी क्षीण होगा और क्षीण हुए शरीर पर मिथ्याचार से कोई भी रोग जल्दी अपना अधिकार जमा लेगा। प्रसूता को बीमार समझकर उसको पर्याप्त मात्रा में आहार न देने का रिवाज या परम्परा उस समय में होगी, उसको ध्यान में रखकर यह शब्द यहाँ पर लिखा गया है, ऐसा मालूम होता है। यूरोप में इस प्रकार की अपतर्पण की पद्धति थी, इसका उल्लेख जेलेट अपनी प्रसूतितन्त्र की पुस्तक में करते हैं—The older notions that a low d et was required at this time have, in the words of a recent writer, been consigned to the same limboo of defunct prescriptions as the 'starve a fever' principle. A puerperal woman, more than other peop e, requires the maximum amount of nourishment which she can digest without imposing too great a tax on her digestive organs इस उद्धरण से यह स्पष्ट होगा कि प्रसूता आहार की दृष्टि से संतर्पणीय व्यक्ति है, अर्थात् प्रसूता को दूध, घी, शर्करा, मांसरस इत्यादि पौष्टिक आहार्य द्रव्यों से पुष्ट करना चाहिए। पाश्चात्य वचन के आधार पर बनाया हुआ यह निराधार मत नहीं, परंतु आयुर्वेदसम्मत यह मत है। द्विविधोपक्रमणीय अध्याय (अष्टांगहृदय, सूत्र १४ और अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४) में वाग्भटाचार्य लिखते हैं कि चिकित्सा संप्रदाय कितने भी क्यों न हों, वे दो भागों में विभक्त किये जाते हैं—संतर्पण चिकित्साविभाग और अपतर्पण चिकित्साविभाग। ये दो विभाग 'बृंहण चिकित्सा' और 'लंघन चिकित्सा' कहलाते हैं। प्रसूता बृंहणचिकित्सा योग्य होती है—उपक्रमस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः । एकः संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥ बृंहणो लंघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ । बृंहणं यद् बृहत्त्वाय लंघनं लाघवाय यत् ॥ बृंहयेद् व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान् । गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मे परानपि ॥ मांसक्षीरसिताऽसर्पिर्मधुरस्निग्धबस्तिभिः । स्वप्नशय्यासुखाभ्यङ्गस्नाननिर्वृतिहर्षणैः ॥ इससे यह स्पष्ट होगा कि जहाँ पर संतर्पण की आवश्यकता है, वहाँ पर अपतर्पण कराने से वह रोगोत्पत्ति का कारण हो जाता है। जेलेट अपने प्रसूतितन्त्र में स्पष्ट लिखते हैं—It is probable that the custom still observed by some physicians of keeping parturient patients on unnecessarily low diet is responsible for occasionally bringing about a susceptibility to infection *Jellet's Midwifery* (२) मिथ्याचार—शरीर और कपड़ों की सफाई न करना, उदर पर पट्ट न बाँधना (आगे के सूत्र का वक्तव्य देखो), शीत से शरीर की रक्षा न करना, प्रसूति के पश्चात् उचित काल तक बिस्तरे पर आराम न करना और प्रारम्भ से ही घूमना फिरना, मैथुन इत्यादि। संक्षेप में प्रसूता के लिए जो स्वस्थवृत्त बतलाया गया है, उसके विरुद्ध आचार। यो व्याधि - य: कोऽपि व्याधि । सूतिका को मिथ्योपचार से अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। रोग कोई भी हो, प्रसूता क्षीणमांसबल होने के कारण रोग दारुण और कृच्छ्रसाध्य होते हैं। काश्यपसंहिता में सूतिका के निम्न चौंसठ रोग बतलाये गये हैं—योनिभ्रंशः स्तनं चैव विभ्रंशो मूत्रसङ्गिनी । सशोफा सा विरेचो चैव प्रसुप्ता वेदनावती ॥ पार्श्वपृष्ठकटीशूलं हृदि ग्रहः विसूचिका । प्लीहा महोदरत्वं च शाखावातोऽङ्गमर्दनं ॥ आक्षेपको हनुस्तम्भो मन्यास्तम्भोऽपतानकः । मक्कल्लो विद्रधिः शोफ प्रलापोन्मादकामला ॥ दौर्बल्यं भ्रमतो कार्श्यं भक्तद्वेषोऽग्निपाचनः । ज्वरातिसारौ वैसर्पच्छर्दिस्तृष्णा प्रवाहिका ॥ हिक्का श्वासश्च कासश्च पाण्डुर्गुल्मश्च रक्तकः । आनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि । मुखरोगोऽक्षिरोगश्च प्रतिश्यायगलग्रहौ । राजयक्ष्माऽर्दितं कम्पः कर्णस्राव प्रजागरः ॥ उष्णवातो महावाधस्तनरोगोऽथ रोहिणी । वाताष्ठीला वातगुल्मरक्तपित्तविचर्चिका ॥ इत्येते सूतिकारोगाश्चतुःषष्टिरुदाहृता ॥ (सूतिकोपक्रमणीयाध्याय) । इनमें से कुछ रोग प्रसव के समय योनि तथा उसके आस-पास के अंगों पर जो तनाव और दबाव पड़ता है उसीसे होते हैं—जैसे, मलमूत्र संग, योनिक्षत या विदार इत्यादि। कुछ रोग पहले से ही स्त्री में गुप्त या प्रकट रहते हैं और प्रसूति के पश्चात् जोर पकड़ते हैं। जैसे, राजयक्ष्मा, उन्माद इत्यादि। इनमें सब से महत्त्व का रोग है ज्वर—सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कष्टतमो मतः । (काश्यपसंहिता, सूतिकोपक्रमणीय)। इसको सूतिकाज्वर (Puerperal fever) कहते हैं। अतः इसी का यहाँ पर विचार किया जायगा।

व्याख्या—प्रसूति के पश्चात् स्त्री को मसूरिका, विषमज्वर, कालाजार, इन्फ्लुएन्जा, न्युमोनिया, जुकाम, श्लीपद, राजयक्ष्मा इत्यादि अनेक रोगों के होने से ज्वर आ सकता है, परन्तु इनको प्रसूतिज्वर नहीं कह सकते हैं। ये ज्वर जैसे स्त्री को होते हैं, वैसे पुरुष को भी होते हैं और स्त्री को भी जैसे प्रसवोत्तर हो सकते हैं वैसे प्रसवावस्था को छोड़कर बचपन से वृद्धावस्था तक सभी अवस्थाओं में हो सकते हैं। अर्थात् ये ज्वर प्रसूतावस्था विशिष्ट नहीं हैं। प्रसूतिज्वर प्रसूतावस्था विशिष्ट ज्वर है, जो इस अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था में नहीं होता,

तथा जो प्रसूतावस्था में प्रसव के कारण गर्भाशय और अपत्यमार्ग में उत्पन्न हुई स्वाभाविक विशिष्ट स्थिति की विकृति से उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से प्रसूतिज्वर को 'प्रसूतयोनिदोषज ज्वर' ऐसा संप्राप्तिदर्शक नाम दे सकते हैं। अँग्रेजी में इसके लिए कई संप्राप्तिदर्शक नाम प्रचलित हैं। जैसे, Puerperal sepsis, puerperal infection, puerperal toxaemia, P. septicaemia, surgical fever of childbed etc. प्रधान कारण—प्रसव के कारण गर्भाशय तथा अपत्यमार्ग व्रणयुक्त और कमजोर हो जाता है। ऐसे स्थान में यदि पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश हो जाय तो वे जल्दी व्रणयुक्त स्थानों पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और गंभीर विकृति उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण ज्वर उत्पन्न होता है। विकार उत्पन्न करने में निम्न जीवाणु होते हैं—मालागोलाणु (Streptococci), स्तवकगोलाणु (Staphylococci), मलाशयी दण्डाणु (B. coli), फुफ्फुसगोलाणु (Pneumococci), गुह्यगोलाणु (Gonococci), वातकोथ दण्डाणु (B. welchii) इत्यादि। इनमें मालागोलाणु विशेष महत्त्व का और अधिकता से मिलने वाला होता है। ये जीवाणु कष्टप्रसूति के समय प्रसव कराने के लिए प्रयुक्त हुए गन्दे हाथों से या औजारों से भीतर प्रविष्ट होते हैं। अथवा प्रसूति के पश्चात् योनिद्वार की सफाई ठीक न रखने से तथा योनिद्वार के साथ सम्बन्ध रखने वाले कपड़े गन्दे प्रयुक्त करने से भीतर प्रविष्ट होते हैं। सहायक कारण—कष्टप्रसूति जहाँ पर यन्त्रशस्त्रों का उपयोग किया गया हो, विलम्बी प्रसूति, प्रसवजन्य अधिक रक्तस्राव, अपतर्पण (पीछे अतर्पण देखो), चिन्ता दुःख इत्यादि मानसिक विकार, प्रसवशोणित का स्राव ठीक न होना, अपरा और जरायु का कुछ अंश गर्भाशय में शेष रहना, मलावरोध, अकालप्रसूति, जैसे गर्भपात या गर्भस्राव इत्यादि—स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः। दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः। अपि सम्यक्प्रजातानामसृक्कायादनिःसृतम्। रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कल्लसंज्ञितम्॥ (निदान ९)। शारीरिक विकृतियाँ—व्यावहारिक दृष्टि से शारीरिक विकृतियों के तीन विभाग किये जाते हैं—(१) स्थानिक—इसमें जीवाणु योनिगर्भाशय में ही सीमित रहते हैं। इसमें स्थानिक लक्षण अधिक और सार्वदैहिक सौम्य रहते हैं। स्थानिक विकृति में गर्भाशय का वह भाग, जहाँ पर अपरा लगी रहती है, अधिक दूषित होता है। इसके सिवा योनि में या योनिद्वार में कहीं विदार या व्रण हुए हों तो वहाँ पर भी विकृति होती है। (२) समीपवर्ती विकृतियाँ (Localsecondary lesions)—इसमें गर्भाशय तथा योनिसमीपवर्ती अङ्गों में विकृति समीपता के कारण सिराओं, रसायनियों और बीजवाहिनियों द्वारा फैलती है, जिसके परिणाम स्वरूप में सिराशोथ (Phlebitis), रसायनीशोथ (Lymphangitis), बीजवाहिनीशोथ (Salpingitis), बीजग्रन्थिशोथ (oophoritis), श्रोणिगुहाशोथ (Pelvic cellulitis), मूत्राशयशोथ (Cystitis) और उदरावरणशोथ (Peritonitis) इत्यादि उपद्रव होते हैं। (३) सार्वदैहिक और दूरवर्ती विकृतियाँ—ये विकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—(अ) विषमय (Toxaemic)—इनमें स्थानिक विकृति से विष रक्त के साथ संपूर्ण शरीर में संचार करता है। विष का परिणाम अधिकतर यकृत्, प्लीहा, हृदय और मस्तिष्क पर होता है। प्रत्येक स्थानिक विकृति के साथ, चाहे सौम्य हो, चाहे तीव्र हो, न्यूनाधिक विषमयता हुआ करती है। (आ) जीवाणुमय (Septicaemic) इसमें स्थानिक विकृति के जीवाणु रक्त और लस के साथ संपूर्ण शरीर में संचार करते हैं और कभी कभी स्थान स्थान पर अवस्थान करते हैं। (इ) अन्तःशल्यमय (Embolic)—कभी कभी गर्भाशय समीपवर्ती सिराओं में जमा हुआ रक्त हलचल या दबाव के कारण वहाँ से छोटे छोटे कणों के रूप में रक्त के साथ संपूर्ण शरीर में फैलता है और स्थान स्थान पर अन्तःशल्य (Embolus) के रूप में अवस्थित होता है। जमे हुए रक्त के साथ जीवाणु भी रहते हैं। द्वितीय और तृतीय विकृति के अनुसार जीवाणु या जमा हुआ रक्त अधिकतर फुफ्फुस, हृदय, हृदयावरण, संधियाँ, मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण इत्यादि में अवस्थान करते हैं। उपसर्ग सौम्य और प्रसूता का स्वास्थ्य अच्छा होने पर विकृति प्रायः स्थानिक रहती है और उपसर्ग तीव्र और प्रसूता का स्वास्थ्य खराब होने पर विकृति समीपवर्ती या दूरवर्ती अंगों में फैलकर रोग गंभीर हो जाता है। लक्षण—विकृति के समान लक्षणों के स्थानिक और सार्वदैहिक विभाग किये जाते हैं। स्थानिक लक्षण—इनमें योनिगर्भाशय के लक्षणों का समावेश होता है। योनि में सूजन, जलन और पीड़ा होती है। गर्भाशय आकार में बड़ा रहता है, टटोलने पर पीड़ायुक्त और पिलपिला मालूम होता है। विकृति समीपवर्ती भागों में फैलने पर वे भाग कठिन और पीड़ायुक्त होते हैं। जब गर्भाशय में अपरा और जरायु के कुछ अंश बाकी रहते हैं, तब जीवाणुओं के उपसर्ग से उनके सड़ने के कारण गर्भाशय एक विद्रधि सा हो जाता है। इसी का उल्लेख निदान में मक्कल्लविद्रधि (Putrid endometritis) करके और काश्यपसंहिता में विद्रधि करके किया गया है। प्रसवशोणित के ऊपर स्थानिक विकृति का परिणाम दिखाई देता है। इसकी राशि कम या अधिक होती है, या यह बिलकुल बंद हो जाता है, उसका रंग भूरा या काला सा होता है, उसमें गाढ़ापन आ जाता है तथा उससे दुर्गंध आने लगती है। उदर कुछ बड़ा रहता है। यदि उपसर्ग प्रसव के समय पहुँच गया हो तो ये लक्षण दूसरे या तीसरे दिन से प्रारंभ होते हैं। यदि प्रसव के बाद उपसर्ग हुआ हो तो देर में प्रारंभ होते—हैं। सार्वदैहिक लक्षण—इनमें ज्वर महत्त्व का और प्रधान लक्षण है। सौम्य रोग में ज्वर दूसरे या तीसरे सप्ताह में आ सकता है और तीव्र रोग में प्रसूति के दिन भी आ जाता है। प्रसूति के पश्चात् ज्वर आने के दिन से रोग की तीव्रातीव्रता का कुछ अनुमान किया जा सकता है। ज्वर एकाएक या शनैः शनैः चढ़ता है। जब एकाएक चढ़ता है, तब ज्वर के पूर्व सर्दी या जाड़ा मालूम होता है। रोग की स्थिति के अनुसार ज्वर १०१°–१०५ शतक चढ़ता है। जब रोग शरीर के अन्य अंगों में फैलता है, तब रोगी को बार बार सर्दी लगती (प्रतिशीतता Repeated rigors) है। तीव्र रोग में फुफ्फुसों में विकृति होने से कास, श्वास मस्तिष्क में विकृति होने से चित्तभ्रम, प्रलाप,

बेहोशी; त्वचा पर विविध प्रकार के और सरक्त विस्फोट, कामला, पक्षाघात, एकांगाघात, अर्दित इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर प्रसूता की मृत्यु होती है। जब गर्भाशय और योनि में अपतानक के जीवाणु का उपसर्ग होता है तब अपतानक (Tetanus), हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ ये लक्षण होते हैं। कुछ स्त्रियों में उपसर्ग का परिणाम उन्माद में होता है। इसको प्रसवोन्माद (Puerperal insanity) कहते हैं। संक्षेप में, काश्यपसंहिता में प्रसूता के जो चौसठ रोग बताये गये हैं, वे वास्तव में स्वतन्त्र रोग न होकर योनिगर्भाशय की दुष्टि होने के कारण उत्पन्न हुए विविध लक्षण हैं।

देशकालौ च परीक्ष्य—देश से यहाँ पर रोगी और काल से आतुरावस्था ग्रहण करनी चाहिए। आतुर की परीक्षा प्रकृति, विकृति इत्यादि दस बातों से बलदोषप्रमाण जानने के लिए और काल की परीक्षा औषधि का योग्य उपयोग और लाभ होने के लिए की जाती है। चरक में लिखा है—देशस्तु भूमिरातुरश्च। आतुरस्तु खलु कार्यदेशः। तस्य परीक्षा आयुःप्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्याद्बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा। तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति, बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः। कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा। अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः, कालः पुनरन्यस्य। न ह्यनिपातितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति। कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमपि निर्वर्तयति॥ (विमान ८)। व्याधिसात्म्येन कर्मणा—रोग के लिए औषध, अन्न और विहार का जो लाभदायक प्रयोग हो, उसके द्वारा—उपशयो हि हेतुव्याधिविपरीतैर्विपरीतार्थकारिभिश्चौषधाहारविहारैः सुखानुबन्धः। स हि व्याधिसात्म्यसंज्ञः। (अष्टांगसंग्रह, निदान १)। गयदासाचार्य इस श्लोकार्ध का पाठ इस प्रकार से देते हैं—गयी तु 'देशकालौकव्याधिसात्म्येन कर्मणा' इति पठित्वा देशादिभिः सह पृथक् सात्म्यशब्दं सम्बध्नाति, ओकसात्म्यमभ्याससात्म्यम्। (डल्हणटीका)। ओकसात्म्यम्—अशीते यदौचित्यादोकसात्म्यं तदुच्यते। इस पाठभेद से कोई विशेष अर्थ नहीं निकल आता। इसकी अपेक्षा मूलपाठ सब दृष्टि से प्रशस्त है। न नाशमाप्नुयात्—प्रसूति का रोग शरीरदौर्बल्य तथा अन्य कारणों से दारुण, कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होता है। इसकी चिकित्सा आधुनिक उत्तमोत्तम औषधियों (जैसे, शुल्वौषधियाँ Sulpha drugs कूपीकी Penicillin इत्यादि) और चिकित्सापद्धतियों द्वारा करने पर भी कई स्त्रियों का नाश होता है और यदि पूर्व सुख से बच भी जाय तो रोगग्रस्त या गर्भाक्षम या सुप्रजानिर्माणाक्षम हो जाती है। इसलिए 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इस न्याय से स्त्री को प्रसूति रोग पैदा ही न हो जाय इस प्रकार प्रसवपूर्व, प्रसवकालीन और प्रसवोत्तर परिचर्या करना प्रशस्त है। इस विषय का विवरण पीछे गर्भिणी परिचर्या (तीसरे अध्याय के १३वें सूत्र और इस अध्याय के दूसरे सूत्र) में, प्रसवकालीन परिचर्या में और आगे के सूत्र में किया गया है। इसका तात्पर्य यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है। सगर्भावस्था में स्त्री सुपाच्य, पौष्टिक, पर्याप्त, जीवद्रव्ययुक्त आहार का सेवन करे, त्वचा और जननेन्द्रिय की स्वच्छता के ऊपर अधिक ध्यान दे; मुख गला, नासा, त्वचा इत्यादि में कोई दूषित स्थान (Septic focus) हों तो उनकी चिकित्सा करके ठीक करे। रक्तक्षय या अन्य रोगों की चिकित्सा करे। जहाँ तक हो सके, योनि के भीतर अंगुलियों को प्रविष्ट करके परीक्षा न करे। अगर करना अत्यावश्यक हो तो हाथों की सफाई के ऊपर ध्यान देकर करे। प्रसूति के कार्य में प्रयुक्त स्त्रियाँ मुख, नासा, गला, स्वरयन्त्र, फुफ्फुस और त्वचा के विकारों से पीड़ित हों तो उनको तैनात न करे, डॉक्टर या वैद्य को भी श्वसनसंस्थान और त्वचा के रोगों से पीड़ित होने पर प्रसूति का काम न करना चाहिए। प्रसूति के समय विरेचन और बस्ति के द्वारा मलाशय साफ रक्खे। प्रसवोपयोगी वस्त्र, पात्र शस्त्रयन्त्रादि को अत्यन्त विशोधित करके काम में लावे। योनिद्वार में कहीं विदार हुआ हो तो तुरन्त टाँके लगावे, आहार-विहार के संबंध में प्रसूता की परिचर्या जिस प्रकार से बताई गई है उस प्रकार करे, योनिद्वार की सफाई रक्खे तथा योनिद्वार के साथ संबन्ध रखने वाले सब वस्त्र अत्यन्त स्वच्छ प्रयुक्त करे, इत्यादि।

अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्, कटुकालाबुकृतवेधनसर्षपसर्पनिर्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रैर्योनिमुखं धूपयेत्, लाङ्गलीमूलकल्केन वाऽस्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्, मूर्ध्नि वाऽस्या महावृक्षक्षीरमनुसेचयेत्, कुष्ठलाङ्गलीमूलकल्कं वा मद्यमूत्रयोरन्यतरेण पाययेत्, शालमूलकल्कं वा पिप्पल्यादि वा मद्येन, सिद्धार्थककुष्ठलाङ्गलीमहावृक्षक्षीरमिश्रेण सुरामण्डेन वाऽऽस्थापयेत्, एतैरेव सिद्धेन सिद्धार्थकतैलेनोत्तरबस्तिं दद्यात्, स्निग्धेन वा कृत्तनखेन हस्तेनापहरेत्॥ २०॥

(प्रसव की तृतीयावस्था—) गर्भजन्म के पश्चात् (गर्भाशय से) न गिरी हुई अपरा आनाह और आध्मान करती है। अतः (अपरापातनार्थ) बालों से लिपटी हुई अंगुलि से उसके कण्ठ (गले) में गुदगुदी करे; अथवा कड़वी तुम्बी, कड़वी तोरी, सरसों, साँप की केंचुली को कड़वे तेल से मिलाकर उनसे योनिमुख का धूपन करे; अथवा उसके हाथ पैरों की तली में कलिहारी की जड़ के कल्क का लेप करे; अथवा उसके सिर पर सेहुण्ड के रस का सेचन करे; अथवा मद्य या गोमूत्र के साथ कुष्ठ और कलिहारी के मूल के कल्क को पिलावे; अथवा शालिमूलकल्क या पिप्पल्यादि (गण का चूर्ण) मद्य के साथ (पिलावे); अथवा श्वेत सरसों, कुष्ठ, कलिहारी, सेहुण्डक्षीर इनसे मिश्र सुरामण्ड का आस्थापन करे; इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध सिद्धार्थक तैल की उत्तर बस्ति दे; अथवा नाखून काटे हुए और स्नेहद्रव्य से स्निग्ध किये हुए हाथ से निकाले॥ २०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में अपरापातन के विविध उपाय बताये गये हैं। प्रसव की तृतीयावस्था की यही मुख्य घटना होती है। गर्भ को बाहर निकालने में गर्भाशय को

तथा माता को अत्यधिक परिश्रम करने पड़ते हैं, जिसके कारण गर्भजन्म होने पर ये दोनों भी थक जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दस-पंद्रह मिनट तक गर्भाशय में संकोच नहीं होता और इससे प्रसववेदना भी उतने समय तक बंद हो जाती है। इस अवधि में गर्भाशय पूर्णतया निष्क्रिय नहीं होता। यदि इस अवधि में गर्भाशय के ऊपर हाथ रक्खा जाय तो उसमें हलकी सी हलचल हो रही है, ऐसा मालूम होगा। इस हलचल से गर्भाशय अपनी शक्ति को फिर से काम करने के लिए इकट्ठा करता है और शरीर को छोटा बनाता है। इस परिवर्तन को प्रत्याकर्षण या संहरण (Retraction) कहते हैं। यह संहरण का कार्य बहुत महत्व का है। प्रथम और द्वितीय अवस्था में गर्भाशयसंकोच (Contractions) का जो महत्त्व है, वही महत्त्व तृतीयावस्था में गर्भाशयसंहरण का है। तृतीयावस्था में गर्भाशय के दो कार्य होते हैं—एक कार्य अपने प्रति होता है और दूसरा कार्य अपरा के प्रति होता है। ये दोनों कार्य अत्यन्त महत्त्व के हैं और इनका एक समय में होना भी आवश्यक है। ये दोनों कार्य संहरण के द्वारा होते हैं। संहरण में गर्भाशय के तन्तुओं में स्थायी संकोच हो जाता है, जिसके कारण गर्भाशय आकार में छोटा होता है। आकार छोटा होने से उसका भीतर का पृष्ठभाग भी क्षेत्रफल में छोटा होता है। तृतीयावस्था के पूर्व अपरा का गर्भाशयाभिमुख पृष्ठभाग और गर्भाशय का अपराभिसंबंधित पृष्ठभाग इनमें मेल रहता है। तृतीयावस्था के प्रारंभ से जब गर्भाशय छोटा होने लगता है, तब दोनों के पृष्ठभाग में कुछ अनमेल शुरू होता है और धीरे धीरे यह अनमेल बढ़ता जाता है। अपरा गर्भाशय के साथ सिकुड़कर छोटी नहीं होती, इसलिए तृतीयावस्था के प्रारंभ से अपरा गर्भाशय से पृथक् होने लगती है। प्रथम अपरा का मध्यभाग प्रायः पृथक् होता है। पृथक् होने पर गर्भाशय और अपरा के बीच में कुछ रक्त इकट्ठा होता है। अनमेल के बढ़ने से अपरा अधिकाधिक पृथक् होती जाती है तथा दोनों के बीच में अधिक रक्त इकट्ठा होता है। इसको प्रतीपापरा रक्तार्बुद (Retro-placental hæmatoma) कहते हैं। यह रक्तार्बुद भी अपरा को पृथक् करने में सहायता करता है संहरण का अन्तिम परिणाम अपरा के पूर्ण पृथक् होने में होता है। तत्पश्चात् गर्भाशय के संकोच से तथा प्रवाहण से अपरा गर्भाशय के भीतर से निकलकर नीचे योनि में आती है। इस तरह संहरण का अपरा के प्रति परिणाम उसके पृथक्करण में होता है। अपरा पृथक्करण के साथ साथ यदि अपरा को रक्त पहुँचाने वाली रक्तवाहिनियों के मुख बंद न किये जाँय, तो अपरा के स्थान से रक्त का स्राव बहुत होगा। परंतु यह देखा जाता है कि अपरा के साथ जो दो-तीन छटांक रक्त निकलता है उसके बाद रक्तस्राव नहीं होता। इसका कारण भी संहरण है। संहरण के द्वारा अपरा के स्थान की रक्तवाहिनियों के मुख गोया असंख्य बन्धनों (Ligatures) से बंद किये जाते हैं। इस तरह संहरण का गर्भाशय के प्रति कार्य रक्तस्राव बंद करने में होता है। जिस समय संहरण ठीक नहीं होता, उस समय अपरा गर्भाशय से अलग भी ठीक नहीं होती, और यदि जबरदस्ती निकाली जाय तो उसका कुछ हिस्सा भीतर रहने का तथा रक्तस्राव होने का डर रहता है।

अथ—गर्भजन्म के पश्चात्। प्रसव की तीसरी अवस्था में प्रसवरूपवृक्ष की दो शाखाएँ होती हैं—मातृशाखा और अपत्यशाखा। दोनों शाखाओं का काम साथ साथ करना पड़ता है और किया भी जाता है। इन शाखाओं के कार्य बालोपचर्या और सूतिकोपचर्या कहलाते हैं। ये दोनों कार्य साथ साथ चलते हैं, इसका स्पष्ट निर्देश चरक में किया गया है—तस्यास्तु खल्वपराया प्रपतनार्थे कर्माणि क्रियमाणे जातमात्रस्यैव कुमारस्य कार्याण्येतानि कर्माणि भवन्ति। बारहवें सूत्र में बालोपचर्या और पन्द्रहवें सूत्र से सूतिकोपचर्या का विवरण किया गया है। वास्तव में सुश्रुत में दिया हुआ सूतिकोपचर्या का क्रम कुछ उल्टा हो गया है। अपरापातन का कर्म सब से पहले याने पन्द्रहवें सूत्र के पहले देना जरूरी है। अपरापतन के सिवा प्रसव पूरा नहीं होता और अभ्यंग-स्नान, भोजन इत्यादि कर्म नहीं किये जाते। चरक और अष्टांगसंग्रह में सूतिकोपचर्या का क्रम ठीक दिया है—यदा च प्रजाता स्यात्तदैवैनामवेक्षेत—काचिदस्या अपरा प्रपद्या न वेति। तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यादथैनामन्यतमा स्त्री इत्यादि। इसके बाद सूतिका के आहार अभ्यंगादि के बारे में विवरण किया गया है। अपपन्नी—यह अपरा का विशेषण है। चरक के उपर्युक्त वचन में और भी एक बात है, जो सुश्रुत में नहीं मिलती। यह बात इस सूत्र के पहले मानी गई है, ऐसा मालूम होता है। इस बात के साथ इस सूत्र का प्रारंभिक भाग निम्न प्रकार से परिवर्तित कर सकते हैं—अथापराऽप-तन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यात्तर्हि कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाङ्गुल्या प्रमृजेत् इत्यादि। इसका मतलब यह है कि गर्भजन्म के पश्चात् अपरा का निष्कासन या पतन आप से हो जाता है; उसके लिए विशेष कोशिश करने की आवश्यकता नहीं होती। गर्भाशय से पृथक् होने पर अपरा तुरन्त योनि से बाहर नहीं आती। प्रथम गर्भाशय से योनि में आती है और पश्चात् योनि से बाहर निकलती है। गर्भाशय से अपरा पृथक् कैसी होती है, इसका विवरण इस वक्तव्य के प्रारंभ में किया गया है। गर्भाशय और योनि की अपरा को बाहर फेंकने की शक्ति भिन्न भिन्न होती है। गर्भाशय के संहरण से अपरा पृथक् होकर उसी के संकोच से वह बालक के जन्म के पश्चात् दस-पंद्रह मिनट में खट से योनि में निकाली जाती है। गर्भाशय में जो संकोच शक्ति है, वह योनि में नहीं है। इसलिए योनि से बाहर आने में अपरा को अधिक समय लगता है। अगर अपरा का संपूर्ण निष्कासन निसर्ग या स्वभाव के ऊपर ही छोड़ दिया जाय तो समय की दृष्टि से यह देखा गया है कि २४ प्र० श० स्त्रियों में अपरा निर्गमन के लिए आधा घंटा, २९ प्र० श० स्त्रियों में एक घंटा, २९ प्र० श० में दो घंटे और शेष में दो घंटे से लेकर १२ घंटे तक समय लग जाता है। इससे यह स्पष्ट होगा कि संपूर्ण निष्कासन स्वभाव के ऊपर छोड़ने में कुछ अनिश्चिति है और कालापव्यय होने की संभावना होती है। इसलिए अपरा निष्कासन के लिए मध्यम मार्ग पसंद किया जाता है। वह मध्यम मार्ग यह है कि गर्भाशय से योनि तक का अपरा का निष्कासन स्वभाव के ऊपर छोड़ा जाता है और योनि से बाहर आने के कार्य में

हस्तद्वारा सहायता दी जाती है। प्रथम कार्य यावे गर्भाशय से अपरा का पृथक् होने का कार्य स्वभाव पर छोड़ने का उद्देश्य यह है कि उससे अपरा पूर्णतया निकल आती है और प्रसवोत्तर रक्तस्राव (Post partum haemorrhage) नहीं होता। अगर यह कार्य जबर्दस्ती किया जाय तो अपरा के कुछ टुकड़े भीतर रहने का डर होता है तथा गर्भाशय का संहरण ठीक न होने से रक्तस्राव भी हो सकता है। योनि से अपरा को कृत्रिम उपायों द्वारा निकलने में इन दोनों बातों का भी डर नहीं होता और समय की बचत होती है, क्योंकि योनि में संकोचन की शक्ति न होने के कारण योनि से बाहर आने में ही अधिक समय लगता है। साधारणतया बालक के जन्म के पश्चात् दस-पंद्रह मिनट तक गर्भाशय में जोर से संकोच नहीं होते और स्त्री को भी पीड़ा नहीं मालूम होती। इस समय में संहरण का कार्य जारी रहता है और उसके साथ साथ अपरा पृथक्करण का भी कार्य चलता है। अपरा जब पूर्णतया पृथक हो जाती है, तब एकाध संकोच से वह गर्भाशय के बाहर योनि में निकाल दी जाती है। यह कार्य प्रायः पंद्रह-बीस मिनट में हो जाता है। परंतु इसके लिए अधिक से अधिक एक से सवा घंटा प्रतीक्षा की जाती है। यदि इस समय में अपरा योनि में न आ जाय तो समझना चाहिए कि गर्भाशय या अपरा में कुछ दोष है, जिससे अपरा का पृथक्करण स्वभाव से नहीं हो रहा है और कृत्रिम उपायों की आवश्यकता है।

योनिगत अपरा के लक्षण—गर्भाशय को छोड़कर अपरा जब योनि में आती है, तब कुछ लक्षण और परिवर्तन होते हैं जिनको देखने से या प्रतीत करने से अपरा के योनि में आने की सूचना मिलती है। घंटा सवा घंटे का जो समय बताया गया है तब तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती। ये पाँच लक्षण होते हैं—(१) नाभिनाडी अधिक लंबी हो जाती है—बालक के जन्म के पश्चात् नाडीच्छेदन के समय नाडी पर दो बंधन लगाये जाते हैं। एक नाभि से दो तीन इञ्च पर और दूसरा योनिद्वार के बाहर। पश्चात् नाडी नाभिबन्धन के पास काट दी जाती है। दूसरे बन्धन का उपयोग जैसे यमल के रक्तस्राव को रोकने के लिए होता है, वैसे ही अपरावतरण जानने के लिए होता है। जब अपरा गर्भाशय से योनि में आती है, तब योनिद्वार के बाहर की नाभिनाडी अधिक लंबी हो जाती है और इसका ज्ञान योनिद्वारसमीपवर्ती बन्धन योनिद्वार से अधिक दूर दिखाई देने पर हो जाता है। (२) गर्भाशय ऊपर की ओर नाभि के पास चढ़ता है—बालक का जन्म होते ही गर्भाशय का ऊपर का हिस्सा भगास्थि से कुछ ऊपर और नाभि से कुछ नीचे होता है। जब अपरा गर्भाशय से निकलकर योनि में आती है, तब गर्भाशय अपरा के ऊपर चढ़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय उदरगुहा में कुछ ऊँचा हो जाता है और नाभि तक या उससे कुछ अधिक ऊँचाई तक पहुँचता है। (३) नाभि के पास उभार—श्रोणिगुहा से गर्भाशय ऊपर चढ़ने के कारण नाभि के पास उदरप्राचीर में कुछ उभार दिखाई देने लगता है। (४) गर्भाशय की स्थिरता कम होती है—श्रोणिगुहा में अपरा के साथ जब गर्भाशय रहता है, तब वह चारों ओर से घेरा हुआ रहने के कारण हाथ से हिलाने पर इधर-उधर बहुत कम हिल सकता है। परन्तु जब वह अपराविरहित होकर उदरगुहा में चढ़ता है, तब हाथ से उसको दायें-बायें हिला सकते हैं। (५) गर्भाशय को खींचने से नाडी खींची नहीं जाती—जब तक अपरा गर्भाशय में होती है, तब तक गर्भाशय को ऊपर की ओर खींचने से नाभिनाडी भी ऊपर की ओर खींची जाती है। खींचते समय योनि के बाहर की नाडी पर ध्यान देने से इस बात का पता लग जाता है। इन लक्षणों के ऊपर ध्यान देने से अपरा गर्भाशय से अलग होकर योनि में आ गई है या नहीं, इसका ज्ञान हो जाता है।

तृतीयावस्था की व्यवस्था—बालक का जन्म होने पर एक तरफ बालक की परिचर्या शुरू होती है और दूसरी तरफ प्रसूता की परिचर्या जारी रहती है। बालक की परिचर्या का विचार पीछे ११वें सूत्र में किया जा चुका है। इस सूत्र में सूतिका की तृतीयावस्था की परिचर्या का विचार किया गया है। तृतीयावस्था में प्रसूता उत्तानासन में ही रक्खी जाती है। यही आसन इस अवस्था के लिए सुविधाजनक रहता है। भारतवर्ष में द्वितीयावस्था में भी यही आसन पसन्द किया जाता है। इसलिए तृतीयावस्था में आसन-परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो लोग पाश्चात्यपद्धति के अनुसार द्वितीयावस्था में पार्श्विकासन पसन्द करते हैं, वे लोग तृतीयावस्था में फिर से स्त्री को उत्तानासन में रखते हैं। बालक का जन्म होने पर एक हाथ स्त्री के उदरप्राचीर पर नाभि के पास इस तरह खड़ा दबाया जाता है कि कनिष्ठिका नीचे की ओर हो, अंगूठा ऊपर हो और हथेली भगास्थि की ओर हो। इस तरह हाथ रखने से गर्भाशय का सब हाल मालूम होता है, यदि आवश्यक हो तो गर्भाशय को हलके पीडन से उत्तेजित कर सकते हैं और अपरा के नीचे आने का पता लग जाता है। इसके सिवा गर्भाशय पर हाथ रखने से भीतर दूसरा गर्भ हो तो उसका भी ज्ञान हो जाता है।

जब अपरा योनि में आ जाती है, तब उसको निम्न तीन पद्धतियों से निकाल सकते हैं—(१) निष्पीडन (Expression)—इसमें उदरप्राचीर पर से गर्भाशय पकड़ा जाता है और पीछे तथा नीचे की ओर दबाया जाता है। इस पीडन से योनि पर ऊपर से दबाव पड़कर अपरा बाहर निकलती है। (२) नाडी से खींचना—नाभिनाडी का जो हिस्सा बाहर रहता है, उसको पकड़कर खींचने (Traction) से अपरा बाहर चली आती है। अपरा गर्भाशय में ही रहने पर इस पद्धति का प्रयोग करने से कभी कभी गर्भाशय उलटा (Inversion) हो जाता है। यह बड़ा गम्भीर उपद्रव है। इसलिए नाडी को खींचने से पूर्व अपरा योनि में आ गई है, इसका ठीक ठीक ज्ञान लक्षणों के द्वारा कर लेना चाहिए। (३) हाथ से निकालना (Manual removal)—इसमें स्वच्छ किया हुआ हाथ योनि में प्रविष्ट करके उसी से अपरा बाहर निकाली जाती है। ये तीनों पद्धतियाँ यथापूर्व गुणावह हैं।

आयुर्वेदोक्त अपरानिष्कासन की विधियाँ—इस सूत्र में जो विधियाँ बतलाई गई हैं, उनके अलावा चरक में निम्न

विधियाँ अधिक मिलती हैं—स्नानमन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्टाद्बलवन्निपीड्य सव्येन . पाणिना पृष्ठत उपसंगृह्य तां सुनिर्धूतं निर्धुनुयात्। अथास्याः पार्ष्ण्या श्रोणीमाकोटयेत्। इत्यादि। वाग्भटोक्त अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में भी ये ही विधियाँ बतलाई गई हैं। इनके ऊपर ध्यान देने से एक बात स्पष्ट होती है कि जहाँ तक हो सके, अपरा का पतन स्वभाव के ऊपर ही छोड़ा जाता है। अगर उससे काम न हो तो स्वभाव को सहायता करने वाले बाहरी इलाज किये जाते हैं और उनसे न बने तो अन्त में हाथ से निकालने का काम किया जाता है। चरकसंहिता में हस्तापहरण की विधि नहीं मिलती। हाथ से जबर्दस्ती निकालने में अपरा और जरायु के हिस्से भीतर रहने का तथा रक्तस्राव होने का डर रहता है। इनके अलावा अगर हाथ की सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो हाथ के साथ पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश गर्भाशय में होकर प्रसूति रोग उत्पन्न होने की संभावना रहती है। इसलिए आधुनिक काल में बाहरी उपायों के द्वारा ही अपरापातन का कार्य, जहां तक हो सके, किया जाता है। जब इनसे कार्य नहीं बनता, तब हाथों से निकालने की कोशिश की जाती है। आयुर्वेद की उपर्युक्त विधियों के क्रम में अपरापातन का यही तत्त्व दिखाई देता है। ये विधियाँ अपरापातन में किस प्रकार सहायता करती हैं, इसका कुछ विचार यहां पर किया जाता है।

(१) केशवेष्टितयांगुल्या कण्ठं प्रमृजेत्—चरकसंहिता में तथा अष्टांगहृदय में वेणी का अग्र (बालवेणी) या वेणी कण्ठप्रमार्जन के लिए प्रयुक्त की गई है। केशवेष्टित अंगुलि या वेणी से कण्ठ या तालु को छूने से (Tickling the fausces) गले में सुरसुराहट वा गुदगुदी उत्पन्न होती है। इसका परिणाम कण्ठरासनी (Glassopharyngeal) नाडी के द्वारा सुषुम्नाशीर्षगत वमनकेन्द्र (Vomiting centre) के ऊपर होकर तद्द्वारा वमन की क्रिया होती है। वमन क्रिया में वक्षोदरगुहामध्यस्थ महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) का तथा उदरप्राचीरपेशियों का संकोच होता है। इससे उदरगत अंगों पर दवाव पड़ता है। अर्थात् गर्भाशय पर भी दवाव पड़ता है। इस दवाव से गर्भाशय में संकोच पैदा होकर अपरापृथक्करण में सहायता होती है। (२) लांगली प्रयोग—लांगली के गुणधर्म पीछे १० वें सूत्र के अन्त में दिये हुए हैं। लांगली में गर्भाशय में संकोच पैदा करने की शक्ति है। अर्थात् लांगली गर्भाशयसंकोचक (Ecbolic, oxytocics) है। इसका गुण शरीर पर बांधने से, लेप करने से या पीने से प्रकट होता है। इसका प्रलेप यहाँ पर केवल हाथ पैर के तलों पर करने के लिए लिखा है। अष्टांगसंग्रह में नाभिप्रदेश पर करने के लिए भी लिखा है—लांगलीमूलकल्केन वा पाणिमुदरं चालिम्पेत्। लांगली का कल्क उदर पर लगाने से जब तक कल्क गीला है, तब तक वह अपनी शीतलता के कारण गर्भाशय में संकोच पैदा कर सकता है। इससे अपरापातन में सहायता होती है। इसके सिवा यह ठंडा कल्क प्रसवोत्तर रक्तस्राव रोकने के लिए भी उपयोगी हो सकता है। डा० निकोलस प्रसव के पश्चात् अपरापातन के लिए ठंडे पानी में भिगोया हुआ तौलिया उदर पर रखने लिए लिखते हैं—I lay a towel, four fold, wrung out of cold water on the abdomen. This assists in the contraction of the uterus, helps to throw off the placenta, if still adherent, and do expel it, and is a safeguard against haemorrhage. *Esoteric Anthropology.* लांगलीकल्कप्रलेप में ठंडे पानी के सब गुण हो सकते हैं और इनके अलावा लांगली का विशेष गुण भी होता है। (३) वस्ति या आस्थापन—वस्ति देने से मलाशय में संकोच पैदा होता है और मलाशय तथा गर्भाशय के संबन्धित होने के कारण उनमें भी संकोच पैदा होकर अपरापातन में सहायता होती है। चरक में इसके संबंध में लिखा है—तदास्थापनमस्याः सद्य वातमूत्रपुरीषैर्निर्हरत्यपरामासक्तां वायोरेवाप्रतिलोमगत्वात्। अपरां हि वातमूत्रपुरीषाण्यन्यानि चान्तर्वहिर्भागानि सज्जन्ति। (४) नाभेरुपरिष्टाद् बलवदुपपीडय—यह उपपीडन आधुनिक निष्पीडन (Expression) नामक उपाय के साथ मिलता है। अगर अपरा गर्भाशय में ही हो तो गर्भाशय का ऊपर का भाग एक या दो हाथों में पकड़कर निचोड़ना, जिससे अपरा नीचे योनि में चली जाय। पश्चात् गर्भाशय को पीछे और नीचे की ओर दवाना जिससे वह योनि के बाहर निकल जाय। (५) हस्तेनापहरणम्—यह अन्तिम उपाय है। उपर्युक्त बाह्य और भीतरी उपायों से अगर अपरा न निकल पड़े तो नाखून कटवाकर और हाथों को तैल या घृत से चुपड़कर यह कर्म किया जाता है। इस कर्म में हाथों की सफाई के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए, वरना पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश होकर मक्कल्लविद्रधि, प्रसूतिज्वर उत्पन्न होता है। प्रथम हाथों को साबुन से साफ धोकर पश्चात् संक्रव्यपव (लायसोल) के घोल से निर्दोष करना चाहिए। यदि विशोधित रबड़ के मोजे हाथ पर चढ़ाये जायँ तो और भी अच्छा है। योनि में हस्तप्रवेश करने से पूर्व योनिद्वार को भी संक्रव्यपव के घोल से साफ धोना चाहिए। पश्चात् पाँचो अंगुलियाँ मिलाकर शंकु की तरह बनाया हुआ हाथ योनि में से गर्भाशय में प्रविष्ट किया जाता है। तदनन्तर अंगुलियों को आगे पीछे करके धीरे धीरे सारी अपरा गर्भाशय से पृथक् की जाती है। इस समय दूसरा हाथ उदरप्राचीर पर गर्भाशय के ऊपर रक्खा जाता है। इससे गर्भाशय स्थिर होता है और अपरा को पृथक् करने में सहायता होती है। पृथक् हुई अपरा हथेली पर लेकर बाहर निकाली जाती है। दूसरी बार हाथ को भीतर प्रविष्ट करके अपरा के अगर कुछ अंश भीतर रहे हों तो वे निकाले जाते हैं। इसके बाद आधे से एक प्रतिशत संक्रव्यपव का उत्तरवस्ति गर्भाशय में दिया जाता है। गर्भाशय में हाथ प्रविष्ट करते समय नाडी के अनुरोध से प्रवेश करना चाहिए—स्निग्धेन वा कृत्तनखेन पाणिना नालानुसारतोऽपहरेत्। (अष्टांगसंग्रह)। अथवा वैद्योपदेशेन काचित् पाणिना स्नेहाभ्यक्तेन कृत्तनखेन वहिःप्रलम्बमपरानालमनुसारयन्ती कुशला तामपरामन्तरपहरेत्। (इन्दु)। नालानुसारतः इस शब्दप्रयोग की खूबी निम्न अंग्रेजी वचन से ध्यान में आ जायगी—The other hand is inserted into the vagina and follows the cord

up into the uterus to the placenta. *Ten teachers' Midwifery* हाथ भीतर प्रविष्ट करने के पश्चात् अगर अपरा कहीं पर थोड़ी सी पृथक् हुई हो तो वहीं से पृथक् करने का काम प्रारम्भ करना उचित है। इससे आसानी होती है। अगर कहीं पर भी पृथक् न हुई हो तो ऊपर किनारे से पृथक् करना चाहिए। अगर अपरा बहुत ही आलग्न हो (Adherent) तो उसको टुकड़े टुकड़े बनाकर निकालना चाहिए। स्वाभाविक तौर से निकल आने पर या कृत्रिम तौर से निकालने पर यह देखना आवश्यक है कि अपरा या जरायु का कोई टुकड़ा गर्भाशयद्वार से योनि में तो नहीं लटक रहा है। यदि लटक रहा हो तो उसको अंगुलियों से पकड़कर या चिमटी से पकड़कर धीरे से निकालना चाहिए। गर्भाशय के भीतर रहे हुए टुकड़े की अपेक्षा गर्भाशय के मुख से लटकता हुआ टुकड़ा अधिक भयावह होता है, क्योंकि उसके द्वारा सीढ़ी की तरह योनिगत जीवाणु आसानी से गर्भाशय के भीतर पहुँच सकते हैं।

अपरा का परीक्षण—अपरा के बाहर निकल आने पर उसको एक थाली में रखकर भली भाँति देखना चाहिए। अपरा का गर्भाशय की ओर का भाग खुरदरा होता है। क्योंकि उसमें कई उभार होते हैं। ये दल (Cotyledons) कहलाते हैं। अपरा परीक्षण में इन दलों के ऊपर ध्यान देना चाहिए। कभी कभी एकाध दल भीतर रह सकता है। जरायु के बारे में उनके छिद्र देखने चाहिए। जरायु में एक ही छिद्र होता है, जिसमें से गर्भ बाहर निकलता है। कभी कभी अन्य स्थान में भी जरायु फट जाने से छिद्र हो सकता है। यदि दूसरा छेद मिल जाय तो फटे हुए भाग आपस में मिलाकर देखना चाहिए कि वह केवल विदार है या उसका कुछ हिस्सा भीतर रह गया है। अपरा का कोई हिस्सा भीतर रहा हो तो उसको निकालना आवश्यक है, परन्तु अगर जरायु का थोड़ा—सा अंश भीतर रहा हो और *गर्भाशयमुख से नीचे योनि में लटकता* हो तो उसको निकालने की आवश्यकता नहीं है। वे टुकड़े प्रसवशोणित के साथ निकल आते हैं।

अपरा निकल आने के बाद रक्त से भरे हुए कपड़ों को हटाकर योनिद्वार, चूतड़ तथा आसपास के भाग को स्वच्छ पानी और कपड़े से पोंछना चाहिए। *आधुनिक काल में* इसके लिए संक्रम्यपघ (लायसोल) का घोल प्रयुक्त करते हैं। जननेन्द्रिय तथा आसपास की सफाई करने के बाद जननेन्द्रिय का निरीक्षण विदारों के लिए करना चाहिए और यदि दरार हों तो उनको टाँके लगाना चाहिए। पश्चात् जननेन्द्रिय पर कौपीन की तरह स्वच्छ कपड़े की *मोटी पट्टी नाभि से लेकर* चूतड़ तक उदरपट्ट की सहायता से बाँधनी चाहिए। जननेन्द्रिय की पट्टी प्रसवशोणित को सोखने के लिए और अप्रत्यक्षतया स्त्री के कपड़ों की खराबी न होने के लिए बाँधना आवश्यक है। उदर की पट्टी कौंकी प्रदेश से ऊरु मध्य तक *लगाई जाती है। गर्भाशय से गर्भ* निकल जाने के बाद उदरगुहा में शून्यता, रिक्तता उत्पन्न होती है और उदर प्राचीर की पेशियाँ गर्भवृद्धि के तनाव के कारण दुर्बल और शिथिल हो जाती हैं। इसलिए उदर को सहारा देना आवश्यक हो जाता है। इसके सिवा गर्भाशय के ऊपर कुछ दबाव की आवश्यकता होती है। ये कार्य उदर पर कसके पट्टी बाँधने से होते हैं। यदि स्त्री का उदर अधिक मोटा और स्थूल हो तो पट्टी के नीचे नाभि पर वस्त्र की मोटी तह रखना उचित है—बध्येदुदरं महताऽच्छेन वाससा; यथा तस्या न वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयत्यनवकाशत्वात्। (चरक)। प्रजातमात्रामाश्वास्य सूतां शक्रा प्रतापिका। न्युब्जा *शयानां सवाम्य पृष्ठे सक्षिप्य कुक्षिणा॥ पीडयेद्दृढमुदरं गर्भदोष*प्रवृत्तये। महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत्। तेनोदरं स्वस्थानं याति वायुश्च शाम्यति ॥ (काश्यपसंहिता, सूतिकोपक्रमणीयाध्याय)। सूतिका के साथ सबंध रखने वाला हर एक वस्त्र अदुष्ट होना चाहिए। इसमें भी जो वस्त्र जननेन्द्रिय के ऊपर रक्खा जाता है, वह विशेष करके अदुष्ट होना आवश्यक है।

जननेन्द्रिय के ऊपर की पट्टी प्रारंभिक कुछ दिनों में दिन में *कई बार बदलनी पड़ती है* क्योंकि स्राव अधिक रहता है। इस प्रसवशोणित स्राव के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह स्राव बहुत जल्दी दूषित हो जाता है तथा व्रण के साथ इसका संबंध होने से व्रण भी जल्दी दूषित होता है। इसलिए जब तक स्राव हो रहा है, तब तक *प्रसूता अपने हाथों का संबंध जननेन्द्रिय के साथ* न करे, तथा दाई जननेन्द्रिय की सफाई करने से पूर्व बालक की परिचर्या समाप्त करे, क्योंकि प्रसवशोणित का संसर्ग नवजात बालक की नाभि या नाभिनाड़ी पर होने से उसमें पाक होने का डर रहता है। जब एक ही दाई दोनों का काम करती है, तब इस *नियम का पालन करना जरूरी है।* जब आयुर्वेद के अनुसार प्रत्येक काम के लिए स्वतन्त्र स्त्री होती है, तब पहले और पीछे का सवाल नहीं उठता।

प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं वायुना तद्देशगतेनातिसंरुद्धं नाभेरधः पार्श्वयोर्बस्तौ बस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं करोति; ततश्च नाभिबस्त्युदरशूलानि भवन्ति, सूचीभिरिव निस्तुद्यते भिद्यते दीर्यत इव च पक्वाशयः, समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कल्ललक्षणम् ॥ २१ ॥

(मक्कललक्षण—) प्रसूत हुई (अत एव) रूक्ष शरीर की स्त्री का (पिप्पल्यादि) तीक्ष्ण ओषधियों से अविशोधित, गर्भाशयगत वायु से रोका हुआ रक्त नाभि के नीचे दोनों पार्श्वों में, बस्ति (देश) में अथवा बस्ति शिर में ग्रंथि पैदा करता है। उससे नाभि, बस्ति और उदर में शूल होता है, पक्वाशय सूचियों से चुभ रहा है, भेदित या विदीर्ण हो रहा है (ऐसी पीड़ा होती है), उदर में चारों ओर आध्मान होता है और मूत्र रुक जाता है, यह मक्कललक्षण है ॥ २१ ॥

वक्तव्य—रूक्षशरीरा—शरीर की रूक्षता *गर्भवृद्धिजन्य* धातुक्षय, रक्तस्राव इत्यादि कारणों से होती है। अर्थात् सगर्भावस्था और प्रसव के कारण प्रत्येक प्रसूता स्त्री के शरीर में रूक्षता हो ही जाती है। तीक्ष्णैरविशोधितम्—पीछे १८वें सूत्र में प्रसवशोणित शुद्धि के लिए पिप्पली *पिप्पलीमूलादि काचूर्ण देने के लिए बताया है।* इसको न देने से रक्त अविशोधित रहता है। प्रसवशोणित की शुद्धि उसका ठीक स्राव होने में है। उसका ठीक स्राव न होने से वह अविशोधित रहता है। पिप्पल्यादि तीक्ष्ण ओषधियों से इसका स्राव ठीक होता है और न देने से नहीं होता।

वायुना तद्देशगतेन—गर्भाशयगत वायु अर्थात् अपान वायु। मक्कल्लक्षणम्—प्रजातायाः प्रजननशोणितसंजनितशूलं मक्कल्लः । (डल्हण)। प्रजननशोणित वही है, जिसका वर्णन पीछे १९वें सूत्र के वक्तव्य में प्रसवशोणित (Lochia) करके किया गया है। मक्कल्ल को उत्तरावी (After pains) कहते हैं। मक्कल्ल के कई कारण हो सकते हैं। साधारणतया प्रसव के पश्चात् गर्भाशय में जोरदार संकोच नहीं होते, परन्तु धीरे धीरे संहरण (२०वें सूत्र का वक्तव्य देखो) होता रहता है। कभी विलम्बी प्रसव, कष्टप्रसव या अन्य कारण से गर्भाशय कुछ प्रक्षुब्ध (Irritated) हो जाता है और प्रसव के पश्चात् भी कुछ काल तक जोर से संकुचित होता रहता है। इस संकोच के समय शूल होता है। कभी कभी अपरा और जरायु के कुछ टुकड़े गर्भाशय में रह जाते हैं। उनको निकालने की कोशिश में गर्भाशय में संकोच होते हैं और उससे शूल होता है। कभी कभी गर्भाशय की कमजोरी से संहरण ठीक नहीं होता और रक्त का स्राव कुछ अधिक होता है। यह रक्त गर्भाशय के भीतर जमने लगता है और उनकी गाँठें बनती हैं। इनको निकालने के लिए उत्पन्न हुए संकोच से शूल होता है। संक्षेप में कभी प्रक्षोभ के कारण, कभी अपराजरायु शेष रहने के कारण, कभी भीतर रक्त जम जाने के कारण और कभी कोई ठीक कारण मालूम न होते हुए भी प्रसव के बाद गर्भाशय में जो संकोच होते हैं, उनसे मक्कल्ल होता है। वास्तव में आवी और मक्कल्ल में शारीरिक कार्य की दृष्टि से कोई फर्क नहीं है। जो फर्क है वह कारण और काल की दृष्टि से है। आवी गर्भ को निकालने के लिए होती है, मक्कल्ल गर्भजनित कुछ शेष दोष निकालने के लिए होता है; आवी गर्भजन्म के पूर्व होती है और मक्कल्ल गर्भजन्म के पश्चात् होता है। इस काल-कारण की दृष्टि से आवी को प्रसवपूर्व गर्भनिःसारक वेदना और मक्कल्ल को प्रसवोत्तर गर्भदोषनिःसारक वेदना कह सकते हैं। इसी का संक्षेप करके आवी के लिए जैसे प्रसववेदना कहते हैं, वैसे ही मक्कल्ल के लिए प्रसवोत्तर वेदना कहना चाहिए। अंग्रेजी में मक्कल्ल को ऐसा ही (After pains) कहते हैं। प्रसवोत्तर वेदना गर्भाशय के संकोच के कारण जैसी होती है, वैसे ही आन्त्रगत वायु (आध्मान) और मूत्रसंग के कारण होती है। इसको मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना (False after pains) कहते हैं। उदरगुहा से गर्भ निकल जाने पर उदर में शून्यता और रिक्तता आ जाती है तथा योनिद्वार के आसपास के भाग पर प्रसव के समय काफी दबाव और आघात होने के कारण मूत्रद्वार और मलद्वार के सुषिरस्नायु (Sphincters) संकुचित रहते हैं, जिसके कारण मल और मूत्र का उत्सर्ग नहीं होता—आनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि । (काश्यपसंहिता)। प्रसवोत्तर वेदना और मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना में निम्न भेद होते हैं—(१) मिथ्या वेदना आन्त्रगत वायु या मूत्रसंग के कारण और वास्तविक वेदना गर्भाशयसंकोच के कारण होती है। (२) मिथ्या वेदना अनियमित समय पर और वास्तविक वेदना नियत समय पर होती है। (३) मिथ्या वेदना के समय गर्भाशय के ऊपर हाथ रखने से वह कड़ा नहीं मालूम होता; वास्तविक वेदना के समय कड़ा मालूम होता है। (४) बच्चे को दूध पिलाते समय वास्तविक वेदना अधिक हो जाती है या उस समय न होती हो तो शुरू होती है। मिथ्या वेदना पर बालक के स्तनपान का कोई परिणाम नहीं होता। (५) मलमूत्र-त्याग करने से या अन्य उपायों द्वारा मलमूत्र निकालने से मिथ्या वेदना कम हो जाती है या बंद होती है। वास्तविक के ऊपर कोई परिणाम नहीं होता।

अष्टांगसंग्रह में 'मक्कल्ल' का उल्लेख 'मर्कल' नाम से किया गया है।

तत्र (सर्पिषा सुखोष्णेन लवणचूर्णेन वा) वीरतर्वादिसिद्धं जलमूषकादिप्रतीवापं पाययेत्, यवक्षारचूर्णं वा पिप्पल्यादिकाथेन, पिप्पल्यादिचूर्णं वा सुरामण्डेन, वरुणादिकाथं वा पञ्चकोलैलाप्रतीवापं पृथक्पर्ण्यादिकाथं वा भद्रदारुमरिचसंसृष्टं, पुराणगुडं वा त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुम्बुरुमिश्रं खादेत्, अच्छं वा पिबेदरिष्टमिति ॥ २२ ॥

(मक्कल्लचिकित्सा—) उसमें वीरतर्वादि (गण की ओषधियों से) सिद्ध क्वाथ ऊषकादि (गण की ओषधियों) का प्रक्षेप देकर (मन्दोष्ण घृत से या नमक के चूर्ण से) पिलावे; अथवा पिप्पल्यादिक्वाथ यवक्षार चूर्ण के साथ, अथवा सुरामण्ड के साथ पिप्पल्यादि चूर्ण, अथवा वरुणादि क्वाथ पञ्चकोल और एला के चूर्ण का प्रक्षेप देकर, अथवा पृथक्पर्ण्यादि क्वाथ देवदारु और काली मिरच के साथ (पिलावे), अथवा त्रिकटु, चतुर्जात और धनिया इनसे मिश्र पुराना गुड़ खावे, अथवा केवल अरिष्ट-सेवन करे ॥ २२ ॥

वक्तव्य—वीरतर्वादिगण, ऊपकादिगण, पिप्पल्यादिगण, वरुणादिगण इनकी ओषधियों का विवरण सूत्रस्थान के द्रव्यसंग्रहणीय (३८वें) अध्याय में किया गया है। अच्छं वा पिबेदरिष्टम्—अच्छं केवलम् । अरिष्टमभयारिष्टादिकम् । (डल्हण)। यदि गर्भाशयगत रक्तदोष के कारण शूल होता हो, उस दोष को गर्भाशय के पीडन से निकालने की कोशिश करनी चाहिए। शूल वायु के कारण होता है, इसलिए उदर पर नाभि के आस-पास गरम पानी से सेकना चाहिए, मलाशय में तथा योनि में वस्ति देना चाहिए और यदि कोष्ठशुद्धि न हो तो विरेचन द्वारा कोष्ठशुद्धि करनी चाहिए। इससे प्रायः मक्कल्ल शूल दूर हो जाता है। अगर शूल कम न हो तो आजकल फेनासिटिन, एस्प्रिन, मार्फिया इत्यादि वेदनाहर ओषधियों का उपयोग किया जाता है।

सूतिका-परिचर्या का विवरण यहाँ पर समाप्त होता है। इसके बाद फिर से बालकोपचर्या प्रारंभ होती है।

अथ बाले क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, पीलुबदरीनिम्बपरूषकशाखाभिश्चैनं परिवीजयेत्, मूर्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमवचारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नधूपैः, रक्षोघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववसृजेत्, तिलातसीसर्षपकणांश्चात्र प्रकिरेत्, अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्, व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत ॥ २३ ॥

(रक्षाकर्म—) स्नान के पश्चात् बालक को क्षौम के

वस्त्र में लपेटकर क्षौम का वस्त्र जिस पर बिछा हुआ हो, ऐसे बिछौने पर सुलावे, पीलु, बेर, नीम और फालसे की शाखाओं से पंखा करे; उसके सिर पर प्रतिदिन तैल का फाहा रक्खे; उसे रक्षोघ्न धूप से धूपित किया करे और उसके हाथ पैर सिर और ग्रीवा में रक्षोघ्न द्रव्य बाँधे और बालक के अगार में तिल, अतसी और सरसों को बखेर दे; बालकागार में अग्नि जलावे और व्रणितोपासनीय (अध्यायोक्त विधि) को काम में लावे ॥

वक्तव्य—अथ—बारहवें सूत्र में बताये हुए क्षीरवृक्ष कषायादि से बालक को स्नान करने के बाद। मूर्ध्नि—अग्रतालु (Anterior fontenelle) पर। बालक की तालु तैल से भरने का रिवाज अभी तक भी जारी है। यह कर्म पांच छः महीनों तक लगातार प्रतिदिन किया जाता है। तालु के सिवा कान में भी तेल छोड़ने का रिवाज है—अहरहश्चास्य श्रोत्रशृंगाटकं स्नेहाप्लुतेन प्लोतेन प्रच्छादयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। श्रोत्रं च शृंगाटकं च तयोः समाहारः श्रोत्रशृंगाटकम्। शृंगाटक—तालु। धूपयेच्चैन रक्षोघ्नैर्धूपैः—नीम की पत्ती, सरसों, नमक और घृत इनके धूप को रक्षोघ्न धूप कहते हैं—सर्षपारिष्टपत्राभ्यां सर्पिषा लवणेन च। द्विरह्नः कारयेद् धूपं दशरात्रमतन्द्रितः ॥ (सूत्रस्थान ११)। काश्यपसंहिता में निम्न धूप रक्षोघ्न बताया है—घृतं सिद्धार्थको हिंगु देवनिर्माल्यमक्षताः। सर्पत्वग्भिक्षुसंघाटी धूपो रक्षोघ्न उच्यते ॥ (धूपकल्पाध्याय)। भिक्षुसंघाटी—फटे पुराने कपड़े। धूप से बालक, उसके वस्त्र, सम्पूर्ण मकान इनका भी धूपन किया जाता है—एतैर्बालान् समापन्नान्सूतिकागारमेव च। वस्त्रशय्यासनार्थं च बालानां धूपयेद् भिषक् ॥ (काश्यपसंहिता, धूपकल्पाध्याय)। रक्षोघ्नानि—व्रणितोपासनीय अध्यायोक्त छत्रातिच्छत्रादि ओषधियाँ, किंवा चरकोक्त (आगे रक्षाकर्मविधि देखो) वचा कुष्ठ हिङ्गु सर्षप इत्यादि ओषधियाँ, किंवा जीवत्खड्गादिशृङ्गोत्थान् सदा बाल शुभान् मणीन्। धारयेदोषधी मेध्या ब्राह्मयैन्द्रीजीवकादिकाः ॥ (अष्टांगहृदय, उत्तर १)। व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत—प्रसूता तथा बालक दोनों भी व्रणित होते हैं। प्रसूता योनिगर्भाशय में और बालक नाभिनाड़ी और नाभि में व्रणयुक्त होते हैं। अर्थात् व्रणित की परिचर्या जिस प्रकार करनी आवश्यक होती है, उसी प्रकार इनकी भी परिचर्या करनी चाहिए। इस सूत्र में व्रणितोपासनीय अध्यायोक्त कुछ बातें बताई गई हैं; अनुक्त बातों के लिए यह शब्दसमूह प्रयुक्त किया गया है—जैसे, प्रशस्त और आतपवर्जित कुमारागार, सवाल्व दवास्तीर्ण, प्राक्शीर्षशयन, शान्तिमंगलदेवताब्राह्मणपरता, अजपशीरक्षा, शामादि, ऋग्यजु सामाथर्ववेदादिमंत्रों का पठन इत्यादि।

इस सूत्र में बालक की रक्षाकर्मविधि वर्णन की गई है। यह विधि दस दिन तक की जाती है—अथास्य रक्षां विदध्यात्—आदनीखदिरकर्कन्धुपीलुपरूषकशाखाभिरस्याः गृहं समन्ततः परिवारयेत्। सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुलकणकणिकाः प्रकिरेत्। तथा तण्डुलबलिहोमः सततमुभयकालं क्रियेत नामकर्मणः। द्वारे च मुसलं देहलीमनु तिरश्चीनं न्यसेत्। वचाकुष्ठक्षौमकहिङ्गुसर्षपातसीलशुनकणकणिकानां रक्षोघ्नसमाख्यातानां चौषधीनां पोट्टलिकां बद्ध्वा सूतिकागारस्योत्तरदेहल्यामवलम्बयेत्, तथा सूतिकायाः कण्ठे सपुत्रायाः, स्थाल्युदकुम्भपर्यङ्केष्वपि, तथैव च द्वारपक्षयोः। कणककण्टकेन्धनेनाग्निना तिन्दुककाष्ठेन्धनेन चाग्निना सूतिकागारमन्तर्हो नित्यं स्यात्। स्त्रियश्चैनां यथोक्तगुणाः सुहृदश्चानुजागृयुर्दशाहं द्वादशाहं वा। अनुपरतप्रदानमङ्गलाशीःस्तुतिगीतवादित्रमन्नपानविशदमनुरक्तप्रहृष्टजनसम्पूर्णं च तद्वेश्म कार्यम्। ब्राह्मणश्चाथर्ववेदवित् सततमुभयकालं शान्तिं जुहुयात्, स्वस्त्ययनार्थं कुमारस्य तथा सूतिकायाः। (चरक)।

अब यहाँ पर बालक से संबंधित कुछ विषयों का विचार किया जायगा—(१) कुमारागार—चरकसंहिता में बालक के लिए स्वतन्त्र गृह बनाने के लिए लिखा है—वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमनन्धकारं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतश्वापदपशुदंष्ट्रिमूषिकपतंगं सुविभक्तसलिलोलूखलमूत्रवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसंपन्नं कुर्यात्। तथा सुविहितरक्षाविधानबलिमंगलहोमप्रायश्चित्तं शुचिवृद्धवैद्यानुरक्तजनसम्पूर्णम्। सुश्रुत और अष्टांगहृदय में कुमारागार स्वतन्त्र नहीं दिया है, परन्तु अष्टांगसंग्रह में चरक के अनुसार स्वतन्त्र दिया है। अब प्रश्न यह उठता है कि स्वतन्त्र कुमारागार आवश्यक है या नहीं है, और यदि आवश्यक हो तो किस परिस्थिति में आवश्यक होता है। जन्म के पश्चात् भी, यद्यपि गर्भावस्था के समान नहीं, माता और बालक का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है क्योंकि बालक का पोषण माता के दूध पर ही हुआ करता है। इसलिए जहाँ पर और जब तक बालक माता का ही दूध पीता है वहाँ पर और तब तक बालक के लिए माता के स्थान से स्वतन्त्र स्थान न आवश्यक है, न उचित है। जहाँ पर और जब से बालक का पोषण माता के दूध पर नहीं होता, वहाँ पर और तब से बालक का स्थान माता से भिन्न रखने में न कोई सुविधा है, न औचित्य है। इसलिए जहाँ पर माता स्वयं बच्चे को दूध पिलाती है तथा उसकी देखभाल करती है, वहां पर कुमारागार की कोई आवश्यकता नहीं है, सूतिकागार में ही कुमार के लिए आवश्यक प्रबन्ध करने से काम हो जाता है। परन्तु जहाँ पर माता बालक को दूध नहीं पिला सकती (जैसे, रुग्ण माता), अथवा बालक को दूध पिलाना नहीं चाहती (जैसे, धनी, अमीर या राजपुरुष की स्त्री अथवा आधुनिक कालीन पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करने वाली स्त्री, जो बच्चे को पिलाना एक असभ्य काम समझती है या जो बच्चे की अपेक्षा अपने स्तनों की पुष्टता को याने पर्याय से अपने यौवन को अधिक महत्त्व देती है) और इस परिस्थिति के कारण जहाँ पर बालक के लिए धात्री रक्खी गई है, या ऊपर का दूध दिया जा रहा है वहाँ पर सूतिकागार और कुमारागार पृथक् रखना ही आवश्यक है। कुछ भी हो, जहाँ पर बालक रहे वहाँ पर बालक के लिए आवश्यक सब बातों का प्रबन्ध होना चाहिये। जैसे कि ऊपर चरक के वचन में बताया गया है। कुमारागार के संबंध में कुछ विवरण पीछे चौथे सूत्र के वक्तव्य में सूतिकागार के साथ किया गया है। बालक के वस्त्र शय्यादि—बालक के वस्त्र स्वच्छ, निर्मल, मृदु, शुष्क और सुधौत होने चाहिएं और उसकी शय्या मृदु, खटमल या पिस्सू से विरहित तथा यदि मच्छर हों तो मच्छरदानी से युक्त होनी चाहिए—निर्मलान्यसुगन्धीनि च लघूनि। शुचीन्युष्णानि निर्मलानि मृदूनि च। शय्यास्तरणवासांसि रक्षोघ्नधूपितानि च ॥ (अष्टांगसंग्रह)। दत्तमाल्यरत्नाभरणानि कुमारस्य मूर्ध्न्याहति

सुगन्धीनि स्युः। स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः, असति संभवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि शुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः॥ धूपनानि पुनर्वाससां शयनास्तरणप्रावरणानां च यवसर्षपातसीहिङ्गुगुग्गुलुवचाचोरकवयःस्थागोलोमीजटिलापलङ्कषाशोकरोहिणीसर्पनिर्मोकाणि घृतयुक्तानि स्युः। (चरक)। चरक का कथन है कि जो वस्त्र मल-मूत्रादि से दूषित हो जाते हैं, उनको वर्जित करना चाहिए। यदि यह न हो सके तो उनको अच्छी तरह धोकर और सुखाकर तथा धूपित करके काम में लाना चाहिए।

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा ॥ २४ ॥

(नामकरणविधि—) तदनन्तर दसवें दिन माता-पिता मंगलोत्सव किये हुए पुण्याहवाचन करके अपने को अभीष्ट अथवा नक्षत्र नाम रक्खें ॥ २४ ॥

वक्तव्य—दशमेऽहनि—प्रसूता के लिए दस रोज तक अशौच रहता है, इसलिए 'ग्यारहवें दिन' ऐसा इसका अर्थ करना चाहिए। चरकसंहिता में 'दशमे त्वहनि' पाठ के बदले 'दशम्यां निरवर्तितायाम्' ऐसा भी पाठभेद मिलता है। यह नामकरणविधि दसवें, या बारहवें दिन में और उन दिनों में न हो सकी तो आगे शुभ मुहूर्त पर किसी दिन की जाती है—नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्। पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥ (मनुस्मृति २-३०)। इस श्लोक की टीका में कुल्लूक भट्ट लिखते हैं—अथवा 'आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति शङ्खवचनाद् दशमेऽहन्यतीते एकादशाहे इति व्याख्येयम्॥ प्रसूति के बाद माने गये इस अशौच को जननाशौच या सूतक कहते हैं। यह अशौच प्रसवशोणित स्राव के लिए रक्खा गया है जैसे आर्तवस्राव के लिए अशौच होता है उसी प्रकार का यह अशौच है और जैसे आर्तवशोणितस्राव की औसत अवधि तीन दिन की होने से उसका अशौच तीन दिन माना जाता है, वैसे ही प्रसवशोणितस्राव की औसत अवधि दस रोज की होती है, इसलिए जननाशौच दस रोज का माना जाता है—पित्रोस्तु सूतकं मातुस्तदसृग्दर्शनाद् ध्रुवम्। (याज्ञवल्क्यस्मृति ३-१९)। इस पर विज्ञानेश्वर लिखते हैं—सूतकं जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं पित्रोर्मातापित्रोरेव न सर्वेषां सपिण्डानाम्। तच्चास्पृश्यत्वं मातुर्ध्रुवं दशाहपर्यन्तं स्थिरमित्यर्थः। कुतः। तदसृग्दर्शनात्। तस्याः संबंधित्वेनासृजो दर्शनात्। अतएव वसिष्ठः—नाशौचं विद्यते पुंसः संसर्गं चेन्न गच्छति। रजस्तत्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि न विद्यते॥ जेलेट अपनी पुस्तक में लिखते हैं—These figures show an average duration (of lochia) of 8¾ days. *Manual of Midwifery.* अशौच मानने की कारणपरंपरा इस प्रकार की है—जैसे, आर्तवशोणित से शरीर शुद्ध होता है (३ अध्याय के ९ सूत्र के वक्तव्य को देखो), इसलिए वह शोणित अशुद्ध रहता है और उससे युक्त स्त्री अस्पृश्य मानी जाती है, वैसे ही प्रसवशोणित से योनिगर्भाशय की शुद्धि (Cleansing) होती है, इसलिए वह शोणित अशुद्ध रहता है और उससे युक्त स्त्री अस्पृश्य मानी जाती है। डा० निकोल्स लिखते हैं—A cleansing discharge, called lochia, is kept up for ten or twelve days after delivery in the common practice. *Esoteric Anthropology.* इसकी औसत अवधि नौ या दस दिन की है, अर्थात् कुछ स्त्रियों में यह स्राव अधिक दिनों तक जारी रहता है। यदि प्रसवशोणित स्राव पर अशौच के दिन निश्चित किये जायँगे तो प्रत्येक स्त्री में जननाशौच की अवधि भिन्न भिन्न होगी और व्यवहार में अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होगा। अतः व्यवहार के लिए दस दिन का अशौच औसत स्राव दिनों पर निश्चित किया गया है, जैसे आर्तव का तीन दिनों का अशौच औसत स्राव दिनों पर निश्चित किया गया है—मासि मासि रजो ह्यासां दुष्कृतान्यपकर्षति ... संव्यवहारयोग्यत्वाभावम् (विज्ञानेश्वर)। कृतमंगलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा—कौतुक का अर्थ उत्सव है। चरकसंहिता में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—दशमे त्वहनि सपुत्रा स्त्री सर्वगन्धौषधैर्गौरसर्षपलोध्रैश्च स्नात्वा लघ्वहतशुचिवस्त्रं परिधाय पवित्रेष्टलघुविचित्रभूषणवती च संस्पृश्य मङ्गलान्युचितमर्चयित्वा च देवतां शिखिनः शुक्लवाससोऽव्यङ्गांश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा कुमारमहतानां च वाससां संचये प्राक्शिरसमुदक्शिरसं वा संवेश्य देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः प्रणमति॥ नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रं वा—दो नाम रक्खे जाते हैं, एक अपनी इच्छा के अनुसार और दूसरा नाक्षत्रिक याने जिस नक्षत्र पर बालक का जन्म होता है, उस नक्षत्र की जो देवता होती है उसका नाम। नामकरण के कई नियम होते हैं—जैसे प्रारम्भ में अमुक अक्षर मध्य में अमुक, अन्त में अमुक अक्षर होने चाहिएँ। पुरुषों के नाम दो या चार अक्षर के, स्त्री के तीन अक्षर के, ब्राह्मण हो तो शर्म, क्षत्रिय हो तो वर्म इत्यादि—घोषवदाद्यन्तरन्तस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा। युग्मानि त्वेवं पुंसाम्। अयुजानि स्त्रीणाम्। (आश्वलायन गृह्यसूत्र)। मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥ शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्॥ स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्। मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥ (मनुस्मृति २-३१-३३)। शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम्। गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥ (विष्णुपुराण)।

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्कामरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्ध्वस्तनीमव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्यबलवृद्धये बालस्य ॥ २५ ॥

(धात्री के गुण—) तदनन्तर वर्णानुसार मध्यमशरीर की, मध्यम आयु की, नीरोग, सुशील, शान्तस्वभाव की, जो लोभी न हो, जो न पतली हो न मोटी हो, जिसका दूध प्रसन्न हो, जिसके होठ लम्बे न हों, जिसके स्तन न बहुत लम्बे हों न छोटे (पीन) हों, अव्यंग, व्यसनों से विरहित, जिसके अपत्य जिन्दे हों, बहुत दूध वाली, प्यार करने वाली, नीच कर्म न करने वाली, उत्तम कुल में पैदा हुई, इसलिए अनेक उत्तम गुणों से युक्त तथा

श्यामा धात्री को बालक के आरोग्य और बल की वृद्धि के लिए नियुक्त करे ॥ २५ ॥

वक्तव्य—यथावर्णम्—ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण जाति की, क्षत्रिय के लिए क्षत्रिय जाति की इत्यादि। मध्यमप्रमाण—जिसके शरीर में किसी बात की अधिकता या अल्पता न होकर मध्यमता हो। इसका सम्बन्ध अधिकतर शरीर के जो आठ दोष चरकसंहिता में बताये गये हैं, उनसे है—अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चाति गौरश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति। (सूत्र, अष्टौनिन्दितीयाध्याय)। ये दोष जिसके शरीर में न हों, ऐसी। मध्यमवयस्का—जो न तरुणी हो, न वृद्धा हो। इसके सम्बन्ध में डल्हण कहते हैं—तरुणी स्यादवत्सला। क्लेशं न सहते वृद्धा स्तन्यं चास्या न पुष्टिदम्॥ अलोलुपा—लोलुप का अर्थ यद्यपि लोभी होता है तथापि यहाँ पर उसका संबंध अधिकतर खाद्य पेयों के साथ समझना चाहिए। जो धात्री खाद्य पेयों में लोभी होगी उससे विषमाशन, अध्यशन, समशन तथा बालक के लिए अपथ्य द्रव्यों का सेवन इत्यादि आहारदोष होंगे और उसका दूध खराब होगा। इसलिए धात्री खाद्य-पेय द्रव्यों में लोभ करने वाली न होनी चाहिए। दोग्ध्री—बहुक्षीरा। श्यामा श्यामा हि प्रायशः प्रचुरक्षीरा भवति। (डल्हण)। श्यामा के लक्षण—शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला। तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कीर्तिता॥

जीवद्वत्सा—जिस स्त्री को बच्चे होकर मरते हैं उस स्त्री को कोई माता अपने बालक को धात्री रखने के लिए तैयार नहीं होगी। माता की दृष्टि से यह भावना का प्रश्न होता है। वैद्य की दृष्टि से भी मृतवत्सा धात्री योग्य नहीं होती क्योंकि बालक की मृत्यु का कारण उसका या उसके दूध का दोष हो सकता है, जो दोष इस नये बच्चे को भी दूषित कर सकता है। माता के दूध का संगठन बालक की आयुर्वृद्धि के साथ बदलता है, इसलिए जीवद्वत्सा धात्री के बालक की उम्र करीब उतनी ही होनी चाहिए, जितनी कि धात्री रखने वाले बालक की होती है। इन गुणों के अतिरिक्त चरक में निम्न गुण अधिक मिलते हैं। देशजातीया—बालक तथा उसके माता-पिता जिस देश के निवासी हों, उसी देश में रहने वाली। देशभिन्नता का परिणाम रहन-सहन और आहार पर होता है। जो आहार धात्री के लिए सात्म्य होता है, वह बालक के लिए सात्म्य नहीं होता। इससे बालक को तकलीफ होने की संभावना होती है। इसलिए समानदेशजा धात्री होनी चाहिए। कुशलोपचारा—उपचारज्ञा। बालक की परिचर्या करने में कुशल। धात्री बालक की परिचारिका भी होती है। बालक रुग्ण होने पर खान-पानादि का प्रबन्ध उसी को करना पड़ता है। इसलिए उसमें परिचारिका गुण जो उपचारज्ञता, वह भी होना चाहिए—उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि। शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने॥ (चरक सू० ९)। अजुगुप्सिता—बालक का स्वभाव चिड़चिड़ा हो सकता है, स्वरूप विकृत हो सकता है, स्वास्थ्य हमेशा खराब हो सकता है, अतीसार प्रवाहिकादि विकार हो सकते हैं, ये सब कुछ होते हुए भी जिसको बालक के सम्बन्ध में घृणा पैदा नहीं होती, ऐसी। शुचिरद्वेषिणी—ये दोनों गुण यद्यपि एक-से मालूम पड़ते हैं तथापि एक नहीं हैं। बहुतेरे नौकर जहाँ पर काम करते हैं, वहाँ पर घर की परिस्थिति और सूचनाओं के अनुसार सफाई का ध्यान रखते हैं, परन्तु जब घर के बाहर जाते हैं तब सफाई के ख्याल को भूल जाते हैं और अपने गन्दे दोस्तों के साथ मिलते हैं। इसलिए धात्री में स्वयं स्वच्छ रहने का और अस्वच्छता से दूर रहने का गुण होना चाहिये। स्तनसम्पदुपेता—तत्र स्तनसम्पत्—नात्यूर्ध्वौ नातिलम्बौ अनतिकृशावनतिपीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपानौ चेति। (चरक)। युक्तपिप्पलकौ—युक्तचुचूकौ। 'With well shaped nipples.' सुखप्रपानौ—जिनको पीने में बालक को आसानी हो। वाग्भटाचार्य इन गुणों के अलावा निम्न गुण अधिक बताते हैं—ब्रह्मचारिणी—निषिद्धपुंसयोगा। (इन्दु)। वर्जितमैथुना (अरुणदत्त)। इस शब्द से कई अर्थ निकल आते हैं धात्री शीलवती, अचपला, कुलजाता इत्यादि गुणसंपन्न होती है, अर्थात् वह अधार्मिक मैथुन नहीं कर सकती तथ करने वाली हो तो उपर्युक्त गुणों से युक्त भी नहीं मानी जाती है। ऐसी अवस्था में जब इसके लिए मैथुन या पुरुष समागम वर्ज्य किया गया है, तब यह समझ सकते हैं कि वह विवाहित और जीवद्भर्तृका स्त्री भी होनी चाहिए। ऐसी स्त्री अगर उसको पुरुषसमागम के बारे में कुछ भी न बताया जाय तो समागम कर सकती है। पुरुषसमागम करने से उसके गर्भवती होने की संभावना होती है और गर्भवती स्त्री का दूध बालक के लिए विकारी होता है। इसलिए मैथुन का निषेध जब तक स्त्री बालक को पिलाती है, तब तक आवश्यक है। धात्री गर्भवती होने पर उसको छोड़ सकते हैं, परन्तु दूसरी धात्री रखने में कठिनाई होती है और दूसरी धात्री का दूध बालक के लिए कुछ काल तक असात्म्य होने के कारण उसी से भी बालक बीमार पड़ सकता है। इसलिए दूध पिलाने के समय में धात्री को ब्रह्मचर्य व्रत से रहना नितान्त आवश्यक है। धात्री की आवश्यकता—प्रत्येक प्रसूता के लिए या प्रत्येक बालक के लिए धात्री की आवश्यकता नहीं होती। माता के समान बालक को निरपेक्ष प्यार करने वाला, बालक की रक्षा की चिन्ता करने वाला, बालक का पोषण करने वाला संसार में दूसरा कोई मनुष्य नहीं होता है क्योंकि बालक गर्भावस्था में माता के खून से पुष्ट होता है और जन्म के पश्चात् खून से पैदा हुए दूध से पुष्ट होता है—अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चाभिजायते। तस्मात् प्रियतरो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः॥ (रामायण २-७४)। नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः। नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया॥ मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये। समर्थं वाऽसमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा। रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः॥ (महाभारत, शान्तिपर्व २६६)। कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति। (शंकराचार्य)। यह वर्णन काव्य या पुराण नहीं है, वस्तुस्थिति ही ऐसी है। जन्म के पश्चात् बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम खाद्य दूध है और वह भी माता का दूध है, इस बात का स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद ने अत्यंत प्राचीन काल में किया है—मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। (अष्टांगहृदय)। पाश्चात्य देशों में माता के दूध का महत्त्व

अब मालूम होने लगा है—Breast feeding by the mother—This is the natural method of feeding an infant. *Jellet's Midwifery.* जो बालक माता के दूध पर बढ़ते हैं, उनका स्वास्थ्य औरों की अपेक्षा बहुत अच्छा होता है। इसलिए प्रत्येक स्त्री का यह कर्तव्य तथा धर्म है कि वह अपने बालक को स्तनों का दूध पिलावे। इसमें उसका भी फायदा होता है क्योंकि बालक के स्तनपान से गर्भाशय पूर्वावस्था को प्राप्त होने में सहायता होती है (१४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) । डा० निकोलस कहते हैं कि यदि माता दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में हो तो उसको बच्चे को दूध पिलाना चाहिए; और यदि वह दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में न हो तो वह प्रजोत्पादन करने योग्य नहीं है—Every mother ought to nurse her own child, if she is fit to do it, and no woman is fit to have a child who is not fit to nurse it. *Esoteric Anthropology.* परन्तु कई वार ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं या खड़ी की जाती हैं कि बालक को माता का दूध नहीं मिल सकता। ये अवस्थाएँ निम्न हैं—(१) माता की मृत्यु—कई वार प्रसूति ज्वर से माता की मृत्यु बालक के जन्म के कुछ दिनों के पश्चात् होती है। जन्म होते ही माता की मृत्यु होने से बालक के पालन-पोषण में औरों को बड़ी कठिनाई होती है और बालक को भी अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। इसलिए बचपन में माता की मृत्यु होना बालक के पूर्वपाप का निदर्शन माना जाता है—बालत्वं च मृता माता, वृद्धत्वं च मृताः सुताः। यौवनं च मृता भार्या पातकं किमतः परम्॥ (सुभाषित)। (२) माता का अस्वास्थ्य—प्रसव के पूर्व या पश्चात् अधिक रक्तस्राव से या अन्य कारण से उत्पन्न हुआ दौर्बल्य, अपची, राजयक्ष्मा, वृक्करोग, हृद्रोग, पागलपन (उन्माद) इत्यादि रोगों से माता पीड़ित हो तो बालक को दूध न पिलाना चाहिए। (३) स्तनस्तन्यदोष—स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, स्तन्य की खराबी ये दोष होने पर बालक को दूध न पिलाना ही प्रशस्त होता है। कई वार ऐसा देखा जाता है कि जन्म के समय बालक स्वस्थ होने पर भी माता का दूध खराब होने के कारण बालक खराब होता जाता है और खराब हालत में अन्य रोगों का शिकार बनकर उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसी अवस्था में जन्म से माता का दूध बालक को न देना अच्छा है। (४) पाश्चात्यों का अन्धानुकरण—पाश्चात्य देशों में एक समय ऐसा था कि बालक को पिलाना असभ्यता मानी जाती थी और कृत्रिम दूध बनाकर उसके ऊपर बालक की परवरिश करना विज्ञान की करामात और मनुष्यजाति की सभ्यता परमकोटी मानी जाती थी। हमारे देश में भी पाश्चात्य ढंग पर लिखे-पढ़े पुरुष पाश्चात्य प्रत्ययनेयबुद्धि होकर इस पद्धति की प्रशंसा करने लगे और स्त्रियाँ इसका अनुकरण करने लगीं। इस रिवाज के ऊपर—'टैन टीचर की प्रसूतितन्त्र की पुस्तक' में बड़ी मार्मिक टीका की गई है—It is a curious commentary on the triumph of science in making possible the rearing of infants on a substitute for their natural food that bottle-feeding should have become so general as almost to be taken for granted among certain sections of the community. As soon, however, as the problem is approached from the point of view of the nation as a whole and the effects studied over large numbers, the evils of substitute feeding become clear, and it is a question whether even the triumph of science will enable a race to survive in the struggle for existance if it depends for the rearing of its young on the milk of another animal. *Ten Teacher's Midwifery.* (५) राजघराने और अमीरी खानदान—यहाँ की स्त्रियाँ प्रायः बच्चों को दूध नहीं पिलाती हैं। यह रिवाज बड़प्पन के कारण जारी हुआ होगा। (६) स्तनों का स्वास्थ्य—इसमें संदेह नहीं है कि बच्चे को पिलाने से स्तन छोटे, पिलपिले, शिथिल, मुर्झाये हुए हो जाते हैं और स्तनत्याग करने के पश्चात् स्तनों को अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त होने के लिए कुछ काल लगता है। अर्थात् साल भर के लिए उत्पन्न होने वाली स्तनों की यह स्थिति कुछ जवान स्त्रियों को अखरती है। इसलिए वे बच्चों को दूध पिलाना पसन्द नहीं करतीं।

बालक को माता का स्तनपान न मिलने के ये छः कारण हैं। इनमें से प्रथम तीन कारण आवश्यक और अनैच्छिक हैं और द्वितीय तीन कारण ऐच्छिक और अस्वाभाविक हैं। कुछ भी हो और विज्ञान की उन्नति कितनी भी क्यों न हो, मनुष्य अपनी विशेषता रखता है; इसलिए मातृस्तन्य-त्याग के ये छः कारण हमेशा उपस्थित रहेंगे। ऐसी अवस्था में बालक के पोषण का स्वतन्त्र प्रबंध करना पड़ता है। यह प्रबंध दो तरह से किया जाता है—धात्री द्वारा और गव्यादि दुग्ध द्वारा। ये दोनों उपाय प्राचीन हैं—मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसंपदि वत्सले। स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्॥ (अष्टांगहृदय)। आधुनिक काल में भी ये दोनों प्रबन्ध प्रचलित हैं।

धात्री—बालक को दूध पिलाने के लिए तथा उसकी देखभाल और सेवा-शुश्रूषा के लिए जो स्त्री रक्खी जाती है, वह धात्री कहलाती है। राजवंश में धात्री रखने का रिवाज होता है, इसका उल्लेख पीछे किया गया है। यह रिवाज बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है—उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम्। (रघुवंश ३-२५)। कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः। आनन्देनाग्रजेनैव समं ववृधिरे पितुः॥ (रघुवंश १०-७८)। वाग्भटाचार्य इसी को स्तन्यधात्री कहते हैं। अंग्रेजी में नर्स (Nurse) और वेटनर्स (Wet-nurse) ये दो शब्द प्रचलित हैं। बालक की दृष्टि से इन दो शब्दों के लिए अनुक्रम से धात्री और स्तन्यधात्री ये दो शब्द बहुत ही उत्तम पर्याय हैं। धात्री बालक को जन्म नहीं देती, परंतु जन्म के पश्चात् माता के समान उसका पालन-पोषण अपने स्तन्य से करती है, इसलिए वह उपमाता (Foster-mother) भी कहलाती है। वाग्भटाचार्य बालक के लिए दो धात्री तैनात करने के लिए लिखते हैं। यह सूचना बहुत ही अच्छी है (३०वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अगर एकाध रोज धात्री बीमार हो

श्यामा धात्री को बालक के आरोग्य और बल की वृद्धि के लिए नियुक्त करे ॥ २५ ॥

वक्तव्य—यथावर्णम्—ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण जाति की, क्षत्रिय के लिए क्षत्रिय जाति की इत्यादि। मध्यमप्रमाणा—जिसके शरीर में किसी बात की अधिकता या अल्पता न होकर मध्यमता हो। इसका सम्बन्ध अधिकतर शरीर के जो आठ दोष चरकसंहिता में बताये गये हैं, उनसे है—अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा ; चातिकृष्णश्चातिगौरश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति। (सूत्र, अष्टौनिन्दितीयाध्याय)। ये दोष जिसके शरीर में न हों, ऐसी। मध्यमवयस्का—जो न तरुणी हो, न वृद्धा हो। इसके सम्बन्ध में दारुवाही कहते हैं—तरुणी स्यादवत्सला। क्लेशं न सहते वृद्धा स्तन्यं चास्या न पुष्टिकृत् ॥ अलोलुपा—लोलुप का अर्थ यद्यपि लोभी होता है तथापि यहाँ पर उसका संबंध अधिकतर खाद्य पेयों के साथ समझना चाहिए। जो धात्री खाद्य पेयों में लोभी होगी उससे विषमाशन, अध्यशन, समशन तथा बालक के लिए अपथ्य द्रव्यों का सेवन इत्यादि आहारदोष होंगे और उसका दूध खराब होगा। इसलिए धात्री खाद्य-पेय द्रव्यों में लोभ करने वाली न होनी चाहिए। दोग्ध्री—बहुक्षीरा। श्यामा—श्यामा हि प्रायशः प्रचुरक्षीरा भवति। (डल्हण)। श्यामा के लक्षण—शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला। तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कीर्तिता ॥

जीवद्वत्सा—जिस स्त्री को बच्चे होकर मरते हैं उस स्त्री को कोई माता अपने बालक को धात्री रखने के लिए तैयार नहीं होगी। माता की दृष्टि से यह भावना का प्रश्न होता है। वैद्य की दृष्टि से भी मृतवत्सा धात्री योग्य नहीं होती क्योंकि बालक की मृत्यु का कारण उसका या उसके दूध का दोष हो सकता है, जो दोष इस नये बच्चे को भी दूषित कर सकता है। माता के दूध का संगठन बालक की आयुर्वृद्धि के साथ बदलता है, इसलिए जीवद्वत्सा धात्री के बालक की उम्र करीब उतनी ही होनी चाहिए, जितनी कि धात्री रखने वाले बालक की होती है। इन गुणों के अतिरिक्त चरक में निम्न गुण अधिक मिलते हैं। देशजानीया—बालक तथा उसके माता-पिता जिस देश के निवासी हों, उसी देश में रहने वाली। देशभिन्नता का परिणाम रहन-सहन और आहार पर होता है। जो आहार धात्री के लिए सात्म्य होता है, वह बालक के लिए सात्म्य नहीं होता। इससे बालक को तकलीफ होने की संभावना होती है। इसलिए समानदेशजा धात्री होनी चाहिए। कुशलोपचारा—उपचारज्ञा। बालक की परिचर्या करने में कुशल। धात्री बालक की परिचारिका भी होती है। बालक रुग्ण होने पर खानपानादि का प्रबन्ध उसी को करना पड़ता है। इसलिए उसमें परिचारिका गुण जो उपचारज्ञता, वह भी होना चाहिए—उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि। शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने ॥ (चरक सू० ९)। अजुगुप्सिता—बालक का स्वभाव चिड़चिड़ा हो सकता है, स्वरूप विकृत हो सकता है, स्वास्थ्य हमेशा खराब हो सकता है, अतीसार प्रवाहिकादि विकार हो सकने हैं, ये सब कुछ होते हुए भी जिसको बालक के सम्बन्ध में घृणा पैदा नहीं होती, ऐसी। शुचि, अशुचिद्वेषिणी—ये दोनों गुण यद्यपि एक-से मालूम पड़ते हैं तथापि एक नहीं हैं। बहुतेरे नौकर जहाँ पर काम करते हैं, वहाँ पर घर की परिस्थिति और सूचनाओं के अनुसार सफाई का ध्यान रखते हैं, परन्तु जब घर के बाहर जाते हैं तब सफाई के ख्याल को भूल जाते हैं और अपने गन्दे दोस्तों के साथ मिलते हैं। इसलिए धात्री में स्वयं स्वच्छ रहने का और अस्वच्छता से दूर रहने का गुण होना चाहिये। स्तनसम्पदुपेता—नचैव स्तनसम्पद्—नात्यूर्ध्वौ नातिलम्बावनतिकृशावनतिपीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपानौ चेति। (चरक)। युक्तपिप्पलकौ—युक्तचुचूकौ। 'With well shaped nipples.' सुखप्रपानौ—जिनको पीने में बालक को आसानी हो। वाग्भटाचार्य इन गुणों के अलावा निम्न गुण अधिक बताते हैं—ब्रह्मचारिणी—निषिद्धपुंसयोगा। (इन्दु)। वर्जितमैथुना। (अरुणदत्त)। इस शब्द से कई अर्थ निकल आते हैं। धात्री शीलवती, अचपला, कुलेजाता इत्यादि गुणसम्पन्न होती है, अर्थात् वह अधार्मिक मैथुन नहीं कर सकती तथा करने वाली हो तो उपर्युक्त गुणों से युक्त भी नहीं मानी जाती है। ऐसी अवस्था में जब इसके लिए मैथुन या पुरुषसमागम वर्ज्य किया गया है, तब यह समझ सकते हैं कि यह विवाहित और जीवद्वत्सा स्त्री भी होनी चाहिए। ऐसी स्त्री अगर उसको पुरुषसमागम के बारे में कुछ भी न बताया जाय तो समागम कर सकती है। पुरुषसमागम करने से उसके गर्भवती होने की संभावना होती है और गर्भवती स्त्री का दूध बालक के लिए विकारी होता है। इसलिए मैथुन का निषेध जब तक स्त्री बालक को पिलाती है, तब तक आवश्यक है। धात्री गर्भवती होने पर उसको छोड़ सकते हैं, परन्तु दूसरी धात्री रखने में कठिनाई होती है और दूसरी धात्री का दूध बालक के लिए कुछ काल तक असात्म्य होने के कारण उसी से भी बालक बीमार पड़ सकता है। इसलिए दूध पिलाने के समय में धात्री को ब्रह्मचर्य व्रत से रहना नितान्त आवश्यक है। धात्री की आवश्यकता—प्रत्येक प्रसूता के लिए या प्रत्येक बालक के लिए धात्री की आवश्यकता नहीं होती। माता के समान बालक को निरपेक्ष प्यार करने वाला, बालक की रक्षा की चिन्ता करने वाला, बालक का पोषण करने वाला संसार में दूसरा कोई मनुष्य नहीं होता है क्योंकि बालक गर्भावस्था में माता के खून से पुष्ट होता है और जन्म के पश्चात् खून से पैदा हुए दूध से पुष्ट होता है—अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चाभिजायते। तस्मात् प्रियतरो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः ॥ (रामायण २-७४)। नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः। नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये। समर्थं वाऽसमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा। रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः ॥ (महाभारत, शान्तिपर्व २६६)। कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति। (शङ्कराचार्य)। यह वर्णन काव्य या पुराण नहीं है, वस्तुस्थिति ही ऐसी है। जन्म के पश्चात् बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम खाद्य दूध है और वह भी माता का दूध है, इस बात का स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद ने अत्यन्त प्राचीन काल में किया है—मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। (अष्टांगहृदय)। पाश्चात्य देशों में माता के दूध का महत्त्व

अब मालूम होने लगा है—Breast feeding by the mother—This is the natural method of feeding an infant. *Jellet's Midwifery.* जो बालक माता के दूध पर बढ़ते हैं, उनका स्वास्थ्य औरों की अपेक्षा बहुत अच्छा होता है। इसलिए प्रत्येक स्त्री का यह कर्तव्य तथा धर्म है कि वह अपने बालक को स्तनों का दूध पिलावे। इसमें उसका भी फायदा होता है क्योंकि बालक के स्तनपान से गर्भाशय पूर्वावस्था को प्राप्त होने में सहायता होती है (१४वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। डा० निकोल्स कहते हैं कि यदि माता दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति ...ो तो उसको बच्चे को दूध पिलाना चाहिए; और यदि दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में न हो तो वह ...त्पादन करने योग्य नहीं है—Every mother ...ght to nurse her own child, if she is fit to do and no woman is fit to have a child who is ...t fit to nurse it. *Esoteric Anthropology.* परन्तु ... वार ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं या खड़ी की जाती ...कि बालक को माता का दूध नहीं मिल सकता। ये ...वस्थाएँ निम्न हैं—(१) माता की मृत्यु—कई वार प्रसूति ...र से माता की मृत्यु बालक के जन्म के कुछ दिनों के ...श्चात् होती है। जन्म होते ही माता की मृत्यु होने से ...ालक के पालन-पोषण में औरों को बड़ी कठिनाई होती है ...ौर बालक को भी अनेक यातनाएँ सहन करती पड़ती ...है। इसलिए बचपन में माता की मृत्यु होना बालक के पूर्वपाप का निदर्शन माना जाता है—बालत्वं च मृता माता, वृद्धत्वं च मृताः सुताः। यौवनं च मृता भार्या पातकं किमतः परम्॥ (सुभाषित)। (२) माता का अस्वास्थ्य—प्रसव के पूर्व या पश्चात् अधिक रक्तस्राव से या अन्य कारण से उत्पन्न हुआ दौर्बल्य, अपची, राजयक्ष्मा, वृक्करोग, हृद्रोग, पागलपन (उन्माद) इत्यादि रोगों से माता पीड़ित हो तो बालक को दूध न पिलाना चाहिए। (३) स्तनस्तन्यदोष—स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, स्तन्य की खराबी ये दोष होने पर बालक को दूध न पिलाना ही प्रशस्त होता है। कई वार ऐसा देखा जाता है कि जन्म के समय बालक स्वस्थ होने पर भी माता का दूध खराब होने के कारण बालक खराब होता जाता है और खराब हालत में अन्य रोगों का शिकार बनकर उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसी अवस्था में जन्म से माता का दूध बालक को न देना अच्छा है। (४) पाश्चात्यों का अन्धानुकरण—पाश्चात्य देशों में एक समय ऐसा था कि बालक को पिलाना असभ्यता मानी जाती थी और कृत्रिम दूध बनाकर उसके ऊपर बालक की परवरिश करना विज्ञान की करामात और मनुष्यजाति की सभ्यता परम-कोटी मानी जाती थी। हमारे देश में भी पाश्चात्य ढंग पर लिखे-पढ़े पुरुष पाश्चात्य प्रत्ययनेयबुद्धि होकर इस पद्धति की प्रशंसा करने लगे और स्त्रियाँ इसका अनुकरण करने लगीं। इस रिवाज के ऊपर—'टेन टीचर की प्रसूतितन्त्र की पुस्तक' में बड़ी मार्मिक टीका की गई है—It is a curious commentary on the triumph of science in making possible the rearing of infants on a substitute for their natural food that bottle-feeding should have become so general as almost to be taken for granted among certain sections of the community. As soon, however, as the problem is approached from the point of view of the nation as a whole and the effects studied over large numbers, the evils of substitute feeding become clear, and it is a question whether even the triumph of science will enable a race to survive in the struggle for existance if it depends for the rearing of its young on the milk of another animal. *Ten Teacher's Midwifery.* (५) राजघराने और अमीरी खानदान—यहाँ की स्त्रियाँ प्रायः बच्चों को दूध नहीं पिलाती हैं। यह रिवाज बड़प्पन के कारण जारी हुआ होगा। (६) स्तनों का स्वास्थ्य—इसमें संदेह नहीं है कि बच्चे को पिलाने से स्तन छोटे, पिलपिले, शिथिल, मुर्झाये हुए हो जाते हैं और स्तनत्याग करने के पश्चात् स्तनों को अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त होने के लिए कुछ काल लगता है। अर्थात् साल भर के लिए उत्पन्न होने वाली स्तनों की यह स्थिति कुछ जवान स्त्रियों को अखरती है। इसलिए वे बच्चों को दूध पिलाना पसन्द नहीं करतीं।

बालक को माता का स्तनपान न मिलने के ये छः कारण हैं। इनमें से प्रथम तीन कारण आवश्यक और अनैच्छिक हैं और द्वितीय तीन कारण ऐच्छिक और अस्वाभाविक हैं। कुछ भी हो और विज्ञान की उन्नति कितनी भी क्यों न हो, मनुष्य अपनी विशेषता रखता है; इसलिए मातृस्तन्य-त्याग के ये छः कारण हमेशा उपस्थित रहेंगे। ऐसी अवस्था में बालक के पोषण का स्वतन्त्र प्रबंध करना पड़ता है। यह प्रबंध दो तरह से किया जाता है—धात्री द्वारा और गव्यादि दुग्ध द्वारा। ये दोनों उपाय प्राचीन हैं—मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसंपदि वत्सले। स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्॥ (अष्टांगहृदय)। आधुनिक काल में भी ये दोनों प्रबन्ध प्रचलित हैं।

धात्री—बालक को दूध पिलाने के लिए तथा उसकी देखभाल और सेवा-शुश्रूषा के लिए जो स्त्री रक्खी जाती है, वह धात्री कहलाती है। राजवंश में धात्री रखने का रिवाज होता है, इसका उल्लेख पीछे किया गया है। यह रिवाज बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है—उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम्। (रघुवंश ३-२५)। कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः। आनन्देनाग्रजेनैव समं ववृधिरे पितुः॥ (रघुवंश १०-७८)। वाग्भटाचार्य इसी को स्तन्यधात्री कहते हैं। अंग्रेजी में नर्स (Nurse) और वेटनर्स (Wet-nurse) ये दो शब्द प्रचलित हैं। बालक की दृष्टि से इन दो शब्दों के लिए अनुक्रम से धात्री और स्तन्यधात्री ये दो शब्द बहुत ही उत्तम पर्याय हैं। धात्री बालक को जन्म नहीं देती, परंतु जन्म के पश्चात् माता के समान उसका पालन-पोषण अपने स्तन्य से करती है, इसलिए वह उपमाता (Foster-mother) भी कहलाती है। वाग्भटाचार्य बालक के लिए दो धात्री तैनात करने के लिए लिखते हैं। यह सूचना बहुत ही अच्छी है (३०वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अगर एकाध रोज धात्री बीमार हो

जाय या आगन्तु कारण से उसको कहीं जाना आवश्यक हो जाय तो जहाँ पर एक ही धात्री है वहाँ पर बालक को तकलीफ होगी, दो होने से किसी प्रकार की तकलीफ नहीं हो सकती, जैसे जहाँ पर रेल की डबल लाइन होती है वहाँ पर एक लाइन खराब होने से आने जाने में रुकावट नहीं होती या गाड़ी या जहाज या विमान के दो यन्त्र (एन्जीन) होने पर एक खराब होने से गाड़ी बंद नहीं होती। माता के दूध के अभाव में एवंगुणविशिष्ट धात्री का दूध मिल जाय तो वह दूध सोलहों आने माता के दूध का काम कर सकता है। इसलिए बालक की दृष्टि से माता के अभाव में धात्री रखना यही प्रशस्ततर मार्ग है। प्रश्न केवल उपर्युक्त गुणविशिष्ट धात्री मिलने का है। प्राचीन काल में थोड़े पैसे में उस प्रकार की धात्री मिलना बहुत कठिन नहीं था, इसलिए धात्री रखने का रिवाज अधिक था। आधुनिक काल में इस प्रकार की धात्री अधिक पैसा खर्च करने पर भी मुश्किल से मिल सकती है। इसलिए धात्री रखने का रिवाज इस समय बहुत कम हो गया है। इसका और एक कारण है। प्राचीन काल में कृत्रिम दुग्धपान (Artificial feeding) की जो दूसरी विधि है, उसमें कई कठिनाइयाँ थीं। आधुनिक काल में विज्ञान की सहायता मिलने के कारण कृत्रिम दुग्धपान एक सरल, सस्ती और सब के लिए सुगम विधि हो गई है। इस विधि का विवरण आगे ५१वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत् ॥ २६ ॥

(स्तनदोष के परिणाम—) इनमें ऊर्ध्वस्तनी (धात्री बालक को) कराल करती है। लंबस्तनी (धात्री दूध पिलाते समय अपने लंबे स्तनों से बालक के) नाक और मुख को आच्छादित करके मृत्यु उत्पन्न करती है ॥ २६ ॥

वक्तव्य—कराल—विचित्र या भयानक। स्तन ऊँचे होने के कारण दूध पीते समय बालक को ऊँचा देखना पड़ता है। इस अभ्यास से उसकी दृष्टि सदा के लिए वैसी ही हो जाती है। आगे अष्टांगसंग्रह का श्लोक देखो। हाराणचन्द्र कराल से दन्तुर या विकृत दाँतों का समझते हैं—तत्र दासु मध्ये ऊर्ध्वस्तनी कराल स्तनाभ्यां दन्तमूलाभ्युन्नतेर्मुखोरिणात्प्रादन्तमित्यर्थः। 'करालो दन्तुरे' इत्यमरः ॥ इन दोषों का परिणाम अष्टांगसंग्रह में लिखा है—पीनोऽतिचोर्ध्वस्तनी कुर्यात्दूर्ध्वाक्षमूर्ध्वगं। उच्छ्वासरोधात् लम्बोऽतिस्तनी जीवितसंशयम् ॥ (उत्तर १)।

ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीमुपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत् ॥ २७ ॥

'चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिणः।
भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये ॥ २८ ॥
पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा ॥ २९ ॥

(धात्री—स्तनपानविधि—) तदनन्तर प्रशस्त तिथि पर धात्री को पूर्वाभिमुख बैठाकर शिर के ऊपर से नहलाये हुए और स्वच्छ नये वस्त्र पहनाये हुए बालक को (धात्री की गोद में) उत्तराभिमुख बैठाकर धोये हुए (और दबाकर) किंचित् दूध निकाले हुए दक्षिण स्तन को इन मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके पिलावे ॥ २७ ॥ हे सुभगे! बालक की बलवृद्धि के लिए चारों समुद्र तेरे स्तनों में निरन्तर क्षीरवाहक हों ॥ २८ ॥ हे शुभानने! जैसे अमृतप्राशन करके देव दीर्घायु को प्राप्त हुए, वैसे ही अमृत रूप तुम्हारे दूध को पीकर बालक दीर्घायु को प्राप्त करे ॥ २९ ॥

वक्तव्य—ततः—उपर्युक्त गुणयुक्त प्राप्त करने के बाद। धात्री—बालक के समान धात्री को भी उस दिन स्नान, शुभ्रवस्त्र परिधान और ऐन्द्र्यादि ओषधियों का धारण करना पड़ता है—अथ धात्री स्नातानुलिप्ता नियमहतवासा सुमना प्रजास्थापनौषधी शिरसा बिभ्राणा इत्यादि। (अष्टांगसंग्रह)। दक्षिण स्तनम्—प्रथम दक्षिण स्तन और पश्चात् वाम स्तन पिलावे। धौतम्—दूध पिलाने से पहले स्तन को धोने की पद्धति बहुत अच्छी है। दूध पीने के बाद कुछ दूध चूचुक से बाहर निकलता है और वहीं पर सूख जाता है। कभी कभी वह खराब भी हो सकता है। अगर स्तन न धोये जायँ तो पहले का सूखा हुआ या खराब हुआ दूध प्रथम बालक के मुख में चला जायगा। इससे बालक को कभी कभी तकलीफ हो सकती है। इसलिए प्रत्येक स्तनपान के पहले स्तनों को धोकर साफ करना प्रशस्त है। ईषत्परिस्रुतम्—स्तनचूचुक में दुग्धहारी नालियों का अन्तिम भाग होता है। चूचुकाग्र खराब होने से वह खराबी कुछ मर्यादा तक भीतर जा सकती है। यदि दबाकर थोड़ा-सा दूध निकाला जाय तो उसी दूध से उन नालियों की सफाई हो जाती है। इसलिए प्रत्येक स्तनपान के समय जरा-सा दूध निकालकर पीछे बालक को स्तनपान कराना, यह प्रशस्त नियम है। आगे ३१वें सूत्र में परिस्रुत न करने का फल बताया है।

अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद् व्याधिजन्म भवति ॥ ३० ॥

(अनियत धात्रीदोष—) इस प्रकार न किया जाय तो अनेक स्तन्योपयोग के असात्म्य से व्याधि उत्पन्न होती है ॥ ३० ॥

वक्तव्य—अतोऽन्यथा—धात्री न रखके अनेक स्त्रियों के दूध का उपयोग करने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर कुछ लोगों का यह कथन है कि धात्री हमेशा एक ही होनी चाहिए। चरक, सुश्रुत और अष्टांगसंग्रह में एक ही धात्री के लिए लिखा है। परन्तु अष्टांगहृदय में दो धात्री रखने के लिए लिखा है—स्तन्यधात्र्यावुभे धार्ये तदसम्पदि वत्सले। अष्टांगहृदय ग्रंथ चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह के पीछे का है, इसमें संदेह नहीं है। इस ग्रंथ में चरक सुश्रुतादि ग्रंथों से कई नई नई बातें मिलती हैं। ये सब बातें वाग्भटाचार्यजी ने बहुत सोच-समझकर लिखी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। इस ग्रंथ में कोई भी बात आयुर्वेद के तत्त्वों के विरुद्ध नहीं हो सकती। दो धात्रियों का निषेध असात्म्य पर ही किया जा रहा है। कविराज दामिनीभूषणराय अपने कुमारतन्त्र की टिप्पणी में लिखते हैं—धात्र्या अनियतत्वे नानास्तन्यपानेन कुमारस्य व्याधिर्जायते। अष्टांगसंग्रहे तु चरकादिवत् एकैव धात्री उक्ता,

हृदये तु 'स्तन्यधान्यावुभे कार्ये' इति यत् धात्रीद्वयमुक्तं तदनियतधात्र्या बह्वनिष्टकारिता ऽनुभवद्भिरस्माभिर्नाद्रियते । इसलिए यहाँ पर सात्म्य का थोड़ा विचार किया जाता है। सात्म्य शब्द की व्याख्या चरक में निम्न प्रकार से की गई है—सात्म्यं नाम तत् यदात्मन्युपशेते। सात्म्यं नाम तत्, यत्सातत्येनोपसेवमानमुपशेते। (विमान ८)। संक्षेप में सात्म्य अभ्याससात्म्य है। यदि प्रारंभ से ही दो धात्री रखकर प्रतिदिन दोनों का दूध पिलाया जाय तो बालक के लिए दोनों स्तन्य सात्म्य हो जायँगे। इसमें किसी प्रकार की अनिष्टता मालूम नहीं होती। एक धात्री होने में ही कुछ कठिनता हो सकती है। इसका विवरण पीछे २४वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में किया गया है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि बालक के लिए धात्री नियत होना आवश्यक है चाहे एक हो, चाहे दो हों। बीच बीच में धात्री बदलना ठीक नहीं है। इससे बालक में रोग उत्पन्न होने की संभावना होती है क्योंकि प्रत्येक धात्री का दूध कुछ रोज तक असात्म्य रहता है। सात्म्यसेवन एकाएक छोड़ने से और असात्म्यसेवन एकाएक करने से असात्म्यज रोग उत्पन्न होते हैं—असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात्। (अष्टांगहृदय, सूत्र ३)।

अपरिस्रुतेऽप्यतिस्तब्धस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्सुहितस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमीप्रादुर्भावः। तस्मादेवंविधानां स्तन्यं न पाययेत् ॥ ३१ ॥

(अपरिस्रुत स्तन्यसेवन के दोष—) परिस्रुत न करने पर भी देर से इकट्ठा हुए दूध से परिपूर्ण स्तन के पान से स्रोतस् के भर जाने के कारण बालक को श्वास, कास और वमन होता है। इसलिए इस प्रकार की धात्रियों का स्तन्य न पिलावे ॥३१॥

वक्तव्य—अपरिस्रुते—इसका विवरण पीछे २९वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। उत्सुहितस्रोतसः—ऊर्ध्वपूरितस्रोतस इत्यर्थः। उत्स्नुहितस्रोतस इति पाठे तु ऊर्ध्वं स्नुहितमुद्गीर्णं स्रोतो यस्येति समासः। (डल्हण)। उत्सुहितं परितृप्तं परिपूर्णमित्येतत्। (हाराणचन्द्र)। अपि—इससे पीछे के सूत्र के साथ संबंध जोड़ दिया गया है और इस बात पर जोर दिया गया है कि धात्री नियत होने पर स्तनपान कराने से पूर्व परिस्रुत न करने पर भी रोगोत्पत्ति होती है। एवंविधानाम्—अनियत धात्रियों का और अपरिस्रुत स्तनों का दूध।

क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति। अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याकलशुनमत्स्यकशेरुकशृङ्गाटकबिसविदारिकन्दमधुकशतावरीनलिकालाबूकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात् ॥३२॥

(स्तन्यनाश के कारण और उसकी चिकित्सा—) क्रोध, शोक, (बालक के प्रति) प्रेम न होना इत्यादि से स्तन्य का नाश होता है। (उपर्युक्त कारणों से स्तन्यनाश हो जाय) तब (उसमें) मन की प्रसन्नता उत्पन्न करके जौ, गेहूँ, साँठी के चावल, मांसरस, सुरा, सौवीर, तिलकल्क, लशुन, मछली, कसेरु, सिंघाड़ा, कमलकंद, विदारीकन्द, मुलहठी, शतावरी, नाड़ीशाक, कद्दू, कालशाक इत्यादि का सेवन करावे ॥ ३२ ॥

वक्तव्य—स्तन्यनाश—स्तनगत दूध का कम होना या पूर्णतया बंद होना। स्तन्यनाश के मुख्य तीन कारण होते हैं—(१) मानसिक स्थिति—यह कारण सब से महत्त्व का है। मनःस्थिति के दो विभाग कर सकते हैं। प्रथम विभाग वह है, जिसमें विशेष घटनाओं से मन थोड़े काल के लिए अस्वस्थ हो जाता है। जैसे—क्रोध, शोक, भय, विषाद, मात्सर्य, काम, द्वेष इत्यादि; याने घर में किसी की मृत्यु का दृश्य देखकर विषण्ण होना, आप्तेष्ट की मृत्यु की वार्ता सुनकर शोकाकुल होना, भयानक वार्ता सुनकर भयभीत होना इत्यादि। भयादि से युक्त मन की स्थिति प्रायः किसी न किसी बाह्य घटना पर निर्भर होती है और उस घटना के पश्चात् जैसे जैसे काल व्यतीत होता जाता है, वैसे वैसे मनःस्थिति भी धीरे धीरे ठीक हो जाती है। संक्षेप में, प्रथम विभाग अनैच्छिक कारणों का होता है और उससे होने वाला स्तन्यनाश स्थायी नहीं होता। द्वितीय विभाग में बाह्य घटनाओं का कुछ भी संबंध न होकर आन्तरिक भावनाओं और विचारों का संबंध होता है। जैसे, अवात्सल्य, बालक को दूध पिलाने की अनिच्छा या आत्मविश्वास का अभाव, कृत्रिम दुग्धपान और कृत्रिम दुग्धों के फायदों के भड़कदार विज्ञापनों और पुस्तकों को पढ़कर बालसंवर्धन की वही सर्वोत्तम पद्धति है, इस प्रकार की विचारसरणि पक्की करना, स्तनपान कराना यह एक असभ्य जातियों की प्रथा है; ऐसी भावना करना ये सब उदाहरण द्वितीय विभाग में आते हैं। इनका परिणाम मन पर स्थायी होता है, क्योंकि अवात्सल्यादि कुछ भावनाएँ स्वाभाविक होती हैं और कुछ लिखने पढ़ने के पश्चात् किये हुए विचार के फल होते हैं। इसलिए इनके कारण जो स्तन्यनाश होता है, वह स्थायी स्वरूप का होता है। इस मानसिक स्थिति के संबंध में टेन टीचर के प्रसूतितन्त्र में बहुत सुन्दर विवरण किया है—In the majority of cases failure to nurse is due to the psychological or nervous factor. Experience has proved that nearly every woman willing to do so can suckle her baby. The least hopeful case is that of the woman with little maternal instint. They have no desire to make a success of what they regard as a needless tax on their liberty. Her mother tells her she was brought up on the bottle, and her friends and relatives have advised this or that patent food; Her nurse has ordered a full bottle-feeding equipment in anticipation of the expected, and the moment the birth of her baby is announced she is flooded at every post with samples and advertisements from the patent food-mongers in which she reads such glowing accounts of how babie's lives have been saved by this substitute and that subititute, that it is not remarkable she should accept it as almost inevitable that her child should be reared artificially. Want of Confidence in her own powers is a poor attitute

of mind in which to start nursing. वत्सलता, प्रेम इत्यादि से स्तनों में दूध कैसे उत्पन्न होता है? इस विषय का विवरण निदानस्थान के दसवें अध्याय के २१ वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य (पृष्ठ ३५१) में किया गया है। (२) शारीरिक स्थिति—इसका और स्तन्य का बहुत कम सम्बन्ध है। देखने में कमजोर स्त्रियाँ मन में वत्सलता रहने के कारण अपने बालक को भली भाँति दूध पिला सकती हैं। कई बार राजयक्ष्मा से पीड़ित स्त्रियों में भी काफी दूध निकलता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से उनको बच्चे को पिलाना मना करना पड़ता है। दूसरी ओर देखा जाय तो कई मोटी मोटी तन्दुरुस्त स्त्रियाँ मन में प्रेम न होने के कारण या आधुनिक विचारों से परिपूर्ण हो जाने के कारण दुग्धहीन होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मानसिक स्थिति के मुकाबले शारीरिक स्थिति का परिणाम स्तन्य पर बहुत कम हुआ करता है। परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि स्वास्थ्य खराब होने पर स्तन्य भी कम हो सकता है। (३) आहार—स्तन्य का उपादान कारण आहार है, शरीर और मन सहायक कारण है—रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः। कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्य स्तन्यमित्यभिधीयते॥ (निदान १०)। आहार अपर्याप्त और अनुचित होने से स्तन्य ठीक ठीक उत्पन्न नहीं हो सकता। स्तन्य में पानी की राशि बहुत होती है, इसलिए आहार में तथा उसके अलावा जल की राशि कम होने से दूध भी कम हो जाता है। इन तीन प्रधान कारणों के अलावा स्तन्याल्पता के निम्न और दो कारण हो सकते हैं—(४) स्तनों की विकृति, जैसे स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, चूचुकप्रकोप इत्यादि। (५) स्तनचूचक में कमजोरी—आयुर्वेद में शुक्र के साथ स्तन्य की तुलना की जाती है (निदान १०, १९-२३)। कई बातों में यह तुलना बहुत उचित भी है। शुक्र का उत्तम प्रवर्तक जवान स्त्री का संग होता है—प्रवर्तनी स्त्री शुक्रस्य। (शार्ङ्गधर)। वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी। (चरक)। स्तन्य का उत्तम प्रवर्तक स्वस्थ सबल बालक का स्तनपान होता है। जब बालक कमजोर होता है या शुकास, विदीर्णतालु (*Cleft* palate) इत्यादि से पीड़ित रहता है, तब वह जोर से स्तनपान नहीं कर सकता। अगर यह कमजोरी शुरू से ही रही तो उसका परिणाम स्तन्याल्पता में होता है। अष्टांगसंग्रह में स्तन्यनाश के निम्न कारण बताये हैं—रूक्षानशनकर्षणक्रोधशोकत्रासादिभिः स्तन्यनाशः।

स्तन्यनाश की चिकित्सा—निदानपरिवर्जन यह चिकित्सा का प्रधान सूत्र है। यहाँ पर संहिता में जिस परम्परा में स्तन्यनाश का विचार प्रस्तुत हुआ है, उसको देखकर यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि माता और बालक दोनों के स्वस्थ होते हुए स्तन्यनाश क्यों होता है और उसकी चिकित्सा कैसी करनी चाहिए, इसका ही विवरण अभिप्रेत है। इस दृष्टि से दूसरे, चौथे और पाँचवें कारणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। और यदि विचार भी किया जाय तो उसका समावेश स्तन्यनाशचिकित्सा में न होकर स्तनरोगचिकित्सा में होगा। अतः स्तन्यनाशचिकित्सा की दृष्टि से विचार करने योग्य केवल दो ही कारण रहे, प्रथम और तृतीय, और चिकित्सा में भी इन्हीं का ही परामर्श किया गया है। (१) सौमनस्यमुत्पाद्य—इसमें प्रथम कारण का विचार किया गया है। सौमनस्य की उत्पत्ति करने में क्रोधशोकादि भावों को दूर करना, बालक के प्रति प्रेम ममत्व उत्पन्न करना, कृत्रिम दुग्धपान बालक के लिए हानिकर होता है, माता का स्तनपान यही बालक की वृद्धि का स्वाभाविक, सरल, सस्ता और सर्वोत्तम उपाय है, और अगर स्त्री दिल से चाहे तो बालक के लिए जितना आवश्यक होता है उतना दूध स्तनों में आप से आप उत्पन्न होता है। इस बात का आत्मविश्वास स्त्री के मन में उत्पन्न करना इत्यादि विषयों का समावेश होता है। प्राचीन काल की धार्मिक कल्पनाओं के अनुसार स्त्रियाँ गर्भधारण और स्तनपान से बालकपोषण अपना कर्तव्य समझती थीं (प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः। मनु ९-९६), तथा कृत्रिम दुग्धपान और कृत्रिम दूध इनका प्रोपेगंडा (प्रचार) करने वाले फुडमोंगर (अन्नव्यापारी) भी नहीं थे, जिसके कारण उपर्युक्त प्रकार का उपदेश करने का कारण प्राचीन काल में नहीं था। परन्तु काल-परिवर्तन के साथ स्त्रियों में कृत्रिम दुग्धपान के सम्बन्ध में जो विचार रूढ़ हो गये हैं, उनको दूर करने का प्रयत्न सौमनस्य उत्पादन में ही आ जाता है। (२) आहार—इसके दो विभाग हैं। प्रथम विभाग में भोजन का विचार होता है। जैसे अपतर्पण, लंघन, कर्षण ये शरीरक्षीणकर भोजन छोड़कर जौ, गेहूँ, चावल, दूध, मांसरस, मछली, विविध शाक, पर्याप्त जल, मधुराम्ललवणभूयिष्ठ खाद्य पदार्थ इत्यादि से युक्त शरीर को बृंहण करने वाले भोजन (पीछे १७ वें सूत्र के वक्तव्य में प्रसूता का आहार देखो) का सेवन—शालिषष्टिकगोधूमान् यवानि तु भवन्ति सौवर्चलानि, ग्राम्यानूपौदकानि च शाकधान्यमांसानि द्रवमधुराम्ललवणभूयिष्ठाश्चाहाराः क्षीरपानमनायासश्च। (चरक)। सौमनस्याद्या स्वभावाद्या यस्याः क्षीरं विशुद्धमपि। तस्याः क्षीरप्रजनने प्रयोज्य विधिवत्॥ मधुराम्ललवणानि द्रवाणि लवणानि च। मद्यानि सीधुवर्ज्यानि शाकं सिद्धार्थकादृते॥ वराहमहिषादीनां मांसानां च रसो हितः। लशुनेन पलाण्डुना सेवन शयनं सुखम्। (क्षीरार्थ) मयप्रोक्तानामायासानां च वर्जनम्॥ (काश्यपसंहिता, क्षीरोत्पत्त्यध्याय)। दूसरे विभाग में स्तन्यवर्धक (Galactogogues) औषधियों का विचार आता है। जैसे, सिंघाड़ा, विदारीकन्द, शतावरी, तृणपञ्चमूल, कार्पासमूल, भूमिकूष्माण्ड इत्यादि का सेवन—क्षीरिण्यश्चौषधयः, वीरणषष्टिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलकषायाणां च पानम्। (चरक)। भूमिकूष्माण्डमूलस्य क्षीरपिष्टस्य वा रसम्। पिबेत् शर्करया तस्याः क्षीरं बहु विवर्धते॥ शतावरीक्षीरपिष्टा पीता स्तन्यविवर्धिनी। वनकार्पासिकेक्षूणां मूलं सौवीरकेण वा। विदारिकन्दं सुरया पिबेद्वा स्तन्यवर्धनम्। (योगरत्नाकर)। संक्षेप में स्वस्थ प्रसूता में क्षीराल्पता हो तो सौमनस्य उत्पन्न करना और यथेष्ट बृंहण आहार देना ये ही दो मुख्य उपाय हैं—*The usual methods of augmenting the supply* (of milk) are attention to diet and sometimes 'over-feeding', the administration of larege quantities of fluid, small quantities of alcohol and massage of breasts. स्तनों की मालिश सूतिका के

अभ्यंग के साथ की जाती है। पीछे १७ वें सूत्र के वक्तव्य में सूतिका की परिचर्या जो बताई गई है, उसके अनुसार भी व्यवहार करना चाहिए। इससे दूध न बढ़े तो स्तन्यजनक ओषधियों का उपयोग कर सकते हैं। जब प्रसूता में या उसके स्तनों में या बालक में कोई बीमारी हो जाती है, तब उसकी चिकित्सा भी करनी चाहिए।

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत, तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवतेऽवसीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्, तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति ॥ ३३ ॥

(शुद्ध स्तन्य की परीक्षा—) उसके दूध की परीक्षा जल में करे। यदि वह ठण्डा, निर्मल, पतला, शङ्ख के समान (श्वेत) वर्ण का हो, जल में डालने पर एक हो जाय, फेनविरहित, तन्तुविरहित हो, (जल में) न तैरता हो या न डूबता हो तो उसको शुद्ध समझना चाहिए। इस (प्रकार के शुद्ध दूध) से बालक का आरोग्य, शरीर की बढ़ौती और बल की वृद्धि होती है ॥ ३३ ॥

वक्तव्य—इस सूत्र में विशुद्ध स्तन्य की बड़ी सरल परीक्षणविधि बतलाई गई है। विशुद्ध और खराब दूध की परीक्षणविधि और लक्षण पहले भी निम्न प्रकार से बताये गये हैं—यत् क्षीरमुदके क्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम्। मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद्विनिर्दिशेत् ॥ (निदान ११)। अनिष्टगन्धमम्लं च विवर्णं विरसं च यत्। वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत् ॥ (सूत्र ४५)। विशुद्ध दूध की प्रतिक्रिया किंचित् क्षारीय, वर्ण किंचित् पीला, गुरुता १०१०–१०४०, स्वाद मीठा होता है और उसमें किसी तरह की गन्ध नहीं होती है। दूध की खराबी प्रायः जीवाणुओं के कारण होती है। ये जीवाणु दूध में विविध अम्ल उत्पन्न करते हैं, जिनकी उपस्थिति से दूध की प्रतिक्रिया अम्ल होकर वह विग्रथित हो (फट) जाता है। उसमें खट्टापन पैदा होता है और खट्टी बू भी आती है। एकीभावं गच्छति—अगर दूध विशुद्ध हो तो पानी के साथ मिलाने पर पानी दूध में और दूध पानी में इस तरह बेमालूम मिल जाता है कि मिश्रण में कहीं दूध अधिक और कहीं पानी अधिक इस प्रकार का वैषम्य नहीं मिल सकता। खराब दूध पानी के साथ मिलाने पर उसका तलछट बन जाता है। इसका कारण यह है कि विशुद्ध दूध स्निग्ध पदार्थों का एक ऐसा स्वाभाविक घोल (Natural emulsion of fats) है कि उसमें प्रोभूजिन (प्रोटीनें), लवण, शर्करा आदि द्रव्य एकरूप से (Uniformly) फैले हुए रहते हैं और यह एकरूपता पानी में मिलाने पर भी नष्ट नहीं होती। खराब दूध में अन्तर्गत द्रव्यों की एकरूपता नष्ट होती है और पानी में मिलाने पर यह भेद और भी स्पष्ट हो जाता है। नोत्प्लवते न सीदति—दूध की गुरुता पानी से अधिक है। परन्तु यहाँ पर उत्प्लवन या अवसाद से गुरुता का कोई सम्बन्ध नहीं है। जब तक दूध प्राकृतिक अवस्था में होता है, तब तक पानी में मिलाया हुआ दूध इस प्रकार मिश्रित होता है कि इसके स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता, केवल इसको अधिक पानी का दूध कह सकते हैं। अर्थात् वह न ऊपर तैरता है, न नीचे बैठता है। दूध विकृत होने पर उसका कुछ अंश तली में बैठता है और कुछ ऊपर तैरता है। संक्षेप में, यह शब्दप्रयोग 'एकीभावं गच्छति' इसके अर्थ को भिन्न प्रकार से प्रदर्शित करता है। तेन कुमारस्यारोग्यमित्यादि—बालक का स्वास्थ्य, शरीर की बढ़ौती और बलवृद्धि खराब दूध से कदापि नहीं हो सकती; इसमें कोई सन्देह नहीं है। शुद्ध दूध से ही ये कार्य हो सकते हैं; इसमें भी सन्देह नहीं होता। परन्तु शुद्ध दूध से ये कार्य होने चाहिएं, यह कोई आवश्यक नहीं है। दूध के भीतर कई सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, जिनका ज्ञान इस प्रकार के भौतिक या आधुनिक रासायनिक परीक्षणों द्वारा नहीं लगता और परीक्षण करने पर विशुद्ध मालूम हुए दूध के सेवन से बालक का स्वास्थ्य और वर्धन ठीक नहीं होता। स्वास्थ्य और वर्धन सात्म्य द्रव्यों के सेवन से होता है। एक विशुद्ध दूध सात्म्य और दूसरा असात्म्य हो सकता है। शरीरसंवर्धन की दृष्टि से विशुद्ध और सात्म्य दूध की आवश्यकता है। व्यावहारिक दृष्टि से वही दूध विशुद्ध कहा जा सकता है, जिससे बालक का स्वास्थ्य और शरीरोपचय ठीक होता है। काश्यपसंहिता में इसी व्यावहारिक दृष्टि से शुद्ध क्षीर की व्याख्या दी गई है—अव्याहतबलारोग्यायुररोगो वर्धते सुखम्। शिशुर्धात्र्योरनापत्तिः शुद्धक्षीरस्य लक्षणम् ॥ (क्षीरोत्पत्त्यध्याय)। अधिक विचार करने पर व्यावहारिक चिकित्सक दूध की शुद्धता के ऊपर अधिक ध्यान न देकर बालक के ऊपर दूध के परिणामों पर ही अधिक ध्यान देता है। रावर्ट हचीसन बालक के रोगों के अपने व्याख्यानों में काश्यपमुनि के समान अपना अनुभव बताते हैं—I should advise, you, however, to fix your attention on the child's weight; and so long as this goes up satisfactorily not to pay too much attention to supposed evidences that the milk disagrees. Failure to gain weight, indeed, is the only justification for weaning. Attempt to correlate any particular form of indigestion with some special fault in the composition of breast milk is apt to prove disappointing. When I first began out-patient work I used to make a practice of analyzing the mother's milk in cases of dyspepsia in breast-fed infants, but I gave it up, as I found that game is not worth the candle. *Lectures on diseases of children.* इसलिए धात्री के दूध की विशुद्धता देखकर निश्चिंत न होना चाहिए, परन्तु बालक के स्वास्थ्य और तोल पर भी ध्यान देना आवश्यक है। यदि दूध के सेवन से बालक का स्वास्थ्य ठीक न रहे तो विशुद्ध स्तन्य और संपूर्ण गुणों से युक्त धात्री होने पर भी उसका दूध बन्द करना चाहिए।

न च क्षुधितशोकार्तश्रान्तप्रदुष्टधातुगर्भिणीज्वरितातिक्षीणातिस्थूलविदग्धभक्तविरुद्धाहारतर्पितायाः स्तन्यं पाययेत्; नाजीर्णौषधं च बालं, दोषौषधमलानां तीव्रवेगोत्पत्तिभयात् ॥ ३४ ॥

of mind in which to start nursing वत्सलता, प्रेम इत्यादि से स्तनों में दूध कैसे उत्पन्न होता है ? इस विषय का विवरण निदानस्थान के दसवें अध्याय के २१ वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य (पृष्ठ ३७१) में किया गया है। (२) शारीरिक स्थिति—इसका और स्तन्य का बहुत कम सम्बन्ध है। देखने में कमजोर स्त्रियाँ मन में वत्सलता होने के कारण अपने बालक को भली भाँति दूध पिला सकती हैं। कई बार राजयक्ष्मा से पीड़ित स्त्रियों में भी काफी दूध निकलता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से उनको बच्चे को पिलाना मना करना पड़ता है। दूसरी ओर देखा जाय तो कई मोटी मोटी तन्दुरुस्त स्त्रियां मन में प्रेम न होने के कारण या आधुनिक विचारों से परिपूर्ण हो जाने के कारण दुग्धहीन होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मानसिक स्थिति के मुकाबले शारीरिक स्थिति का परिणाम स्तन्य पर बहुत कम हुआ करता है। परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि स्वास्थ्य खराब होने पर स्तन्य भी कम हो सकता है। (३) आहार—स्तन्य का उपादान कारण आहार है, शरीर और मन सहायक कारण है—रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः। कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्य स्तन्यमित्यभिधीयते॥ (निदान १०)। आहार अपर्याप्त और अनुचित होने से स्तन्य ठीक ठीक उत्पन्न नहीं हो सकता। स्तन्य में पानी की राशि बहुत होती है, इसलिए आहार में तथा उसके अलावा जल की राशि कम होने से दूध भी कम हो जाता है। इन तीन प्रधान कारणों के अलावा स्तन्याल्पता के निम्न और दो कारण हो सकते हैं—(४) स्तनों की विकृति, जैसे स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, चूचुकप्रकोप इत्यादि। (५) स्तनदूषण में कमजोरी—आयुर्वेद में शुक्र के साथ स्तन्य की तुलना की जाती है (निदान १०, १९-२३)। कई बातों में यह तुलना बहुत उचित भी है। शुक्र का उत्तम प्रवर्तक जवान स्त्री का संग होता है—प्रवर्तनी स्त्री शुक्रस्य। (शार्ङ्गधर)। वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी। (चरक)। स्तन्य का उत्तम प्रवर्तक स्वस्थ सबल बालक का स्तनपान होता है। जब बालक कमजोर होता है या जुकाम, विदीर्णतालु (Cleft palate) इत्यादि से पीड़ित रहता है, तब वह जोर से स्तनपान नहीं कर सकता। अगर यह कमजोरी शुरू से ही रही तो उसका परिणाम स्तन्याल्पता में होता है। अष्टांगसंग्रह में स्तन्यनाश के निम्न कारण बताये हैं—रूक्षान्नपानकर्शनक्रोधशोककामादिभिः स्तन्यनाशः।

स्तन्यनाश की चिकित्सा—निदानपरिवर्जन यह चिकित्सा का प्रधान सूत्र है। यहाँ पर संहिता में जिस परम्परा में स्तन्यनाश का विचार प्रस्तुत हुआ है, उसको देखकर यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि माता और बालक दोनों के स्वस्थ होते हुए स्तन्यनाश क्यों होता है और उसकी चिकित्सा कैसी करनी चाहिए, इसका ही विवरण अभिप्रेत है। इस दृष्टि से दूसरे, चौथे और पाँचवें कारणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। और यदि विचार भी किया जाय तो उसका समावेश स्तन्यनाशचिकित्सा में न होकर स्वतन्त्ररोगचिकित्सा में होगा। अतः स्तन्यनाशचिकित्सा की दृष्टि से विचार करने योग्य केवल दो ही कारण रहे, प्रथम और तृतीय; और चिकित्सा में भी इन्हीं का ही परामर्श लिया गया है। (१) सौमनस्यमुत्पाद्य—इसमें प्रथम कारण का विचार किया गया है। सौमनस्य की उत्पत्ति करने में क्रोध-शोकादि भावों को दूर करना, बालक के प्रति प्रेम ममत्व उत्पन्न करना, कृत्रिम दुग्धपान बालक के लिए हानिकर होता है, माता का स्तनपान यही बालक की वृद्धि का स्वाभाविक, सरल, सस्ता और सर्वोत्तम उपाय है, और अगर स्त्री दिल से चाहे तो बालक के लिए जितना आवश्यक होता है उतना दूध स्तनों में आप से आप उत्पन्न होता है। इस बात का आत्मविश्वास स्त्री के मन में उत्पन्न करना इत्यादि विषयों का समावेश होता है। प्राचीन काल की धार्मिक कल्पनाओं के अनुसार स्त्रियाँ गर्भधारण और स्तनपान से बालकपोषण अपना कर्तव्य समझती थीं (प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः। मनु ९-९६), तथा कृत्रिम दुग्धपान और कृत्रिम दूध इनका प्रोपेगंडा (प्रचार) करने वाले फुडमोंगर (अन्नव्यापारी) भी नहीं थे, जिसके कारण उपर्युक्त प्रकार का उपदेश करने का कारण प्राचीन काल में नहीं था। परन्तु काल परिवर्तन के साथ स्त्रियों में कृत्रिम दुग्धपान के सम्बन्ध में जो विचार रूढ हो गये हैं, उनको दूर करने का प्रयत्न सौमनस्य उत्पादन में ही आ जाता है। (२) आहार—इसके दो विभाग हैं। प्रथम विभाग में भोजन का विचार होता है। जैसे, अपतर्पण, लंघन, कर्शन ये शरीरक्षीणकर भोजन छोड़कर जौ, गेहूँ, चावल, दूध, मांसरस, मछली, विविध शाक, पर्याप्त जल, मधुराम्ल लवणभूयिष्ठ खाद्य पदार्थ इत्यादि से युक्त शरीर को बृंहण करने वाले भोजन (पीछे १७ वें सूत्र के वक्तव्य में प्रसूता का आहार देखो) का सेवन—क्षीरजननानि तु मद्यानि सीधुवर्ज्यानि, ग्राम्यानूपौदकानि च शाकधान्यमांसानि द्रवमधुराम्ललवणभूयिष्ठाश्चाहाराः क्षीरपानमनायासश्च। (चरक)। शोधनाद्वा स्वभावाद्वा यस्याः क्षीरं विशुद्ध्यति। तस्याः क्षीरप्रजनने प्रयतेत विचक्षणः॥ मधुराण्यन्नपानानि द्रवाणि लवणानि च। मद्यानि सीधुवर्ज्यानि शाकं सिद्धार्थकादृते॥ वराहमहिषादीनां मांसानां च रसो हितः। लशुनानां पलाण्डूनां सेवनं शयनं सुखम्। (कोपाख्य) मयशोकानामायासानां च वर्जनम्॥ (काश्यपसंहिता, क्षीरोत्पत्त्यध्याय)। दूसरे विभाग में स्तन्यवर्धक (Galactogogues) ओषधियों का विचार आता है। जैसे, सिंघाड़ा, विदारीकन्द, शतावरी, तृणपञ्चमूल, कार्पासमूल, भूमिकूष्माण्ड इत्यादि का सेवन—वीरणषष्टिकशालिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलकषायाणां च पानम्। (चरक)। भूमिकूष्माण्डमूलस्य क्षीरपिष्टस्य वा रसम्। पिबेत्स शर्करं तस्याः क्षीरं बहु विवर्धते॥ शतावरीक्षीरपिष्टा पीता स्तन्यविवर्धिनी। वनकार्पासकेक्षूणां मूलं सौवीरकेण वा। विदारिकन्दं सुरया पिबेद्वा स्तन्यवर्धनम्। (योगरत्नाकर)। संक्षेप में स्वस्थ प्रसूता में क्षीराल्पता हो तो सौमनस्य उत्पन्न करना और यथेष्ट बृंहण आहार देना ये ही दो मुख्य उपाय हैं—The usual methods of augmenting the supply (of milk) are attention to diet and sometimes 'over-feeding', the administration of larege quantities of fluid, small quantities of alcohol, and massage of breasts. स्तनों की मालिश सूतिका के

सकता है। मिथ्याहार वह है, जिसमें आहार्य द्रव्यों के विविध घटकों का उचित प्रमाण नहीं होता। इसको आयुर्वेद की परिभाषा में 'अनियमित मात्राहार' आधुनिक परिभाषा के अनुसार असंतुलित (Unbalanced diet) कह सकते हैं। आहाररस से स्तन्य उत्पन्न होता है और जब माता या धात्री का आहार अपर्याप्त, अनुचित, दोषयुक्त या अन्य तरह से खराब रहता है, तब उसका परिणाम स्तन्य की खराबी में होना स्वाभाविक है। धात्र्यास्तु—धात्री से उपमाता और माता दोनों का बोध होता है—धात्री स्यादुपमाताऽपि । (अमरकोश) । अपिना जनन्यपि धात्री। माता के अर्थ में धात्री का उपयोग भी होता है—पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति । अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३-८२) । यहाँ पर यद्यपि संदर्भ के अनुसार उपमाता का अर्थ होता है तथापि यह कथन माता और उपमाता दोनों के लिए लागू है। इसलिए धात्री से माता और उपमाता दोनों का ग्रहण करना चाहिए। सम्यग् विभावयेत्—अच्छी तरह सोच-विचार करके जाने। बड़े मनुष्य की अपेक्षा बालकों में रोगपरीक्षण में अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि बालक स्वयं कुछ भी नहीं बता सकता या गलत बताता है। अतः शरीरगत विकार का स्थान उसके हालचाल, चर्या, रुदन, मलमूत्रादि की प्रवृत्ति इत्यादि लक्षणों, चिह्नों (Physical signs) और अनैच्छिक क्रियाओं (Involuntary actions) से जान लेने की आवश्यकता होती है। इसलिए अब उन्हीं लक्षणों और चिह्नों का वर्णन करते हैं—

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते ।
मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥ ३७ ॥
निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरो रोगे न धारयेत् ।
बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ॥३८॥
विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः ।
कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥३९॥

(बालकों में विकृति का स्थान जानने की रीति—) बालक के जिस अंग-प्रत्यंग में पीड़ा होती है, उस अंग-प्रत्यंग को बारबार छूता है और (उस अंग को) स्पर्श करने पर रोता है ॥ ३७ ॥ मस्तिष्क के रोग में आँखें बंद किया हुआ रहता है और शिर को धारण नहीं करता। बस्ति (प्रदेश के रोग) में पीड़ा के कारण मूत्र रुक जाता है, तृषायुक्त होता है और मूर्च्छित होता है ॥ ३८ ॥ मलावरोध, मूत्रावरोध, विवर्णता, वमन, पेट का फूलना, आँतों में गुड़गुड़ शब्द होना इनसे कोष्ठ में दोष है, ऐसा समझे। और रोने से सर्वत्र विकृति समझे ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—अंगप्रत्यंगदेशे—शरीर में कहीं भी जब कुछ गड़बड़ होती है, चाहे वह आगन्तुक कारणों से हो चाहे निज कारणों से हो, तब उस अंग का हट जाना या स्थानिक पेशियों में संकोच पैदा होना या वहाँ पर हाथ का पहुँच जाना ये कर्म हुआ करते हैं। जैसे, आँख में पीड़ा होने से या आँख के भीतर बाहर से कोई चीज प्रविष्ट होने से पलक बंद होते हैं, पुतली सिकुड़ जाती है और मनुष्य आँख के ऊपर अपना हाथ रखता है। ये कर्म शरीररक्षा के लिए आवश्यक होते हैं। शरीररक्षा के लिए प्रयत्न करना यह जीवसृष्टि का एक स्वाभाविक गुण है और यह गुण अत्यन्त सूक्ष्म जीव से लेकर अत्यंत बड़े जीव में दिखाई देता है। इसमें बुद्धि का या मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् ये कर्म अनैच्छिक होते हैं। इनको प्रतिक्षेप कर्म (Reflex actions) कहते हैं। बालक कितना भी छोटा क्यों न हो, उसमें भी ये कर्म दिखाई देते हैं। इसलिए अगर बालक बार बार कहीं पर छूता हो तो समझ लेना चाहिए कि उस स्थान में, या उसके आसपास, या उसके नीचे गहराई में स्थित अंगों में पीड़ा है। शरीरगत पीड़ा जानने का यह पहला मार्ग है। स्पृश्यमाने च रोदिति—जहाँ पर बालक बार बार छूता है, वहाँ पर स्पर्श करने पर या जरा सा दबाने पर बालक रोता है क्योंकि दबाने से पीड़ा बढ़ती है। शरीरगत असह्य पीड़ा को मालूम कराने का मार्ग बच्चों में रुदन होता है। बड़े मनुष्य में प्रायः रुदन नहीं होता, परन्तु पीडन के समय उसके चेहरे की ओर देखने से पीड़ा का ज्ञान हो जाता है। स्पर्श करने पर पीड़ा होने की अवस्था को स्पर्शनाक्षमता या पीडनाक्षमता (Tenderness) कहते हैं—स्पर्शं च न क्षमते तत्र रुजमुपलक्षयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । अन्यस्पर्शनं च न सहते । (इन्दु) । यत्र च स्पर्शनाक्षमः, तत्र विद्याद्रुजम् । (अष्टांगहृदय, उत्तर २) । इस तरह शरीरगत रुजा दो प्रकार से प्रकट होती है, एक प्रकार में वह बिना स्पर्श के होती रहती है। इस लक्षण को वेदना (Pain) कहते हैं और दूसरे प्रकार में छूने पर प्रकट होती है। इसको पीडनाक्षमता कहते हैं। मूर्धस्थे—इसका सम्बन्ध 'रोगे' के साथ है, याने मूर्धस्थ रोग का विशेषण है। यहाँ पर मूर्धस्थ रोग के दो लक्षण बताये गये हैं, आँखें बन्द करना और शिर को धारण न करना। इसके और भी लक्षण होते हैं—अवकूजन याने धीरे धीरे असंबद्ध बोलना या मुख से आवाज करना (Low muttering), अरतिमानस्वप्न याने ठीक नींद न आना (Disturbed sleep) । शिरो न धारयेत्—इससे सिर धारण करने का असामर्थ्य प्रकट होता है। यह असामर्थ्य दो प्रकार से दिखाई दे सकता है—सिर के एक तरफ गिरने से या सिर के काँपने से। आगे काश्यपसंहिता का शिरोरोग सम्बन्ध का श्लोक देखो। बस्तिस्थे—भगास्थि के आस-पास के विकार में—मूत्रसंगत्तृण्मूर्च्छात्रासदिग्वीक्षणसक्थीहस्तपादस्तम्भकुब्जीभवनकेशलुञ्चनैर्बस्तौ गुह्ये च । (अष्टांगसंग्रह) । कोष्ठे—उदरविभाग में विशेषतया आमाशय और आन्त्र में। 'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥' इस व्यापक अर्थ में कोष्ठ का प्रयोग न होकर केवल 'स्थानान्यामाग्निपक्वानाम्' इसके लिए प्रयुक्त हुआ है। इस अर्थ से कोष्ठ शब्द का उपयोग 'मृदुकोष्ठ' 'क्रूरकोष्ठ' इन शब्दों में होता है—'मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया । स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः ॥' (चरक, सूत्र १३) । सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः—सर्वत्र च स्वभावातिरिक्तरोदनेन मुखविकूणनेन च । (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) । रोदन से स्वभावातिरिक्त रोदन समझना चाहिए। स्वाभावातिरिक्त रोदन का अभिप्राय यह है कि बालक स्वस्थावस्था में जितना रोता है, उससे अधिक रोने पर। कुछ बालक स्वभाव से ही न रोने

भवन्ति चात्र—

धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा।
दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥ ३५ ॥
मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः।
दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः।
भवन्ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यग्विभावयेत् ॥

(स्तन्यदूषण के कारण और उसके फल—) भूख लगी हुई, शोकपीडित, थकी हुई, जिसके शरीर के दोषों में (तथा धातुओं में) विकार उत्पन्न हुआ है ऐसी, गर्भवती, ज्वर युक्त, अतिक्षीण, अतिस्थूल, विदाहजनक और विरुद्ध आहार सेवन की हुई स्त्री का दूध बच्चे को न पिलावे। (वैसे ही) दोष, औषध और खाये हुए द्रव्य की तीव्र वेगोत्पत्ति के डर से (प्रथम सेवन कराई हुई) ओषधि का पचन जब तक न हो जाय, तब तक दूध न पिलावे ॥ ३४ ॥ यहाँ पर श्लोक हैं—गरिष्ठ, विषम और दोषोत्पादक आहारों से धात्री के शरीर में दोष प्रकुपित होते हैं, जिससे दूध भी दूषित होता है ॥ ३५ ॥ मिथ्या आहार और विहार करने वाली स्त्री के दूषित वातादि दोष दूध को दूषित करते हैं, जिससे बालक में शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। कुशल वैद्य इनको (निम्न पद्धति से) भली भाँति जान ले ॥ ३६ ॥

वक्तव्य—यहाँ पर स्तन्यदूषण के कारण बतलाये गये हैं। इन कारणों से दूध के प्रोभूजिनादि के संगठन में फर्क होता है, स्तन शरीरगत चीजों को उत्सर्ग करने वाली ग्रन्थियाँ होने के कारण शरीरगत विष और जीवाणुओं का स्तन्य के साथ उत्सर्ग हो सकता है तथा प्रोभूजिनादि की अन्तर्गत रचना में फर्क हो सकता है। प्रत्येक अवस्था में क्या क्या फर्क होते हैं, इनका ज्ञान होना आज की स्थिति में भी कठिन है; परन्तु फर्क होते हैं, इस बात को सभी मानते हैं। जैसे, माता को अफीम देने से बालक पर अफीम का परिणाम होता है, माता को एरण्डी का तेल देने से बच्चे को पतले दस्त होते हैं, माता को हींग, प्याज, लहसुन देने से स्तन्य में इनकी गन्ध आ जाती है, माता को पारा, संखिया इत्यादि ओषधियाँ देने से स्तन्य में इनका अंश मिल जाता है इत्यादि। माता रक्तगत विषमयता (Toxaemia या जीवाणुमयता Septicaemia) से पीडित हो तो दूध में विष या जीवाणु मिल सकते हैं। मासिक धर्म के समय स्त्री के शरीर में एक प्रकार का विष होता है, (२ अध्याय के २७वें श्लोक का वक्तव्य देखो) उसका भी उत्सर्ग दूध के साथ होता है और उस समय का दूध पीने से बालक की प्रकृति कुछ खराब भी हो जाती है। इसी कारण से स्तनपानकाल में अधिकसंख्य (९० प्र० श०) स्त्रियों में अनार्तव दिखाई देता है (पीछे १५वें सूत्र के वक्तव्य में 'आर्तवदर्शनाद्' की टिप्पणी देखो)। बालक की स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से निसर्ग [illegible] है। [illegible] में क्या फर्क [illegible] कि॒या [illegible] विभक्त कर सकते हैं—मानसिक, शारीरिक और आहारविषयक। (१) मानसिक कारणों में क्रोध, शोक, भय, चिन्तातत्त्व (चिन्तनमः । अष्टांगहृदय) इत्यादि का समावेश होता है। ये किस प्रकार से स्तन्यदोष उत्पन्न करते हैं, इसका ठीक ठीक जवाब नहीं दे सकते, परन्तु इनके कारण अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्रावों में कुछ न्यूनाधिकता या विकृतता [illegible] श्लोक का वक्तव्य [illegible] उस में फर्क पड़ता [illegible] उत्पन्न होते हैं—

Nervous impressions of a marked character have a decided and immediate effect upon the milk. An infant who takes the breast under these circumstances may show signs of acute indigestion, such as vomiting and the presence of undigested food in the stools, or there may be, in addition, great prostration, toxic symptoms, and even convulsions. *Jellet's Midwifery.*

(२) शारीरिक कारणों में क्षुधा, तृषा, थकावट, अतिक्षीणता, अतिस्थूलता, ज्वर तथा अन्य शारीरिक विकार आते हैं। इन अवस्थाओं में स्तन्य का स्वाभाविक होना असंभव है। इसके लिए अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है। गर्भधारण—इसका समावेश शारीरिक कारणों में ही करना उचित है। गर्भधारणा होने से स्तन्य की राशि तथा तद्गत स्नेह तथा अन्य पदार्थों की मात्रा कम हो जाती है क्योंकि बीजग्रन्थि के कार्पसल्यूटम और अपरा से प्राजेस्टेरीन नामक द्रव्य उत्पन्न होकर (तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक का, ३१वें सूत्र का और १०वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) वह पोषणिका ग्रन्थि के अग्रभाग से उत्पन्न होने वाले स्तन्यप्रवर्तक को बन्द करता है। गर्भिणी का दूध पीने से बालक में पारिगर्भिक रोग उत्पन्न होता है—मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि। कासाग्निसाद-वमथु-तन्द्राकार्श्यारुचिभ्रमैः। युज्यते कोष्ठवृद्ध्या तु तमाहुः पारिगर्भिकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह)। पारिगर्भिक कोई खास रोग [illegible] के अनेक कारण हैं, उनमें गर्भिणीदुग्धपान एक है। (३) आहारविषयक—इसमें विषमाहार, विदग्धाहार, विरुद्धाहार और मिथ्याहार इत्यादि आहारविषयक कारणों का विचार होता है। विषमाहार वह है जिसमें समय असमय न्यूनाधिक आहार सेवन किया जाता है—बहु स्तोकं अकाले वा विज्ञेयं विषमाशनम्। विदग्ध भक्ष्य वह है, जो अग्नि पर अधिक जल गया हो (Over-cooked) किंवा जिसका सेवन करने पर आमाशय, गले में विदाह उत्पन्न होता है—विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात् तथा तृषाम्। हृदि दाहं च जनयेत् पाकं गच्छति चिरात् ॥ जैसे, चटनी, अचार, गरम मसाला युक्त खाद्य, मिर्च इत्यादि। विरुद्धाहार वह है जिसमें एक ही समय में, विरोधी कार्य करने वाले पदार्थ सेवन किये जाते हैं। यह विरोध संयोग का, मात्रा का, वीर्य का या अन्य प्रकार का (सूत्रस्थान, अध्याय २० देखो) हो

सकता है। मिथ्याहार वह है, जिसमें आहार्य द्रव्यों के विविध घटकों का उचित प्रमाण नहीं होता। इसको आयुर्वेद की परिभाषा में 'अनियमित मात्राहार' आधुनिक परिभाषा के अनुसार असंतुलित (Unbalanced diet) कह सकते हैं। आहाररस से स्तन्य उत्पन्न होता है और जब माता या धात्री का आहार अपर्याप्त, अनुचित, दोषयुक्त या अन्य तरह से खराब रहता है, तब उसका परिणाम स्तन्य की खराबी में होना स्वाभाविक है। धात्र्यास्तु- धात्री से उपमाता और माता दोनों का बोध होता है— धात्री स्यादुपमाताऽपि । (अमरकोश) । अपिना जनन्यपि धात्री। माता के अर्थ में धात्री का उपयोग भी होता है— पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति । अष्टमे मासयवो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३-८२) । यहाँ पर यद्यपि संदर्भ के अनुसार उपमाता का अर्थ होता है तथापि यह कथन माता और उपमाता दोनों के लिए लागू है। इसलिए धात्री से माता और उपमाता दोनों का ग्रहण करना चाहिए। सम्यग् विभावयेत्—अच्छी तरह सोच-विचार करके जाने। बड़े मनुष्य की अपेक्षा बालकों में रोगपरीक्षण में अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि बालक स्वयं कुछ भी नहीं बता सकता या गलत बताता है। अतः शरीरगत विकार का स्थान उसके हालचाल, चर्या, रुदन, मलमूत्रादि की प्रवृत्ति इत्यादि लक्षणों, चिह्नों (Physical signs) और अनैच्छिक क्रियाओं (Involuntary actions) से जान लेने की आवश्यकता होती है। इसलिए अब उन्हीं लक्षणों और चिह्नों का वर्णन करते हैं—

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते।
मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥ ३७ ॥
निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरो रोगे न धारयेत्।
बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ॥३८॥
विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः।
कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥३९॥

(बालकों में विकृति का स्थान जानने की रीति—) बालक के जिस अंग-प्रत्यंग में पीड़ा होती है, उस अंग-प्रत्यंग को बारबार छूता है और (उस अंग को) स्पर्श करने पर रोता है ॥ ३७ ॥ मस्तिष्क के रोग में आँखें बंद किया हुआ रहता है और शिर को धारण नहीं करता। बस्ति (प्रदेश के रोग) में पीड़ा के कारण मूत्र रुक जाता है, तृषायुक्त होता है और मूर्छित होता है ॥ ३८ ॥ मलावरोध, मूत्रावरोध, विवर्णता, वमन, पेट का फूलना, आँतों में गुड़गुड़ शब्द होना इनसे कोष्ठ में दोष है, ऐसा समझे। और रोने से सर्वत्र विकृति समझे ॥ ३९ ॥

वक्तव्य—अंगप्रत्यंगदेशे—शरीर में कहीं भी जब कुछ गड़बड़ होती है, चाहे वह आगन्तुक कारणों से हो चाहे निज कारणों से हो, तब उस अंग का हट जाना या स्थानिक पेशियों में संकोच पैदा होना या वहाँ पर हाथ का पहुँच जाना ये कर्म हुआ करते हैं। जैसे, आंख में पीड़ा होने से या आँख के भीतर बाहर से कोई चीज प्रविष्ट होने से पलक बंद होते हैं, पुतली सिकुड़ जाती है और मनुष्य आँख के ऊपर अपना हाथ रखता है। ये कर्म शरीररक्षा के लिए आवश्यक होते हैं। शरीररक्षा के लिए प्रयत्न करना यह जीवसृष्टि का एक स्वाभाविक गुण है और यह गुण अत्यन्त सूक्ष्म जीव से लेकर अत्यंत बड़े जीव में दिखाई देता है। इसमें बुद्धि का या मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् ये कर्म अनैच्छिक होते हैं। इनको प्रतिक्षेप कर्म (Reflex actions) कहते हैं। बालक कितना भी छोटा क्यों न हो, उसमें भी ये कर्म दिखाई देते हैं। इसलिए अगर बालक बार बार कहीं पर छूता हो तो समझ लेना चाहिए कि उस स्थान में, या उसके आसपास, या उसके नीचे गहराई में स्थित अंगों में पीड़ा है। शरीरगत पीड़ा जानने का यह पहला मार्ग है। स्पृश्यमाने च रोदिति— जहाँ पर बालक बार बार छूता है, वहाँ पर स्पर्श करने पर या जरा सा दबाने पर बालक रोता है क्योंकि दबाने से पीड़ा बढ़ती है। शरीरगत असह्य पीड़ा को मालूम कराने का मार्ग बच्चों में रुदन होता है। बड़े मनुष्य में प्रायः रुदन नहीं होता, परन्तु पीडन के समय उसके चेहरे की ओर देखने से पीड़ा का ज्ञान हो जाता है। स्पर्श करने पर पीड़ा होने की अवस्था को स्पर्शनाक्षमता या पीडनाक्षमता (Tenderness) कहते हैं—स्पर्शं च न क्षमते तत्र रुजमुपलक्षयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। अन्यस्पर्शनं च न सहते। (इन्दु)। यत्र च स्पर्शनाक्षमः, तत्र विद्याद्रुजम्। (अष्टांगहृदय, उत्तर २)। इस तरह शरीरगत रुजा दो प्रकार से प्रकट होती है, एक प्रकार में वह बिना स्पर्श के होती रहती है। इस लक्षण को वेदना (Pain) कहते हैं और दूसरे प्रकार में छूने पर प्रकट होती है। इसको पीडनाक्षमता कहते हैं। मूर्धस्थे—इसका सम्बन्ध 'रोगे' के साथ है, याने मूर्धस्थ रोग का विशेषण है। यहाँ पर मूर्धस्थ रोग के दो लक्षण बताये गये हैं, आँखें बन्द करना और शिर को धारण न करना। इसके और भी लक्षण होते हैं—अवकूजन याने धीरे धीरे असंबद्ध बोलना या मुख से आवाज करना (Low muttering), अरतिमानस्वप्न याने ठीक नींद न आना (Disturbed sleep)। शिरो न धारयेत—इससे सिर धारण करने का असामर्थ्य प्रकट होता है। यह असामर्थ्य दो प्रकार से दिखाई दे सकता है—सिर के एक तरफ गिरने से या सिर के काँपने से। आगे काश्यपसंहिता का शिरोरोग सम्बन्ध का श्लोक देखो। बस्तिस्थे—भगास्थि के आस-पास के विकार में—मूत्रसंगतृण्मूर्च्छात्रासदिग्वीक्षणच्छर्दी-हस्तपादस्तम्भकुब्जीभवनकेशलुञ्चनैर्बस्तौ गुह्ये च। (अष्टांगसंग्रह)। कोष्ठ—उदरविभाग में विशेषतया आमाशय और आन्त्र में। 'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥' इस व्यापक अर्थ में कोष्ठ का प्रयोग न होकर केवल 'स्थानान्यामाग्निपक्वानाम्' इसके लिए प्रयुक्त हुआ है। इस अर्थ से कोष्ठ शब्द का उपयोग 'मृदुकोष्ठक्रूरकोष्ठ' इन शब्दों में होता है—'मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया। स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः॥ (चरक, सूत्र १३)। सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः—सर्वत्र च स्वभावातिरिक्तरोदनेन मुराविकूजनेन च। (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)। रोदन से स्वभावातिरिक्त रोदन समझना चाहिए। स्वाभावातिरिक्त रोदन का अभिप्राय यह है कि बालक स्वस्थावस्था में जितना रोता है, उससे अधिक रोने पर। कुछ बालक स्वभाव से ही न रोने

में तैलपिचु रखने का रिवाज है। पीछे २३वाँ सूत्र देखो। बचपन में जब तक तालु बन्द नहीं होती, तब तक उसकी स्थिति से बालक के साधारण स्वास्थ्य का, मस्तिष्कगत विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है। प्रवाहिका, अतीसार, अनुबद्ध वमन तथा अन्य क्षीणता-जनक तीव्र विकारों में तालु में निम्नता Depression) आ जाती है। आगे तालुकंटक देखो। तालु की निम्नता एक गम्भीरतादर्शक लक्षण होता है। अस्थिवक्रता (फक्क Rickets आगे ६२वें श्लोक के वक्तव्य में देखो) नामक रोग में तालु की अस्थियाँ देर में मिलती हैं। बड़े रोगियों में नाड़ी की क्षीणता का जो मतलब होता है वही मतलब बच्चों में तालु की निम्नता का होता है। मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) मस्तिष्कार्बुद (Tumour) इत्यादि मस्तिष्क के विकारों में तालु तनाव से युक्त और कुछ उन्नत होती है। संक्षेप में, तालुपात या तालु की अन्य स्थिति एक लक्षण है, जिससे बालक की विकृति का कुछ पता चल जाता है। तालुपात बालक की क्षीणता या स्वास्थ्य दैन्य का निदर्शक है। मस्तुलुंगक्षयात्—तालु का पात बालक के अतिसार, प्रवाहिका, वमन इत्यादि शरीरगत जलांश का नाश करने वाले विकारों में होता है शरीरगत जल की कमी का परिणाम मस्तिष्कसुषुम्नाजल (Cerebro-spinal fluid) की कमी में होता है। यह जल मस्तिष्क के चारों ओर उसके आवरण के भीतर होता है। इसकी कमी होने से सावरण मस्तिष्क का आकार कुछ छोटा होता है। अन्य स्थानों पर कठिन हड्डियाँ होने से इसका पता नहीं लगता, परन्तु पूर्वतालुप्रदेश में हड्डी न होने से वह निम्न हो जाता है। संक्षेप में मस्तुलुंगक्षय से 'मस्तुलुंगजलक्षय' समझना चाहिए। वायु—तालुनिम्नता का आन्तरिक कारण मस्तिष्कजलक्षय है और बाह्य कारण वायु है। वायु से बाह्य वायु (वातावरण Atmosphere और शरीरगत वायु दोष दोनों का बोध होता है (चरक का वातकलाकलीय अध्याय सूत्र १२)। तालु के पात में बाह्य वायु ही कारण है। हमारे शरीर पर बाह्य वायु का बहुत भारी दबाव पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उतना ही दबाव होने के कारण या हड्डी के समान कठिन आवरण होने के कारण उसका ज्ञान हमें नहीं होता। शरीर में जहाँ पर कुछ पोलापन या निर्वात (Vacuam) स्थिति होती है, वहाँ पर बाहर की वायु दबाती है। फुफ्फुसक्षय में जब फुफ्फुस भीतर से विवरयुक्त पोला हो जाता है, तब बाहर की वायु का दबाव पड़ने से पर्शुकान्तरीय स्थान भीतर धँसे हुए दिखाई देते हैं तथा अक्षक (हसली) के ऊपर और नीचे गड्ढे बन जाते हैं। मस्तिष्कजलक्षय में बालकों की तालु में हड्डी न होने के कारण बाह्य वायु के दबाव से तालु दब जाती है। बाल्यावस्था के पश्चात् मस्तिष्कजलक्षय होने पर भी इस प्रकार की निम्नता नहीं होती क्योंकि दबने लायक स्थान खोपड़ी में नहीं होता। तृड्दैन्ययुक्तस्य—जिस समय तालुपात होता है, उस समय रोगी की स्थिति बड़ी शोचनीय होती है। जैसे—शरीर की कृशता, क्षीणता, पेशियों का शिथिलापन आँखें कपोल और उदर भीतर धँसे हुए बद्धवामी इत्यादि। शरीरगत जलांश का नाश जिन रोगों में अधिक होता है, उन रोगों में तालुपात होता है। अर्थात् जलांश की पूर्ति करने के लिए बालक को स्वभाव से ही अधिक प्यास मालूम होती है। मधुरकैः शृतम्—मधुरगण में बलकारक, जीवनीय औषधियाँ (सूत्रस्थान के ४२वें अध्याय का २४वाँ सूत्र देखो) होती हैं। शीताम्बुना—शीतल जल का प्रयोग दीन, क्षीण बालक को होशियार करने के लिए, उसको होश पर लाने के लिए होता है। इसका उपयोग अधिकतर आँखों पर, चेहरे पर किया जाता है।

वातेनाध्मापिता नाभि सरुजा तुण्डिसंज्ञिताम्।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः ॥ ४८ ॥

(नाभितुण्डि—) वायु के कारण फूली हुई पीड़ा-युक्त तुण्डि नामक नाभि को वायुनाशक स्वेद, स्नेह और उपनाह से शान्त करे ॥ ४१ ॥

वक्तव्य—नाड़ीकल्पन की विधि पीछे ११वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य में भली भाँति वर्णन की गई है। उस समय सूत्र, कैंची, वस्त्र इत्यादि की सफाई में लापरवाही करने से व्रणयुक्त नाड़ी दूषित होती है। कभी कभी यह दोष नाड़ी के द्वारा यकृत् और रक्त में प्रवेश करके कामला, ज्वर, वमन, प्रवाहिका और जीवाणुमयता उत्पन्न करके बालक का नाश करता है। इसलिए, नाड़ीकल्पन के सब साधन अत्यन्त शुद्ध काम में लाने चाहिए। परन्तु प्राय दोष इतनी दूर तक न फैलकर नाभि तक सीमित रहता है और नाभिपाक (Omphalitis उत्पन्न होता है। नाभितुण्डि उत्पन्न होने से पूर्व प्राय नाभिपाक होता है। इसलिए चरक और अष्टांगसंग्रह में प्रथम नाभिपाक का उल्लेख किया गया है—तस्य चेन्नाभि पच्येत तां लोध्रमधुकप्रियङ्गुसुरदारु हरिद्राकल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यञ्ज्यात् एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेत। (चरक, शा० १०)। नाभि का पाक होने से नाभि अधिक कमजोर होती है। इस कमजोरी के साथ यदि बालक में मलावरोध, निरुद्धप्रकाश (निदान १३—५७) और रोदनाधिक्य ये विकार हों तो उदरगत भार बढ़ जाने से आन्त्र का कुछ हिस्सा नाभि के छिद्र में से बाहर आने लगता है और नाभि ध्मापित होती है। इस अवस्था को नाभिगत आन्त्रवृद्धि Umbilical hernia) कहते हैं। बिना नाभिपाक के भी मलावरोधादि कारण अधिक काल तक जारी रहें तो यह विकार हो जाता है क्योंकि नाभि का स्थान उदरप्राचीर के अन्य स्थानों की अपेक्षा स्वभावत कमजोर रहता है। चरकसंहिता में नाभि के चार विकार दिये हैं—असम्यक्कल्पने हि नाड्या आयाम व्यायामोत्तुण्डिका पिण्डलिका विनामिका विजृम्भिका बाधेरन् भवन्। इस के ऊपर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—आयामो दैर्घ्यं व्यायामो विस्तार, ताभ्यामुत्तुण्डिका आयाम व्यायामोत्तुण्डिका, दीर्घपीनत्व युक्तेत्यर्थः। पिण्डलिका परिमण्डलयुता, विनामिका अन्नोन्मुखा मध्यनिम्ना। विजृम्भिका तु मुहुर्मुहुर्वृद्धिमती। ... नाडीपाकसारकर्तने तथा वाते आयाम-व्यायामोत्तुण्डिका दिविकारचतुष्टयकारको दोषो ... ये चार विकार वास्तव में चार स्वतन्त्र विकार न होकर एक विकार के चार प्रकार हैं और वह विकार है नाभिगत आन्त्रवृद्धि। सुश्रुत की तुण्डि चरक की आयामव्यायामोत्तुण्डिका है। विजृम्भिका में नाभि हमेशा के लिए उभरी

हुई नहीं होती, परंतु जिस समय बालक रोता है या मल त्याग करता है, उस समय उदरगत भार चढ़ने के कारण फूलती है। बाकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए फूली हुई रहती है। इस नाभि में क्षुद्रांत्र का कुछ हिस्सा आता है। बालक की आयुर्वृद्धि के साथ नाभि का आयाम-व्यायाम नहीं बढ़ता परंतु आन्त्र की मोटाई या गोलाई बढ़ती है, जिसके कारण यह विकार आयु बढ़ने पर आपसे आप ठीक हो जाता है। स्नेहस्वेदोपनाहनैः—मालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा। उपनाह—उपनाहो बहलं लेपं दत्त्वा चर्मादिभिरावृत्य व्याधियुक्तस्यांगस्य बंधनम्। (चक्रपाणिदत्त, चरक, सूत्र० १४)। आधुनिक परिभाषा के अनुसार नाभि के उपनाहन को नाभिपट्ट (Umbilical belt) कह सकते हैं। इसके अलावा मलावरोधादि सहायक कारणों को भी दूर करना चाहिए।

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्।
रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम् ॥ ४७ ॥

(गुदपाक—) बालकों के गुदपाक (नामक रोग) में पित्तनाशक चिकित्सा करें। (इसमें) विशेषतः रसौत पीने के और आलेपन के लिए हितकर होता है ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—गुदपाक—क्षुद्ररोगनिदान (१३वाँ अध्याय) में अहिपूतन या गुदकुंद करके बालकों का एक रोग वर्णन किया गया है। गुदपाक के कारण और लक्षण और कहीं पर नहीं मिलते। इसलिए गुदकुंद और गुदपाक में क्या भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है। परंतु निम्न कारणों से ये दोनों रोग एक मालूम होते हैं—(१) दोनों रोग बालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है। (२) वाग्भटाचार्य अष्टांगहृदय और संग्रह में अहिपूतन का ही वर्णन करते हैं, गुदपाक का नहीं करते। (३) गुदपाक में जैसी पित्तघ्न चिकित्सा होती है, वैसी पित्तघ्न चिकित्सा गुदकुन्द में भी होती है—व्रणं च पित्तव्रणजिच्चिकित्सयते गुदकुट्टके। (अष्टांगसंग्रह)। (४) अहिपूतन चिकित्सा की ओषधियों में रसांजन भी एक है—पटोलपत्रत्रिफलारसांजनविपाचितम्। पीतं घृतं नाशयति कृच्छ्रमप्यहिपूतनम् ॥ (चिकित्सा स्थान २०)। इन द्रव्यों में रसांजन विशेषतः हितकर होता है; इसका उल्लेख यहाँ द्वितीय श्लोकार्ध से किया गया है। (५) अहिपूतना की चिकित्सा आगे चिकित्सा-स्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है। यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था। परंतु रोग बालकों का होने के कारण यहाँ पर बालकों के रोगों में संक्षेप में उसका सूत्र बताया गया है। रसांजन—दारुहरिद्रा के क्वाथ से बनाया हुआ, जो रसौत भी कहलाता है।

बालकों के रोग—बाल्यावस्था में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं हैं, वर्णन यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है—(१) महापद्म—विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो बस्तिशीर्षजः। पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः ॥ शंखाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्वा गुदं व्रजेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह)। यह विसर्प है। इसको नवजात विसर्प (Erysipelas neonatorum) कहते हैं। इसका प्रारम्भ प्रायः नाभि से होता है और नाभिनाडी छेद से उदरगुहा में प्रवेश करके उदरावरण शोथ पैदा करता है। इसी उपद्रव से यह रोग प्राणनाशक होता है। सुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश क्षतज विसर्प में (निदान १०) होता है। (२) दन्तशब्द—रूक्षाशिनो बालकस्य चालयत्यनिलः सिराः। हन्वाश्रयाः प्रसुप्तस्य दन्तैः शब्दान् करोत्यतः ॥ दन्तशब्द को दन्तनिष्पेषण (Grinding of teeth) कहते हैं। यह कोई महत्त्व का रोग नहीं है। केंचुवे के कारण कई बार यह लक्षण हुआ करता है। (३) तालुकण्टक—तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकान्। तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥ तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद् द्रवम्। तृडक्षिकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः ॥ (अष्टांगसंग्रह)। तालुकण्टक एक प्रकार का मुखपाक (Stomatitis) है। बालकों की दृष्टि से इसको थश (Thrush) कह सकते हैं। (४) क्षीरालसक—स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम्। विबद्धमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते ॥ शकृन्नानाव्यथावर्णं मूत्रं पीतं सितं घनम्। ज्वरारोचकतृट्छर्दिशुष्कोद्गारविजृम्भिकाः ॥ अङ्गभङ्गोऽङ्गविक्षेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः। घ्राणाक्षिमुखपाकाद्या जायन्तेऽन्येऽपि तं गदम्। क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम् ॥ (अष्टांगहृदय)। क्षीरालसक दूध की खराबी से होने वाली बच्चों की प्रवाहिका (Infantile diarrhoea) है। (५) शूल—स्तनं च्युदस्यते रौति चोत्तानश्चावभज्यते। उदरस्तब्धता शैत्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। बच्चों में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक न होने से होता है। ठीक पचन न होने से आन्त्र में वायु (गैस) पैदा होकर शूल उत्पन्न करती है और उसी से उदरस्तब्धता (कठिनता) आ जाती है। (६) उपशीर्षकम्—कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते। सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २७)। उपशीर्षक को शीर्षशोणार्बुद (Cephal haematoma) कहते हैं। यह शोफपार्श्व कपाल पर होता है और कपाल तथा त्वचा के नीचे रक्तस्राव होने से होता है। (७) उल्बकम्- गर्भाम्भसामवमनात् श्लेष्मणः कण्ठगस्य वा। संपर्काद् हृदये दुष्टे मार्गानावृणुते रसः ॥ बद्धमुष्टिस्ततो मुग्धो गर्भाल्लोऽभिभूयते। हृद्रोगाक्षेपकश्वासकासच्छर्दिज्वरादिभिः। उल्बकं सहजं व्याधिमसम्पूर्णं च नं वदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)। उल्बक को शैशवीय आक्षेप (Infantile convulsions) कहते हैं। इसका कारण मस्तिष्क की विकृति होती है, जो कष्ट प्रसूति के समय सिर पर दबाव के कारण कभी कभी हुआ करती है। ये आक्षेप प्रायः जन्म के पश्चात् दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं। अगर हफ्ते दो हफ्ते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए। (८) कामला—पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रः कामलार्दितः। उभयत्र निरुत्साहो नष्टाग्निरुधिरस्पृहः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। बालकों में कामला निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय बालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है। ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कणों की संख्या स्वाभाविक हो जाती है। इन अधिक कणों के नाश के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है। (आ) पित्तवाहिनी-मुखशोथ—कभी कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वार में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरुद्ध होता है और कामला होती है। (इ) नाभिनाडी

में तैलपिचु रखने का रिवाज है। पीछे २३वाँ सूत्र देखो। बचपन में जब तक तालु बन्द नहीं होती, तब तक उसकी स्थिति से बालक के साधारण स्वास्थ्य का, मस्तिष्कगत विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है। प्रवाहिका, अतीसार, अनुबद्ध वमन तथा अन्य क्षीणताजनक शीघ्र विकारों में तालु में निम्नता (Depression) आ जाती है। आगे तालुकण्टक देखो। तालु की निम्नता एक गम्भीरतादर्शक लक्षण होता है। अस्थिवक्रता (फक्क Rickets आगे ६३वें श्लोक के वक्तव्य में देखो) नामक रोग में तालु की अस्थियाँ देर में मिलती हैं। बड़े रोगियों में नाड़ी की क्षीणता का जो मतलब होता है, वही मतलब बच्चों में तालु की निम्नता का होता है। मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) मस्तिष्कार्बुद (Tumour) इत्यादि मस्तिष्क के विकारों में तालु तनाव से युक्त और कुछ उन्नत होती है। संक्षेप में, तालुपात या तालु की अन्य स्थिति एक लक्षण है, जिससे बालक की विकृति का कुछ पता चल जाता है। तालुपात बालक की क्षीणता या स्वास्थ्य दैन्य का निदर्शक है। मस्तुलुङ्गक्षयात्—तालु का पात बालक के अतिसार, प्रवाहिका, वमन इत्यादि शरीरगत जलांश का नाश करने वाले विकारों में होता है शरीरगत जल की कमी का परिणाम मस्तिष्कसुषुम्नाजल (Cerebro-spinal fluid) की कमी में होता है। यह जल मस्तिष्क के चारों ओर उसके आवरण के भीतर होता है। इसकी कमी होने से सावरण मस्तिष्क का आकार कुछ छोटा होता है। अन्य स्थानों पर कठिन हड्डियाँ होने से इसका पता नहीं लगता, परन्तु पूर्वतालुप्रदेश में हड्डी न होने से वह निम्न हो जाता है। संक्षेप में 'मस्तुलुङ्गक्षय' से 'मस्तुलुङ्गजलक्षय' समझना चाहिए। वायु—तालुनिम्नता का आन्तरिक कारण मस्तिष्कजलक्षय है और बाह्य कारण वायु है। वायु से बाह्य वायु (वातावरण Atmosphere और शरीरगत वायु दोष दोनों का बोध होता है (चरक का वातकलाकलीय अध्याय सूत्र १२)। तालु के पात में बाह्य वायु ही कारण है। हमारे शरीर पर बाह्य वायु का बहुत भारी दबाव पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उतना ही दबाव होने के कारण या हड्डी के समान कठिन आवरण होने के कारण उसका ज्ञान हमें नहीं होता। शरीर में जहाँ पर कुछ पोलापन या निर्वात (Vacuum) स्थिति होती है, वहाँ पर बाहर की वायु दबाती है। फुफ्फुसक्षय में जब फुफ्फुस भीतर से विवरयुक्त पोला हो जाता है, तब बाहर की वायु का दबाव पड़ने से पर्शुकान्तरीय स्थान भीतर धँसे हुए दिखाई देते हैं तथा अक्षक (हसली) के ऊपर और नीचे गढ़े बन जाते हैं। मस्तिष्कजलक्षय में बालकों की तालु में हड्डी न होने के कारण बाह्य वायु के दबाव से तालु दब जाती है। बाल्यावस्था के पश्चात् मस्तिष्कजलक्षय होने पर भी इस प्रकार की निम्नता नहीं होती क्योंकि दबने लायक स्थान खोपड़ी में नहीं होता। तृड्दैन्ययुक्तस्य—जिस समय तालुपात होता है, उस समय रोगी की स्थिति बड़ी शोचनीय होती है। जैसे—शरीर की कृशता, क्षीणता, पेशियों का ... आँखें कपोल और उदर भीतर धसे हुए ... [illegible] ... शरीरगत जलांश का नाश जिन रोगों में अधिक होता है, उन रोगों में तालुपात होता है। अर्थात् जलांश की पूर्ति करने के लिए बालक को स्वभाव से ही अधिक प्यास मालूम होती है। मधुरकै: गणम्—मधुरगण में बल्कारक, जीवनीय ओषधियाँ (सूत्रस्थान के ४२वें अध्याय का २४वाँ सूत्र देखो) होती हैं। शीताम्बुसेचनम्—शीतल जल का प्रयोग दीन, क्षीण बालक को होशियार करने के लिए, उसको होश पर लाने के लिए होता है। इसका उपयोग अधिकतर आँखों पर, चेहरे पर किया जाता है।

तेनाध्मापिता नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम्।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः ॥ ५८ ॥

(नाभितुण्डि—) वायु के कारण फूली हुई पीड़ायुक्त तुण्डि नामक नाभि को वायुनाशक स्वेद, स्नेह और उपनाह से शान्त करे ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—नाड़ीकल्पन की विधि पीछे ११वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य में भली भाँति वर्णन की गई है। उस समय सूत्र, कैंची, वस्त्र इत्यादि की सफाई में लापरवाही करने से व्रणयुक्त नाड़ी दूषित होती है। कभी कभी यह दोष नाड़ी के द्वारा यकृत् और रक्त में प्रवेश करके कामला, ज्वर, वमन, प्रवाहिका और जीवाणुमयता उत्पन्न करके बालक का नाश करता है। इसलिए नाड़ीकल्पन के सब साधन अत्यन्त शुद्ध काम में लाने चाहिए। परन्तु प्रायः दोष इतनी दूर तक न फैलकर नाभि तक सीमित रहता है और नाभिपाक (Omphalitis उत्पन्न होता है। नाभितुण्डि उत्पन्न होने से पूर्व प्रायः नाभिपाक होता है। इसलिए चरक और अष्टाङ्गसंग्रह में प्रथम नाभिपाक का उल्लेख किया गया है—तस्य चेन्नाभिः पच्येत, तां लोध्रमधुकप्रियङ्गुसुरदारुहरिद्राकल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यञ्ज्यात्, एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेत्। (चरक, शा० १०)। नाभि का पाक होने से नाभि अधिक कमजोर होती है। इस कमजोरी के साथ यदि बालक में मलावरोध, निरुद्धप्रकाश (निदान १३-५७) और रोदनाधिक्य ये विकार हों तो उदरगत भार बढ़ जाने से आन्त्र का कुछ हिस्सा नाभि के छिद्र में से बाहर आने लगता है और नाभि ध्मापित होती है। इस अवस्था को नाभिगत आन्त्रवृद्धि (Umbilical hernia) कहते हैं। बिना नाभिपाक के भी मलावरोधादि कारण अधिक काल तक जारी रहें तो यह विकार हो जाता है क्योंकि नाभि का स्थान उदरप्राचीर के अन्य स्थानों की अपेक्षा स्वभावतः कमजोर रहता है। चरकसंहिता में नाभि के चार विकार दिये हैं—अथास्य नाभिं ... आयामव्यायामोत्तुण्डिता पिण्डलिका विनामिका विजृम्भिका बाधेभ्यो रक्षयेत्। इस पर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—आयामो दैर्घ्यं व्यायामो विस्तारः, ताभ्यामुत्तुण्डिता आयामव्यायामोत्तुण्डिता, दीर्घोन्नत्युच्चेत्यर्थः। पिण्डलिका परिमण्डलतुङ्गा, विनामिका अन्योन्यमध्यनिम्ना। विजृम्भिका तु मध्ये वृद्धिमती। गुरुलाघवात् नाभिरोगेति नाडीपाककारकाणि दोषा वर्तन्ते चायामव्यायामोत्तुण्डितादिविकारचतुष्टयकारके यो दोषो गुरुः स उपचरितव्य इत्यर्थः ये चार विकार वास्तव में चार स्वतन्त्र विकार न होकर एक विकार के चार प्रकार हैं और वह विकार है नाभिगत आन्त्रवृद्धि। सुश्रुत की तुण्डि चरक की आयामव्यायाम ...

हुई नहीं होती, परंतु जिस समय बालक रोता है या मल त्याग करता है, उस समय उदरगत भार बढ़ने के कारण फूलती है। बाकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए फूली हुई रहती है। इस नाभि में क्षुद्रांत्र का कुछ हिस्सा आता है। बालक की आयुर्वृद्धि के साथ नाभि का आयाम-व्यायाम नहीं बढ़ता परंतु आन्त्र की मोटाई या गोलाई बढ़ती है, जिसके कारण यह विकार आयु बढ़ने पर आपसे आप ठीक हो जाता है। स्नेहस्वेदोपनाहनैः—मालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा। उपनाह—उपनाहो बहलो लेपं दत्त्वा चर्मादिभिरावृत्य व्याधियुक्तस्यांगस्य बंधनम्। (चक्रपाणिदत्त, चरक, सूत्र० १४)। आधुनिक परिभाषा के अनुसार नाभि के उपनाहन को नाभिपट्ट (Umbilical belt) कह सकते हैं। इसके अलावा मलावरोधादि सहायक कारणों को भी दूर करना चाहिए।

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्।
रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम् ॥ ४७ ॥

(गुदपाक—) बालकों के गुदपाक (नामक रोग) में पित्तनाशक चिकित्सा करे। (इसमें) विशेषतः रसोत पीने के और आलेपन के लिए हितकर होता है ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—गुदपाक—क्षुद्ररोगनिदान (१३वाँ अध्याय) में अहिपूतन या गुदकुंद करके बालकों का एक रोग वर्णन किया गया है। गुदपाक के कारण और लक्षण और कहीं पर नहीं मिलते। इसलिए गुदकुंद और गुदपाक में क्या भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है। परंतु निम्न कारणों से ये दोनों रोग एक मालूम होते हैं—(१) दोनों रोग बालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है। (२) वाग्भटाचार्य अष्टांगहृदय और संग्रह में अहिपूतन का ही वर्णन करते हैं, गुदपाक का नहीं करते। (३) गुदपाक में जैसी पित्तघ्न चिकित्सा होती है, वैसी पित्तघ्न चिकित्सा गुदकुन्द में भी होती है—सर्वं च पित्तव्रणजिच्छस्यते गुदकुट्टके। (अष्टांगसंग्रह)। (४) अहिपूतन चिकित्सा की ओषधियों में रसांजन भी एक है—पटोलपत्रत्रिफलारसांजनविपाचितम्। पीतं घृतं नाशयति कृच्छ्रमप्यहिपूतनाम् ॥ (चिकित्सा स्थान २०)। इन द्रव्यों में रसांजन विशेषतः हितकर होता है; इसका उल्लेख यहाँ द्वितीय श्लोकार्ध से किया गया है। (५) अहिपूतना की चिकित्सा आगे चिकित्सा-स्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है। यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था। परंतु रोग बालकों का होने के कारण यहाँ पर बालकों के रोगों में संक्षेप में उसका सूत्र बताया गया है। रसांजन—दारुहरिद्रा के क्वाथ से बनाया हुआ, जो रसोत भी कहलाता है।

बालकों के रोग—बाल्यावस्था में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं हैं, वर्णन यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है—(१) महापद्म—विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो बस्तिशीर्षजः। पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः॥ शंखाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्वा गुदं व्रजेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह)। यह विसर्प है। इसको नवजात विसर्प (Erysipelas neonatorum) कहते हैं। इसका प्रारम्भ प्रायः नाभि से होता है और नाभिनाडी छेद से उदरगुहा में प्रवेश करके उदरावरण शोथ पैदा करता है। इसी उपद्रव से यह रोग प्राणनाशक होता है। सुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश क्षतज विसर्प में (निदान १०) होता है। (२) दन्तशब्द—रूक्षाशिनो वातिकस्य चालयत्यनिलः सिराः। दन्ताश्रयाः प्रसुप्तस्य दन्तैः शब्दान् करोत्यतः ॥ दन्तशब्द को दन्तनिष्पेषण (Grinding of teeth) कहते हैं। यह कोई महत्त्व का रोग नहीं है। केंचुवे के कारण कई बार यह लक्षण हुआ करता है। (३) तालुकण्टक—तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकान्। तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥ तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद् द्रवम्। तृडक्षिकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः ॥ (अष्टांगसंग्रह)। तालुकण्टक एक प्रकार का मुखपाक (Stomatitis) है। बालकों की दृष्टि से इसको थ्रश (Thrush) कह सकते हैं। (४) क्षीरालसक—स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम्। विबद्धमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते ॥ शकृन्नानाव्यथावर्णं मूत्रं पीतं सितं घनम्। ज्वरारोचकतृट्छर्दिशुष्कोद्गारविजृम्भिकाः॥ अङ्गभङ्गोऽङ्गविक्षेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः। घ्राणाक्षिमुखपाकाद्या जायन्तेऽन्येऽपि तं गदम्। क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम् ॥ (अष्टांगहृदय)। क्षीरालसक दूध की खराबी से होने वाली बच्चों की प्रवाहिका (Infantile diarrhoea) है। (५) शूल—स्तनं न्युदस्यते रौति चोत्तानश्चावभज्यते। उदरस्तब्धता शैत्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। बच्चों में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक न होने से होता है। ठीक पचन न होने से आन्त्र में वायु (गैस) पैदा होकर शूल उत्पन्न करती है और उसी से उदरस्तब्धता (कठिनता) आ जाती है। (६) उपशीर्षकम्—कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते। सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २७)। उपशीर्षक को शीर्षशोणार्बुद (Cephal haematoma) कहते हैं। यह शोफ पार्श्व कपाल पर होता है और कपाल तथा त्वचा के नीचे रक्तस्राव होने से होता है। (७) उल्वकम्—गर्भाम्भसामवमनात् श्लेष्मणः कण्ठगस्य वा। संपर्काद् हृदये दुष्टो मार्गानावृणुते रसः॥ बद्धमुष्टिर्मन्तो मुखेद्रो-गैर्बालोऽभिभूयते। हृद्रोगाक्षेपकश्वासकासच्छर्दिज्वरादिभिः। उल्वकं सहजं व्याधिमम्बुपूर्णं च तं वदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)। उल्वक को शैशवीय आक्षेप (Infantile convulsions) कहते हैं। इसका कारण मस्तिष्क की विकृति होती है, जो कष्ट प्रसूति के समय सिर पर दबाव के कारण कभी कभी हुआ करती है। ये आक्षेप प्रायः जन्म के पश्चात् दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं। अगर हफ्ते दो हफ्ते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए। (८) कामला—पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रः कामलार्दितः। उभयत्र निरुत्साहो नष्टाग्निरुधिरस्पृहः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। बालकों में कामला निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय बालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है। ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कणों की संख्या स्वाभाविक हो जाती है। इन अधिक कणों के नाश के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है। (आ) पित्तवाहिनी-मुखशोथ—कभी कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वार में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरुद्ध होता है और कामला होती है। (इ) नाभिनाडी

वाले होते हैं। इनके बारे में ज़रा-सा भी रोना संदेहास्पद होता है। कुछ बालक स्वभाव से अधिक रोने वाले होते हैं। इनके बारे में जब ये उससे अधिक रोएँगे, तब संदेह होगा। मुखविकूणने च—मुखचर्या (Facial expression) के फर्क से। चेहरा शरीर का आदर्श होता है, जिसमें शारीरिक और मानसिक विकारों का प्रतिबिम्ब मिलता है। शरीर या मन में ज़रा-सी उथल-पुथल होने से उसका पता चेहरे से लग जाता है। सर्वत्रस्थाश्च—इसके पहले जो दोष वर्णन किये गये थे, वे एकदेशीय थे। जैसे—शिरोगत, बस्तिगत, उदरगत इत्यादि। इसमें एकदेशीयता न होकर सर्वाङ्गगतता या सर्वशरीरव्यापकता होती है। अर्थात् सर्वत्रस्थ दोषों से ऐसे रोगों का बोध होता है कि जिनमें दोष किसी एक स्थान में सीमित है, ऐसा नहीं बताया जा सकता है। जैसे, ज्वर, सर्वाङ्गवात, पाण्डु इत्यादि। सूत्रस्थान के २१वें अध्याय का ३२वाँ सूत्र देखो। अर्थात् इसका अभिप्राय यह है कि जब बालक स्वभाव से अधिक रोने लगे, उसके चेहरे में कुछ फर्क पड़ जाय और स्थानिक विकृति के लक्षण कहीं पर न दिखाई दें तो यह समझना चाहिए कि बालक ज्वर जैसे सर्वाङ्गरोग से पीड़ित हुआ है।

इन श्लोकों में जो बालक बोलना नहीं जानते या अपने विचार प्रकट करना नहीं समझते, उन बालकों के रोगों का निदान लक्षणों और चिह्नों को देखकर कैसा करना चाहिए इसका विवरण किया गया है। इस प्रकार का विवरण अष्टाङ्गहृदय और अष्टांगसंग्रह (उत्तर २) में भी मिलता है, परन्तु ये सब विवरण बहुत संक्षेप में हैं। काश्यपसंहिता में इस महत्व के विषय का विवरण अधिक विस्तार से दिया गया है। अतः उसका कुछ उपयोगी अंश नीचे दिया जाता है—बालकानाम् वचसा विविधा देहवेदना। प्रादुर्भूता कथं वैद्यो जानीयाल्लक्षणैः॥ इति पृष्टो महाभाग कश्यपो लोकपूजितः। प्रोवाच वेदनास्तस्मै कारणैर्बालदेहजाः॥ यस्य शिरः स्पन्दयति निमीलयति चक्षुषी। अवकूजत्यरतिमानस्वप्नश्च शिरोरुजि॥ धर्षौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रमयते भृशम्। अरत्यरोचकास्वप्नैर्जानीयात्कर्णवेदनाम्॥ लालास्रवणमत्यर्थं स्तनद्वेषारतिर्व्यथा। पीतमुद्गिरति क्षीरं नासाश्वासी मुखामये॥ लालास्रावोऽरुचिग्लानिः कपोले श्वयथुर्व्यथा। मुखस्य विवृतत्वं च जानीयादधिजिह्विकाम्॥ मुहुर्नमयतेऽङ्गानि जृम्भते कासते मुहुः। धात्रीमालीयतेऽस्मात् स्तनं नात्यभिनन्दति॥ अस्रावोष्णत्ववैवर्ण्यं ललाटस्याभितप्तता। अरुचिः पादयोः शैत्यं ज्वरे स्युः पूर्ववेदनाः॥ स्तनं न्युदस्यते रौति चोत्तानश्चावमन्यते। उदरस्तब्धता शैत्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः॥ स्तनं पिबति चात्यर्थं न च तृप्यति रोदिति। शुष्कोष्ठतालुरुचौषैर्मुहुर्वेलस्तृष्णयाऽर्दितः॥ रोमहर्षोऽङ्गहर्षश्च मूत्रकाले च वेदना। मूत्रकृच्छ्रे दशत्योष्ठौ बस्तिं स्पृशति पाणिना॥ सशर्करातिमूत्रत्वं मूत्रकाले च वेदना। प्रततं रोदिति ध्यामस्तं मूत्रदग्धरोगदम्॥ दृष्टिव्याकुलता चोदशोफशूलाश्रुरक्तता। कृतस्य चोपलिप्यन्ते चक्षुषी चक्षुरामये॥ घर्षत्यङ्गानि शयने रोदितीच्छति मर्दनम्। शुष्ककण्ठूर्वदित विघातश्चार्दाः प्रवर्तते॥ कृशायते मूषमानं मूषमानं च दृश्यते। यत्र स्रवति सस्फोटामार्द्रांश्च शुल्कदाहवत्॥ नाम्याः समन्ततः शोथः श्वेताक्षिमलवक्त्रता। पाण्डुरोगेऽग्निसादश्च श्वयथुश्चाक्षिकूटयोः॥ पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रः ध्मानार्दितः। धमनं निरुत्साहो नष्टाग्निरुधिरजः॥ मुहुर्मुखेनोच्छ्वसिति पीत्वा पीत्वा स्तनं तु यः। स्रवतो नासिके चास्य ललाटं चाभितप्यते॥ स्रोतांस्यमीक्ष्णं स्पृशति पीनसे क्षौति कासते। उरोघाते तथैव स्याद्भिन्नत्युरसोऽधिकम्॥ स्वल्पपृष्ठपरो बालो न शेते तु सदा निशि। रक्तबिन्दुचितांश्च विद्यात् जन्तुकादिवत्॥ (वेदनाध्याय)।

तेषु च यथाभिहितं मृद्वच्छेदनीयमौषधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीरसर्पिषा धात्र्याश्च विदध्यात्, क्षीराद्स्यात्मनि धात्र्याश्च, अन्नादस्य कषायादीनात्मन्येव न धात्र्या ॥ ४० ॥

(ओषधिप्रदान की पद्धति—) उन रोगों में मृदु, तीक्ष्णवेगरहित और यथोक्त ओषधि मात्रानुसार दूध पीने वाले बालक को दूध और घृत के साथ और धात्री (या माता) को (दुग्धादि के सिवा) सेवन करावे। दूध और अन्न खाने वाले बालक (के रोगों में उस) को तथा धात्री (या माता) को। अन्नसेवन करने वाले बालक (के रोगों में उस) को ही दे, धात्री को न दे ॥ ४० ॥

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रह(ण)संमितामौषधमात्रां विदध्यात्, कोलास्थिसमितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसमितामन्नादायेति ॥ ४१ ॥

(ओषधि मात्रा का बालक के लिए प्रमाण—) एक मास से ऊपर के दूध पीने वाले बालक के लिए अंगुलि के दो पोरों में जितनी ओषधि रह सके, उतनी दे। दूध और अन्न खाने वाले बालक के लिए बेर की गुठली के समान कल्क (या चूर्ण) की मात्रा और अन्न खाने वाले बालक के लिए बेर के बराबर (ओषधि की मात्रा दे) ॥ ४१ ॥

वक्तव्य—अङ्गुलिपर्वद्वयग्रहणसमिताम्—चुटकी भर। क्षीरप इत्यादि—आहार की दृष्टि से बाल्यावस्था के तीन विभाग होते हैं—प्रथम वर्ष की क्षीरपावस्था, दूसरे और तीसरे वर्ष की क्षीरपान्नादावस्था और चौथे वर्ष से अन्नादावस्था। सूत्रस्थान के ३१वें अध्याय के ३३वें सूत्र को तथा उसके वक्तव्य को देखो। मात्रा—इसके संबंध का विवरण सूत्रस्थान के ३९वें अध्याय के ३९वें सूत्र तथा उसके वक्तव्य में किया गया है।

बच्चों को ओषधियाँ हमेशा द्रव या लेह के रूप में देनी चाहिए। चूर्ण या कल्क घी शहद के साथ मिलाकर चटाना चाहिए। गोली या वटिका (Pills and tablets) बच्चों को कदापि न देनी चाहिए। माता या धात्री को ओषधि देने की कल्पना भी ठीक है क्योंकि इनसे सेवन की हुई ओषधि स्तनों से दूध के साथ उत्सर्जित होती है। बच्चों को अफीम या अफीमयुक्त ओषधि न देना ही उचित है क्योंकि उनके ऊपर अफीम का विषैला असर बहुत जल्दी होता है।

येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः।
तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत शिशुं स्तनौ ॥ ४२ ॥

(स्तनलेप से औषधप्रदान करने का मार्ग—) जिन रोगों के जो रोगनिवारक योग कहे जायँगे, उन रोगों में उन योगों के कल्क से लिप्त किये हुए स्तन बालक को पिलावे ॥ ४२ ॥

एक द्वे त्रीणि चाहानि वातपित्तकफज्वरे।
स्तन्यपायाहितं सर्पिरितराभ्यां यथार्थतः ॥ ४३ ॥

(ज्वर में घृतप्रयोग—) दूध पीने वाले बालक के

लिए वातज, पित्तज और कफज ज्वर में क्रमशः एक, दो और तीन दिन घृत (का पान) अहितकर होता है। क्षीरान्नाद तथा अन्नाद बालकों के लिए जैसा उचित मालूम हो, वैसा करे ॥ ४३ ॥

वक्तव्य—चरकसंहिता में ज्वरचिकित्सा के लिए प्रारंभ में लंघन और पश्चात् सर्पिष्पान की विधि बतलाई गई है—यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जांगलैर्वा रसैर्हितैः। दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये ॥ अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे। परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ॥ निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम्। न सर्पिः पाययेद्वैद्यः कषायैस्तमुपाचरेत्। (चिकित्सा ३)। इस विधि का उपयोग तीनों प्रकार के बालकों में किस प्रकार करना चाहिए, इसका विवरण इस श्लोक में है। क्षीरप बालकों के लिए नियम स्पष्ट है। इतराभ्यां यथार्थतः—इसका अभिप्राय यह है कि क्षीरान्नाद और अन्नाद बालकों के लिए वातज्वर के लिए एक दिन से अधिक, पित्तज्वर के लिए दो दिन से अधिक और कफज्वर के लिए तीन दिन से अधिक जितने दिन उचित समझे, उतने दिन उनको घी न दें, उसके पश्चात् दे। यथार्थत इति निवृत्त्यपरपर्यायोऽयमर्थशब्दो यथा मशकार्थो धूम इति। तथा च अर्थम्—'निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलंघितम्। न सर्पिः पाययेत्' इत्युक्तं ज्वरप्रतिषेधे वक्ष्यमाणं च प्रतिषेधमनतिक्रम्य इतराभ्यामन्नादक्षीरान्नादाभ्यान्तु सर्पिर्विरहितमुपदिशेदित्यर्थः। (हाराणचन्द्र)। इतराभ्यां क्षीरान्नादान्नादाभ्यां, यथार्थतः यथाप्रयोजनतः, हितं सर्पिरित्यर्थः। (डल्हण)।

न च तृष्णाभयादत्र पाययेत शिशुं स्तनौ।

(ज्वर में स्तनपान—) ज्वर में तृष्णा के भय से शिशु को स्तन न पिलावे।

वक्तव्य—ज्वर के प्रारम्भ में लंघन करने की या कराने की विधि होती है—ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३)। पिछले श्लोक में ज्वर में सर्पिष्पान की विधि बताई गई है। इस श्लोकार्ध में लंघन की विधि पर्याय से बताई गई है। तृष्णाभयात्—स्तन्यतृष्णाभयात्, अत्याहारभयादित्यर्थः। स्वस्थावस्था में बालक जितना दूध पीता है, उतना ही दूध वह ज्वरितावस्था में भी पी सकता है क्योंकि स्तनों के साथ मुख का संबंध होने पर दूध पीना इतनी ही बात उस समय वह समझता है। ऐसी अवस्था में अगर उसको नित्य के समान स्तनपान कराया जाय तो अजीर्ण होने का डर रहता है। इसलिए ज्वर के प्रारंभिक दिनों में स्तनपान न कराना ही प्रशस्त मार्ग है। परन्तु लंघन के इन दिनों में बालक को उबाला हुआ पानी, जैसे कि औरों को दिया जाता है, देना चाहिए—तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे। दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत्। स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३)। लङ्घनादिकाले एव अवस्थाविशेषे देयं जलमाह—तृष्यत इत्यादि। (चक्रपाणिदत्त)। शिशु को पानी देने में आपत्ति न करनी चाहिए। पानी किस प्रकार का देना चाहिए, इसके संबंध में काश्यपसंहिता में लिखा है—उष्णोदकं शिशोः। रक्तपित्तामयं त्यक्त्वा प्रायो वातकफात्मके। रोगे शिशुर्वा धात्री वा गुर्विणी वोष्णकं पिबेत्। क्वचिद्रोगविशेषेषु तप्तशीतं हितं बहु ॥ (पानीयगुणविशेषाध्याय)। यदि बालक स्वस्थ हो तो ज्वरित होने पर कुछ दिनों तक लंघन सह सकता है। यदि बालक दुर्बल हो तो उसके लिए लंघन कराना ठीक नहीं होता। ऐसी अवस्था में 'न' का अर्थ अल्प करके उसको थोड़ा थोड़ा स्तनपान कराना चाहिए। बालक के लंघन के संबंध में रावर्ट हचीसन का निम्न वचन महत्त्व का है— Babies will stand the complete withdrawal of all nourishment for two or three, or even more days without any disadvantage, and, indeed, often with great benefit, provided always that you fulfil two conditions. The first of these is that child is kept warm. And the second condition is that water must on no account be withheld. That may take the form of boiled water. *Lectures on diseases of children.* इसके ऊपर हाराणचन्द्र लिखते हैं—न नेति प्रतिषेधोऽयमजीर्णशङ्कयेति गम्यते, अतो यावन्नासावाशङ्का बुद्धिमधितिष्ठति तावदल्पमल्पं पाययेदेव, उपस्थितायाञ्च तस्यामाशङ्कायां मात्रयाऽन्तरान्तरा यथास्वौषधसिद्धं जलमेव पाययेदित्युपदिशन्त्याचार्याः ॥ आगे ५० वें श्लोक के वक्तव्य में 'लंघनात्' देखो।

विरेकवस्तिवमनान्यृते कुर्याच्च नात्ययात् ॥ ४४ ॥

(विरेचनादि के उपयोग का निर्देश—) आत्ययिक अवस्था के अलावा विरेचन, वस्ति और वमन न कराना चाहिए ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—अत्ययादृते—अत्यन्त आवश्यकता जिसमें हो, ऐसी अवस्था या व्याधि। बालकों में इनका पूर्ण निषेध नहीं होता। बालकों के रोगों की चिकित्सा के कुछ तत्त्व, जो अष्टांगसंग्रह में दिये हैं, नीचे दिये जाते हैं—त एव दोषा दूष्याश्च ज्वराद्या व्याधयश्च यत्। अतस्तदेव भैषज्यं मात्रा त्वस्य कनीयसी ॥ सौकुमार्याल्पकायत्वात्सर्वान्नानुपसेवनात् ॥ स्निग्धा एव सदा बाला घृतक्षीरनिषेवणात्। सद्यस्तान् वमनं तस्मात्पाययेन्मतिमान् मृदु ॥ स्तन्यस्य तृप्तं वमयेत् क्षीरक्षीरान्नसेविनम्। पीतवन्तं तनुं पेयामन्नादं घृतसंयुताम् ॥ वस्तिं साध्ये विरेकेण मर्शेन प्रतिमर्शनम्। युंज्याद्विरेचनादींस्तु धात्र्या एव यथोदितान् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)।

अब इसके बाद बालकों के कुछ रोग वर्णन किये जाते हैं—

मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्तालवस्थि नामयेत्।
तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम्।
पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यं शीताम्बूद्वेजनं तथा ॥ ४५ ॥

(तालुपात—) मस्तुलुङ्ग के क्षय के कारण वायु जिस (शिशु) की तालु (प्रदेश) की हड्डी को दबाता है, उस तृषा और दीनता से युक्त बालक को मधुरगण की ओषधियों से सिद्ध घी का पान और अभ्यंग कराना चाहिए और ठण्डे जल से उसको उद्वेजित करना चाहिए ॥ ४५ ॥

वक्तव्य—तालवस्थि नामयेत्—मस्तक की खोपड़ी में दो तालुएँ होती हैं—पूर्व (Anterior fontanelle) और पश्चिम (Posterior fontanelle)। इनमें पीछे की तालु जन्म के पश्चात् शीघ्र बन्द हो जाती है। पूर्वतालु स्वस्थ बालक में डेढ़ साल की उम्र में बन्द हो जाती है। अर्थात् डेढ़ साल तक तालु प्रदेश में हड्डी नहीं होती। बालक के इस प्रदेश

में तैलपिचु रखने का रिवाज है। पीछे २३वाँ सूत्र देखो। बचपन में जब तक तालु बन्द नहीं होती, तब तक उसकी स्थिति से बालक के साधारण स्वास्थ्य का, मस्तिष्कगत विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है। प्रवाहिका, अतीसार, अनुबद्ध वमन तथा अन्य क्षीणता-जनक तीव्र विकारों में तालु में निम्नता (Depression) आ जाती है। आगे तालुकंटक देखो। तालु की निम्नता एक गंभीरतादर्शक लक्षण होता है। अस्थिवक्रता (फक्क Rickets आगे ६२वें श्लोक के वक्तव्य में देखो) नामक रोग में तालु की अस्थियाँ देर में मिलती हैं। बड़े रोगियों में नाड़ी की क्षीणता का जो मतलब होता है, वही मतलब बच्चों में तालु की निम्नता का होता है। मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) मस्तिष्कार्बुद (Tumour) इत्यादि मस्तिष्क के विकारों में तालु तनाव से युक्त और कुछ उन्नत होती है। संक्षेप में, तालुपात या तालु की अन्य स्थिति एक लक्षण है, जिससे बालक की विकृति का कुछ पता चल जाता है। तालुपात बालक की क्षीणता या स्वास्थ्य दैन्य का निदर्शक है। मस्तुलुङ्गक्षयात्—तालु का पात बालक के अतिसार, प्रवाहिका, वमन इत्यादि शरीरगत जलांश का नाश करने वाले विकारों में होता है। शरीरगत जल की कमी का परिणाम मस्तिष्कसुषुम्नाजल (Cerebro-spinal fluid) की कमी में होता है। यह जल मस्तिष्क के चारों ओर उसके आवरण के भीतर होता है। इसकी कमी होने से सावरण मस्तिष्क का आकार कुछ छोटा होता है। अन्य स्थानों पर कठिन हड्डियाँ होने से इसका पता नहीं लगता, परन्तु पूर्वतालुप्रदेश में हड्डी न होने से वह निम्न हो जाता है। संक्षेप में 'मस्तुलुङ्गक्षय' से 'मस्तुलुङ्गजलक्षय' समझना चाहिए। वायु—तालुनिम्नता का आन्तरिक कारण मस्तिष्कजलक्षय है और बाह्य कारण वायु है। वायु से बाह्य वायु (वातावरण Atmosphere और शरीरगत वायु दोष दोनों का बोध होता है (चरक का वातकलाकलीय अध्याय सूत्र १२)। तालु के पात में बाह्य वायु ही कारण है। हमारे शरीर पर बाह्य वायु का बहुत भारी दबाव पड़ता है, परन्तु भीतर से भी उतना ही दबाव होने के कारण या हड्डी के समान कठिन आवरण होने के कारण उसका ज्ञान हमें नहीं होता। शरीर में जहाँ पर कुछ पोलापन या निर्वात (Vacuum) स्थिति होती है, वहाँ पर बाहर की वायु दबाती है। फुफ्फुसक्षय में जब फुफ्फुस भीतर से विवरयुक्त पोला हो जाता है, तब बाहर की वायु का दबाव पड़ने से पर्शुकान्तरीय स्थान भीतर धँसे हुए दिखाई देते हैं तथा अक्षक (हसली) के ऊपर और नीचे गड्ढे बन जाते हैं। मस्तिष्कजलक्षय में बालकों की तालु में हड्डी न होने के कारण बाह्य वायु के दबाव से तालु दब जाती है। बाल्यावस्था के पश्चात् मस्तिष्कजलक्षय होने पर भी इस प्रकार की निम्नता नहीं होती क्योंकि दबने लायक स्थान खोपड़ी में नहीं होता। तृष्णादैन्यबलुकम्प—जिस समय तालुपात होता है, उस समय रोगी की स्थिति बड़ी शोचनीय होती है। जैसे—शरीर की कृशता, क्षीणता, पर्शुओं का निकल आना, आँखें कपोल और उदर भीतर धँसे हुए बलहानि इत्यादि। शरीरगत जलांश का नाश जिन रोगों में अधिक होता है, उन रोगों में तालुपात होता है। अर्थात् जलांश की पूर्ति करने के लिए बालक को स्वभाव से ही अधिक प्यास मालूम होती है। मधुरकैः शृतम्—मधुरगण में बलकारक, जीवनीय ओषधियाँ (सूत्रस्थान के ४२वें अध्याय का २४वाँ सूत्र देखो) होती हैं। शीताम्बुसेकम्—शीतल जल का प्रयोग दीन, क्षीण बालक को होशियार करने के लिए, उसको होश पर लाने के लिए होता है। इसका उपयोग अधिकतर आँखों पर, चेहरे पर किया जाता है।

मारुतेनाध्मातां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम्।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः ॥ ४६ ॥

(नाभितुण्डि—) वायु के कारण फूली हुई, पीड़ायुक्त तुण्डि नामक नाभि को वायुनाशक स्वेद, स्नेह और उपनाह से शान्त करे ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—नाड़ीकल्पन की विधि पीछे ११वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य में भली भाँति वर्णन की गई है। उस समय सूत्र, कैंची, वस्त्र इत्यादि की सफाई में लापरवाही करने से व्रणयुक्त नाड़ी दूषित होती है। कभी कभी यह दोष नाड़ी के द्वारा यकृत् और रक्त में प्रवेश करके कामला, ज्वर, वमन, प्रवाहिका और जीवाणुमयता उत्पन्न करके बालक का नाश करता है। इसलिए, नाड़ीकल्पन के सब साधन अत्यन्त शुद्ध काम में लाने चाहिएँ। परन्तु प्रायः दोष इतनी दूर तक न फैलकर नाभि तक सीमित रहता है और नाभिपाक (Omphalitis) उत्पन्न होता है। नाभितुण्डि उत्पन्न होने से पूर्व प्रायः नाभिपाक होता है। इसलिए चरक और अष्टांगसंग्रह में प्रथम नाभिपाक का उल्लेख किया गया है—अथ चेन्नाभिः पच्येत तां लोध्रमधुकप्रियङ्गुसुरदारु-हरिद्राकल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यञ्ज्यात्, एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनाव-चूर्णयेत्। (चरक, शा. ८)। नाभि का पाक होने से नाभि अधिक कमजोर होती है। इस कमजोरी के साथ यदि बालक में मलावरोध, निरुद्धप्रकाश (निदान १३-५०) और रोदनाधिक्य ये विकार हों तो उदरगत भार बढ़ जाने से आन्त्र का कुछ हिस्सा नाभि के छिद्र में से बाहर आने लगता है और नाभि प्रावृत होती है। इस अवस्था को नाभिगत आन्त्रवृद्धि (Umbilical hernia) कहते हैं। बिना नाभिपाक के भी मलावरोधादि कारण अधिक काल तक जारी रहें तो यह विकार हो जाता है क्योंकि नाभि का स्थान उदरभित्ति के अन्य स्थानों की अपेक्षा स्वभावतः कमजोर रहता है। चरकसंहिता में नाभि के चार विकार दिये हैं—[illegible] आयामव्यायामो-त्तुण्डिका[illegible]विनामिका[illegible] भवन्। इस के ऊपर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—आयामो दैर्घ्यं, व्यायामो विस्तारः, तन्मध्योत्तुण्डिका आयामव्यायामोत्तुण्डिका, [illegible] । [illegible] परिमण्डलवृत्ता, विनामिका [illegible] । विनामिका तु [illegible] । [illegible] नाभिनाडीकर्तनदोषादेवैते [illegible] दोषा [illegible] । ये चार विकार वास्तव में चार स्वतन्त्र विकार न होकर एक विकार के चार प्रकार हैं और यह विकार है नाभिगत आन्त्रवृद्धि। सुश्रुत की तुण्डि चरक की आयामव्यायामो-त्तुण्डिका है। विनामिका में नाभि हमेशा के लिए उभरी

हुई नहीं होती, परंतु जिस समय बालक रोता है या मल त्याग करता है, उस समय उदरगत भार बढ़ने के कारण फूलती है। बाकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए फूली हुई रहती है। इस नाभि में क्षुद्रांत्र का कुछ हिस्सा आता है। बालक की आयुर्वृद्धि के साथ नाभि का आयाम-व्यायाम नहीं बढ़ता परंतु आन्त्र की मोटाई या गोलाई बढ़ती है, जिसके कारण यह विकार आयु बढ़ने पर आपसे आप ठीक हो जाता है। स्नेहस्वेदोपनाहनैः—मालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा। उपनाह—उपनाहो वहलं लेपं दत्त्वा चर्मादिभिरावृत्य व्याधियुक्तस्यांगस्य बंधनम्। (चक्रपाणिदत्त, चरक, सूत्र० १४)। आधुनिक परिभाषा के अनुसार नाभि के उपनाहन को नाभिपट्ट (Umbilical belt) कह सकते हैं। इसके अलावा मलावरोधादि सहायक कारणों को भी दूर करना चाहिए।

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्।
रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम्॥ ४७॥

(गुदपाक—) बालकों के गुदपाक (नामक रोग) में पित्तनाशक चिकित्सा करे। (इसमें) विशेषतः रसौत पीने के और आलेपन के लिए हितकर होता है॥ ४७॥

वक्तव्य—गुदपाक—क्षुद्ररोगनिदान (१३वाँ अध्याय) में अहिपूतन या गुदकुंद करके बालकों का एक रोग वर्णन किया गया है। गुदपाक के कारण और लक्षण और कहीं पर नहीं मिलते। इसलिए गुदकुंद और गुदपाक में क्या भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है। परंतु निम्न कारणों से ये दोनों रोग एक मालूम होते हैं—(१) दोनों रोग बालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है। (२) वाग्भटाचार्य अष्टांगहृदय और संग्रह में अहिपूतन का ही वर्णन करते हैं, गुदपाक का नहीं करते। (३) गुदपाक में जैसी पित्तघ्न चिकित्सा होती है, वैसी पित्तघ्न चिकित्सा गुदकुन्द में भी होती है—सर्वं च पित्तव्रणजिच्छस्यते गुदकुट्टके। (अष्टांगसंग्रह)। (४) अहिपूतन चिकित्सा की औषधियों में रसांजन भी एक है—पटोलपत्रत्रिफलारसाञ्जनविपाचितम्। पीतं घृतं नाशयति कृच्छ्रमप्यहिपूतनाम्॥ (चिकित्सा स्थान २०)। इन द्रव्यों में रसांजन विशेषतः हितकर होता है; इसका उल्लेख यहाँ द्वितीय श्लोकार्ध से किया गया है। (५) अहिपूतना की चिकित्सा आगे चिकित्सा-स्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है। यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था। परंतु रोग बालकों का होने के कारण यहाँ पर बालकों के रोगों में संक्षेप में उसका सूत्र बताया गया है। रसांजन—दारुहरिद्रा के क्वाथ से बनाया हुआ, जो रसौत भी कहलाता है।

बालकों के रोग—बाल्यावस्था में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं हैं, वर्णन यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है—(१) महापद्म—विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो वस्तिशीर्षजः। पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः॥ शंखाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्वा गुदं व्रजेत्॥ (अष्टांगसंग्रह)। यह विसर्प है। इसको नवजात विसर्प (Erysipelas neonatorum) कहते हैं। इसका प्रारम्भ प्रायः नाभि से होता है और नाभिनाडी छेद से उदरगुहा में प्रवेश करके उदरावरण शोथ पैदा करता है। इसी उपद्रव से यह रोग प्राणनाशक होता है। सुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश क्षतज विसर्प में (निदान १०) होता है। (२) दन्तशब्द—रूक्षाशिनो वातिकस्य चालयत्यनिलः सिराः। हन्वाश्रयाः प्रसुप्तस्य दन्तैः शब्दान् करोत्यतः॥ दन्तशब्द को दन्तनिष्पेषण (Grinding of teeth) कहते हैं। यह कोई महत्त्व का रोग नहीं है। केंचुवे के कारण कई बार यह लक्षण हुआ करता है। (३) तालुकण्टक—तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकान्। तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते॥ तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्राच्च पानं शकृद्द्रवम्। तृड्वक्त्रकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः॥ (अष्टांगसंग्रह)। तालुकंटक एक प्रकार का मुखपाक (Stomatitis) है। बालकों की दृष्टि से इसको थ्रश (Thrush) कह सकते हैं। (४) क्षीरालसक—स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम्। विबद्धमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते॥ शकृन्नानाव्यथावर्णं मूत्रं पीतं सितं घनम्। ज्वरारोचकतृट्छर्दिशुष्कोद्गारविजृम्भिकाः॥ अङ्गभङ्गोऽङ्गविक्षेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः। घ्राणाक्षिमुखपाकाद्या जायन्तेऽन्येऽपि तं गदम्। क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम्॥ (अष्टांगहृदय)। क्षीरालसक दूध की खराबी से होने वाली बच्चों की प्रवाहिका (Infantile diarrhoea) है। (५) शूल—स्तनं च्युदस्यते रौति चोत्तानश्चावभज्यते। उदरस्तब्धता शैत्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। बच्चों में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक न होने से होता है। ठीक पचन न होने से आन्त्र में वायु (गैस) पैदा होकर शूल उत्पन्न करती है और उसी से उदरस्तब्धता (कठिनता) आ जाती है। (६) उपशीर्षक—कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते। सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम्॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २७)। उपशीर्षक को शीर्षशोणार्बुद (Cephal haematoma) कहते हैं। यह शोफपार्श्व कपाल पर होता है और कपाल तथा त्वचा के नीचे रक्तस्राव होने से होता है। (७) उल्वक—गर्भाम्भसामवमनात् श्लेष्मणः कण्ठगस्य वा। संपर्काद् हृदये दुष्टो मार्गानावृणुते रसः॥ बद्धमुष्टिर्नतो मुग्धो गैर्बालोऽभिभूयते। हृद्रोगाक्षेपकश्वासकासच्छर्दिज्वरादिभिः॥ उल्वकं सहजं व्याधिमम्बुपूर्णं च तं वदेत्॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)। उल्वक को शैशवीय आक्षेप (Infantile convulsions) कहते हैं। इसका कारण मस्तिष्क की विकृति होती है, जो कष्टप्रसूति के समय सिर पर दबाव के कारण कभी कभी हुआ करती है। ये आक्षेप प्रायः जन्म के पश्चात् दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं। अगर हफ्ते दो हफ्ते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए। (८) कामला—पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रः कामलार्दितः। उभयत्र निरुत्साहो नष्टाग्निरुधिरस्पृहः॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। बालकों में कामला निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय बालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है। ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कणों की संख्या स्वाभाविक हो जाती है। इन अधिक कणों के नाश के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है। (आ) पित्तवाहिनी-मुखशोथ—कभी कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वार में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरुद्ध होता है और कामला होती है। (इ) नाभिनाडी

के दूषित होने से—नाड़ी कर्त्तन में सफाई का ध्यान न रखने से कभी कभी पूयजनक जीवाणु उसमें प्रवेश करके उसी के द्वारा सीधे यकृत् में प्रवेश करते हैं । यह कामला असाध्य होती है। इसमें ज्वर भी होता है। (ई) सहजव्यंग— कभी कभी पित्तवाहिनियों की ठीक वृद्धि न होने से कामला होती है । यह रोग भी असाध्य होता है । (उ) सहज फिरंगजन्य—माता-पिता फिरंग पीड़ित होने पर यह रोग बालक में भी चला आता है । उसको सहज फिरंग (Congenital syphilis) कहते हैं। इसके कारण भी कभी कभी कामला होती है। इसमें बालक में सहज फिरंग के अन्य लक्षण दिखाई देते हैं। (ऊ) कुलज कामला (Familial jaundice)—इसमें खानदान में कई बालक कामला से पीड़ित होते हैं। इसका कारण माता की विषमयता (Toxaemia) मानी जाती है। यह रोग जन्म के पश्चात् कुछ घंटों में प्रारम्भ होता है और कुछ दिनों में बालक की मृत्यु हो जाती है। (१) फक्क या अस्थिवक्रता (Rickets)— इसका वर्णन आगे ५२वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है।

क्षीराहाराय सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थकवचामांसीपयस्यापामार्गशतावरीसारिवाब्राह्मीपिप्पलीहरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धम्, क्षीरान्नादाय मधुकवचापिप्पलीचित्रकत्रिफलासिद्धम्, अन्नादाय द्विपञ्चमूलीक्षीरतगरभद्रदारुमरिचमधुकविडङ्गद्राक्षाद्विब्राह्मीसिद्धम्; तेनारोग्यबलमेधायूंषि शिशोर्भवन्ति ॥ ४८ ॥

(स्वास्थ्यरक्षक घृत—) दूध पीने वाले बालक को सिद्धार्थक (गौरसर्षप), वचा, जटामांसी, क्षीरकाकोली, अपामार्ग, शतावरी, अनन्तमूल, ब्राह्मी, पिप्पली, हल्दी, कुष्ठ और सैन्धव इनसे सिद्ध किया हुआ घृत पिलावे । दूध और अन्न खाने वाले को मुलहठी, वचा, पिप्पली, चित्रक और त्रिफला से सिद्ध (घृत पिलावे)। अन्नसेवन करने वाले को दोनों पञ्चमूल, क्षीर, तगर, देवदारु, काली मरिच, मुलहठी, वायविडंग, मुनक्का और दो प्रकार की ब्राह्मी इनसे सिद्ध (घृत पिलावे)। इस (आयु के अनुसार बनाये हुए विशिष्ट घृत के सेवन) से बालक के स्वास्थ्य, बल, बुद्धि और आयु (की वृद्धि) होती है ॥ ४८ ॥

वक्तव्य—द्विपञ्चमूल—दशमूल, लघुपञ्चमूल और बृहत्पञ्चमूल। द्विब्राह्मी—ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी, अथवा 'भार्गी ब्राह्मी नाम शाकश्चेति द्विब्राह्मी।' (हाराणचन्द्र)।

बालं पुनर्गात्रसुखं गृह्णीयात्, न चैनं तर्जयेत्, सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात्, सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयात्, नोपवेशयेत् कौब्ज्यभयात्, नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः; एवमनभिहतमनास्त्वभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्त्वसंपन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति। वातातपविद्युत्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानग्रहच्छायादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत् ॥ ४९ ॥

नाशुचौ विसृजेद्बालं नाकाशे विषमे न च।
नोष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च ॥ ५० ॥

(शिशुपालन—) बालक को (हमेशा) जिससे उसके शरीर को सुख हो, उस तरह से उठावे । उसको झिड़के नहीं। डर उत्पन्न होने के डर से उसे अचानक न जगावे। वातादि (दोषों) का प्रकोप होने के डर से उसे अचानक (दूसरे के पास से) न खींच ले अथवा ऊँचा भी न उछाले। कुबड़ा होने के डर से उसे (जल्दी) न बैठावे और (बालक के स्वास्थ्य का) नाश करने की इच्छा न करने वाला प्रतिदिन सैकड़ों प्रियकर बातों से उसका अनुनय करे। इस प्रकार (बालक के साथ बरताव रखने से) यह अप्रतिहतचित्त रहकर दिन प्रति दिन वृद्धि को प्राप्त होता है और उत्कृष्ट सत्त्वसंपन्न, स्वस्थ तथा प्रसन्नमन भी रहता है। बालक को जोर से बहने वाली वायु (आँधी), (कड़ी) धूप, बिजली की चमक, वृक्ष, लता, शून्यगृह, (कूप, गढ़े इत्यादि) गहरे स्थान, ग्रहों की छाया तथा दुष्ट ग्रहों के उपसर्ग से बचावे ॥ ४९ ॥ बालक को मैली जगह पर, आकाश में, ऊँची नीची जगह पर, धूप, आँधी, वर्षा, धूल, धुआँ, पानी (इनसे युक्त स्थानों में) न छोड़े ॥ ५० ॥

वक्तव्य—गात्रसुखम्—बालक के शरीर के अंग प्रत्यंग बहुत ही कोमल और कमजोर होते हैं। अतः बालक को पकड़ते समय या उठाते समय जबर्दस्ती, कड़ाई या लापरवाही करने से उसकी हड्डियाँ टूट सकती हैं, जोड़ विश्लेषित हो सकते हैं, पेशियाँ विदीर्ण हो सकती हैं और नाड़ियाँ घातित (Paralysed) हो सकती हैं। इसी के परिणाम स्वरूप में आगे चलकर हड्डियों का क्षय (Bone T. B.) या अंगघात (जैसे, *Musculo spinal nerve paralysis*) होता है। कई बार माताएँ क्रोध में बालक को उसके एक हाथ को पकड़कर उठाती हैं या खींचकर ले जाती हैं। बालक के ऊपर क्रोध करने की यह पद्धति खतरनाक है। इससे कभी कभी उपर्युक्त विकार उत्पन्न होकर बालक की जिन्दगी चौपट हो सकती है। माता या बालक के पालन के लिए रक्खे हुए किसी मनुष्य के लिए यह कर्म अनुचित है। इस प्रकार का बरताव अधिकतर अज्ञान के कारण किया जाता है। माता को अगर इसका परिणाम बताया जाय तो उससे ऐसा निर्घृण बरताव नहीं होगा। नौकरों से इस प्रकार का बरताव अज्ञान की अपेक्षा अवात्सल्य और लापरवाही के कारण होता है। उन्हें माता के समान एक बार बतलाने से काम नहीं हो सक[ता] उनके साथ कड़ाई से काम लेना पड़ता है। न [चैनं] तर्जयेत्—जब बालक बहुत रोता है या खाता नहीं अन्य प्रकार से दिक करता है, तब उसको चुप करने के लि[ए] भूतप्रेतपिशाचादि के नाम का या चोर, डाकू, व्याघ्र, सि[ंह] इत्यादि का डर दिखाना यह एक बहुत साधारण व्यवह[ार] अत्यंत प्राचीन काल से अब तक दिखाई देता है। परंतु इ[स] प्रकार न करना चाहिए—न ह्यस्य वित्रासनं साधु । तस्मात् तस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वाऽन्यत्र विधेयतामगच्छति राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामान्याह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं कार्यं स्यात्। (चरक, शा० ८)। वित्रासभयात्, वातादिविघातभयात्—इनका अभिप्रायार्थ निम्न तत्त्व पर निर्भर है मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में एक बात को छोड़कर सभी बातों में समता होती है और वह बात है ज्ञान— आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। ज्ञानं हि

तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥ पशुओं में भी कुछ ज्ञान होता है. और उसकी विशेषता यह है कि वह जन्म के समय में भी होता है और उतना ही मृत्यु तक रहता है। मनुष्य में जन्म के समय कुछ भी ज्ञान नहीं होता और मृत्यु के समय तक उसका ज्ञान बढ़ता जाता है। अर्थात् जन्म के समय मनुष्य और पशु की तुलना की जाय तो पशु कहीं दर्जे मनुष्य से अधिक ज्ञानी होता है परंतु उसके पश्चात् देखा जाय तो पशु पशु ही रहता है और मनुष्य मनुष्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि पशुओं का ज्ञान सहज और मनुष्यों का विकासनशील होता है। इस ज्ञान का स्थान मस्तिष्क के सब से उपर के हिस्से (Cortex of the brain) में होता है। इस भाग में कई नालियाँ और कई उभार होते हैं, जिनमें ज्ञानप्राप्ति के अनेक केन्द्र और उन केन्द्रों को जोड़ने वाले तार होते हैं। शारीरिक दृष्टि से विचार किया जाय तो मनुष्येतर प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में यही मस्तिष्क का भाग अधिक होता है। मनुष्यों मनुष्यों में भी देखा जाय तो पागलों की अपेक्षा ज्ञानी मनुष्यों में यही भाग अधिक प्रगल्भ रहता है। संपूर्ण शरीर के कार्यों का नियन्त्रण मस्तिष्क से होता है। मस्तिष्कगत केन्द्रों और तत्संबंधित तारों के कार्यों का विकास बाह्य परिस्थिति, शिक्षा, संस्कार इत्यादि पर निर्भर होता है। बचपन में अगर किसी बात के लिए डर पैदा किया जाय तो आगे चलकर उस बात का डर निकल जाने पर भी उसमें डरपोकवृत्ति, चित्तवैक्लव्य उत्पन्न होता है। संक्षेप में बचपन में बालक के साथ कोई ऐसा व्यवहार न करना चाहिए, जिससे कि उसके कोमल अविकसित मस्तिष्क पर अचानक जोर से प्रतिक्रिया हो। मस्तिष्क के ऊपर प्रतिक्रिया होने के साधन पंचज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके अर्थों में अचानक तीव्र भेद उत्पन्न होने से बालक के मस्तिष्क के ऊपर बुरा असर होता है और वह स्थायी बन जाता है। इसलिए, बालक को अचानक जगाना, ऊपर फेंकना, नीचे गिराना, भास्वर रूपों को दिखाना, इत्यादि कर्म न करने चाहिएँ। इनसे बालक के मस्तिष्क के विकास में कुछ खराबी हो जाती है। नोपवेशयेत् कौब्ज्यभयात्— बालक का पृष्ठवंश जब तक काफी मजबूत नहीं हुआ है, तब तक उसको जबर्दस्ती बैठाना उचित नहीं है। पृष्ठवंश कमजोर होने पर बैठाने से वह वक्र हो जाता है। यह एक उपलक्षण समझकर चलाने के बारे में भी इस सूत्र का उपयोग कर सकते हैं। जैसे, जब तक बालक के पैरों में शक्ति नहीं आती, तब तक उसको जबर्दस्ती पैरों पर न चलाना चाहिए, वरना तलुवे सपाट (Flat foot) होने का डर रहता है। अष्टांगसंग्रह में पाँचवें महीने में बालक को बैठाने के लिए लिखा है—पञ्चमे मासि पुण्येऽह्नि धरण्यामुपवेशयेत्। स्वाहेति मन्त्रेणानेन प्रत्यहं च ततः परम्। साश्रयं सावलम्बं च कट्यादीन् मर्दयेदनु॥ (उत्तर १)। बालक को बैठाने के नियम निम्न होते हैं। बालक को प्रतिदिन थोड़ी देर बैठाया जाय, रोगी बालक को न बैठाया जाय, अकेला न बैठाया जाय, बैठाने का स्थान मृद्धास्तरणादि से युक्त हो, उसके आस-पास शस्त्रतोयाग्नि इत्यादि न हो इत्यादि। काश्यपसंहिता में इसका बहुत उत्तम वर्णन दिया है। वहाँ पर पाँचवें के बदले छठे महीने में उपवेशन-विधि करने के लिए लिखा है—षष्ठे मासि पुण्याहेऽभ्यर्च्य देवतां, द्विजांश्च भोजनेन संतर्प्य दक्षिणाभिः स्वस्ति वाच्य च, गृहमध्ये वास्तुमध्ये वा शुचौ देशे गोमयेनाद्भिश्च चतुर्हस्तमात्रं स्थण्डिल-मुपलिप्य मण्डलं चतुरस्रं वा..........ततस्तं मण्डलमध्ये तथैव स्नातमलङ्कृतमहतवाससं कुमारं प्राङ्मुखमुपवेशयेन्मुहूर्तम्। सोपा-श्रयास्तरणोपेतायां भूमौ प्रतिदिनमभ्यासार्थं सकृदुपविशेदिति। तत्र श्लोकाः—उपलिप्ते शुचौ देशे शस्त्रतोयाग्निवर्जिते। उपविष्टं सकृच्चैनं न चिरात्स्थापयेद् बुधैः। स्तैमित्यं कटिदौर्बल्यं पृष्ठभङ्गः श्रमो ज्वरः। विण्मूत्रानिलसंरोधाध्मानं चात्युपवेशनात्। आसीनस्यातिबालस्य सततं भूमिसेवनात्। आसन्नान्येव दुःखानि निर्घातं गात्रभेदनम्। निर्घाताज्जर्जराङ्गत्वं वेदना ज्वरसंभवः। ततो न वृद्धिर्बालस्य कठोराङ्गत्वमेव च। तस्मान्नातिचिरं नैको न बालो न च रोगितः। उपवेश्यो भवेद्बालो नापुण्याहक्रियादिकः॥ (जातकर्मोत्तराध्याय)। अजिघांसुः—स्वास्थ्यमजिघांसुः। बालक के स्वास्थ्य का नाश न करने की इच्छा रखने वाला। हिंसा या घात का संबंध बालक की मृत्यु के साथ नहीं है। यह आलंकारिक शब्द है। इसका अभिप्राय यह है कि जो उपर्युक्त सूचनाओं के अनुसार बालक के साथ वर्ताव नहीं करता, वह बालक के स्वास्थ्य का नाश करता है याने एक दृष्टि से वह बालक की हिंसा करने वाला होता है। जैसे कि—पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रवध उच्यते। 'अजिघांसुः' यह माता का, धात्री का या बालक के लिए रक्खे हुए नौकर का विशेषण है—अजिघांसुरिति अहन्तुमिच्छुः सन् बालग्राहक इति शेषः। (डल्हण)। इसी को कुमारधार कहते हैं—अभियुक्तः सदाचारो नातिस्थूलो न लोलुपः। कुमारधारः कर्तव्यस्तत्रज्ञो बालचित्तवित्॥ अधार्मिकं दुराचारः स्थूलो विकटगामिनम्। करोति लोलुपो बालं घस्मरत्वेन रोगिणम्॥ (-अष्टांगसंग्रह)। इसमें 'तत्रज्ञो बालचित्तवित्' यह विशेषण बहुत महत्व का है। इसका अभिप्राय यह है कि कुमारधार बालस्वभाव को जानने वाला हो और उसके साथ इस प्रकार का वरताव करे कि बालक के मन पर चोट न पहुँच जाय। साथ ही साथ उस बरताव से बालक को कोई बुरी आदत न लग जाय और कोई बुरी आदत (असात्म्य) हो तो धीरे धीरे छूट जाय। यही तत्त्व 'नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः' इस सुश्रुत के वचन में और निम्न चरक के वचन में पर्याय से बताया गया है—अरोगे स्वरोगवृत्तमातिष्ठेद्देशकालात्मगुणविपर्ययेण वर्तमानः, क्रमेणा-सात्म्यानि परिवर्ज्योपयुञ्जानः सर्वाण्यहितानि वर्जयेत्॥ (चरक, शा० ८)। दुर्ग्रहोपसर्गतश्च—स्कन्दादि बालकों के जो नवग्रह होते हैं, उनके उपसर्ग से। स्कन्दग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च। शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना॥ पूतना शीतनामा च तथैव मुखमण्डिका। नवमो नैगमेषश्च यः पितृग्रहसंज्ञितः॥ (उत्तर ७)। इनका उपसर्ग होने के कारण—धात्रीमात्रोः प्राक्प्रदिष्टाप-चाराच्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान्। त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितान् ताडितान् वा पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान्॥ (उत्तर २७)। शूलिनेति नियुक्तास्ते बलिपूजाभिकाङ्क्षिणः। क्रुद्धान् भीतान् विमनसः शून्यस्थानेकचारिणः॥ बालान् कश्मलधात्रीकान् संध्यासु रुदतो-ऽशुचीन्। काकोलूकबिडालादिरूपैरन्यैस्तथाद्भुतैः॥ सन्त्रासयन्तः शयितान् कदाचिज्जाग्रतोऽपि वा। प्रायः पर्वसु गृह्णन्ति ग्रहा-

छिद्रप्रहारिणः ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १) । अर्थात् स्कन्दादि दुर्ग्रहोपसर्ग से बालक की रक्षा करने का मार्ग इन श्लोकों में वर्णन की हुई सूचनाओं के अनुसार बालक का पालन है। शून्यागार—इसका निषेध इसलिए किया गया है कि शून्यस्थान में बालक को रखने से स्कन्दादि ग्रहों का उपसर्ग हो जाता है। नाशुची—बालक जहाँ पर रक्खा जाय या जहाँ पर खेले, वह भूमि कैसी होनी चाहिए; इसके सम्बन्ध में अष्टांगसंग्रह में लिखा है—क्रीडाभूमिः समा कार्या निरस्तोपलशर्करा। वेशोषणकम्मोभिः सिक्ता निम्बोदकेन वा ॥ क्रीडाभूमि पर कङ्कड़, पत्थर इत्यादि पदार्थ होने पर उनको बालक को चोट लग सकती है या बालक उठाके उनको मुख में डाल सकता है। इसलिए भूमि इनसे विरहित होनी चाहिए। धूलियुक्त भूमि होने से बालक का शरीर और कपड़े खराब हो जाया करते हैं तथा मिट्टी खाने का भी डर होता है। ओषधि-द्रव्यों के पानी से भूमि सिक्त करने पर ये दोष दूर हो जाते हैं। नाकाशे—ऊँचा स्थान अथवा जहाँ पर कुछ भी आधार न हो, ऐसा स्थान—सोपाश्रयास्तरणोपेतायां भूमौ उपविशेदिति। (काश्यपसंहिता)। सुश्रुत में जिनका उल्लेख नहीं है, उन बातों का अब विचार किया जाता है। क्रीडनक-बच्चों के खिलौने के सम्बन्ध में चरक में लिखा है—क्रीडनकानि खलु कुमारस्य विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाणि चागुरूणि चातीक्ष्णाग्राणि चानास्यप्रवेशीनि चाप्राणहराणि चावित्रासनानि स्युः (शारीर ८)। अनीक्षणाय गवाश्वादिप्रकृत्यमथवा फलम् । (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १)। अष्टांगसंग्रह में बालक के पालन में निम्न श्लोकार्ध मिलता है—स्वप्नपातात् परस्पर्शात् पालयेल्लघनाच्च तम्। वस्त्रपातात् मुखादिषु वस्त्रपतनम्। (इन्दु)। अनेक लोगों को सोते समय मुख पर वस्त्र ओढ़कर सोने की आदत होती है। यह आदत बहुत खराब है क्योंकि इससे श्वास-प्रश्वास के लिए स्वच्छ हवा नहीं मिल सकती। बड़े आदमी में इस आदत से अधिक नुकसान होने का डर नहीं रहता, क्योंकि दम घुटते ही नींद में भी वह मुख के ऊपर के कपड़े को दूर कर सकता है। बच्चों में मुख पर वस्त्र गिरने पर दम घुटके मरने का डर रहता है क्योंकि वे स्वयं वस्त्र को दूर करने में असमर्थ होते हैं। इसलिए जाग्रतावस्था में बालक के मुख पर वस्त्र गिर जाय तो उसको झट से दूर करना चाहिए तथा निद्रितावस्था में उसके मुख पर वस्त्र कदापि भी न डालना चाहिए। जाग्रतावस्था की अपेक्षा निद्रितावस्था में मुखाच्छादन में अधिक खतरा होता है क्योंकि बालक के निद्रित होने के कारण बहुत देर तक उसके तरफ कोई नहीं देखता और निद्रितावस्था में बालक निश्चल होने के कारण श्वासावरोध होने की सम्भावना होती है। इसका विशेष निर्देश करने का कारण यह है कि मच्छरों या मक्खियों से बचाने के लिए कई मातायें बालक निद्रित होने पर उसको पूर्णतया वस्त्र से आच्छादित करती हैं। मच्छरादि से बचाने का उत्तम मार्ग मशहरी है, बालक को पूर्णतया वस्त्र से आच्छादन करना नहीं है। परस्पर्शात्—पर से उन लोगों का बोध होता है, जो बालक के स्वास्थ्य के नाशक होते हैं याने अपरिशुद्ध। इसमें बालकद्वेषी और नौकरों का समावेश कर सकते हैं। बालकद्वेषी लोगों के स्पर्श से नजर लगने का डर रहता है। नजर लगने की घटना पर किसी का विश्वास हो या न हो, यह घटना होती है, इसमें सन्देह नहीं। जिनका विश्वास नहीं, वे दूसरी तरह से उस घटना का अर्थ करने की कोशिश करते हैं। बालक का नौकर या धात्री किस प्रकार के होने चाहिएँ, इसका विवरण पीछे बहुत कुछ हो चुका है। इस प्रकार के स्वच्छ और उत्तम आचार के अन्य नौकर नहीं हो सकते। इनके स्पर्श से बालकों में खुजली, खाजन इत्यादि अनेक त्वचा के रोग, आँखों के रोग, जूएँ, लीखें, कृमि इत्यादि उपद्रव तथा गुह्यांगों के (Venereal) रोग हो जाते हैं। इसलिए किसी अज्ञात मनुष्य के पास बालक को न देना चाहिए। लंघितात्—लंघन से यहाँ अपतर्पण या हीन मात्रा भोजन अभिप्रेत है। बालक में क्षतिपूर्ति के अलावा धातुवृद्धि बहुत होती है। इसलिए उसको सन्तर्पण या बृंहण करना चाहिए—बृंहयेत् सूतिकाबालवृद्धान्। (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४)। अर्थात् बालक बृंह्य होता है। स्वस्थावस्था में उसको पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक अन्न देना चाहिए। जब बालक रोग पीडित हो जाता है, तब अपतर्पण या लङ्घन की आवश्यकता होती है। उस समय लङ्घन कराने में कोई आपत्ति नहीं (पीछे ४४ वें प्रथम श्लोकार्ध का वक्तव्य देखो) है, परन्तु उसकी उपयोगिता देखकर लङ्घन करना चाहिए—बालांस्तु मृदु लङ्घयेत् । युक्त्या वा देशकालादिबलतस्तानुपाचरेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४)।

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा ।
दद्यादास्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया ॥ ५१ ॥

(स्तन्याभावे देने योग्य दूध—) (माता का या धात्री का स्तन्य न मिलने पर बालकों को) स्तन्य सात्म्य होने के कारण बकरी का अथवा गौ का दूध स्तन्यपर्याप्ति तक मात्रा के अनुसार देवे ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—इस श्लोक में माता का या धात्री का दूध न मिलने पर किसका दूध बालक को देना चाहिए, इसका निर्देश किया है। वाग्भटाचार्य के इस विषय के संबन्ध में निम्न श्लोक लिखते हैं—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्। (उत्तर १)। यह श्लोकार्ध सुश्रुत श्लोक के उत्तरार्ध के साथ थोड़ा-सा फर्क करके निम्नलिखित प्रकार से मिलाया जाय तो कृत्रिम दुग्धपान (Artificial feeding) के सब संक्षेप में वर्णन करने वाला एक सुन्दर श्लोक बनता है—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं बुधम्। दद्यादास्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया॥ क्षीरसात्म्यतया—क्षीरसात्म्य के दो कारण बताये जाते हैं—(१) मधुर पिच्छिलं शीत स्निग्ध श्लक्ष्ण सर मृदु। सर्वप्राणभृतां [illegible] (सूत्र ४५)। (२) [illegible]

[illegible] ([illegible])।

[illegible]

मविकारि सात्म्यम्। (चक्रपाणिदत्त)। आतिसात्म्य को सहज सात्म्य कह सकते हैं। इन कारणों का जरा विस्तार से विवरण किया जाता है। प्राणियों में स्तनयुक्त प्राणियों का (Mammals) एक बड़ा भारी विभाग है। इस विभाग के प्राणियों का पोषण बचपन में स्तन्य याने दूध से होता है। मनुष्यजाति सस्तन प्राणियों में से है, इसलिए दूध मनुष्यों के लिए आतिसात्म्य है याने जन्म से ही हितकर

होता है। सात्म्य वस्तु वह हो सकती है, जिसका संगठन शरीर के संगठन के साथ मिलता है। दूध एक ऐसा पदार्थ है कि जिसका संगठन शरीरसंगठन के साथ पूर्णतया मिल जाता है (सूत्रस्थान ४५ के ४६ वें सूत्र का वक्तव्य तथा ४६ के ५२४ वें श्लोक का वक्तव्य देखो), इसलिए दूध सात्म्य है। परन्तु केवल संगठन से सात्म्यता का विचार पूरा नहीं हो सकता, उस वस्तु की भौतिक स्थिति का और पचनीयता का भी सवाल आता है। जैसे, लड्डू और रोटी जवानी में सात्म्य होने पर बालक के लिए सात्म्य नहीं हो सकते (सूत्रस्थान ४६ के ४९४ वें श्लोक का वक्तव्य देखो), क्योंकि इनका रासायनिक संगठन ठीक होने पर भी बालक न इनको सेवन कर सकता है, न हजम कर सकता है। दूध पानी के समान पतला होने के कारण प्रथम दिन का बालक तक उसको सेवन कर सकता है तथा तद्गत प्रोभूजिनादि अवयव इस कदर सूक्ष्म कणों के रूप में उसमें मिले हुए होते हैं कि उनके पाचन में बालक के पचनसंस्थान को किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होती है। इसलिए दूध सब दृष्टि से विचार करने पर भी सात्म्य होता है। आजं गव्यमथापि वा—आयुर्वेद में अष्टविध दूध (सूत्र ४५ का ४७ वाँ श्लोक देखो) पीने के काम के लिए योग्य बताया गया है। आधुनिक काल में गधी के दूध का समावेश इसी में कर सकते हैं। इस तरह नवविध दूध हो जाता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल में गधा गुण ग्रहण के लिए योग्य—अविश्रान्तं वहेद्भारं शीतोष्णं न च विन्दति। ससन्तोषस्तथा नित्यं त्रीणि शिक्षेत गर्दभात्॥ (चाणक्य)—मानने पर भी मंदबुद्धि और अपवित्रता के कारण दुग्धग्रहण के लिए योग्य नहीं माना गया था। अतः पीने के दूध में गधी के दूध का समावेश नहीं माना गया है। प्रलेपादि में इसका उपयोग किया जाता है (सूत्रस्थान के ४५ वें अध्याय के ४७ वें श्लोक के वक्तव्य में डल्हण का वचन देखो)। इसमें संदेह नहीं कि गधी के दूध का संगठन स्त्री के दूध के साथ औरों की अपेक्षा अधिक मिलता है (सूत्र ४५ के ४९ वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। अष्टविध दुग्धों में गौ, भैंस और बकरी का दूध सब को मिल सकता है। इनमें भैंस का दूध अत्यन्त गरिष्ठ होने के कारण बालक के लिए अयोग्य है। इसलिए गौ का और बकरी का ही दूध देने योग्य रह गया। आस्तन्यपर्याप्तेः—यावत् स्तन्यस्य पुनः पर्याप्तिः परि समन्ततो-भावेन प्राप्तिर्भवति,।अथवा यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता तावदित्यर्थः। (डल्हण)। स्तन्याभाव के मुख्य दो कारण होते हैं—नित्य और नैमित्तिक। नित्य में माता की मृत्यु प्रधान है। इसके सिवा काम्य और निषिद्ध भी दो नित्य के प्रकार होते हैं। जब माता स्वस्थ होने पर भी बालक को पिलाना नहीं चाहती, तब वह काम्य परंतु नित्य स्तन्याभाव हो जाता है। जब माता राजयक्ष्मा, कुष्ठ, फिरंग इत्यादि शरीरक्षयकर रोगों से पीडित होती है, तब स्तन्यपान का निषेध होता है। इसको निषिद्ध और नित्य स्तन्याभाव कह सकते हैं। जब माता बालक को पिलाती है, परंतु बीच में लंघन, उपवास, ज्वर या अन्य विकारों से पीडित होने के कारण नहीं पिला सकती, तब उस स्तन्याभाव को नैमित्तिक कहते हैं। डल्हणवचन के प्रथमार्ध में इस नैमित्तिक स्तन्याभाव की दृष्टि से अर्थ किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी निमित्त से माता का स्तन्य बंद हो जाय, तब उस समय बच्चे को गौ या बकरी का दूध पिलावे और जब स्तन्य पूर्ववत् आने लगे, तब बाहर का दूध देना बंद किया जाय। अभाव में अल्पता (Deficiency) का भी समावेश होता है। अगर माता का दूध पर्याप्त न हो तो कमी की पूर्ति गौ या बकरी के दूध से (Mixed breast and bottle feeding) की जाय। इस बीच में दूध बढ़ाने की कोशिश करने पर अगर दूध बढ़ जाय तो गौ का दूध बंद कर सकते हैं। अगर दूध न बढ़ा तो यही मिश्र दुग्धपान की परम्परा स्तन्यापनयन (Weaning) तक जारी रक्खी जाय। यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता यावत् स्तन्यपानस्योपयोगिता, आवश्यकता वा। माता बालक को कब तक स्तन्यपान करावे, यह एक बड़ा महत्त्व का प्रश्न है। इस प्रश्न का विचार माता और बालक दोनों की ओर से करना चाहिए। अगर दोनों स्वस्थ हों तो इस प्रश्न का विचार निम्न प्रकार से करना चाहिए। दूध जिन्दगी भर का आहार नहीं है। बाल्यावस्था में एक काल तक वह पूर्णाहार होता है। उसके पश्चात् कुछ काल तक वह आंशिकाहार होता है और उसके पश्चात् वह गौणाहार होता है। बाल्यावस्था में अन्नसेवन न करने का कारण पचनसंस्थान का अन्न सेवन और पचन करने का असामर्थ्य है। यह असामर्थ्य अधिकतर दाँतों के न होने से होता है। जब दाँत आने लगते हैं, तब धीरे धीरे बालक को अन्न का कुछ अंश दिया जाता है और दूध की राशि कम की जाती है—अथैनं जातदशनं क्रमशोऽपनयेत् स्तनात्। पूर्वोक्तं योजयेत् क्षीरमन्नं च लघु बृंहणम्। भजेद्यथा यथा चान्नं स्तन्यं त्याज्यं तथा तथा॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १)। इसका साधारण काल नौ महीने का होता है। स्तन्य के द्वारा बालक माता के शरीर का शोषण करता है। जब तक माता स्वस्थ होती है, तब तक बृंहण आहार-विहार से इस शोषण की पूर्ति की जाती है, परंतु जब माता अस्वस्थ हो जाती है, तब वह पर्याप्त मात्रा में आहार सेवन नहीं कर सकती तथा स्तन्यशोषण के कारण उसका स्वास्थ्य और भी खराब हो जाता है। इसलिए यदि माता का स्वास्थ्य ठीक न हो तो कुछ पहले स्तनपान बंद करना उचित है। इसका औसतकाल छः महीने का समझ सकते हैं। जब बालक अस्वस्थ रहता है, तब उसके लिए बाहरी दूध की अपेक्षा माता का दूध अधिक हितकर होता है। इसलिए बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से कुछ पीछे स्तनत्याग करना उचित है। इसका औसतकाल एक साल का होता है। संक्षेप में बालक की आयु नौ महीने की होने पर उसको स्तनपान से दूर करना चाहिए। अगर इस के पहले से माता का स्वास्थ्य ठीक न हो तो बालक नौ महीने का होने से पूर्व उसको दूर करना उचित है। अगर स्तनत्याग करने के समय बालक का स्वास्थ्य खराब हो जाय तो उस समय स्तनत्याग न करके उसका स्वास्थ्य अच्छा होने के बाद स्तनत्याग करना चाहिए। एक बरस की उम्र के पश्चात् स्तनपान जारी रखना किसी हालत में ठीक नहीं है क्योंकि उस आयु में बालक को कुछ अक्ल आने लगती है, जिसके कारण स्तनपान उसके लिए क्षुधानिवारण का उपाय न

रहकर एक व्यसन बन जाता है और उसके बाद उसको स्तनपान से निवृत्त करने में कठिनाई होती है। आयुर्वेद में स्तनत्याग का जो काल दिया है, वैसा ही काल पाश्चात्य बालचिकित्सक बताते हैं—A child should be weaned at nine months Weaning should be gradual *Ten Teacher's Midwifery* Wean at a year old, or as soon as a child has teeth enough to make a good beginning at mastication, *Esoteric Anthropology* इस विषय का कुछ अधिक विवरण आगे के सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। मात्रया—जब तक बालक माता का या धात्री का दूध पीता है, तब तक मात्रा का उतना सवाल नहीं उठता, परन्तु जब गौ का दूध दिया जाता है, तब मात्रा का अधिक ख्याल रखना पड़ता है। मात्रा का विचार दो प्रकार से करना पड़ता है—प्रत्येक समय की मात्रा और दिन-रात की मात्रा। प्रत्येक समय की मात्रा जठर की समाई के बराबर या उससे कुछ कम होनी चाहिए। बालक के जठर की समाई प्रथम दिन एक आस (ढाई तोला), दो सप्ताह पर दो औंस, एक महीने पर ढाई औंस, तीन महीने पर साढे चार औंस, चौथे महीने पर पाँच औंस, पाँचवें महीने पर साढे पाँच औंस, छठे महीने पर छ औंस, सातवें महीने पर साढे छ औंस, आठवें महीने पर सात औंस, नौवें महीने पर साढे सात औंस, दसवें महीने पर आठ औंस, ग्यारहवें महीने पर साढे आठ औंस, और बारहवें महीने पर नौ औंस होती है। अर्थात् प्रत्येक समय आयु के अनुसार इतना दूध बालक को पिलाया जा सकता है। इससे अधिक कदापि भी न पिलाना चाहिए। दिन रात पिलाने का साधारण नियम यह है कि प्रथम महीने में प्रत्येक दो दो घंटे के बाद और कुल पान दस, दूसरे और तीसरे महीने में ढाई ढाई घंटे के बाद और कुल पान (Feeds) आठ, चौथे और पाँचवें महीने में प्रत्येक तीन तीन घंटे के बाद और कुल पान सात, छठे और सातवें महीने में प्रत्येक साढे तीन घंटे के बाद और कुल पान छ, और इसके बाद प्रत्येक चौथे घंटे के बाद और कुल पान पाँच दिये जाय। यह साधारण नियम बताया गया है। बालक की पचनशक्ति, शक्ति और उपचय देखकर इसमें न्यूनाधिकता करनी चाहिए।

स्तन्य के अभाव में किसका दूध दिया जाय?—यहाँ पर गौ का या बकरी का दूध देने के लिए कहा है। आयुर्वेद में गौ का दूध सर्वश्रेष्ठ माना गया है—गोक्षीरं क्षीराणां प्रवरम्। (चरक, सूत्र २५)। गव्यं क्षीरं परं श्रेष्ठम्। (सुश्रुत, सूत्र ४९)। गव्यं क्षीरं परं श्रेष्ठम्। (अष्टांगहृदय, अष्टांगसंग्रह)। इसलिए यद्यपि वाग्भट तथा सुश्रुत में गौ के दूध के पहले बकरी के दूध का उल्लेख आया है तथापि वह प्राधान्य बतलानार्थ न होकर छन्दोऽनुरोधार्थ है। स्तन्याभाव में प्रथम गौ का ही दूध देना चाहिए। अगर गौ का दूध न मिल सके या दरिद्रता के कारण उसको प्राप्त न कर सके तो बकरी का दूध प्रयोग में ला सकते हैं। इसके अलावा जब बालक की पचनशक्ति क्षीण होती है तथा अतीसार प्रवाहिकादि उपद्रव होते हैं, तब गौ के दूध की अपेक्षा बकरी का दूध फायदेमन्द होता है। ऐसी कोई कठिनाई या आवश्यकता न हो तो हमेशा गौ का ही दूध बालक को देना चाहिए। पाश्चात्य देशों में भी बालक के लिए गौ के दूध का ही उपयोग किया जाता है।

दूध किस प्रकार से दिया जाय?—माता के दूध का मुकाबला अन्य किसी दूध से नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वभाव से बालक के लिए ही उत्पन्न किया गया है तथा बालक की आवश्यकताओं के अनुसार उसमें दिन प्रतिदिन और मासानुमासिक फर्क होता जाता है। यह कथन प्रत्येक जाति के सस्तन प्राणि के लिए लागू है। इसलिए एक जाति के सस्तन प्राणी का दूध दूसरी जाति के सस्तन प्राणी के लिए पूर्णतया मुआफिक नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक प्राणी की आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न होती हैं। तथापि सब जातियों के प्राणियों का दूध बच्चों के पोषण के लिए ही उत्पन्न किया गया है, यह बात सब जातियों के दूधों की सामान्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है और इसी सामान्यता के आधार पर मातृस्तन्याभावे दूसरे जाति के प्राणी का दूध उपयोग में लाया जाता है। गौ का दूध तमाम संसार भर में बालक के लिए प्रयुक्त होता है। भारतवर्ष में तो गौ माता ही मानी जाती है। अब सवाल यह है कि गौ का दूध बालक को किस तरह से दिया जाय? इसका उत्तर वाग्भटाचार्य देते हैं—तद्गुणं पिबेत्। तद्गुणम्—प्राचीन और अर्वाचीन काल के अनुसार इसके भिन्न भिन्न अर्थ कर सकते हैं—(१) प्राचीन काल के अनुसार वाग्भटाचार्य के श्लोकार्ध का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—मातृस्तन्याभावे गव्यमाजं वा दुग्धं तद्गुणं (मातृस्तन्यगुणं) भवत्यतस्तत् पिबेत्। माता का दूध न मिलने पर उसके दूध के समान गुण का गौ का या बकरी का दूध सेवन किया जाय। अर्थात् प्राचीन कल्पना के अनुसार गौ का दूध गुण की दृष्टि से माता के दूध के समान होता है। बच्चे को देते समय उसमें कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती (Whole milk undiluted and unaltered) यही इसका मतलब आधुनिक कल्पना के अनुसार निकलता है। वाग्भटाचार्य इस दूध में बृहत्यादि ओषधियों का उपयोग करने लिए कहते हैं—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्। मूले सिद्धं बृहत्याद्यैः स्थिराभ्यां वा सितायुतम्॥ (उत्तर १)। तद्गुण का अर्थ टीकाकार निम्न प्रकार से करते हैं—क्षीरस्तन्याभावे तद्गुणमिति पूर्वोक्तस्य शुद्धस्तन्यस्य सर्वैराकारादिभिर्गुणैः सदृशम्। (इन्दु)। स्तन्यस्याभावे सति छागं पयो गव्यं वा छागतुल्यगुणं पिबेत्। छागसमानगुणं गव्यं पयः स्यात्तथाह। हस्वेनेत्यादि। (अरुणदत्त)। इसमें अरुणदत्त का अर्थ बिलकुल गलत है, उसका विचार करने का कारण नहीं है। इन्दु के कहने का तात्पर्य यह है कि माता के उत्तम दूध के जो लक्षण पीछे ११ वें सूत्र में वर्णन किये गये हैं उन लक्षणों से युक्त याने अदूषित दूध। इस प्रकार का अर्थ ऊपर जो अर्थ दिया है उससे विरोधी नहीं है। (२) अर्वाचीन कल्पना के अनुसार उक्त श्लोकार्ध का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—मातृस्तन्याभावे गव्यमाजं वा दुग्धं तद्गुणं कृत्वा पिबेत्। आधुनिक काल में रसायनशास्त्र की उन्नति होने पर भिन्न भिन्न प्राणियों के दूधों का भी पृथक्करण होने लगा। इससे मालूम हुआ कि यद्यपि दूध का सामान्य संगठन एक

होता है तथापि उसके उपादानों की मात्रा प्रत्येक प्राणी के दूध में भिन्न भिन्न (क्षीरवर्ग में संगठन की तालिका देखो) हुआ करती है और यह अवयवमात्राभिन्नता प्रत्येक जाति के प्राणी की आवश्यकताएँ विभिन्न होने के कारण रक्खी गई है । अगर एक जाति के प्राणी का दूध दूसरी जाति के बालक के लिए उपयोग में लाना हो तो इस भिन्नता को दूर करना चाहिए, यही इससे अर्थ निकलता है। इसलिए अन्य प्राणियों का दूध बालक को देते समय उसमें इस तरह परिवर्तन किये जाते हैं कि उसके अवयवों की मात्रा स्त्री-दूध के समान हो जाय । प्रस्तुत गौ के दूध का ही विचार करना है । इसलिए यहाँ पर स्त्री के और गौ के दूध के भेद प्रथम वर्णन किये जाते हैं।

गौ के और माता के दूध में भेद—(१) माता का दूध बालक को शरीरताप (Body temparature) पर मिलता है, जिसके कारण उनको गरम करने में या ठंडा करने में बालक की शक्ति खर्च नहीं होती । गौ का या अन्य प्राणी का दूध इस प्रकार नहीं मिलता । (२) माता का दूध, बाह्य जगत् का संबंध न होकर, सीधा बालक के शरीर में चला जाता है । गौ का दूध हवा, पात्र, हाथ इत्यादि से बहुत देर तक संबंधित रहता है । इसलिए माता का दूध अदूषित स्थिति में बालक को मिलता है; गौ का इस प्रकार नहीं मिल सकता । यही कारण है कि माता का दूध जीवाणुरहित और गौ का दूध जीवाणुयुक्त रहता है । (३) माता के शरीर में अनेक रोगों के लिए जो क्षमता होती है, उसका भी कुछ अंश स्तन्य के द्वारा बालक को मिलता है । गौ के दूध से इस प्रकार का लाभ नहीं होता । (४) माता का दूध बालक के शरीर में स्वाभाविक स्थिति में जाता है । उसमें कोई कृत्रिम परिवर्तन नहीं होता। इसलिए उसकी पौष्टिकता अप्रतिहत रहती है । गौ का दूध स्वाभाविक स्थिति में नहीं मिलता। इसलिए उसकी पौष्टिकता कुछ घटिया होती है। (५) माता के दूध की अपेक्षा गौ के दूध में कुल प्रोभूजिनों की राशि दुगुनी होती है। इसके सिवा माता के दूध में दुग्धशुक्ति (ल्याक्टाल्ब्यूमिन) की राशि गौ के दूध की अपेक्षा दुगुनी होती है और किलाटी (क्यासिनोजन) की राशि केवल $\frac{1}{3}$ होती है। प्रोभूजिनों के प्रकारों की राशि का यह भेद पचन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। किलाटी (क्यासिनोजन) पचने में कठिन होती है और वही गौ के दूध में अधिक रहती है और दुग्धशुक्ति (ल्याक्टाल्ब्यूमिन) पचन में हलकी रहती है और वही कम रहती है। (६) दुग्धशर्करा की राशि माता के दूध में गौ के दूध की अपेक्षा दुगुनी के करीब होती है। इसलिए माता का दूध गौ के दूध की अपेक्षा अधिक मीठा होता है और बालक भी उसको गौ के दूध की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है। (७) माता के दूध की प्रतिक्रिया क्षारीय और गौ के दूध की अम्ल होती है । (८) स्नेह की राशि यद्यपि दोनों में एक-सी होती है तथापि माता के दूध का स्नेह गौ के दूध के स्नेह की अपेक्षा सूक्ष्मतर 'कणों के रूप में दूध में फैला रहता है। इस कारण माता के दूध का स्नेह गौ के दूध के स्नेह की अपेक्षा सुपाच्य और 'सुशोष्य रहता है। (९) माता के दूध में खनिज द्रव्य की राशि गौ के दूध की अपेक्षा कम रहती है। आधुनिक खोज से सिद्ध हुए माता और गौ के दूध के ये भेद देखकर 'मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये' (अष्टांगहृदय, उत्तर १) इस वाग्भटाचार्य के वचन की यथार्थता और अपने ही दूध से बालक के पोषण की माता की कर्तव्यता स्पष्ट हो जाती है। परन्तु जब विवश होकर गौ का दूध देना पड़ता है, तब उपर्युक्त भेदरूप दोषों को जहाँ तक हो सके दूर करके देने की कोशिश करनी चाहिए। गौ के दूध में कुछ दोष ऐसे होते हैं कि जो मुश्किल से दूर किये जा सकते हैं—जैसे, प्रथम चार भेद। कुछ ऐसे होते हैं कि जो अधिकांश दूर किये जा सकते हैं—जैसे, प्रोभूजिनादि की राशि। कृत्रिम दूध में गौ के दूध के ये दोष हटाकर उसको माता के दूध के समान (तद्गुण) करने की कोशिश की जाती है

तद्गुण करने की विधियाँ—(१) जलमिश्रण (Dilution)—गौ के दूध में प्रोभुजिनों की राशि दुगुनी होती है। उसको बराबर करने के लिए दूध के साथ उतना ही उबाला हुआ जल मिलाया जाता है। इससे प्रोभुजिनों की राशि स्तन्य के समान होती है, परन्तु स्नेह और शर्करा भी कम हो जाती है। इसके लिए दूध में मलाई और चीनी मिलाई जाती है। शर्करा के लिए दुग्धशर्करा हो तो उत्तम है; न हो तो मामूली चीनी ३ औंस दूध के लिए एक चाय का चमच भर मिलाई जाती है। मलाई भी इसी प्रमाण में मिलाई जाती है। कुछ लोग दूध में मलाई मिलाने की अपेक्षा दूध पिलाने के बाद मछली का तेल आधी मात्रा में देना पसन्द करते हैं। (२) गौ का दूध आमाशय में मा के दूध की अपेक्षा अधिक कठिन रूप में जम जाता है। इसको दूर करने के लिए दूध के साथ क्षारातु निम्ववीय (Sodium citrate) एक औंस के पीछे एक ग्रेन के प्रमाण में मिलाया जाता है। इसके अलावा चूने का पानी, जौ का यूष, चावल का पानी इत्यादि अन्य द्रव्य भी मिलाये जाते हैं, परन्तु सब से उत्तम क्षारातु निम्ववीय है । (३) माता के दूध में जीवाणु नहीं होते, गौ के दूध में बहुत होते हैं। उनका नाश करना आवश्यक होता है। यह कार्य दूध उबालने से होता है। अधिक देर तक उबालना ठीक नहीं है। एक उबाल देकर दूध को उतारना चाहिए। अधिक देर तक दूध उबालने से उसकी पौष्टिकता कम होकर गरिष्ठता बढ़ती है। घरेलू कामों के लिए यह विधि उत्तम है । इसके अलावा भाप के द्वारा जीवाणुनाशन, पाश्चरीकरण (Pasteurisation १६०° फै० पर २० तक गरम करना) इनका भी उपयोग किया जाता है। इनमें उबालने की विधि सरल और अधिक विश्वसनीय है।

क्या गौ का दूध तद्गुण करना आवश्यक है?—कितनी भी कोशिशें क्यों न की जायँ, गौ का दूध माता के दूध के समान कदापि नहीं हो सकता । परन्तु उपर्युक्त विधियों का उपयोग करने से वह कुछ कुछ माता के दूध के समान हो जाता है । अब सवाल यह उठता है कि क्या इस प्रकार का परिवर्तन करना आवश्यक है? तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर इसका उत्तर पक्ष में ही देना पड़ता है। इसलिए कुछ लोग इस प्रकार का कृत्रिम दूध देना पसन्द करते हैं। कुछ लोगों का यह मत है कि इस प्रकार का फेरफार करने की कोई आवश्यकता नहीं

है। आखिर में गौ का भी दूध है और वैसा (Whole milk) ही दूध देने में कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि फायदा यह होता है कि बच्चे को दस्त खुलकर आता है। फेरफार किये हुए दूध से मलावरोध की शिकायत प्रायः होती है। गौ के दूध का यह दस्तावर गुण चरक, सुश्रुत, वाग्भट इन ग्रन्थों में नहीं मिलता, परन्तु काश्यपसंहिता में विशेष रूप से मिलता है—औषधमाविमद्यस्वादिरेचयति तद् पयः। यस्माद् कारणादुक्तं गवां क्षीरं रसायनम्। एष वैशेषिकगुणो गोक्षीरस्य प्रकीर्तितः॥ (क्षीरगुणविशेषाध्याय)। परन्तु इसमें दूध की निर्दोषता पर ध्यान देना चाहिए। निर्दोषता की दृष्टि से यदि हो सके तो बालक को धारोष्ण दूध देना ही उचित है। धारोष्ण दूध कैसे लेना चाहिए, इसका विचार सूत्रस्थान के ४५ वें अध्याय के ६३ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। धारोष्ण न मिल सके तो दूध को एक उबाल देकर लेना चाहिये।

संक्षेप में स्तन्याभाव होने पर गौ का धारोष्ण दूध यदि मिल सके तो देना उत्तम पक्ष है। यदि धारोष्ण दूध न मिल सके तो दूध को उबालकर देना उचित है। यदि सम्पूर्ण दूध मुवाफिक न हो तो तिहाई पानी और थोड़ी चीनी मिलाकर दे सकते हैं। विशेष करके जलमिश्र दूध प्रारम्भिक तीन चार महीनों में देना ठीक है। उसके बाद सम्पूर्ण दूध दे सकते हैं। आयुर्वेद में सम्पूर्ण दूध देने का ही रिवाज है। केवल लघुपञ्चमूल या शालिपर्णी पृश्निपर्णी के साथ वह उबाला जाता है और उसमें थोड़ी चीनी भी मिलाई जाती है—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेद्। ह्रस्वेन पञ्चमूलेन स्थिरया वा सितायुतम्॥ (अष्टांगहृदय)। आज कल बच्चों को दूध पिलाने के लिए कूपी और चूसनी (Teats) का उपयोग किया जाता है। इससे दूध पिलाने में कुछ सुविधा जरूर है, परन्तु यदि उनकी सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो इनसे बालक को लाभ की अपेक्षा अधिक नुकसान होने का डर रहता है। अत दूध पिलाने के बाद गरम पानी से इनको साफ करके रखना चाहिए। अन्यथा कूपी और चूसनी दूषित होकर विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं—उपाय चिन्तयन् प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेद्।

षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च ॥ ५२ ॥

(अन्नप्राशनविधि—) छठे महीने में उसको हल्का और हितकर अन्नप्राशन कराये ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—पीछे १६ वें सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा चुका है कि प्रसूतावस्था की अवधि तीन महीने की होती है और इस अवस्था की समाप्ति माता और बालक के देवदर्शन से की जाती है—चतुर्थे सविकागारादभिस्कन्द पुरोगमान्। मासे निष्क्रामयेद् देवान् नमस्कर्तुं स्वलङ्कृतम्॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर० १)। अष्टांगसंग्रह में यह श्लोक स्तन्याभाव के पश्चात् आता है। चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्। षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि, यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥ (मनुस्मृति, २-३४)। गृह्यसूत्रों में षष्ठ मास में अन्नप्राशन की विधि वर्णन की है—षष्ठे मास्यन्नप्राशनम्। दधिमधुघृतमन्नं प्राशयेत्। अन्नप्राशन का मन्त्र—अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः। प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥

षष्ठ मास में अन्नप्राशन की विधि का अर्थ यह नहीं है कि उस दिन से बालक को भरपेट अन्न दिया जाय। अन्न से यहाँ पर भक्ष्य और भोज्य पदार्थ समझने चाहिएँ। हिन्दूधर्मशास्त्र में जो विविध संस्कार हैं, वे एक व्यक्ति के जीवन में जो विशेष कार्य होते हैं उनके लिए बनाये गये हैं। जैसे, घर के बाहर जाने का प्रारम्भ गृहनिष्क्रमणविधि से, अन्नप्राशन का प्रारम्भ अन्नप्राशनविधि से, हजामत करने का प्रारम्भ चौलकर्मविधि से, विद्याभ्यास का उपनयनविधि से, स्त्री और पुरुष का पति पत्नी के नाते रहने का विवाहविधि से, स्त्री-पुरुषसमागम का गर्भाधानविधि से इत्यादि। इन संस्कारों का अर्थ यह है कि विशिष्ट संस्कार के पहले विशिष्ट कार्य न किया जाय, वह विशिष्ट कार्य शुभ मुहूर्त पर मन्त्रों के द्वारा किया जाय और उसके पश्चात् आवश्यकता और शक्ति के अनुसार वह कार्य करने के लिए उस व्यक्ति के लिए स्वातन्त्र्य रहे। जैसे, उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को श्रीगणेश से प्रारम्भ करके धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ने पर तमाम शास्त्र पढ़ाये जाते हैं, वैसे ही अन्नप्राशनविधि के पश्चात् उसकी शक्ति बढ़ने पर धीरे धीरे उसको तमाम भक्ष्य भोज्य पदार्थ खिलाये जाते हैं। विद्याभ्यास में शक्ति से मस्तिष्क की शक्ति और अन्नप्राशन में शक्ति से पचनसंस्थान की शक्ति अभिप्रेत है। इसलिए अष्टांगसंग्रह में लिखा है—षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमात्तच्च प्रयोजयेत्। पचनसंस्थान की शक्ति पाचक रसों पर और दाँतों पर निर्भर होती है। अन्न के लिए दाँतों की आवश्यकता होती है जब तक दाँत नहीं होते, तब तक अन्न देना हानिकारक होता है क्योंकि बालक बिना चबाये अन्न को निगल लेता है। अन्नसेवन और दाँतों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए दन्तोद्भेद के प्रारंभ में अन्नप्राशनविधि की जाती है और उसके पश्चात् जैसी दाँतों की वृद्धि होती जाती है, वैसी वैसी अन्न की राशि बढ़ाई जाती है। इसी दृष्टि से ऊपर के वाग्भट के वचन में 'क्रमात्' शब्द प्रयुक्त किया गया है। काश्यपसंहिता में छठे महीने में फलप्राशन कराने के लिए, दशवें महीने में अन्नप्राशन के लिए और बारहवें महीने के बाद वास्तविक अन्न देने के लिए लिखा है—तस्मिन्नेव (षष्ठे) मासि विविधानां फलानां प्राशनं भिषगनुतिष्ठेद्। वृद्धि दन्तजातस्यान्नप्राशनं दशमे वा मासि प्रशस्तेऽहनि। उत्थाप्योर्ध्वं द्वादशमासिकस्यान्नमभिलषतोऽल्पशश्चेमानि दद्यादिति। शालीनां षष्टिकानां वा पुराणानां विशेषतः। तण्डुलैर्निस्तुषैर्मृष्टैः चालितैः साधिता द्रवाः॥ सस्नेहलवणा लेह्या बालानां पुष्टिवर्धनाः। गोधूमानां तथा चूर्णं यवानां वाऽपि सात्म्यतः॥ एकान्तरं द्व्यन्तरं वा देशाग्निबलकालवित्। यदा वा क्षुधितं पश्येद् तदैनं सात्म्यं माशयेद्॥ (जातकर्मोत्तराध्याय)। बालक को अन्न देने में शीघ्रता कदापि न करनी चाहिए, शीघ्रता में स्वास्थ्य की हानि है। देर में अन्न देने में हानि नहीं है बल्कि फायदा होता है—चिरान्निरेवमाणोऽन्नं बालो नातुर्यमश्नुते। (अष्टांगसंग्रह)। काश्यपसंहिता में अन्नसेवन की जो साल भर की मर्यादा बताई गई है, वह 'तेषु संवत्सरपराः क्षीरदा' (सूत्रस्थान ३५-३३) के साथ मिलती है। उस सूत्र का वक्तव्य भी देखो। अष्टांगसंग्रहटीकाकार तथा अष्टांगसंग्रहकार अन्नप्राशन का वास्तविक काल एक वर्ष का ही मानते हैं। 'अन्नेन जातदशनम्' इस श्लोक की टीका में इन्दु लिखते

हैं—अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं बालं क्रमशः स्तनादपनयेत्। काश्यपसंहिताकार की बच्चों को फल देने की विधि भी बहुत स्वास्थ्यकर है। फलों से बालकों को सुपाच्य रस और जीवनीय द्रव्य (Vitamins) मिलते हैं, जो बचपन के शरीरवृद्धिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं।

अन्नप्राशन, दन्तोद्भेद और स्तनापनयन इनका परस्पर संबंध है। इसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्भेद का अब विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रुत-संहिता में नहीं किया गया है। स्तनापनयन (Weaning—) इसके काल का विचार पीछे ५१वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना उचित नहीं है और उसी के साथ साथ क्रम से अन्नप्राशन या गौ के दूध का सेवन कराना चाहिए। आयुर्वेद का यह एक सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष; क्रम से और धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना चाहिए—क्रमेणापगत-दोषाः क्रमेणोपगता गुणाः। नाप्नुवन्ति पुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति हि ॥ (चरक, सूत्र ७) । स्तनापनयन के तीन उपाय अष्टांग संग्रह में बताये हैं—कुर्यादपस्तनं स्नेहसंक्रान्त्या स्तनलेपनैः। बीभत्सैर्यावकासेकक्रृत्रिमसत्वदर्शनैः ॥ स्नेहसंक्रान्ति का मतलब यह है कि बालक को स्तनपान के लिए जो प्रेम होता है, वैसा प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना। इसी काम के लिए यह प्रीणन मोदक दिया है—प्रियालमज्जमधुक-मधुलाजसितोपलैः। अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः ॥ स्तन्यापनयन तथा अन्नसेवन या गोदुग्धसेवन से अगर बालक में अग्नि की मन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो निम्न ओषधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—दीपनो बाल-बिल्वैलाशर्करालाजसक्तुभिः। संग्राही धातकीपुष्पशर्करालाज-तर्पणैः ॥ (अष्टांगसंग्रह)।

दन्तोद्भेद (Dentition—) तरुण विवाहित स्त्रियों के जीवन में सगर्भावस्था और प्रसूति जैसी महत्त्व की घटनाएँ हैं, वैसी बाल्यावस्था में दन्तोद्भेद की घटना होती है। ये सब घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी होनी चाहिएँ। परन्तु प्रायः इनका समावेश विकारी घट-नाओं में किया जाता है—दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतनम्। पृष्ठभङ्गे बिडालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे। दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किञ्चिन्न दूयते ॥ (अष्टांगसंग्रह)। इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली होती हैं। अनेक बालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से खराब रहता ही है। इसलिए दन्तोद्भेद के संबंध में इस प्रकार की कल्पना हो चुकी है। जिस बालक का स्वास्थ्य अच्छा होता है, उसको दाँत निकलने के समय ज़रा सी भी तकलीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत निकल रहे हैं। मनुष्यों को दाँत दो बार आते हैं। जो पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं। ये प्रथम दन्त या अस्थायी दन्त (Temporary milk teeth) कहलाते हैं। जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत (Permanent) कहलाते हैं। प्रथम दन्तों की संख्या २० होती है, उनकी उत्पत्ति का प्रारंभ ६–७ महीने की आयु से होता है और ढाई वर्ष की आयु तक वे पूरे निकल आते हैं—दन्तोद्भेदश्च दीर्घायुषोऽष्टमान्मासात् परतो वा प्रवर्तते। इतरेषां तु चतुर्थात्। तत्रास्थिमज्जानौ दन्तोत्पत्तिहेतू। तदा च तयोरसम्पूर्णवीर्यत्वात् कालान्तरेण दन्तानां पतनमापूर्यमाणधातु-त्वाच्च पुनरुत्थानम्। पुनर्दन्तों की उत्पत्ति का प्रारम्भ छठे साल से होता है और २५वें साल तक वे पूरे निकल आते हैं। इनकी संख्या बत्तीस होती है। दाँतों के लिए 'द्विज' शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु यह शब्द प्रत्येक दाँत के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पुनर्दन्तों में से बारह दाँत केवल एक ही बार उत्पन्न होते हैं और बीस दाँतों का पुनर्जन्म होता है। अतः बारह सकृज्जात और बीस द्विज होते हैं—इह खलु नृणां द्वात्रिंशद्दन्ताः, तत्राष्टौ सकृज्जाताः स्वरूढदन्ता भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः ॥ (काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिकाध्याय)। यहाँ पर अष्टौ शब्द गलत मालूम होता है, इसके बदले द्वादश होना चाहिए। ये द्वादश सकृज्जात दाँत दाढ़ें (Molars) हैं। मुखमध्य के पास के दो दाँत कर्तनक (Incisors), उसके पास का एक भेदक (Canine) और उसके बाद के दो पूर्व चर्वणक (Premolars) कहलाते हैं। इस तरह प्रत्येक हनु के एक पक्ष में पाँच करके कुल बीस दाँत बचपन में निकलते हैं। पुनर्दन्तों में ये बीस और इनके अलावा हनु के प्रत्येक पक्ष में तीन चर्वणक (दाढ़ें) करके बारह दाढ़ें अधिक होती हैं। नीचे प्रथम दन्त और पुनर्दन्त इनकी उत्पत्ति का साधारण काल दिया जाता है—

नाम	प्रथमदन्तकाल	नाम	पुनर्दन्तकाल
नीचे के अन्तःकर्तनक	६–९ मास तक	प्रथम चर्वणक	६ वर्ष
ऊपर के चारों कर्तनक	८–१० मास तक	कर्तनक	७–८ वर्ष
नीचे के बाह्य कर्तनक	१२–१४ मास तक	पूर्व चर्वणक	९–१० वर्ष
अगले चार पूर्व चर्वणक	१२–१४ मास तक	भेदक	११–१२ वर्ष
भेदक	१६–२० मास तक	द्वितीय चर्वणक	१२–१३ वर्ष
पिछले पूर्व चर्वणक	२०–२४ मास तक	तृतीय चर्वणक	१७–२५ व'

यह साधारण काल है। इसमें न्यूनाधिकता हो सकती है तथापि साधारणतया एक वर्ष के बालक के ६ दाँत, डेढ़ वर्ष के शिशु के १२ दाँत, दो वर्ष के शिशु के १६ दाँत और ढाई वर्ष के शिशु के २० दाँत होने चाहिएँ। छठे साल में चार दाढ़ें निकल आती हैं, जिससे दाँतों की संख्या २४ हो जाती है। साधारणतया नीचे के जबड़े के दाँत पहले निकलते हैं और पश्चात् वे दाँत ऊपर के जबड़े में निकलते हैं। आयुर्वेद में ऊपर के दांतों का पूर्वजन्म एक उत्पात माना गया है और उसके लिए शान्ति करने के लिए लिखा है—यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते तावत्स्वहःसूद्भिद्यन्ते। यावत्स्वेव च मासेषु जातस्य सत उद्भिद्यन्ते तावत्स्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्भिद्यन्ते। तत्र मध्ये द्वावुत्तरौ राजदन्त-संज्ञौ भवतः, तौ पवित्रौ, तस्मात्ताभ्यां खण्डे न श्राद्धमर्हति अपवित्रो हि सः। तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वमुत्तरदन्तजन्म च, विरलदन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिकदन्तता च, करालदन्तता

है। आखिर में गौ का भी दूध है और वैसा (Whole milk) ही दूध देने में कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि फायदा यह होता है कि बच्चे को दस्त खुलकर आता है। फेरफार किये हुए दूध से मलावरोध की शिकायत प्रायः होता है। गौ के दूध का यह दस्तावर गुण चरक, सुश्रुत, वाग्भट इन ग्रन्थों में नहीं मिलता, परन्तु काश्यपसंहिता में विशेष रूप से मिलता है—औषधाग्निमचलाद्विरेचयति तद् पयः। एतस्मात् कारणादुक्तं गवां क्षीरं रसायनम्। एवं वैशेषिकगुणो गोक्षीरस्य प्रकीर्तितः॥ (क्षीरगुणविशेषाध्याय)। परन्तु इसमें दूध की निर्दोषता पर ध्यान देना चाहिए। निर्दोषता की दृष्टि से यदि हो सके तो बालक को धारोष्ण दूध देना ही उचित है। धारोष्ण दूध कैसे लेना चाहिए, इसका विचार सूत्रस्थान के ४५ वें अध्याय के ६३ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। धारोष्ण न मिल सके तो दूध को एक उबाल देकर लेना चाहिये।

संक्षेप में स्तन्याभाव होने पर गौ का धारोष्ण दूध यदि मिल सके तो देना उत्तम पक्ष है। यदि धारोष्ण दूध न मिल सके तो दूध को उबालकर देना उचित है। यदि सम्पूर्ण दूध मुवाफिक न हो तो तिहाई पानी और थोड़ी चीनी मिलाकर दे सकते हैं। विशेष करके जलमिश्र दूध प्रारम्भिक तीन चार महीनों में देना ठीक है। उसके बाद सम्पूर्ण दूध दे सकते हैं। आयुर्वेद में सम्पूर्ण दूध देने का ही रिवाज है। केवल लघुपञ्चमूल या शालिपर्णी पृश्निपर्णी के साथ वह उबाला जाता है और उसमें थोड़ी चीनी भी मिलाई जाती है—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्। ह्रस्वेन पञ्चमूलेन स्थिरया वा सितायुतम्॥ (अष्टांगहृदय)। आज कल बच्चों को दूध पिलाने के लिए कूपी और चूसनी (Teats) का उपयोग किया जाता है। इससे दूध पिलाने में कुछ सुविधा जरूर है, परन्तु यदि उनकी सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो इनसे बालक को लाभ की अपेक्षा अधिक नुकसान होने का डर रहता है। अतः दूध पिलाने के बाद गरम पानी से इनको साफ करके रखना चाहिए। अन्यथा कूपी और चूसनी दूषित होकर विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं—उपायं चिन्तयन् प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत्।

षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च ॥ ५२ ॥

(अन्नप्राशनविधि—) छठे महीने में उसको हल्का और हितकर अन्नप्राशन कराये ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—पीछे १६ वें सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा चुका है कि प्रसूतावस्था की अवधि तीन महीने की होती है और इस अवस्था की समाप्ति माता और बालक के देवदर्शन से की जाती है—चतुर्थे सूतिकागारादग्निस्कन्द पुरोगमान्। मासे निष्क्रामयेद् देवान् नमस्कर्तुं स्वलङ्कृतम्॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर० १)। अष्टांगसंग्रह में यह श्लोक स्तन्याभाव के पश्चात् आता है। चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्। षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि, यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥ (मनुस्मृति, २-३४)। गृह्यसूत्रों में षष्ठ मास में अन्नप्राशन की विधि वर्णन की है—षष्ठे मास्यन्नप्राशनम्। दधिमधुघृतमन्नं प्राशयेत्। अन्नप्राशन का मन्त्र—अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः। प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥

षष्ठ मास में अन्नप्राशन की विधि का अर्थ यह नहीं है कि उस दिन से बालक को भरपेट अन्न दिया जाय। अन्न से यहाँ पर भक्ष्य और भोज्य पदार्थ समझने चाहिएँ। हिन्दूधर्मशास्त्र में जो विविध संस्कार हैं, वे एक व्यक्ति के जीवन में जो विशेष कार्य होते हैं उनके लिए बनाये गये हैं। जैसे, घर के बाहर जाने का प्रारम्भ गृहनिष्क्रमणविधि से, अन्नप्राशन का प्रारम्भ अन्नप्राशनविधि से, हजामत करने का प्रारम्भ चौलकर्मविधि से, विद्याभ्यास का उपनयनविधि से, स्त्री और पुरुष का पति-पत्नी के नाते रहने का विवाहविधि से, स्त्री-पुरुषसमागम का गर्भाधानविधि से इत्यादि। इन संस्कारों का अर्थ यह है कि विशिष्ट संस्कार के पहले विशिष्ट कार्य न किया जाय, वह विशिष्ट कार्य शुभ मुहूर्त पर मन्त्रों के द्वारा किया जाय और उसके पश्चात् आवश्यकता और शक्ति के अनुसार वह कार्य करने के लिए उस व्यक्ति के लिए स्वातन्त्र्य रहे। जैसे, उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को श्रीगणेश से प्रारम्भ करके धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ने पर तमाम शास्त्र पढ़ाये जाते हैं, वैसे ही अन्नप्राशनविधि के पश्चात् उसकी शक्ति बढ़ने पर धीरे धीरे उसको तमाम भक्ष्य भोज्य पदार्थ खिलाये जाते हैं। विद्याभ्यास में शक्ति से मस्तिष्क की शक्ति और अन्नप्राशन में शक्ति से पचनसंस्थान की शक्ति अभिप्रेत है। इसलिए अष्टांगसंग्रह में लिखा है—षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमात्तच्च प्रयोजयेत्। पचनसंस्थान की शक्ति पाचक रसों पर और दाँतों पर निर्भर होती है। अन्न के लिए दाँतों की आवश्यकता होती है जब तक दाँत नहीं होते, तब तक अन्न देना हानिकारक होता है क्योंकि बालक बिना चबाये अन्न को निगल लेता है। अन्नसेवन और दाँतों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए दन्तोद्भेद के प्रारंभ में अन्नप्राशनविधि की जाती है और उसके पश्चात् जैसी दाँतों की वृद्धि होती जाती है, वैसी वैसी अन्न की राशि बढ़ाई जाती है। इसी दृष्टि से ऊपर के वाग्भट के वचन में 'क्रमात्' शब्द प्रयुक्त किया गया है। काश्यपसंहिता में छठे महीने में फलप्राशन कराने के लिए, दशवें महीने में अन्नप्राशन के लिए और बारहवें महीने के बाद वास्तविक अन्न देने के लिए लिखा है—तस्मिन्नेव (षष्ठे) मासि विविधानां फलानां प्राशनं भिषगनुविदध्यात्। दशमे वा मासि प्रशस्तेऽहनि। तत्राप्यौर्ध्वं द्वादशमासिकस्यान्नमभिलषतोऽल्पशःश्लेष्माणि दद्यादिति। शालीनां षष्टिकानां वा पुराणानां विशेषतः। तण्डुलैर्निस्तुषैर्मृष्टैश्चालितैः साधिता द्रवा॥ ससैन्धवलवणा लेह्या बालानां पुष्टिवर्धना। गोधूमानां तथा चूर्णं यवानां वाऽपि सात्म्यतः॥ एकान्तरं द्व्यन्तरं वा देशाग्निबलकालवित्। यदा वा क्षुधितं पश्येत् तदैनं सात्म्यमाशयेत्॥ (जातकर्मोत्तराध्याय)। बालक को अन्न देने में शीघ्रता कदापि न करनी चाहिए, शीघ्रता में स्वास्थ्य की हानि है। देर में अन्न देने में हानि नहीं है बल्कि फायदा होता है—चिरात्रिषेवमाणोऽन्नं बालो नातुर्यमश्नुते। (अष्टांगसंग्रह)। काश्यपसंहिता में अन्नसेवन की जो साल भर की मर्यादा बताई गई है, वह 'तेषु संवत्सरपरा क्षीरदा' (सूत्रस्थान ३५-३३) के साथ मिलती है। उस सूत्र का वक्तव्य भी देखो। अष्टांगसंग्रहटीकाकार तथा अष्टांगसंग्रहकार अन्नप्राशन का वास्तविक काल एक वर्ष का ही मानते हैं। 'अथैनं जातदशनम्' इस श्लोक की टीका में इन्दु लिखते

—अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं वालं क्रमशः स्तनादपनयेत्। ... काश्यपसंहिताकार की बच्चों को फल देने की विधि भी बहुत स्वास्थ्यकर है। फलों से वालकों को सुपाच्य रस और जीवनीय द्रव्य (Vitamins) मिलते हैं, जो बचपन के शरीरवृद्धिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं।

अन्नप्राशन, दन्तोद्भेद और स्तनापनयन इनका परस्पर संबंध है। इसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्भेद का अब विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रुत-संहिता में नहीं किया गया है। स्तनापनयन (Weaning—) के काल का विचार पीछे ५१वें श्लोक के वक्तव्य में किया ...ा है। स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना ...चित नहीं है और उसी के साथ साथ क्रम से अन्नप्राशन ... गौ के दूध का सेवन कराना चाहिए। आयुर्वेद का यह ...क सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष; क्रम से और धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना चाहिए—क्रमेणापगता दोषाः क्रमेणोपगता गुणाः। नाप्नुवन्ति पुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति हि॥ (चरक, सूत्र ७)। स्तनापनयन के तीन उपाय अष्टांगसंग्रह में बताये हैं—कुर्यादपस्तनं स्नेहसंक्रान्त्या स्तनलेपनैः। बीभत्सैर्यावकासेकक्रत्रिमसत्त्वदर्शनैः॥ स्नेहसंक्रान्ति का मतलब यह है कि वालक को स्तनपान के लिए जो प्रेम होता है, वैसा प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना। इसी काम के लिए यह प्रीणन मोदक दिया है—प्रियालमज्जमधुक-...धलाजसितोपलैः। अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः॥

...न्यापनयन तथा अन्नसेवन या गोदुग्धसेवन से अगर ...लक में अग्नि की मन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो ...म्न ओषधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—दीपनो वाल-बिल्वैलाशर्करालाजसक्तुभिः। संग्राही धातकीपुष्पशर्करालाज-तर्पणैः॥ (अष्टांगसंग्रह)।

दन्तोद्भेद (Dentition—) तरुण विवाहित स्त्रियों के जीवन में सगर्भावस्था और प्रसूति जैसी महत्त्व की घटनाएँ हैं, वैसी वाल्यावस्था में दन्तोद्भेद की घटना होती है। ये सब घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी होनी चाहिएँ। परन्तु प्रायः इनका समावेश विकारी घट-...ओं में किया जाता है—दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतनम्। पृष्ठभङ्गो ...बालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे। दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किञ्चिन्न दूयते॥ (अष्टांगसंग्रह)। इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली होती हैं। अनेक वालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से खराब रहता ही है। इसलिए दन्तोद्भेद के संबंध में इस प्रकार की कल्पना हो चुकी है। जिस वालक का स्वास्थ्य ...अ होता है, उसको दाँत निकलने के समय ज़रा सी भी ...कलीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत ...कल रहे हैं। मनुष्यों को दाँत दो बार आते हैं। जो पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं। ये प्रथम दन्त या अस्थायी दन्त (Temporary milk tooth) कहलाते हैं। जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत (Permanent) कहलाते हैं। प्रथम दन्तों की संख्या २० होती है, उनकी उत्पत्ति का प्रारंभ ६–७ महीने की आयु से होता है और ढाई वर्ष की आयु तक वे पूरे निकल आते हैं—दन्तोद्भेदश्च [illegible] दन्तों का [illegible]। इतरेषां तु चतुर्थात्। [illegible] दन्तोत्पत्तिः [illegible] तदोरसम्पूर्णवर्षात् [illegible] पुनरुत्थानम्। पुनर्दन्तों की उत्पत्ति का प्रारम्भ छठे साल से होता है और १७वें साल तक वे पूरे निकल आते हैं। इनकी संख्या बत्तीस होती है। दाँतों के लिए "द्विज" शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु यह शब्द प्रत्येक दाँत के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पुनर्दन्तों में से बारह दाँत केवल एक ही बार उत्पन्न होते हैं और बीस दाँतों का पुनर्जन्म होता है। अतः बारह सकृज्जात और बीस द्विज होते हैं—[illegible] द्वात्रिंशद्दन्ताः, [illegible] सकृज्जाताः [illegible] दन्ता भवन्ति, [illegible] द्विजाः ॥ (काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिकाध्याय)। यहाँ पर अष्टौ शब्द [illegible] होता है, इसके बदले द्वादश होना चाहिए। ये द्वादश सकृज्जात दाँत दाढ़ें (Molars) हैं। मुखमध्य के पास के दो दाँत कर्तनक (Incisors), उसके पास का एक भेदक (Canine) और उसके बाद के दो पूर्व चर्वणक (Premolars) कहलाते हैं। इस तरह प्रत्येक हनु के एक पक्ष में पाँच करके कुल बीस दाँत बचपन में निकलते हैं। पुनर्दन्तों में ये बीस और इनके अलावा हनु के प्रत्येक पक्ष में तीन चर्वणक (दाढ़ें) करके बारह दाढ़ें अधिक होती हैं। नीचे प्रथम दन्त और पुनर्दन्त इनकी उत्पत्ति का साधारण काल दिया जाता है—

नाम	प्रथमदन्तकाल	नाम	पुनर्दन्तकाल
नीचे के अन्तःकर्तनक	६–९ मास तक	प्रथम चर्वणक	६ वर्ष
ऊपर के चारों कर्तनक	८–१० मास तक	कर्तनक	७–८ वर्ष
नीचे के बाह्य कर्तनक	१२–१४ मास तक	पूर्व चर्वणक	९–१० वर्ष
अगले चार पूर्व चर्वणक	१२–१४ मास तक	भेदक	११–१२ वर्ष
भेदक	१६–२० मास तक	द्वितीय चर्वणक	१२–१३ वर्ष
पिछले पूर्व चर्वणक	२०–२४ मास तक	तृतीय चर्वणक	१७–२५ व...

यह साधारण काल है। इसमें न्यूनाधिकता हो सकती है तथापि साधारणतया एक वर्ष के वालक के ६ दाँत, डेढ़ वर्ष के शिशु के १२ दाँत, दो वर्ष के शिशु के १६ दाँ... और ढाई वर्ष के शिशु के २० दाँत होने चाहिएँ। छठे स... में चार दाढ़ें निकल आती हैं, जिससे दाँतों की सं... २४ हो जाती है। साधारणतया नीचे के जबड़े के ... पहले निकलते हैं और पश्चात् वे दाँत ऊपर के जब... निकलते हैं। आयुर्वेद में ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म उत्पात माना गया है और उसके लिए शान्ति क... लिए लिखा है—यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते ता... उद्भिद्यन्ते। यावत्स्वेव च मासेषु जातस्य सत उद्भिद्यन्ते ... च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्भिद्यन्ते। तत्र मध्ये द्वावुत्तरौ न ... जातौ भवतः, तौ पवित्रौ, तस्मात्ताभ्यां खण्डे ... अपवित्रो हि सः। तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वमुत्तरदन्त... चिरात्दन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिकदन्तता च,

है। बाजार में गौ का भी दूध है और वैसा (Whole milk) ही दूध देने में कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि फायदा यह होता है कि बच्चे को दूध मुफ्त मिल जाता है। फेरफार किये हुए दूध से मलावरोध की शिकायत प्रायः होती है। गौ के दूध का यह दस्तावर गुण चरक, सुश्रुत, वाग्भट इन ग्रन्थों में नहीं मिलता, परन्तु काश्यपसंहिता में विशेष रूप से मिलता है—दोषघ्नमतिमधुरमविदाहि [illegible] । [illegible] मधुरं गव्यं [illegible] स्यन्दनम् । एष वैशेषिकगुणो गोक्षीरस्य [illegible] ॥ (क्षीरगुणविशेषाध्याय)। परन्तु इसमें दूध की निर्दोषता पर ध्यान देना चाहिए। निर्दोषता की दृष्टि से यदि हो सके तो बालक को धारोष्ण दूध देना ही उचित है। धारोष्ण दूध कैसे लेना चाहिए, इसका विचार सूत्रस्थान के ४५ वें अध्याय के ५१ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। धारोष्ण न मिल सके तो दूध को एक उबाल देकर लेना चाहिये।

संक्षेप में स्तन्याभाव होने पर गौ का धारोष्ण दूध यदि मिल सके तो देना उत्तम पक्ष है। यदि धारोष्ण दूध न मिल सके तो दूध को उबालकर देना उचित है। यदि सम्पूर्ण दूध मुआफिक न हो तो तिहाई पानी और थोड़ी चीनी मिलाकर दे सकते हैं। विशेष करके जलमिश्र दूध प्रारम्भिक तीन चार महीनों में देना ठीक है। उसके बाद सम्पूर्ण दूध दे सकते हैं। आयुर्वेद में सम्पूर्ण दूध देने का ही रिवाज है। केवल लघुपञ्चमूल या शालिपर्णी पृश्निपर्णी के साथ यह उबाला जाता है और उसमें थोड़ी चीनी भी मिलाई जाती है—[illegible] । [illegible] ॥ (अष्टांगहृदय)। आज कल बच्चों को दूध पिलाने के लिए चूसी और चूसनी (Teats) का उपयोग किया जाता है। इससे दूध पिलाने में कुछ सुविधा जरूर है, परन्तु यदि उसकी सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो इससे बालक को लाभ की अपेक्षा अधिक नुकसान होने का डर रहता है। अतः दूध पिलाने के बाद गरम पानी से इसको साफ करके रखना चाहिए। अन्यथा चूसी और चूसनी दूषित होकर विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं—[illegible] ।

षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च ॥ ५२ ॥

(अन्नप्राशनविधि—) छः महीने में उसको हल्का और हितकर अन्नप्राशन कराये ॥ ५२ ॥

वक्तव्य—पीछे ११ वें सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा चुका है कि दुग्धावस्था की अवधि तीन महीने की होती है और इस अवस्था की समाप्ति क्रमशः और बालक के दांतों के निकलने से की जाती है—[illegible] (अष्टांगसंग्रह [illegible])। अष्टांगसंग्रह में यह [illegible] लिया जाता है। [illegible] ([illegible])। सुश्रुत में यह काल ही अन्नप्राशन की विधि बताई गई है—[illegible] । [illegible]

यह काल ही अन्नप्राशन की विधि का अर्थ यह नहीं है कि उस दिन से बालक को भरपेट अन्न दिया जाय। अन्न से यहाँ पर भक्ष्य और भोज्य पदार्थ समझने चाहिएँ। हिन्दूधर्मशास्त्र में जो विविध संस्कार हैं, वे एक व्यक्ति के जीवन में जो विशेष कार्य होते हैं उनके लिए बनाये गये हैं। जैसे, घर के बाहर जाने का प्रारम्भ गृहनिष्क्रमणविधि से, अन्नप्राशन का प्रारम्भ अन्नप्राशनविधि से, हजामत करने का प्रारम्भ चौलकर्मविधि से, विद्याभ्यास का उपनयनविधि से, स्त्री और पुरुष का पति-पत्नी के नाते रहने का विवाहविधि से, स्त्री-पुरुषसमागम का गर्भाधानविधि से इत्यादि। इन संस्कारों का अर्थ यह है कि विशिष्ट संस्कार के पहले विशिष्ट कार्य न किया जाय, वह विशिष्ट कार्य शुभ मुहूर्त पर मन्त्रों के द्वारा किया जाय और उसके पश्चात् आवश्यकता और शक्ति के अनुसार वह कार्य करने के लिए उस व्यक्ति के लिए स्वातन्त्र्य रहे। जैसे, उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को श्रीगणेश से प्रारम्भ करके धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ने पर तमाम शास्त्र पढ़ाये जाते हैं, वैसे ही अन्नप्राशनविधि के पश्चात् उसकी शक्ति बढ़ने पर धीरे धीरे उसको तमाम भक्ष्य भोज्य पदार्थ खिलाये जाते हैं। विद्याभ्यास में शक्ति से मस्तिष्क की शक्ति और अन्नप्राशन में शक्ति से पचनसंस्थान की शक्ति अभिप्रेत है। इसलिए अष्टांगसंग्रह में लिखा है—[illegible] । पचनसंस्थान की शक्ति पाचक रसों पर और दाँतों पर निर्भर होती है। अन्न के लिए दाँतों की आवश्यकता होती है जब तक दाँत नहीं होते, तब तक अन्न देना हानिकारक होता है क्योंकि बालक बिना चबाये अन्न को निगल लेता है। अन्नसेवन और दाँतों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए दन्तोद्भेद के प्रारम्भ में अन्नप्राशनविधि की जाती है और उसके पश्चात् जैसी दाँतों की वृद्धि होती जाती है, वैसी वैसी अन्न की राशि बढ़ाई जाती है। इसी दृष्टि से ऊपर के सूत्रकार के वचन में 'क्रमशः' शब्द प्रयुक्त किया गया है। काश्यपसंहिता में छः महीने में फलप्राशन कराने के लिए, दसवें महीने में अन्नप्राशन के लिए और बारहवें महीने के बाद यथाविधि अन्न देने के लिए लिखा है—[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ([illegible])। बालक को अन्न देने में [illegible] न करनी चाहिए, [illegible] में बालक की हानि है। देर से अन्न देने से हानि नहीं है बल्कि फायदा होता है—[illegible] । (अष्टांगसंग्रह)। काश्यपसंहिता में अन्नसेवन की जो [illegible] की मर्यादा बताई गई है, वह [illegible] (सूत्रस्थान १०-११) के साथ लिखी है। उस सूत्र का [illegible] । [illegible] तथा अष्टांगहृदय का अन्नप्राशन का [illegible] ही जानने हैं। [illegible] इस [illegible] हुए लिखते

हैं—अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं बालं क्रमशः स्तनादपनयेत् । काश्यपसंहिताकार की बच्चों को फल देने की विधि भी बहुत स्वास्थ्यकर है। फलों से बालकों को सुपाच्य रस और जीवनीय द्रव्य (Vitamins) मिलते हैं, जो बचपन के शरीरवृद्धिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं।

अन्नप्राशन, दन्तोद्भेद और स्तनापनयन इनका परस्पर संबंध है। इसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्भेद का अब विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रुत-संहिता में नहीं किया गया है। स्तनापनयन (Weaning—) इसके काल का विचार पीछे ५१वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना उचित नहीं है और उसी के साथ साथ क्रम से अन्नप्राशन या गौ के दूध का सेवन कराना चाहिए। आयुर्वेद का यह एक सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष; क्रम से और धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना चाहिए—क्रमेणापगत-दोषाः क्रमेणोपगता गुणाः। नाप्नुवन्ति पुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति हि ॥ (चरक, सूत्र ७)। स्तनापनयन के तीन उपाय अष्टांग संग्रह में बताये हैं—कुर्यादपस्तनं स्नेहसंक्रान्त्या स्तनलेपनैः। बीभत्सैर्वाबकासेकक्कृत्रिमच्छवदर्शनैः ॥ स्नेहसंक्रान्ति का मतलब यह है कि बालक को स्तनपान के लिए जो प्रेम होता है, वैसा प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना। इसी काम के लिए यह प्रीणन मोदक दिया है—प्रियालमज्जमधुक-मधुलाजसितोपलैः। अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः॥ स्तन्यापनयन तथा अन्नसेवन या गोदुग्धसेवन से अगर बालक में अग्नि की मन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो निम्न ओषधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—दीपनो बाल-बिल्वैलाशर्करालाजसक्तुभिः । संग्राही धातकीपुष्पशर्करालाज-तर्पणैः॥ (अष्टांगसंग्रह)।

दन्तोद्भेद (Dentition—) तरुण विवाहित स्त्रियों के जीवन में सगर्भावस्था और प्रसूति जैसी महत्त्व की घटनाएँ हैं, वैसी बाल्यावस्था में दन्तोद्भेद की घटना होती है। ये सब घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी होनी चाहिएँ। परन्तु प्रायः इनका समावेश विकारी घट-नाओं में किया जाता है—दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतनम् । पृष्ठभङ्गे बिडालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे। दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किञ्चिन्न दूयते ॥ (अष्टांगसंग्रह)। इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली होती हैं। अनेक बालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से खराब रहता ही है। इसलिए दन्तोद्भेद के संबंध में इस प्रकार की कल्पना हो चुकी है। जिस बालक का स्वास्थ्य अच्छा होता है, उसको दाँत निकलने के समय ज़रा सी भी तकलीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत निकल रहे हैं। मनुष्यों को दाँत दो बार आते हैं। जो पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं। ये प्रथम दन्त या अस्थायी दन्त (Temporary milk teeth) कहलाते हैं। जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत (Permanant) कहलाते हैं। प्रथम दन्तों की संख्या २० होती है, उनकी उत्पत्ति का प्रारंभ ६-७ महीने की आयु से होता है और ढाई वर्ष की आयु तक वे पूरे निकल आते हैं—दन्तोद्भेदश्च दीर्घायुषोऽष्टमान्मासात् परतो वा प्रवर्तते। इतरेषां तु चतुर्थात्। तत्रास्थिमज्जानौ दन्तोत्पत्तिहेतू। तदा च तयोरसम्पूर्णवीर्यत्वात् कालान्तरेण दन्तानां पतनमापूर्यमाणधातु-त्वाच्च पुनरुत्थानम्। पुनर्दन्तों की उत्पत्ति का प्रारम्भ छठे साल से होता है और २५वें साल तक वे पूरे निकल आते हैं। इनकी संख्या बत्तीस होती है। दाँतों के लिए 'द्विज' शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु यह शब्द प्रत्येक दाँत के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पुनर्दन्तों में से बारह दाँत केवल एक ही बार उत्पन्न होते हैं और बीस दाँतों का पुनर्जन्म होता है। अतः बारह सकृज्जात और बीस द्विज होते हैं—इह खलु नृणां द्वात्रिंशद्दन्ताः, तत्राष्टौ सकृज्जाताः स्वरूढदन्ता भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः ॥ (काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिकाध्याय)। यहाँ पर अष्टौ शब्द गलत मालूम होता है, इसके बदले द्वादश होना चाहिए। ये द्वादश सकृज्जात दाँत दाढ़ें (Molars) हैं। मुखमध्य के पास के दो दाँत कर्तनक (Incisors), उसके पास का एक भेदक (Canine) और उसके बाद के दो पूर्व चर्वणक (Premolars) कहलाते हैं। इस तरह प्रत्येक हनु के एक पक्ष में पाँच करके कुल बीस दाँत बचपन में निकलते हैं। पुनर्दन्तों में ये बीस और इनके अलावा हनु के प्रत्येक पक्ष में तीन चर्वणक (दाढ़ें) करके बारह दाढ़ें अधिक होती हैं। नीचे प्रथम दन्त और पुनर्दन्त इनकी उत्पत्ति का साधारण काल दिया जाता है—

नाम	प्रथमदन्तकाल	नाम	पुनर्दन्तकाल
नीचे के अन्तःकर्तनक	६–९ मास तक	प्रथम चर्वणक	६ वर्ष
ऊपर के चारों कर्तनक	८–१० मास तक	कर्तनक	७–८ वर्ष
नीचे के बाह्य कर्तनक	१२–१४ मास तक	पूर्व चर्वणक	९–१० वर्ष
अगले चार पूर्व चर्वणक	१२–१४ मास तक	भेदक	११–१२ वर्ष
भेदक	१६–२० मास तक	द्वितीय चर्वणक	१२–१३ वर्ष
पिछले पूर्व चर्वणक	२०–२४ मास तक	तृतीय चर्वणक	१७–२५ व

यह साधारण काल है। इसमें न्यूनाधिकता हो सकती है तथापि साधारणतया एक वर्ष के बालक के ६ दाँत, डेढ़ वर्ष के शिशु के १२ दाँत, दो वर्ष के शिशु के १६ दाँत और ढाई वर्ष के शिशु के २० दाँत होने चाहिएँ। छठे साल में चार दाढ़ें निकल आती हैं, जिससे दाँतों की संख्या २४ हो जाती है। साधारणतया नीचे के जबड़े के दाँत पहले निकलते हैं और पश्चात् वे दाँत ऊपर के जबड़े में निकलते हैं। आयुर्वेद में ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म एक उत्पात माना गया है और उसके लिए शान्ति करने के लिए लिखा है—यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते तावत्स्वहः-सूद्भिद्यन्ते। यावत्स्वेव च मासेषु जातस्य सत उद्भिद्यन्ते तावत्स्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्भिद्यन्ते। तत्र मध्ये द्वावुत्तरौ राजदन्त-संज्ञौ भवतः, तौ पवित्रौ, तस्मात्ताभ्यां खण्डे न श्राद्धमर्हति अपवित्रो हि सः। तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वमुत्तरदन्तजन्म च, विरलदन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिकदन्तता च, करालदन्तता

च, विवर्णदन्तता च, स्फुटितदन्तता चामङ्गल्या भवति ॥ पूर्णता, समता, घनता, शुक्लता, स्निग्धता, श्लक्ष्णता निर्मलता, निरामयता, किञ्चिदुत्तरोन्नतता, दन्तबन्धनानां च समता रक्तता स्निग्धता बृहद्घनस्थिरमूलता चेति दन्तसम्पदुच्यते ॥ (काश्यपसंहिता)। राजदन्त शब्द का प्रयोग चरक में भी मिलता है। इससे Upper central incisors का बोध होता है। ये दांत सामने विशेषतया प्रकट रहने के कारण इन्हीं के उपर दन्तपंक्ति की शोभा निर्भर होती है। इसलिए राजदन्त (दन्तानां राजा) कहलाते हैं।

दन्तोद्भेद की प्रक्रिया—दाँतों की उत्पत्ति दन्तबीजों (Special dental germs) से होती है। ये बीज प्रत्येक जबड़े में प्रथम दाँतों के लिए दस और पुनर्दंतों के लिए सोलह होते हैं। प्रथम दाँतों के बीज आगे और पुनर्दन्तों के पीछे होते हैं। दन्तबीज की कल्पना अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट रूप में मिलती है—न पुनर्दन्तोत्पत्तिर्बलान्निपतितानां तदधिष्ठानगतधातुबीजभ्रंशात् । (उत्तर २) । तदधिष्ठाने दन्ताधिष्ठाने गतो यो दन्तपोषको धातुस्तदेव बीजं तस्य नाशात् । (इन्दु)। इस बीज से उचित काल पर दाँत उत्पन्न होकर मसूढ़ों को छेदकर जबड़े से बाहर आते हैं। इसी को दन्तोद्भेद कहते हैं। बालक का स्वास्थ्य ठीक न होने पर मसूढ़ों को छेदकर जब दाँत बाहर आते हैं तब ज्वर, चिड़चिड़ापन, रोदन, छिछड़ेदार पतले दस्त, निद्रानाश, मृगी, कर्णशूल, खाँसी इत्यादि अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। दाँत जब बाहर आने लगते हैं, तब मसूढ़ों में सरसराहट भी होती है जिसके कारण बालक हर एक चीज को मसूढ़ों से काटना चाहता है। यह एक स्वाभाविक कार्य है, जो दाँतों के बाहर आने में सहायता करता है। इसलिए दाँत निकलना प्रारम्भ होने पर बच्चे को कभी कभी एकाध चीज ऐसी देनी चाहिए, जिसमें दाँतों का उपयोग आवश्यक होता है। इससे दाँत जल्दी निकल आते हैं और मजबूत होते हैं—तौ तु धातू कालक्रमेण पच्यमानौ यदा दन्ताशयमनुप्रपद्येते तदास्य किञ्चिदुत्सेधेनोर्ध्वाधोदन्तमांससंघट्टनादन्तहर्षो जायते। तद्धेतेन च क्षैरेण वन्दूरनया चूचुकं दृश्यते। यद्यदालभते तत्तदास्यमानयति । मारुतश्चास्य दन्तमूलेषु मूर्च्छति। ततः स कालानुविद्धोऽस्थिमज्जस्थितः सर्वतो विसरन् सह पित्तेन धातून् मलांश्च दूषयन् विविधान्यथोदितानुपद्रवानभिनिर्वर्तयति ॥

दाँतों का संगठन अस्थि के समान होता है (पाँचवें अध्याय के २२वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। इसलिए आयुर्वेद में दाँत अस्थियों के साथ गिने गये हैं, दाँतों का उत्पत्तिहेतु अस्थि ही माना गया है—तत्रास्थिमज्जानौ दन्तोत्पत्तिहेतू । (अष्टांगसंग्रह) और अस्थिरोगों के साथ दाँतों के रोग भी बताये गये हैं—अस्थिषु वेऽस्थ्यस्थिशूल दन्तनखभङ्गो रौक्ष्य च । अस्थ्यप्रदग्धीन्यधिदन्ताश्च । (सूत्र १५) । दाँतों को अस्थियों के साथ गिनने की आयुर्वेद की पद्धति यद्यपि पाश्चात्य मतानुसार ठीक नहीं मालूम होती तथापि यह वर्गीकरण रोगसंप्राप्ति और चिकित्सा की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। दाँतों और अस्थियों के लिए चूना (Calcium और जीवद्रव्य डी (सूत्र १६-५२४ के वक्तव्य में जीवद्रव्य देखो) की आवश्यकता होती है । आहार में दोनों उपस्थित रहने से हड्डियों और दाँतों की वृद्धि ठीक होती है। एक या दोनों की कमी होने से फक्क या अस्थिवक्रता (Rickets). अस्थिमृदुता (Osteomalacia), कृमिदन्त (Dental caries) इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं । अस्थिवक्रता बच्चे का रोग है । इसमें चूने की कमी से या जीवद्रव्य डी की कमी से चूने का सात्म्यीकरण ठीक न होने से हड्डियाँ और दाँत ठीक नहीं बनते, जिससे हड्डियाँ मृदु होती हैं और दाँत देर में निकलते हैं तथा खराब होते हैं । हड्डियाँ मृदु होने के कारण शरीर के दबाव से वक्र हो जाती हैं यह वक्रता हाथ-पैर की हड्डियों में और पसलियों में अधिक दिखाई देती है। अस्थि या दन्त के रोगों में, इसलिए, दूध अण्डा, फल, साग-सब्जी, मछली का तेल, सूर्यप्रकाश इत्यादि चूना और जीवद्रव्य डी इनसे युक्त आहार-विहार रखने से सफलता मिलती है । फक्क क्या है?—यह बच्चे का एक रोग है, जो काश्यपसंहिता में कुछ विस्तार से वर्णित (फक्कचिकित्सिताध्याय) किया गया है । चरक सुश्रुतादि अन्य उपलब्ध ग्रंथों में इसका नाम तक नहीं मिलता। इसके कारण और लक्षण नीचे दिये जाते हैं—बालः संवत्सरा(पत्र:) पादाभ्यां यो न गच्छति। स फक्क इति विशेषस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् । सशुष्कस्फिग्भुजोरुरमहोदरशिरोमुखः। पीनाक्षो दृश्यमानश्च दृश्यमानास्थिपञ्जरः। प्रम्लानाधरकायश्च नित्यमूत्रपुरीषकृत् । निश्चेष्टाधरकायो वा पाण्युजानुगमोऽपि वा। दौर्बल्यान्मन्दचेष्टश्च मदत्वात् परिभूतकः। मक्षिकाकृमिकीटानां गम्यश्चासप्रकृत्युरुक् । विशीर्णह्रस्वरोमा च स्तब्धरोमा महाशिराः। दुर्गन्धी मलिनः क्रोधी फक्क श्वसिति ताम्यति ॥ फक्क का मुख्य लक्षण यह बताया गया है कि जिस समय बालक को चलना फिरना चाहिए, उस समय वह चल फिर नहीं सकता । इस लक्षण को चलनासामर्थ्य (Inability to walk) कहते हैं। चलने का असामर्थ्य दो प्रकार का होता है—एक चलने फिरने का कार्य शुरू होने के बाद और दूसरा चलना फिरना शुरू होने के पहले । यहाँ पर एक वर्ष की जो मर्यादा बतलाई है, उससे यह असामर्थ्य दूसरे प्रकार का मालूम होता है। इस असामर्थ्य के तीन कारण हाबर्ट हचीसन देते हैं—अस्थिवक्रता Rickets), अंगघात (Paralysis) और बुद्धिहीनता (Mentally defective)। फक्क रोग तीनों में से एक होना चाहिए। अब अन्य लक्षणों का विचार किया जाता है। महोदरशिरोमु॰—बच्चों के उदरवृद्धि के मुख्य दो कारण होते हैं—अस्थिवक्रता और उदरक्षय (Tabes mesenterica)। शिरोवृद्धि के भी दो कारण होते हैं—अस्थिवक्रता और जलशीर्ष (Hydrocephalus)। नित्यपुरीषकृत्—बार बार मलत्याग करने वाला प्रवाहिका (Diarrhoea) युक्त। यह लक्षण उपर्युक्त रोगों में से अस्थिवक्रता और आन्त्रक्षय में होता है। क्रोधी—चिड़चिड़ा (Irritable)। यह लक्षण अन्य रोगों की अपेक्षा अस्थिवक्रता में ही मिलता है। श्वसिति ताम्यति—कमजोरी, छाती की विकृति, खाँसी इनके कारण अस्थिवक्रता में साँस हाफनी यह लक्षण अधिक मिलता है। संक्षेप में प्रधान लक्षण तथा अन्य लक्षणों का विचार करने पर फक्क आधुनिक अस्थिवक्रता (Rickets) मालूम होता है। परंतु यदि दोनों रोग शीघ्रता से पढे जायँ तो दोनों की एकता जल्दी ध्यान में नहीं आती। इसका कारण यह है कि अस्थि-

वक्रता के वर्णन में अधिक जोर शारीरिक विकृतियों के ऊपर दिया जाता है और फक्क के वर्णन में शारीरिक कार्य की विकृतियों के ऊपर दिया गया है।

फक्क के कारण—धात्री श्लैष्मिकदुग्धा तु फक्कदुग्धेति संज्ञिता। तत्क्षीरपो बहुव्याधिः कार्श्यात् फक्कत्वमाप्नुयात्॥ क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधिसंभवम्। फक्कत्वं त्रिविधं प्रोक्तम्—॥ (काश्यप-संहिता)। अस्थिवक्रता का मुख्य कारण जीवद्रव्य डी की कमी है। इसके सिवा चूने की कमी, स्नेह और प्रोभूजिनों की, पिष्टमय पदार्थों की अधिकता ये भी आहार के दोष इसके कारण माने जाते हैं। पाश्चात्य ग्रंथों में यह लिखा जाता है कि अस्थिवक्रता रोग कृत्रिम दुग्धपान करने वाले वालकों में होता है, स्तन्यपान करने वालों में नहीं होता। यह कथन ठीक नहीं है। जिस प्रकार का सदोष आहार वालक में अस्थिवक्रता रोग उत्पन्न कर सकता है, वही आहार माता का स्तन्यपान करने वाले वालक में माता के द्वारा वही रोग उत्पन्न कर सकता है। इसी दृष्टि से अगर देखा जाय तो सदोष स्तन्यपान फक्क का कारण हो सकता है और भारतवर्ष में कृत्रिम दुग्धपान की अपेक्षा सदोष स्तन्यपान इस रोग का अधिक महत्त्व का कारण होता है। इस रोग का मुख्य कारण जो जीवद्रव्य डी—वह जैसे खाद्य द्रव्यों से शरीर को मिलता है वैसा ही सूर्य की किरणों का शरीर की त्वचा पर कार्य होने पर शरीर में ही उत्पन्न होता है। भारतवर्ष सूर्य-प्रकाश वाला और उष्ण देश है। मनुष्यों की त्वचा भारतवर्ष में सूर्यकिरणों के लिए प्रतिदिन न्यूनाधिक समय तक अनावृत रहा करती है। स्त्रियों में इतनी अनावृति नहीं हो सकती, यह वात सत्य है। इसलिए उनके शरीर में जीवद्रव्य डी की कुछ कमी हो सकती है। यूरोप के शीत और अति-शीत प्रदेशों में जहाँ पर सूर्यप्रकाश की कमी होती है और मनुष्य हमेशा वस्त्राच्छादित रहते हैं, वहाँ पर जीवद्रव्य डी की कमी भारतवर्ष की अपेक्षा वहुत अधिक रहती है। इसलिए यूरोप के देशों में इस रोग का स्वरूप जितना तीव्र और प्रस्फुट होता है, उतना भारतवर्ष में कदापि नहीं हो सकता; इस वात को जरूर ध्यान में रखना चाहिए। पाश्चात्य ग्रंथोक्त अस्थिवक्रता के लक्षणों से फक्क के लक्षण पूर्णतया न मिलने के जो अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें उपर्युक्त कारण वहुत महत्त्व का है।

सम्प्राप्ति और लक्षण—जीवद्रव्य डी की कमी से चूना, भास्वर (फास्फरस) तथा हड्डी के लिए आवश्यक अन्य खनिजों का शोषण और सात्म्यीकरण ठीक न होकर वे खनिज हड्डियों में भली भाँति संचित नहीं होते, जिससे अस्थियाँ मृदु रहती हैं और उनकी वृद्धि ठीक नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि जिन हड्डियों के ऊपर दवाव पड़ता है, वे हड्डियाँ टेढ़ी हो जाया करती हैं। जैसे, हाथ-पैर की हड्डियाँ, छाती की पसलियाँ इत्यादि। यह लक्षण पाश्चात्य ग्रंथों में विशेष रूप से वर्णित होता है परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि यह लक्षण रोग की तीव्रता का निदर्शक है, जो भारतवर्ष में वहुत ही कम देखने में आता है। फक्क के लक्षणों में अस्थियों की वक्रता का निर्देश न होने का यही कारण हो सकता है। इस लक्षण के अतिरिक्त शेष सव लक्षण फक्क के वर्णन में मिलते हैं। जिनका निर्देश स्पष्ट रूप से नहीं है वे निम्न लक्षण हैं। स्वस्थ वालक में पूर्वतालु १८–२४ वें महीने तक पूर्णतया वंद हो जाती है और दाँत ६–८ वें महीने में निकलने लगते हैं। फक्क या अस्थिवक्रता से पीड़ित होने पर दोनों में देरी हो जाती है और जो हड्डियाँ या दाँत वनते हैं, वे कमजोर और खराव होते हैं।

नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात्; प्रयतश्च ग्रहोपसर्गेभ्यो रक्ष्या वाला भवन्ति ॥५३॥

(ग्रहोपसर्गप्रतिपेध का उपाय—) वालक की रक्षा करने वाला हमेशा (ग्रहों के) उपसर्ग के भय से अवरोध के भीतर रहे, (क्योंकि) ग्रहों के उपद्रवों से वालकों की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी पड़ती है॥ ५३॥

वक्तव्य—अवरोधरत—अवरोध का अर्थ अन्तःपुर या या मकान का अहाता होता है। समय असमय वालक को वाहर ले जाने के संवंध में यह निर्देश है। तीसरे महीने के वाद वालक को मकान के वाहर ले जाने में वैसी आपत्ति नहीं होती। पिछले सूत्र के वक्तव्य का प्रारंभ देखो।

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति नखदशनैर्धात्रीमात्मानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यूर्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्वमति सन्दष्टौष्ठः क्रूरो भिन्नामवर्चा दीनार्तस्वरो निशि जागर्ति दुर्वलो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुच्छुन्दरिमत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्र्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तं, विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥ ५४ ॥

(ग्रहोपसृष्ट सामान्य लक्षण—) वालक उद्विग्न होता है, डरता है, रोता, है, वेहोश होता है, धात्री को तथा अपने को नखों से खरोंचता है और दाँतों से काटता है, दाँतों को कटकटाता है, आवाज् करता है, जम्भाई लेता है, भौंहों को चढ़ाता है, ऊपर देखता है, (मुख से) झाग निकालता है, दाँतों से ओठों को काटने वाला, (देखने में) क्रूर, पतले और आँवयुक्त दस्त होने वाला, दीन और आर्तस्वर वाला, रात को जागता है, दुर्वल मुरझाये हुए अंग का, मछली छुछुन्दर और खटमल की गन्ध का, जैसे (ग्रहों का उपसर्ग होने से) पहले धात्री का दूध चाहता था वैसे नहीं चाहता है। ये ग्रहोपसर्ग के सामान्य लक्षण हैं। उत्तरतन्त्र (के सत्ताईसवें अध्याय) में विस्तारपूर्वक कहेंगे ॥५४॥

शक्तिमन्तं चैनं ज्ञात्वा यथावर्णं विद्यां ग्राहयेत् ॥५५॥

(अध्यापनविधि—) उसको शक्तिमान् समझकर वर्ण के अनुसार विद्या पढ़ावे ॥ ५५ ॥

वक्तव्य—शक्तिमन्तम्—विद्याग्रहणशक्तिमन्तम्। कौटिलीय अर्थशास्त्र में चौलकर्म के पश्चात् याने चौथे वर्ष से अङ्क और अक्षर पढ़ाने के लिए लिखा है—वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत। (१–५)। रघुवंश में भी विद्याभ्यास के प्रारंभ का यही काल वतलाया है—स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः। लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥ (३–२८)। यह लिपिसंख्या की शिक्षा वास्तव में विद्या नहीं कही जा सकती। वास्तविक विद्या का प्रारंभ उपनयन के पश्चात् होता है। यह उपनयन साधारणतया व्राह्मण का आठवें,

क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष में होना है, परन्तु यदि कुमार अधिक शक्तिमान् (अर्थात् वर्णानुसार शक्ति का स्वरूप भिन्न भिन्न होता है) हो तो ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में, क्षत्रिय का छठे वर्ष में, और वैश्य का आठवें वर्ष में उपनयन किया जा सकता है—गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः । ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे । राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ (मनुस्मृति २-३६, ३७)। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उपनयन के पूर्व वेद को छोड़कर अन्य विद्याओं को पढ़ा सकते हैं—तौ च भगवता वाल्मीकिना धात्रीकर्म वस्तुतः परिगृह्य पोषितौ परिरक्षितौ च वृत्तचौडकर्माणौ त्रयीवर्जमितरास्तिस्रो विद्याः सावधानेन परिनिष्ठापितौ । तदनन्तरं च गर्भैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय गुरुणा त्रयीविद्यामध्यापितौ ॥ (उत्तररामचरित २)। यथावर्णम्—ब्राह्मणस्त्रयीं, राजन्यो दण्डनीतिम्, वैश्यो वार्तामिति । (डल्हण)। त्रयी—सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी । वार्ता—कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता । धर्माधर्मौ त्रय्याम् । अर्थानर्थौ वार्तायाम् । नयानयौ दण्डनीत्याम् ॥ (कौटिलीय अर्थशास्त्र १-२, ३, ४) प्रत्येक वर्ण के लिए यह जो एक विद्या बताई गई है, वह मुख्यविद्या करके बताई गई है। इसके अतिरिक्त धर्मादि विषयों का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिये। इसलिए चरक और अष्टांगसंग्रह में बालक की विद्या के संबंध में निम्न प्रकार से सर्वग्राही वर्णन मिलता है—एवमेनं कुमारमायौवनप्राप्तेर्धर्मार्थकौशलागमनाच्चानुपालयेत् । (चरक)। शक्तिमन्तं यथावर्णं विद्यामध्यापयेत्ततः । अनुशिष्यात् सदा चैनं धर्माय विनयाय च । यथा नेन्द्रियदुष्टाश्वैः क्षिप्यते यौवनागमे ॥ (अष्टांगसंग्रह)।

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति ॥ ५६ ॥

(विवाह—) विद्या समाप्त कर चुकने के पश्चात् पच्चीस वर्ष की उम्र वाले स्नातक को बारह साल की पत्नी प्रदान करे, जिससे कि वह पित्र्य, धर्म, अर्थ, काम और प्रजा को प्राप्त हो जाय ॥ ५६ ॥

वक्तव्य—पञ्चविंशतिवर्षाय—इससे निश्चित आयु मानने की आवश्यकता नहीं है। पुरुषों की विवाह की आयु विद्याभ्यास के ऊपर निर्भर होती है। यह स्थिति प्राचीन काल में थी और आधुनिक काल में भी है। विद्याभ्यास का काल विद्याओं की संख्या और बुद्धि की कुशाग्रता के अनुसार न्यूनाधिक होता है। इसलिए पच्चीस वर्ष से केवल यौवन प्राप्ति का बोध लेना चाहिए। ऊपर चरक का वचन देखो। अष्टांगसंग्रह में विवाह की आयु २१ साल की बतलाई है—पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयाम् उद्वहेत् ॥ पच्चीस से अधिक भी आयु हो सकती है—त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ॥ (मनु ९-९४)। द्वादशवर्षाम्—प्राचीन काल में स्त्रियों के विवाह की यह साधारण आयु है। स्त्रियों के विवाह की आयु में बहुत फर्क नहीं होता था, क्योंकि आर्तवदर्शन के पूर्व उनका विवाह कराना यह धार्मिक नियम था। कभी कभी बारह साल से कम उम्र में भी स्त्रियों का विवाह होता था—त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ (मनुस्मृति ९-९४)। द्वादश वर्ष विवाह के लिए योग्य काल होने पर भी समागम के लिए योग्य काल नहीं होता है। आगे के श्लोक देखो। पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः—पितुर्हितं कर्म पित्र्यं श्राद्धदानादि, धर्मः श्रुतिस्मृतिविहितं यज्ञानुष्ठानम्, अर्थः सुवर्णादिः, कामः स्वेषु स्वेषु विषयेष्विन्द्रियाणामानुकूल्येन प्रवृत्तिः, प्रजा पुत्रपौत्रादयः ॥ (डल्हण)। काम और प्रजा स्त्री के बिना नहीं मिल सकती, यह स्पष्ट है। श्राद्ध, यज्ञ आदि धार्मिक कर्मों में स्त्री की आवश्यकता होती है। उसके बिना ये कर्म नहीं कर सकते। इसलिए स्त्री सहधर्मचारिणी कहलाती है। अर्थ के संबंध में कुछ शंका उपस्थित हो सकती है। स्त्री प्रत्यक्ष पैसा कमाती नहीं है परन्तु पति से कमाये हुए पैसे की रक्षा करती है—अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्। शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ (मनुस्मृति ९-११)। प्राप्तार्थ का ठीक व्यय करना, यह भी अर्थप्राप्ति का एक साधन है—Money saved is money earned

अगले श्लोक के साथ तथा सूत्रस्थान के ३१वें अध्याय के १४वें श्लोक के साथ अगर इस सूत्र का समन्वय करना हो तो 'पञ्चविंशतिवर्षाय' के बदले अष्टांगसंग्रह के अनुसार 'एकविंशतिवर्षाय' ऐसा पाठ होना चाहिए, अथवा 'द्वादशवर्षां' के बदले 'षोडशवर्षां' ऐसा पाठ होना चाहिए। परन्तु दूसरा पाठ प्राचीन कल्पना के अनुसार ठीक नहीं हो सकता इसलिए प्रथम पाठभेद ही सयुक्तिक है।

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ ५७ ॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ ५८ ॥

(प्रथम गर्भाधानकाल—) सोलह साल से कम उम्र (की स्त्री) में पच्चीस को प्राप्त न हुआ पुरुष यदि गर्भ का आधान करे तो वह (गर्भ) कुक्षि में ही मर जाता है ॥ ५७ ॥ या जन्म ले तो देर तक नहीं जीता, या दुर्बल इन्द्रिययुक्त जीता है। इसलिए अत्यन्त बाला में गर्भ का आधान न करे ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—इस विषय का विवरण सूत्रस्थान के ३५ वें अध्याय के १४ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। आयुर्वेद का यह सिद्धान्त है कि, चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, सोलह साल के पहले मनुष्यशरीर स्वस्थ प्रजा उत्पादन करने में असमर्थ होता है—षोडशवर्षेभ्योऽर्वाक् शोणितशुक्रदोषैर्ध्रुवं प्रमवत । (काश्यप संहिता जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। इसका कारण यह है कि इस आयु में तथा इसके पूर्व स्त्री-पुरुषों के शोणित शुक्र अपरिपक्व होते हैं। अर्थात् अपरिपक्व बीज जैसे उत्तम अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ होता है, वैसे ही अपरिपक्व शुक्रशोणित उत्तम प्रजा उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। कुक्षिस्थ—यह कोई आवश्यक नहीं है कि यहाँ पर बताये हुए परिणाम हो जायँ। बाल्यावस्था में गर्भाधान करने से क्या हो सकता है, इसका दिग्दर्शन कुक्षिस्थ इत्यादि से किया गया है। अत्यन्तबालायाम्—सोलह साल की स्त्री बाला कहलाती है—बालेति गीयते नारी यावद्वर्षाणि षोडश । (योगरत्नाकर)। इसलिए सोलह साल से जिनकी आयु कम होती है, वह अत्यन्त बाला स्त्री होती है, उसमें।

अनिगूढार्थो दार्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोप

सृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत । पुरुषस्याप्येवंविधस्य त एव दोषाः संभवन्ति ॥ ५६ ॥

(गर्भाधान के लिए अयोग्य—) अतिवृद्धा, दीर्घकाल से रोगपीडित या अन्य विकार से उपसृष्ट स्त्री में गर्भाधान न करे । इस प्रकार के पुरुष (से भी गर्भाधान कराने) के वही दोष होते हैं ॥ ५९ ॥

वक्तव्य—अतिवृद्धा—अतिब्रह्मचारिणी । प्रौढ कुमारी, विवाह के समय जिसकी आयु बहुत अधिक हो, ऐसी। बूढ़ी स्त्री ऐसा इसका अर्थ नहीं है । पुरुष के संबंध में मात्र इसका अर्थ बूढ़ा पुरुष ऐसा है । इसका कारण यह है कि गर्भाधान करने की योग्यता की आयुर्मर्यादा पुरुषों में निश्चित नहीं होती, परंतु स्त्रियों में गर्भग्रहण करने की आयु निश्चित होती है । उसके पश्चात् तरुण पुरुष भी स्त्री में गर्भ का आधान नहीं कर सकता । त एव दोषाः—कुलिस्थः स विपद्यते इत्यादि । विशेष विवरण के लिए २ अध्याय के ३४वें श्लोक के वक्तव्य में 'स्त्री पुरुषों का प्रथम सन्तानोत्पादक काल' देखो ।

तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशयकटीवङ्क्षणवस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च, तत्र शीतैः परिषेकावगाहप्रदेहादिभिरुपचरेज्जीवनीयशृतक्षीरपानैश्च; गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्तत्सन्धारणार्थं क्षीरमुत्पलादिसिद्धं पाययेत्; प्रस्रंसमाने सदाहपार्श्वपृष्ठशूलासृग्दरानाहमूत्रसङ्गाः, स्थानात् स्थानं चोपक्रामति गर्भे कोष्ठे संरम्भः, तत्र स्निग्धशीताः क्रियाः; वेदनायां महासहाक्षुद्रसहामधुकश्वदंष्ट्राकण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराक्षौद्रमिश्रं पाययेत्, मूत्रसङ्गे दर्भादिसिद्धम्; आनाहे हिङ्गुसौवर्चललशुनवचासिद्धम्; अत्यर्थं स्रवति रक्ते कोष्ठागारिकागारमृत्पिण्डसमङ्गाधातकीकुसुमनवमालिकागैरिकसर्जरसरसाञ्जनचूर्णं मधुनाऽवलिह्यात्, यथालाभं न्यग्रोधादित्वक्प्रवालकल्कं वा पयसा पाययेत्, उत्पलादिकल्कं वा कशेरुशृङ्गाटकशालूककल्कं वा शृतेन पयसा, उदुम्बरफलौदककन्दक्वाथेन वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिष्टं, न्यग्रोधादिस्वरसपरिपीतं वा वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्; अथादृष्टशोणितवेदनायां मधुकदेवदारुमञ्जिष्ठापयस्यासिद्धं पयः पाययेत्, तदेवाश्मन्तकशतावरीपयस्यासिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा, बृहतीद्वयोत्पलशतावरीसारिवापयस्यामधुकसिद्धं वा, एवं क्षिप्रमुपक्रान्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते; व्यवस्थिते च गर्भे गव्येनोदुम्बरशलाटुसिद्धेन पयसा भोजयेत्; अतीते लवणस्नेहवर्ज्याभिर्यवागूभिरुद्दालकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत यावन्तो मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि; वस्त्युदरशूलेषु पुराणगुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा ॥ ६० ॥

(गर्भपात की चिकित्सा—) पूर्वोक्त कारणों से गर्भ गिरने लगे तो गर्भाशय, कटी, वङ्क्षण, वस्ति (इन स्थानों) में पीड़ा और (योनि से) रक्तस्राव होता है । उस समय शीतल परिषेक, अवगाहन तथा प्रलेपों से (बाह्य) और जीवनीय ओषधियों से सिद्ध क्षीरपान से (आभ्यन्तरीय) चिकित्सा करे । गर्भ का स्फुरण होने पर उसको शान्त करने के लिए उत्पलादिसिद्ध क्षीर बार बार पिलावे । गर्भस्राव के समय दाहयुक्त पार्श्वों और पीठ में शूल, योनि से रक्तस्राव, आध्मान और मूत्रावरोध होता है। गर्भ के एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते समय कोष्ठ में खलबली मचती है । उसके लिए स्निग्ध और शीत चिकित्सा करनी चाहिए । वेदना होने पर माषपर्णी, मुद्गपर्णी, मुलहठी, गोखरू, इनसे सिद्ध दूध खाँड और मधु मिलाकर पिलावे । मूत्रावरोध में दर्भादि (तृणपञ्चमूल) सिद्ध (दूध पिलावे) । आनाह में हींग, सौवर्चल लवण, लशुन और वचा से सिद्ध (दूध) पिलावे। अत्यधिक रक्तस्राव होने पर कोष्ठागारिका (नामक कीड़े) के घर की मिट्टी, मञ्जिष्ठा, धाय के फूल, वनमल्लिका के फूल, गेरू, राल, रसांजन इनमें से जितने द्रव्य मिल सकें उनका चूर्ण मधु के साथ चटावे; अथवा न्यग्रोधादि वृक्षों की त्वचा और कोंपल के कल्क को दूध के साथ पिलावे; अथवा उत्पलादि के कल्क को या कसेरु सिंघाड़ा तथा कमलकन्द के कल्क को उबाले हुए दूध के साथ पिलावे; अथवा शालिधान्य के पिष्ट को शर्करा और मधु से मधुर किये हुए गूलर के फल के और (कमल आदि) जलकन्द के क्वाथ के साथ पिलावे; अथवा न्यग्रोधादि वृक्षों के स्वरस में भिगोये हुए कपड़े को योनि में धारण करावे । रक्तस्राव के विना पीड़ा होने पर मुलहठी, देवदारु, मंजिष्ठा और क्षीरकाकोली इनसे सिद्ध दूध पिलावे; अथवा पाषाणभेद, शतावरी, क्षीरकाकोली से सिद्ध अथवा विदारिगन्धादिगण से सिद्ध दूध पिलावे; अथवा छोटी और बड़ी कटेरी, नीलोत्पल, शतावरी, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली और मुलहठी से सिद्ध दूध पिलावे; इस प्रकार तुरन्त चिकित्सित स्त्री की वेदनाएँ नष्ट होती हैं और गर्भ भी वृद्धि को प्राप्त होता है । गर्भ व्यवस्थित रहने पर कच्चे गूलर के फल से साधित गोदुग्ध के साथ भोजन करावे । यदि गर्भ गिर जाय तो पाचनीय द्रव्यों से संस्कृत नमक और घृत से विरहित उद्दालक आदि (जंगली कुधान्य) की यवागुओं से जितने महीने का गर्भ गिरा हो, उतने दिन चिकित्सा करे; वस्तिदेश तथा उदर में शूल हो तो दीपनीय द्रव्यों से पुराना गुड़ खिलावे अथवा अरिष्ट पिलावे ॥ ६० ॥

वक्तव्य—पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे—मूलगर्भ निदान के दूसरे सूत्र में, दसवें श्लोक में और इस अध्याय के दूसरे सूत्र में बतलाये हुए कारणों से गर्भपात होने पर। प्रस्रंसमाने गर्भे—Inevitable abortion. कोष्ठे संरम्भः—आमपच्यमानपक्वाशयादौ क्षोभः । (डल्हण) । पेट में खलबली मचना या अत्यन्त बेचैनी मालूम होना । औदकाः कन्दाः—कसेरुशालूकनदीमाषकादयः । (डल्हण) । पयस्या—अर्कपुष्पी । (डल्हण) । व्यवस्थिते—स्थिरीभूते । अतीते—पतित इत्यर्थः । दीपनीयसंयुक्तम्—पञ्चकोलचूर्णसंयुक्तम् । अरिष्टम्—अभयारिष्टादिकम् । गर्भश्चाप्यायते—तन्त्रान्तरे चोपविष्टकाख्योऽयं गर्भः कथितः । (डल्हण) । उपविष्टक का स्वरूप निम्न

प्रकार से वर्णन किया है—तत्र यस्या बाधाचिरकालार्तवपरिस्रावावल्पौ च दृश्यते सतत च गर्भः प्राप्तपरिमाणादपरिहीयमान एव स्फुरति न च कुक्षिर्विवर्धते समुपविष्टकमित्याचक्षते ॥ (अष्टांगसंग्रह)। उपविष्टक का स्वरूप व्यावहारिक परिभाषा में निम्न प्रकार से बता सकते हैं। जैसे, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाला मनुष्य थकावट के कारण बीच में थोड़ी देर के लिए बैठ जाता है याने प्रवास बंद करता है और फिर प्रवास शुरू करके अपने स्थान को पहुँचता है, वैसे ही वृद्धि रूप प्रवास करने वाला गर्भ बीच में कारणवश बैठ जाता है (उपविशति) याने वृद्धि रूप प्रवास बंद कर देता है और फिर अपना प्रवास करता है याने वृद्धि शुरू करता है और अपने इच्छित स्थान को पहुँच जाता है। संक्षेप में उपविष्टक का अर्थ बीच में कुछ काल तक बैठने वाला गर्भ—गर्भो वृद्धिमप्राप्नुवन्नुपविशति ॥ (अष्टांगसंग्रह, शा० ४)।

इस सूत्र में गर्भस्राव (Abortion) या गर्भपात (Miscarriage) के लक्षण और चिकित्सा वर्णन की गई है। गर्भस्राव और गर्भपात ये दो शब्द काल के अनुसार गर्भ के गिर जाने के लिए प्रयुक्त (मूढगर्भनिदान ८वें अध्याय के ११वें श्लोक का वक्तव्य देखो) होते हैं। परंतु व्यवहार में दोनों पर्यायरूप से ही प्रयुक्त होते हैं। गर्भपात के दो मुख्य लक्षण होते हैं—(१) पीड़ा (Pain)—यह पीड़ा गर्भाशय के आकुंचन से उत्पन्न होती है और आकुंचन की तीव्रातीव्रता पर पीड़ा की तीव्रातीव्रता निर्भर होती है। सूत्र में वेदना, शूल, सरम्भ, आनाह, मूत्रसङ्ग इत्यादि जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे इसी के ही विविध स्वरूप या परिणाम हैं। (२) रक्तस्राव Uterine haemorrhage)—योनि से रक्तस्राव होना यह गर्भपात का महत्त्व का लक्षण है। रक्त का स्राव एकाएक और अधिक राशि में या धीरे धीरे और अल्प राशि में हो सकता है। प्राय यह रक्तस्राव थोड़ी थोड़ी देर के बाद बार बार (Recurring) हुआ करता है। गर्भाशय की अन्तःकला से गर्भ और अपरा पृथक होने के कारण रक्तस्राव हुआ करता है। इन दो लक्षणों के अलावा और दो लक्षण मिल सकते हैं। वे इनके परिणामस्वरूप में होते हैं। इनमें प्रथम है निपात (Collapse)—। यह लक्षण अधिक रक्तस्राव होने के कारण उत्पन्न होता है। दूसरा लक्षण है गर्भाशयमुखविस्तृति (Dilatation of the cervix)। यह लक्षण गर्भाशयस्कोच के कारण उत्पन्न होता है। रक्तस्राव का ही निर्देश ऊपर सूत्र में रक्तदर्शन, असृग्दर करके किया गया है। ये दोनों लक्षण जब किसी स्त्री में, जिसमें गर्भधारणा के निश्चित लक्षण मिलते हैं, मिल जायँ तो गर्भपात की आशंका करके उसके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

गर्भपात कई प्रकार का होता है। जब पीड़ा और रक्तदर्शन होने पर भी गर्भ चिकित्सा से गर्भाशय में रहकर वृद्धि कर सकता है, तब उसको परिहार्य (Threatened) गर्भपात कहते हैं। एव चिरमुपक्रान्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते व्यवस्थितो च गर्भः। उपविष्टक गर्भ ये सब शब्द परिहार्य गर्भपात के हैं। जब गर्भ और अपरा गर्भाशय से अधिक पृथक् होती है, रक्तस्राव और पीड़ा अधिक होती है, गर्भाशय का मुख काफी विवृत हो जाता है और जब चिकित्सा करने पर भी पुनश्च गर्भ के आप्यायन की आशा नहीं की जा सकती तब उसको अपरिहार्य (Inevitable) गर्भपात कहते हैं। इसका उल्लेख सूत्र में 'प्रस्रसमाने' करके किया गया है। जब गर्भ पूर्णतया गिर जाता है, तब उसको पूर्ण Complete) गर्भपात कहते हैं। इसका उल्लेख सूत्र में 'पतिते' करके किया गया है। जब गर्भ या अपरा का कुछ हिस्सा गर्भाशय में रहता है, तब उसको अपूर्ण (Incomplete) गर्भपात कहते हैं।

साध्यासाध्यता—चरक का मत है कि प्रथम तीन महीने के गर्भ अजातसार होने के कारण प्राय ये गर्भाशय में स्थिर नहीं हो सकते, इसके पश्चात् हो सकते हैं—मा चेदपचारात् द्वयोस्त्रिषु वा मासेषु पुष्प पश्येत्तस्या गर्भ स्थास्यतीति विद्यात्। अजातसारो हि तस्मिन् काले भवति गर्भः ॥ (शारीर ८)। साधारणतया परिहार्य गर्भपात का परिहार चिकित्सा से होता है। अपरिहार्य गर्भपात का परिहार नहीं होता।

चिकित्सा—गर्भपात के लक्षण मालूम होते ही स्त्री को बिस्तरे पर आराम से रखना चाहिए। खान-पान, मल-मूत्रविसर्जन इत्यादि के लिए उठना बैठना, कुन्थना इत्यादि कर्म वर्ज्य करने चाहिएँ—शयनं तावत् मृदुसुखशिशिरास्तरणसंस्तीर्णमीषदवनतशिरस्क प्रतिपद्येतेति। क्रोधशोकायासव्यवायव्यायामेभ्यश्चाभिरक्षेत्, सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोनुकूलाभिरुपासीत ॥ (चरक)। तीव्र विरेचन या बस्ति न देना चाहिए। ये स्वस्थ स्त्री में भी गर्भपात उत्पन्न कर सकते हैं तो जो गर्भपात से पीड़ित है, उसमें निश्चिति से गर्भ का नाश कर देंगे। खाने के लिए दूध जैसा हल्का आहार दिया जाय। परिहार्य गर्भपात में इसी से प्राय कार्य हो जाता है। रक्तस्राव और पीड़ाहरण की सूत्रोक्त ओषधियाँ दे सकते हैं। पीड़ाहरण के लिए पाश्चात्य वैद्यक में अफीम या मार्फिया (¼ ग्रेन त्वचा द्वारा) या ब्रोमाइड्स देते हैं। रक्तस्राव रोकने के लिए अर्गट, हैड्रास्टिस, हीमोस्टॅटिक सीरम इत्यादि ओषधियाँ देते हैं। इसके अलावा योनि में टेण्ट (Tent) रखने का भी प्रबन्ध होता है। ऊपर के सूत्र में 'वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्' देखो। अपरिहार्य गर्भपात में जब रक्तस्राव अधिक होता है और गर्भ बाहर नहीं निकलता या अपूर्ण निकलता है, तब गर्भाशय को दबाकर (Expressing) या अङ्गुलि या तालयन्त्र (Curette) को गर्भाशय में प्रविष्ट करके गर्भ को निकालने की कोशिश की जाती है। गर्भ गिर जाने पर सूतिका के समान उसकी चिकित्सा करे। पतित गर्भ की चिकित्सा अष्टांगहृदय में निम्न प्रकार से बतलाई है—गर्भे निपतिते तीक्ष्णं मद्यं सामर्थ्यतः पिबेत्। गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमर्तिविस्मरणाय च ॥ लघुना पञ्चमूलेन रूक्षां पेयां तत पिबेत्। पेयाममद्यपा स्नेहे साधितां पाञ्चकोलिके ॥ बिल्वादिपञ्चकक्वाथे तिलोद्दालकतण्डुलैः। मासतुल्यदिनान्येवं पेयादि पतिते क्रमः ॥ (शारीर २)। अथ इषच्छोणितवेदनायाम्—इसमें अ का अर्थ ईषत् या अभाव हो सकता है। गर्भपात में पीड़ा होती है परन्तु वह बहुत तीव्र नहीं होती। इसके साथ प्राय रक्तस्राव होता है। जब रक्तस्राव कम होता है या नहीं होता तथा वेदना अत्यधिक होती है, तब बहिर्गर्भाशय गर्भपात (Ruptured extra uterine pregnancy) का भी ध्यान रखना चाहिए। इसके लिए शस्त्रकर्म के सिवा और कोई चिकित्सा नहीं होती है।

बहिर्गर्भ गर्भावस्था के लिए ३ अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में 'संसृज्यते नार्तवेन' की टिप्पणी देखो।

वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्रोशरससंसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्, माषतिलविल्वशलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिबेत् सप्तरात्रं; कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवेत; वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च, तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांसरसैश्चोपचरेत्; शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोपशान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः; तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः ॥ ६१ ॥

(लीन और उपशुष्क गर्भ—) स्रोतों के वात के उपद्रव से पीडित होने के कारण गर्भ लीन हो जाता है। वह अधिक काल तक (गर्भाशय में) रहता हुआ मर जाता है। (इस लीन गर्भ में) स्त्री की मृदु स्नेहादि से चिकित्सा करे, उत्क्रोश (कुररी—पक्षिविशेष) के मांसरस से साधित यवागू पर्याप्त स्नेह से युक्त पिलावे, अथवा उड़द तिल तथा बेल के शलाटु से साधित कुल्माष खिलावे और पश्चात् सात दिन तक मधुसह माध्वीक पीवे। अधिक काल तक रहने वाले गर्भ में विशेषतया ऊखल में धान्य डालकर कूटे, अथवा विषम वाहन या आसन पर बैठे। वात से पीडित होने पर भी गर्भ सूख जाता है। वह माता की कुक्षि को पूर्णतया नहीं व्यापता और धीरे धीरे हलचल करता है। उस(की माता) को पुष्टिकर दूध और मांसरस से चिकित्सित करे। वायु से पीडित हुआ शुक्रशोणित जीवात्मा की अवक्रान्ति होने पर उदर को फुला देता है। वह कदाचित् अचानक शान्त होने पर नैगमेषापहृत कहलाता है। वही कदाचित् धीरे धीरे लीन हो जाने पर नागोदर कहलाता है। यहाँ पर लीन गर्भ के समान चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—लीयते गर्भः — इसको लीनगर्भ कहते हैं— यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः। (अष्टांगसंग्रह)। माध्वीकम्—महुवे का या द्राक्षा का मद्य। कालातीतस्थायिनि गर्भे—गर्भाशय में गर्भ के रहने के योग्य काल का विचार तीसरे अध्याय के ३९वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है; उस काल के पश्चात्। मुसलेनाभिहन्यात् इत्यादि—ये उपाय गर्भाशय में संकोच पैदा करने के लिए होते हैं। पीछे ७ वें सूत्र के वक्तव्य में अन्तिम भाग देखो। कुक्षिं न पूरयति—मासानुमासिक वृद्धि के अनुसार कुक्षि की जितनी वृद्धि होनी चाहिए, उतनी वृद्धि नहीं होती है। नागोदर—इसी को उपशुष्कक भी कहते हैं—तदुपशुष्ककं नागोदरं च। (अष्टांगसंग्रह)। तं गर्भमुपशुष्ककनागोदरशब्दाभ्यामाचक्षते। (इन्दु)। नैगमेषापहृत—नागोदर या उपशुष्कक में गर्भधारणा होने के बाद कुछ काल तक गर्भवृद्धि होकर उसके पश्चात् उसकी वृद्धि रुक जाती है और गर्भ सूखने लगता है। जो लोग भूत-पिशाच के ऊपर विश्वास करते हैं, वे इस विकार को नैगमेषापहृत कहते हैं। वास्तव में वातविकृति का यह एक परिणाम है।

इस सूत्र में लीन और उपशुष्कक या नागोदर या नैगमेषापहृत करके गर्भ के दो विकार वर्णन किये गये हैं। आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार यद्यपि इनके लिए निश्चित पर्याय देना मुश्किल है तथापि ये गर्भाशयस्थ मृतगर्भ (Intra-uterine death of the foetus) या मांसगर्भ (Carneous mole) के समान मालूम होते हैं। इनमें लीनगर्भ कौन है और उपशुष्कक कौन है? कहना कठिन है तथापि अगर नामकरण करना हो तो लक्षणों के अनुसार लीनगर्भ को Missed abortion कह सकते हैं। इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—In exceptional cases, however, the dead foetus is not expelled from the uterus at once, but is retained for months, the so called 'missed abortion'. *Ten Teacher's Midwifery.* नागोदर को Carneous mole कह सकते हैं।

अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वक्ष्यामः ॥ ६२ ॥

अब इसके पश्चात् मासानुमासिक (गर्भपात का चिकित्साक्रम) कहेंगे ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—ये मासानुमासिक ओषधियाँ गर्भस्रावप्रतिषेधक होती हैं। अतः जिनमें गर्भस्राव की प्रवृत्ति होती है, उनमें इसका उपयोग करना उचित है।

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।
अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी ॥६३॥
वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च ॥ ६४ ॥
बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरिशुङ्गास्त्वचो घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रु श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ॥६५॥
शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता।
वत्सैते सप्तयोगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः।
यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः ॥६६॥
कपित्थबृहतीबिल्वपटोलेक्षुनिदिग्धिका।
मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद् भिषगष्टमे ॥६७॥
नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत्।
क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम् ॥६८॥
सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च।
एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति ॥६९॥

(मासानुमासिक ओषधिक्रम—) (१) मुलहठी, सागवान का बीज, क्षीरकाकोली और देवदारु। (२) पाषाणभेद, काले तिल, मञ्जिष्ठा, शतावरी ॥ ६३ ॥ (३) वृक्षादनी (बाँदा), क्षीरकाकोली, लता (गुडूची अथवा प्रियङ्गु) और अनन्तमूल। (४) अनन्तमूल, कृष्णसारिवा, रास्ना, पद्मा और मुलहठी ॥६४॥ (५) छोटी और बड़ी बृहती,

प्रकार से वर्णन किया है—तत्र यस्याः कादाचित्कार्तवपरिस्रावित्वं च दृश्येते सतत च गर्भः प्रमाणपरिमाणादपरिहीयमान एव स्फुरति, न च कुक्षिर्विवर्धते तमुपविष्टकमित्याचक्षते ॥ (अष्टांगसंग्रह)। उपविष्टक का स्वरूप व्यावहारिक परिभाषा में निम्न प्रकार से बता सकते हैं। जैसे, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाला मनुष्य थकावट के कारण बीच में थोड़ी देर के लिए बैठ जाता है याने प्रवास बंद करता है और फिर प्रवास शुरू करके अपने स्थान को पहुँचता है, वैसे ही वृद्धि रूप प्रवास करने वाला गर्भ बीच में कारणवश बैठ जाता है (उपविशति) याने वृद्धि रूप प्रवास बंद कर देता है और फिर अपना प्रवास करता है याने वृद्धि शुरू करता है और अपने इच्छित स्थान को पहुँच जाता है। सक्षेप में उपविष्टक का अर्थ बीच में कुछ काल तक बैठने वाला गर्भ—गर्भो वृद्धिमप्राप्नुवन्नुपविशति ॥ (अष्टांगसंग्रह, शा० ४)।

इस सूत्र में गर्भस्राव (Abortion) या गर्भपात (Miscarriage) के लक्षण और चिकित्सा वर्णन की गई है। गर्भस्राव और गर्भपात ये दो शब्द काल के अनुसार गर्भ के गिर जाने के लिए प्रयुक्त (मूढगर्भनिदान ८वें अध्याय के ११वें श्लोक का वक्तव्य देखो) होते हैं। परंतु व्यवहार में दोनों पर्यायरूप से ही प्रयुक्त होते हैं। गर्भपात के दो मुख्य लक्षण होते हैं—(१) पीडा (Pain)—यह पीडा गर्भाशय के आकुंचन से उत्पन्न होती है और आकुंचन की तीव्रातीव्रता पर पीडा की तीव्रातीव्रता निर्भर होती है। सूत्र में वेदना, शूल, सरम्भ, आनाह, मूत्रसग इत्यादि जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे इसी के ही विविध स्वरूप या परिणाम हैं। (२) रक्तस्राव (Uterine haemorrhage)—योनि से रक्तस्राव होना यह गर्भपात का महत्त्व का लक्षण है। रक्त का स्राव एकाएक और अधिक राशि में या धीरे धीरे और अल्प राशि में हो सकता है। प्रायः यह रक्तस्राव थोड़ी थोड़ी देर के बाद बार बार (Recurring) हुआ करता है। गर्भाशय की अन्तस्त्वचा से गर्भ और अपरा पृथक् होने के कारण रक्तस्राव हुआ करता है। इन दो लक्षणों के अलावा और दो लक्षण मिल सकते हैं। वे इनके परिणामस्वरूप में होते हैं। इनमें प्रथम है निपात (Collapse)—यह लक्षण अधिक रक्तस्राव होने के कारण उत्पन्न होता है। दूसरा लक्षण है गर्भाशयमुखविस्तृति (Dilatation of the cervix)। यह लक्षण गर्भाशयसंकोच के कारण उत्पन्न होता है। रक्तस्राव का ही निर्देश ऊपर सूत्र में रक्तदर्शन, असृग्दर करके किया गया है। ये दोनों लक्षण अब किसी स्त्री में, जिसमें गर्भधारणा के निश्चित लक्षण मिलते हैं, मिल जायँ तो गर्भपात की आशंका करके उसके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

गर्भपात कई प्रकार का होता है। जब पीडा और रक्त दर्शन होने पर भी गर्भ चिकित्सा से गर्भाशय में रहकर वृद्धि कर सकता है, तब उसको परिहार्य (Threatened) गर्भपात कहते हैं। एव विधमुपक्रान्तायां वदामं ते ह्यो गर्भमाप्यायते, अपरिहार्ये न गर्भे। उपविष्टक गर्भ ये सब शब्द परिहार्य गर्भपात के हैं। जब गर्भ और अपरा गर्भाशय से अधिक पृथक् होती है, रक्तस्राव और पीडा अधिक होती है, गर्भाशय का मुख काफी विवृत हो जाता है और जब चिकित्सा करने पर भी पुनश्च गर्भ के आप्यायन की आशा नहीं की जा सकती तब उसको अपरिहार्य (Inevitable) गर्भपात कहते हैं। इसका उल्लेख सूत्र में 'प्रस्रंसमाने' करके किया गया है। जब गर्भ पूर्णतया गिर जाता है, तब उसको पूर्ण (Complete) गर्भपात कहते हैं। इसका उल्लेख सूत्र में 'च्यूते' करके किया गया है। जब गर्भ या अपरा का कुछ हिस्सा गर्भाशय में रहता है, तब उसको अपूर्ण (Incomplete) गर्भपात कहते हैं।

साध्यासाध्यता—चरक का मत है कि प्रथम तीन महीने के गर्भ अजातसार होने के कारण प्रायः वे गर्भाशय में स्थिर नहीं हो सकते, इसके पश्चात् हो सकते हैं—मा वेदपचारात् द्वयोस्त्रिषु वा मासेषु पुष्पं पश्येन्नास्या गर्भः स्थास्यतीति विद्यात्। अजातसारो हि तस्मिन् काले भवति गर्भः ॥ (शारीर ८)। साधारणतया परिहार्य गर्भपात का परिहार चिकित्सा से होता है। अपरिहार्य गर्भपात का परिहार नहीं होता।

चिकित्सा—गर्भपात के लक्षण मालूम होते ही स्त्री को बिस्तरे पर आराम से रखना चाहिए। खान-पान, मल-मूत्रविसर्जन इत्यादि के लिए उठना बैठना, कुन्थना इत्यादि कर्म वर्ज्य करने चाहिएँ—शयन तावन्मृदुसुखशिशिरास्तरणसस्तीर्णमीषदवनतशिरस्क प्रतिपद्येतेति। क्रोधशोकायासव्यवायव्यायामेभ्यश्चाभिरक्षेत्, सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोनुकूलाभिरुपासीत ॥ (चरक)। तीव्र विरेचन या बस्ति न देना चाहिए। ये स्वस्थ स्त्री में भी गर्भपात उत्पन्न कर सकते हैं तो जो गर्भपात से पीडित है, उसमें निश्चिति से गर्भ का नाश कर देंगे। खाने के लिए दूध जैसा हलका आहार दिया जाय। परिहार्य गर्भपात में इसी से प्रायः कार्य हो जाता है। रक्तस्राव और पीडाहरण की सूत्रोक्त ओषधियाँ दे सकते हैं। पीडाहरण के लिए पाश्चात्य वैद्यक में अफीम या मार्फिया (¼ ग्रेन त्वचा द्वारा) या ब्रोमाइडस् देते हैं। रक्तस्राव रोकने के लिए अर्गट, हैड्रास्टिस, हीमोस्टाटिक सीरम इत्यादि ओषधियाँ देते हैं। इसके अलावा योनि में टेण्ट (Tent) रखने का भी प्रबन्ध होता है। ऊपर के सूत्र में 'क्षौमावयवं योन्यां धारयेद्' देखो। अपरिहार्य गर्भपात में जब रक्तस्राव अधिक होता है और गर्भ बाहर नहीं निकलता या अपूर्ण निकलता है, तब गर्भाशय को दबाकर (Expressing) या अङ्गुलि या तालयन्त्र (Curette) को गर्भाशय में प्रविष्ट करके गर्भ को निकालने की कोशिश की जाती है। गर्भ गिर जाने पर सूतिका के समान उसकी चिकित्सा करे। पतित गर्भ की चिकित्सा अष्टांगहृदय में निम्न प्रकार से बतलाई है—गर्भे निपतिते तीक्ष्णं मद्यं सामर्थ्यतः पिबेत्। गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमर्तिविस्मरणाय च ॥ लघुना पञ्चमूलेन रूक्षां पेयां ततः पिबेत्। पेयाममद्यपा स्नेहलवणाढ्यां पाचनीयाम् ॥ बिल्वादियवक्षारं तिलोद्दालकतण्डुलैः। मासतुल्यदिनान्येव पेयादिः पतिते क्रमः ॥ (शारीर २)। यथा- दृष्टोल्लिखितवेदनायाम्—इसमें अ का अर्थ ईषत् या अभाव हो सकता है। गर्भपात में पीडा होती है परन्तु वह बहुत तीव्र नहीं होती। इसके साथ प्रायः रक्तस्राव होता है। जब रक्तस्राव कम होता है या नहीं होता तथा वेदना अत्यधिक होती है, तब बहिर्गर्भाशय गर्भपात (Ruptured extra uterine pregnancy) का भी ध्यान रखना चाहिए। इसके लिए शस्त्रकर्म के सिवा और कोई चिकित्सा नहीं होती है।

वहिर्गर्भ गर्भावस्था के लिए ३ अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में 'संवृत्यते नार्तवेन' की टिप्पणी देखो।

वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्रोशरससंसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्, माषतिलबिल्वशलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिबेत् सप्तरात्रं; कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवेत; वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च, तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांसरसैश्चोपचरेत्; शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोपशान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः; तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः ॥ ६१ ॥

(लीन और उपशुष्क गर्भ—) स्रोतों के वात के उपद्रव से पीडित होने के कारण गर्भ लीन हो जाता है। वह अधिक काल तक (गर्भाशय में) रहता हुआ मर जाता है। (इस लीन गर्भ में) स्त्री की मृदु स्नेहादि से चिकित्सा करे, उत्क्रोश (कुररी—पक्षिविशेष) के मांसरस से साधित यवागू पर्याप्त स्नेह से युक्त पिलावे, अथवा उड़द तिल तथा बेल के शलाटु से साधित कुल्माष खिलावे और पश्चात् सात दिन तक मधुसह माध्वीक पीवे। अधिक काल तक रहने वाले गर्भ में विशेषतया ऊखल में धान्य डालकर कूटे, अथवा विषम वाहन या आसन पर बैठे। वात से पीडित होने पर भी गर्भ सूख जाता है। वह माता की कुक्षि को पूर्णतया नहीं व्यापता और धीरे धीरे हलचल करता है। उस(की माता) को पुष्टिकर दूध और मांसरस से चिकित्सित करे। वायु से पीडित हुआ शुक्रशोणित जीवात्मा की अवक्रान्ति होने पर उदर को फुला देता है। वह कदाचित् अचानक शान्त होने पर नैगमेषापहृत कहलाता है। वही कदाचित् धीरे धीरे लीन हो जाने पर नागोदर कहलाता है। यहाँ पर लीन गर्भ के समान चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—लीयते गर्भः — इसको लीनगर्भ कहते हैं— यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः। (अष्टांगसंग्रह)। माध्वीकम्—महुवे का या मुनक्का का मद्य। कालातीतस्थायिनि गर्भे—गर्भाशय में गर्भ के रहने के योग्य काल का विचार तीसरे अध्याय के ३९वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है; उस काल के पश्चात्। मुसलेनाभिहन्यात् इत्यादि—ये उपाय गर्भाशय में संकोच पैदा करने के लिए होते हैं। पीछे ७ वें सूत्र के वक्तव्य में अन्तिम भाग देखो। कुक्षिं न पूरयति—मासानुमासिक वृद्धि के अनुसार कुक्षि की जितनी वृद्धि होनी चाहिए, उतनी वृद्धि नहीं होती है। नागोदर—इसी को उपशुष्कक भी कहते हैं—उपशुष्ककं नागोदरं च। (अष्टांगसंग्रह)। तं गर्भमुपशुष्ककनागोदरशब्दाभ्यामाचक्षते। (इन्दु)। नैगमेषापहृत—नागोदर या उपशुष्कक में गर्भधारणा होने के बाद कुछ काल तक गर्भवृद्धि होकर उसके पश्चात् उसकी वृद्धि रुक जाती है और गर्भ सूखने लगता है। जो लोग भूत-पिशाच के ऊपर विश्वास करते हैं, वे इस विकार को नैगमेषापहृत कहते हैं। वास्तव में वातविकृति का यह एक परिणाम है।

इस सूत्र में लीन और उपशुष्कक या नागोदर या नैगमेषापहृत करके गर्भ के दो विकार वर्णन किये गये हैं। आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार यद्यपि इनके लिए निश्चित पर्याय देना मुश्किल है तथापि ये गर्भाशयस्थ मृतगर्भ (Intra-uterine death of the foetus) या मांसगर्भ (Carneous mole) के समान मालूम होते हैं। इनमें लीनगर्भ कौन है और उपशुष्कक कौन है? कहना कठिन है तथापि अगर नामकरण करना हो तो लक्षणों के अनुसार लीनगर्भ को Missed abortion कह सकते हैं। इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—In exceptional cases, however, the dead foetus is not expelled from the uterus at once, but is retained for months, the so called 'missed abortion'. *Ten Teacher's Midwifery.* नागोदर को Carneous mole कह सकते हैं।

अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वक्ष्यामः ॥ ६२ ॥

अब इसके पश्चात् मासानुमासिक (गर्भपात का चिकित्साक्रम) कहेंगे ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—ये मासानुमासिक ओषधियाँ गर्भस्रावप्रतिषेधक होती हैं। अतः जिनमें गर्भस्राव की प्रवृत्ति होती है, उनमें इसका उपयोग करना उचित है।

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।
अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी ॥६३॥
वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च ॥ ६४ ॥
बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरिशुङ्गास्त्वचो घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रु श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ॥६५॥
शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता।
वत्सैते सप्तयोगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः।
यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः ॥६६॥
कपित्थबृहतीबिल्वपटोलेक्षुनिदिग्धिका।
मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद् भिषगष्टमे ॥६७॥
नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत्।
क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम् ॥६८॥
सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च।
एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति ॥६९॥

(मासानुमासिक ओषधिक्रम—) (१) मुलहठी, सागवान का बीज, क्षीरकाकोली और देवदारु। (२) पाषाणभेद, काले तिल, मञ्जिष्ठा, शतावरी ॥ ६३ ॥ (३) वृक्षादनी (बाँदा), क्षीरकाकोली, लता (गुडूची अथवा प्रियङ्गु) और अनन्तमूल। (४) अनन्तमूल, कृष्णसारिवा, रास्ना, पद्मा और मुलहठी ॥६४॥ (५) छोटी और बड़ी बृहती,

गम्भारी, क्षीरी वृक्षों के अङ्कुर तथा छाल और घी। (६) पृश्निपर्णी, बला, शोभांजन गोखरू, मधुपर्णिका ॥ ६६ ॥ (७) सिंघाड़ा, विस (कमलमूल), मुनक्का (द्राक्षा), कसेरू, मुलहठी और खांड। हे सुश्रुत! आधे श्लोक में समाप्त होने वाले ये सात योग क्रम से (सातों महीनों में) गर्भस्राव में दूध के साथ प्रयुक्त करावे ॥६६॥ आठवें महीने में वैद्य कैथ, बड़ी कटेरी, बेल, पटोल, ईख, छोटी कटेरी इनकी जड़ों से साधित क्षीर पिलावे ॥६७॥ नौवें महीने में मुलहठी, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली और कृष्णसारिवा (इनसे साधित दूध) को पीवे। दसवें महीने में सोंठ तथा क्षीरकाकोली से साधित दूध हितकर होता है ॥ ६८ ॥ अथवा सोंठ, मुलहठी और देवदारु दूध के साथ हितकर होता है। इस प्रकार मासानुमासिक प्रयोग से गर्भ की वृद्धि होती है और तीव्र पीड़ा शान्त होती है ॥६९॥

वक्तव्य—पयस्या—अर्कपुष्पी। गयी तु पयस्यां क्षीरविदारी क्षीरकाकोली वा मते। (डल्हण)। अश्मन्तक—कोविदार-सदृशोऽम्लपत्र अम्ललोटक इति लोके। (डल्हण)। 'आपटा' महाराष्ट्र भाषा में। यमलपत्रक। (अरुणदत्त)। शतवल्ली—रामतरुणी, मञ्जिष्ठापरे। (डल्हण)। लता—प्रियङ्गु। (डल्हण)। गन्धप्रियङ्गु। गौरसारिवेत्यन्ये। (अरुणदत्त)। गुडूची। (हाराणचन्द्र)। उत्पलसारिवा—अनन्तमूल या कृष्णसारिवा। (अरुणदत्त)। अनन्ता—दूर्वा। (इन्दु)। पद्मा—पद्मचारिणी, भार्गीमपरे। (डल्हण)। पयोयुता—इन ओषधियों का चूर्ण, या कल्क दूध के साथ दे सकते हैं किंवा दूध में इनको साधित करके वह दूध दे सकते हैं। मधुपर्णी—मधुयष्टि। (डल्हण)। जीवन्ती। (इन्दु)। गुडूची। (हाराणचन्द्र)।

निवृत्तप्रसवायास्तु पुनः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसवमानाया नार्याः कुमारोऽल्पायुर्भवति ॥७०॥

निवृत्तप्रसवा स्त्री के ६ वर्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाला बालक अल्पायु होता है ॥ ७० ॥

वक्तव्य—माता और बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से दो गर्भधारणाओं के बीच में कुछ अन्तर होना आवश्यक है। इस अन्तर की अल्पतम मर्यादा का विचार पीछे १७ वें सूत्र के वक्तव्य में 'मैथुन' की टिप्पणी में और २ अध्याय के ३४वें श्लोक के वक्तव्य के *अन्त में किया गया है।* इस सूत्र में इस अन्तर की अधिकतम मर्यादा बताई जाती है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि एक गर्भधारणा के छः साल के पश्चात् यदि दूसरी गर्भधारणा हो तो जो बालक जन्म लेता है, वह अल्पायु होता है। अल्पायु का अर्थ अल्पप्राण, दुर्बल (Of low vitality) है। दुर्बलता के कारण वह थोड़ी उम्र में मर भी सकता है, परन्तु यह कोई आवश्यक बात नहीं है। इसका कारण यह है कि जब उचित काल में एक के बाद एक गर्भधारणा होती जाती है, तब गर्भाशय अपने कर्म में सुरब्धी हो जाता है, याने उत्तरोत्तर होने वाले बालक अधिकाधिक बलवान् होते हैं। Repeated pregnancies tend to cause an increase in the weight and length of the foetus Such increase in *weight occurs* with *greater regularity* the longer are the intervals between each successive pregnancy *Jellet's Midwifery* जैसे दो प्रसवों का अन्तर अत्यन्त कम होने से बालक कमजोर होता है, वैसे ही दो प्रसवों के बीच का अन्तर अधिक होने से बालक कमजोर रहता है क्योंकि अधिक काल बीतने से गर्भाशय पूर्ववत् सिकुड़ जाता है। इसको समझाने के लिए एक दृष्टान्त दिया जा सकता है। जैसे, कोई खिलाड़ी जो हमेशा खेलता रहता है, फार्म (Form) में रहता है और अधिक काल तक खेल छोड़ देने पर फार्म में नहीं (Out of form) रहता है, वैसे ही अधिक काल तक गर्भधारण न होने से गर्भाशय 'आउट आफ फार्म' हो जाता है। इस *अधिक काल की मर्यादा आयुर्वेद में छः साल की बताई* गई है। इसमें कुछ कुछ घटा-बढ़ी हो सकती है परन्तु यहां पर जो तत्त्व बताया गया है, वह बिलकुल ठीक है। हाराणचन्द्र इस सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं—क्षीणां हि पञ्चाशति वर्षे आर्तव क्षय याति इत्युपदिष्टम्। अर्थात् चेत् कस्याश्चिदाहारगुणप्रकर्षादुपादानविशेषाद्वाऽधिक काल तत् प्रवर्तते तर्हि षट्पञ्चाशत पर प्रसवमानायास्तस्या प्रहीनबल वीर्यत्वेन कुमारोऽल्पायुर्भवतीत्यावेदयितुमिदमुच्यते निवृत्तेति निवृत्तप्रसवाया अतीतपञ्चाशद्वर्षाया षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्व प्रसवमानाया ऋतुमत्त्वेन प्रसव कुर्वत्या इत्यर्थ। इसका अभिप्राय यह है कि साधारणत ५० वर्ष की आयु में स्त्री निवृत्तार्तवा अतएव निवृत्तप्रसवा भी हो जाती है, परन्तु यदि आहारादि के कारण आर्तव ५० से अधिक काल तक जारी रहे तो उसको प्रजा भी हो सकती है। ५६ साल के बाद उत्पन्न हुई प्रजा निर्बल या अल्पायु होती है। हाराणचन्द्र का यह मत निम्न कारण से ठीक नहीं मालूम होता। (१) जिस सिलसिले में यह सूत्र आया है, उसके अनुसार निवृत्तप्रसवा का अर्थ निवृत्तार्तवा करना ठीक नहीं है। इस अध्याय में प्रथमगर्भा स्त्री की प्रसूति और उसकी परिचर्या वर्णन (*पीछे ५वें श्लोक का वक्तव्य देखो*) *की गई है। उसी स्त्री* के संबंध में ये श्लोक हैं। अर्थात् प्रथम बालक के बाद दूसरा बालक *वैसा ही स्वस्थ और दीर्घायु होने के लिए* दोनों में कितना अन्तर उचित है, इस विषय का विवरण इस सूत्र में *किया गया है।* सोलह *या अठारह साल* को उम्र से छप्पन साल की उम्र में एकाएक कूद पड़ने की न कोई आवश्यकता है, न प्रशस्तता मालूम होती है। (२) पचपन साल की उम्र के बाद आर्तवदर्शन जारी रहकर प्रजोत्पत्ति होना यह संभवनीय घटना नहीं मालूम होती। उष्ण प्रदेशों में आर्तवनिवृत्ति की मर्यादा बढ़ने की अपेक्षा प्राय घट जाती है—The menstrual cycle comes to a final end at the menopause or climacteric at an avarage age of forty-five or rather earlier among the inhabitants of hot climates *Introduction to sexual physiology by Marshall* (३) छप्पन साल के बाद होने वाला बालक *अल्पायु* और छप्पन के पूर्व होने वाला दीर्घायु इस प्रकार का फर्क युक्तिसंगत *नहीं मालूम होता। अगर इसमें कुछ तथ्य हो* तो छप्पन के पूर्व और पश्चात् होने वाले दोनों बालक अल्पायु होंगे क्योंकि ऋतु (मौसम) के अन्त में वृक्षों को आने वाले फल हमेशा आकार में छोटे, विषम, कृमि से उपद्रुत हुआ करते हैं।

अथ गर्भिणीं व्याध्युत्पत्तावत्यये छर्दयेन्मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनीयं च मृदु विदध्यादन्नपानयोः, अश्नीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः ॥ ७१ ॥

(गर्भिणी-चिकित्सा के लिए कुछ मार्गदर्शक सूचनाएँ—) तीव्र व्याधि उत्पन्न होने पर गर्भिणी को मधुर और अम्ल अन्न के साथ (मिलाई हुई ओषधि से) वमन करावे तथा अनुलोमन भी करावे । मृदुसंशमनीय भी अन्नपान के साथ दे । मृदुवीर्य, मधुरभूयिष्ठ और गर्भ को हानि न करने वाला अन्न सेवन करावे । इसी प्रकार गर्भ को हानि न करने वाली और हल्की क्रियाएँ करावे ॥ ७१ ॥

भवन्ति चात्र—

सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा ।
मत्स्याक्षकः शङ्खपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥ ७२ ॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा ।
हेमचूर्णानि कैडर्यः श्वेता दूर्वा घृतं मधु ॥ ७३ ॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्धेषु चतुर्ष्वपि ।
कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः ॥ ७४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भिणीव्याकरणं शारीरं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(बालबुद्धिवर्धक योग—) अच्छी तरह से तैयार किया हुआ सोने का चूर्ण, कुष्ठ, मधु, घी और वचा । मत्स्याक्षक (ब्राह्मी), शङ्खपुष्पी, मधु, घी और सुवर्णचूर्ण ॥ ७२ ॥ अर्कपुष्पी (पयस्या), मधु, घी, सुवर्णचूर्ण और वचा । सुवर्णचूर्ण, कैडर्य (कट्फल, पर्वतनिम्ब), श्वेतदूर्वा, घी और मधु ॥ ७३ ॥ चार श्लोकार्धों में बताये हुए ये चार प्राश (लेह) बालकों के शरीर, मेधा (ग्रहणशक्ति), शक्ति, बुद्धि को बढ़ाने वाले हैं (इनमें से किसी एक योग को प्रयुक्त करे) ॥ ७४ ॥

महाराष्ट्रप्रदेशे यें राजुरीग्रामजन्मिना ।
घाणेकरउपाह्वेन काशीक्षेत्रनिवासिना ॥
श्रीगोविन्दस्य पुत्रेण भास्करेण सुधीमता ।
वैद्यके प्राच्यपाश्चात्ये ह्याचार्योपाधिधारिणा ॥
आयुर्वेदं सुनिर्मथ्य पाश्चात्त्यं वैद्यकं तथा ।
आयुर्वेदोपनीतानि शास्त्राण्यन्यानि वीक्ष्य च ॥
नानातन्त्रविहीनानां भिषजां चाल्पमेधसाम् ।
छात्राणां चोपकाराय यथानामगुणा ॥
आयुर्वेदरहस्याख्या दीपिका लिखिता च या ।
इयताऽवधिना तस्याः शारीरं च समाप्यते ॥

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां गर्भिणीव्याकरणं शारीरं नाम दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

॥ श्रीः ॥

सुश्रुतसंहितायाः संस्कृत-हिन्दी-शब्दानुक्रमणिका

घ

च

प

ENGLISH INDEX

M

N

O

T

U